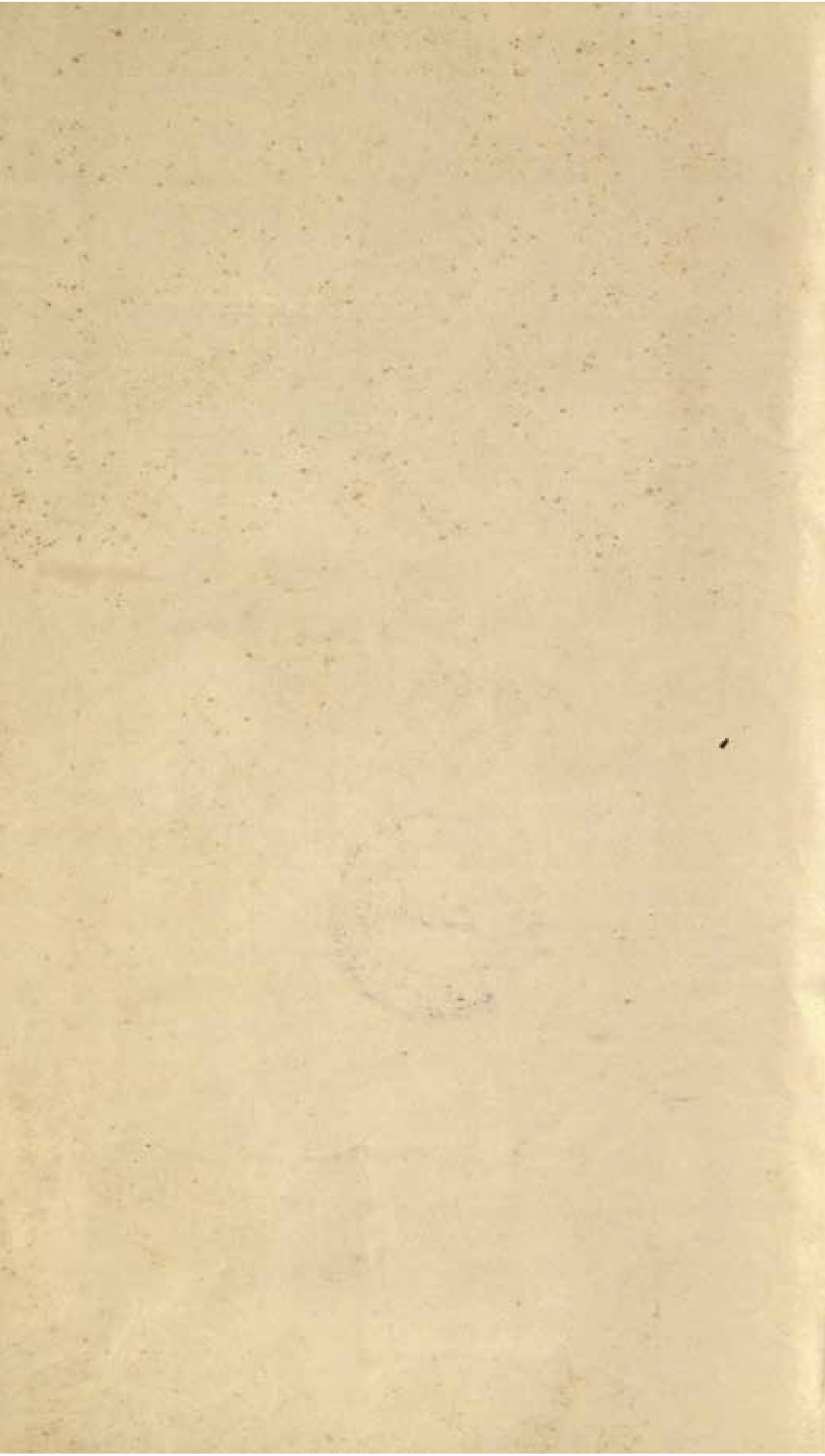


बौद्धधर्म-दर्शन

Narendra Deva

आचार्य नरेन्द्रदेव



Bihar - Rashtrabhasha - Parishad

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-३ Patna-3

प्रकाशक—
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन· पटना-३

प्रथम संस्करण; वि० सं० २०१३; सन् १९५६ ई०

मूल्य—१५) सजिल्द १७)

मुद्रक—
शारदा मुद्रण
ठठेरी बाजार, बनारस

वक्तव्य

'बौद्धधर्म-दर्शन' और उसके यशस्वी लेखक के सम्बन्ध में कई अधिकारी विद्वानों ने पर्याप्त रीति से लिखा है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ में यथास्थान प्रकाशित है। अब उससे अधिक कुछ लिखना अनावश्यक है।

सन् १९५४ ई० में, २१ अप्रैल (बुधवार) को, आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तृतीय वार्षिकोत्सव का सभापतित्व किया था। सभापति-पद से भाषण करते हुए उन्होंने निम्नांकित मन्तव्य प्रकट किये थे—

"सम्प्रदायवाद इस युग में पनप नहीं सकते। हमारे राष्ट्रीय साहित्य को राष्ट्रीयता और जनतंत्र की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करना पड़ेगा। किन्तु उसमें यह सामर्थ्य तभी आ सकता है जब हिन्दी-भाषाभाषियों की चिन्ताधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी-साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यों को अपने में आत्मसात् करे।

"यह सत्य है कि सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन ने साहित्य के क्षेत्र पर आक्रमण कर उसके महत्त्व को घटा दिया है। विज्ञान और टेकनालोजी के आधिपत्य ने भी साहित्य की मर्यादा को घटाया है। किन्तु यह असंदिग्ध है कि साहित्य आज भी जो कार्य कर सकता है, वह कार्य कोई दूसरी प्रक्रिया नहीं कर सकती।

"अतीत के अनुभव के आलोक में वर्तमान को देखना तथा आज के समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही हैं उनको समझना तथा मानव-समाज के हित की दृष्टि से उनका संचालन करना एक सच्चे कलाकार का काम है।

"भारत के विभिन्न साहित्यों की आराधना कर, उनकी उत्कृष्टता को हिन्दी में उत्पन्न कर, हिन्दी-साहित्य को सचमुच राष्ट्रीय और सफल राष्ट्र के विकास का एक समर्थ उपकरण बनना हमारा-आपका काम है। इस दायित्व को हम दूसरों पर नहीं छोड़ सकते।"

उनके इन मन्तव्यों के प्रकाश में इस ग्रंथ का अवलोकन करने से प्रतीत होगा कि उन्होंने भारतीय बौद्ध साहित्य को कहाँ तक आत्मसात् करके एक सच्चे कलाकार के दायित्व का निर्वाह किया है। बौद्धधर्म और बौद्धदर्शन का मार्मिक विवेचन करने में उन्होंने जो अभूतपूर्व पाण्डित्य और कौशल प्रदर्शित किया है, उससे यह ग्रन्थ निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का अकेला प्रमाणित होकर रहेगा।

अत्यन्त दुःख का विषय है कि यह ग्रन्थ आचार्यजी के जीवन काल में प्रकाशित न हो सका। ग्रन्थ की छपाई के समाप्त होते ही उनकी इहलोक-लीला समाप्त हो

गई। निरन्तर अस्वस्थ रहते हुए भी वे इस ग्रन्थ के निर्माण में सदैव दत्तचित्त रहे। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या लिखने की सूचना भी उन्होंने दी थी और उनका विचार था कि वह पारिभाषिक शब्दकोष भी साथ-ही-साथ प्रकाशित हो। किन्तु नियति के विपरीत विधान ने वैसा न होने दिया। वे लगभग चार-पाँच सौ शब्दों का ही भाष्य तैयार कर सके थे कि अचानक साकेतवासी हो गये। अब यह कहना कठिन है कि वह कोष-ग्रन्थ कब और कैसे पूरा होकर प्रकाश में आ सकेगा।

महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने इस ग्रन्थ की गवेषणापूर्ण भूमिका तथा माननीय श्री श्रीप्रकाशजी ने प्रस्तावना और डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने ग्रन्थकारप्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ को सुशोभित एवं पाठकों को उपकृत करने की जो महती कृपा की है, उसके लिए परिषद् उन विद्वद्वरों का सादर आभार अंगीकार करती है।

काशी-निवासी पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय भी हमारे धन्यवाद-भाजन हैं, जिन्होंने आचार्यजी की प्रेरणा और अनुमति से इस ग्रन्थ के मुद्रणसम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने में अनवरत परिश्रम किया तथा आचार्यजी के सौंपे हुये काम को बड़ी निष्ठा से निबाहा है। उनकी लिखी हुई ग्रन्थकर्ता-प्रशस्ति भी इसमें प्रकाशित है। उनका सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

काशी के सहृदय साहित्यसेवी श्रीबैजनाथ सिंह 'विनोद' के भी हम बहुत कृतज्ञ हैं, जिन्होंने परिषद् के साथ आचार्यजी का साहित्यिक सम्बन्ध स्थापित कराया, जिसके परिणाम-स्वरूप आचार्यजी का यह अन्तिम सद्ग्रन्थ, परिषद् द्वारा, हिन्दी-संसार की सेवा में उपस्थित किया जा सका। 'विनोद' जी के सौजन्य एवं सत्परामर्श से ही आचार्यजी की संक्षिप्त आत्मकथा इस ग्रन्थ में प्रकाशित हो सकी।

बिहार और हिन्दी के नाते परिषद् के परम हितैषी श्रीगंगाशरण सिंह (संसद्-सदस्य) ने आचार्यजी की रुग्णावस्था में भी उनसे साग्रह ग्रन्थ तैयार कराने का जो सतत प्रयास किया, उसीके फलस्वरूप यह अमूल्य ग्रन्थ हिन्दी-जगत् को सुलभ हो सका। उन्होंने आचार्यजी के निधन के बाद भी इस ग्रन्थ को सांगोपांग प्रकाशित कराने के लिए बड़ी आत्मीयता के साथ काशी और मद्रास तक की दौड़ लगाई। आशा है कि वे इस ग्रन्थ को अपने मन के अनुकूल सर्वाङ्गपूर्ण रूप में प्रकाशित देखकर सन्तुष्ट होंगे।

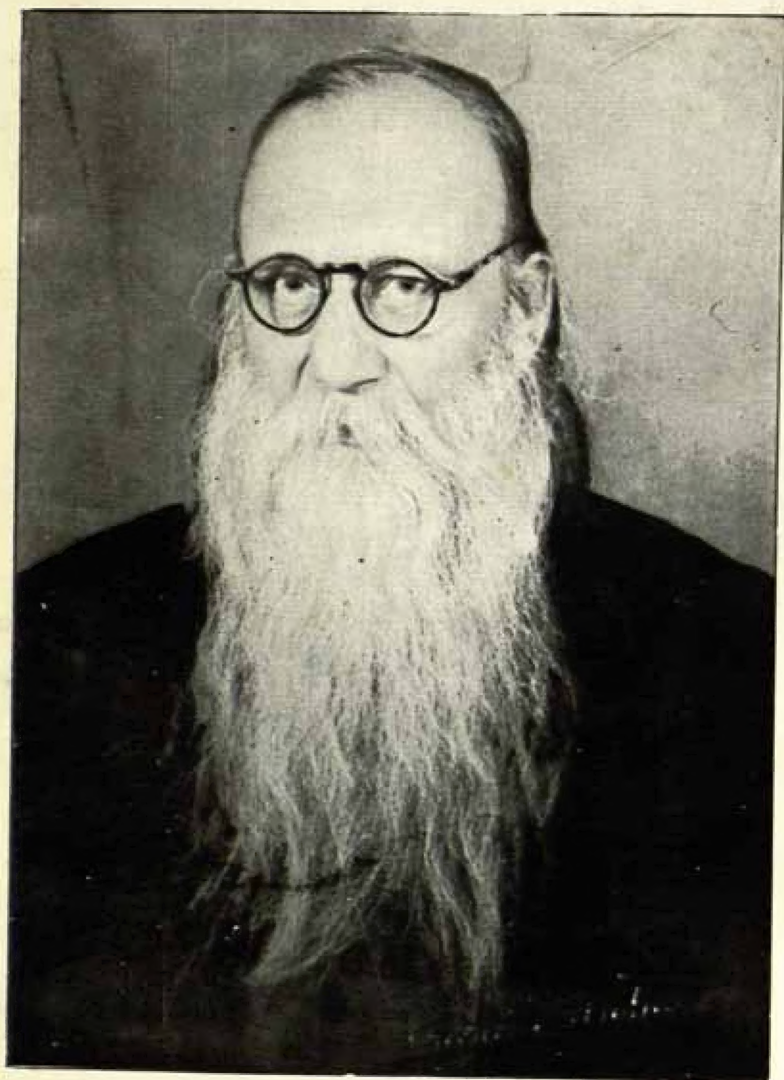
ग्रन्थकार के अभाव का विषाद अनुभव करते हुए भी हमें यही सान्त्वना मिली है कि भगवान् बुद्ध की पच्चीस-सौवीं जयन्ती के शुभ अवसर पर यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। विश्वास है कि बिहार-राज्य के शिक्षा-विभागान्तर्गत राष्ट्रभाषा-परिषद् की यह श्रद्धांजलि भगवान् तथागत को स्वीकृत होगी।

अक्षय तृतीया (वैशाख) }
विक्रमसंवत् २०१३ }

शिवपूजनसहाय
(परिषद्-मंत्री



बौद्धधर्म-दर्शन



डॉ० भगवान् दास

भारतरत्न श्रद्धेय डाक्टर भगवान्दास जी को

सादर सस्नेह समर्पित

—नरेन्द्रदेव

विषय-सूची

—:o:—

प्रथम खण्ड (१–१००)

[प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म तथा दर्शन]

द्वितीय खण्ड (१०१–२१८)

[महायान-धर्म और दर्शन, उसकी उत्पत्ति तथा विकास, साहित्य और साधना]

तृतीय खण्ड (२१९-३०८)

[बौद्ध-दर्शन के सामान्य सिद्धान्त]

चतुर्थ खण्ड (३०९-५६२)

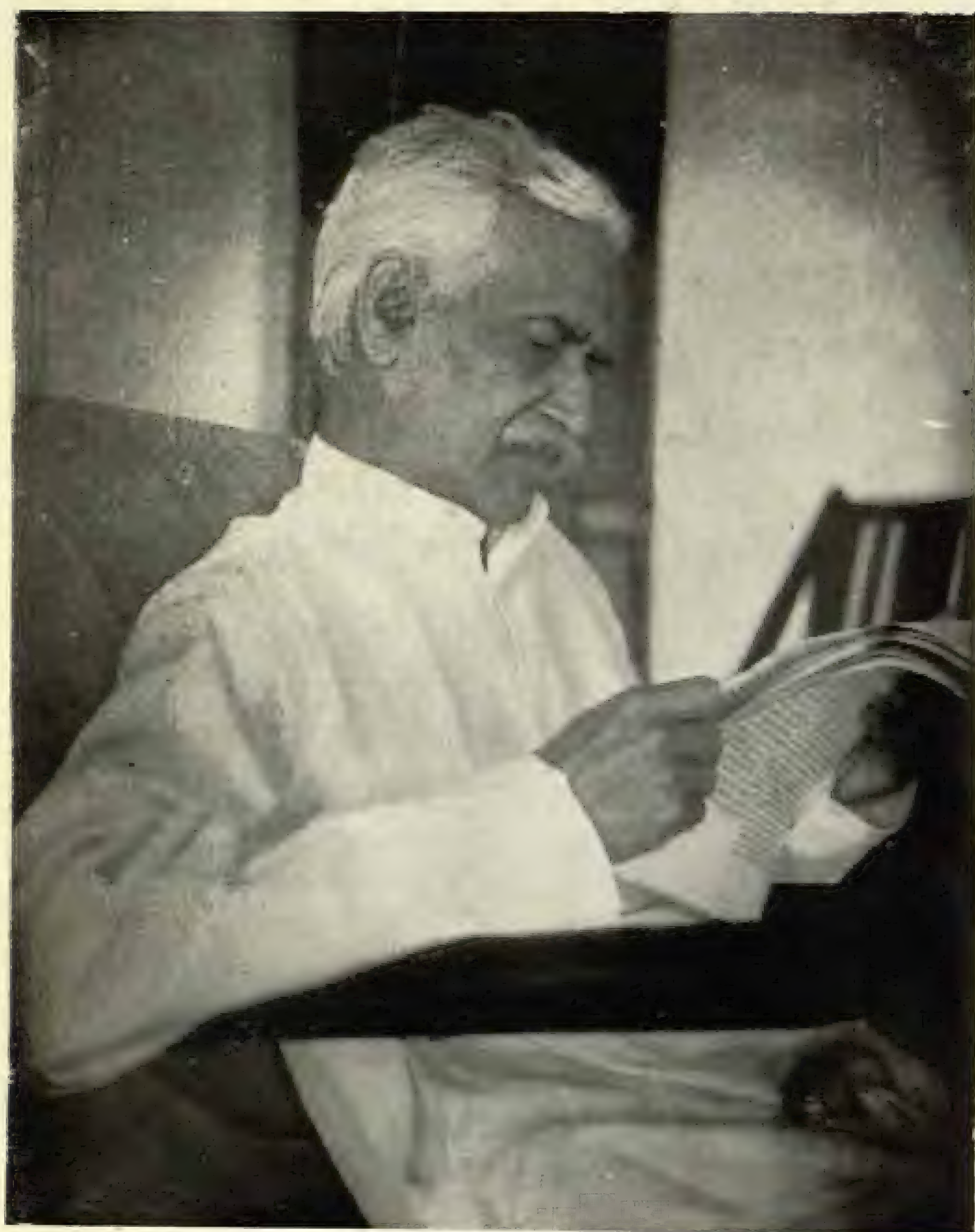
[बौद्ध-दर्शन के चार प्रस्थान : विषय-परिचय और तुलना]

पञ्चम खण्ड (५६३–६१६)

[बौद्ध-न्याय]

—:०:—

बौद्धधर्म-दर्शन



आचार्य नरेन्द्रदेव

लेखक के दो शब्द

जब मैं अहमदनगर किले में नजरबन्द था, तब मैंने अभिधर्मकोश का फ्रेंच से भाषानुवाद किया था। यह ग्रंथ बड़े महत्व का है। मेरा विचार है कि इसका अध्ययन किये बिना बौद्ध-दर्शन के क्रमिक विकास का अच्छा ज्ञान नहीं होता। यह वैभाषिक-नय के अनुसार सर्वास्तिवाद का प्रधान ग्रंथ है। इस कार्य को समाप्त कर मैंने विज्ञानवाद के अध्ययन के लिए महायानसूत्रालङ्कार, विंशिका, त्रिंशिका तथा त्रिंशिका पर लिखी गई चीनी पर्यटक शुआन-च्वांग की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का संक्षेप तैयार किया। आचार्य वसुबन्धु की त्रिंशिका पर अनेक टीकाएँ थीं, जिनमें से केवल स्थिरमति की टीका उपलब्ध है। शुआन-च्वांग की विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि चीनी भाषा में है। यह ग्रंथ किसी संस्कृत ग्रंथ का चीनी अनुवाद नहीं है, किन्तु एक स्वतंत्र ग्रंथ है। त्रिंशिका पर जो अनेक टीकाएँ लिखी गयी थीं, उनके आधार पर यह ग्रंथ तैयार हुआ था। इसलिए यह ग्रंथ बड़े महत्व का है। इसका फ्रेंच अनुवाद पूसें नामक विद्वान् ने किया है। इस ग्रंथ का किसी अन्य भाषा में अनुवाद नहीं हुआ है। मैंने अभि-धम्मत्थसंगहो, विसुद्धिमग्गो, उसकी धर्मपाल लिखित टीका (परमत्थमंजूसा) का भी अध्ययन किया। यह सब सामग्री अहमदनगर में ही एकत्र की गई। किन्तु बौद्ध-धर्म तथा दर्शन पर किसी विस्तृत ग्रंथ के लिखने की योजना मैंने नहीं तैयार की थी। अपने एक मित्र के कहने पर उनकी पुस्तक के लिए मैंने एक विस्तृत भूमिका लिखी थी, जिसमें बौद्ध-धर्म का सिंहावलो-कन किया था। छूटने के कई वर्ष पश्चात् मेरे कुछ मित्रों ने इस सामग्री को देखकर मुझे एक विस्तृत ग्रंथ लिखने का परामर्श दिया। समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न पत्रिकाओं में मैंने बौद्ध-धर्म के विविध विषयों पर लेख लिखे थे। बौद्ध साहित्य का इतिहास, सौत्रान्तिकवाद, माध्यमिक-दर्शन तथा बौद्ध-न्याय के अध्याय पीछे से लिखे गये।

इस ग्रंथ के तैयार करने में मुझे बनारस संस्कृत कालेज के अध्यापक पं० जगन्नाथ उपाध्याय वेदान्ताचार्य तथा सारस्वती सुषमा के संपादक पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी दर्शनाचार्य से विशेष सहायता मिली है। उपाध्याय जी ने निबंधों को ग्रंथ का रूप देने में बड़ी सहायता की है। प्रूफ देखने का सारा काम इन्हीं दो मित्रों ने किया है। मैं गत वर्ष योरप चला गया था और लौटने के बाद से निरन्तर बीमार चला जाता हूँ। सच तो यह है कि यदि इन मित्रों की

सहायता प्राप्त न होती तो पुस्तक के प्रकाशित होने में अभी बहुत विलंब होता। मैं इन मित्रों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। मैं अपने सहपाठी तथा भारतीय दर्शनों के प्रकांड विद्वान् पं० गोपीनाथ जी कविराज का विशेष रूप से आभारी हूँ कि उन्होंने ग्रंथ की भूमिका लिखने की मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया। अपनी विस्तृत भूमिका में उन्होंने बौद्ध-तंत्र का प्रामाणिक विवरण दिया है। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि भूमिका ग्रंथ की एक कमी को भी पूरा करती है।

प्रस्तुत ग्रंथ में भगवान् बुद्ध का जीवनचरित, उनकी शिक्षा, उसका विस्तार, विभिन्न निकायों की उत्पत्ति तथा विकास, महायान की उत्पत्ति तथा उसकी साधना, स्थविरवाद का समाधिमार्ग तथा प्रज्ञामार्ग, कर्मवाद, निर्वाण, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, क्षणभंगवाद, बौद्ध साहित्य (पालि तथा संस्कृत) के विविध दर्शन—सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिकवाद, विज्ञानवाद तथा माध्यमिक—तथा बौद्ध-न्याय का सविस्तर वर्णन है। मैंने इस ग्रंथ की रचना में यथासंभव मौलिक ग्रंथों का आश्रय लिया है। प्रत्येक दर्शन के लिए कुछ मुख्य ग्रंथ चुन लिए गए हैं। और उनका संक्षेप देकर उसके मूल सिद्धान्त बताने की चेष्टा की गई है। यह प्रकार मुझको पसन्द है। आशा है पाठक भी इस प्रकार को पसन्द करेंगे। सुहृद्वर कविराज जी का सुझाव था कि ग्रंथ के अन्त में पारिभाषिक शब्दों का एक कोश दिया जाय। इससे ग्रंथ की उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

मैं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का भी कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस ग्रंथ को प्रकाशित करना स्वीकार किया। मैं समझता हूँ कि यह ग्रंथ युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगा।

२१–१२–५५ नरेन्द्रदेव

भूमिका

मित्रवर आचार्य नरेन्द्रदेव जी बहुत दिनों से बौद्ध-दर्शन की आलोचना कर रहे हैं। काशी विद्यापीठ आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर बहुत ही तथ्यपूर्ण एवं मूल्यवान् निबन्ध लिखे हैं। वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश का पूसें ने जो फ्रेंच अनुवाद किया था उसका आचार्यजी कृत हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन कार्य प्रारम्भ हो गया है। बौद्ध-धर्म और दर्शन के विषय में राष्ट्रभाषाभाषी जनता के ज्ञान के लिए यह एक उत्कृष्ट देन है। राजनीति-क्षेत्र में सदा व्यस्त रहने पर तथा शारीरिक अस्वस्थता से खिन्न रहते हुए भी उन्होंने बौद्ध-धर्म और दर्शन संबन्धी विभिन्न अङ्गों के परिशीलन में अपने समय का बहुत सा अंश विनियुक्त किया है। इसके फलस्वरूप बहुत दिनों के परिश्रम से उनके अनेक सारगर्भ निबन्ध और लेख संचित हुए हैं। यह अत्यन्त आनन्द का विषय है कि ये समस्त लेख व निबन्ध यथाप्रयोजन संशोधित और परिवर्धित होकर एक सर्वाङ्ग-सुन्दर ग्रन्थ के रूप में विद्वत्समाज के समक्ष उपस्थित है। आचार्य जी के बहुत दिनों के सनिर्बन्ध अनुरोध की उपेक्षा करने में असमर्थ होने के कारण आज मैं इस ग्रन्थ के उपोद्घात के रूप में दो चार बातें कहने के लिए उद्यत हुआ हूँ। इस कार्य से मैं अपने को संमानित समझता हूँ। समय के अभाव और स्थान के संकोच के कारण यथासंभव संक्षेप में ही आलोचना करनी पड़ेगी।

यह कहना ही चाहिये कि ऐसा ग्रन्थ हिन्दी भाषा में तो नहीं है, किसी भारतीय भाषा में भी नहीं है। मैं समझता हूँ कि किसी विदेशी भाषा में भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है। बौद्ध दर्शन के मूल दार्शनिक ग्रन्थ अत्यन्त कठिन एवं दुरूह हैं। आचार्य जी ने घोर परिश्रम कर के उसकी विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थों का आद्योपान्त अध्ययन कर इस ग्रन्थ में मुख्य मुख्य विषयों का आक्षेप-समाधानपूर्वक विस्तृत विवेचन किया है। किसी टीकाकार की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार आचार्य जी ने कुछ भी अनपेक्षित एवं अमूल नहीं लिखा है। उन्होंने ग्रन्थ की प्रामाणिकता के रक्षार्थ मूल ग्रन्थों से प्रत्यक्ष संबन्ध रखा है। पाठक को बौद्ध-धर्म और दर्शन की मूल भावनाओं एवं वातावरण से परिचित करने के लिए उन्होंने बौद्धों के शब्द तथा शैली को भी इस ग्रन्थ में पूर्ण सुरक्षित रखा है। विभिन्न प्रस्थानों के कुछ विशिष्ट मूल ग्रन्थों का संक्षेप दे देने से इस ग्रन्थ की उपादेयता और बढ़ गयी है। दर्शन के प्रामाणिक अध्ययन के लिए इस प्रणाली को मैं सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। इस प्रकार यह ग्रन्थ इस विषय की उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए ही उपादेय नहीं है, प्रत्युत इससे इतर भारतीय दर्शन के विद्वानों को भी प्रचुर सहायता मिलेगी। बौद्ध दर्शन के उपलब्ध संस्कृत ग्रन्थों में भी कोई एक ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसके द्वारा बौद्धों की समस्त शाखाओं के सिद्धान्त का ज्ञान हो। ऐसे ग्रन्थ

की अत्यन्त अपेक्षा थी। आचार्य जी ने यह ग्रन्थ लिखकर इस अभाव की उचित पूर्ति की है।

यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि प्राचीन भारतीय पण्डितगण अपना मत स्थापित करने के लिए परमत की पूर्वपक्ष के रूप में आलोचना करते थे। विरुद्ध मतों में प्राचीन काल में, अर्थात् खीष्ट द्वितीय शतक से द्वादश शतक तक, बौद्धमत का ही मुख्य स्थान रहा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। न्याय, वैशेषिक, पातञ्जलयोग, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त-प्रस्थान की समकालीन दार्शनिक विचारधाराओं की आलोचना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि सुप्रसिद्ध आचार्यों का नाम कौन नहीं जानता? सौगत दर्शन के चार मुख्य प्रस्थानों का परिचय किसे नहीं है? यह बात सत्य है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि बौद्धदर्शन एवं धर्म का परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। पूर्व काल में भी इसका ज्ञान सब लोगों को नहीं था। साधारण जनता की बात दूर रही, बड़े-बड़े पंडित भी इससे वंचित थे। इसलिए प्राचीन समय में भी कोई कोई आचार्य बौद्धमत के पूर्वपक्ष के स्थापन के प्रसङ्ग में निरसनीय मत से सम्यक् अभिज्ञ न थे। अवश्य उदयनाचार्य या वाचस्पतिमिश्रादि इसके अपवाद हैं। इस दृष्टि से वर्तमान समय की स्थिति और भी शोचनीय है। इसका प्रधान कारण बौद्धों के प्रामाणिक ग्रन्थों का अभाव है। दूसरा कारण है ग्रन्थों के उपलब्ध होने पर भी व्यक्तिगत कुसंस्कारों के कारण सहृदय आलोचन का अभाव।

वर्तमान समय में बहुत से दुर्लभ ग्रन्थों का अभाव कुछ कम हुआ है। यह सत्य है कि आज भी बहुत से अमूल्य ग्रन्थ अप्राप्त हैं, और प्राप्त ग्रन्थों में भी सबका प्रकाशन नहीं हुआ है। परन्तु अब आशा हो चली है कि अनुसन्धान की क्रमिक वृद्धि के फलस्वरूप बहुत से अज्ञात ग्रन्थों का परिचय प्राप्त होगा और अप्राप्त ग्रन्थ प्राप्त होंगे। यह भी आशा है कि दार्शनिकों का चित्तगत संकोच दूर होगा और रुचि परिवर्तित होगी। इससे प्राचीन एवं अभिनव ग्रन्थों के तथ्य-निर्णय की ओर दृष्टि आकर्षित होगी। इससे बौद्ध-धर्म और दर्शन संबन्धी मिथ्याज्ञान अनेक अंशों में दूर होगा। आचार्य जी का प्रस्तुत ग्रन्थ इस कार्य में विशेष रूप से सहायक होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

(२)

आचार्य जी ने ग्रन्थ का नाम 'बौद्ध-धर्म और दर्शन' रखा है। वस्तुतः धर्म और दर्शन संबन्धी प्रचुर सामग्री इसमें संचित है। वर्तमान युग की विभिन्न भाषाओं में इस संबन्ध में जो विचार प्रकाशित हुए हैं, उनका सार-संकलन देने के लिए ग्रन्थकार ने प्रयत्न किया है। बौद्ध-धर्म का उद्भव, उसका भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में तथा भारत से बाहर के देशों में प्रसार एक ऐतिहासिक व्यापार है। एक ही मूल उपदेश श्रोताओं और विचारकों के आशय-भेद से नाना रूप में विभिन्न निकायों में विकसित हुआ है। यह ऐतिहासिक घटना है, इसलिए धर्म तथा दर्शन की क्रमशः विकसित धाराएँ इसमें प्रदर्शित हैं। जो लोग भारतीय साधना-

धारा से सुपरिचित हैं, वे इस ग्रन्थ के उपासना संबन्धी अध्यायों को पढ़कर देखेंगे कि बौद्ध उपासना पद्धति भी अन्य भारतीय साधना-धारा के अनुरूप भारतीय ही है। प्रस्थान-भेद के कारण अवान्तर भेद के होते हुए भी सर्वत्र निगूढ़ साम्य लक्षित होता है। वर्तमान समय में यह साम्यबोध अत्यन्त आवश्यक है। वैषम्य जगत् का स्वभाव है, किन्तु इसके हृदय में साम्य प्रतिष्ठित रहता है। बहु में एक, विभक्त में अविभक्त तथा भेद में अभेद का साक्षात्कार होना चाहिये, इसी के लिए ज्ञानी का संपूर्ण प्रयत्न है। साथ ही साथ इस प्रयत्न के फलस्वरूप एक में बहु, अविभक्त में विभक्त तथा अभेद में भी भेद दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अवस्था में अवश्य ही भेदाभेद से अतीत, वाक् और मनस् से अगोचर, निर्विकल्पक परमसत्य का दर्शन होता है। प्रति व्यक्ति के जीवन में जो सत्य है, जातीय जीवन में भी वही सत्य है। यही बात समग्र मानव के लिए भी सत्य है। विरोध से अविरोध की ओर गति ही सर्वत्र उद्देश्य रहना चाहिये।

(३)

आचार्य जी का यह ग्रन्थ ५ खण्डों और २० अध्यायों में विभक्त है। पहले खण्ड के पाँच अध्यायों में बौद्ध-धर्म का उद्भव और स्थविरों की साधना वर्णित है। प्रथम अध्याय में भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ, बुद्ध का प्रादुर्भाव, उनके समसामयिक आचार्य, धर्मप्रसार, भगवान् का परिनिर्वाण आदि विषय वर्णित हैं। द्वितीय अध्याय में बुद्ध की शिक्षा की सार्वभौमिकता, उनका मध्यम-मार्ग, शिक्षात्रय, पंचशील आदि प्रदर्शित है। तृतीय अध्याय में बुद्धदेशना की भाषा और उसका विस्तार बताया गया है। चतुर्थ में निकायों का विकास वर्णित है। पाँचवें में समाधि का विस्तार पूर्वक वर्णन है।

द्वितीय खण्ड के ५ अध्यायों का विषय महायान-धर्म और उसके दर्शन की उत्पत्ति और विकास, उसका साहित्य और साधना है। इस प्रकार छठे अध्याय में महायान-धर्म की उत्पत्ति और उसका त्रिकायवाद है। सातवें में बौद्ध संस्कृत-साहित्य का और संकर-संस्कृत का परिचय देकर पूरे महायान सूत्रों का विषय-परिचय कराया गया है। आठवें में महायान दर्शन की उत्पत्ति, उसके प्रधान आचार्यों की कृतियों का परिचय है। नवें में माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तंत्रों का संक्षिप्त परिचय है। दसवें में विस्तार से महायान की बोधिचर्या और पारमिताओं की साधना वर्णित है।

तृतीय खण्ड में बौद्ध दर्शन के सामान्य सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन है। इसमें एकादश से चतुर्दश तक चार अध्याय हैं। एकादश में बौद्ध दर्शन के सामान्य ज्ञान के लिए एक भूमिका है। द्वादश में प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभंगवाद, अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद का तर्कपूर्ण सुन्दर परिचय है। त्रयोदश और चतुर्दश में क्रमशः बौद्धों के कर्मवाद और निर्वाण का महत्वपूर्ण आलोचन किया गया है।

चतुर्थ खण्ड पंचदश से ऊनविंश तक ५ अध्यायों में विभक्त है। इस खण्ड में बौद्ध दर्शन के चार प्रस्थानों का विशिष्ट ग्रन्थों के आधार पर विषय परिचय और अन्य दर्शनों से

उनकी तुलना दी गई है। पंचदश अध्याय में वैभाषिक-नय, षोडश में सौत्रान्तिक-नय, सप्तदश में असंग का विज्ञानवाद, अष्टादश में वसुबन्धु का विज्ञानवाद, ऊनविंश में शून्यवाद का विस्तार पूर्वक प्रामाणिक परिचय दिया गया है।

पंचम खण्ड बौद्ध-न्याय का है। इस खण्ड के एक मात्र बीसवें अध्याय में आकाशवाद और कालवाद पर महत्वपूर्ण विचार करके न्याय के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार पांच खण्डों में पालि और संस्कृत में वर्णित बौद्ध-धर्म और दर्शन का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है।

(४)

बौद्ध-धर्म में जीवन के आदर्श के संबन्ध में प्राचीन काल से ही दो मत हैं। ये दोनों मत उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट होते गये। प्रथम—मलिन वासना के क्षय का सिद्धांत है। इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निर्वाण है। दूसरा—वासना का शोधन है। इससे शुद्ध वासना का आविर्भाव होता है और देह-शुद्धि होती है। देह-शुद्धि के द्वारा विश्व-कल्याण या लोक-कल्याण का संपादन किया जा सकता है। अन्त में शुद्ध वासना भी नहीं रहती। उसका क्षय हो जाता है और उससे पूर्णत्व-लाभ होता है। इसे ये लोग बुद्धत्व कहते हैं। इसे आपेक्षिक दृष्टि से परा-मुक्ति कह सकते हैं। उपर्युक्त दोनों स्थितियों में काफी मतभेद है। संक्षेप में कह सकते हैं कि पहला आदर्श हीनयान का और दूसरा महायान का है। किन्तु यह भी सत्य है कि हीनयान में भी महायान का सूक्ष्म बीज निहित था। श्रावकगण अपने व्यक्तिगत दुःख का नाश या निर्वाण चाहते थे। प्रत्येक-बुद्ध का लक्ष्य दुःखनाश तथा व्यक्तिगत बुद्धत्व था। इसका अर्थ है स्वयं बुद्धत्व-लाभ कर विश्व की दुःखनिवृत्ति में सहायता करना। प्राचीन समय में दस संयोजनों का नाश करके अर्हत्व की प्राप्ति करना लक्ष्य था। प्रचलित भाषा में इसे जीवन्मुक्ति का आदर्श कह सकते हैं। बौद्धमत में यह भी एक प्रकार का निर्वाण है। इसे सोपधिशेष निर्वाण कहते हैं। इसके बाद स्कंध-निवृत्ति अर्थात् देहपात होने पर अनुपधि-शेष निर्वाण या विदेह-कैवल्य प्राप्त होता है। इस मार्ग में क्लेश ही अज्ञान का स्वरूप है। पातंजल योग-दर्शन में जैसे अविद्या को मूलक्लेश माना गया है, उसी प्रकार प्राचीन बौद्धों में क्लेश-निवृत्ति को ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ समझा जाता था। वस्तुतः क्लेश-निवृत्ति हो जाने पर भी किसी-किसी क्षेत्र में वासना की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि मलिन वासना का नाश होने पर भी शुद्ध वासना की संभावना रहती ही है। इसमें संदेह नहीं कि जिसमें शुद्ध वासना नहीं है,उसके लिए क्लेश-निवृत्ति ही चरम लक्ष्य है। परन्तु पूर्णत्व या बुद्धत्व का आदर्श इससे बहुत उच्च है। बोधिसत्व से भिन्न दूसरा कोई बुद्धत्व-लाभ नहीं कर सकता। शुद्ध वासना वस्तुतः परार्थ-वासना है। बोधिसत्त्व इस ,वासना से अनुप्राणित होकर क्रमशः बुद्धत्व प्राप्त करने का अधिकारी होता है। बोधिसत्त्व की अवस्था भी एक प्रकार की अज्ञान की अवस्था है। परन्तु यह क्लिष्ट नहीं, अक्लिष्ट है। बोधिसत्त्व की भिन्न भिन्न भूमियों को क्रमशः भेद करके आगे

चलना पड़ता है। इस प्रकार क्रमशः शुद्ध वासना निवृत्त हो जाती है। बोधिसत्त्व की अन्तिम अवस्था में बुद्धत्व का विकास होता है, जैसे शुद्ध अध्वा में संचरण करते हुए जीव को क्रमशः शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु जब तक चिद्रूपा शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक शिवत्व का आभास होने पर भी शिवत्व की सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं होती। यहाँ तक कि विशुद्ध-विज्ञान-कैवल्य-रूप स्थिति में अवस्थित होने पर भी पूर्ण शिवत्व का लाभ नहीं होता। ठीक इसी प्रकार बोधिसत्त्व की अवस्था दस या ततोधिक भूमियों में विभक्त है। 'भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा' का विकास होते होते अक्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और अन्तिम अवस्था में पूर्णाभिषेक की प्राप्ति होती है। उस समय बोधिसत्त्व बुद्ध पद पर अधिरूढ़ होते हैं। बुद्धत्व अद्वय स्थिति का वाचक है। पुद्गल-नैरात्म्य सिद्ध होने पर समझना चाहिये कि क्लेश-निवृत्ति हो गयी है, किन्तु द्वैत का भान नहीं छूटता। इसके लिए धर्म-नैरात्म्य का होना आवश्यक भी है। शुद्ध वासना के निवृत्त होने पर धर्म-नैरात्म्य की भी सिद्धि हो जाती है। उस समय नैरात्म्य-दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय समरस हो जाते हैं। यही पूर्ण नैरात्म्य है। वैदिक तथा आगमिक आदर्श में बाह्य दृष्टि से किंचित् भेद प्रतीत होता है। यह वैसा ही भेद है जैसा कि ओल्ड टेस्टामेन्ट और न्यू टेस्टामेन्ट में लॉ (विधि) तथा लव (प्रेम) इन लक्ष्यों के आधार पर किंचित् भेद प्रतीत होता है।

बुद्धत्व का आदर्श प्राचीन समय में भी था। जनता के लिए बुद्ध होना आपाततः शक्य नहीं था, परन्तु अर्हत्-पद में उत्थित होकर निर्वाण-लाभ करना—अर्थात् दुःख का उपशम करना, सभी को इष्ट था। किन्तु जिस स्थिति में अपना और दूसरे का दुःख समान प्रतीत होता है और अपनी सत्ता का बोध विश्वव्यापी हो जाता है, अर्थात् जब समस्त विश्व में आत्मत्व आ जाता है, उस समय सबकी दुःख-निवृत्ति ही अपने दुःख की निवृत्ति में परिणत हो जाती है। क्लिष्ट वासना के उपशम से जो निर्वाण प्राप्त होता है वह यथार्थ नहीं है। महानिर्वाण की प्राप्ति के पहले साधक को बोधिसत्त्व अवस्था में आरूढ़ होकर क्रमशः उच्चतर भूमियों का अतिक्रम करना पड़ता है। क्रम-विकास के इस मार्ग में किसी किसी का शत-शत जन्म बीत जाता है।

सांख्य-योग के मार्ग में जैसे विवेकख्याति से विवेकज-ज्ञान का भेद दृष्टिगत होता है, ठीक उसी प्रकार श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा से भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा का भी भेद है। विवेकख्याति कैवल्य का हेतु है, परन्तु विवेकज-ज्ञान कैवल्य के अविरोधी ईश्वरत्व का साधक है। ईश्वरत्व की भूमि तक साधारण लोग उठ नहीं सकते, किन्तु विवेक-ज्ञान प्राप्त करने पर कैवल्य-प्राप्ति का अधिकार सबको मिल सकता है। विवेकज-ज्ञान तारक, अक्रम, सर्वविषयक, सर्वथा विषयक तथा अनौपदेशिक है। अर्थात् यह प्रातिभ ज्ञान है या स्वयंसिद्ध महाज्ञान है। यह सर्वज्ञत्व है, किन्तु कैवल्य स्थिति नहीं है। योगभाष्य में लिखा है कि सत्त्व और पुरुष के समरूप से शुद्ध हो जाने पर कैवल्य-लाभ होता है, परन्तु विवेक-ज्ञान की प्राप्ति या ईश्वरत्व-लाभ हो या न हो इससे उसका कोई संबन्ध नहीं है। जैनमत में भी केवल-ज्ञान सभी को प्राप्त हो सकता है, किन्तु

तीर्थंकरत्व सब के लिए नहीं है। तीर्थंकर गुरु तथा दैशिक है। इस पद पर व्यक्ति-विशेष ही जा सकते हैं, सब नहीं। तीर्थंकरत्व त्रयोदश गुणस्थान में प्रकट होता है, परन्तु सिद्धावस्था की प्राप्ति चतुर्दश भूमि में होती है। द्वैत शैवागम में योगी के शुद्ध अध्वा में प्रविष्ट होने पर उसकी क्रमशः शुद्ध अधिकार-वासना और शुद्ध भोग-वासना निवृत्त हो जाती हैं। ये दोनों ही शुद्ध अवस्था के द्योतक हैं। इसके बाद लयावस्था में शुद्ध भावों के भी अभाव से शिवत्व का उदय होता है। अधिकार-वासना तथा भोग-वासना अशुद्ध नहीं है, परन्तु इसकी भी निवृत्ति आवश्यक है। अधिकारावस्था ही शास्ता का पद है। शुद्ध विद्या का अधिष्ठाता होकर दुःखपंक-मग्न जगत् में ज्ञान-दान करना तथा जीव और जगत् को शुद्ध अध्वा में आकर्षित करना; यही विद्येश्वरगण का कार्य है। यह विशुद्ध परोपकार है। इस वासना का क्षय होने पर शुद्ध भोग हो सकता है, किन्तु इसके लिए वासना का रहना आवश्यक है। इस प्रकार ईश्वरतत्त्व से सदाशिव तत्त्व तक का आरोहण होता है। जब शुद्ध आनन्द से भी वैराग्य होगा तब अन्तर्लीन अवस्थाभूत शिवत्व का स्फुरण होगा। किन्तु इसमें उपाधि रहती है। इसके बाद निरुपाधिक शिवत्व का लाभ होता है। उसमें व्यक्तित्व नहीं होता, क्योंकि शुद्धवासना का क्षय होने पर व्यक्तित्व नहीं रह सकता। उस समय महामाया से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है। अद्वैत शैवागम में भी भगवदनुग्रह के प्रभाव से शुद्ध मार्ग में प्रवेश होता है, पश्चात् परमशिवत्व की स्थिति का क्रमशः विकास होता है। दीक्षा का भी यथार्थ रहस्य यही है कि इससे पाश-क्षय और शिवत्व-योजन दोनों का लाभ होता है।

प्राचीन काल में बुद्धत्व का आदर्श प्रत्येक जीव का नहीं था। यह किसी किसी उच्चाधिकारी का था। उसके लिए उसे विभिन्न जन्मों से विभिन्न प्रकार के संघर्षण के प्रभाव से जीवन का उत्कर्ष साधन करना पड़ता था। इस साधना को पारमिता की साधना कहते हैं। पुण्य-संभार तथा ज्ञान-संभार दोनों से बुद्धत्व निष्पन्न होता है। पुण्य-संभार कर्मात्मक, ज्ञान-संभार प्रज्ञात्मक है। इन दोनों की उपयोगिता थी। अद्वैतभाव के विस्तार के साथ साथ बुद्धत्व का आदर्श व्याप्त हो गया था। पहले गोत्र-भेद का सिद्धांत स्वीकार किया जाता था, किन्तु लक्ष्य बड़ा होने के कारण यह क्रमशः उपेक्षित होने लगा। अभिनव दृष्टि के अनुसार बुद्ध-बीज सभी के भीतर है। परन्तु एकमात्र मनुष्य-देह का ही यह वैशिष्ट्य है कि यहाँ यह अंकुरित होकर विकसित हो सकता है। तभी बुद्धत्व-लाभ हो सकता है। जिस समय से बुद्धत्व के आदर्श का प्रसार हुआ, उस समय से बोधिसत्व की चर्चा आवश्यक प्रतीत होने लगी। इस अवस्था में निर्वाण का प्राचीन आदर्श मलिन हो गया और इसका आदर्श महानिर्वाण या महापरिनिर्वाण के रूप में परिणत हो गया।

(५)

साधक तथा योगी के जीवन में अन्य धर्मों के विकास के सदृश करुणा का विकास भी आवश्यक है। जगत् के विभिन्न आध्यात्मिक प्रस्थानों में इस धर्म का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। करुणा ही सेवा का मूल है। यह प्रसिद्धि ठीक है—सेवाधर्मः परमगहनो

योगिनामप्यगम्यः। जिनके चित्त में सेवावृत्ति का उन्मेष नहीं होता और जिनका हृदय करुणा से प्रभावित नहीं होता, ऐसे पुरुषों का हृदय अवश्य ही संकुचित है। सब प्रकार से अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि ही इनका लक्ष्य होता है। जब इनका अधिकार स्वल्प होता है, तब ये अपने लिए ऐहिक या पारत्रिक अभ्युदय चाहते हैं—वह या तो जागतिक ऐश्वर्य चाहेंगे या पारलौकिक स्वर्गादि का आनन्द-लाभ। जब अधिकार का उत्कर्ष होता है, तब इनका लक्ष्य होता है – व्यक्तिगत जीवन के दुःखों की निवृत्ति अर्थात् मुक्ति। यदि किसी क्षेत्र में इनका लक्ष्य आनन्द का अभिव्यंजन भी हो, तो भी ये व्यक्ति-जीवन की सीमाओं से आबद्ध ही रहते हैं। विश्व-कल्याण या परार्थ-संपादन इनके जीवन का ध्येय नहीं होता। कभी किसी क्षेत्र में किंचित् परार्थपरता का भी आभास मिलता है, किन्तु वह वस्तुतः स्वार्थसिद्धि का उपायरूप ही होता है। इसके उदाहरण में दया-वृत्ति का नाम लिया जा सकता है। इस वृत्ति को कार्य रूप में परिणत करने पर या भावना के रूप में ग्रहण करने पर उससे कार्यकर्ता या भावक का चित्त शुद्ध होता है। उससे ज्ञान-प्राप्ति तथा मुक्ति में सहायता मिलती है। इस स्थल में दया दूसरे के लिए मालूम होती है, किन्तु वस्तुत: अपने कल्याण की ही साधक है।

भक्ति तथा प्रेम-साधन के क्षेत्र में जैसे साधनरूप भक्ति और साध्यरूप प्रेमा भक्ति में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार करुणा संबन्धी अनुशीलन के क्षेत्र में साधन तथा साध्य करुणा में अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है।

योग-दर्शन में चित्त के परिकर्म के रूप में मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा के नियमित परिशीलन की उपयोगिता दिखाई गयी है। प्राचीन पालि साहित्य में भी ब्रह्मविहार नाम से इन्हीं वृत्तियों का निर्देश है। योग-दर्शन में करुणा का जो परिचय दिया गया है, उससे सर्वांशतः भिन्न एक अन्य रूप भी है। इसी के अवलम्ब से अर्थात् उसे ही जीवन का साध्य बनाने से, महायानी अध्यात्म-साधना का मार्ग प्रवर्तित हुआ है। इस प्रकार की करुणा का अन्तराय व्यक्तिगत मुक्ति है। इसी लिए ऐसी मुक्ति उपादेय नहीं मानी जाती। उपनिषत्-कालीन प्राचीन साधना में जीवन्मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-संपादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत है। जीवन्मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दुःख की निवृत्ति के लिए उपायरूप में ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालियाँ गौण समझी जाती थीं। जीवन्मुक्त महापुरुष ही संसार-ताप से पीड़ित जीवों के उद्धार के लिए अधिकारी थे। वर्तमान जगत् में करुणा के जितने भी आकार दिखाई पड़ते हैं, वे आवश्यक होने पर भी मुख्य करुणा के निदर्शन नहीं हैं। हाँ, दोनों ही सेवाधर्म हैं, इसमें सन्देह नहीं। जब तक भोग से प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं होता, तब तक देह रहता है। इसलिए जीवन्मुक्ति ही सेवा के लिए योग्य समय है। किन्तु यह परिमित है, क्योंकि देहान्त होने पर सेवा का अवसर नहीं रहता। यही कारण है कि जीवन्मुक्तिविवेक में विद्यारण्य स्वामी ने ज्ञान-तन्तु के संरक्षण को ही जीवन्मुक्ति का मुख्य प्रयोजन बताया है।

जीवन्मुक्ति में ज्ञान की आवरण शक्ति नहीं रहती, इसलिए स्वरूप-ज्ञान अनावृत रहता है। परन्तु विक्षेपशक्ति के कारण उपाधि रहती है। इसीलिए इस समय में जीव तथा जगत् की सेवा हो सकती है। जीवन्मुक्त ही यथार्थ गुरु है। एक मात्र यह गुरु ही तारक-ज्ञान का संचारक एवं यथार्थरूप में दुःखमोचक तथा सेवाव्रती है।

परन्तु इस सेवा का क्षेत्र देशगत दृष्टि से परिमित है और कालगत दृष्टि से भी संकुचित है। परिमित इसलिए कि एक व्यक्ति का कर्म-क्षेत्र विशाल होने पर भी सीमाबद्ध है। सेवक के लिए सेवा का अवसर तभी तक रहता है जब तक वह देह से संबद्ध रहता है। देह छूटने पर या कैवल्य-लाभ करने पर सेवा करने की संभावना ही नहीं रहती। उसका प्रयोजन भी नहीं रहता, क्योंकि व्यष्टि-चित्त की शुद्धि ही तो उसका प्रयोजन है। उसके लिए सेवाव्रत सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। उस समय अपने आप कैवल्य प्राप्त हो जाता है। उस समय जीवन्मुक्त गुरु परम्परा-क्रम से सेवा-व्रत का भार अपने योग्य शिष्य को देकर परमधाम में प्रयाण करते हैं। यह स्वाभाविक ही है।

जिसके चित्त में परदुःख की प्रहाणेच्छा अत्यन्त प्रबल है, वह ऐसा प्रयत्न करता है जिससे शीघ्र स्कन्ध-निवृत्ति न हो। उसका यह प्रयत्न भोग या विलास के लिए नहीं, बल्कि जीव-सेवा का अवसर बढ़ाने के लिए है। जिसके चित्त में स्वल्पभाव या संकोच नहीं है, उसमें इस प्रकार की इच्छा का उदय होना स्वाभाविक है। सभी चित्तों में इस प्रकार की इच्छा नहीं होती, यह सत्य है; परन्तु किसी-किसी में अवश्य होती है, यह भी सत्य है। यही उसके महत्त्व का निदर्शन है। गोत्र-भेद माननेवालों की यही मूल युक्ति है। भक्ति-साधना के मार्ग में भी ठीक इसी प्रकार के विचार देखने में आते हैं। इसी लिए किसी-किसी के मत से आवश्यक होने पर भी भक्ति चिरस्थायी नहीं है, क्योंकि अभेद-ज्ञान या मोक्ष-लाभ करने पर उसका अवकाश नहीं रहता। यह भक्ति उपाय या साधनरूप है, यहाँ उपेय (साध्य) ज्ञान या मुक्ति है। जिनके चित्त में संकोच कम है, उन्हें नित्यभक्ति की आकांक्षा होती है। वह फलरूपा भक्ति है। वह या तो मुक्ति से अभिन्न है, या ऊर्ध्व। इस प्रकार की भक्ति ही पंचम पुरुषार्थ है। कितने मुक्त पुरुष भी इसके लिए लालायित रहते हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ है।

किन्तु नश्वर, परिणामी एवं मलिन देह में इस प्रकार के महान् आदर्श की प्राप्ति असंभव है। इसलिए मर्त्यदेह को स्थिर तथा निर्मल करने के लिए प्रयत्न आवश्यक है। वैष्णवों का भाव-देह, प्रेम-देह तथा रस-देह इसी प्रकार के सिद्ध-देह हैं। ये जरा-मृत्यु से अतीत हैं। इसी का नामान्तर पार्षद-तनु है। इसके द्वारा नित्यधाम में नित्यभक्ति का याजन होता है। ज्ञानी के विषय में भी इसी प्रकार की बात है। साधारण दृष्टि से ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है, किन्तु वह अज्ञान के आवरणांश का ही निवर्तक है, विक्षेपांश का नहीं। इसीलिए कहा जाता है कि ज्ञान के उदय होने पर भी प्रारब्ध का नाश नहीं होता। परन्तु ऐसा भी विशिष्ट ज्ञान है जिससे विक्षेप की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार के ज्ञान के उदय के साथ ही साथ देह-पात हो जाता है। एक ऐसा भी ज्ञान है जिसके प्रभाव से

इस कर्मजन्य मलिन देह का नाश नहीं होता, बल्कि रूपान्तर की प्राप्ति होती है। इससे देह चिन्मय हो जाता है। पहले वह विशुद्ध सत्वमय होता है। उस समय उसकी जरा-मृत्यु से निवृत्ति हो जाती है। उसके बाद साक्षात् चिन्मयत्व का लाभ हो जाता है। आगम की परिभाषा में पहले देह का नाम 'बैन्दव' और द्वितीय का 'शाक्त' है। शाक्त-देह वस्तुतः चित् शक्तिमय देह है। उसमें बिन्दु या महामाया का लेश भी नहीं रहता। इस बैन्दव देह का नाम ही सिद्ध-देह है। बौद्ध, शैव तथा शाक्त सिद्धाचार्य इस बैन्दव या सिद्ध देह को प्राप्त कर अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करते हैं। यह प्राकृतिक नियमों की शृङ्खला से बद्ध नहीं है। वे इस देह में अवस्थान करते हुए जीव-सेवा करते हैं। इस देह में मृत्यु का भय नहीं है। इसी लिए सुदीर्घ काल तक इस देह में रह कर जगत् के कल्याण की चेष्टा की जा सकती है। किन्तु अत्यन्त दीर्घ काल के बाद इसकी भी एक सीमा आती है। यह तो ठीक है कि इस समय भी देह का पात नहीं होता, परन्तु प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर योगी उसे संकुचित करके परमधाम में प्रवेश करता है। कोई कोई इस देह का दिव्य-तनु नाम से भी वर्णन करते हैं। नाथ संप्रदाय, रसेश्वर योगी संप्रदाय तथा महेश्वर संप्रदाय में इस विषय में विस्तृत आलोचना है। सेन्ट जॉन के एपोकलिप्स में भी इस विषय में बहुत कुछ इंगित है। खीष्टीय मत के रिसरेक्शन बॉडी तथा एसेंसन बॉडी का भेद इस प्रसंग में आलोच्य है।

(६)

बौद्ध योगियों के आध्यात्मिक जीवन में करुणा का क्या स्थान है, इस विषय की आलोचना के लिए पूर्वोक्त विवरण का उपयोग प्रतीत होता है। श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्धयान में सर्व सत्वों का दुःख-दर्शन ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम सत्वावलंबन करुणा है। मृदु तथा मध्य कोटि के महायान मत में अर्थात् सौत्रान्तिक तथा योगाचार संप्रदाय में जगत् का नश्वरत्व या क्षणिकत्व ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम धर्मावलंबन करुणा है। उत्तम महायान अर्थात् माध्यमिक मत में करुणा का मूल कुछ नहीं है, अर्थात् उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। इस मत में शून्यता से अभिन्न करुणा ही बोधि का अंग है। एक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि शून्यता जैसे लोकोत्तर है, वैसे ही करुणा भी लोकोत्तर है। यह अहेतुक करुणा है। अनंगवज्र कहते हैं कि करुणावान् कभी किसी सत्व को निराश (विमुख) नहीं करते—

सत्त्वानामस्ति नास्तीति न चैवं सविकल्पकम्।

स्वरूप निष्प्रपंच है, इसलिए प्रज्ञा-रस चिन्तामणि के सदृश अशेष सत्वों का अर्थात् निखिल जीवों का अर्थकरण या अर्थक्रियाकारित्व है। इसी का नामान्तर कृपा है—

निरालम्बपदे प्रज्ञा निरालम्बा महाकृपा।
एकीभूता धिया सार्धं गगने गगनं यथा॥

मनोरथनंदि ने प्रमाणवार्तिक की वृत्ति में कहा है—

दुःखाद् दुःखहेतोश्च समुद्धरणकामता करुणा।

वार्तिककार धर्मकीर्ति ने करुणा को भगवान् बुद्ध के प्रामाण्य के लिए साधन माना है, और कहा है कि यह अभ्यास से संपन्न होती है।

साधनं करुणाभ्यासात् सा बुद्धेर्देहसंश्रयात्।
असिद्धोऽभ्यास इति चेन्नाश्रयप्रतिषेधतः॥

'अभ्यासात् सा' इसकी व्याख्या में मनोरथनंदि ने कहा है—

गोत्रविशेषात् कल्याणमित्रसंसर्गादनुशयदर्शनाच्च कश्चिन्महासत्त्वः कृपाया-मुपजातस्पृहः सादरनिरन्तरानेकजन्मपरम्पराप्रभवाभ्यासेन सात्मीभूतकृपया प्रेर्यमाणः सर्वसत्त्वानां समुदयहान्या दुःखहानाय मार्गभावनया निरोधप्रापणाय च देशनां कर्तु-कामः स्वयमसाक्षात्कृतस्य देशनायां विप्रलम्भसंभावनाच्चतुरार्यसत्यानि साक्षात्करोतीति भगवति साधनं कृपा प्रामाण्यस्य। [१ । ३६]

श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध से बुद्धों का यही वैशिष्ट्य है। धर्मकीर्ति ने लिखा है—

परार्थवृत्तेः खड्गादेर्विशेषोऽयं महामुनेः।
उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम्॥ [१ । १७६]

प्रत्येक-बुद्ध, श्रावक प्रभृति का लक्षण वासना-हानि है। परन्तु सम्यक्-संबुद्ध परार्थवृत्ति होने के कारण सर्वोत्तम है।

यह दया सत्त्वदृष्टिमूलक नहीं है, किन्तु वस्तुधर्म है। इसीलिए यह दोषावह नहीं है। वार्तिककार ने कहा है—

दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी।
वस्तुधर्मा दयोत्पत्तिर्न सा सत्त्वानुरोधिनी॥ [१ । १७६]

दुःख का ज्ञान होने पर पूर्व संस्कार के प्रभाव से दया स्वभावतः ही उत्पन्न होती है। यह सर्वत्र अप्रतिहत है। पूर्व संस्कार का अर्थ प्राक्तन अभ्यास की प्रवृत्ति है। वस्तुधर्म का तात्पर्य वस्तु का अर्थात् कृपाविषयीभूत दुःख का धर्म है। यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिनकी आत्मदृष्टि सर्वथा उन्मूलित है, ऐसे महापुरुषों को दुःख के संमुखीन होते ही दया उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि उन्होंने दुःख को कृपा के विषयरूप में ग्रहण करने का अभ्यास कर लिया है। सब दुःखों का मूल कारण मोह है। बौद्धमत में सत्त्वग्राह या आत्मग्राह ही मोह का मूल है। जब इसका उन्मूलन हो जाता है तो किसी के प्रति द्वेष नहीं होता। क्योंकि जिसे आत्मदर्शन नहीं है, उसे किसी के द्वारा अपकार प्राप्ति की भ्रान्ति नहीं होगी। अतः वह किसी से द्वेष क्यों करेगा? इस प्रकार यह कृपा दोषों के मूलभूत आत्मग्राह के अभाव से ही उत्पन्न होती है, इसलिए वह दूषणीय नहीं है। धर्मकीर्ति ने कहा है—

दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदयः। [१ । १७८]

पूर्व कर्मों के आवेश के क्षीण हो जाने से और दुःखजनक अन्य कारणों के अत्यन्त नष्ट हो जाने से अप्रतिसंधि के कारण मुक्ति अवश्य होती है। किन्तु जो महाकृपा से संपन्न

हैं, उनका जन्माक्षेपक कर्म प्रणिधान परिपुष्ट है, अतः उनके संस्कार की शक्ति क्षीण नहीं होती, इसीलिए वह सम्यक्-संबुद्ध हैं। ये यावत् आकाश चिरस्थायी हैं। परन्तु श्रावकों का कर्म ऐसे देह का आक्षेपक है जिसकी स्थिति का काल नियत है। उनमें करुणा अत्यन्त मृदु है, अतः देहस्थापन के लिए उनमें अपेक्षित महान् यत्न भी नहीं है। इसीलिए उनकी सदा स्थिति नहीं है। परन्तु इसके विपरीत वे महामुनि जो दूसरों के उपकार साधन के लिए ही हैं, और अकारण-वत्सल हैं, वे वस्तुतः कृपामय हैं। इस अर्थ में ये पराधीन हैं। इस विशिष्ट पराधीनता के कारण ये लोग चिरस्थितिक हैं। धर्मकीर्ति ने कहा है—

तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा। [१ । २०१]

अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली में कहा है कि श्रावक और प्रत्येक-बुद्ध की करुणा सत्त्वावलंबन है। सत्त्वों के दुःखदुःखत्व तथा परिणामदुःखत्व का अवलंबन करके इनकी करुणा उत्पन्न होती है। श्रावक की देशना वाचिकी है, किन्तु प्रत्येक-बुद्ध की देशना कायिकी है। संबुद्धों के अनुत्पाद से और श्रावकों के परिक्षय से प्रत्येक-बुद्धों का ज्ञान असंसर्ग से ही उत्पन्न होता है। यहाँ असंसर्ग से अभिप्राय अपने में ऐसी विशिष्ट पात्रता के संपादन से है, जिसमें सूर्यज्योति के समान स्वभावकाय या धर्मकाय के स्वभावतः प्रसरणशील रश्मियों का स्वतः ही आधान होता है। और सम्यक्-संबुद्धों से प्रत्येक-बुद्ध की यही भिन्नता है। बौद्ध साधना का प्रत्येक अंश ही प्रज्ञा तथा करुणा की दृष्टि से ही विचारणीय है। देशना भी इसी के अनुरूप है।

(७)

श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-संबुद्ध इन तीन प्रकार के साधकों के बीच महायान ही योग-पथ है। यद्यपि उसमें अवान्तर भेद हैं, फिर भी मुख्यतः दो ही धाराएँ हैं— १. पारमिता-नय, और २. मन्त्र-नय। सभी सौत्रान्तिक मृदुपारमिता-नय स्वीकार करते हैं। योगाचार और माध्यमिकों में कोई पारमिता-नय और कोई मन्त्र-नय ग्रहण करते हैं। ज्ञान के साकार या निराकार मानने के कारण योगाचार दो प्रकार के हैं। साकारवाद में परमाणु को षडंश नहीं माना जाता। इस मत में सभी चित्त-मात्र है। इसमें ग्राह्य और ग्राहकभाव नहीं हैं। कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु तीनों चित्तमात्र हैं। ये चित्त निरपेक्ष विचित्र प्रकाशात्मक हैं। चित्त जब विकल्पशून्य होता है, तब उसे ही अद्वैत-साक्षात्कार कहते हैं। निराकारवाद में चित्त अनाकार संवेदनरूप है। वासनायुक्त चित्त अर्थाभास के रूप में प्रवृत्त होता है। आभासमात्र ही माया है। जो तत्त्व है वह निराभास है। वह शुद्ध अनन्त आकाशवत् है। बुद्धकाय या धर्मकाय निष्प्रपञ्च तथा निराभास है। उससे दो रूपकायों (संभोगकाय तथा निर्माणकाय) का उद्भव होता है। दोनों ही मायिक हैं।

अन्य मत में किसी-किसी का लक्ष्य मायोपम अद्वयवाद है। कोई आचार्य इस प्रकार का अद्वयवाद नहीं मानते। उनके मत में सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद ही युक्तिसिद्ध है। मायोपम-समाधि, महाकरुणा, तथा अनाभोग चर्या के द्वारा बोधिसत्त्व सर्व का दर्शन और ज्ञान करते हैं।

किन्तु इस ज्ञान तथा दर्शन को मायावत् या छायावत् माना जाता है। चित्त के बाहर जगत् नहीं है। उनका जीवन बिना किसी निमित्त के क्रमशः उच्च उच्च भूमियों का लाभमात्र है। अन्त में त्रिधातु की चित्तमात्रता प्रतीत होने लगती है। यही मायोपम समाधि है। परन्तु जो लोग सब धर्मों का अप्रतिष्ठान मानते हैं, उनके सिद्धान्त में विश्व न सत् है, न असत् है, न उभयात्मक है, न अनुभयात्मक है। इसीलिए इस मत में संसार को सत्, असत्, सदसत्, तथा सदसद्-भिन्न चार कोटियों से विनिर्मुक्त माना जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से साधन-जीवन की दो अवस्थाएँ हैं—१. हेतु-रूप या साधन-रूप तथा २. फल-रूप या साध्य-रूप। ज्ञान तथा भक्ति मार्ग में जैसे साधनरूप ज्ञानभक्ति या साध्य रूप ज्ञानभक्ति दोनों का परिचय मिलता है, उसी प्रकार बौद्धों के साधन की चरमदृष्टि से भी साधन-रूप करुणा और साध्य-रूप करुणा में भेद है। साधनावस्था में भगवान् के चित्तोत्पाद से लेकर बोधिमंड-उपक्रमण, मार-विध्वंसन तथा वज्रोपम-समाधि पर्यन्त मार्गस्वरूप है। यह मार्ग पारमिता-नय है। फलावस्था में एकादश-भूमि का आविर्भाव माना जाता है। आशय तथा प्रयोग के भेद से हेतु भी दो प्रकार के हैं। सर्व सत्त्वों का त्राण आशय है तथा क्षयानुत्पाद ज्ञानरूप बोधि का अवलंबन प्रयोग है। प्रयोग के भी दो प्रकार हैं। एक का विमुक्तिचर्या से संबन्ध है, दूसरे का भूमि से। पहला दानादि-विमुक्ति में प्रायोगिक है, दूसरा पारमिता-विमुक्ति में वैपाकिक है। द्वितीय के भी दो अवान्तर भेद हैं। एक में अभिसंस्कार है, द्वितीय में अभिसंस्कार नहीं है। प्रथम में सात भूमियाँ हैं, क्योंकि आभोग तथा निमित्त के प्रभाव से समाधिकी प्रवृत्ति होती है। सप्तम भूमि में निमित्त नहीं रहता, किन्तु आभोग रहता है। अष्टम में आभोग भी नहीं रहता। बुद्धभूमि की प्राप्ति होने पर निमित्त और आभोग दोनों का अभाव होता है। इसीलिए इसमें स्वभावसिद्ध समाधि का उदय होता है। इसी के प्रभाव से निखिल जगत् के यावत् अर्थों का संपादन हो जाता है। उस समय परार्थ संपादन होता है और सर्वसंवित् के लाभार्थ सर्वानुशासन हो सकता है।

एक दृष्टि से देखा जाय तो यह भी साधकावस्था ही है। इसमें चार संपत् का उदय होता है। चारों अभ्यास रूप ही हैं—१. अशेष पुण्य तथा ज्ञान-संभार का अभ्यास, २. नैरन्तर्य का अभ्यास, ३. दीर्घकाल का अभ्यास और ४. सत्कार का अभ्यास। पतञ्जलि के योगसूत्र,—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" में अन्तिम तीनों का उल्लेख है।

सिद्धावस्था दशम भूमि के बाद होती है। उसमें भी चार संपदों का उल्लेख मिलता है—१. प्रहाण, २. ज्ञान, ३. रूपकाय, ४. प्रभाव। प्रत्येक के अवान्तर भेद हैं, जिनका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। प्रकृत में वही अपेक्षित है, जो रूपकाय में संपत्-चतुष्क के नाम से निर्दिष्ट है। उसके अन्तर्गत महापुरुष के बत्तीस लक्षण, अशीति अनुव्यञ्जन, बल तथा वज्राङ्ग अथवा स्थिरदेह है। पातञ्जल-योगसूत्र में कायसंपत् के नाम से पञ्चरूप-विशिष्ट पञ्चभूत-जय का जो फल उक्त है, वही यहाँ सिद्धपुरुष के रूपकाय को स्वाभाविक संपत् कहकर माना गया है। इसमें जो प्रभाव शब्द उल्लिखित है उसका तात्पर्य है, विशिष्ट ऐश्वर्य अथवा ईश्वरत्व।

किसी किसी आचार्य के अनुसार इसमें बाह्य विषयों का निर्माण, परिणाम-संपादन तथा वशित्वरूपी संपत् तथा भिन्न भिन्न विभूतियों का अन्तर्भाव है।

कोई कोई परवर्ती आचार्य पूर्ववर्णित हेतु और फल की अवस्थाओं के अतिरिक्त सत्त्वार्थ-क्रिया नाम की पृथक् अवस्था भी मानते हैं। इससे एक महत्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है कि आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य का मुख्य लक्ष्य केवल फल-प्राप्ति या सिद्धावस्था का लाभ ही नहीं है। इस प्राप्ति को सर्व साधारण के लिए सुलभ करने का प्रयत्न ही सर्वोत्तम लक्ष्य है। इसी का नाम जीव-सेवा है। बौद्ध दार्शनिक इसी को सत्त्वार्थक्रिया नाम से वर्णित करते हैं। इस मत के अनुसार बोधिचित्तोत्पाद से बोधिमंड-निवेदन पर्यन्त जितनी अवस्थाएँ हैं, वे सब साधन या हेतु के अन्तर्गत हैं। सम्यक्-संबोधि की उत्पत्ति से सर्व क्लेशों के प्रहाण पर्यन्त फलावस्था है। इसके बाद प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन से शासन के अन्तर्धान पर्यन्त तृतीय अवस्था है। इससे यह प्रतीत होता है कि जीव या जगत् की सत्त्वार्थक्रियारूप सेवा यावत् जीवन का लक्ष्य है, अर्थात् यह सृष्टि पर्यन्त रहेगा। यदि सर्व की मुक्ति हो जाय तब शासन, शास्ता और शिष्य कोई नहीं रहेगा। उस समय प्रयोजन का भी अभाव हो जायगा। किन्तु जब तक सबकी मुक्ति नहीं होती तबतक जीवसेवा अवश्य रहेगी। इस मत के अनुसार हेतु-अवस्था आशय, प्रयोग और वशिता के भेद से तीन प्रकार की हैं। सत्त्वानिर्मोक्ष प्रणिधान आशय है। प्रयोग दो प्रकार के हैं—१. सप्त पारमितामय, और २. दश पारमितामय। सप्तपारमिता में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा तथा उपाय हैं। ये लोग भूमिप्राप्त चतुर्विध संपत् से संपन्न हैं। इन संपदों का नाम—आशय, प्रयोग, प्रतिग्राहक तथा देह संपत् है। साधनावस्था में सभी प्रकार के 'आदि-कर्म' करने पड़ते हैं। किन्तु सत्वार्थक्रियारूप फलावस्था में अनाभोग से ही प्रवृत्ति होती है, अर्थात् इस अवस्था में अपने आप ही कर्म निष्पन्न होते हैं, अभिमानमूलक कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। दस पारमितावादी सात के बाद प्रणिधान, बल और ज्ञान अन्य तीन पारमिताओं को भी स्वीकार करते हैं।

(८)

बौद्धों के धार्मिक जीवन के उद्देश्य का पर्यालोचन पहले किया गया है, उसका संक्षेप में पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है। प्राचीन बौद्ध-धर्म के मुमुक्षुओं में तीन आदर्श प्रधानरूप से प्रचलित थे—श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-संबुद्ध। पूर्वापेक्षया पर पद श्रेष्ठ हैं। श्रावक का आदर्श अपेक्षाकृत न्यून होने पर भी पृथग्जन से उत्कृष्ट था। यद्यपि श्रावक और पृथग्जन दोनों का समान लक्ष्य व्यक्तिगत दुःख-निवृत्ति था, तथापि पृथग्जन को उपायज्ञान नहीं था, श्रावक उपायज्ञ थे। श्रावक दुःख-निवृत्ति के मार्ग से परिचित थे। यह मार्ग बोधि अथवा ज्ञान है। चार आर्य-सत्यों में यह मार्ग-सत्य है। बोधि या ज्ञान उन्हें स्वतः प्राप्त नहीं होता था, उसके उदय के लिए बुद्धादि शास्ताओं की देशना अपेक्षित थी। इसीलिए इसे औपदेशिक ज्ञान कहते हैं। पृथग्जन धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग की सिद्धि में व्याप्त रहते थे, किन्तु श्रावक इससे अतीत थे।

श्रावकों में किसी का दुःखनिरोध पुद्गल-नैरात्म्य के ज्ञान से और किसी-किसी का प्रतीत्य-समुत्पाद के ज्ञान से होता था। धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान किसी श्रावक को नहीं होता था। इसी लिए उन्हें श्रेष्ठ निर्वाण का लाभ नहीं होता था। फिर भी इतना तो सत्य है कि ये लोग अधःपात की आशंका से मुक्त हो जाते थे। क्योंकि ज्ञानाग्नि के द्वारा इनके क्लेश या अशुद्ध वासनात्मक-आवरण दग्ध हो जाते थे। इसलिए त्रिधातु में इनके जन्म लेने की संभावना नहीं रहती थी। ये जन्म-मृत्यु के प्रवाहरूप प्रेत्यभाव से मुक्त हो जाते थे।

प्रत्येक-बुद्ध का आदर्श श्रावक से श्रेष्ठ है। यद्यपि इनका साधन-जीवन वैयक्तिक स्वार्थ से ही प्रेरित है, फिर भी आधार अधिक शुद्ध है। आधार-शुद्धि के कारण इन्हें स्वदुःखनिवृत्ति के उपाय या ज्ञान के लिए दूसरे से उपदेश प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। ये लोग पूर्वश्रुतादि अभिसंस्कारों के द्वारा स्वयं ही बोधि-लाभ करते थे। बोधि-लाभ का फल बुद्धत्व की प्राप्ति है। योगशास्त्र जिसे अनौपदेशिक या प्रातिभ ज्ञान कहता है, उससे प्रत्येक-बुद्धों का ज्ञान प्रायः समान है। किसी अंश में वह विवेकोत्थ प्रातिभ ज्ञान का ही एक रूप है। वह लौकिक शाब्द ज्ञान नहीं है। प्रत्येक-बुद्ध अपने बुद्धत्व के लिए प्रार्थी होते हैं, उसे प्राप्त भी करते हैं, किन्तु सर्व के बुद्धत्व के लिए उनकी प्रार्थना नहीं है।

श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध के ज्ञान में भी भिन्नता है। श्रावकों का ज्ञान पुद्गल-नैरात्म्य का अवबोध-रूप है, अतः पुद्गलवादियों के अगोचर है। प्रत्येक-बुद्धों का ज्ञान मृदु इन्द्रिय है, इसीलिए वह श्रावकों के भी अगोचर है। श्रावकों को क्लेशावरण नहीं होता, इसीलिए इनका ज्ञान सूक्ष्म है। प्रत्येक-बुद्ध में ज्ञेयावरण का एकदेश अर्थात् ग्राह्यावरण भी नहीं रहता, इसलिए वह और भी अधिक सूक्ष्म है। श्रावक का ज्ञान परोपदेशहेतुक है, अतः षोडशाकार से प्रभावित है। इसीलिए वह गंभीर है। परन्तु प्रत्येक-बुद्ध का ज्ञान स्वयंबोधरूप है और तन्मयतामात्र से उद्भूत है, अतः पूर्व से अधिक गंभीर है। एक बात और भी है। प्रत्येक-बुद्ध का ग्राह्य-विकल्प परिहृत है, अतः वह शब्द उच्चारण किये बिना ही धर्म का उपदेश देते हैं। प्रत्येक-बुद्ध अपने अधिगत ज्ञानादि के सामर्थ्य से दूसरों को कुशलादि में प्रवृत्त करते हैं। उनके साधन को इसीलिए अति गंभीर कहा जाता है कि वह उच्चाररहित है, अतः दूसरे से उसका प्रतिघात संभव नहीं है।

तीसरा सम्यक्-संबुद्ध का आदर्श है। यही श्रेष्ठ आदर्श है। इसका भी प्रकार-भेद है। सम्यक्-संबुद्ध को ही बुद्ध भगवान् कहते हैं। यह अनुत्तर सम्यक्-संबोधि प्राप्त हैं। इनका लक्ष्य अत्यन्त उदार है। कोटि-कोटि जन्मों की तपस्या और अशेष विश्व की कल्याण-भावना ही इसका मूलाधार है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होने से ही बुद्धत्व का लाभ नहीं हो जाता। यह ठीक है कि श्रावक का द्वैत-बोध नहीं छूटता और प्रत्येक-बुद्ध का भी पूरा द्वैत-बोध नहीं छूटता; केवल सम्यक्-संबुद्ध ही अद्वय-भूमि में प्रतिष्ठित होते हैं और द्वैत-भाव से निवृत्त होते हैं। यह भी ठीक है कि ज्ञेयावरण के निवृत्त न होने पर अद्वैतभाव का उदय नहीं होता। पतञ्जलि ने भी कहा है—"ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेयमल्पम्", ज्ञान अनन्त होने से ज्ञेय

अल्प है। बुद्धावस्था अनन्त ज्ञान की अवस्था है, इसीलिए आचार्यों ने इस ज्ञान को बोधि न कहकर महाबोधि कहा है। इस अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त करुणा भी रहती है। सत्त्वार्थ-क्रिया या परार्थापादन का भाव, यही बुद्धों का बीज है। यही बुद्धत्व-लाभ का प्रधान कारण है। निर्वाण या स्वदुःखनिवृत्ति में लीन न होकर निरन्तर जीव-सेवा में निरत रहना बोधिसत्त्व के जीवन का आदर्श है। इसी आदर्श को लेकर बोधिसत्त्व बुद्धत्व का लाभ कर सकते हैं।

महाश्रावक सोपधि तथा निरुपधि बोधि का लाभ कर सकते हैं, किन्तु प्रज्ञा में तीव्र करुणा का समावेश नहीं है। इसी से वह संसार से त्रस्त होते हैं। जो यथार्थ कारुणिक है वह दुःख-भोग करते घबराते नहीं, क्योंकि उनके दुःख-भोग से दूसरों के दुःखों का उपशम होता है। ये महाश्रावक अपने अपने आयुष्य-संस्कार के क्षीण होने के कारण निर्वाण न पाने पर भी प्रदीप-निर्वाणवत् त्रैधातुक जन्मों से मुक्त हो जाते हैं, और मरणोत्तर परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्र में अर्थात् अनास्रव-धातु में समाहित होकर कमल के पुट में जन्म लेते हैं। मातृ-गर्भ में उनका पुनः प्रवेश नहीं होता। अमिताभ प्रभृति संबुद्ध-सूर्य इस कमलयोनि में समाधिस्थ सत्त्वों को अपनी किरण से अक्लिष्ट तम के नाश के लिए प्रबोधित करते हैं। इस समय यह गतिशील होते हैं और क्रमशः बोधि-संभार (पुण्य तथा ज्ञान) का संचय करते हुए जगद्गुरु का पद प्राप्त करते हैं। यह सब आगम की बात है।

श्रावक-यान में मुख्य मोक्ष नहीं होता। इसका सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतार, धर्ममेघसूत्र, नागार्जुन के उपदेश आदि में सर्वत्र प्रतिपादन है। इसके लिए ये लोग क्रमशः महायान में आकृष्ट होते हैं और उसमें आकर मुक्त हो जाते हैं। श्रावकों का यह विश्वास अवश्य है कि उनके संप्रदाय में ही बोधि-लाभ करने से निर्वाण-प्राप्त हो जाता है, किन्तु वस्तुतः वह निर्वाण नहीं है, त्रिलोक से निर्गममात्र होता है। किसी का यह भी कहना है कि एक-यान का उपदेश नियत-गोत्र के लिए है। किसी का आकर्षण किया जाता है और किसी का धारण। जो यथार्थ में महायानी हैं, वह पहले ही प्रमुदिता-भूमि को प्राप्त कर क्रम से अनुत्तर-बोधि का लाभ करता है।

केवल शुद्ध बोधि से महाबोधि का लाभ नहीं होता, उसके लिए भगवत्ता से योग होना आवश्यक है। पारमिता-संभार के पूर्ण न होने तक भगवत्ता का उदय नहीं होता। बोधिसत्त्व चरमजन्म में पारमिता पूर्ण करके भगवान् हो जाते हैं, किन्तु बुद्ध नहीं होते। कोई भगवत्ता के साथ बुद्ध भी होते हैं। यही भगवान् बुद्ध हैं। बोधि और भगवत्ता की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं। बोधि की धारा में बुद्धत्व है, किन्तु संबुद्धत्व नहीं है; क्योंकि दूसरे के प्रति करुणा नहीं है, इसलिए महाबोधि भी नहीं है। महाबोधि का लाभ तब तक नहीं होगा, जब तक निखिल विश्व को अपना समझकर करुणा-विगलित-भाव से उनकी सेवा न की जाय। सेवा-कर्म चर्या है, बोधिमात्र प्रज्ञा है। एक आश्रय में दोनों के युगपत् अवस्थान से बुद्धत्व और भगवत्ता का अभेद से प्रकाश होता है। यही मानव जीवन का चरम आदर्श है, यही बुद्ध की भगवत्ता है।

भारतीय संस्कृति का रहस्य यही है। श्रीमद्भागवत में इसी को ब्रह्मत्व एवं भगवत्ता कहा गया है :—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं तज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

अर्थात् एक अद्वय ज्ञानात्मक तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् कहा जाता है। एक तत्त्व को ही ज्ञान-दृष्टि से ब्रह्म, योग-दृष्टि से परमात्मा, भक्ति-दृष्टि से भगवान् कहते हैं। योग कर्मात्मक है—योगः कर्मसु कौशलम्। अतः ज्ञान, कर्म तथा भक्ति या भाव इन तीनों का एक में महासमन्वय है। ब्रह्म निर्गुण, निःशक्ति तथा निराकार है। परमात्मा सगुण, सशक्ति एवं ज्ञानाकार है। भगवान् सगुण, सशक्ति और साकार है। तीनों का यह लक्षण-भेद है, किन्तु तीनों एक ही तत्त्व हैं। भागवत में जो अद्वय-ज्ञान उल्लिखित है, उसका विवरण वज्रयान सम्प्रदाय के अद्वयवज्रसिद्धि नामक ग्रन्थ में भी है :—

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते।
तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वसंकल्पवर्जितम्॥

[चर्याचर्यविनिश्चय की संस्कृत टीका में उद्धृत]

भागवत में भक्ति का जो स्थान है, बौद्धागम में करुणा का वही स्थान है। प्रज्ञापारमिता तथा करुणा के सामरस्य का तात्पर्य यह है—प्रज्ञा के प्रभाव से साम्रव धातुओं का अतिक्रम है, तथा करुणा के प्रभाव से इनका निर्वाण में प्रवेश नहीं होता, प्रत्युत जगत्-कल्याण के निमित्त अनास्रव धातु में स्थिति होती है।

प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः।

अर्थात् प्रज्ञा से संसार का दर्शन नहीं होता और कृपा से निर्वाण नहीं होता, सत्त्वार्थ-करणरूप पारतंत्र्य के प्रभाव से बोधिसत्त्व-गण भव या शम किसी में अवस्थान नहीं करते।

(६)

पहले पारमिता-नय तथा मंत्र-नय का उल्लेख किया गया है। बुद्ध से ही दोनों नय प्रवर्तित हुए थे। दोनों का प्रयोजन भी अभिन्न है। फिर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से मंत्रशास्त्र का प्राधान्य माना जाता है। अद्वयवज्र ने लिखा है—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते॥

मंत्र-नय अत्यन्त गंभीर एवं विशिष्ट है। उच्चकोटि के अधिकार प्राप्त न हो जाने तक इसमें प्रवेश नहीं होता। मंत्र-विज्ञान अतिप्राचीन काल से भारत में प्रचलित था। उसकी तीव्र शक्तिमत्ता के कारण दुरुपयोग की आशंका से आचार्यगण मंत्रमूलक साधना को जनसाधारण के समक्ष प्रकाशित नहीं करते थे। गुप्तभाव से ही इसका अनुष्ठान होता था। प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन की बात सर्वप्रसिद्ध है। द्वितीय तथा तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन के

अधिक प्रसिद्ध न होने पर भी वह अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। जैसे आगम के गंभीर तत्त्वों का उपदेश कैलास आदि के शिखर पर या मेरुशृङ्गादि के उच्च प्रदेश पर शंकरादि गुरुमूर्ति ने शिष्यरूपा पार्वती आदि को किया था, ठीक उसी प्रकार राजगृह के निकटस्थ गृध्रकूट पर्वत पर बुद्धदेव ने अपने जिज्ञासु भक्तों के समक्ष पारमिता-मार्ग का प्रकाशन किया। गृध्रकूट में जिस समय बुद्ध ने समाधि ली उस समय उनके देह से दशों दिशाओं में तेज निःसृत हुआ और सर्व प्रदेश आलोकित हो उठा। मुँह खोलते ही देखा गया कि उसमें अगणित सुवर्णमय सहस्रदल कमल प्रकाशित हुए हैं। उनके देह के प्रभाव से लोक के विभिन्न दुःखों का उपशम हो गया। इस उपदेश का विवरण महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र में निबद्ध है। कहा जाता है कि नागार्जुन ने इसकी एक टीका भी लिखी थी। इस ग्रन्थ के विभिन्न संस्करण विभिन्न समय में संकलित हुए थे। कुछ संस्करणों के कुछ अंशों का भाषान्तर भी हुआ था। अतिप्राचीन काल से ही सर्व देश में इसका प्रचार हुआ। महायान में शून्यता, करुणा, परार्थ-सेवा प्रभृति विषयों का तथा योगादि का सविशेष वर्णन उपलब्ध होता है। यह प्रज्ञापारमिता वस्तुतः जगन्माता महाशक्तिरूपा महामाया है। महायान-धर्म के विकास में शाक्तागम का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यह महाशक्तिरूपा प्रज्ञा बोधिसत्त्वों की जननी तो है ही, बुद्धों की भी जननी है। शिव तथा शक्ति में चन्द्र और चन्द्रिका के समान अभेद संबन्ध है, ठीक उसी प्रकार बुद्ध और प्रज्ञापारमिता का संबन्ध है। विश्व के दुःख के निर्मोचन-कर्म में बोधिसत्त्वगण इसी जननी की प्रेरणा से और सामर्थ्य से अग्रसर होते हैं। पारमिता तथा मंत्र का यह नय सर्वत्र ही स्वीकृत है। इस महाशक्ति के अनुग्रह के बिना लोकार्थ-संपादन का कार्य नहीं किया जा सकता।

पारमिता-नय का लक्ष्य बुद्धत्व-लाभ है, और वही मंत्र-नय का भी। पारमिता-नय में अवान्तर भेद भी है। इसका यहाँ विशेष वर्णन नहीं हो सकता। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि ध्यान, ध्यान-फल, दृष्टि, करुणा का स्वरूप, तथा त्रिकायविषयक विचारों में दोनों में कहीं-कहीं मतभेद है। मायोपम अद्वयवाद का लक्ष्य एक विशेष प्रकार का है, किन्तु सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद का लक्ष्य उससे कुछ भिन्न है। उभयत्र पारमिताओं की पूर्ति आवश्यक है। दोनों ही नयों में साधना के क्षेत्र में योगाचार अर्थात् योगचर्या का प्राधान्य है। किन्तु दोनों के योग में परस्पर भेद है। दोनों यान बोधिसत्त्व-यान हैं। पारमिता-नय में करुणा, मैत्री आदि की चर्या प्रधान है। माध्यमिक तथा योगाचार दोनों संप्रदायों में पारमिता-नय का समादर था। नागार्जुन का प्रवर्तित माध्यमिक-मत कालिक दृष्टि से कुछ प्राचीन है। इसका उद्भव-क्षेत्र वही है, जहाँ मंत्र-नय का उद्भव माना जाता है। श्रीधान्यकटक नामक यह स्थान दक्षिण में अमरावती के निकट है। तांत्रिक साधना के इतिहास में श्रीशैल या श्रीपर्वत का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह ज्योतिर्लिङ्ग मल्लिकार्जुन का क्षेत्र है। बौद्ध तांत्रिक संप्रदाय के विश्वास के अनुसार भगवान् बुद्ध ने धान्यकटक में मंत्र-नय का तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन किया था। नागार्जुन के कुछ समय बाद असंग का काल है। योगाचार संप्रदाय के इतिहास-प्रसिद्ध प्रवर्तक असंग

ही हैं। यह आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। उस समय के महायोगियों में यह प्रसिद्ध थे। इनके महायानसूत्रालंकार में तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रसिद्धि है कि मैत्रेय के उपदेश से असंग का धार्मिक जीवन आमूल परिवर्तित हुआ था। वर्तमान अनुसंधान से प्रतीत होता है कि मैत्रेय एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनका नाम मैत्रेयनाथ था। वस्तुत: महायान-सूत्रालंकार की मूलकारिका इन्हीं की रचित है। वस्तुतः बौद्ध-धर्म पर तंत्र का प्रभाव असंग से पहले ही पड़ चुका था। मंजुश्रीमूलकल्प नामक ग्रन्थ का परिचय प्रायः सभी को है। इसके अतिरिक्त उस समय अष्टादश पटलात्मक गुह्यसमाज की भी बहुत प्रसिद्धि थी। परवर्ती बौद्ध तांत्रिक साधना के विकास में गुह्यसमाज का प्रभाव अतुलनीय था। इस पर नागार्जुन, कृष्णाचार्य, लीलावज्र, शान्तिदेव प्रभृति विशिष्ट आचार्यों का भाष्य था। इतना ही नहीं, परवर्ती काल के दीपंकर श्रीज्ञान, कुमारकलश, ज्ञानकीर्ति, आनन्दगर्भ, चन्द्रकीर्ति, मंत्रकलश, ज्ञानगर्भ तथा दीपंकरभद्र प्रभृति बहुसंख्यक सिद्ध और विद्वान् बौद्ध पण्डितों ने इस ग्रन्थ में उक्त तत्त्वों के विषय में महत्त्वपूर्ण नाना ग्रन्थों की रचना की थी। असंग के छोटे भाई पहले वैभाषिक थे। बाद में असंग के प्रभाव से परिपक्व योगाचारी बन गये थे। असंग गुह्यसमाज के रचयिता थे या नहीं, कहना कठिन है। किन्तु दोनों में घनिष्ट संबन्ध अवश्य था। प्राचीन शैव तथा शाक्त आगमों के सूक्ष्म तथा व्यापक आलोचन से ज्ञात होता है कि असंग, नागार्जुन आदि आचार्य उनके प्रभाव से मुक्त नहीं थे। कामाख्या, जालंधर, पूर्णगिरि, उड्डीयान, श्रीपर्वत, व्याघ्रपुर प्रभृति स्थान तांत्रिक विद्या के साधन-केन्द्र थे। मातृका-साधन के उपयोगी क्षेत्र भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में फैले हुए थे। मंत्र-साधन प्राचीन वाग्योग का ही एक विशिष्ट प्रकार मात्र है।

पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध-मत में पारमिता-नय के सदृश मंत्र-नय के भी प्रवर्तक बुद्ध ही हैं। क्रमशः मंत्रमार्ग में अवान्तर भेद—वज्रयान, कालचक्रयान, तथा सहजयान आविर्भूत हुए। इनमें किंचित् भेद है, किन्तु बहुत अंशों में सादृश्य है। वस्तुतः सभी मंत्र-मार्ग के ही प्रकार-भेद हैं। इस दृष्टि में भेद नहीं है। मालूम होता है, एक ही साधन-धारा विभक्त होकर भाव के गुण-प्रधानभाव से विभिन्न रूप में व्याप्त हो गई। पारमिता-नय का प्रायः समस्त साहित्य विशुद्ध संस्कृत में है, किन्तु मंत्र-नय का मूल कुछ संस्कृत, कुछ प्राकृत और कुछ अपभ्रंश में है। शाबर आदि म्लेच्छ भाषाओं में भी मंत्ररहस्य का व्याख्यान होता है। यह लघुतंत्रराजटीका विमल-प्रभा में है। मंत्र-नय की तीनों धाराएँ परस्पर मिलती हैं। वस्तुतः यही बौद्ध तान्त्रिक-धर्म है। यदि महाशक्ति की आराधना ही तान्त्रिक साधना का वैशिष्ट्य माना जाय तो इसमें संदेह नहीं कि पारमिता-नय भी तान्त्रिक कोटि में गिना जायगा।

वज्रयान की साधना में मंत्र का प्राधान्य रहता है। इसी कारण कभी कभी वज्रयान को मंत्रयान भी कहते हैं। सहजयान में मंत्र के ऊपर जोर नहीं दिया गया है। परन्तु वज्रयान तथा कालचक्रयान की योग-साधना में मंत्र का ही प्राधान्य माना जाता है। प्रसिद्धि है कि गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्ध दीपंकर इस मार्ग के आदि उपदेष्टा थे। किन्तु वज्रमार्ग काल-क्रम

से लुप्त हो गया, जैसे सुना जाता है कि सांख्य 'कालार्क' मर्दित हुआ था, और गीतोक्त योग दीर्घकाल से लुप्त हो गया था (योगो नष्टः परन्तप)। बाद में कृष्ण ने गीतोक्त योग का पुनः प्रवर्तन किया। इसी प्रकार वज्रयान का भी प्रवाह विच्छिन्न हो गया था। यह ठीक है कि किसी किसी स्थान में यह विद्यमान था, इसका आभास मिलता है। किन्तु जन-चित्त पर उसका प्रभाव नहीं था। उत्तर काल में वज्र-यान वज्रयोग के रूप में प्रकट हुआ। उसके प्रवर्तक राजा सुचन्द्र थे। यह एक विशाल राज्य के स्वामी थे। इनकी राजधानी संभल-नगरी थी। यह सीता नदी के तट पर थी। कालतंत्र में इसका विवरण मिलता है। यह राजा सुचन्द्र वज्रपाणि बुद्ध के निर्माण-काय थे। इन्होंने ऊर्ध्व-लोक में जाकर संबुद्ध गौतम से अभिषेक-तत्त्व के संबन्ध में कुछ प्रश्न किये थे। उनके प्रश्न से प्रसन्न होकर गौतम ने श्रीधान्यकटक में एक सभा का आह्वान किया। जगत् में किसी नवीन मत के प्रचार के लिए प्रायः ऐसा ही हुआ करता है। इसके पहले गृध्रकूट पर्वत पर सभा हुई थी और उस समय मंत्रमार्ग का उपदेश हुआ था।

अधिकार संपत्ति अच्छी न रहने से वज्रयान में प्रवेश नहीं होता। पारमिता-नय का साधन नीति तथा चर्या की शुद्धि पर प्रतिष्ठित हुआ था, किन्तु मंत्र-नय की साधना आध्यात्मिक योग्यता पर निर्भर थी।

पारमिता-नय का विश्लेषण सौत्रान्तिक दृष्टि से होता है, किन्तु मंत्र-नय का व्याख्यान योगाचार तथा माध्यमिक दृष्टि से ही हो सकता है। सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को अनुमेय मानते हैं, उनके मत में उसका कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। माध्यमिक विज्ञान को भी नहीं मानते। इसी से समझ में आता है कि मंत्र-साधना का अधिकार प्राप्त करने के लिए दृष्टि का कितना प्रसार तथा उत्कर्ष होना चाहिये।

(१०)

मंत्र-यान का लक्ष्य वज्रयोग-सिद्धि है। जब तक साधक का आधार या क्षेत्र योग्य नहीं होता तब तक इसका साधन नहीं किया जा सकता। पूर्णता के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए यही योग श्रेष्ठ है। इस महामार्ग के चार स्तर हैं। एक एक स्तर में पूर्ण योग का एक एक रूप आवरण से उन्मुक्त होता है। चारों स्तरों के साधन में पूर्णता-लाभ करने पर योग पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक स्तर में योग-लाभ से पहले विमोक्ष-लाभ करना पड़ता है। विमोक्ष-लाभ का उद्देश्य कल्पनादिक से तथा आवर्जनाओं से मुक्त होना है। ध्यान से विमोक्ष की प्राप्ति होती है, और विमोक्ष से योग सिद्ध होता है। चार स्तरों के कारण विमोक्ष भी चार प्रकार के हैं—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित, और अनभिसंस्कार। प्रत्येक योग में विमोक्ष के प्रभाव से एक एक शक्ति का विकास होता है, अर्थात् एक एक वज्रयोग से एक एक प्रकार की शक्ति पूर्ण होती है। शक्ति के पूर्ण विकास हो जाने पर वज्रभाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से अपनी सत्ता का चार भागों में विभाग किया जाता है—काय, वाक्, चित्त और ज्ञान। प्रथम वज्रयोग में 'कायवज्रभाव' का उदय होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अवस्थाओं का भी उदय होता है। जिसे कायवज्र कहा गया है, वह एक दृष्टि से स्थूल जगत् की पूर्णता है। शेष तीन भी इसी प्रकार के हैं। ये चारों समष्टि रूप हैं।

पहले वज्रयोग का नाम विशुद्ध-योग है। इसके लिए पहले शून्यता नाम का विमोक्ष प्राप्त करना पड़ता है। शून्यता शब्द से स्वभावहीनता समझनी चाहिये। शून्यता अतीत और अनागत ज्ञेयों से शून्य है। इसका दर्शन शून्यता है। यह गंभीर और उदार है। गंभीर इस लिए कि अतीत और अनागत नहीं है। उदार इसलिए कि अतीत और अनागत का दर्शन है। जिस ज्ञान में इस शून्यता का ग्रहण होता है, वही शून्यता-विमोक्ष है। इसे प्राप्त करने पर तुरीय अवस्था का क्षय हो जाता है, और अक्षर महासुख का उदय होता है। करुणा का लक्षण ज्ञानवज्र है। इसी का नामान्तर सहजकाय है, जो प्रज्ञा और उपाय की साम्यावस्था है। इसी का नामान्तर विशुद्ध-योग है।

द्वितीय योग का नाम धर्म-योग है। इसके लिए जिस विमोक्ष की अपेक्षा है, उसे अनिमित्त कहा जाता है। बुद्ध, बोधि प्रभृति विकल्पमय चित्त ही निमित्त है। जिस ज्ञान में इस प्रकार का विकल्प-चित्त नहीं होता, उसे ही अनिमित्त-विमोक्ष कहते हैं। इसे प्राप्त कर लेने पर सुषुप्ति दशा का क्षय हो जाता है। नित्य-अनित्यादि द्वय से रहित **मैत्रीरूप** चित्त उदित होता है। यह चित्त-वज्र धर्मकाय नाम से प्रसिद्ध है। यह दो कायों का स्फुरण है। वस्तुतः यह जगत् के कल्याण-साधक निर्विकल्पक चित्त से भिन्न और कुछ नहीं है। यह योग भी प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। चित्त-वज्र ही ज्ञानकाय नाम से प्रसिद्ध है।

तृतीय योग का नाम मंत्र-योग है। इसके लिए अप्रणिहित नाम का विमोक्ष आवश्यक है। निमित्त के अभाव से तर्क का अभाव होता है। वितर्क-चित्त के अभाव से प्रणिधान का उदय,नहीं होता। इसीलिए यह अप्रणिहित है। अप्रणिधान शब्द से 'मैं संबुद्ध हूँ' आदि आकार का भाव समझा जाता है। इस प्रकार के विमोक्ष से स्वप्न-क्षय होता है, और भीतर से अनाहत ध्वनि सुन पड़ती है। यही मंत्र या सर्व-भूतरुत नाम से प्रसिद्ध है। **मुदिता** इसी का नामान्तर है। सर्वसत्त्वरुत से तात्पर्य मंत्र द्वारा सर्वसत्त्वों में मोदन (आनन्द) का संचार करना है। यही मुदिता का तात्पर्य है। मन का त्राण हो जाता है, यही मंत्र का उपयोग है। यही वाग्वज्र या संभोग-काय है। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही मंत्र-योग है। यह सूर्य स्वरूप है।

चतुर्थ योग का नाम संस्थान-योग है। इसके लिए अनभिसंस्कार नाम का विमोक्ष अपेक्षित है। प्रणिधान न रहने से अभिसंस्कार नहीं रहता। श्वेत-रक्त-प्राणायाम, विज्ञान ये अभिसंस्कार हैं। इस विमोक्ष के प्रभाव से विशुद्धि होती है। उससे जाग्रत् अवस्था का क्षय होता है, और अनन्त अनन्त निर्माण-कायों का स्फुरण होता है। इससे उपेक्षारूप काय-वज्र का लाभ होता है। रौद्र शान्तादि रूपों से इसका सांकर्य नहीं है। निर्माण-काय या प्रज्ञोपाय का सामरस्य ही संस्थान-योग का रूप है। यह 'कमल-नयन' नाम से प्रसिद्ध है।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि चार योगों से चार अवस्थाओं का अतिक्रम होता है। वज्रयोग का मुख्य फल पूर्ण निर्मलत्व या स्वच्छत्व आयत्त करना है। तुरीय प्रभृति चार अवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार का मल है। जब तक इन मलों का संशोधन न हो तब तक पूर्णत्व-लाभ नहीं हो सकता। तुरीय के मल से अभिप्राय रागविशिष्ट इन्द्रिय-द्वय से है। सुषुप्ति

का मल तम और स्वप्न का मल श्वास-प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास का अभिप्राय प्राणोत्पादादि तथा सत् असत् आदि विकल्प से है। जाग्रत् का मल है संज्ञा अर्थात् देह-बोध।

तांत्रिक योगियों का कहना है कि वैदिक योग से मलों की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती। किन्तु तांत्रिक क्रिया के प्रभाव से मल रह ही नहीं सकता। इस मत में वस्तुमात्र ही शून्य अर्थात् निःस्वभाव है। अतीत नहीं है और अनागत भी नहीं है, यह जान कर ध्यान करने से मनोभाव शून्यात्मक होता है। यह अत्यन्त गंभीर है, और देश कालादि से अपरिच्छिन्न है। इसके आधार पर जिस ज्ञान की प्रतिष्ठा है, उसी का नाम शून्यता-विमोक्ष है। इसके प्रभाव से मोहनाशक निर्विकार आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। विश्व-करुणा से युक्त ज्ञान शुद्ध होता है। इसी का नाम सहज-काय है और इसी का नामान्तर विशुद्ध-काय भी है।

ऊपर चार वज्रयोगों का जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है, वह गुह्यसमाज और विमल-प्रभादि ग्रन्थों के आधार पर है। चैतन्य को आवरण से मुक्त करना ही योग का उद्देश्य है। एक एक वज्रयोगरूप चैतन्य से एक एक आवरण का उन्मीलन होता है। इससे समग्र विश्व-दर्शन का एक एक अंग खुल जाता है। इसका पारिभाषिक नाम अभिसंबोधि है। चार योगों से चार प्रकार की अभिसंबोधि उदित होती है, और पूर्णता की प्राप्ति के अन्तराय दूर हो जाते हैं।

इस संबोधि का आलोचन दो तरह से किया जा सकता है—१. उत्पत्ति-क्रम तथा २. उत्पन्न-क्रम। वैदिक धारा की साधना में भी इन दोनों का परिचय मिलता है, किन्तु दोनों के प्रकार भिन्न हैं। सृष्टि-क्रम और संहार-क्रम अथवा अवरोह-क्रम और आरोह-क्रम का अवलंबन किये बिना सम्यक् रूपेण विश्वदर्शन नहीं किया जा सकता। श्रीचक्र लेखन की प्रणाली में केन्द्र से परिधि की तरफ या परिधि से केन्द्र की तरफ जैसे गति हो सकती है, अथ च दोनों में तत्त्व-दृष्टि तथा कार्य-दृष्टि से भेद है; ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति-क्रम से उत्पन्न-क्रम का भी भेद है।

उत्पत्ति-क्रम में चार संबोधियों को इस क्रम से समझना चाहिये। सबसे पहले है, एक-क्षण-अभिसंबोधि। यह स्वाभाविक या सहजकाय से संश्लिष्ट है। जन्मोन्मुख आलयविज्ञान जिस समय मातृगर्भ में माता और पिता के समरसीभूत बिन्दु-द्वय के साथ एकत्व-लाभ करता है, वह एक महाक्षण है। इस क्षण में जो सुख-संवित्ति होती है, उसका नाम एकक्षण-संबोधि है। उस समय गर्भस्थ काया रोहित मत्स्य के सदृश एकाकार रहती है। उसमें अंग-प्रत्यंग का विभाग नहीं रहता।

इसके बाद पंचाकार-संबोधि होती है। पहले की काया सहज-काय से संश्लिष्ट थी, किन्तु यह काया धर्म-काय से संश्लिष्ट है। मातृ-गर्भ में जब रूपादि वासनात्मक पाँच संवित्तियाँ होती हैं तब वह आकारकूर्मवत् पंचस्फोटक से विशिष्ट होती हैं। यह पंचाकार-महासंबोधि की अवस्था है।

तदनन्तर उक्त पंचज्ञान में से प्रत्येक ज्ञान पंचधातु, पंच इन्द्रिय तथा पंच आयतनों के वासना-भेद से बीस प्रकार का है। काय भी बीस अंगुलियों से परिपूर्ण होता है। यह विंशत्याकार-संबोधि है। इसका संबन्ध संभोग-काय के साथ है। यहाँ तक का विकास मातृ-गर्भ में होता है।

इसके बाद गर्भ से निष्क्रमण अर्थात् प्रसव होता है। उसी समय मायाजाल के सदृश अनन्त भावों की संविच्चियाँ होती हैं। ज्ञान में विंशति भेदों के स्थान पर अनन्त प्रकार के भेदों का स्फुरण होता है। इसका नाम मायाजाल-अभिसंबोधि है। यह निर्माण-काय से संश्लिष्ट है।

मायाजाल के ज्ञान के उदय होने पर ही समझ लेना चाहिये कि उत्पत्ति-क्रम समाप्त हो गया। परमशुद्ध सत्ता से मायाराज्य में अवतरण का यही इतिहास है। वस्तुतः माया-गर्भ में ही रचना होती है। काम-कलातत्त्व का भी यही रहस्य है। शुक्ल-बिन्दु तथा रक्त-बिन्दु नाम के दो कारण-बिन्दु कार्य-बिन्दु के रूप में परिणत होते हैं। आगे की सृष्टि इस कार्य-बिन्दु का ही क्रम-विकास है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रारंभ में आनन्द ही आनन्द है। इसका नाम केवल सुखसंविच्चि है। उपनिषद् में भी "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" के द्वारा यही कहा गया है। यह वस्तुतः महाक्षण की स्थिति है। सृष्टि में मायाजाल के अनन्त नाग-पाश का विस्तार है। आनन्द टूटता है, और नाना प्रकार के दुःखों का आविर्भाव होता है। इस प्रत्यावर्तनकाल में माया को छिन्न कर पुनः उस एक महाक्षण में लौटना पड़ता है। निर्माण-काय से सहज-काय तक का आरोहण होता है। प्रत्यावर्तन की धारा में एकक्षण-संबोधि को अन्तिम विकास माना जाता है। वस्तुतः इसी क्षण में विश्वातीत महाशक्ति अवतीर्ण होती है, और लौटती भी है। योगी गर्भाधान-क्षण को ही उत्पत्ति-क्षण मानते हैं, परन्तु अयोगी की दृष्टि में गर्भ से निष्क्रमण-क्षण या नाडीच्छेद-क्षण ही उत्पत्ति-क्षण है। उसी क्षण में माया अर्थात् वैष्णवी-माया का स्पर्श होता है।

इसके बाद ही श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्रारंभ होती है। देहरचना के मूल में है क्षर-बिन्दु अथवा आलय-विज्ञान। यह अशुद्ध-विज्ञान है। यही जन्म लेता है। दो कार्य-बिन्दु एक साथ रह कर देहरचना करते हैं।

उत्पन्न-क्रम वस्तुतः आरोह-क्रम है। एक दृष्टि से इसे संहार-क्रम कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से इसे ही सृष्टि-क्रम भी कह सकते हैं। जैसे माया से ब्रह्म में स्थिति-लाभ करना एक धारा है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मावस्था का भी एक विकास-व्यापार है। इससे परमात्मा तथा भगवान् पर्यंत भावों की व्यंजना होती है। प्रकृत में भी प्रायः ऐसा ही समझना चाहिये। माया के प्रभाव से प्रति दिन २१ हजार ६ सौ श्वास-प्रश्वासों की क्रिया होती है। प्रत्यावर्तन की अवस्था में भी ठीक उसी प्रकार एकक्षण-अभिसंबोधि की अवस्था होती है। इस अवस्था में प्राण वायु शान्त होती है। इसी लिए चित्त महाप्राण में स्थिर होता है, और स्थूल इन्द्रियों की क्रिया नहीं रहती। इस अवस्था में दिव्य इन्द्रियों का उदय होता है। स्थूल-

देहाभिमान नहीं रहता। दिव्य-देह का आविर्भाव होता है। इस समय एक ही क्षण में विश्व-दर्शन हो जाता है:—ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले। यह ज्ञान वज्र-योग है, और स्वभाव-काय की अवस्था है।

क्षरबिन्दु की देहरचनात्मक सृष्टि बताई गई है। अक्षर या अच्युतबिन्दु की सृष्टि विशुद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक है। यह एकक्षणाभिसंबुद्ध स्थिति ही सर्वार्थदर्शी वज्रसत्त्व की स्थिति समझनी चाहिये। इस स्थिति में श्वास-चक्र की क्रिया नहीं रहती। इस महाक्षण को ही बुद्ध का जन्म-क्षण कहा जाता है। मनुष्यमात्र ही बुद्धत्व या पूर्णत्व का लाभ इसी महाक्षण में करते हैं। इसी का नाम द्वितीय-जन्म है। मूल-तन्त्र में कहा गया है:—जन्मस्थानं जिनेन्द्राणा-मेकस्मिन् समयेऽक्षरे। यह स्वभाव-काय की अवस्था है।

इसके बाद चित्तवज्रयोग होता है। पहले जो वज्रसत्त्व थे वही महासत्त्व के रूप में प्रकट होते हैं। उस समय परम अक्षर-सुख का अनुभव होता है। इसका नाम पंचाकार-अभि-संबोधि है। आदर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान, प्रत्यवेक्षण-ज्ञान, कृत्यानुष्ठान-ज्ञान और पूर्ण विशुद्ध धर्मधातु का ज्ञान ये ही मुख्य ज्ञान हैं। द्रव्यादि पंचधातु और रूपादि पंचस्कन्ध ये दोनों प्रज्ञा और उपायात्मक हैं। ये पंचमंडल निरोध-स्वभाव हैं। यह धर्म और काल की अवस्था है। इस समय श्वास-चक्र पुनः कर्म में प्रवर्तित होता है।

जब संभोग-काय की अभिव्यक्ति होती है, तो वाग्वज्ररूप से उसका निरूपण किया जा सकता है। यह महासत्त्व है, इसी का परिणाम है बोधिसत्त्व। यह द्वादशाकार सत्त्वार्थ बोधिसत्त्वों का अनुग्राहक है। यह सर्वसत्त्वरुत के द्वारा धर्म-देशना करते हैं। यह त्रिशल्याकार अभिसंस्कार की दशा है। इसमें ५ इन्द्रिय, ५ विषय, ५ कर्मेन्द्रिय और निरावरण लक्षण द्वादश संक्रान्तियाँ हैं।

सबके अन्त में कायवज्र-योग का निरूपण होता है। यह निर्माण-काय है। समय-सत्त्व षोडशाकार तत्त्ववेदनों के कारण अनुग्राहक है। अनन्त मायाजालों से काय का स्फुरण होता है। यहाँ की समाधि भी मायाजाल अभिसंबोधि है। इस अवस्था में एक ही समय में अनन्त तथा अपर्यन्त नाना प्रकार की माया के निर्माणलक्षण षोडश आनन्दमय बिन्दु का निरोध है।

इस समय प्रसंगतः आनन्द के रहस्य के संबन्ध में दो चार बातें कहना आवश्यक है। स्थूल दृष्टि से आनन्द के चार भेद हैं—१. आनन्द, २. परमानन्द, ३. विरमानन्द, ४. सहजानन्द। जिस समय काम के द्वारा मन में क्षोभ होता है, वही समय आनन्द के उद्गम का है। वस्तुतः यह भाव का ही विकास है। शक्ति की अभिव्यक्ति से इसका आविर्भाव होता है। इसके बाद जब अभिव्यक्त शक्ति के साथ मिलन का पूर्णत्व सिद्ध होता है,तब बोधि-चित्त भी पूर्ण हो जाता है। इस पूर्णत्व का स्थान ललाट है। इस आनन्द का नाम परमानन्द

है। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध तान्त्रिक-परिभाषा में शरीर का सारांश बिन्दु ही बोधि-चित्त नाम से अभिहित होता है। उत्तमांग से बोधि-बिन्दु का क्षरण होता है। यही अमृत-क्षरण है। उस अवस्था को ज्वाला अवस्था कहते हैं। यह विरमानन्द है। इसके बाद वाक् तथा चित्त-बिन्दु के अवसान में जब चतुर्बिन्दु का निर्गम होता है, उस काल में सहजानन्द का आविर्भाव होता है।

योगी कहते हैं कि प्रत्येक पक्ष में प्रतिपत् से पंचमी पर्यन्त तिथियाँ जो चन्द्रमा की कलाएँ हैं, वे आकाशादि पंचभूत के स्वरूप हैं। इन्हीं का नाम नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता तथा पूर्णा है। इनके प्रतीक स्वरादि वर्ण हैं। इन पाँचों में आनन्द पूर्ण होता है। छठी से दशमी तक की तिथियाँ भी पूर्ववत् आकाशादि पंचभूत के स्वरूप हैं। इनमें परमानन्द पूर्ण रहता है। एकादशी से पूर्णिमा तक भी आकाशादि पंचभूत रूप ही हैं। ये विरमानन्द से पूर्ण रहती हैं। इस प्रकार आनन्द, परमानन्द तथा विरमानन्द की साम्यावस्था षोडशी कला है। इसी का नाम सहजानन्द है। इसमें सब धातुओं का समाहार होता है। प्रत्येक आनन्द में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय के भेद से काय, वाक्, चित्त तथा ज्ञान के योग से चार प्रकार के योग उदित होते हैं। कायानन्द, वागानन्दादि प्रत्येक आनन्द से संश्लिष्ट योग भी चार प्रकार के हैं। इस प्रकार चार वज्रयोग ही षोडश योग में परिणत होते हैं। इन सोलहों के नाम पृथक् पृथक् हैं। पहले का नाम काम है। अन्तिम का नाम नाद है।

(११)

तान्त्रिक उपासना शक्ति की उपासना है। बौद्धों की दृष्टि से प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इसी का प्रतीक त्रिकोण है। इसमें विशुद्ध छः धातु विद्यमान हैं। इसीलिए इनके छः गुण प्रसिद्ध हैं—ऐश्वर्य, समग्रत्व, रूप, यश, श्री, ज्ञान, तथा अर्थवत्ता। यथा वैष्णव चतुर्व्यूह के प्रसङ्ग में भगवत्-स्वरूप अर्थात् वासुदेव का षाड्गुण्य विग्रह मानते हैं, और संकर्षणादि तीन व्यूह में प्रत्येक का द्विगुण विग्रह मानते हैं वही प्रकार बौद्धागम एवं बौद्धेतर शैव, शाक्तागम में भी है। शक्ति के प्रतीक त्रिकोण के तीन कोणों में तीन बिन्दु हैं। केन्द्र में मध्यबिन्दु है, जिसमें तीनों का समाहार होता है। कोण के प्रतिबिन्दु में दो गुण माने जाते हैं। इसीलिए समष्टि षड्गुण होता है। शाक्तों के चतुष्पीठ का मूल भी यही है। अस्तु, यह त्रिकोण क्लेश, मार प्रभृति का भंजन करने वाला है, अतः 'भग' नाम से प्रसिद्ध है। हेवज्रतन्त्र में प्रज्ञा को भग कहा गया है। इसका नाम वज्रधर-धातु-महामंडल है। यह महासुख का आवास है। यह 'एकार' या धर्म-धातु पदवाच्य है। यह अजड, स्वच्छ आकाश के सदृश है और अनवकाश एवं प्रकाशमय है। वज्रालय या वज्रासन इसी का नामान्तर है। यह अखण्ड, अपरिमित, अनन्त प्रकाशमय है। इसको सिंहासन बनाकर जो आसीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है। उन्हें ही महाशक्ति का अधिष्ठाता कहते हैं।

बौद्धेतर आगम-शास्त्रों में 'ए' कार शक्ति का प्रतीक है। यह त्रिकोण है। अनुत्तर पर स्पन्द 'अ' है, उच्छलित आनन्द 'आ' अनुत्तर है, चित् तथा आनन्द-चित् इच्छा-रूप 'इ' में

नियोजित होकर त्रिकोण की रचना करते हैं। इसी का नाम 'ए' कार है। यह विसर्गानन्दमय सुन्दर रूप में वर्णित होता है (स्मरण रहे कि अशोक की ब्राह्मी लिपि में भी 'ए' कार त्रिकोणाकार ही है)।

त्रिकोणमेकादशकं वह्निगेहं च योनिकम्।
शृङ्गाटं चैव 'ए'कारनामभिः परिकीर्तितम्॥

इच्छा, ज्ञान, तथा क्रिया ये तीनों त्रिकोण के रूप में परिणत होते हैं। विसर्गरूप पराशक्ति के आनन्दोदय क्रम से लेकर क्रिया-शक्ति पर्यन्त रूप ये त्रिकोण ही उल्लसित होते हैं। यहाँ की शक्ति नित्योदिता है। इसीलिए यह परमानन्दमय है। इस योगिनी जन्माधार त्रिकोण से कुटिलरूपा कुंडलिनी शक्ति प्रकट होती है :—

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया-कोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम्॥

बौद्धों का सिद्धान्त भी ऐसा ही है :—

'ए'काराकृति यद्दिव्यं मध्ये 'वं'कारभूषितम्।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकम्॥

बाहर दिव्य 'ए'कार है। त्रिकोण के मध्य में 'वं'कार है। इसके मध्य बिन्दु में सर्वसुख का आलय बुद्धरत्न निहित रहता है। यह प्रज्ञा ही रत्नत्रय के अन्तर्गत धर्म है। इसीलिए 'ए'कार को धर्म-धातु कहते हैं। बुद्धरत्न इस त्रिकोण के भीतर या षट्कोण के भी मध्य-बिन्दु में प्रच्छन्न है।

तान्त्रिक-बौद्ध जिसे मुद्रा कहते हैं, वह शक्ति की ही अभिव्यक्ति या बाह्य रूप है। मुद्रा के चार प्रकार हैं:—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा। गुरुकरण के बाद साधना के लिए शिष्य को प्रज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है। प्रज्ञा ही मुद्रा या नायिका है। यह एक प्रकार से विवाह का ही व्यापार है। इसके बाद अभिषेक की क्रिया होती है। तदनन्तर साधक तथा मुद्रा दोनों का मण्डल में प्रवेश होता है तथा योग-क्रियाका अनुष्ठान होता है। इस समय आंतर तथा बाह्य विक्षेप दूर करने के लिए समन्त्रक क्रिया की जाती है। इसके बाद बोधि-चित्त का उत्पाद आवश्यक होता है। प्रज्ञा तथा उपाय के योग से, अर्थात् साधक तथा मुद्रा के संबन्ध से बोधिचित्त का उद्भव होता है। इस उत्पन्न बोधिचित्त को निर्माणचक्र में, अर्थात नाभिप्रदेश में धारण करना पड़ता है। यह क्रिया अत्यन्त कठिन है, क्योंकि स्खलन होने पर योग भ्रष्ट होने की संभावना है और नरक-गति निश्चित है। नाभि में इस बिन्दु को स्थिर न कर सकने से सदसदात्मक द्वन्द्व का बन्धन अनिवार्य है। मन की चंचलता तथा प्राण की चंचलता बिन्दु की चंचलता के अधीन है। चंचल बिन्दु ही संवृति बोधिचित्त है। बिन्दु स्थिर हो जाने पर उसकी ऊर्ध्वगति हो सकती है, अन्त में उष्णीष-कमल में, अर्थात् सहस्रदल कमल में

महाबिन्दुस्थान में जाने पर मुक्ति या नित्य आनन्द का आविर्भाव होता है। बिन्दु की स्थिरता ही ब्रह्मचर्यानुष्ठान का फल है। बिन्दु के स्थिर हो जाने पर योग क्रिया के द्वारा चोभण से उसमें स्पन्दन कराया जाता है। वैदिक सिद्धि के बाद विवाहोत्तर गृहस्थाश्रम के संबन्ध में 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' का भी यही अभिप्राय है। उसके बाद उसमें क्रमशः ऊर्ध्वगति होती है। इस गति की निवृत्ति ही महासुख का अभिव्यंजक है।

कर्ममुद्रा प्रारम्भिक है। कर्मपद का वाच्य है काय, वाक् तथा चित्त की चिन्तादिरूप क्रिया। इस मुद्रा के अधिकार में क्षण के भेद से चार प्रकार के आनन्दों की अभिव्यक्ति होती है। इनके क्रम के विषय में अद्वयवज्र के अनुसार तृतीय का नाम सहजानन्द और चतुर्थ का विरमानन्द है। यह क्रम इसलिए है कि परम और विराम के मध्य में लक्ष्य दर्शन होता है। चार क्षणों के नाम है—विचित्र, विपाक, विलक्षण और विमर्द। धर्ममुद्रा धर्मधातु स्वरूप है। यह निष्प्रपंच, निर्विकल्प, अकृत्रिम, अनादि अथ च करुणास्वभाव है। यह प्रवाहेण नित्य है, इसलिए सहज स्वभाव है। धर्ममुद्रा की स्थिति में अज्ञान या भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। साधारण योग-साहित्य में देहस्थित वाम नाड़ी तथा दक्षिण नाड़ी को आवर्तमय मानकर सरल मध्य नाड़ी को अर्थात् सुषुम्ना या ब्रह्मनाड़ी को योग या ज्ञान का मार्ग माना जाता है। आगमिक बौद्ध साहित्य में भी ठीक इसी प्रकार ललना तथा रसना नाम से पार्श्ववर्त्ती नाड़ीद्वय को प्रज्ञा और उपायरूप माना है, और मध्य नाड़ी को अवधूती कहा है। अवधूती का नामान्तर धर्ममुद्रा है। तथता के अवतरण के लिए यही संनिकृष्ट कारण है, अतः यही मार्ग है। मध्यमा-प्रतिपत् यही है। आदर के सहित निरन्तर इसके अभ्यास से निरोध का साक्षात्कार होता है। हान और उपादान वर्जित जो स्वरूपदर्शन है, वही सत्यदर्शन है। इस मध्य-मार्ग में ज्ञानान्तर्वर्ती ग्राह्य तथा ग्राहक-विकल्प छूट जाते हैं। तृतीय मुद्रा का नाम महामुद्रा है। यह निःस्वभाव है, और सर्व प्रकार के आवरणों से वर्जित है, मध्याह्न गगन के सदृश निर्मल और अत्यन्त स्वच्छ है। यही सर्वसंपत् का आधार है। एक प्रकार से यह निर्वाण स्वरूप ही है। यहाँ अकल्पित संकल्प का उदय होता है। यह अप्रतिष्ठित मानस की स्थिति है। यह पूर्ण निरालम्ब अवस्था है। योगी इसे अस्मृत्यमनसिकार नाम से वर्णन करते हैं। इसका फल समय-मुद्रा या चतुर्थ-मुद्रा है। यह समय अचिन्त्य स्वरूप है। इस अवस्था में जगत् कल्याण के लिए स्वच्छ एवं विशिष्ट संभोग-काय तथा निर्माणकाय-स्वभाव होकर वज्रधर के रूप में इसका स्फुरण होता है। इस विश्वकल्याण-कारी रूप को तिब्बती बौद्ध हेरुक नाम देते हैं। आचार्यगण इस मुद्रा को ग्रहण कर चक्राकार में पांच प्रकार के ज्ञान की पांच प्रकार से परिकल्पना करके आदर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान आदि का प्रकाश करते हैं।

(१२)

अभिषेक के विषय में कुछ न कहने से योग-साधन का विवरण अपूर्ण ही रहेगा। अतः इस विषय में भी संक्षेप से कुछ कहा जा रहा है। वज्रयान के अनुसार अभिषेक सात प्रकार के हैं। यथा—उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक, पट्टाभिषेक, वज्रघण्टाभिषेक, वज्रव्रताभिषेक, नामा-

भिषेक और अनुज्ञाभिषेक। इनमें पहले दो देह-शुद्धि के लिए हैं। तृतीय और चतुर्थ से वाक्-शुद्धि होती है। पंचम और षष्ठ से चित्त-शुद्धि होती है। सप्तम से ज्ञान-शुद्धि होती है। अभिषेक के संबन्ध में बाह्य विवरण वज्रयान के बहुत से ग्रन्थों में है। उसकी यहाँ चर्चा अनावश्यक है। देह पंचधातुमय है। उष्णीष से लेकर कटिसन्धि तक पंच कमल-स्थानों में यथाविधि समन्त्रक अभिषेक के द्वारा पंचधातुओं की शुद्धि की जाती है। इससे काय शुद्ध हो जाता है। इसी का नाम उदकाभिषेक है। मुकुटाभिषेक से पंचस्कन्ध या पंचतथागत की शुद्धि होती है। इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय से धातु तथा स्कन्धों के निर्मल हो जाने के कारण काय की सम्यक् शुद्धि हो जाती है। पट्टाभिषेक और वज्रघण्टाभिषेक के द्वारा दस पारमिताओं की पूर्ति होती है। इससे चन्द्र और सू ं का शोधन होता है। पंचम से रूपादि विषय तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का शोधन होता है। इससे प्राकृत विषयों के निवन्त्रण तथा महामुद्रा की सिद्धि में सहायता मिलती है। षष्ठ से राग-द्वेष का शोधन होता है, और मैत्री आदि ब्रह्मविहारों की पूर्ति होती है। षष्ठाभिषेक के बाद की अवस्था का 'वज्र' शब्द से अभिधान होता है। सप्तम अभिषेक धर्मचक्रप्रवर्तन के लिए या बुद्धत्वलाभ के लिए है। अपरिमित सत्त्वों के आशय के अनुसार परमगुह्य वज्रयान के रहस्य का उपदेश करने के लिए संवृतिसत्य तथा परमार्थसत्य का विभाग किया जाता है। इस प्रकार से बुद्धत्व के निष्पादन के लिए सप्तम अभिषेक का उपयोग है। इन सात अभिषेकों से शिष्य के कायादि चार वज्र शुद्ध हो जाते हैं। उस समय उनके हाथ में धारण करने के लिए वज्र या वज्रघण्टा होता है। अभिषेक के संवृति तथा परमार्थ दो रूप हैं। संवृति भी दो प्रकार की है—लोक-संवृति तथा योगी-संवृति। लोक-संवृति को अधर-संवृति तथा योगी-संवृति को उत्तर-संवृति कहा जाता है। पहले उदकादि सप्त सेकों का नाम कहा गया है। ये लौकिक सिद्धि के सोपान हैं। ये सब पूर्वसेक हैं, उत्तरसेक नहीं। योगी-संवृतिरूप सेक कुंभादि तीन प्रकार के हैं—कुंभाभिषेक या कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक और प्रज्ञाभिषेक। ये उत्तरसेक लोकोत्तर सिद्धियों के मूल हैं। यद्यपि ये सांवृत हैं, फिर भी परमार्थ के अनुकूल हैं। परमार्थ सेक ही अनुत्तर सेक है। पूर्वसेक के लिए मुद्रा आवश्यक नहीं है। उत्तरसेक के लिए मुद्रा आवश्यक है। अनुत्तर के लिए कुछ कहना ही नहीं है।

(१३)

अब तान्त्रिक बौद्धों के षडङ्ग योग के संबन्ध में दो चार बातें कही जायँगी। हठयोग तथा राजयोग में षडङ्ग या अष्टाङ्ग दोनों ही प्रसिद्ध हैं। बौद्धों का षडङ्ग योग इससे विलक्षण है। इसका प्राचीन विवरण गुह्यसमाज में तथा मञ्जुश्रीकृत कालचक्रोत्तर में पाया जाता है। परवर्ती साहित्य में, विशेषतः नडपाद की सेकोद्देशटीका में तथा मर्मकलिकातन्त्र में इसका वर्णन है। बहुत से लोग इसे बौद्ध-योग के नाम से भी वर्णन करते हैं। यह सत्य भी है। परन्तु ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कराचार्य भी अपनी गीताटीका में ठीक इसी क्रम से षडङ्ग योग का उल्लेख करते हैं। यह टीका अभी तक प्रकाशित नहीं है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, समाधि

ये षडङ्ग योग हैं। सिद्धि दो प्रकार की है:—१. सामान्य और २. उत्तम। यौगिक विभूतियाँ सामान्य सिद्धि के अन्तर्गत हैं। सम्यक्-संबोधि या बुद्धत्व उत्तमा सिद्धि है। समाजोत्तर-तन्त्र के अनुसार षडङ्गयोग से ही बुद्धत्व या सम्यक्-संबोधि प्राप्त हो सकती है। इसके चार उपाय हैं:—१. सेवाविधान, २. उपसाधन, ३. साधन, ४. महासाधन। महोष्णीषबिंब की भावना सेवाविधान के अन्तर्गत है। यह अशेष त्रैधातुक बुद्ध-बिंब है। अमृत कुंडलिनी रूप से बिंब की भावना उपसाधन है। देवताबिंब की भावना साधन है। बुद्धाधिप तथा विभुरूप से बिंब की भावना महासाधना है। दस इन्द्रियों की अपने अपने विषय के प्रति वृत्ति आहरण है। इन इन्द्रियों का अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूपमात्र में अनुवर्तन प्रत्याहार है। प्रत्याहार के समय इन्द्रियों को विषय-भावापत्ति या विषय-ग्रहण नहीं रहता। प्रत्याहार का फल वैराग्य, त्रिकाल दर्शन, धूमादि दस निमित्तों के दर्शन की सिद्धि है। शुद्ध आकाश में धूम, मरीचि, खद्योत, दीपकलिका, चन्द्र-सूर्य, या बिन्दु का दर्शन निमित्त-दर्शन है। इस दर्शन के स्थिर होने पर मन्त्र साधक के अधीन हो जाता है। उसे वाक्-सिद्धि होती है।

प्रत्याहार से बिंब-दर्शन होने पर ध्यान का प्रारम्भ होता है। यह योग का द्वितीय अङ्ग है। स्थिर तथा चर, अर्थात् यावत् चराचर भाव को पंचकाम कहा जाता है। पंचबुद्ध के प्रयोग से सब भावों में यह कल्पना करना कि सभी बुद्ध हैं, ध्यान है।

ध्यान के बाद तृतीय अङ्ग प्राणायाम है। मनुष्य का श्वास पंचज्ञानमय है, और पंचभूत-स्वभाव है। इसको पिण्डरूप में निश्चल करके नासिका के अग्रदेश में कल्पना करनी चाहिये। यह अवस्था महारत्न नाम से प्रसिद्ध है। अक्षोभ्य प्रभृति पंचबुद्ध पंचज्ञानस्वभाव हैं। विज्ञानादि पंचस्कन्ध ही इनका स्वरूप है। वाम तथा दक्षिण नासापुट में श्वास का प्रवाह होता है। इन दोनों प्रवाहों के एकीभूत होने पर वह पिण्डाकार हो जाते हैं। इसी पिण्ड को नासाग्र पर स्थिर करना पड़ता है। पहले प्राणवायु को मध्य मार्ग में निश्चल करना चाहिये, उसके बाद नासिकाग्र में। इसे नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीष-कमल की कर्णिका में स्थिर करना चाहिये; क्योंकि नासाग्र और कमल का बिन्दु समसूत्र है। महारत्न पंचवर्ण कहा जाता है। वाम तथा दक्षिण प्रवाह का निरोध करके केवल मध्यमा में उसे प्रवाहित करना चाहिये। इस प्रकार निरुद्ध प्राणवायु पंचवर्ण महारत्न कहा जाता है। वज्रयानी इस प्राणायाम को 'वज्रजाप' कहते हैं। दो विरुद्ध धाराओं को संमिलित करके मध्यनाड़ी का अवलम्ब लेते हुए उत्थापन करना चाहिये और नासाग्र में स्थिर करना चाहिये। साधारण मनुष्यों का प्राणवायु अशुद्ध प्रवृत्तियों का वाहन है। यह संसार का कारण है। यही पंचक्रम का रहस्य भी है।

चतुर्थ अङ्ग धारणा है। अपने इष्ट मन्त्र प्राण का हृदय में ध्यान करते हुए उसे ललाट में निरुद्ध करना चाहिये। (मन का आश्रयभूत होने के कारण प्राण ही मन्त्रपद का वाच्य है।) हृदय से अर्थात् कर्णिका से हटाकर कर्णिका के मध्य में स्थापित करना चाहिये। इसके बाद बिन्दु-स्थान ललाट में उसका निरोध किया जाता है। इसी का नाम धारणा है। उस समय प्राण

का संचरण, अर्थात् श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। प्राण एकलोल हो ललाटस्थ बिन्दु में प्रवेश करते हैं। निरुद्ध इन्द्रिय 'रत्न' पद का वाच्य है। चित्त के अवधूती-मार्ग में प्रविष्ट होने पर पूर्व-वर्णित धूमादि निमित्तों का प्रतिभास होता है। धारणा का फल वज्रसत्त्व में समावेश है। इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न या प्राणवायु नाभिचक्र से चाण्डाली को, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को उठाता है। वज्रमार्ग से मध्यधारा का अवलंब करते हुये क्रमशः यह उष्णीषचक्र तक पहुँचता है। यह उष्णीष-कमल की कर्णिका तक पहुँच कर कायादि-स्वभाव चार बिन्दुओं को उस निर्दिष्ट स्थान विशेष में ले जाता है, जिसका निर्देश गुरु ने पहले ही किया है। धारणा सिद्ध होने पर चाण्डाली शक्ति स्वभावतः उज्ज्वल हो जाती है।

पंचम अंग अनुस्मृति है। प्रत्याहार तथा ध्यान से त्रिधातु को प्रतिभासित करने वाले संवृति-सत्य की भावना निश्चल की जाती है। अनुस्मृति का उद्देश्य है, संवृति-सत्य की भावना का स्फुरण करना। इसके प्रभाव से एकदेशवृत्तिक आकार, जो संवृति-सत्याकार है, समग्र आकाशव्यापीरूप से परिदृष्ट होने लगता है। उससे त्रिकालस्थ समग्र भुवन का दर्शन होता है। यही अनुस्मृति है। अनुस्मृति का फल प्रभामण्डल का आविर्भाव है। चित्त के विकल्पहीन होने से इस विमल प्रभामण्डल का आविर्भाव होता है। इस समय रोम-कूप से पंचरश्मियों का निर्गम होता है।

इस योग का षष्ठ अंग समाधि है। प्रज्ञोपाय-समापत्ति के द्वारा सर्व भावों का समाहार करके पिण्डयोग से बिंब के भीतर भावना करनी पड़ती है। ठीक-ठीक भावना करने पर अकस्मात् एक महाक्षण में महाज्ञान की निष्पत्ति हो जाती है। यही समाधि है। निष्पन्नादि क्रम से व्योम-कमल का उद्गम होने पर अक्षर-सुख का उदय होता है। ज्ञेय और ज्ञान के एकलोलीभूत होने से विमल अवस्था का आविर्भाव होता है। उस समय प्रतिभासस्वरूप स्थावर-जंगम यावत् भावों को उपसंहृत,अर्थात् संकुचित करके पिंडयोग से अर्थात् परम अनास्रव महासुखात्मक प्रभास्वर रूप से बिंब के भीतर भावना करनी पड़ती है। जैसे लौहादि सब रसों को भक्षण करने पर एकमात्र सिद्ध रस रहता है, इसे भी ठीक इसी प्रकार का समझना चाहिये। इस परम अनास्रव महासुखमय प्रभास्वर के भीतर संवृति-सत्यरूप बिंब की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार की भावना या साक्षात्कार का फल परम महाज्ञान का आविर्भाव है। इसमें संवृति-सत्य तथा परमार्थ-सत्य का द्वैधीभाव छूट जाता है, और दोनों अद्वयरूप में प्रकाशमान होते हैं। युगनद्ध विज्ञान का यही रहस्य है। यही बुद्ध का परम स्वरूप है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा का परम स्वरूप है। समाधिवशिता से निरावरण-भाव उदित होता है।

मंजुश्री ने कहा है:—प्रत्याहारादि छः अंगों से वस्तुतः शून्यता-भावना ही उक्त है। धूमादि निमित्तों के क्रम से आकाश में त्रैधातुक बिंबदर्शन को प्रत्याहार के अंगरूप में स्थिर करके जब बिंबदर्शन की स्थिति सिद्ध की जाती है, तब योगी सब मन्त्रों का अधिष्ठाता होता है। ध्यान के प्रभाव से बाह्यभाव छूट जाते हैं, चित्त दृढ़ होता है, और बिंब-लग्न चित्त होने

पर अनिमेष या दिव्य-चक्षु का उदय होता है। इसी प्रकार दिव्य श्रोत्रादि तथा पंच अभिज्ञाओं का लाभ होता है। जब योगी चन्द्र-सूर्य के मार्ग से मध्यमा में प्रवेश करते हैं, और प्राणायाम से शुद्ध होते हैं, तब बोधिसत्त्वगण उनका निरीक्षण करते हैं। धारणा के प्रभाव से ग्राहक-चित्त या वज्रसत्त्व शून्यता-बिंबरूप ग्राह्य का समावेश करते हैं। बिन्दु में धारणा का फल प्राण गतिशून्य हो एकाग्र होता है। तब विमल प्रभामंडल प्रकाशित होता है। रोम-कूप से पंच-रश्मियों का निःसरण होता है। यह महारश्मि-रूप है। ग्राह्य तथा ग्राहक चित्त एक होने पर अक्षर-सुख होता है, यही समाधि है। समाधि के आयत्त होने पर अचल या निरावरणभाव आता है। इस परमाक्षर ज्ञान को प्रभास्वर ज्ञान कहा जाता है। इसके द्वारा आवरण के सर्वथा निःशेष होने से सत्य-द्वय के एकीभाव होने पर अद्वय-भाव की प्रतिष्ठा होती है।

साधक पूर्व वर्णित षडंगयोग के प्रथम अंग प्रत्याहार से धूमादि निमित्त आदि दस ज्ञानों का लाभ करता है। यह अकल्पित विज्ञान-स्कन्ध है। इस अवस्था में विज्ञान-शून्यताबिंब में प्रवृत्ति होती है। ध्यान में ये दस विज्ञान-विश्वबिंब दस प्रकार के विषय-विषयी के साथ एकीभूत होते हैं। इसे अक्षोभ्य-भाव कहा जाता है। इस समय शून्यता-बिंब का अवलोकन होता है। यही प्रज्ञा है। भाव-ग्रहण तर्क है। उसका निश्चय विचार है। बिंब में आसक्ति प्रीति है। बिंब के साथ चित्त का एकीकरण सुख है। ये पाँच अंग हैं। पाँच प्रकार के प्राणायाम संस्कार-स्कन्ध हैं। इस समय वाम तथा दक्षिण मंडल समरस हो जाते हैं। यह खण्डभाव है। इस स्थिति में उभय मार्ग का परिहार होता है, और मध्य मार्ग में प्रवेश होता है। यहीं से निरोध का सूत्रपात होता है। दस प्रकार की धारणाएँ वेदना-स्कन्ध हैं। नाभि से उष्णीष-कमल पर्यन्त प्राण की गतियाँ और उष्णीष से नाभि तक पाँच आगतियाँ हैं। इस प्रकार धारणा दस हैं। इन्हें रत्नपाणि कहा जाता है। मध्य नाड़ी में काम की चिन्तादि दस अवस्थाएँ अनुस्मृति कही जाती हैं। चिन्ता से लेकर तीव्र मूर्च्छा पर्यन्त दस दशाएँ आलंकारिक तथा वैष्णव साहित्यों में सुप्रसिद्ध हैं। वहाँ दशम दशा को मृत्यु नाम दिया गया है। यह भावों के विकास की दस अवस्थाएँ हैं। बौद्ध-मत में ये अवस्थाएँ वज्रसत्त्वावस्था प्राप्त योगी के सत्त्व-विकास की द्योतक हैं। अनुस्मृति के प्रभाव से आकाश में चांडाली का दर्शन होता है। दस प्रकार की वायुओं के निरोध से समाधि भी दस प्रकार की है। समाधि से ज्ञेय तथा ज्ञान के अभेद होने पर अक्षर-सुख का उदय होता है, और उसी से ज्ञान-बिंब में पूर्ण समाधान हो जाता है। यह षडंग योग ही विश्वभर्ता कालचक्र का साधन है। मन्त्र-मार्ग के अनुसार बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए यही मुख्य द्वार है।

(१४)

कालचक्र क्या है? कालचक्र अद्वय, अक्षर परमतत्त्व का नामान्तर है। काल करुणा से अभिन्न शून्यता की मूर्ति है। संवृतिरूप शून्यता चक्रपद का अर्थ है। प्रकारान्तर से

कहा गया है—

अकारात् कारणे शान्ते लकारात्लयोऽत्र वै।
चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात् क्रमबन्धनैः ॥

अर्थात् जाग्रत् अवस्था के क्षीण होने के कारण बोधि-चित्त-काय शान्त या विकल्प-हीन होता है, यही 'का' से अभिप्राय है। काय-बिन्दु के निरोध से ललाट में निर्माण-काय नाम का बुद्ध-काय प्रकट होता है। स्वप्नावस्था का जो क्षय होता है यही प्राण का लय है। इस अवस्था में वाग्-बिन्दु का निरोध होता है। इससे कण्ठ में संभोग-काय का उदय होता है, जो 'ल' से अभिप्रेत है। सुषुप्ति के क्षय होने पर चित्त-बिन्दु का निरोध होता है। उस समय हृदय में धर्मकाय का उदय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्दादि विषयों में विचरण करता है। इसीलिए चंचल रहता है और तम से अभिभूत रहता है। अट्ठारह प्रकार के धातु-विकारों से वह विकृत होता है। इनके अपसारण से हृदय में चित्त निरुद्ध हो जाता है। यही 'च' का अभिप्राय है। इसके बाद तुरीयावस्था का भी क्षय हो जाता है। तब कायादि सब बिन्दु सहज सुख के द्वारा अच्युत हो जाते हैं। उसी समय तुरीयावस्था का नाश होता है। स्वरगत ज्ञानबिन्दु के निरोध से नाभि में सहज-काय का आविर्भाव होता है। यही 'क्र' का अभिप्राय है। अतएव कालचक्र चार बुद्ध कायों का समाहार है। यह प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। एकाधार में यही ज्ञान है, और यही ज्ञेय भी है। ज्ञान का तात्पर्य है, अक्षर-सुख का बोध। इससे सब आवरणों का क्षय होता है। ज्ञेय से अभिप्राय है, अनन्त भावमय त्रैधातुक जगत्-चक्र, अर्थात् समग्र विश्व। प्रज्ञा शून्यात्मक है, और उपाय करुणात्मक तथा षडभिज्ञात्मक है। प्रज्ञा शून्याकार है, परन्तु करुणा सर्वाकार है। दोनों का एकत्व ही काल-चक्र है। यही यथार्थ युगनद्ध है। कालचक्रतन्त्र में लिखा है कि शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से अनन्त विश्व ही चक्रस्वरूप है। किन्तु अनन्त होकर भी यह एक ही है। बुद्ध या शंभु जैसे एक हैं, उनका चक्र भी वैसे ही एक है। वस्तुतः बुद्ध और चक्र अभिन्न हैं। अनन्त बुद्ध-क्षेत्र, अनन्त गुण, आकाशादि सर्वधातु, उत्पत्ति-स्थिति-विनाशात्मक तीन प्रकार के भव, छः गतियों में विद्यमान सकल सत्त्व, बुद्धगण, क्रोधगण, सुरादिवर्ग, करुणा, बोधिसत्त्वगण ये सभी इस अखंड महाचक्र के अन्तर्भूत हैं। यह कालचक्र ही आदि-बुद्ध है। नामसंगीतितंत्र में कहा है :—

अनादिनिधनो बुद्ध आदिबुद्धो निरन्वयः।

ऐतिहासिक बुद्धगण इन्हीं के बहिः प्रकाश हैं।

साधक के दृष्टिकोण से देखने पर इस काल-चक्र में तीन मात्राएँ तथा तीन मुद्राएँ लक्षित होती हैं। बोधिचित्त की च्युतगति मृदुमात्रा है। स्पन्दगति है मध्यमात्रा, निष्पन्दगति है अधिमात्रा। जिससे अक्षर-सुख का उदय होता है वह कर्म-मुद्रा है। जिससे स्पन्द-सुख का उदय होता है वह ज्ञान-मुद्रा है। जिससे निष्पन्द-सुख का उदय होता है वह महामुद्रा है। षडंग योग के द्वारा इन तीन मुद्राओं की भावना बौद्ध-तंत्रों में उपदिष्ट हुई है।

शून्यता-बिंब साधन की अनुकूल दृष्टि के साधन के रहस्य से प्राचीन लोग परिचित थे। सेवा ही इसका मुख्य उपाय है। धूमादि दस निमित्तों की भावना ही सेवा है। इस अवस्था में चित्त आकाश में निमित्त दर्शन करता है। यह उष्णीष की क्रोध-दृष्टि या ऊर्ध्व-दृष्टि से होता है। यह अनिमेष-दृष्टि है। रात्रि में चार प्रकार की और दिन में छः प्रकार की सेवा का विधान है। जब तक बिंब का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक सेवा करना चाहिये। यह ज्ञान साधन का प्रथम अंग है। क्रोध-दृष्टि के बाद ही अमृत-दृष्टि का अवसर आता है। यह ललाट की दृष्टि है। इसी का नाम अमृतपद है। यह अमृतकुंडली नामक विघ्नेश्वर की दृष्टि है। इस के प्रभाव से प्राण-बिंब का दर्शन होता है।

प्राण-बिंब दर्शन के अनन्तर प्राणायाम तथा धारणा की आवश्यकता पड़ती है। श्रद्धा-राग से सृष्ट बोधि-चित्तरूप बिन्दु इस समय अक्षर-योग का लाभ करता है। गुह्य, नाभि, तथा हृदय में क्रमशः यह योग प्रतिष्ठित होता है। ज्ञान-साधन का यह तृतीय अंग है। अनष्ट सौख्य के साथ बोधिचित्त का एकत्वख्याल—यही शान्त या सहज स्मिति है। इस समय चित्त अक्षर सुख के साथ एक हो जाता है। यह ज्ञान-साधन का चतुर्थ अंग है।

तांत्रिक बौद्ध-साधना में दो प्रकार का योगाभ्यास होता है। मंत्र-यान में आकाश में तथा पारमिता-यान में अभ्यवकाश में। प्रथम मार्ग में आवश्यक है कि साधक रात्रि में छिद्रहीन तथा अंधकारपूर्ण गृह में आकाश की तरफ दृष्टि लगाकर और सर्व चिन्ताओं से मुक्त होकर एक दिन परीक्षा के लिए बैठे। यहाँ देखना चाहिये कि धूमादि निमित्तों का दर्शन हो रहा है या नहीं। नयन को अनिमिष रखना चाहिये, और वज्रमार्ग में या मध्यमा-मार्ग में प्रविष्ट होना चाहिये। तब शून्य में पूर्वोक्त धूम, मरीचि, खद्योत तथा प्रदीप दृष्टिगोचर होंगे। जबतक यह न हो तबतक रात्रि में इस अभ्यास को चलाना चाहिये। उसके बाद मेघहीन निर्मल आकाश में गगनोद्भूत महाप्रज्ञा का दर्शन होगा। यह दीप्त अग्नि की शिखा के समान होगा। इस ज्ञान-ज्योति का नाम वैरोचन है। चन्द्र और सूर्य का दर्शन भी होगा। प्रभास्वर विद्युत् तथा परम-कमल का दर्शन भी होगा। अन्त में बिन्दु का साक्षात्कार होगा। ये सब निमित्त किसी संप्रदाय के अनुसार रात्रि में और किसी के अनुसार दिन में दर्शनीय हैं। अन्त में सर्वाकार षट्पदादि बिंब का दर्शन होता है। इस बिंब के भीतर बुद्ध-बिंब का दर्शन होता है। इस अवस्था में विषय नहीं रहता, दृश्य नहीं रहता, और कल्पना भी शून्य हो जाती है। यहाँ अनेक संभोग-काय हैं। इस बिंब के साथ योग होने पर यथार्थ अनाहत ध्वनि का श्रवण होता है।

इससे प्रतीत होता है कि रूपाभास से निर्माण-काय तथा शब्दावभास से संभोग-काय होता है।

दिन के समय योगी को स्तब्ध दृष्टि से पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण में मेघ-हीन आकाश को देखना चाहिये। सूर्य की तरफ पृष्ठ रखना चाहिये, अन्यथा सूर्य-रश्मि से तिमिर होने की आशंका रहेगी। तबतक प्रतिदिन इसका अभ्यास होना चाहिये, जबतक बिन्दु के भीतर काल-

नाड़ी में अवधूती के अन्दर कृष्ण-रेखा दृष्टिगोचर न हो। इसमें अमल-किरणों का स्फुरण होता है। यह रेखा केशप्रमाण है, परन्तु इ में अशेष भेदानुक सर्वज्ञ-बिंब दीख पड़ता है। यह जल में सूर्य-प्रतिबिंब के समान है। यह बिंब वस्तुतः स्वचित्त है, अर्थात् अनाविल, अनन्तवर्ण विशिष्ट, सर्वाकार, विषयहीन स्वचित्त। यह परचित्त नहीं है। यह स्वचित्ताभास पहले स्थूलदृष्टि से, अर्थात् मांसचक्षु से दृष्ट होता है, बाद में दिव्य-चक्षु, बुद्ध-चक्षु, प्रज्ञा चक्षु, ज्ञान-चक्षु प्रभृति का विकास होता है। भावना के प्रभाव से सूक्ष्म चक्षुओं के द्वारा ही परचित्त का साक्षात्कार होता है।

प्रसिद्धि है कि वज्रपाणि ने भी अपने दृष्टिकोण से षडंग योग का उपदेश दिया था। उसमें किसी किसी अंश में वैलक्षण्य भी है।

जिस समय प्रत्याहारादि अंगों से बिंब-दर्शन का प्रभावहेतुक अक्षर-क्षण का उदय होता है, तब नाद के अभ्यास से बलपूर्वक प्राण को मध्य नाड़ी में गतिशील करके प्रज्ञा-कमल स्थित वज्रमणि में बोधिचित्त-बिन्दु को निरुद्ध करके निष्पन्द भाव से धारण करना पड़ता है। इसी का नाम तांत्रिक हठयोग है। यह योग मार्कण्डेय प्रवर्तित हठयोग से भिन्न है, तथा मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ प्रभृति सिद्धों द्वारा प्रचारित नवीन हठयोग से भी भिन्न है।

जो शक्ति नाभि के भीतर द्वादशान्त नामक परमपद पर्यन्त चलती है, उसे निरुद्ध करने पर वह वैद्युतिक अग्नि के सदृश दंडवत् उपस्थित होती है, और मध्य नाड़ी में मृदुगति से चालित होकर चक्र से चक्रान्तर में गमन करती है। इस प्रकार जब उष्णीष-रन्ध्र का स्पर्श होता है, तब अपान-वायु को ऊर्ध्व-मार्ग में प्रेरित करना पड़ता है। इसके प्रभाव से उष्णीष-कमल का भेद हो जाता है, और पर-पुर में गति होती है। दोनों वायुओं का निरोध आवश्यक है। इसी का नाम वज्र-प्रबोध है। इससे विषय सहित मन खेचरत्व-लाभ करता है। इतना होने पर योगियों की विश्वमाता पंच-अभिज्ञा स्वभाव धारण करती है। चित्त-प्रज्ञा ज्ञानरूप होती है, उसका आभास दस प्रकार से होता है। यही सेक का रहस्य है। इसे विमल-चन्द्र के सदृश या आदर्श-बिंब के सदृश समझना चाहिये। इसमें मज्जन होता है। इसका फल होता है निर्वाण-सुख में अच्युत सहज चतुर्थ अक्षर। प्रज्ञा ग्राहक-चित्त है, और ज्ञान ग्राह्य-चित्त है। ग्राहक-चित्त के दस ग्राह्य आदर्श आभास-ज्ञान या ग्राह्य-चित्त है। दर्पण में जैसे अपने चक्षु का प्रतिबिंब दीख पड़ता है,यह भी उसी प्रकार है। ग्राह्य-चित्त में ग्राहक-चित्त का प्रवेश ही सेक है। उसमें मज्जन करना चाहिये। इससे ग्राह्य विषय में अप्रवृत्ति होती है। षडंग योग में इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। ध्यान, प्राणायाम, और धारणा इन तीनों का नाम मज्जन है। इस मज्जन से निर्वाण-सुख का उदय होता है। यह अच्युत होने पर भी सहज है, और अक्षर या चतुर्थ सुख है। यह शून्यताकार सर्वाकार प्रतिभास लक्षण है। इसमें कर्म-मुद्रा या ज्ञान-मुद्रारूप हेतु नहीं है। इसमें किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। यह बाल-प्रौढ़ादि स्पन्द के अतीत है। यह बुद्ध-वक्त्र या ज्ञान-वक्त्र है। यह जिस आचार्य को हृदयगत होता

है, वही यथार्थ वज्रधर गुरु नाम से अभिहित होने के योग्य है। मध्य नाड़ी में प्राण के प्रवेश से निमित्त-दर्शनादि बुद्ध-वक्त्र का प्रथम रूप है। इसका नाम कायवज्र-वक्त्र है। नाड़ीद्वय की गति के रुद्ध होने पर प्राण बद्ध होता है। उस समय के बुद्ध-वक्त्र का नाम वाग्-वज्र-वक्त्र है। वज्र-संशोधन और बोधिचित्त के द्रुतिकाल में बुद्ध-वक्त्र का नाम चित्त-वज्र-वक्त्र है। अन्त में ज्ञान-वज्र-वक्त्र का आविर्भाव होता है।

(१५)

बौद्धयोग वाग्योग का ही प्रकारभेद है, यह कहा गया है। प्राकृतिक शक्तियों को जगाने का श्रेष्ठ उपाय शब्द-बीज है। वर्णमातृका या कुंडलिनी शक्ति प्रति आधार में सुप्त है। इसे प्रबुद्ध करने से जाग्रत्-शक्ति साधक की अन्तःप्रकृति के गुण के साथ वैचित्र्य-लाभ करती है। इसलिए साधक के भेद से मन्त्र का भी भेद होता है। जैसे बीज अंकुरित और विकसित होकर वृक्ष, पुष्प, फलादि रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार शब्दबीज भी मूर्त होने से ही देव-देवियों के आकार का परिग्रह करता है। मीमांसा के मत में मन्त्रात्मिका देवता है। वेदान्त के मत में देवता विग्रहवती है। दोनों मत सत्य हैं। वाचक तथा वाच्य के अभिन्न होने से तथा नाम या रूप के अभिन्न होने के कारण मन्त्र और दिव्यविग्रह तात्त्विक दृष्टि से अभिन्न ही हैं। निरुक्त के दैवत-काण्ड में देवता की साकारता और निराकारता का कुछ संकेत है। सर्वत्र ही ऐसा देखा जाता है। साधक की प्रकृति के विचार के आधार पर ही मन्त्र-विचार प्रतिष्ठित है। गोत्र का निर्णय किये बिना मंत्र का निर्णय नहीं होता। पंचस्कन्ध पंचभूतमूलक हैं। इसीलिए मूल में पाँच प्रकारभेद लक्षित होते हैं। पारिभाषिक नाम 'कुल' है। हेवज्रतन्त्र में कुल-विवरण है। देवता के प्रकट होने पर उसका आवाहन करना होता है। अव्यक्त अग्नि से जैसे प्रदीप जलाया नहीं जाता, वैसे ही अप्रकट देवता का आवाहन नहीं होता। आवाहन का करण और साधन ही मुद्रा है। एक एक प्रकार के आकर्षण के लिए एक एक प्रकार की मुद्रा की आवश्यकता होती है। देवता प्रकट होकर, आकृष्ट होकर, अपने अपने गुणानुसार निर्दिष्ट स्थान ले लेते हैं। इसी का नाम मंडल है। मंडल के केन्द्र में अधिष्ठात्री देवता रहती है। चारों ओर वृत्ताकार असंख्य देवी-देव निवास करते हैं।

(१६)

बौद्ध-धर्म का ज्ञान, योग और चर्या आदि में आगम का प्रभाव कब और किस रूप में पड़ने लगा, इसे कहना कठिन है। विश्वास है कि बीजरूप से यह प्राचीन काल में भी था और कुछ विशिष्ट अधिकारी अतिप्राचीन काल में भी इसका अनुशीलन करते थे। किसी-किसी का इतना निश्चय है कि यह गुप्त साधना है, और इसकी धारा प्राक्-ऐतिहासिक काल से ही प्रचलित थी। भारतवर्ष और इसके बाहर मिस्र, एशियामाइनर, क्रीट, मध्यएशिया प्रभृति देशों में इसका प्रादुर्भाव पहले हो चुका था। वैदिक-साहित्य तथा उपनिषदादि में भी इसका इंगित मिलता है। वज्रयान के विषय में बौद्ध समाज में जो किंवदन्ती प्रचलित है, उसका उल्लेख पहले

किया गया है। ऐतिहासिक विद्वान् तारानाथ का विश्वास था कि तन्त्रों के प्रथम प्रकाशन के बाद दीर्घकाल तक गुरु-परंपरा के क्रम से यह साधन गुप्त रूप में प्रचलित था। इसके बाद सिद्ध और वज्राचार्यों ने इसे प्रकाशित किया। चौरासी सिद्धों के नाम, उनके मत तथा उनका अन्यान्य परिचय भी कुछ कुछ प्राप्त हैं। नाम-सूची में मतभेद है। रससिद्ध, महेश्वरसिद्ध, नाथसिद्ध प्रभृति विभिन्न श्रेणियों के सिद्धों का परिचय मिलता है। सिद्धों की संख्या केवल ८४ ही नहीं है, प्रत्युत इससे बहुत अधिक है। किन्हीं सिद्धों की पदावलियाँ प्राचीन भाषा में ग्रथित मिलती हैं। इनमें से बहुत से लोग वज्रयान या कालचक्रयान मानते थे। सहजयान मानने वाले भी कुछ थे। प्रायः सभी अद्वैतवादी थे। तिब्बत तथा चीन में प्रसिद्धि है कि आचार्य असंग ने तुषित-स्वर्ग से तन्त्र की अवतारणा की। उन्होंने मैत्रेय से तन्त्रविद्या का अधिकार प्राप्त किया था। यह मैत्रेय भावी बुद्ध हैं या मैत्रेयनाथ नाम के कोई सिद्ध पुरुष हैं, यह गवेषणीय है। बहुत लोग मैत्रेय को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे सिद्ध थे। इस प्रसंग में नागार्जुन की भी चर्चा होती है। यह स्मरणीय है कि उनका वासस्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक तान्त्रिक साधना के प्रधान केन्द्र थे। आगमीय गुरुमंडली के भीतर ओघत्रय में मानवौघ से ऊपर दिव्य तथा सिद्ध ओघ का परिचय मिलता है। यह माना जा सकता है कि मैत्रेयनाथ उस प्रकार के सिद्धों में थे, या उसी कोटि के कोई अन्य महापुरुष थे। ऐतिहासिक पंडितों के अनुसार बौद्ध-साहित्य में गुह्यसमाज में ही सर्व-प्रथम शक्ति उपासना का मूल लक्षित होता है। अतएव असंग से भी पहले शक्ति उपासना की धारा सुदृढ़ हो चुकी थी। मातृरूप में कुमारी शक्ति की उपासना उस समय चारों ओर प्रचलित थी।

इन बहिरंग आलोचनाओं का कोई विशेष फल नहीं है। वस्तुतः तंत्र का अवतरण एक गंभीर रहस्य है।

शैवागमों के अवतरण के विषय में तात्त्विक दृष्टि से आचार्यगण ने जो कहा है, उससे यह समझ में आता है कि यह रहस्य सर्वत्र उद्घाटित करने योग्य नहीं है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने कहा है कि परावाक् परम परामर्शमय बोधरूप है। इसमें सभी भावों का पूर्णत्व है। इसमें अनन्त शास्त्र या ज्ञान-विज्ञान पर-बोध रूप में विद्यमान है। पश्यन्ती अवस्था परा वाक् की बहिर्मुखी अवस्था है। इस दशा में पूर्वोक्त परबोधात्मक शास्त्र 'अहंपरामर्श' रूप से अन्तर में उदित होता है। इसमें विमर्श के स्वभाव से वाच्यवाचकभाव नहीं रहता। यह आन्तर प्रत्यवमर्श है। यह असाधारण रूप में होता है। इसलिए इस अवस्था में प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमान वाच्यार्थ अहंता से आच्छादित होकर स्फुरित होता है। वस्तु-निरपेक्ष व्यक्तिगत बोध के उद्भव की प्रणाली यही है। इसीलिए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्।

आर्ष-ज्ञान या प्रातिभ-ज्ञान के मूल में भी आगम विद्यमान है। जिसको हृदय का स्वतः स्फूर्त प्रकाश समझा जाता है, वह भी वस्तुतः स्वतः स्फूर्त नहीं है। उसके मूल में

भी आगम है। मध्यमा-भूमि में आन्तर परामर्श अन्तर में ही विभक्त हो जाता है। उस समय वह वेद्य वेदक प्रपंचोदय से भिन्न वाच्य-वाचक स्वभाव में उल्लसित हो जाता है। इस मध्यमा-भूमि में ही परमेश्वर चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया से अपने पंचमुखत्व का अभिव्यंजन करते है, सदाशिव और ईश्वरदशा का आश्रय लेते हैं, और गुरु-शिष्य-भाव का परिग्रह करते हैं। इस पंचमुख के मेलन से ही वह पंचस्रोतोमय निखिल शास्त्रों की अवतरणा करते हैं। यही शास्त्र का अवतरण है। अस्फुट होने के कारण यह इन्द्रिय का अगोचर है। किन्तु वैखरी भूमि में यह इन्द्रिय-गोचर होता है और परिस्फुट होता है।

नागार्जुन, असंग या अन्य किसी भी आचार्य से किसी भी शास्त्र के अवतरण की एकमात्र प्रणाली यही है। ऋषियों के मन्त्रसाक्षात्कार की प्रणाली भी यही थी। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि धारक पुरुष के व्यक्तिगत मानस संस्कार उस अवतीर्ण ज्ञान-शक्ति के साथ संश्लिष्ट न हो जायें। यदि ऐसा हो जाय तो श्रुति स्मृति में परिणत हो जाती है, तथा प्रत्यक्ष परोक्ष में परिणत हो जाता है। ऐसी दशा में अवतीर्ण ज्ञान का प्रामाण्य कम हो जाता है। मानव के दुर्भाग्य से कभी कभी अनिच्छया भी ऐसा हो जाता है।

इस विषय में एक दो बातें और भी कहनी हैं। साधक वर्ग आध्यात्मिक उत्कर्ष की किसी-किसी भूमि में व्यक्तिगत भाव से दिव्यवाणी प्राप्त करते हैं। इन सभी वाणियों का मूल्य समान नहीं है। इनके उद्गम के स्थान भी एक नहीं होते। स्पेन देश की सुप्रसिद्ध ईसाई साधिका सन्त टेरेसा नामक महिला ने अपनी जीवनव्यापी अनुभूतियों के आधार पर जो सिद्धान्त प्रकट किये हैं, उनके अनुसार अलौकिक श्रवण के तीन विभाग किये जा सकते हैं।

१—स्थूल श्रवण। स्थूल होने पर भी साधारण श्रवण से यह विलक्षण है, क्योंकि यह ध्यानावस्था में होता है। लौकिक श्रवण से ध्यानज क्षुब्ध इन्द्रियज बाह्य श्रवण भिन्न है, क्योंकि वह बाहरी शब्द का नहीं है। वह प्रातिभासिक मात्र है। प्रतीत तो यह होता है कि यह शब्द कंठोच्चारित है और स्पष्ट है, फिर भी यह अवास्तव एवं विकल्पजन्य है।

२—द्वितीय श्रवण इन्द्रिय संबन्धहीन कल्पनामात्र प्रसूत शब्द है। इन्द्रिय की क्रिया से कल्पना-शक्ति में जैसी छाप लगती है वहाँ क्रिया न रहने पर भी वही प्रकार है। किन्तु यह भ्रम का विकार है। धातु-वैषम्य जनित दैहिक विकार से यह विकार उत्पन्न होता है। पहले स्मृति-शक्ति में विकार होता है, पश्चात् पूर्व संस्कारों में विकार होता है।

३—प्रामाणिक श्रवण। इसका टेरिस ने 'इंटिलेक्च्युअल लाक्यूशन' नाम से वर्णन किया है। यह चिन्मय शब्द है। इसमें न बुद्धि का, न इन्द्रियों का और न कल्पना शक्ति का प्रभाव है। यह सत्य का साक्षात् प्रकाशक है, और संशय का निवर्तक है। यह भगवत्-शक्ति के प्रभाव से हृदय में उदित होता है, संशय विकारादि से यह सर्वथा मुक्त है।

(१७)

अब अन्त में बौद्धतन्त्र तथा योग विषयक साहित्य का किंचित् परिचय देना उचित प्रतीत होता है। इस विषय के बहुत से ग्रन्थ तिब्बत तथा चीन में विद्यमान हैं। कुछ इस देश में भी हैं। सभी ग्रन्थों का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ और निकट भविष्य में भी होने की संभावना नहीं है। किन्तु विशिष्ट ग्रन्थों में कुछ का प्रकाशन हुआ है, और किसी किसी का हो भी रहा है। भारतीय पुस्तक संग्रहों में अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या भी उल्लेखयोग्य है। गुह्य-समाज, उसकी टीका और भाष्यों के कुछ नाम पहले दिये गये हैं। मंजुश्रीमूलकल्प का नाम भी दिया गया है। उसके अतिरिक्त ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं :—

१. कालचक्रतन्त्र और उसकी विमलप्रभा टीका।
२. श्रीसंपुट—यह योगिनी तन्त्र है।
३. समाजोत्तर-तन्त्र।
४. मूलतन्त्र।
५. नामसंगीति।
६. पंचक्रम।
७. सेकोद्देश—तिलोपा कृत।
८. सेकोद्देशटीका—नरोपा कृत।
९. गुह्यसिद्धि—पद्मवज्र अथवा सरोरुहवज्र कृत।

प्रसिद्धि है कि ये आचार्य हेवज्र साधन के प्रवर्तक थे। सरोरुहवज्र के शिष्य अनंग-वज्र थे। अनंगवज्र के प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि प्रभृति ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हेवज्र-साधन विषय के भी इन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। अनंगवज्र के शिष्य इन्द्रभूति थे। इन्होंने श्रीसम्पुट की टीका लिखी थी। इनके अतिरिक्त ज्ञानसिद्धि, सहजसिद्धि प्रभृति अन्य ग्रन्थ भी इनके नाम से उपलब्ध होते हैं। यह उड्डियान-सिद्ध अवधूत थे। इनकी छोटी भगिनी तथा शिष्या लक्ष्मींकरा ने इनके साहित्य के प्रचार करने में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली प्रभृति अनेक ग्रन्थों की रचना की। डाकार्णव एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन हो चुका है। वर्तमान समय में विनयतोष भट्टाचार्य, शशिभूषणदास गुप्त, प्रबोधचन्द्र बागची, अध्यापक तुची, मोरियो करेली, डा॰ गुन्थर प्रभृति कई विद्वान् इस कार्य में दत्तचित्त हैं। सिलवाँ लेवी प्रभृति ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया था, जिससे तन्त्र-शास्त्र के अध्ययन में बड़ी सुविधा मिल रही है।

(१८)

भूमिका संक्षेप करते करते भी विस्तृत हो गयी। अधिक लिखने का स्थान नहीं है। मैं समझता हूँ कि इससे अधिक लिखने का प्रयोजन भी नहीं है। मित्रवर आचार्य जी के अनुरोध

से मैं इस भूमिका में बौद्ध-तन्त्र की संक्षेप में आलोचना करने में लगा। किन्तु आलोच्य विषय इतना जटिल एवं विशाल है कि छोटे कलेवर में आवश्यक सभी विषयों का संनिवेश करना संभव नहीं है। केवल कुछ मुख्य विषयों की चर्चा करने की चेष्टा की गयी है। योग-विज्ञान का गंभीर रहस्य आगम-साधना में ही निहित है। एक समय था, जब भारत की यह गुप्तविद्या चीन,तिब्बत, जापान आदि बहु प्रदेशों में समादर के साथ गृहीत होती थी। इसी प्रकार इसका धीरे-धीरे नाना स्थानों में प्रसार हुआ था। एक तरफ जैसा बुद्धि के विकास का क्षेत्र गंभीर दार्शनिक एवं न्यायशास्त्र के आलोचन से मार्जित होता था, और उत्तरोत्तर दिग्गज विद्वानों के उद्भव से दर्शन-शास्त्र की पुष्टि होती थी, तो दूसरी तरफ उसी प्रकार योग-मार्ग में भी बोधि के क्षेत्र में बड़े-बड़े सिद्ध एवं महापुरुषों का उद्भव होता था। ये लोग प्राकृतिक तथा अति-प्राकृत शक्तिपुंजों को अपने वश में करके लोकोत्तर सिद्धि-संपत्तियों से अपने को मंडित करते थे। यदि किसी समय इनका प्रामाणिक इतिहास लिपिबद्ध होना संभव हुआ, तो अवश्य ही वर्तमान युग भी उन विद्वान् सिद्धों के गौरवपूर्ण जीवन का आभास पा सकेगा।

तांत्रिक योग के मार्ग में अयोग्य व्यक्तियों का प्रवेश जब अवारित हो गया, तो स्वभावतः नागार्जुन या असंग का महान् आदर्श सब लोग समान रूप से संरक्षित नहीं रख सके। इसीलिए अन्यान्य धार्मिक प्रस्थानों के सदृश बौद्ध-प्रस्थान में भी नीति-लंघन और आचारगत शिथिलता की क्रमशः वृद्धि हुई। बौद्ध-धर्म के अवसाद के कारणों में यह एक मुख्य है, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि नीति-धर्म के ऊपर ही जगत् के सामाजिक प्रतिष्ठान विधृत है। किन्तु व्यक्तिगत और सामूहिक स्खलन देखकर मूल आदर्श का महत्त्व की विस्मृति नहीं होनी चाहिये।

सिगरा, बनारस
२५-१२-५१

गोपीनाथ कविराज

बोधिसत्त्व की साक्षात् प्रतिमा

आचार्य नरेन्द्रदेवजी १६–२–५६ को शरीर के जीर्ण वस्त्र को त्यागकर उस लोक में चले गये, जहाँ सबको जाना है। उनके लिए मानवीय धरातल पर हमारा शोकाकुल होना स्वाभाविक है, किन्तु वे जिस धरातल पर जीवित थे, उसे पहचान लेने पर शोक करना व्यर्थ है। प्रत्येक मानव जन्म और मृत्यु के छन्द से छन्दित है। जीवन और मृत्यु कभी समाप्त न होने वाली संकोच-प्रसार-परिपाटी के रूप हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति इसी स्पन्दन के नियम से अपने अपने कर्मक्षेत्र में जीवित है। आचार्यजी ने प्राण के इस सनातन स्पन्दन को मानवीय धरातल पर मानव के सुख-दुःख को अपना बना कर जितना निकट कर लिया था, वैसा कम देखने में आता है। अपने चारों ओर दुःखों से टूटे हुए अभावग्रस्त मानवों को हम सभी देखते हैं। आचार्यजी ने भी उन्हें देखा था। उनका चित्त करुणा से पसीज कर स्वयं उस दुःख में सन गया। उनका वह चित्त जितना उदार था, उतना ही दृढ़ था, इसीलिए वे दुःख के इतने बोझ को वहन कर सके। दुःखियों का दुःख दूर करने के लिए दिन-रात दहकने वाली अग्नि उनके भीतर प्रज्वलित रहती थी। निर्बल देह में बहुत सबल मन वे धारण किये हुए थे। ऐसे करुणा-विगलित चित्त को ही 'बोधिचित्त' यह परिभाषिक नाम दिया जाता है। महाकरुणा, महामैत्री जिनके चित्त में स्वतः अंकुरित होती हैं और जीवन पर्यन्त पुष्पित और फलित हो कर बढ़ती रहती हैं, वे ही सचमुच बोधिचित्त के गुणों से धनी होते हैं। आचार्यजी को अपने पास स्थूल धन रखते हुए जैसे किसी भारी ठोस का अनुभव होता था। लखनऊ-विश्वविद्यालय एवं काशी-विश्वविद्यालय में पाँच छः वर्ष तक कुलपति पद पर रहते हुए उन्हें जो वेतन मिलता था, उसका लगभग आधा भाग वे निर्धन छात्रों के लिए दे डालते थे। तब दूसरा आधा भाग—वह भी दबे हुए आत्मसन्तोष से वे स्वीकार कर पाते थे। अपने समय, शारीरिक शक्ति तथा बुद्धि का अखण्ड दान तो वे करते ही रहते थे। जब से उन्होंने सोचना शुरू किया था, तब से लेकर उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक करुणा से प्रेरित उनके महादान का यह सत्र चलता ही रहा।

यह दान किस लिए था? महा-यान बौद्ध धर्म के शब्दों में, जिसके आदर्श का उनके जीवन में प्रत्यक्ष हुआ था, उनका यह दान 'न स्वर्ग के लिए, न इन्द्रपद के लिए, न भोग के लिए और न राज्य के लिए था। उनके जीवन का लक्ष्य इसलिए था कि जो अमुक्त हैं, उन्हें मुक्त करें, जो बिना आशा के हैं, उन्हें आशा दें, जो बिना अवलंब के हैं, उन्हें धैर्य और दिलासा दें और जो दुःखी हैं उनके दुःख की ज्वाला कम करें।' आचार्यजी कुछ इस प्रकार सोचते थे—'दूसरे प्राणियों का दुःख दूर करने में जो आनन्द के लहराते हुए समुद्र का अनुभव है, मुझे उसी का एक कण चाहिए। मैं पृथिवी के भोग, राज्य अथवा नीरस मोक्ष को

भी लेकर क्या करूँगा ?' आज कल के युग में इस प्रकार का महान् संकल्प अति दुष्कर है और विरल भी, किन्तु वे स्वभाव से जिस पथ के पथिक थे उस मार्ग पर इसी प्रकार के 'बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय' वाले सुरभित पुष्प बिखरे रहते हैं। वह मार्ग बोधिसत्वों के ऊँचे आदर्शों से बना हुआ है। सब सत्वों के लिए, प्राणिमात्र के लिए जिसके हृदय में अनुकंपा है वही उस पथ पर चलने का आवाहन सुन सकता है। अपने राष्ट्र में जिस समय राष्ट्र-पिता ने परिवारों में लालित-पालित कुलपुत्रों को इस प्रकार के कल्याणमय जीवन के लिए पुकारा, आचार्य नरेन्द्रदेव अपने पूर्वसंचित संस्कारों के वेग बल से उस पंक्ति में आकर मिल गए। उन्होंने संसार के अनेक प्रलोभनों की ओर मुड़कर नहीं देखा। जिधर पाँव रखा, उधर ही पैर बढ़ाते हुए महायात्रा के द्वार तक चले गए। एक बार जो चले, फिर पश्चात्पद नहीं हुए। शरीर साथ नहीं देता था, दूसरों के संचित दुःख को मानो वह उन्हीं पर बार-बार उँड़ेल रहा था, किन्तु मन की शक्ति को शरीर की अशक्ति कहीं डाँवा-डोल कर सकती है ? उनके निजी मित्र और हितू जब उन्हें श्वास की पीड़ा से हाय-हाय करते हुए और कर्तव्यवश कागज पत्रों पर हस्ताक्षर करते हुए या समाज और राष्ट्र की समस्या पर परामर्श देते हुए देखते थे तो वे अधीर होकर आचार्य जी की उस एकनिष्ठा पर खीझ उठते थे और आचार्यजी उस खीझ को ही अपने लिए शीतल बना कर आगे बढ़ जाते थे।

वे त्यागी और साहसी नेता थे। भारतीय संस्कृति, इतिहास, संस्कृतभाषा, महायान, बौद्धधर्मदर्शन और पालि-साहित्य के उद्भट विद्वान थे। पर जो गुण उनका निजी था, जो उनमें ही अनन्य-सामान्य था, वह उनकी ऐसी मानवता थी, जो एक क्षण के लिए भी उन्हें न भूलती थी। यद्यपि लखनऊ विश्वविद्यालय में जब वे कुलपति थे तभी मैं उनसे परिचित हो गया था, तथापि उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के पहलुओं को निकट से देखने का और उनके प्रगाढ़ गुणों को पहचानने का अवसर मुझे काशी विश्वविद्यालय में मिला। मैं नवम्बर सन् १९५१ में और वे एक मास बाद दिसंबर सन् १९५१ में विश्वविद्यालय में आए। तब से उनका सान्निध्य निरन्तर बढ़ता गया। चरित्र और व्यक्तित्व के अनेक गुणों में जिस ऊँचे धरातल पर वे थे उसे मन ही मन पहचान कर मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हुई। अन्तःकरण स्वीकार करता था—'यह एक व्यक्ति है जो इतना निरभिमान है, जिसके व्यक्तित्व को पद का गौरव कभी छू नहीं पाता, जो अपने शील से स्वयं इतना महान है कि उसे और किसी प्रकार के कृत्रिम गौरव की आवश्यता नहीं।' वे विश्वविद्यालय के कुलपति थे तो क्या हुआ ? स्वच्छन्द भाव से अध्यापकों के घर पर स्वयं चले आते। पूर्व सूचना की भी आवश्यकता नहीं समझते थे। साथ बैठकर बातें करते, अपनी कहते और दूसरे की सुनते थे। वे औरों को भी मानव समझते थे और संभवतः विश्वविद्यालय में कोई ऐसा व्यक्ति न था जिसे उनके साथ इसी आत्मीयता का अनुभव न होता हो। कहाँ है ऐसा मानव ? उसे दीपक लेकर ढूँढ़ना होगा। छात्र, विश्वविद्यालय के भृत्य, शहर के मेहनती मजदूर और कहाँ-कहाँ के लोग उनके पास नदी के प्रवाह की तरह बराबर आते रहते थे। प्रातःकाल से रात के १०बजे तक यह ताँता समाप्त न होता

था। उनके रोषणशील मित्र कहते कि आचार्यजी आप स्वयं अपने ऊपर अत्याचार कर रहे हैं। आपके स्वास्थ्य की औषध स्वयं आपके हाथ में है। पर सम्भवतः यही एक ऐसी चिकित्साविधि थी, जिसका आचार्य जी ने कभी उपयोग नहीं किया। वे जिस प्रकृति के बने थे उसके रहते हुए ऐसा करना सम्भव भी नहीं था। यदि दर्शन की परिभाषा का उपयोग करने की अनुमति हो तो प्रज्ञानघन के स्थान पर उन्हें सौजन्यघन कहना उपयुक्त होगा। दूसरों के प्रति सज्जनता, और दूसरों का सम्मान यही उनका भारी गुण था। कह सकते हैं कि शासक के पद से यही सम्भवतः उनकी त्रुटि थी, क्योंकि वे उस लोक के लिए बने थे, जहाँ सज्जनता का साम्राज्य हो, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि से स्वयं विचार करता हो, और जिस सम्मान का उसे पात्र समझा गया है, उसी के अनुरूप ऋजुता के धरातल पर वह भी व्यवहार करता हो। आचार्य जी के लिए यह समझना कठिन था कि सौजन्य और विश्वास का व्यवहार पाकर कोई व्यक्ति उनके साथ दूसरी तरह का बर्ताव क्यों करेगा। अस्तु, जीवन की सफलताएं और असफलताएं नश्वर हैं, संसार अपने पथ पर थपेड़े खाता हुआ चला जाता है एवं सज्जन और असज्जन दोनों ही अपनी अपनी सीमाओं से परिवेष्टित आगे बढ़ने के लिए मजबूर होते हैं। किन्तु एक तत्व जिसका केवल सौजन्य द्वारा ही जीवन में साक्षात् किया जा सकता है, वह प्राणिमात्र के प्रति अनुकंपा और करुणा का भाव है। औरों के दुःख से दुःखी होने की क्षमता भी प्रकृति सबको नहीं देती। जिसमें इस प्रकार की क्षमता है, जिसके केन्द्र में इस प्रकार का कोई एक गुण लवलेश है उसे ही हम बोधिचित्त वाला व्यक्ति कहते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति समाज के सौरभ हैं, वे देवपूजा में समर्पित होने योग्य पुष्पों के समान हैं। यह क्या कम सौभाग्य है कि आचार्य जी का जीवन मातृभूमि के लिए समर्पित हुआ और राष्ट्र के अधिदेवता ने उनकी उस पूजा को स्वीकार किया। आज महामन्त्री से लेकर साधारण किसान तक उनके शोक से आकुल है। ईश्वर करे इस प्रकार के बोधिसत्व व्यक्ति समाज में जन्म लेते रहें, जिससे मानवता का आदर्श राष्ट्र में ओझल न होने पावे।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी

वासुदेवशरण अग्रवाल

आचार्यजी और बौद्धदर्शन

आचार्य नरेन्द्रदेव को राजनीति, समाजनीति और भारतीय संस्कृति एवं इतिहास के क्षेत्र में जो नेतृत्व, प्रकाण्ड विद्वत्ता एवं अपूर्व कल्पनाशक्ति प्राप्त थी उससे देश पूर्ण परिचित है, किन्तु दर्शन के क्षेत्र में विशेषतः पालि तथा बौद्ध-दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने जो कष्ट साध्य विद्वत्ता अर्जित की थी, उससे कम लोग परिचित हैं। इतिहास और संस्कृति के अध्ययन ने ही उन्हें बौद्ध धर्म और दर्शन की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने पालि के विशाल वाङ्मय का उस समय अध्ययन किया जब अध्ययन की अपेक्षित सामग्री उपलब्ध नहीं थी और पूरे भारत में इने-गिने विद्वान् ही इस दिशा में प्रयास करते थे। अध्ययन की इस अपरिचित दिशा की ओर वह अकेले बढ़े थे, फिर भी उन्होंने पूरे त्रिपिटक और अनुपिटक साहित्य का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्यजी के गंभीर निबन्ध इसके प्रमाण हैं कि उन्होंने 'अभिधर्म पिटक' के उन अंशों का भी गंभीर अध्ययन किया था जिसका अध्ययन पूरी सामग्री प्राप्त होने पर भी आज देश में नहीं हो रहा है। स्थविरवाद के शमथयान (समाधि) का अध्ययन अपनी दुरूहता के कारण विदेश के बौद्ध मठों में भी उपेक्षित-सा रहा है। आचार्य जी ने इस विषय के मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त अट्ठकथाओं (भाष्य-व्याख्याओं) तक का सांगोपांग अध्ययन किया और इन विषयों पर गंभीर निबन्ध भी लिखे। इसके लिए उन्हें सिंघली और बर्मी ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ी। बौद्ध धर्म और दर्शन की दिशा में आचार्य जी की अप्रतिम विशेषता यह थी कि उन्होंने स्थविरवाद और हीनयान के दर्शन और धर्म के दुरूह अध्ययन के साथ-साथ संस्कृत के महायानी दर्शनों का भी मूल ग्रन्थों से अध्ययन किया था। संभवतः इस उभयज्ञता के आप एकमात्र उदाहरण हैं। महायानी दर्शनों का अध्ययन उन्होंने मूल संस्कृत से किया था और फ्रेंच, अंग्रेजी कृतियों का भी आधार लिया। बौद्ध धर्म और दर्शन की इन समस्त शाखा-प्रशाखाओं का अध्ययन उन्होंने सन् १६३३-३४ तक पूरा कर लिया था।

यह सत्य है कि आचार्य जी के जीवन के परवर्ती २०-२२ वर्ष समाजवाद और मार्क्स के जीवन् दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हुए किन्तु इतने से ही उनके जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती। उनके पूर्व जीवन से पर जीवन का जो सहज एवं समन्वित अंगांगी भाव था उसे भी देखना होगा। अवश्य ही सन् १६३३-३४ तक उनके जीवन में एक ऐसी सांस्कृतिक भूमि तैयार हो चुकी थी, जिसकी नैतिकता और उदारता बौद्ध-दर्शन के तर्क-कर्कश तेज में परीक्षित हो चुकी थी और जिसकी हृदय-माहिता तथागत की करुणा के अजस्र प्रवाह से अभिषिक्त हो चुकी थी।

उनके बाल्यकाल पर उनके पिता के सनातनधर्मी भावनाओं एवं कर्मकांडों का प्रभाव पड़ा। उनके पिता के कारण उन दिनों फैजाबाद सनातनधर्म का गढ़ था। अपने पिता के साथ-साथ उन्होंने बाल्यकाल में सनातनधर्म और आर्यसमाज के अनेकानेक विराट अधिवेशनों को देखा था और उनमें धुआँधार खंडन मंडनात्मक शास्त्रार्थ और भाषण भी सुने थे। उन्हीं दिनों 'रुद्राष्टाध्यायी' और 'अष्टाध्यायी' के माध्यम से उन्हें संस्कृत एवं संस्कृति की शिक्षा मिली। त्रिकाल नहीं तो द्विकाल संध्या उनके लिए अनिवार्य थी। इस प्रकार उनके प्रारंभिक निर्माण में धार्मिक प्रभावों का प्राधान्य था। उन्हीं दिनों अपने घर में स्वामी रामतीर्थ की प्रखर तेजस्विता का उन्हें अनेक बार साक्षात्कार हुआ था। इसका भी उनपर स्थायी प्रभाव पड़ा। कालेज में आते ही बंगाल की राष्ट्रीय चेतना की लहर ने उनके विद्यार्थी जीवन को नया सन्देश दिया। अब जीवन की चेतना और अध्ययन में परस्पर आदान-प्रदान प्रारंभ हुआ और उसमें धीरे-धीरे समरसता भी आने लगी। जीवन की इसी चेतना ने भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति उनमें विशेष आकर्षण उत्पन्न किया। डाक्टर वेनिस और प्रोफेसर नार्मन ने उनके अध्ययन को विकसित किया और विशेष प्रकार से सजाया। डाक्टर वेनिस ने उन्हें दर्शन भी पढ़ाया और उसके प्रति उनमें अभिरुचि उत्पन्न की। दर्शन के विभिन्न सूत्रग्रन्थ एवं भाष्यों का अध्ययन उन्होंने बनारस संस्कृत कालेज के अध्यापक पण्डित जीवनाथ मिश्र आदि से किया था।

अबतक पाश्चात्य दर्शनों से वे परिचित हो चुके थे किन्तु जीवन-संबन्धी दर्शन की जिज्ञासा उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही थी। पालि और बौद्ध-दर्शन के अध्ययन ने उन्हें नैतिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं की चमत्कारपूर्ण व्याख्या दी। इससे उन्हें मानवीय मूल्यों के तर्कसंगत एवं हृदयग्राही स्वरूप का प्रत्यक्ष हुआ। बौद्धों का गतिशील दर्शन, मानव-मन के भेद और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का विस्तृत विश्लेषण, व्यक्ति के द्वारा सर्व (समाज) के उद्धार का संकल्प और बुद्धिवादिता, इसके अतिरिक्त जातिवाद, शास्त्रवाद और देवाधिदेववाद आदि का विरोध, ये तत्व ऐसे मानवीय एवं सामाजिक हैं, जो पुरानी मान्यताओं को नवीन दृष्टि से देखने की शक्ति प्रदान करते हैं। आचार्य जी ने इसी प्रस्थान-बिन्दु से समस्त भारतीय संस्कृति का पर्यवेक्षण किया था। भारतीय संस्कृति के पर्यवेक्षण की यह नवीन शक्ति इन्हीं दिनों उनमें प्रादुर्भूत हुई। समाजवाद के अध्ययन से तो उसपर एक नयी चमक आ गयी।

आचार्य जी का जीवन बौद्धों की नैतिक दृष्टि से बड़ा ही प्रभावित था। आर्य शांतिदेव के 'बोधिचर्यावतार' के हृदयग्राही पद्य उन्हें बड़े ही प्रिय थे। प्रायः अपने मित्रों को इसके पद्य सुनाया करते थे और पढ़ने के लिए प्रेरित करते थे। काल का व्यंग्य कि जो ग्रन्थ उनके पूरे जीवन में प्रिय था उसे जब पेद्दुराई के विश्राम-काल में पढ़ने के लिए अपने मित्र श्री श्रीप्रकाश जी के द्वारा मद्रास विश्वविद्यालय पुस्तकालय से उन्होंने मँगाया तब उसकी एक पंक्ति भी पढ़ने के पहले ही इस लोक से चले गये।

जो पद्य उनको बहुत प्रिय थे उनमें शांतिदेव के वे पद्य थे जिनका सारांश है कि 'जब समस्त लोक दुःख से आर्त और दीन है तो मैं ही इस रसहीन मोक्ष को प्राप्त कर क्या

करूँगा।' 'प्राणियों के सकड़ों दुःखों को स्वयं भोग करके उनके दुःखों को हरण करने की कामना करने वाले को और उसे ही अपना सुख सौख्य समझाने वाले को बोधिचित्त का परित्याग कभी नहीं करना चाहिये'। 'बोधिचित्त' चित्त का वह संकल्प है, जिससे संसार के समस्त आर्त प्राणियों का उद्धार होगा। 'कंटकादि से रक्षा करने के लिए पृथ्वी को चर्म से आच्छादित करना उचित है, परन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि इतना चर्म कहां मिलेगा, यदि मिले भी तो आच्छादन असंभव है, किन्तु उपाय के द्वारा कंटकादि से रक्षा हो सकती है, क्योंकि जूते के चमड़े से सब भूमि अच्छादित हो जाती है।' इसी प्रकार व्यक्ति अनन्त बाह्य भावों का निवारण एक चित्त के निवारण से कर सकता है। शीलका 'करुणा' में विकास, कुशल बुद्धि का 'प्रज्ञा' में विकास और इन दोनों के अभेद से व्यक्तित्व का निर्माण, बौद्धों की इस जीवन-दृष्टि से आचार्य जी बहुत ही प्रभावित थे। व्यक्तित्व की शून्यता और समाज की सत्ता का बौद्ध सिद्धांत भी उनके चिंतन का विषय सदा बना रहा।

आचार्य जी कहा करते थे कि नैतिकता और आध्यात्मिकता की जो तर्कसंमत और हृदयग्राही व्याख्या बौद्धों ने की है उससे व्यक्ति में अन्ध-परंपरा से विमुक्त निरीक्षण की शक्ति आती है। आचार्यजी की नैतिकता इसी सुदृढ़ दार्शनिक व्याख्या के आधार पर सुपुष्ट हुई। इसी के आलोक में उन्होंने प्राच्य प्रतीच्य विभिन्न नैतिक व्याख्याओं का पर्यालोचन किया था और उनके मस्तिष्क में भारतीय संस्कृति का एक अपूर्व चित्र बना था। इस सांस्कृतिक आधार पर समाजवाद के अध्ययन ने आचार्य नरेन्द्रदेव को समाजवाद की नैतिक व्याख्या करने के लिए बाध्य किया। आचार्यजी की वह सांस्कृतिक प्रतिमा भारतीय समाजवाद में भी प्रतिफलित हुई। यही कारण है कि वह समाजवाद और भारतीय संस्कृति दोनों के समान रूप से मूर्द्धन्य व्याख्याकार हुए। उन्होंने मार्क्सवाद से भारतीय संस्कृति या नैतिकता का अविरोध नहीं, अनिवार्य समन्वय स्थापित किया। इसीलिए न्हें सर्वोदय या भूदान की नैतिकता मार्क्सवाद से डिगा नहीं सकी और न सर्वोदय को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृति दिला सकी। इन समस्त दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययनों का पर्यवसान एक नयी संस्कृति के निर्माण में है, आचार्यजी के 'नवसंस्कृति-संघ' की कल्पना उसका फलितार्थ था।

घोर राजनीतिक अस्तव्यस्तता के बीच और रोगों के मार्मिक प्रहारों के बीच भी उन्हें जब जब समय मिला बौद्धदर्शन का अपना प्रिय अध्ययन प्रारंभ कर दिया। वे चाहते थे कि हिन्दी में बौद्धदर्शन के अध्ययन की अपेक्षित सामग्री शीघ्र से शीघ्र प्रस्तुत कर दें। इसके लिए गवेषणात्मक निबन्धों के अतिरिक्त कुछ प्रामाणिक ग्रंथों का संक्षेप अनुवाद भी आवश्यक समझते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने हिन्दी में 'बौद्धधर्म और दर्शन' नाम से यह महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। पाँच खण्डों और २० अध्यायों के इस ग्रंथ में स्थविरवाद की साधना, धर्म और दर्शन, महायान-धर्म और दर्शन, महायान की उत्पत्ति और विकास, इसका साहित्य और साधना, बौद्धदर्शन की सामान्य मान्यताएँ, प्रतीत्यसमुत्पादवाद, क्षण-भंगवाद, अनीश्वरवाद, कर्मवाद, निर्वाण, बौद्धदर्शन के वैभाषिक

सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद का विषय-परिचय और तुलना आदि विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन है ।

इसके अतिरिक्त आचार्य वसुबन्धु के 'अभिधर्म कोश' का संक्षेप, 'आर्य असंग के महायान सूत्रालंकार' का भाषानुवाद, ह्वेनसांग की 'विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि' के आधार पर विस्तृत निबन्ध, आचार्य नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' और आचार्य चन्द्रकीर्ति की 'प्रसन्नपदा वृत्ति' का संक्षिप्त अनुवाद इस ग्रंथ में समाविष्ट हैं। इस ग्रंथ का पाँचवाँ खण्ड बौद्ध न्याय पर लिखा गया है जिसमें आकाश-दिक् और काल पर एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। दूसरे अध्याय में बौद्ध प्रमाणों का और उसके अवान्तर भेदों का जैसा विवेचनापूर्ण और स्पष्ट निर्वचन किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्यजी के परममित्र महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराज ने अपनी भूमिका में बौद्धतन्त्र पर लिखकर इस ग्रन्थ को बौद्धतन्त्र से भी पूर्ण कर दिया। इस प्रकार यह एकमात्र ग्रन्थ बौद्ध-दर्शन के अध्ययन के लिए समस्त द्वार खोल देता है। अंग्रेजी या फ्रेंच में इस विषय की कोई ऐसी पुस्तक नहीं है, जिसमें इतनी सामग्री एकत्र उपलब्ध हो। संस्कृत के अबतक के प्राप्त ग्रन्थों में भी इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नहीं, जिससे समस्त बौद्ध-धाराओं का परिचय प्राप्त हो।

आचार्यजी ने कुछ विशिष्ट बौद्ध-ग्रन्थों का अविकल अनुवाद भी किया है। उसमें सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ वसुबन्धु-रचित 'अभिधर्मकोश' है। यह ग्रन्थ ६०० कारिकाओं का है। वसुबन्धु ने ही इन कारिकाओं पर अपना भाष्य लिखा था। यह ग्रन्थ बड़े महत्व का इसलिए हुआ कि भाष्य में वसुबन्धु ने जगह जगह पर अपने पूर्ववर्ती विभिन्न आचार्यों का मत दे दिया है। बौद्ध-संसार पर इस ग्रन्थ का बड़ा प्रभाव है। इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं, किन्तु मूल संस्कृत लुप्त हो गया था। लुई द ला वली पूसें ने चीनी से फ्रेंच अनुवाद किया। अपने अनुवाद में पूसें ने घोर परिश्रम करके अपनी टिप्पणियों में समस्त त्रिपिटक, स्थविरवाद तथा अन्य बौद्ध-दार्शनिकों का तुलनार्थ उद्धरण दे दिया है। इन टिप्पणियों ने 'अभिधर्मकोश' को बौद्ध-दर्शन का और भी बृहत्तर कोश बना दिया है। आचार्यजी ने १० जिल्दों के इस ग्रन्थ का अविकल अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ के अनुवाद की सबसे बड़ी विशेषता बौद्धदर्शन के भाषा-सम्बन्धी वातावरण की सुरक्षा है। इस हिन्दी ग्रन्थ का अपने मूल संस्कृत की ही भाँति अशिथिल वाक्यावलियों में धाराप्रवाह पाठ किया जा सकता है। भाषा के कारण यह बौद्ध-वातावरण से कहीं भी च्युत नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ का अनुवाद आचार्य नरेन्द्रदेव के बौद्धदर्शन के पाण्डित्य का ज्वलन्त प्रमाण है। इस ग्रन्थ के अध्ययन के बिना बौद्धदर्शन का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहता है। आचार्यजी ने इसका अनुवाद कर बौद्धदर्शन के प्रौढ़ अध्ययन का द्वार खोल दिया है। महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन के प्रयास से इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत भाग भी उपलब्ध हो गया है। आचार्यजी उस मूल से इस ग्रन्थ को मिलाकर चीनी अनुवाद और फ्रेंच अनुवाद की सम्भावित त्रुटियों का निराकरण कर लेना चाहते थे और वे अपनी विस्तृत भूमिका में पूसें के बाद इस क्षेत्र में हुए कार्यों

का सारांश भी दे देना चाहते थे, किन्तु अस्वस्थता और काल ने इसे संभव नहीं होने दिया। इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी आचार्यजी ने किया है।

आचार्यजी ने विज्ञानवाद के महत्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है। वसुबन्धु ने 'त्रिंशिका' नामक ग्रंथ लिखा। हुेनसांगने 'त्रिंशिका' पर 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' नामक टीका चीनी भाषा में लिखी है। पूसें ने इस ग्रंथ का फ्रेंच में अनुवाद प्रकाशित किया था। इस बड़े ग्रंथ का महत्व इसमें है कि त्रिंशिका के पूर्ववर्ती दश टीकाकारों का मत दिया गया है। इस एक ग्रंथ के अध्ययन से ही विज्ञानवाद के समस्त आचार्यों के मतों का कथितार्थ ज्ञात हो जाता है। आचार्य जी ने इसका हिन्दी अनुवाद करके विज्ञानवाद के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इसके अतिरिक्त पालिग्रंथ 'अभिधम्मत्थसंगहो' का भी अनुवाद किया था। उन्होंने क्षेमेन्द्र के प्राकृत व्याकरण का भी हिन्दी अनुवाद किया और उस पर अपनी खोजपूर्ण टिप्पणी भी लिखी। पालि व्याकरण के ज्ञान के लिए भी एक सुन्दर नोट तैयार किया था, किंतु इनके ये दोनों कार्य कुछ दिन पहले ही लापता हो गये थे।

आचार्य जी की यह प्रबल अभिलाषा थी कि बौद्ध दर्शन की फ्रेंच कृतियों का अनुवाद करके बौद्ध दर्शन के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया जाय। उनके निधन से राजनीति के क्षेत्र में चाहे जितनी बड़ी क्षति हुई हो किन्तु बौद्धदर्शन के विषय की निश्चय ही अपूरणीय क्षति हुई है। देश-विदेश में पालि और बौद्धदर्शन के संबन्ध में शिक्षा संस्थाओं या विद्वानों के द्वारा जो-जो कार्य होते थे, उन सबसे वे सदा परिचित रहते थे; बौद्ध न्याय का अध्ययन उन्होंने नहीं किया था। 'बौद्धधर्म और दर्शन' नामक अपने ग्रन्थ में न्याय का अध्याय न देने से अपूर्णता आ रही थी। इधर वर्षों से लगातार रोगाक्रान्त थे, फिर भी उन्होंने बौद्ध न्याय के मूल ग्रन्थों को और श्चेरबात्स्की के 'बुद्धिस्ट लॉजिक' तथा अनेक फ्रेंच ग्रन्थों का घोर अध्ययन कर उस अध्याय को लिख कर ग्रन्थ पूर्ण किया। बौद्ध न्याय के इस अध्याय ने आचार्यजी पर अवश्य ही निर्मम प्रहार किया। जब जब इस कार्य में उन्होंने अपने को लगाया तब तब रोगों के बड़े-बड़े आक्रमण हुए। मृत्युशय्या पर लेटे-लेटे ही उन्होंने 'बौद्धदर्शन' के एक हजार पारिभाषिक शब्दों के कोश के निर्माण का कार्य भी प्रारंभ किया था। पेरुंदुराई के विश्रामकाल में उन्होंने चार सौ शब्दों का व्याख्यात्मक कोश लिखा। मृत्यु ने इस महत्व पूर्ण संकल्प को पूरा नहीं होने दिया।

जो कुछ हो, आचार्यजी ने अपने ग्रन्थों एवं निबन्धों से बौद्धदर्शन के अध्ययन का मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त कर दिया है। इस क्षेत्र के विद्वान उनके सदा ऋणी रहेंगे।

जगतगंज काशी

जगन्नाथ उपाध्याय

मेरे संस्मरण

[आचार्य जी के जीवन का संक्षिप्त विवरण, उन्हीं के शब्दों में लिखा हुआ]

मेरा जन्म संवत् १९४६ में कार्तिक शुक्ल अष्टमी को सीतापुर में हुआ था। हम लोगों का पैतृक घर फैजाबाद में है, किंतु उस समय मेरे पिता श्री बलदेव प्रसाद जी सीतापुर में वकालत करते थे। हमारे खानदान में सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। अवध में अंग्रेजी हुकूमत सन् १८५६ में कायम हुई। इस कारण अवध में अंग्रेजी शिक्षा का आरंभ देर से हुआ। मेरे बाबा का नाम बाबू सोहनलाल था। वे पुराने कैनिंग कालेज में अध्यापक का कार्य करते थे। उन्होंने मेरे पिता और मेरे ताऊ को अंग्रेजी की शिक्षा दी। पिता जी ने कैनिंग कालेज से एफ० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आंखों की बीमारी के कारण वे बी० ए० नहीं कर सके। मेरे बाबा उनको कानून की पुस्तकें सुनाया करते थे और सुन सुन कर ही उन्होंने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वे सीतापुर में बाबा के शिष्य मुंशी मुरलीधर जी के साथ वकालत करने लगे। दोनों सगे भाई की तरह रहते थे। दोनों की आमदनी और खर्च एक ही जगह से होते थे। मुंशी जी के कोई सन्तान न थी। वे अपने भतीजे और बड़े भाई को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग दो वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्यु हो जाने के कारण पिता जी को सीतापुर छोड़ना पड़ा और वे फैजाबाद में वकालत करने लगे।

जब वे सीतापुर में थे, तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गयी थी। किसी संन्यासी के प्रभाव में आने से ऐसा हुआ था। वे बड़े दानशील और सात्विक वृत्ति के थे। वेदान्त में उनकी बड़ी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उनको अच्छा ज्ञान था। वे संन्यासियों का सत्संग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, उस समय फारसी का प्रचलन था। किन्तु अपनी संस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया था। वे एक नामी वकील थे, किंतु वकालत के अतिरिक्त भी उनकी अनेक दिलचस्पियां थीं। बालकों के लिए उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी और फारसी में पाठ्यपुस्तकें लिखी थीं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कई संग्रह-ग्रंथ भी प्रकाशित किये थे। अंग्रेजी की ग्रामर तो उन्होंने मेरे बड़े भाई को पढ़ाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारंभ इन्हीं पुस्तकों से हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग लगाने का बड़ा शौक था। हमारे घरपर एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। जब मैं बड़ा हुआ तो गर्मी की छुट्टियों में इनकी देख भाल भी किया करता था। मैं ऊपर कह चुका हूं कि मेरे पिता जी धार्मिक थे। और इस नाते सनातन धर्म के उपदेशक, संन्यासी और पण्डित मेरे घरपर प्रायः आया करते थे, किंतु पिता जी कांग्रेस और सोशल

कान्फरेन्स के कामों में भी थोड़ी बहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पण्डित कालीदीन अवस्थी। वे हम भाई-बहनों को हिंदी, गणित और भूगोल पढ़ाया करते थे। पिता जी मुझसे विशेष रूप से स्नेह करते थे। वे भी मुझे नित्य आध घण्टा पढ़ाया करते थे। मैं उनके साथ प्रायः कचहरी जाया करता था। मुझे याद है कि वे मुझे अपने साथ एक बार दिल्ली ले गये थे। वहाँ भारत धर्ममहामण्डल का अधिवेशन हुआ था। उस अवसर पर पण्डित दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उसके मूल्य को आंकने की मुझमें बुद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्मा जी की उस समय बड़ी प्रसिद्धि थी।

मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी महाभारत पढ़ा। इनके अतिरिक्त बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, सूरसागर आदि पुस्तकें भी पढ़ीं। उस समय चन्द्रकान्ता की बड़ी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को १६ बार पढ़ा होगा। चन्द्रकान्ता सन्तति को, जो २४ भाग में है, एक बार पढ़ा था। न मालूम कितने लोगों ने चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित् इन्हीं पुस्तकों का पठन-पाठन हुआ करता था। १० वर्ष की उम्र में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिता के साथ नित्य मैं संध्या-वन्दन और भगवद्गीता का पाठ करता था। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझको एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कण्ठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघुकौमुदी भी पढ़ी थी। जब मैं १० वर्ष का था अर्थात् सन् १८९९ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिताजी डेलीगेट थे। मैं भी उनके साथ गया था। उस समय डेलीगेट का 'बैज' होता था कपड़े का फूल। मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल बनवा लिया और उसको लगा कर अपने चचाजाद भाई के साथ 'विजिटर्स गैलरी' में जा बैठा। उस ज़माने में प्रायः भाषण अंग्रेजी में ही होते थे और यदि हिंदी में होते तब भी मैं कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवा शोरगुल मचाने के मैं कर ही क्या सकता था। दर्शकों ने तंग आकर मुझे डांटा और पण्डाल से भाग कर मैं बाहर चला आया। उस समय मैं कांग्रेस के महत्व को क्या समझ सकता था। किन्तु इतना मैं जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्री रमेशचन्द्र दत्त और जस्टिस रानाडे देश के बड़े नेताओं में से हैं। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार वहीं किया। रानाडे महाशय की तो सन् १९०१ में मृत्यु हो गई। दत्त महाशय का दर्शन दोबारा सन् १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर हुआ।

मैं सन् १९०२ में स्कूल में भरती हुआ। सन् १९०४ या १९०५ में मैंने थोड़ी बंगला सीखी और मेरे अध्यापक मुझको कृत्तिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिताजी का मेरे जीवन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार किया करो, उनको गाली-गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियों में सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक बार मुझे याद है कि अयोध्या में कोई मेला था। मैंने शौकिया सिगरेट की एक डिबिया खरीदी। सिगरेट जलाकर जो पहला कश खींचा तो सिर घूमने लगा। इलायची पान खाने पर तबीयत सँभली। मुझे आश्चर्य हुआ कि

लोग क्यों सिगरेट पीते हैं। मैंने उस दिन से आज तक सिगरेट नहीं छुआ। हाँ, श्वांस के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्ट्रेमोनियम के सिगरेट पीने पड़े हैं। मेरे पिता सदा आदेश दिया करते थे कि कभी झूठ न बोलना चाहिये। मुझे इस संबन्ध में एक घटना याद आती है। मैं बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामू को पूछते हुए आये। मैं घर के अन्दर गया। मामू से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होंने कहा कि जाकर कह दो कि घर में नहीं हैं। मैंने उनसे यह सन्देश ज्यों का त्यों कह दिया। मेरे मामू बहुत नाराज हुए। मैं अपनी लिंघाई में यह भी न समझ सका कि मैंने कोई अनुचित काम किया है। इससे कोई यह नतीजा न निकाले कि मैं बड़ा सत्यवादी हूँ। किन्तु इतना सच है कि मैं झूठ कम बोलता हूँ। ऐसा जब कभी होता है तो लज्जित होता हूँ और बहुत देर तक सन्ताप बना रहता है। पिताजी की शिक्षा चेतावनी का काम करती है। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे यहाँ अक्सर साधु-संन्यासी और उपदेशक आया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पण्डित माधवप्रसाद मिश्र। वे महीनों हमारे घर पर रहा करते थे। वे बंगला भाषा अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने 'देशेर कथा' का हिन्दी में अनुवाद किया था। यह पुस्तक जब्त कर ली गई थी। वे हिन्दी के बड़े अच्छे लेखक थे। वे राष्ट्रीय विचार के थे। मैं इनके निकट संपर्क में आया। मेरा घर का नाम 'अविनाशीलाल' था। पुराने परिचित आज भी इसी नाम से पुकारते हैं। मिश्रजी पर बंगला भाषा का अच्छा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने हम सब भाइयों के नाम बदल दिये। उन्होंने ही मेरा नाम 'नरेन्द्रदेव' रखा। सनातन धर्म पर प्रायः व्याख्यान मेरे घर पर हुआ करते थे। सन् १९०६ में जब मैं एण्ट्रेंस में पढ़ता था, स्वामी रामतीर्थ का फैजाबाद आना हुआ और हमारे अतिथि हुए। उस समय वे केवल दूध पर रहते थे। शहर में उनका एक व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदान्त पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरे पर बड़ा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा और बाद को मैंने उनके ग्रन्थों का अध्ययन किया। वे हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्रजी ने उनसे कहा कि संन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता, इतना कहना था कि वे अपना सारा सामान छोड़कर चले गये और पहाड़ से उनकी चिट्ठी आई कि 'राम खुश है'।

हमारे स्कूल में एक बड़े योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था—श्री दत्तात्रेय भीकाजी रानाडे। उनका मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके पढ़ाने का ढंग निराला था। उस समय मैं ८ वीं कक्षा में था। किन्तु अंग्रेजी व्याकरण में हमारे दर्जे के विद्यार्थी १० वीं कक्षा के विद्यार्थियों के कान काटते थे। मैं अपनी कक्षा में सर्वप्रथम हुआ करता था। मेरे गुरुजन भी मुझसे प्रसन्न रहा करते थे। किन्तु संस्कृत के पण्डित महाशय अकारण मुझसे और मेरे सहपाठियों से नाराज हो गये और उन्होंने वार्षिक परीक्षा में हम लोगों को फेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग बड़े परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के अध्यापक मास्टर राधेरमणलाल स्कूल-लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था। अपने जीवन में एक बार वह विरक्त हो गये थे। इनके घर पर हम लोग प्रायः जाया

करते थे। यह अपने विद्यार्थियों को बहुत मानते थे। लाइब्रेरी की कुंजी मेरे सुपुर्द थी और मैं ही पुस्तकें निकाल कर दिया करता था। मुझे याद आया कि पण्डित जी दो वर्ष के कैलेण्डर अपने नाम ले गये हैं। खयाल आया कहीं इन्हीं वर्षों के एण्ट्रेंस के प्रश्नपत्र से प्रश्न न पूछ बैठें। मैंने अपने सहपाठियों के साथ बैठकर उन प्रश्नपत्रों को हल किया। देखा गया कि उन्हीं प्रश्नपत्रों से सब प्रश्न पूछे गये हैं। परीक्षा भवन में पंडित जी ने मुझसे पूछा कि कहो कैसा कर रहे हो? मैंने उत्तेजित होकर कहा कि जीवन में ऐसा अच्छा परचा कभी नहीं किया। उन्होंने कोर्स के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे। मुझे विवश होकर ५० में से ४६ अंक देने पड़े और कोई भी विद्यार्थी फेल नहीं हुआ। यदि मैं लाइब्रेरियन महाशय का सहायक न होता तो अवश्य फेल हो गया होता।

सन् १९०५ में पिताजी के साथ मैं बनारस कांग्रेस में गया। पिताजी के सम्पर्क में आने से मुझे भारतीय संस्कृति से प्रेम हो गया था। यह मौखिक प्रेम था। उसका ज्ञान तो कुछ था नहीं, किन्तु इसी कारण आगे चलकर मैंने एम० ए० में संस्कृत ली। सन् १९०४ में पूज्य मालवीय जी फैजाबाद आये थे। भारतधर्म महामंडल से संबन्ध होने के नाते वह मेरे पिताजी से मिलने घर पर आये। गीता के एकाध अध्याय सुने। वे मेरे शुद्ध उच्चारण से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एन्ट्रेंस पास कर प्रयाग आना और मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहना। पूज्य मालवीय जी के दर्शन प्रथम बार हुए थे। उनका सौम्य चेहरा और मधुर भाषण अपना प्रभाव डाले बिना रहता नहीं था। यद्यपि मैंने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में नाम लिखाने का विचार किया था, किन्तु साथियों के कारण उस विचार को छोड़ना पड़ा। एन्ट्रेंस पासकर मैं इलाहाबाद पढ़ने गया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगा। मेरे ३–४ सहपाठी थे। हमको एक बड़े कमरे में रखा गया। छात्रावास में रहने का यह पहला अवसर था।

बंग भंग के कारण कांग्रेस में एक नये दल का जन्म हुआ था, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे। उस समय तक मेरे कोई खास राजनीतिक विचार न थे, किन्तु कांग्रेस के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। मैं सन् १९०५ में दर्शक के रूप में कांग्रेस में शरीक हुआ था। प्रिंस आव वेल्स भारत आने वाले थे और उनका स्वागत करने के लिये एक प्रस्ताव गोखले ने कांग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उसका घोर विरोध किया। अन्त में दबाव में उसे वापिस ले लिया, किन्तु उस समय पण्डाल से बाहर चले आये। विरोध की यह पहली ध्वनि सुनायी पड़ी। सन् १९०६ में कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। प्रयाग आने पर मेरे विचार तेजी से बदलने लगे। हिन्दू-बोर्डिंग हाउस उग्र विचारों का केन्द्र था। पण्डित सुन्दरलालजी उस समय विद्यार्थियों के अगुवा थे। अपने राजनीतिक विचारों के कारण वे विश्वविद्यालय से निकाले गये। उस समय बोर्डिंग-हाउस में रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्दी गरम दल के विचार का हो गया। हममें से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन में शरीक हुए। रिपन कालेज में हम लोग ठहराये गये। नरम गरम दल का संघर्ष चल रहा था और यदि श्री दादाभाई

नौरोजी सभापति न होते तो वहीं दो टुकड़े हो गये होते। उनके कारण यह संकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधान अंग थे स्वदेशी-विदेशी माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। कांग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी बातचीत थी। दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण में 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया और इस शब्द को लेकर दोनों दल में विवाद खड़ा हो गया। यद्यपि पुराने नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इससे विद्वेष और घर्षों का भाव फैलता है, तथापि बंगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पड़ा।

जापान की विजय से एशिया में जन जागृति का आरम्भ हुआ। एशिया वासियों ने अपने खोये हुए आत्म-विश्वास को फिर से पाया और अंग्रेजों की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था वह उठने लगा। इस पीढ़ी का अंग्रेजी शिक्षितवर्ग समझता था कि अंग्रेज हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और जब हमको शासन के कार्य में दक्ष बना देगा, तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंपकर चला जायगा। बिना इस विश्वास को दूर किये राजनीति में प्रगति आ नहीं सकती थी। लोकमान्य ने यही काम किया। इस नये दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते में की गयी। इसकी ओर से कलकत्ते में दो सभाएँ हुईं। एक सभा बड़ा बाजार में हुई थी। उसमें भी मैं मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमें सब भाषण हिन्दी में हुए थे। श्री विपिन-चन्द्रपाल और लोकमान्य तिलक भी हिन्दी में बोले थे। श्री पाल को हिन्दी बोलने में कोई विशेष कठिनाई नहीं प्रतीत हुई, किन्तु लोकमान्य की हिंदी टूटी फूटी थी। बड़ा बाजार में उत्तर भारत के लोग अधिकतर रहते हैं। उन्हीं की सुविधा के लिए हिन्दी में ही भाषण कराये गए थे। बंगाल में इस नये दल का अच्छा प्रभाव था। कलकत्ते की कांग्रेस के बाद संयुक्त प्रांत को सर करने के लिए दोनों दलों में होड़ लग गयी। प्रयाग में दोनों दलों के बड़े नेता आये और उनके व्याख्यानों को सुनने का मुझे अवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य आये। उनके स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पर गये। उनकी सभा का आयोजन थोड़े से विद्यार्थियों ने किया था। शहर के नेताओं में से कोई उनके स्वागत के लिए नहीं गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोड़ा गाड़ी लाये थे। हम लोगों ने घोड़ा खोल कर स्वयं गाड़ी खींचने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। लोकमान्य के शब्द थे—'इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिये।' एक वकील साहब के अहाते में उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गये हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाजत दे दी थी। हम लोगों ने दरी बिछायी। एक विद्यार्थी ने 'बन्दे मातरम्' गाना गाया और अंग्रेजी में भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क और युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण में हास्य-रस का भी पुट रहता था। किन्तु वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता करता है। तो क्या तुम समझते हो कि अंग्रेज ईश्वर से भी बड़ा है? इसके कुछ दिनों बाद श्री गोखले आए और उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला में हुए। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर हम और टैक्स देना भी बन्द

कर सकते हैं। इसके बाद श्री विपिनचन्द्र पाल आए और उनके ४ ओजस्वी व्याख्यान हुए। इस तरह समय समय पर किसी न किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपतराय और हैदररजा भी आए। नरम दल के नेताओं में केवल श्री गोखले का कुछ प्रभाव हम विद्यार्थियों पर पड़ा। हम लोगों ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के अखबार मगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वन्दे मातरम्' आता था, जिसे हम बड़े चाव से पढ़ा करते थे। इसके लेख बड़े प्रभावशाली होते थे। श्री अरविन्द घोष इसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा जो मैंने न पढ़ा हो और जिसे दूसरों को न पढ़ाया हो। पाण्डिचेरी जाने के बाद भी उनका प्रभाव कायम रहा और मैं 'आर्य' का वर्षों ग्राहक रहा। बहुत दिनों तक यह आशा थी कि वह साधना पूर्ण करके बंगाल लौटेंगे और राजनीति में पुनः प्रवेश करेंगे। सन् १९२१ में उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गयी थी, किन्तु उन्होंने अपने भाई बीरेन्द्र को लिखा कि सन् १९०८ के अरविंद को बंगाल चाहता है, किन्तु मैं सन् १९०८ का अरविंद नहीं रहा। यदि मेरे ढंग के ९९ भी कभी तैयार हो जायँ तो मैं आ सकता हूँ। बहुत दिनों तक मुझे यह आशा बनी रही, किन्तु अन्त में जब मैं निराश हो गया तो उधर से मुँह मोड़ लिया। उनके विचारों में ओज के साथ-साथ सचाई थी। प्राचीन संस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसन्द आते थे। उनका जीवन बड़ा सादा था। जिन्होंने अपनी पत्नी को लिखे उनके पत्र पढ़े हैं, वे इसको जानते हैं। उनके सादे जीवन ने मुझको बहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल अपनी छात्रवृत्ति को छोड़कर विलायत से लौट आये थे। उन्होंने सरकारी विद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा प्रणाली का विरोध किया था और 'हमारी शिक्षा-समस्या' पर १४ लेख पंजाबी में लिखे। उनके प्रभाव में आकर पंजाब के कुछ विद्यार्थियों ने पढ़ना छोड़ दिया था। उनके पढ़ाने का भार उन्होंने स्वयं लिया था। ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। हरदयालजी बड़े प्रतिभाशाली थे और उनका विचार था कि कोई बड़ा काम बिना कठोर साधना के नहीं होता। एडविन् आरनोल्ड की 'लाइट आफ एशिया' को पढ़कर वह बिलकुल बदल गए थे। विलायत में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा का उन पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किए थे। इन सूचियों की पुस्तकों को पढ़ना मैंने आरम्भ किया। उग्र विचार के विद्यार्थी उस समय रूस-जापान युद्ध, गैरीबाल्डी और मैजनी पर पुस्तकें और रूस के आतंकवादियों के उपन्यास पढ़ा करते थे। सन् १९०७ में प्रयाग से रामानन्द बाबू का 'माडर्न रिव्यू' भी निकलने लगा। इसका बड़ा आदर था। उस समय हम लोग प्रत्येक बंगाली नवयुवक को क्रान्तिकारी समझते थे। बंगला-साहित्य में इस कारण और भी रुचि उत्पन्न हो गयी। मैंने रमेशचन्द्रदत्त और बंकिम के उपन्यास पढ़े और बंगला-साहित्य थोड़ा बहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत में हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नहीं खरीदते थे। माघ-मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय म्योर कालेज के प्रिंसिपल जेनिंग्स साहब थे। वह कट्टर एंग्लो-इण्डियन थे। हमारे छात्रावास में एक विद्यार्थी के कमरे में खुदीराम बसु की तसवीर थी। किसी ने प्रिंसिपल

को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आये और सीधे मेरे मित्र के कमरे में गए। मेरे मित्र कालेज से निकाल दिये गये, किन्तु श्रीमती एनी बेसेण्ट ने उनको हिन्दू कालेज में भरती कर लिया।

धीरे-धीरे हम में से कुछ का क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध होने लगा। उस समय कुछ क्रान्तिकारियों का विचार था कि आई० सी० एस० में शामिल होना चाहिये, ताकि क्रान्ति के समय हम जिले का शासन सम्भाल सकें। इस विचार से मेरे ४ साथी इङ्गलैण्ड गये। मैं भी सन् १६११ में जाना चाहता था, किन्तु माताजी की आज्ञा न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् १६०७ में सूरत में फूट पड़ चुकी थी और कांग्रेस के गरम दल के लोग निकल आये थे। कन्वेन्शन बुलाकर कांग्रेस का विधान बदला गया। इसे गरम दल के लोग कन्वर्शन कांग्रेस कहते थे। गवर्नमेण्ट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नेता जेल में डाल दिए गए। कुछ समय को प्रतिकूल देख भारत से बाहर चले गये और लन्दन, पेरिस, जिनेवा और बर्लिन में क्रांति के केन्द्र बनाने लगे और वहाँ से ही साहित्य प्रकाशित होता था। मेरे जो साथी विलायत पढ़ने गये थे, वह इस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। श्री सावरकर की 'वार आफ इण्डियन इनडिपेण्डेन्स' की एक प्रति भी मेरे पास आयी थी। और मुझे बराबर हरदयाल का 'बन्दे मातरम्', बर्लिनका 'तलवार' और पेरिस का 'इण्डियन सोशलाजिस्ट' मिला करता था। मेरे दोस्तों में से एक सन् १६०८ की लड़ाई में जेल में बन्द कर दिये गये थे तथा अन्य दोस्त केवल बैरिस्टर होकर लौट आये। मैंने सन् १६०८ के बाद से कांग्रेस के अधिवेशनों में जाना छोड़ दिया, क्योंकि हम लोग गरम दल के साथ थे। यहाँ तक कि जब कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग में हुआ, तब भी हम उसमें नहीं गये। सन् १६१६ में जब कांग्रेस में दोनों दलों का मेल हुआ तब हम फिर कांग्रेस में आ गए।

बी० ए० पास करने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आया कि मैं क्या करूं। मैं कानून पढ़ना नहीं चाहता था, मैं प्राचीन इतिहास में गवेषणा करना चाहता था। म्योर कालेज में भी अच्छे-अच्छे अध्यापकों के सम्पर्क में आया। डाक्टर गंगानाथ झा की मुझपर बड़ी कृपा थी। बी० ए० में प्रोफेसर ब्राउन से इतिहास पढ़ा। भारत के मध्ययुग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे। पढ़ाते भी अच्छा थे। उन्हीं के कारण मैंने इतिहास का विषय लिया। बी० ए० पास कर मैं पुरातत्व पढ़ने काशी चला गया। वहाँ डाक्टर वेनिस और नारमन ऐसे सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वींस कालेज में जो अंग्रेज अध्यापक आते थे, वह संस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डाक्टर वेनिस ऐसा पढ़ाने वाला कम होगा। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बड़ी श्रद्धा थी। जब मैं क्वींस कालेज में था, तब वहां श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुआ। विदेश से आने वाला साहित्य वह मुझसे ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रान्तिकारियों के समाचार मिलते रहते थे। मेरी इन लोगों के साथ बड़ी सहानुभूति थी। किन्तु मैं डकैती आदि के सदा विरुद्ध था। मैं किसी भी क्रान्तिकारी दल का सदस्य न था। किंतु उनके कई नेताओं

से परिचय था। वे मुझपर विश्वास करते थे और समय समय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् १९१३ में जब मैंने एम॰ ए॰ पास किया तब मेरे घरवालों ने वकालत पढ़ने का आग्रह किया। मैं इस पेशे को पसन्द नहीं करता था, किन्तु जब पुरातत्व-विभाग में स्थान न मिला, तब इस विचार से कि वकालत करते हुए मैं राजनीति में भाग ले सकूंगा, मैंने कानून पढ़ा।

सन् १९१५ में मैं एल॰-एल॰ बी॰ पास कर वकालत करने फैजाबाद आया। मेरे विचार प्रयाग में परिपक्व हुए और वहीं मुझको एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग से एक प्रकार का आध्यात्मिक संबन्ध है। मेरे जीवन में सदा दो प्रवृत्तियाँ रही हैं—एक पढ़ने लिखने की ओर, दूसरी राजनीति की ओर। इन दोनों में संघर्ष रहता है। यदि दोनों की सुविधा एक साथ मिल जाती है तो मुझे बड़ा परितोष रहता है और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ में मिली। इसी कारण वह मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा है जो विद्यापीठ की सेवा में व्यतीत हुआ और आज भी उसे मैं अपना कुटुंब समझता हूँ।

सन् १९१४ में लोकमान्य मंडले जेल से रिहा होकर आए और अपने सहयोगियों को फिर से एकत्र करने लगे। श्रीमती बेसेण्ट का उनको सहयोग प्राप्त हुआ और होमरूल लीग की स्थापना हुई। सन् १९१६ में हमारे प्रांत में श्रीमती बेसेण्ट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस संबन्ध में लोकमान्य से बातें कीं और उनकी लीग की एक शाखा फैजाबाद में खोलना चाहा, किन्तु उन्होंने यह कहकर मना किया कि दोनों के उद्देश्य एक हैं, दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा कायम की गयी किसी संस्था में शरीक नहीं होना चाहते और कुछ लोग श्रीमती बेसेण्ट द्वारा स्थापित किसी स्थान में नहीं रहना चाहते। मैंने लीग की शाखा फैजाबाद में खोली और उसका मन्त्री चुना गया। इसकी ओर से प्रचार का कार्य होता था और समय समय पर सभाओं का आयोजन होता था। मेरा सबसे पहला भाषण अलीबन्धुओं की नजर-बन्दी का विरोध करने के लिए आमन्त्रित सभा में हुआ था। मैं बोलते हुए बहुत डरता था, किन्तु किसी प्रकार बोल गया और कुछ सज्जनों ने मेरे भाषण की प्रशंसा की। इससे मेरा उत्साह बढ़ा और फिर धीरे-धीरे संकोच दूर हो गया। मैं सोचता हूँ कि यदि मेरा पहला भाषण बिगड़ गया होता तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

मैं लीग के साथ साथ कांग्रेस में भी था और बहुत जल्दी उसकी सब कमेटियों में बिना प्रयत्न के पहुँच गया। महात्मा जी के राजनीतिक क्षेत्र में आने से धीरे धीरे कांग्रेस का रूप बदलने लगा। आरंभ में वह कोई ऐसा हिस्सा नहीं लेते थे, किन्तु सन् १९१९ से वह प्रमुख भाग लेने लगे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर जब महात्माजी ने असहयोग आन्दोलन चलाना चाहा तो असहयोग के कार्यक्रम के संबन्ध में लोकमान्य से उनका मत भेद था। जून १९२० में काशी में ए॰ आई॰ सी॰ सी॰ की बैठक के समय मैं इस संबन्ध में लोकमान्य से

बातें कीं। उन्होंने कहा कि मैंने अपने जीवन में कभी सरकार के साथ सहयोग नहीं किया; प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका वह पुराना विश्वास नहीं रह गया था और उनका ख्याल था कि प्रोग्राम ऐसा हो जिस पर जनता चल सके। वह कौंसिलों के बहिष्कार के खिलाफ थे। उनका कहना था कि यदि आधी भी जगहें खाली रहें तो यह ठीक है, किन्तु यदि वहाँ जगहें भर जायँगी तो अपने को प्रतिनिधि कहकर सरकार-परस्त लोग देश का अहित करेंगे।

उनका एक सिद्धान्त यह भी था कि कांग्रेस में अपनी बात रखो और अन्त में जो उसका निर्णय हो उसे स्वीकार करो। मैं तिलक का अनुयायी था, इसलिए मैंने कांग्रेस में कौंसिल-बहिष्कार के विरुद्ध वोट दिया, किन्तु जब एक बार निर्णय हो गया तो उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे में मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन में जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया तो उसके अनुसार मैंने तुरन्त वकालत छोड़ दी। इस निश्चय में मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नहीं किया क्योंकि मैं कांग्रेस के निर्णय से अपने को बंधा हुआ मानता था। मैंने अपने भविष्य का भी खयाल नहीं किया। पिता जी से एक बार पूछना चाहा, किंतु यह सोचकर कि यदि उन्होंने विरोध किया तो मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन न कर सकूंगा, मैंने उनसे भी अनुमति नहीं मांगी। किंतु पिताजी को जब पता चला तो उन्होंने कुछ आपत्ति न की। केवल इतना कहा कि तुमको अपनी स्वतंत्र जीविका की कुछ फिक्र करनी चाहिये और जब तक जीवित रहें, मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होने दो। असहयोग आंदोलन के शुरू होने के बाद एक बार पण्डित जवाहरलाल फैजाबाद आये और उन्होंने मुझसे कहा कि बनारस में विद्यापीठ खुलने जा रहा है। वहां लोग तुम्हें चाहते हैं। मैंने अपने प्रिय मित्र श्री शिवप्रसाद जी को पत्र लिखा। उन्होंने मुझे तुरंत बुला लिया। शिवप्रसाद जी मेरे सहपाठी थे और विचार-साम्य होने के कारण मेरी उनकी मित्रता हो गयी। वह बड़े उदार हृदय के व्यक्ति थे। दानियों में मैंने उन्हीं को एक पाया जो नाम नहीं चाहते थे। क्रांतिकारियों की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम में मेरा मन लग गया। श्रद्धेय डाक्टर भगवानदास जी ने मुझपर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्हीं की देख रेख में मैं काम करने लगा। मैं दो वर्ष तक छात्रावास में ही विद्यार्थियों के साथ रहता था। एक कुटुम्ब-सा था। साथ-साथ हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची में जब अलीबन्धुओं को सजा हुई थी, तब हम सब बनारस के गाँवों में प्रचार के लिए गये थे। अपना-अपना बिस्तर बगल में दबा, नित्य पैदल घूमते थे। सन् १६२६ में डाक्टर साहब ने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया और मुझे अध्यक्ष बना दिया। बनारस में मुझे कई नये मित्र मिले। विद्यापीठ के अध्यापकों से मेरा बड़ा मीठा सम्बन्ध रहा। श्री श्रीप्रकाशजी से मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह अत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गये। उन्होंने मुझे आचार्य कहना शुरू किया, यहाँ तक कि वह मेरे नाम का एक अंग बन गया है। सबसे वह मेरी प्रशंसा करते रहते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलाल जी से होमरूल आंदोलन के समय से था, तथापि श्री श्रीप्रकाश जी द्वारा उनसे तथा गणेश जी से मेरी घनिष्ठता

हुई। मैं उनके घर में महीनों रहा हूं। वह मेरी सदा फिक्र उसी तरह किया करते हैं जैसे माता अपने बालक की। मेरे बारे में उनकी राय है कि मैं अपनी फिक्र नहीं करता हूं, शरीर के प्रति बड़ा लापरवाह हूं। मेरे विचार चाहे उनसे मिलें या न मिलें उनका स्नेह घटता नहीं। रियासती दोस्ती पायदार नहीं होती, किन्तु विचारों में अन्तर होते हुए भी हम लोगों के स्नेह में फर्क नहीं पड़ा है। पुराने मित्रों से वियोग दुःखदायी है। किन्तु शिष्टता बनी रहे तो संबन्ध में बहुत अन्तर नहीं पड़ता। ऐसी मिसालें हैं, किंतु बहुत कम।

नेता का मुझमें कोई भी गुण नहीं है। महत्वाकांक्षा भी नहीं है। यह बड़ी कमी है। मेरी बनावट कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हूं और न अन्धभक्त अनुयायी। इसका अर्थ नहीं है कि मैं अनुशासन में नहीं रहना चाहता। मैं व्यक्तिवादी नहीं हूं। नेताओं की दूर से आराधना करता रहा हूं। उनके पास बहुत कम जाता रहा हूं। यह मेरा स्वाभाविक संकोच है। आत्मप्रशंसा सुनकर कौन खुश नहीं होता, अच्छा पद पाकर किसको प्रसन्नता नहीं होती, किंतु मैंने कभी इसके लिए प्रयत्न नहीं किया। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की, किंतु अपने मान्य नेताओं के अनुरोध पर खड़ा होना पड़ा। इसी प्रकार जब पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुझसे कार्यसमिति में आने को कहा, मैंने इनकार कर दिया किंतु उनके आग्रह करने पर मुझे निमंत्रण स्वीकार करना पड़ा।

मैं ऊपर कह चुका हूं कि मैं नेता नहीं हूं। इसलिए किसी नये आंदोलन या पार्टी का आरम्भ नहीं कर सकता। सन् १९३४ में जब जयप्रकाशजी ने समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा और मुझे सम्मेलन का सभापति बनाना चाहा तो मैंने इनकार कर दिया। इसलिए नहीं कि समाजवाद को नहीं मानता था, किन्तु इसलिए कि मैं किसी बड़ी जिम्मेदारी को उठाना नहीं चाहता था। उनसे मेरा काफी स्नेह था और इसी कारण मुझे अन्त में उनकी बात माननी पड़ी। सम्मेलन मई सन् १९३४ में हुआ था। बिहार में भूकम्प हो गया था। उसी सिलसिले में विद्यार्थियों को लेकर काम करने गया था। वहाँ पहली बार डाक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डाक्टर लोहिया और हम इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए। अन्त में हम लोगों की विजय हुई। श्री मेहर अली से एक बार सन् १९२८ में मुलाकात हुई थी। बम्बई के और मित्रों को मैं उस समय तक नहीं जानता था। अपरिचित व्यक्तियों के साथ काम करते मुझको घबराहट होती है, किन्तु प्रसन्नता की बात है कि सोशलिस्ट पार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्ता शीघ्र ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गये।

यों तो मैं अपने सूबे में बराबर भाषण किया करता था, किन्तु अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में मैं पहली बार पटने में बोला। मौलाना मुहम्मद अली ने एक बार कहा था कि बङ्गाली और मद्रासी कांग्रेस में बहुत बोला करते हैं, बिहार के लोग जब औरों को बोलते देखते हैं तो खिसक कर राजेन्द्रबाबू के पास जाते हैं और कहते हैं कि 'रौवां बोली ना,

और यू० पी० के लोग खुद नहीं बोलते और जब कोई बोलता है तो कहते हैं, 'क्या बेवकूफ बोलता है !' हमारे प्रान्त के बड़े-बड़े नेताओं के आगे हम लोगों को कभी बोलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। एक समय पण्डित जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे। किन्तु सन् १९३४ में मुझे पार्टी की ओर से बोलना पड़ा। यदि पार्टी बनी न होती तो शायद मैं कांग्रेस में बोलने का साहस भी नहीं करता।

पण्डित जवाहरलाल जी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी। इस कारण तथा उनके व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा आकर्षण रहा। उनके संबन्ध में कई कोमल स्मृतियाँ हैं। यहाँ केवल एक बात का उल्लेख करता हूँ। हम लोग अहमदनगर के किले में एक साथ थे। एक बार टहलते हुए कुछ पुरानी बातों की चर्चा चल पड़ी। उन्होंने कहा—'नरेन्द्रदेव ! यदि मैं कांग्रेस के आंदोलन में न आता और उसके लिए कई बार जेल की यात्रा न करता तो मैं इन्सान न बनता।' उनकी बहन कृष्णा ने अपनी पुस्तक में जवाहर लाल जी का एक पत्र उद्धृत किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। पण्डित मोतीलाल जी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपनी बहिनों को लिखा कि पिता की संपत्ति मेरी नहीं है, मैं तो सबके लिए उसका ट्रस्टीमात्र हूँ। उस पत्र को पढ़कर मेरी आँखों में आँसू आ गये और मैंने जवाहरलाल जी की महत्ता को समझा। उनको अपने साथियों का बड़ा खयाल रहता है और बीमार साथियों की बड़ी शुश्रूषा करते हैं।

महात्मा जी के आश्रम में चार महीने रहने का मौका मुझे सन् १९४२ में मिला। मैंने देखा कि वे कैसे अपने प्रत्येक क्षण का उपयोग करते हैं। वह रोज आश्रम के प्रत्येक रोगी की पूछ-ताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यकर्ता का खयाल रखते थे। आश्रमवासी अपनी छोटी-छोटी समस्याओं को लेकर उनके पास जाते थे और वह सबका समाधान करते थे। आश्रम में रोग-शय्या पर पड़े-पड़े मैं विचार करता था कि वह पुरुष जो आज के हिन्दू धर्म के किसी नियम को नहीं मानता, वह क्यों असंख्य सनातनी हिन्दुओं का आराध्य देवता बना हुआ है। पण्डित समाज चाहे उनका भले ही विरोध करे, किंतु अपढ़ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं, जब हम जानें कि भारतीय जनता पर श्रमण-संस्कृति का कहीं अधिक प्रभाव पड़ा है। जो व्यक्ति घर-बार छोड़कर निःस्वार्थ सेवा करता है, उसके आचार की ओर हिन्दू जनता ध्यान नहीं देती। पण्डितजन भले ही उसकी निन्दा करें, किन्तु सामान्य जनता उसका सदा सम्मान करती है। अक्तूबर सन् १९४१ में जब मैं जेल से छूटा तब महात्माजी ने मेरे स्वास्थ्य के संबन्ध में मुझसे पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम में बुलाया। मैं महात्मा जी पर बोझ नहीं डालना चाहता था। इसलिए कुछ बहाना कर दिया। पर जब मैं ए० आई० सी० सी० की बैठक में शरीक होने वर्धा गया और वहाँ बीमार पड़ गया, तब उन्होंने रहने के लिए आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्माजी मेरी बड़ी फिक्र रखते थे। एक रात मेरी तबियत बहुत खराब हो गई। जो चिकित्सक नियुक्त थे, घबरा गये, यद्यपि इसके लिए कोई कारण न था। रात को १ बजे बिना मुझे बताये

महात्माजी जगाये गये और वह मुझे देखने आये। वह उनका मौन का दिन था। उन्होंने मेरे लिए मौन तोड़ा। उसी समय मोटर भेजकर वर्धा से डाक्टर बुलाये गये। सुबह तक तबीयत सँभल गई थी। दिल्ली में स्टैफर्ड क्रिप्स वार्तालाप के लिए आये थे। महात्माजी दिल्ली जाना नहीं चाहते थे, किन्तु आग्रह होने पर गये। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के बँटवारे का सवाल किसी न किसी रूप में लावेंगे। इसलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से बराबर फोन से मेरी तबीयत का हाल पूछा करते थे। बा भी उस समय बीमार थीं। इस कारण वे जल्दी लौट आये। जिनके विचार उनसे नहीं मिलते थे, यदि वे ईमानदार होते थे तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे। उस समय महात्माजी सोच रहे थे कि जेल में वह इस बार भोजन नहीं करेंगे। उनके इस विचार को जानकर महादेव भाई बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम भी इस संबन्ध में महात्माजी से बातें करो। डाक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उसी दिन आ गये थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गई। हम दोनों ने बहुत देर तक बातें कीं। महात्माजी ने हमारी बात शान्तिपूर्वक सुनी, किन्तु उस दिन अन्तिम निर्णय न कर सके। बम्बई में जब हम लोग ६ अगस्त को गिरफ्तार हो गये तो स्पेशल ट्रेन में अहमदनगर ले जाये गये। उनमें महात्माजी, उनकी पार्टी और बम्बई के कई प्रमुख लोग थे। नेताओं ने उस समय भी महात्माजी से अन्तिम बार प्रार्थना की कि वह ऐसा काम न करें। किले में भी हम लोगों को सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् ४५ में हम लोग छूटे। मैं जवाहरलालजी के साथ अलमोड़ा जेल से १४ जून को रिहा हुआ। कुछ दिनों के बाद मैं पूना में महात्माजी से मिला। उन्होंने पूछा कि सत्य और अहिंसा के बारे में अब तुम्हारे क्या विचार हैं? मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से आराधना किया करता हूँ, किन्तु इसमें मुझको संदेह है कि बिना कुछ हिंसा के राज्य की शक्ति हम अंग्रेजों से छीन सकेंगे। महात्माजी के संबन्ध में अनेक संस्मरण हैं, किन्तु समयाभाव से हम इससे अधिक कुछ नहीं कहते।

इधर कई वर्ष से कांग्रेस में यह चर्चा चल रही थी कि कांग्रेस में कोई पार्टी नहीं रहनी चाहिए। महात्माजी इसके विरुद्ध थे। देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी मेरी राय थी कि अभी कांग्रेस से अलग होने का समय नहीं है, क्योंकि देश संकट से गुजर रहा है। सोशलिस्ट पार्टी में इस संबन्ध में मतभेद था, किन्तु मेरे मित्रों ने मेरी सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि यदि कांग्रेस ने कोई ऐसा नियम बना दिया जिससे हम लोगों का कांग्रेस में रहना असंभव हो गया तो मैं सबसे पहले कांग्रेस छोड़ दूँगा। कोई भी व्यक्ति, जिसको आत्मसंमान का ख्याल है, ऐसा नियम बनाने पर नहीं रह सकता। यदि ऐसा नियम न बनता और पार्टी कांग्रेस छोड़ने का निर्णय करती तो यह तो ठीक है कि मैं आदेश का पालन करता, किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं कहाँ तक उसके पक्ष में होता। कांग्रेस के निर्णय के बाद मेरे सब सन्देह मिट गए और अपना निर्णय करने में मुझे एक क्षण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन अवसर, जिनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पड़ा है, ऐसे

ही हुए हैं। इन मौकों पर घटनाएँ ऐसी हुईं कि मुझे अपना फैसला करने में कुछ देर न लगी। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गए हैं। शरीर संपत्ति अच्छी नहीं है, किन्तु मन में अब भी उत्साह है। सदा अन्याय से लड़ते ही बीता। यह कोई छोटा काम नहीं है। स्वतंत्र भारत में इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी जिन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि जब मेरी आंखे मुदेंगी, मुझे एक परितोष होगा कि जो काम मैंने विद्यापीठ में किया है, वह स्थायी है। मैं कहा करता हूँ कि यही मेरी पूँजी है और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारोबार चलता है। यह सर्वथा सत्य है।*

* 'जनवाणी' मई, सन् १६४७ ईसवी।

प्रस्तावना

श्री गंगाशरण सिंहजी का आग्रह है कि मैं प्रस्तावना के रूप में आचार्य नरेन्द्रदेवजी की इस अपूर्व पुस्तक पर दो चार शब्द लिख दूँ। इस स्थिति में तो मुझे "कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगू तेली" वाली कहावत याद आती है। एक तरफ आचार्य नरेन्द्रदेवजी ऐसे प्रकांड विद्वान्, विविध विषयों के साधिकार ज्ञाता, सज्जनता के प्रतीक, अद्वितीय लेखक और वक्ता, राष्ट्रनेता, शिक्षक, कहाँ मेरे ऐसा साधारण व्यावहारिक छोटी छोटी बात की उलझनों में सदा पड़ा रहने वाला साधारण पुरुष। हाँ मुझे इस बात का अवश्य अभिमान हो सकता है और है कि मुझे नरेन्द्रदेवजी ने अपनी मित्रता, अपनी सहयोगिता, अपना स्नेह देकर सम्मानित किया और मेरे सामने अपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को सरलता और स्वच्छता से व्यक्त कर मुझे यह अवसर प्रदान किया कि मैं प्रत्यक्ष देख सकूँ कि ऐसे विलक्षण जीव के लिए भी मनुष्य का शरीर धारण करना संभव है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने ठीक ही कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि नरेन्द्रदेवजी में इस दैवी तेजस् का अंश प्रचुरता से विद्यमान था। इनके उठ जाने से वास्तव में संसार से एक नर-रत्न खो गया।

नरेन्द्रदेवजी ने मुझसे यह कई बार कहा कि उनकी प्रवृत्ति दो ही तरफ रहती है— एक तो दर्शन की तरफ और दूसरी राजनीति की तरफ। इन दोनों को वे छोड़ नहीं सकते। इन्हीं की सेवा, ध्यान, साधना, अध्ययन, व्यवहार में उनका जीवन व्यतीत हुआ। सदा इतने अस्वस्थ रहते हुए, राजनीतिक कार्य में सदा लगे रहते हुए, सदा लोगों से मिलते रहते हुए, उन्होंने कहाँ से समय और शक्ति पायी कि अपने में विद्या की इतनी बृहत् राशि एकत्र कर ली, यह सबके ही लिए सदा आश्चर्य की बात बनी रहेगी। मेरा यह उनको समझाना व्यर्थ होता था कि आपको अपने स्वास्थ्य की चिन्ता करनी चाहिये। आपका जीवन हम सबके लिए है, केवल आपके ही लिए नहीं है। यदि आप चले जाएँगे तो दर्शन और राजनीति तो चलती ही रहेगी, पर आपके ऐसा पुरुष हम लोगों को नहीं मिलेगा। वे कहाँ माननेवाले थे, और दर्शन का अध्ययन और राजनीति के कार्य में उन्होंने अपना समय लगाया और अपना प्राण भी दे डाला।

वे सभी प्रकार के दर्शन के विशेषज्ञ थे। किसी भी युग के विचारों के संबन्ध में उनसे बातें की जा सकती थीं और जो कोई उनसे मिलता था वह कुछ अधिक ज्ञान ही लेकर लौटता

था। दर्शनों में उनको बौद्ध दर्शन से विशेष प्रेम था। आज यदि बुद्धदेव का व्यक्तित्व, बौद्ध-धर्म के आराध्य पुरुष और बौद्ध विचार हमारे देश की राजनीति में विशेष स्थान पा रहे हैं और यदि इस कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव भी पड़ रहा है, तो इसका श्रेय नरेन्द्रदेवजी को ही है, यद्यपि उन्होंने स्वयं इसका अनुभव न भी किया हो।

इन्होंने ही प्रथम बार राजनीतिक क्षेत्रों में बौद्ध धर्म और बौद्ध विचारों की चर्चा की जिसका प्रभाव सब पर ही पड़ा क्योंकि उनका आदर और सम्मान महात्मा गान्धीजी से लेकर सभी राष्ट्र नेता और राजनीतिज्ञ करते थे। काशी विद्यापीठ जो कि उनका सबसे बड़ा कार्य क्षेत्र रहा है, उसके तो संपूर्ण वातावरण में नरेन्द्रदेवजी का व्यक्तित्व, इनकी विचार शैली, इनकी कार्य प्रणाली, फैली रहती थी। ये जहाँ ही जाते थे सबको अपनी तरफ चुंबक की तरह आकर्षित कर लेते थे, सभी इनका संमान करते थे, सभी इनकी बातों को सुनने लगते थे। यदि उनका प्रभाव सर्वदेशिक हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

मेरी समझ में इनके ऐसा वक्ता अपने देश में कोई दूसरा नहीं था। कैसी सुन्दर इनकी भाषा थी, कैसे धारा प्रवाह से ये बोलते थे, किस प्रकार से इनके एक वाक्य दूसरे वाक्य से शृंखलाबद्ध रहते थे, यह तो सभी लोग जानते हैं जो उन्हें किसी भी विषय पर कभी भी सुन सके हैं। व्यावहारिक राजनीति लिखने की वस्तु नहीं है, बोलने की ही वस्तु है। इस कारण मेरे हृदय में बड़ा दुःख रह गया कि उनके भाषणों का कोई संग्रह नहीं किया जा सका। यदि वह होता तो राजनीति में वह उत्तमोत्तम साहित्य का स्थान ग्रहण करता और बहुतों को अपने विचारों को शुद्ध करने में सहायक होता और उन्हें समुचित व्यवहार के मार्ग पर चलने को प्रेरित करता। यह बात तो रह गयी। जो उनके भाषणों को सुनते थे वे ऐसे मुग्ध हो जाते थे कि किसी के लिए उनके शब्दों को लिपि-बद्ध करना कठिन होता था। राजनीतिक संमेलनों में अध्यक्ष आदि के पद से जो भाषण देने के लिए वे लिख भी रखते थे, उसे भी वे बोलते समय फेंक देते थे और बोलते ही जाते थे। इन भाषणों को एकत्र न कर संसार ने एक बहुत बड़ी निधि खो दी।

पर दर्शन लिखने की भी चीज है, और मुझे हर्ष है और सन्तोष है कि कम से कम उस पर तो वे ग्रंथ लिख ही गये। मैं अपने को और अनेकों को आज बधाई देता हूँ कि बौद्ध दर्शन पर उनका यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। और बुद्ध भगवान् की २५ वीं शताब्दी की जयन्ती के शुभ अवसर पर हमें उसे देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हो रहा है। दुख इसका अवश्य है कि वे इसका प्रकाशन स्वयं न देख सके। उनके जीवन के अंतिम दिन मैं प्रातःकाल से सायंकाल तक उनके शान्त होने तक उनके साथ था। कई बार उन्होंने इस ग्रंथ की चर्चा की और संतोष प्रकट किया कि इसका प्रकाशन ऐसे शुभ अवसर पर होने जा रहा है।

ऐसी अवस्था में मुझे भी संतोष है कि इस सुन्दर और अपूर्व रचना की प्रस्तावना लिखने का मुझे निमंत्रण दिया गया है, और मेरी यही शुभ कामना है और हो सकती है कि

हमारे देश के बहुत से लोग इससे आकर्षित हों, इसका मनन करें, इसका पठन-पाठन करें, और देश के पुरातन समय की एक महान विभूति ने जो कुछ विचार प्रकट किये हैं और जिन्हें वर्तमान काल की दूसरी विभूति ने लिपि-बद्ध किया है, उन्हें समझें और अपने देश की परम्परा का गर्व करें और उसके योग्य अपने को बनावें। मेरी यह भी हार्दिक अभिलाषा है कि इसके द्वारा पण्डित प्रवर लेखक की भी स्मृति सदा जाग्रत रहे और बुद्ध भगवान और आचार्य नरेन्द्र-देव जी के अन्तर के लंबे अवसर की हमारी राजनितिक और सांस्कृतिक कहानी हमारे हृदयों को सदा बल और उत्साह देती रहे।

राजभवन, मद्रास

१४ मार्च १९५६

श्रीप्रकाश

राज्यपाल, मद्रास

बौद्धधर्म-दर्शन

प्रथम अध्याय

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

जिस समय भगवान् बुद्ध का लोक में जन्म हुआ, उस समय देश में अनेक वाद प्रचलित थे। विचार-जगत् में उथल-पुथल हो रहा था। लोगों की जिज्ञासा जग उठी थी। परलोक है या नहीं, मरण के अनन्तर जीव का अस्तित्व होता है या नहीं, कर्म है या नहीं, कर्म-विपाक है या नहीं; इस प्रकार के अनेक प्रश्नों में लोगों का कुतूहल था। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए लोग उत्सुक थे। ब्राह्मण और श्रमण दोनों में ही विचार-चर्चा होती थी। श्रमण अवैदिक थे। ये वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते थे। ये यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप को महत्त्व नहीं देते थे। इनकी दृष्टि में या तो इनका क्षुद्र फल है या ये निरर्थक और निष्प्रयोजनीय हैं। श्रमण आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार के थे। इनके कई सम्प्रदाय तपस्या को विशेष महत्त्व देते थे। जो आस्तिक थे, वे भी जगत् का कोई स्रष्टा, कर्ता नहीं मानते थे। 'पालि निकाय' में जिन श्रमणों का उल्लेख है, उनमें प्रायः नास्तिक ही हैं। ब्राह्मण और श्रमण—ये दो संस्कृति-परम्पराएँ प्राचीन काल से चली आती हैं। ये एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं। इनमें नैसर्गिक वैर था। ब्राह्मण मुण्डदर्शन को अशुभ मानते थे। ब्राह्मण सांसारिक थे। श्रमण अनागारिक होते थे और ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। ये सत्यान्वेषण के लिए किसी शास्ता के अधीन होते थे, उसके गण या संघ में प्रवेश करते थे। ब्राह्मण वैदिकधर्म के अनुसार मन्त्र, जप, दान, होम, मंगल, प्रायश्चित्तादि अनुष्ठान का विधान करते थे। धर्म का यह रूप बाह्य था। स्वर्ग की कामना से या अन्य लौकिक भोग की कामना से ये विविध अनुष्ठान होते थे। यज्ञों में पशुवध भी होता था। कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। ब्राह्मण-धर्म आस्तिक था। ब्राह्मण सुकृत, दुष्कृत के फलविपाक में विश्वास करते थे। इनमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि के लिए पक्षपात था। किन्तु वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं समझी जाती थी। यह निस्पृह और सरल हृदय के होते थे और इनको विद्या का व्यसन था। इसलिए समाज में इनका आदर था। धीरे-धीरे इनका प्राधान्य हो गया, क्योंकि वेद-विहित अनुष्ठानों की विधि इन्हीं को मालूम थी। पुरोहित संकीर्ण हृदय और स्वार्थी होने लगे और वे अपनेको सबसे ऊँचा समझने लगे। ब्राह्मण-काल में पुरोहित मानुषी देवता हो गये। इस काल में वेद को शब्द-प्रमाण मानते थे। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था इसी काल में प्रौढ़ हुई। तपस्या का भी माहात्म्य समझा जाता था, क्योंकि उनका

विचार था कि देवों ने अपने उच्च पद को तपस्या से प्राप्त किया था। धीरे-धीरे कोरे कर्मकाण्ड के विरुद्ध आर्यों में विद्रोह होने लगा; पशु-वध के विरुद्ध आवाज उठने लगी। यह कहा जाने लगा कि यज्ञ-यागादि हीन हैं, ब्रह्म-ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। यह उपनिषत्-काल था। इस काल में ब्रह्मविद्या की चर्चा बढ़ने लगी। ऋषि आश्रमों में निवास करते थे, और ब्रह्म-चिन्तन में रत रहते थे। जिज्ञासु शिक्षा के लिए उनके पास जाते थे और जिनको वह पात्र समझते थे, उनको शिक्षा देते थे। ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत तापस भी होते थे, जिनको वैखानस कहते थे। इनके लिए जो आचारविहित था, उसका वर्णन 'वैखानससूत्र' में मिलता है। बौद्ध भिक्षुओं में भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैखानसों के नियमों का पालन करते थे। इन नियमों को 'धुतंग' कहते हैं। वृक्षमूल-निकेतन, अरण्यनिवास, श्मशानवास, अभ्यवकाशवास, पांशुकूल-धारण आदि 'धुतंग' हैं। (क्लेशों के अपगम से भिक्षु विशुद्ध होता है। वह 'धुत' कहलाता है। उसके अंग 'धुतंग' हैं।)

वैखानसों से प्रभावित होकर बौद्धों में भी इस प्रकार के यति होने लगे। कुछ विद्वानों का कहना है कि जब बौद्धधर्म पूर्व से पश्चिम की ओर गया, तब यह परिवर्तन हुआ। पश्चिम देश में पूर्व देश की अपेक्षा ब्राह्मणों का कहीं अधिक प्रभाव था। इन विद्वानों के अनुसार बौद्धधर्म का पूर्व रूप अत्यन्त सरल था। पश्चिम देश के ब्राह्मणों में बौद्धधर्म का प्रचार हो जाने के उपरान्त उनके प्रभाव से यह परिवर्तन घटित हुआ और 'धुतंग' का समादान लेनेवाला भिक्षु अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा।

यह बात ध्यान में रखने की है कि बुद्ध के समय में आस्तिक का अर्थ ईश्वर में प्रतिपन्न नहीं था और न वेद-निन्दक को ही नास्तिक कहते थे। पाणिनि के निर्वचन के अनुसार नास्तिक वह है, जो परलोक में विश्वास नहीं करता (नास्ति परलोको यस्य सः)। इस निर्वचन के अनुसार बौद्ध और जैन नास्तिक नहीं हैं। बुद्ध ने अपने सूत्रान्तों में (संवादों में) नास्तिक-वाद को मिथ्यादृष्टिकहकर गर्हित किया है। बुद्ध के समकालीन 'अजित-केश-कम्बल', जो स्वयं एक गण के आचार्य थे, नास्तिकवादी थे। प्राचीनकाल के लिये यह गौरव का विषय है कि भारतीय कर्म-फल के महत्त्व पर जोर देते थे, ईश्वर के अस्तित्व पर नहीं। मानव-समाज की स्थिति और उन्नति के लिए समाज में व्यवस्था का होना आवश्यक है और यह तभी हो सकती है, जब सब लोग इसमें प्रतिपन्न हों कि अशुभ कर्म का अशुभ, शुभ कर्म का शुभ और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। यह सदाचार तथा नैतिकता की भित्ति है।

बुद्ध का प्रादुर्भाव

ऐसे काल में—जब इन दार्शनिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श होता था और सद्-गृहस्थ भी सत्यान्वेषण में घर-बार छोड़कर भिक्षु या श्रमण होते थे—बुद्ध का शाक्य-वंश में जन्म हुआ। इनका कुल क्षत्रिय और गोत्र गौतम था। इनका नाम सिद्धार्थ था। ये राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। उस समय पूर्व के देशों में क्षत्रियों का प्राधान्य था। ब्रह्मज्ञानी राजा जनक, जो ब्राह्मणों को भी ब्रह्म-विद्या का उपदेश करते थे, मिथिला के थे। बौद्धधर्म और जैनधर्म के प्रतिष्ठापक

भी क्षत्रिय थे। ये धर्म वैदिकधर्म के विरोधी थे, यद्यपि बुद्ध ने सद्-ब्राह्मणों के लिए अपशब्द कहना तो दूर रहा, उनकी प्रशंसा ही की है। क्षत्रिय ब्राह्मण-पुरोहितों के प्रतिपक्षी थे। वे उनको अपनेसे ऊंचा मानने को तैयार नहीं थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिवादी के वचन को ब्राह्मण 'क्षत्रिय के शब्द' कहते थे। इससे ज्ञापित होता है कि वे क्षत्रियों को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते थे। 'पालि निकाय' में क्षत्रियों को वर्णों की गणना में प्रथम स्थान दिया है।

शाक्य-वंश की राजधानी कपिलवस्तु थी। इनका राज्य छोटा-सा राज्य था। उस समय भारत में एक सुदृढ़ विशाल राज्य न था, जैसा कि आगे चलकर नन्दों ने संगठित किया, जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य ने वृद्धि की। जातकों से मालूम होता है कि बुद्ध के पूर्व १६ महाराष्ट्र थे। बुद्ध के काल में चार प्रधान राज्य संगठित हो रहे थे। इन १६ में से कुछ राष्ट्र अन्य राष्ट्रों में संमिलित कर लिये गये। इस कारण महाराष्ट्रों की संख्या घटने लगी। चार प्रधान राष्ट्र ये थे—(१) मगध, जिसमें अंग शामिल था और जिसका राजा बिम्बिसार था; (२) कोशल, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जिसमें काशी सम्मिलित थी और जिसका राजा प्रसेनजित् था; (३) कौशाम्बी, जिसका राजा वत्सराज उदयन था और (४) अवन्ती, जिसका राजा चण्डप्रद्योत था। इन चार राज्यों की राजधानियाँ आगे चलकर बौद्धधर्म की केन्द्र हो गईं।

सिद्धार्थ ने राजकुमारों की भाँति शिक्षा प्राप्त की। इनके पिता वैदिक धर्म के अनुयायी थे। सिद्धार्थ विचारशील थे और इसलिए इनकी उत्सुकता जीवन के रहस्यों को जानने के लिए बढ़ने लगी। सांसारिक सुखों से ये विरक्त हो गये। संसार से इनको उद्वेग उत्पन्न हुआ और परमार्थ-सत्य की खोज में एक दिन इन्होंने घर से अभिनिष्क्रमण किया और काषाय वस्त्र धारण कर भिक्षु-भाव ग्रहण किया। उस समय तापसों की विशेष प्रसिद्धि थी। सिद्धार्थ के पिता के यहाँ काल-देवल आदि तापस आया करते थे। एक तपोवन में उनको मालूम हुआ कि बिम्ब-प्रकोष्ठ में 'अराड-कालाम' नामक तापस रहते हैं, जो निःश्रेयस् का ज्ञान रखते हैं। यह सुनकर सिद्धार्थ अराड के तपोवन में गये। वहाँ उनका स्वागत हुआ। सिद्धार्थ ने पूछा कि जरा-मरण-रोग से सत्त्व (जीव) कैसे विमुक्त होता है? 'अराड' ने संक्षेप में अपने शास्त्र के निश्चय को बताया। उन्होंने संसार की उत्पत्ति और विवर्त्तन को समझाया। तत्त्वों की शिक्षा देकर उन्होंने नैष्ठिक-पद की प्राप्ति का उपाय भी बताया। किन्तु सिद्धार्थ को 'अराड' की शिक्षा से सन्तोष नहीं हुआ। विशेष जानने के लिए वे 'उद्रक-रामपुत्र' के आश्रम को गये,किन्तु इनके भी दर्शन को सिद्धार्थ ने स्वीकार नहीं किया। इनकी शिक्षा सांख्य-योग की थी। जब इनसे परितोष न हुआ, तब ये अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) शांतिवर-पद की गवेषणा में 'उरुवेला' आये और 'नेरञ्जना' (या नैरञ्जरा) नदी के तट पर आवास किया। इन्होंने विचार किया कि मुझमें भी श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा है; मैं स्वयं धर्म का साक्षात्कार करूँगा।

बुद्ध के समसामयिक

हमने ऊपर कहा है कि बुद्ध के समय में अनेक वाद प्रचलित थे। 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजाल-सुत्त में इन वादों का उल्लेख है। इनका वर्णन यहाँ देना आवश्यक है; किन्तु बुद्ध के समसामयिक जो ६ शास्ता—संघी, गणी, गणाचार्य और तीर्थङ्कर थे; उनका संक्षेप में हम

दर्शन देंगे। उनके नाम ये हैं—अजित-केश-कम्बल, पूरण-कस्सप, पकुध-कच्चायन, मक्खलि-गोसाल, संजय-वेलट्ठिपुत्त, निगंठ-नातपुत्त। इनमें 'निगंठ-नातपुत्त' जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर हैं। इनमें केवल यही आस्तिक थे। अजित-केश-कम्बल के मत से न दान है, न इष्टि, न हुत, न सुकृत और न दुष्कृत कर्म का फल-विपाक है, न इह लोक है, न परलोक, न श्रमण-ब्राह्मण हैं, जिन्होंने अभिज्ञाबल से इहलोक परलोक का साक्षात्कार किया है। मनुष्य चातुर्महाभूतिक है। जब वह काल (मृत्यु) करता है, तब पृथिवी पृथिवी-काय को अनुगमन करती है,...इत्यादि। इन्द्रियाँ आकाश में संक्रमण करती हैं। बाल और पण्डित काय-भेद से विनष्ट होते हैं, मरणानन्तर वे नहीं होते। 'संजय' का कहना था कि प्राणातिपात (वध), अदत्तादान (स्तेय), मृषावाद और परदार-गमन से पाप नहीं होता और दान-यज्ञ आदि से पुण्य का आगम नहीं होता। मक्खलि-गोसाल नियतिवादी थे। वे मानते थे कि सब सत्त्व (जीव) अवश हैं, अवीर्य हैं। उनमें न बल है, न वीर्य है, न पुरुष-पराक्रम। उनके अनुसार हेतु नहीं है, सत्त्वों के संक्लेश का प्रत्यय (हेतु) नहीं है; सत्त्व अहेतुक क्लेश भोगते हैं और बिना हेतु-प्रत्यय के विशुद्ध होते हैं। गोसाल आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक थे। वे कहते थे कि बाल और पण्डित सब सत्त्व-संसरण कर दुःख का अन्त करते हैं। इसे संसार-शुद्धि कहते हैं। ये अचेलक थे और अनेक प्रकार के कष्ट-तप करते थे। जेतवन के पीछे उनका एक स्थान था। ये पंचाग्नि तापते थे, उत्कुटिक थे और चमगादड़ की भाँति हवा में झूलते थे। 'पालि निकाय' में इनको मुक्ताचार कहा है। एक सुत्तान्त में इनको 'पुत्तमताय पुत्ता' कहा है, अर्थात् वह उस माता के पुत्र हैं जिसके पुत्र मर जाते हैं। बुद्धघोष के अनुसार 'पूरण' आत्मा को निष्क्रिय और कर्म को नहीं मानते थे। 'अजित' नास्तिक थे और कर्म-विपाक को नहीं मानते थे। 'गोसाल' नियतिवादी थे, ये कर्म और कर्म-फल दोनों का प्रतिषेध करते थे।

बुद्ध आजीवकों को सबसे बुरा समझते थे। तापस होने के कारण इनका समाज में आदर था। लोग निमित्त, शकुन, स्वप्न आदि का फल इनसे पूछते थे। अशोक और उनके पौत्र 'दशरथ' के लेखों में आजीवकों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त और भी तापस थे जो शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देते थे। कोई सन का कपड़ा पहनता था; कोई कुश-चीर, कोई केश-कम्बल धारण करता था, कोई उलूक-पक्ष धारण करता था, कोई केश-लुञ्चन करता था; कोई कण्टक पर शयन करता था (कण्टकापाश्रय), कोई गोव्रतिक, कोई मृगव्रतिक होता था, किसी की उञ्छवृत्ति थी। ये हिम-वात-सूर्यादि दुःख को सहन कर अनेक प्रकार से शरीर का आतापन-परितापन करते थे। इनका विश्वास था कि दुःख से सुख की प्राप्ति होती है। इसी कारण उस युग में तापसों का बड़ा आदर था। उनका कष्टमय जीवन को स्वीकार करना एक बड़ी बात समझी जाती थी। आश्चर्य होता है कि 'अजित-केश-कम्बल' ऐसे लोगों के लिए समाज में आदर था। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि ये तापस थे। ये तपस्या किस उद्देश्य से करते थे, यह भी ज्ञात नहीं है। ये लोग अद्भुत कर्म दिखाते थे; यह दावा करते थे कि इन्होंने ऋद्धियाँ प्राप्त की हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बुद्ध ने भी 'नेरञ्जना' के तट पर रह कर ६ वर्ष

कठोर तपस्या की; क्योंकि उस समय नैष्ठिक-पद की प्राप्ति के लिए तप आवश्यक समझा जाता था।

बुद्धत्व-प्राप्ति

बुद्ध के साथ पाँच अन्य भिक्षु भी थे। उन्होंने अनशन-व्रत यह समझ कर किया कि इससे वह जन्म-मरण पर विजय करेंगे। वे एक तिल-तण्डुल पर रहने लगे। इसका परिमाण यह हुआ कि बुद्ध अत्यन्त कृश हो गये। वह त्वगस्थिशेष रह गये। 'बुद्धचरित' के शब्दों में तब उनको मालूम हुआ कि यह धर्म विराग, बोध, मुक्ति के लिए नहीं है; दुर्बल इस पद को नहीं पा सकता। ऐसा विचार करके बुद्ध पुनः भोजन करने लगे। जब उनका शरीर और मन स्वस्थ हुआ, तब उन्होंने समाधि लगाई। उन पाँच भिक्षुओं ने असन्तुष्ट होकर उनका साथ छोड़ दिया। सिद्धार्थ बोध के लिए कृतसंकल्प हो अश्वत्थमूल में पर्यंकबद्ध हुए और यह प्रतिज्ञा की कि जबतक मैं कृतकृत्य नहीं होता, तब तक इसी आसन में बैठा रहूँगा। रात्रि के प्रथम याम में उनको पूर्व जन्मों का ज्ञान हुआ, दूसरे याम में दिव्य-चक्षु विशुद्ध हुआ, अन्तिम याम में द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद का साक्षात्कार हुआ और अरुणोदय में उनको सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष हुआ। यह उनका बुद्धत्व है। उस दिन से वे बुद्ध कहलाने लगे। सर्वज्ञता का साक्षात्कार कर भगवान् ने जो प्रीतिवचन (उदान) कहे, उनको हम यहाँ उद्धृत करते हैं—"कष्टमय जन्म बार-बार लेना पड़ा। मैं गृहकारक की खोज में संसार में व्यर्थ भटकता रहा। किन्तु गृहकारक! अब मैंने तुझे देख लिया। अब तू फिर गृहनिर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कड़ियाँ टूट गईं; गृह-शिखर ढह गया। चित्त-निर्वाण का लाभ हुआ; तृष्णा का क्षय देख लिया।"

सात सप्ताह तक वे विविध वृक्षों के तले बैठकर विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते रहे। भगवान् को बुद्ध, तथागत, सुगत आदि कहते हैं। भगवान् के श्रावक सौगत, शाक्यपुत्रीय, बौद्ध कहलाते हैं। ऐसी कथा है कि बुद्धत्व प्राप्त कर भगवान् को धर्मोपदेश में अनिच्छा हुई; किन्तु ब्रह्मा सहंपति की प्रार्थना पर धर्मोपदेश के लिए राजी हुए। पहले उनका विचार 'अराड-कालाम' और 'उद्रक-रामपुत्र' को धर्म का उपदेश (देशना) देने का हुआ, किन्तु यह जानकर कि वे अब जीवित नहीं हैं, उन्होंने उन पाँच भिक्षुओं को धर्म का उपदेश करने का निश्चय किया जो उनका साथ छोड़कर 'ऋषिपत्तन' मृगदाव (सारनाथ,काशी के पास) को चले गये थे। आषाढ़ पूर्णिमा के दिन उनका पहला उपदेश 'सारनाथ' में हुआ। यह उपदेश धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-सूत्र है। यहीं धर्मचक्र का प्रथम बार प्रवर्त्तन हुआ। इसलिए सारनाथ भिक्षुओं का एक तीर्थ हो गया। पाँचों भिक्षु प्रथम शिष्य हुए। वाराणसी का एक वणिक्-पुत्र 'यश' भी संसार से विरक्त हो ऋषिपत्तन आया। वह भी भगवान् से उपदेश पाकर भिक्षु हो गया। यह संवाद पाकर उसके ५४ मित्र भी भिक्षु हो गये। इस प्रकार इन ६० भिक्षुओं को लेकर बुद्ध-शासन का आरम्भ हुआ। भगवान् ने एक संघ की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर जब संघ के नियम बने, तब संघ की सदस्यता के लिए एक विधि रखी गई। इसे 'उपसंपदा' कहते हैं। मध्यदेश में १० भिक्षुओं के और प्रत्यन्तिक जनपदों में पाँच भिक्षुओं के संघ के संमुख 'उपसंपदा' होती थी।

आरम्भ में जब संघ नहीं था, तब पहले शिष्यों की उपसंपदा 'एहि भिक्षो' इस वाक्य से हुई। पंचवर्गीय भिक्षुओं की उपसंपदा इसी प्रकार हुई। इसी प्रकार जब भगवान् ने आनन्द के आग्रह पर स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की आज्ञा दी तो महाप्रजापती गोतमी की (जो पहली भिक्षुणी थी) उपसंपदा भिक्षुओं के गुरुधर्मों को स्वीकार करने से हुई।

धर्म-प्रसार

भगवान् ने धर्म-प्रचार के लिए इन ६० भिक्षुओं को भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेजा और स्वयं 'उरुवेला' की ओर गये। वहाँ 'उरुवेल-काश्यप' और उनके दो भाई एक बृहत् संघ के साथ निवास करते थे। ये जटिल थे। इनको भी उपदेश देकर भगवान् ने शासन में दीक्षित किया। इन जटिलों की आस-पास बहुत ख्याति थी। मगध के महाराज बिम्बिसार भी इनका बहुत आदर करते थे। यह जानकर कि वे बुद्ध के शासन में प्रवेश कर गये, उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। इससे बुद्ध की ख्याति फैली और स्वयं बिम्बिसार उपासक हो गये। गृहस्थ शिष्य उपासक उपासिका कहलाते थे। भगवान् चारिका (भ्रमण) करते हुए कपिलवस्तु पहुँचे और वहाँ कई दिन ठहरकर उन्होंने धर्म का उपदेश किया। शाक्य-कुल के अनेक युवक भिक्षु हो गये। बुद्ध के पुत्र राहुल भी भिक्षु हुए। यहाँ से भगवान् राजगृह आये। उस समय वहाँ श्रमण 'संजय' अपने संघ के साथ रहते थे। इस संघ में 'शारिपुत्र' और 'मौद्गल्यायन' थे। ये भी बौद्ध-भिक्षु हो गये। इन्होंने भिक्षु 'अश्वजित्' से श्रमण गौतम की शिक्षा का सार सुना था। यह शिक्षा इस गाथा में उपनिबद्ध है। यह अनेक स्थानों पर उत्कीर्ण पाई गई है—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

ये दो अग्रश्रावक कहलाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे बौद्धधर्म फैलने लगा। हम इस धर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख आगे करेंगे और बुद्ध की बताई निर्वाण की साधना का भी दिग्दर्शन करायेंगे। तथा विकास-क्रम से बौद्धदर्शन के विभिन्न वादों का भी आलोचन करेंगे। यहाँ आर्यदेव के शब्दों में इतना कहना पर्याप्त होगा—

धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम्॥

अहिंसा और निर्वाण ये दो धर्म जो स्वर्ग-विमुक्ति-प्रापक हैं, तथागत द्वारा वर्णित हैं। यह ज्ञान और योग का मार्ग है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि जिस प्रकार समुद्र का एक रस लवण-रस है,उसी प्रकार मेरी शिक्षा का एक रस विमुक्ति-रस है। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार भगवान् की भी चतुःसूत्री है—दुःख है, दुःख का हेतु है, दुःख का निरोध है, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्ति (मार्ग) है। भगवान् यद्यपि ब्रह्म या ईश्वर और आत्मा की सत्ता को नहीं मानते थे, तथापि पुनर्जन्म, परलोक में प्रतिपन्न थे। वे ब्राह्मणों के लोकवाद और देववाद को मानते थे। वे देव, यक्ष, किन्नर, असुर, प्रेत की सत्ता और स्वर्ग-नरक की कल्पना को मानते थे। हम ऊपर कह चुके हैं कि वे नास्तिक नहीं थे। वे कर्म और कर्म का फल मानते थे।

बौद्धधर्म के प्रसार का यह फल हुआ कि तापसों और नास्तिकों का प्रभाव बहुत कम हो गया। इसी कारण निर्ग्रन्थ और आजीवक बौद्ध-भिक्षुओं की हँसी उड़ाया करते थे कि ये जब तपस्या नहीं करते, तब निर्वाण का लाभ क्या करेंगे? बौद्ध-भिक्षुओं ने एक प्रबल संघ स्थापित किया, जो राजाओं का, विशेष कर अशोक का प्रश्रय पाकर उन्नत अवस्था को पहुँचा।

चारिका, वर्षावास और प्रवारणा

बुद्ध भिक्षुओं के साथ चारिका करते थे; भिक्षुओं के सन्देहों का निराकरण करते थे; उनको धर्म-विनय (भिक्षुओं के नियम) की शिक्षा देते थे; जो तीर्थिक उनसे प्रश्न करने आते थे, उनसे संलाप करते थे और गृहस्थों को धर्म का उपदेश देते थे। वर्षा ऋतु में चारिका बन्द हो जाती थी; भिक्षु एकस्थ होते थे। उपासक उनको वर्षावास का निमंत्रण देते थे। उपासक उनकी भिक्षा की व्यवस्था करते थे और भिक्षु उनको धर्मोपदेश देते थे। इस प्रकार उनमें आदान और प्रतिदान होता था और संघ की एकता सिद्ध होती थी। वर्षा के अन्त में एक उत्सव होता था जिसे प्रवारणा (पवारणा) कहते थे। इस उत्सव में भिक्षु और उपासक सब संमिलित होते थे और एक भिक्षु सभी भिक्षुओं और उपासकों को धर्मोपदेश देता था। वे दिन में उपोसथ (व्रत) रखते थे और सायंकाल को संमेलन होता था। एक भिक्षु दूसरे के पाप को आविष्कृत करता था और वह पाप स्वीकार करता था। अन्त में उपासकों द्वारा लाई हुई दान की वस्तुएँ भिक्षुओं में बाँट दी जाती थीं। हर पाँचवें वर्ष प्रवारणा का उत्सव विशेष समारोह से होता था। वह पंचवार्षिक परिषद् कहलाती थी। यद्यपि 'पालि निकाय' में इसका उल्लेख नहीं है, तथापि अशोकावदान, दीपवंश, महावंश और चीनी यात्रियों के विवरण से इसके अस्तित्व का पता चलता है। फाहियान की यात्रा के विवरण से मालूम होता है कि 'खाश' के राजा ने पंचवार्षिक परिषद् को बुलवाया था, जिसमें उन्होंने अपना सर्वस्व दान में दे दिया। ह्वेनत्सांग ने भी कूचा और बामियान में इस उत्सव को देखा था। वैदिक विश्वजित् यज्ञ में भी सर्वसम्पत्ति का दान होता था। ५२६ ई० में चीन के महाराज ने भी पंचवार्षिक परिषद् को आमंत्रित किया था। इससे मालूम होता है कि बौद्धों के जीवन में इस उत्सव का विशेष स्थान था।

आश्चर्य है कि 'विनयपिटक' में इसका उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि विनय में केवल भिक्षुओं के संबन्ध में बातें कही गई हैं और उपासकों की उपेक्षा की गई है। वर्षा के उत्सव के वर्णन में भी उपासकों का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से आता है। जब हम 'चुल्लवग्ग' के ११ वें खन्धक का पाठ करते हैं, तब हम देखते हैं कि केवल भिक्षु और उनमें भी विशेषकर अर्हत् (अर्हत् वह है जिसने निर्वाण का लाभ किया है) का ही उल्लेख होता है। इन्हीं का प्राधान्य है। प्रथम धर्म-संगीति में, जो वर्षावास के समय हुई, केवल अर्हत् ही रहे, उपासक नहीं। ह्वेनत्सांग मगध देश के वर्णन में लिखते हैं कि उस स्थान के पश्चिम जहाँ आनन्द ने अर्हत् पद प्राप्त किया, अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप था। इसी स्थान में महासंघ निकाय ने धर्म का संग्रह किया था। जो शैक्ष की अवस्था में थे, या उस अवस्था को पार कर

चुके थे; किन्तु महाकाश्यप की धर्म-संगीति में शरीक नहीं किये गये थे, वे वहाँ एकत्र हुए। उन्होंने कहा कि जबतक शास्ता (बुद्ध) थे, वे हम सबको उपदेश देते थे; किन्तु धर्मराज के परिनिर्वृत्त (निर्वाण में प्रविष्ट) होने के बाद से अब चुनाव होता है। उन्होंने आपस में निश्चय किया कि हमको भी धर्म का संग्रह करना चाहिये। इस संगीति में भिक्षु और उपासक दोनों बड़े समूह में संमिलित हुए थे। उन्होंने भी सूत्र, विनय, अभिधर्म, संयुक्तपिटक और धारणीपिटक का संग्रह किया। इस निकाय को 'महासांघिक' इसलिए कहते हैं; क्योंकि इसमें उपासक और भिक्षु दोनों का एक बड़ा समुदाय शरीक हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि इस वृत्तान्त से और द्वितीय संगीति के अवसर के संघभेद के वृत्तान्त से विरोध है; किन्तु जैसा कि 'ओल्डेनवर्ग' ने कहा है, इस द्वितीय संगीति के विवरण राजगृह की संगीति से पहले के हैं। महासांघिकों का पृथक् होना भी दोनों धर्मसंगीतियों के कुछ विवरणों से पुराना हो सकता है। चीनी यात्री के इस कथन का समर्थन प्रथम संगीति के उन विवरणों से होता है जो दो परिनिर्वाणसूत्र के परिशिष्ट हैं। इनके अनुसार परिषद् में कम से कम सब प्रकार के भिक्षु थे, केवल अर्हत् ही न थे। एक विवरण के अनुसार इनके अतिरिक्त देव, यक्ष, नाग, प्रेत, उपासक और उपासिका भी थे। इन सूत्रों का संबन्ध महासांघिक विनय से है। यह संभव है कि यह दो परिनिर्वाणसूत्र 'महासांघिक' निकाय के हैं। यह परम्परा युक्त प्रतीत होती है और प्रथम महासंगीति के जो विवरण उपलब्ध हैं, वे प्रायः संघ के इतिहास में एक विशेष परिवर्तन की सूचना देते हैं। अतः हमको मानना होगा कि आरम्भ में वर्षा में जिस परिषद् का संमेलन होता था, वह महासंघ था। उसमें सब प्रकार के बौद्ध संमिलित होते थे। उपासकों का उसमें संमिलित होना आवश्यक था।

निर्वाण

बुद्ध के जीवन-काल में भिक्षुओं का गृहस्थों से घनिष्ठ संबन्ध था। उस समय बुद्ध की शिक्षा भी बहुत सरल थी। सर्वभूत-मैत्री इसका विशेष गुण था। उद्देश्य स्वर्ग या ब्रह्म-लोक प्राप्त करना था। प्रातिमोक्ष-संवर-समादान, शुभकर्म और भावना से उद्देश्य की सिद्धि होती थी। कुछ विद्वानों का मत है कि उस समय निर्वाण की कल्पना अभाव, अकिंचन की न होकर अमृत-पद की थी। निर्वाण अच्युत स्थान है। यह अचल, अजर, अमर, क्षेमपद अमृतपद है। यह अनुत्तर योगक्षेम है। स्वयं बुद्ध कहते हैं कि इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए कोई शब्द नहीं है। यह अनिर्वचनीय, अवाच्य, अवक्तव्य है। "जो निर्वाण को प्राप्त होता है, उसका प्रमाण नहीं है, जिससे कह सकें कि यह क्या है।" यह एकान्त सुख है, यह अप्रतिभाग है। निर्वाण को सुख, शान्त, प्रणीत कहा है। भगवान् अजातसूत्र में कहते हैं:— "हे भिक्षुओ ! यह अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत है। हे भिक्षुओ ! यदि यह अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत न होता तो जात, भूत, कृत, संस्कृत का निःसरण न होता।" भगवान् पुनः कहते हैं—उसका ध्रुव निःसरण अतर्क्य है, वह अजात, असमुत्पन्न, अशोक विरजपद है। वह दुःख धर्मों का निरोध है। वह संस्कारों का उपशम है।

ऊपर दिये हुए उद्धरणों में निर्वाण के लिए 'अमृतपद' शब्द का प्रयोग होने से कुछ विद्वानों का कहना है कि बुद्ध ने जिस निर्वाण की शिक्षा दी थी, वह आत्मा के अमरत्व का और मोक्ष में नित्य-सुख का द्योतक था। इन विद्वानों का कथन है कि आगे चलकर बौद्धधर्म का रूप विकृत हो गया और वह निर्वाण को सर्वदुःख का अभाव-मात्र मानने लगे। शरवात्स्की ने इस मत का खण्डन किया है और उन्होंने इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि बुद्ध की शिक्षा के अनुसार निर्वाण नित्य-सुख की अभिव्यक्ति नहीं है। यह अमिताभ का सुखावती-लोक नहीं है, जहाँ नित्य-सुख की कल्पना की गई है। उनका कहना है कि निर्वाण लोकोत्तर है और अमृत-शब्द का अर्थ केवल इतना है कि वह अमृत्यु-पद है। निर्वाण में न जन्म है, न मृत्यु। आगे चलकर हम बौद्धों के विभिन्न प्रस्थानों के आधार पर निर्वाण का विस्तृत विवेचन करेंगे।

अनेक प्रकार के भिक्षु

बुद्धोपदिष्ट निर्वाण के स्वरूप की जो भी व्याख्या की जाय, बौद्धशासन में भिन्न रुचि और प्रकृति के अनुसार कई प्रकार के भिक्षु थे। मज्झिमनिकाय के महागोसिंग-सुत्त में इन विविध प्रकार के भिक्षुओं का परिचय मिलता है। एक समय भगवान् गोसिंग-शालवन में विहार करते थे। उनके साथ आनन्द, शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, रैवत, अनिरुद्ध आदि भिक्षु थे। धर्म-श्रवण के लिए ये लोग शारिपुत्र के पास गये (शारिपुत्र को धर्म-सेनापति भी कहते हैं)। भगवान् के परिचारक आनन्द को आते देख शारिपुत्र ने उनका स्वागत किया और कहा कि गोसिंग-शालवन रमणीय है; शालवन फूले हुए हैं; दिव्य गन्ध बह रही है, रात्रि निर्मल है। हे आनन्द! किस प्रकार के भिक्षु से इस वन की शोभा होगी? आनन्द ने उत्तर दिया कि हे शारिपुत्र! जो बहुश्रुत है, जो चारों परिषदों (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) को कल्याण-धर्म की देशना (उपदेश) देता है, ऐसे भिक्षु से यह वन शोभित होगा। शारिपुत्र ने यही प्रश्न औरों से किया। महाकश्यप ने प्रश्न के उत्तर में कहा कि जो भिक्षु अरण्य में निवास करता है, और जो १३ धुतंगों की प्रशंसा करता है और उसका ग्रहण करता है, वह इस वन की शोभा बढ़ायेगा। पुनः किसी ने शारिपुत्र के उत्तर में विनय की प्रशंसा की और किसी ने अभिधर्म के महत्त्व का वर्णन किया।

इस संवाद में जिन विविध प्रकार के भिक्षुओं का वर्णन किया गया है, उनमें आनन्द ही उस प्रकार के भिक्षु हैं, जिनके द्वारा बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। आनन्द वन में एकान्त-वास कर समाधि में निमग्न नहीं रहते थे। यही कारण है कि आनन्द लोकप्रिय थे। भगवान् के वे उपस्थापक थे। पचीस वर्ष तक उन्होंने भगवान् की परिचर्या की। वे उनकी गन्धकुटी में नित्य झाड़ू देते थे, उनका बिछौना बिछाते थे, स्नान के लिए पानी रखते थे और उनका शरीर दबाते थे। इतना ही नहीं, आनन्द बहुश्रुत थे। वे बड़े अच्छे वक्ता थे। भगवान् के सब सूत्रान्त उनको कंठस्थ थे। उनकी स्मृति-शक्ति प्रबल थी। बहुत-से संवाद उनके समक्ष दिये गये थे। जिन संवादों में वे उपस्थित नहीं होते थे, उन्हें वे बुद्ध से पीछे सुन लेते थे। उपस्थापक होने

के पहले जो शर्तें उन्होंने कीं, उनमें से एक यह भी शर्त थी। यही कारण है कि प्रथम महा-संगीति में आनन्द ने धर्म (सूत्रान्त) का पाठ किया। यही कारण है कि सूत्रान्त इस वाक्य से आरम्भ होते हैं—"एवं मे सुतं" (मैंने ऐसा सुना है) 'मैंने' से आनन्द इष्ट हैं। बुद्ध कहते हैं कि आनन्द बहुश्रुत, श्रुतधर हैं। वह आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण धर्म का चार परिषदों को (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) उपदेश देते हैं। इन्होंने सम्यग् दृष्टि से धर्मों का सुप्रतिवेध किया है।

आनन्द बुद्ध को बहुत प्रिय थे। आनन्द के आग्रह पर ही बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दी थी। भगवान् की माता की बहिन महा प्रजापती गौतमी ने, जिन्होंने महामाया की मृत्यु के पश्चात् भगवान् का पालन-पोषण किया था, भिक्षुणी होने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने निषेध किया। आनन्द ने गौतमी का पक्ष लेकर भगवान् से तर्क किया और कहा कि क्या स्त्रियों को निर्वाण का अधिकार नहीं है! भगवान् को स्वीकार करना पड़ा कि है। तब आनन्द ने कहा कि क्या भगवान् की विमाता ही, जिन्होंने भगवान् का लालन-पालन किया, इस उच्चपद से वंचित रह जायेंगी। इस तर्क के आगे भगवान् अवाक् हो गये और उन्हें अनिच्छा से इसकी अनुमति देनी पड़ी। इस कारण आनन्द भिक्षुणियों में बड़े प्रिय थे। भिक्षुणियाँ उनका सदा पक्ष लिया करती थीं और यदि कोई उनको कुछ कहता था, तो वे उनकी ओर से लड़ती थीं। आनन्द सुवक्ता थे, धर्मोपदेश के लिए उनकी ख्याति थी; हर जगह उनकी माँग थी। वे बड़े ही दयालु थे और लोगों को दुःखी देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था। वे सरल हृदय और निःस्वार्थ थे। शारिपुत्र से इनकी विशेष मित्रता थी। अच्छी से अच्छी वस्तु जो इनको दान में मिलती थी, उसे ये शारिपुत्र को दे दिया करते थे। शारिपुत्र की मृत्यु पर इनको बहुत दुःख हुआ था।

हम देख चुके हैं कि आनन्द स्त्रियों के अधिकार के लिए लड़े थे। एक बार उन्होंने बुद्ध से पूछा था कि स्त्रियाँ परिषदों की सदस्या क्यों नहीं होतीं, व्यापार क्यों नहीं करतीं? चाण्डाल के लिए भी उनके मन में घृणा नहीं थी। वे रोगियों को भी सान्त्वना देने जाया करते थे। दोपहर को जब भगवान् विश्राम करते थे, तब वे रोगियों की शुश्रूषा में लग जाते थे। वे धर्म-भाण्डागारिक कहलाते थे। उनकी मृत्यु पर यह श्लोक उनकी प्रशंसा में कहे गये थे—

बहुस्सुतो धम्मधरो कोसारक्खो महेसिनो।
चक्खु सब्बस्स लोकस्स आनन्दो परिनिब्बुतो ॥
बहुस्सुतो धम्मधरो-व-अन्धकारे तमोनुदो।
गतिमन्तो सतीमन्तो धितिमन्तो च यो इसि ॥
सद्धम्माधारको थेरो आनन्दो रतनाकरो।

(थेरगाथा १०४७–४९)

भगवान् का परिनिर्वाण

जब भगवान् का कुसिनारा (कसिया) के शालवन में परिनिर्वाण हुआ, तब आनन्द उनके साथ थे। भगवान् ने आनन्द से कहा कि मैं बहुत थका हूँ, और लेटना चाहता हूँ; दो शाल-

वृक्षों के बीच मेरा बिछौना कर दो। भगवान् लेट गये और एक परिचारक उनको पंखा करने लगा। भगवान् ने कहा कि मेरे परिनिर्वाण का समय आ गया है। यह सुनकर आनन्द को बहुत शोक हुआ और वे विहार में जाकर द्वार के सहारे बैठ गये और विलाप करने लगे। भगवान् ने भिक्षुओं से पूछा कि आनन्द कहाँ हैं? भिक्षुओं ने उत्तर दिया कि वे विहार में रो रहे हैं। भगवान् ने उनको बुलाने के लिए एक भिक्षु को भेजा। जब आनन्द आये, तब भगवान् ने कहा—हे आनन्द! शोक मत करो। क्या मैंने तुमसे नहीं कहा है कि प्रिय वस्तु से वियोग स्वाभाविक और अनिवार्य है! यह कैसे सम्भव है कि जिसकी उत्पत्ति हुई है, जो संस्कृत और विनश्वर है, उसकी च्युति न हो? ऐसा स्थान नहीं। तुमने मनसा, वाचा, कर्मणा श्रद्धा के साथ मेरी सेवा की है। तुम अनन्त पुण्य के भागी हो। यह कह कर भगवान् ने भिक्षुओं से आनन्द की प्रशंसा की। भगवान् ने आनन्द से कहा कि मेरे पश्चात् यदि संघ चाहे, तो विनय के क्षुद्र नियमों को रद्द कर दे। भगवान् भिक्षुओं से विदा हुए। भगवान् के अन्तिम शब्द ये थे—

"सब संस्कार अनित्य हैं। अपने निर्वाण के लिए बिना प्रमाद के यत्नशील हो। तुम अपने लिये स्वयं दीपक हो, 'अत्तदीपा विहरथ' दूसरे का सहारा न ढूंढो।"

बौद्धशासन में ऐसे भी भिक्षु थे, जिनको अरण्य में खड्ग-विषाण (गैंडा) के तुल्य एकान्तवास अधिक प्रिय था। ऐसे भी भिक्षु थे, जो विनय के नियमों के पालन को अधिक महत्त्व देते थे। यह विनयधर कहाते थे। इनमें 'उपालि' सबसे श्रेष्ठ था। प्रथम धर्मसंगीति में उपालि ने ही विनय का संग्रह किया था। ऐसे भी भिक्षु थे जो अभिधर्म-कथा में रस लेते थे; दो भिक्षु एक साथ बैठ कर एक दूसरे से प्रश्न पूछते थे और उत्तर देते थे। ये धर्म-कथिक होते थे। इस प्रकार के भिक्षु अग्रश्रावक मौद्गल्यायन थे। किन्तु जिस प्रकार के भिक्षुओं के कारण बौद्धधर्म दूर-दूर तक फैला और लोकप्रिय हुआ, वे आनन्द की भाँति के थे।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, बुद्ध की दिनचर्या इसी प्रकार की थी। किन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों बौद्धधर्म पश्चिम की ओर बढ़ा, त्यों-त्यों उसकी मूल भावना में परिवर्तन होने लगा। बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहे; २९ वर्ष की अवस्था में उन्होंने निष्क्रमण किया था। उनके जीवन-काल में बौद्धधर्म कोशल, मगध, कौशाम्बी, पांचाल-कुरु देश में फैला था; पश्चिम में उज्जैन तक गया था। मध्यदेश में ब्राह्मणधर्म का अधिक प्रभाव था। चुल्लवग्ग के बारहवें खन्धक से मालूम होता है कि द्वितीय धर्ममहासंगीति के समय पश्चिम के संघ में आरण्यकों की संख्या प्रचुर थी; किन्तु पूर्व में वैशाली के प्रदेश में नहीं थी।

वैदिक धर्म का प्रभाव

कई ब्राह्मण बौद्धशासन में प्रविष्ट हुए। उनके प्रभाव से ब्राह्मणधर्म का प्रभाव बौद्ध-धर्म पर पड़ा। जैसे वैदिकधर्म में चार आश्रम हैं, उसी प्रकार बौद्धों में गृहपति, श्रामणेर (जिसका उद्देश्य श्रमण होना है), भिक्षु और आरण्यक यह चार परिषदें हुईं। इसी प्रभाव के कारण बौद्धों में भी वैखानस-व्रत के माननेवाले धुतवादी हो गये। यह धुतंगों का समादान करते थे। हम ऊपर कह चुके हैं कि ये 'धुतंग' वैखानस के व्रत हैं। इनका प्राधान्य हो गया। भिक्षु और उपासक का अन्तर बढ़ने लगा। ये आरण्यक ऋषि और योगी के स्थान में थे।

बुद्ध मध्यम मार्ग का उपदेश करते थे। उनका आदर्श दूसरा था। वे आरण्यक संसार से विरक्त हो एकान्तवास करते थे और अपनी उन्नति के लिए ही सचेष्ट रहते थे। इनकी तुलना खड्ग-विषाण से देते हैं, जो वर्गचारी (भुण्ड में) नहीं होता, वन में एकाकी रहता है।

यह विचारणीय है कि विनय में धुतगुणों का उल्लेख नहीं है। 'परिवार' में इन व्रतों की निन्दा की गई है। पीछे के अभिधर्म-ग्रन्थ जैसे विसुद्धिमग्गो में इनका उल्लेख है। मिलिन्द-प्रश्न में भी १३ धुतंगों की प्रशंसा की गई है। धुतवादियों के प्रभाव के बढ़ने से उन उत्सवों का महत्त्व घटने लगा, जिनमें उपासकों का विशेष भाग था। यह परिवर्तन प्रथम संगीति के विवरणों से उपलक्षित होता है। कथा है कि बुद्ध परिनिर्वाण पर धर्म-विनय के संग्रह के लिए संगीति हुई। यह वर्षाकाल में हुई। ५०० अर्हत् संमिलित हुए। इनके प्रमुख आचार्य महाकाश्यप थे। दीपवंश में इस संगीति का वर्णन देते हुए महाकाश्यप के लिए लिखा है कि वे धुतवादियों के अगुआ थे—"धुतवादानं अग्गो सो कस्सपो जिनसासने।" वे संगीति के प्रधान हुए।

प्रथम धर्मसंगीति

वर्षाकाल में जो उत्सव होता था, उसमें सब प्रकार के भिक्षु और उपासक संमिलित होते थे; किन्तु पालिकथा के अनुसार इस संगीति में उपासकों का संमिलित होना तो दूर रहा, केवल वही भिक्षु संमिलित किये गये, जो अर्हत् हो चुके थे। यह भी विचित्र बात है कि यद्यपि आनन्द ने ही सूत्रों का संग्रह किया, तथापि इस हेतु को देकर कि वे अभी अर्हत् नहीं हुए हैं, वे संगीति से पृथक् किये गये और जब उन्होंने अर्हत् फल की प्राप्ति की, तभी संमिलित किये गए। भगवान् ने जब धर्मचक्र-प्रवर्तन किया तब ६० भिक्षु एक उपदेश से ही अर्हत् हो गये। परिनिर्वाण के पहले जो आखिरी भिक्षु हुआ, वह 'सुभद्र' भी अर्हत् हो गया। किन्तु आनन्द, जो भगवान् को इतने प्रिय थे, जिन्होंने २५ वर्ष भगवान् की परिचर्या की, जिनको बहुश्रुत, धर्मधर कहकर भगवान् ने भूरि-भूरि प्रशंसा की, वह अर्हत् पद को न पा सके। यह बात विश्वास के योग्य नहीं है। उनपर संगीति में यह आरोप भी लगाया गया कि उन्होंने स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने के लिए भगवान् से अभ्यर्थना की थी और भगवान् से परिनिर्वाण के समय यह नहीं पूछा कि कौन-कौन क्षुद्र नियम हटाये जा सकते हैं। उस समय भिक्षुओं में जो ज्येष्ठ स्थविर होता था, वह प्रमुख होता था। उस समय सबसे ज्येष्ठ, आज्ञात-कौण्डिन्य थे। यह पंचवर्गीय भिक्षुओं में से थे। दीपवंश के अनुसार उस समय आठ प्रमुख थे। महाकाश्यप का स्थान अन्तिम था। उस पर भी प्रथम संगीति के वही प्रधान बनाये गये। फिर हम देखते हैं कि प्रमुख के अधिकार बढ़ गये थे। जहाँ पहले संघ का पूर्ण अधिकार था, वहाँ अब प्रमुख का अधिकार हो गया। संघ त्रिरत्नों में से एक था। भिक्षु और उपासक संघ में शरण लेते थे, न कि किसी आचार्य या प्रमुख में। प्रमुख को संघ के निर्णयों को कार्यान्वित करना पड़ता था; वह अपने मन्तव्यों को संघ पर लाद नहीं सकता था। अतः दीपवंश में संघ स्वयं संगीति के सदस्यों को चुनता है। किन्तु दीपवंश और चुल्लवग्ग के अनुसार महाकाश्यप ने ५०० अर्हतों

को प्रवचन का संग्रह करने के लिए चुना। अशोकावदान में भी प्रमुख आचार्यों का चुनाव संघ नहीं करता है; किन्तु एक आचार्य से दूसरे आचार्य को अधिकार हस्तान्तरित होते हैं। पुराने समय में संघ का जो आधिपत्य था, वह जाता रहा और प्रमुखों का अधिकार कायम हो गया।

प्राचीन काल में संघ का अध्यक्ष स्थविर होता था और उसकी व्यवस्था शिथिल थी। पीछे तीन, चार या आठ स्थविरों की परिषद् होती थी, जिसके हाथ में समस्त अधिकार होते थे। तत्पश्चात् यह परिषद् भी नहीं रही और एक प्रमुख हो गया। इन परिवर्तनों का शिक्षा पर भी अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ा। संघ के स्थान में एक व्यक्ति के प्रतिष्ठित होने से और उपासकों का प्रभाव घट जाने से अर्हत् का आदर्श सर्वोच्च हो गया।

हम देख चुके हैं कि दीपवंश के अनुसार महाकाश्यप धुतवादी थे। इसका समर्थन 'मज्झिमनिकाय' के महागोसिंग-सुत्त से भी होता है।

जिस समय प्रथम संगीति का प्रचलित विवरण लिपिबद्ध हुआ, उस समय ऐसा मालूम होता है, आरण्यक का बड़ा प्रभाव था। इस लिए आनन्द या अन्य स्थविर को संगीति का प्रमुख न बनाकर महाकाश्यप को प्रमुख बनाया और उन्होंने केवल अर्हतों को संग्रह के काम के लिए चुना। क्योंकि धर्म का संग्रह आनन्द के बिना न हो सकता था, इसलिए वे उद्योग करके शीघ्र अर्हत् हो गये और उसके पश्चात् संगीति में संमिलित किये गये।

आगे चलकर जब भिक्षु विहार, संघाराम में रहने लगे, तब धुतवाद का ह्रास होने लगा; किन्तु नियमों का पालन कठोरता के साथ होने लगा और एकाधिकार बढ़ने लगा।

द्वितीय अध्याय

बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिकता

अब हम बुद्ध की शिक्षा पर विचार करेंगे। बुद्ध का उपदेश लोकभाषा में होता था; क्योंकि उनकी शिक्षा सर्वसाधारण के लिए थी। बुद्ध के उपदेश उपनिषद् के वाक्यों का स्मरण दिलाते हैं। उनकी शिक्षा की एक बड़ी विशेषता सार्वभौमिकता थी। इसी कारण एक समय बौद्धधर्म का प्रचार एक बहुत बड़े भूभाग में हो सका। उन्होंने मोक्ष के मार्ग का आविष्कार किया; किन्तु वह मार्ग प्राणिमात्र के लिए खुला था। जन्म से कोई बड़ा होता है या छोटा—इसे वे नहीं मानते थे। वृषल-सूत्र (सुत्तनिपात) में वे कहते हैं:—

"जन्म से कोई वृषल नहीं होता; जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। कर्म से वृषल होता है; कर्म से ब्राह्मण होता है। हे ब्राह्मण ! इस इतिहास को जानो कि यह विश्रुत है कि चाण्डाल-पुत्र (श्वपाक) मातंग ने परम यश को प्राप्त किया। यहाँ तक कि अनेक क्षत्रिय और ब्राह्मण उसके स्थान पर जाते थे। अन्त में वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ। ब्रह्मलोक की उपपत्ति में जाति बाधक नहीं हुई।"

'आश्वलायन-सूत्र' में भगवान् से आश्वलायन ब्राह्मण माणवक ने कहा कि हे गौतम ! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं–ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य वर्ण हीन हैं; ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं; अब्राह्मण नहीं; ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, उनके मुख से उत्पन्न हुए हैं—आप इस विषय में क्या कहते हैं ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"हे आश्वलायन ! क्या तुमने सुना है कि यवन कम्बोज में और अन्य प्रत्यन्तिक जनपदों में दो वर्ण हैं—आर्य और दास। आर्य से दास होता है, दास से आर्य होता है।"

"हाँ, मैंने ऐसा सुना है।"

"हे आश्वलायन ! ब्राह्मणों को क्या बल है, जो वे ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं, अन्य हीन वर्ण हैं। क्या मानते हो कि केवल ब्राह्मण ही सावद्य (पाप) से प्रतिविरत होकर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं; क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं ?"

"नहीं गौतम।"

"क्या तुम मानते हो कि ब्राह्मण ही मैत्र-चित्त की भावना में समर्थ होते हैं, ब्राह्मण ही नदी में स्नान कर शरीरमल को क्षालित कर सकते हैं ? इस विषय में क्या कहते हो ? यदि क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्या के साथ संवास करे और उसके पुत्र उत्पन्न हो तो वह पुत्र पिता के भी सदृश है, माता के भी सदृश है। उसे क्षत्रिय भी कहना चाहिये, उसे ब्राह्मण भी कहना

चाहिये। हे आश्वलायन! यदि ब्राह्मण-कुमार क्षत्रिय की कन्या के साथ संवास करे और उसके पुत्र पैदा हो तो क्या उसे क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों न कहेंगे?"

"हाँ, कहेंगे, गौतम!"

"हे आश्वलायन! मैं चारों वर्णों को शुद्ध मानता हूँ। जातिवाद ठीक नहीं है।"

'सुन्दरिक-भारद्वाज-सूत्र' में भगवान् कहते हैं कि जाति मत पूछो, आचरण पूछो—(मा जातिं पुच्छ चरणं च पुच्छ)। हवन के लिए लाये हुए काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है। नीच और अकुलीन भी धृतिमान् और श्रेष्ठ होता है। वासेट्ठपुत्त-सुत्त में वासिष्ठ और भारद्वाज दो माणवक भगवान् के समीप आते हैं और कहते हैं कि हममें जातिवाद के संबन्ध में विवाद है। भारद्वाज कहता है कि जन्म से ब्राह्मण होता है और वासिष्ठ कहता है कि कर्म से होता है। बताइये, हममें से कौन ठीक है? बुद्ध कहते हैं कि जिस प्रकार कीट-पतंग, चतुष्पद, मत्स्य, पक्षी आदि जातियों में जातिमय पृथक्-पृथक् लिंग होता है, उस प्रकार मनुष्यों में नहीं होता।

मनुष्यों में जिस किसी की जीविका गो-रक्षा है, वह कृषक है; वह ब्राह्मण नहीं है जिसकी जीविका व्यवहार है, वह वणिक् है। जिसकी जीविका पौरोहित्य है, वह याजक है और जो राष्ट्र का भोग करता है, वह राजा है। किन्तु तप, ब्रह्मचर्य, संयम और दम से ब्राह्मण होता है, जटा से, गोत्र से, जन्म से ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य और धर्म है, वह शुचि है, वह ब्राह्मण है। (धम्मपद-ब्राह्मण, वर्ग) हे दुर्मेध! तुम्हारी जटा और अजिन शाटी से क्या होता है? तुम्हारा आभ्यन्तर तो गहन है और तुम बाह्य का परिमार्जन करते हो। भगवान् कहते हैं कि लोक में जो नाना संज्ञाएँ प्रचलित हैं, वे भिक्षुभाव ग्रहण करने पर लुप्त हो जाती हैं, जैसे विभिन्न नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम-रूप को खो देती हैं। बौद्ध संघ में सबके लिए स्थान था। उस समय शूद्रों को तप करने का अधिकार न था; वे वेदाध्ययन भी नहीं कर सकते थे। श्रमणों ने सबके लिए निःश्रेयस् का मार्ग खोल दिया। बौद्धधर्म के प्रभाव से आगे चलकर अनेक अन्य सम्प्रदाय हुए, जिन्होंने सबको समान रूप से यह अधिकार दिया।

भगवान् की शिक्षा व्यावहारिक थी। वे दुःख के अत्यन्त निरोध का उपाय बताते थे। लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत; लोक अन्तवान् है या अनन्त; जीव और शरीर एक हैं या भिन्न; तथागत मरण के पश्चात् होता है या नहीं—इत्यादि दृष्टियों का व्याकरण (व्याख्या) बुद्ध ने नहीं किया है; क्योंकि उन्हीं के शब्दों में यह अर्थसंहित नहीं है और ये ब्रह्मचर्य-प्रवण नहीं हैं। ये विराग, विरोध, उपशम, संबोध, निर्वाण, संवर्तनीय नहीं हैं। ब्रह्मचर्य-वास इन दृष्टियों में से किसी पर आश्रित नहीं है। इन दृष्टियों के होते हुए भी, जन्म, जरा, मरण, शोक, दुःख होते ही हैं जिनका विघात इसी जन्म में हो सकता है। बुद्ध ने श्रावकों से पूछे जाने पर इन प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार किया। भगवान् 'अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त' में पुनः कहते हैं कि ये दृष्टियाँ कान्तार, गहन, संयोजन (बन्धन) आदि हैं। ये दुःख-परिदाह में हेतु हैं; ये निर्वाण-संवर्तनीय नहीं हैं। इसलिए मैं इन दृष्टियों में दोष देखता हूँ और इनका उपगम नहीं करता। तथागत सब दृष्टियों से अपनीत हैं। इसलिए बुद्ध ऐसे प्रश्नों की गुत्थियों को

सुलझाने में नहीं लगे थे। यह तो दर्शनशास्त्र का विषय था। बुद्ध ने मोक्ष का उपाय बताया। इससे इन प्रश्नों का क्या संबन्ध है? आगे चलकर जब बौद्ध-दर्शनशास्त्र संगठित हुए, तब उन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर दिया। अन्य सम्प्रदायों से जब वाद-विवाद होता था, तब बौद्ध इन प्रश्नों का उत्तर देने के लोभ का संवरण न कर सके और बुद्ध की इस शिक्षा को वे भूल गये कि ये दृष्टियाँ अर्थ-सहित नहीं।

मध्यम-मार्ग

भगवान् बुद्ध का बताया मार्ग मध्यम-मार्ग कहलाता है; क्योंकि यह दोनों अन्तों का परिहार करता है। जो कहता है कि आत्मा है, वह शाश्वत दृष्टि के पूर्वान्त में अनुपतित होता है; जो कहता है कि आत्मा नहीं है, वह उच्छेद-दृष्टि के दूसरे अन्त में अनुपतित होता है। उच्छेद और शाश्वत दोनों अन्तों का परिहार कर भगवान् मध्यमा-प्रतिपत्ति (मार्ग) का उपदेश करते हैं। एक अन्त काम-सुखानुयोग है, दूसरा अन्त आत्मक्लमथानुयोग है। भगवान् दोनों का परिहार करते हैं। भगवान् कहते हैं कि देव और मनुष्य दो दृष्टिगतों से परिपुष्ट होते हैं। केवल चक्षुष्मान् यथाभूत देखता है। एक भव में रत होते हैं। जब भवनिरोध के लिए धर्म की देशना होती है तब उनका चित्त प्रसन्न नहीं होता। इस प्रकार वह इसी ओर रह जाते हैं। एक भव से जुगुप्सा कर विभव का अभिनन्दन करते हैं। वे मानते हैं कि उच्छेद ही शाश्वत और प्रणीत है। वे अतिधावन करते हैं। चक्षुष्मान् भूत को भूततः देखता है; भूत को भूततः देखकर वह भूत के विराग, निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है। यह मध्यम-मार्ग अष्टांगिक-मार्ग है। भगवान् यह नहीं कहते कि मुझपर श्रद्धा रखकर बिना समझे ही मेरे धर्म को मानो। भगवान् कहते हैं कि यह 'एहि पस्सिक', 'पच्चतं वेदितब्बं' धर्म है। भगवान् सबको निमंत्रण देते हैं कि आओ और देखो, इस धर्म की परीक्षा करो। प्रत्येक को इसका अपने चित्त में अनुभव करना होगा। यह ऐसा धर्म नहीं है कि एक मार्ग की भावना करे और दूसरा फल का अधिगम करे। दूसरे के साक्षात्कार करने से इसका साक्षात्कार अपनेको नहीं होता। इसलिए भगवान् कहते हैं कि हे भिक्षुओ! तुम अपने लिए स्वयं दीपक हो; दूसरे की शरण न जाओ। धम्मपद में भगवान् कहते हैं—"अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।" भगवान् एक सूत्र में कहते हैं कि धर्म प्रतिसरण है, पुद्गल (जीव) नहीं। प्रतिसरण का अर्थ है 'प्रमाण'। शास्ता भी प्रतिसरण नहीं हैं। एक ब्राह्मण आनन्द से पूछता है कि भगवान् ने या संघ ने किसी भिक्षु को नियत किया है, जो उनके पीछे प्रतिसरण होगा? आनन्द ने उत्तर दिया, नहीं। ब्राह्मण ने कहा कि बिना प्रतिसरण के संघ की सामग्री (साकल्य) कैसे रहेगी? आनन्द ने कहा कि हम बिना प्रतिसरण के नहीं हैं। धर्म हमारा प्रतिसरण है।

लोग आत्मकल्याण के लिए अनेक मंगल कृत्य करते हैं; तिथि, मुहूर्त नक्षत्रादि का फल विचरवाते हैं; नाना प्रकार के व्रतादि करते हैं और उनकी यह दृष्टि होती है कि यह पर्याप्त है। उन्हें 'शीलव्रत-परामर्श' कहते हैं। इनमें अभिनिवेश होने से आत्मोन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है। गृही के लिए दृष्टि का शोध कठिन होता है; क्योंकि उसकी विविध दृष्टि

होती है। इसलिए एक श्लोक में कहा है—

दुःशोधा इन्द्रियहिया नित्यं विविधहरिणा।
भिक्षुणा त्वाजीव एव परेस्वायत्तवृत्तिना॥

इसी प्रकार भिक्षु के लिए आजीव-परिशुद्धि कठिन है, क्योंकि उसको अपनी वृत्ति के लिए दूसरों पर आश्रित होना होता है। भगवान् महामंगल-सुत्त में कहते हैं कि माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का संग्रह, दान, धर्मचर्या, अनवद्य कर्म—ये उत्तम मंगल हैं। तप, ब्रह्मचर्य, आर्य-सत्यों का दर्शन, निर्वाण का साक्षात्कार, ये उत्तम मंगल हैं।

भगवान् कहते हैं कि वही सुखी है, जो जय-पराजय का त्याग करता है। जय वैर को उत्पन्न करता है; पराजय दुःख का प्रसव करता है। अतः दोनों का परित्याग कर, उपशान्त हो, सुख का आसेवन करना चाहिये। राग, द्वेष और मोह—यह तीन अकुशल मूल हैं; इनका प्रहाण होना चाहिये। "राग के समान कोई अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई कलि नहीं है, शान्ति के समान कोई सुख नहीं", "अक्रोध से क्रोध को जीते, साधुता से असाधु को जीते, कदर्य को दान से और मृषावादी को सत्य से जीते।"

इसलिए भगवान् मैत्री-भावना की महिमा का वर्णन करते हैं। यह चार ब्रह्मविहारों में से एक है।

मेत्तभाव-सुत्त में भगवान् कहते हैं—जितनी पुण्य क्रियावस्तु हैं, वे सब मैत्री-भाव की १६ वीं कला के भी बराबर नहीं हैं। एक भी प्राणी में दुष्ट-चित्त न होना चाहिये। सब के लिए मैत्री का भाव होना चाहिये। इस प्रकार आर्य प्रभूत पुण्य करता है। जिसका किसी से वैर नहीं है, जो सब भूतों से मैत्री करता है, वह सुखी होता है। रतन-सुत्त में सब भूतों के कल्याण की प्रार्थना है। भगवान् इन्द्रिय-संयम का महत्त्व बताते हैं। वे कहते हैं कि जिसके इन्द्रिय-द्वार अगुप्त हैं, जो भोजन में मात्रा का विचार नहीं करता, उसका चित्त और उसका काय दोनों दुःखी होते हैं। स्मृति और संप्रजन्य से आत्म-रक्षा होती है। ये द्वारपाल हैं, जो चित्तपथ की पाप, अकुशल से रक्षा करते हैं। तीन अकुशल वितर्क हैं—काम, व्यापाद और विहिंसा। इनका परित्याग करना चाहिये। तीन कुशल वितर्कों का—नैष्कर्म्य, अव्यापाद और अविहिंसा का संग्रह करना चाहिये।

इसलिए भिक्षु की आजीव-शुद्धि होनी चाहिये। उसे मैत्री-विहारी और मन-काय-वाक् से संयत होना चाहिये। जो यथार्थ भिक्षु नहीं है, जो याचनक मात्र है, जो दुःशील है, उसके लिए भगवान् कहते हैं कि यह अच्छा है कि वह तप्त लोहे के गोले को खाये, इसकी अपेक्षा कि वह असंयत राष्ट्रपिंड का भोग करे। पुनः कहते हैं कि इस कारण्डक (यव की आकृति का तृण-विशेष जो यवदूषी कहलाता है) को विनष्ट करो, इस कशाम्बक (पूतिकाष्ठ) को अपकृष्ट करो, इस तण्डुल-विहीन व्रीहि को निष्कान्त करो (सुत्तनिपात, पृ० २८१)। यह अश्रमण है, किन्तु श्रमण होने का मान करता है।

जो भिक्षु पतनीय का आपन्न होता है, उसको भगवान् ने भिक्षुओं के साथ सब प्रकार का संयोग करने से बहिष्कृत किया है। आहार के एक ग्रास का भी परिभोग उसके लिए मना

है; विहार के पार्श्विप्रदेश का परिभोग भी उसके लिए वर्जित है। भगवत्-आपन्न भिक्षु की उपमा मस्तकच्छिन्न तालवृक्ष से देते हैं जो विरूढ़ि, वृद्धि, उपचय, विस्तार के लिए अभव्य हो जाता है। यथार्थ भिक्षु वह है, जिसने क्लेशों का भेद किया।

शिक्षात्रय

निर्वाण के लिए उद्योग करने वाले भिक्षु को सब प्रकार के अभिनिवेश का परित्याग करना चाहिये। रति-अरति, जय-पराजय, पाप-पुण्य सबसे उसे परे होना चाहिये। जिस मार्ग से दुःख का निरोध होता है, उसमें अभिष्वंग नहीं होना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि धर्म कोलोपम[1] है। यह निस्तार के लिए है, ग्रहण के लिए नहीं। इसलिए जो ज्ञानी हैं,उनको धर्म का भी परित्याग करना चाहिये, अधर्म का भी।

हम ऊपर कह चुके हैं कि भगवत् की चतुःसत्री है। यह चार आर्य-सत्य कहलाते हैं। दुःख क्यों होता है और दुःख के निरोध का उपाय क्या है, यह बुद्ध ने बताया है। बौद्धों की साधना त्रिशिक्षा कहलाती है—शील-शिक्षा (अधिशील), समाधि-शिक्षा (अधिचित्त), प्रज्ञा (अधिप्रज्ञा)। यही विशुद्धि का मार्ग है। सभी जीव तृष्णारूपी जटा से विजटित हैं। जिस प्रकार वेणुवृक्ष गुल्मादिलता से भीतर-बाहर सब ओर आच्छादित और विनद्ध होता है, उसी प्रकार सब जीव तृष्णा से आच्छादित होते हैं। तृष्णा रूपादि आलम्बनवश बार-बार उत्पन्न होती है। तृष्णा का विनाश किये बिना दुःख का अत्यन्त निरोध नहीं होता। विगत-तृष्ण ही निर्वाण पद का लाभ करता है। इस तृष्णा-जटा का विनाश करने से ही विशुद्धि होती है। इस विशुद्धि के अधिगम का क्या उपाय है ? संयुत्त-निकाय में भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य शील में प्रतिष्ठित है, समाधि और विपश्यना (प्रज्ञा) की भावना करता है, वह प्रज्ञावान् और वीर्यवान् भिक्षु इस तृष्णा-जटा का नाश करता है। शील शासन की मूल भित्ति; आधार हैं। इसलिए शील शासन का आदि है, यही शासन की आदि-कल्याणता है। सर्वपाप से विरति ही शील है (सब्ब पापस्स अकरणं)। कुशल (शुभ) में चित्त की एकाग्रता समाधि है। यह शासन का मध्य है। प्रज्ञा, विपश्यना शासन का पर्यवसान है। जब योगी प्रज्ञा से देखता है कि संस्कार अनित्य हैं, सब संस्कार दुःख हैं, सब धर्म अनात्म हैं, तब दुःख का निरोध होता है। यह प्रज्ञा इष्ट अनिष्ट में तादि-भाव (समभाव) का आवाहन करती है।

जैसे शैल वात से ईरित नहीं होता, वैसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से विचलित नहीं होता।

शील से अपाय (पाप) का अतिक्रम होता है, समाधि से कामधातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का समतिक्रम होता है। समाधि क्लेशों का निष्कम्भन करती है अर्थात् उनको अभिभूत करती है और प्रज्ञा उनका समुच्छेद करती है। एक दूसरी दृष्टि से शील से दुश्चरित्र का, समाधि से तृष्णा-संक्लेश का और प्रज्ञा से दृष्टि-संक्लेश का विशोधन होता है।

---

१. पालि–कुल्ल, संस्कृत–कौल। तृण, काष्ठ, शाखा, पलाश को लाकर को बलाँधते हैं और उसके सहारे नदी पार करते हैं।

प्राणातिपातादि वधादिविरमन और भिक्षुओं के लिए उपदिष्ट वर्त-प्रतिपत्ति (कर्तव्य-आचार) की, संवर आदि की पूर्ति शील है। दो शुक्र धर्मों के होने से शील की उत्पत्ति, स्थिति होती है। यह ह्री और अत्रपा हैं। ये दो शुक्र धर्म लोक का पालन करते हैं। शील संपन्न पुद्गल की तीन शुचियां होती हैं—काय, वाक्, चेतस्। उपासक के लिए पांच विरति हैं और भिक्षुओं के लिए दस। ये पंच-शील और दश-शील कहलाती हैं।

(१) प्राणातिपात-विरति; (२) अदत्तादान*; (३) अब्रह्मचर्य*; (४) मृषावाद*; (५) सुरामद्यमैरेय*; (६) अकालभोजन*; (७) नृत्यगीत-वादित्र*; (८) माल्य-गन्ध-विलेपन*; (९) उच्चासनशयन*; तथा (१०) जातरूप-रजत प्रतिग्रह*।

जो भिक्षु शिक्षापदों की रक्षा करता है, जो आचार-गोचर संपन्न है, अर्थात् जो मनसा, वाचा, कर्मणा अनाचार नहीं करता और योगक्षेम चाहनेवाले कुलों का आसेवन करता है, जो अणुमात्र भी पाप से डरता है, जिसकी इन्द्रियाँ संवृत हैं, जो आजीव के लिए पाप धर्मों का आश्रय नहीं लेता अर्थात् जिसका आजीव परिशुद्ध है, जो भिक्षु परिष्कारों का उपयोग प्रयोजनानुसार करता है, जो शीतोष्ण से शरीर-रक्षा के लिए और लज्जा के लिए चीवर धारण करता है, शरीर को विभूषित करने के लिए नहीं; जो शरीर की स्थिति के लिए आहार करता है—इत्यादि, उस भिक्षु का शील परिपूर्ण होता है।

इस प्रकार शीलसंपन्न होकर समाधि की भावना करनी चाहिये। कुशल चित्त की एकाग्रता समाधि है। जब तक चित्त सुभावित नहीं होता, तब तक राग से उसकी रक्षा नहीं होती। जैसे अच्छी तरह छाये हुए घर की वृष्टि से हानि नहीं होती, उसी प्रकार सुभावित चित्त में राग को अवकाश नहीं मिलता (धम्मपद)।

अनेक प्रयोगों से चित्त को समाहित करते हैं। यहाँ सबका वर्णन करना संभव नहीं है। आगे समाधिप्रकरण में इसका विस्तार से वर्णन करेंगे। यहाँ केवल दिङ्मात्र का निदर्शन करते हैं। कल्याणमित्र से चर्यानुकूल कोई कर्मस्थान (योगानुयोग की निष्पत्ति में हेतु) का ग्रहण करना चाहिये। उदाहरण के लिए मृत्पिण्ड, नीलपीतादि पुष्प या वस्त्र का ध्यान करते हैं। चार या पांच ध्यान हैं। जब अभ्यासवश ध्यान विशद होते हैं, तब समापत्ति (समाधि)-कौशल प्राप्त होता है। अन्य भी कर्मस्थान हैं, किन्तु अशुभ, आनापान-स्मृति और मैत्री-भावना का विशेष महत्त्व है। रागाग्नि के उपशम के लिए अशुभ संज्ञा है। 'काय को अशुभ, अशुचि समझना' यह अशुभ-संज्ञा है। इससे रागानुशय प्रहीण होता है। आनापान-स्मृति प्राणायाम का प्रयोग है। इससे काम और चित्त की प्रश्रब्धि होती है। इस कर्मस्थान की भावना से भगवान् कहते हैं कि पाप, अकुशल-धर्म ज्यों ही उत्पन्न होते हैं, त्यों ही अन्तर्हित हो जाते हैं। इसकी भगवान् ने बहुत प्रशंसा की है। यह स्वभाव से ही शान्त और प्रणीत है। द्वेषाग्नि के उपशम के लिए मैत्री-भावना है; इससे शान्ति का अधिगम होता है। बुद्ध कहते हैं कि क्षान्ति परम-तप है, क्षान्ति का बल बड़ा है। मैत्री-भावना करने वाला प्रार्थना करता है कि सब सत्त्व सुखी हों; सब का क्षेम-कल्याण हो। वह सब दिशाओं को मैत्री-सहगत-चित्त से व्याप्त करता है। मैत्री-भावना चार ब्रह्म-विहारों में से एक है। अन्य ब्रह्म-विहार मुदिता, करुणा, उपेक्षा हैं। इनका

उल्लेख योगसूत्र में है। इस प्रकार समाधि द्वारा चित्त को कुशल, शुभ धर्मों में समाहित कर क्लेशों को अभिभूत करते हैं। किन्तु इससे क्लेश निर्मूल नहीं होते। इसके लिए प्रज्ञा की भावना करनी होती है। 'इतिवुत्तक' में कहा है कि मोहाग्नि के उपशम के लिए निर्वेधगामिनी प्रज्ञा की आवश्यकता है। 'प्रज्ञा' कुशल (शुभ)-चित्त, संप्रयुक्त-विपश्यना, ज्ञान है। धर्मों के स्वभाव का प्रतिवेध करना प्रज्ञा का लक्षण है। समाधि इसका आसन्न कारण है, क्योंकि समाहित चित्त ही यथाभूतदर्शी होता है। सब संस्कार अनित्य और दुःख हैं, सब संस्कार अनात्म हैं। लोक शाश्वत है, इत्यादि मिथ्यादृष्टि का प्रहाण प्रज्ञा से होता है।

प्रतीत्य-समुत्पाद

दुःख का समुदय, हेतु,—दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका यथाभूत ज्ञान दुःख-निरोध के लिए आवश्यक है। इस क्रम को प्रतीत्य-समुत्पाद (हेतु-फलपरम्परा) कहते हैं। बुद्ध की देशना में इसका ऊँचा स्थान है। इसलिए हम संक्षेप में इसका निर्देश करेंगे। इसके बारह अंग हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण। इस प्रक्रिया से केवल दुःख-स्कन्ध (राशि) का समुदय होता है।

हेतु-प्रत्ययवश धर्मों की उत्पत्ति होती है। अविद्या-प्रत्ययवश संस्कार होते हैं, संस्कार-प्रत्ययवश विज्ञान होता है, एवमादि। अतः प्रतीत्य-समुत्पाद प्रत्यय-धर्म है और प्रतीत्य-समुत्पन्न उन उन प्रत्ययों से अभिनिर्वृत्त, उत्पन्न धर्म है। द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद को तीन काण्डों में विभक्त करते हैं—अविद्या और संस्कार अतीत में, पूर्व-भव में; जाति और जरामरण अपर-भव में; शेष आठ अंग वर्तमान-भव में। हमारा यह आशय नहीं है कि मध्य के आठ अंग सब जीवों के प्रत्युत्पन्न (वर्तमान)-भव में नित्य पाये जाते हैं। यहाँ हम उस संतति का विचार करते हैं, जो सर्वाङ्ग है। प्रतीत्य-समुत्पाद की इस कल्पना में जो विविध अंग हैं, हम उनका यहाँ संक्षेप में वर्णन करते हैं। आगे चलकर प्रतीत्य-समुत्पाद-वाद के प्रसङ्ग में विस्तृत विवेचन करेंगे।

(१) अविद्या—पूर्व जन्म की क्लेश दशा है। यहाँ पूर्वजन्म की संतति, जो क्लेशावस्था में होती है, अभिप्रेत है।

(२) संस्कार—पूर्व जन्म की कर्मावस्था है। पूर्व भव की संतति पुण्य अपुण्यादि कर्म करती है। यह पुण्यादि कर्मावस्था 'संस्कार' है।

(३) विज्ञान—प्रतिसन्धि-स्कन्ध है। प्रतिसन्धि-क्षण (उपपत्ति-क्षण) में कुक्षि के जो पंच-स्कन्ध होते हैं, वह विज्ञान है।

(४) इस क्षण से लेकर षडायतन की उत्पत्ति तक 'नामरूप' है।

(५) षडायतन—इन्द्रियों के प्रादुर्भाव काल से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के सन्निपात काल तक 'षडायतन' है।

(६) स्पर्श—सुख दुःखादि के कारण ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व स्पर्श है।

यावत् बालक सुख-दुःखादि के कारण को समझने में समर्थ नहीं होता, तब तक की अवस्था 'स्पर्श' है।

(७) वेदना—मैथुन से पूर्व, यावत् मैथुन-राग का समुदाचार नहीं होता, तब तक की अवस्था 'वेदना' है।

(८) तृष्णा—भोग और मैथुन की कामना करने वाले जीव की अवस्था तृष्णा है। रूपादि कामगुण और मैथुन के प्रति राग का समुदाचार 'तृष्णा' की अवस्था है। इसका अन्त तब होता है जब इस राग के प्रभाव से जीव भोगों की पर्येष्टि आरम्भ करता है।

(९) उपादान—'उपादान' का तृष्णा से विवेचन करते हैं। यह उस जीव की अवस्था है, जो भोगों की पर्येष्टि में दौड़ धूप करता है। वह भोगों की प्राप्ति के लिए सब ओर प्रधावित होता है।

(१०) भव—उपादानवश सत्त्व कर्म करता है, जिसका फल अनागत-भव है। 'भव' कर्म है जिसके कारण जन्म होता है। यह 'कर्मभव' है। जिस अवस्था में जीव कर्म करता है, वह 'भव' है।

(११) जाति—यह पुनः प्रतिसंधि है। मरणानन्तर प्रतिसंधि-काल के पंच स्कन्ध 'जाति' हैं। प्रत्युत्पन्न-भव की समीक्षा में जिस अंग को 'विज्ञान' का नाम देते हैं; उसे अनागत भव की समीक्षा में 'जाति' की संज्ञा मिलती है।

(१२) जरामरण—वेदनांग तक जरामरण है। प्रत्युत्पन्न-भव के चार अंग—नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना—अनागत-भव के संबन्ध में 'जरामरण' कहलाते हैं।

अंगों का नाम-संकीर्तन उस धर्म के नाम से होता है, जिसका वहाँ प्राधान्य है। प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के संमोह की विनिवृत्ति के लिए है। इसी हेतु से प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना त्रिकाण्ड में है। यह संमोह कि मैं अतीत अध्व में था या नहीं, यह संमोह कि मैं अनागत अध्व में हूँगा या नहीं, यह संमोह कि हम कौन हैं, यह क्या है, इत्यादि अविद्या···जरामरण के यथाक्रम उपदेश से विनष्ट होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद के तीन अंग क्लेश हैं, दो अंग कर्म हैं; सात वस्तु और फल हैं।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब प्रतीत्य-समुत्पाद के बारह अंग हैं, तो संसरण की आदि कोटि होगी; क्योंकि अविद्या का हेतु निर्दिष्ट है। संसरण की अन्त कोटि भी होगी, क्योंकि जरामरण का फल निर्दिष्ट नहीं है? ऐसा नहीं है। क्लेश से क्लेश और कर्म की उत्पत्ति होती है। इनसे वस्तु की, वस्तु से पुनः वस्तु और क्लेश की उत्पत्ति होती है। भवांगों का यह नय है। अविद्या जो शीर्ष स्थान में है अहेतुकी नहीं है। वह भी प्रत्ययवश उत्पन्न होती है। वह प्रकृतिवादियों की प्रकृति के तुल्य अकारण नहीं है। यह लोक का मूल कारण नहीं है। उसका भी कारण है। इस प्रकार भवचक्र अनादि है। कर्मक्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश, कर्मक्लेश-प्रत्ययवश पुनरुत्पत्ति होती है। किन्तु यदि हेतु-प्रत्यय का विनाश हो तो, हेतु-प्रत्यय से अभिनिर्वृत्त की उत्पत्ति नहीं होगी—यथा दग्ध-बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

अष्टांगिक मार्ग

वह कौन सा उपाय है जिससे कर्म-क्लेश का अत्यन्त निरोध होता है? यह आर्य अष्टांगिक मार्ग है। इसे उत्तम मार्ग कहा है। इसके आठ अंग इस प्रकार हैं—

सम्यग्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यग्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, सम्यग्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यगाजीव तथा सम्यक्-समाधि।

इसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का समावेश है। सम्यग्-दृष्टि का शीर्ष स्थान है, क्योंकि सम्यग्-दृष्टि से विशोधित शील और समाधि इष्ट हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि क्लेश-कर्मवश दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः दुःख के निरोध के लिए क्लेश-बीज को दग्ध करना चाहिये। क्लेश-बीज 'अनुशय' हैं, जो अणु होते हैं। इनका सूक्ष्म प्रचार होता है, ये दुर्विज्ञेय हैं, ये पुष्टि-लाभ करते हैं। बिना प्रयोग के ही और निवारण करने पर भी इनका पुनः पुनः संमुखीभाव होता है। अनुशय सात हैं—कामराग, भवराग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि तथा विचिकित्सा। इनमें से कोई दर्शन-हेय है और कोई भावना-हेय है। भावना पुनः पुनः सत्यदर्शन है। यह समाहित-कुशल चित्त है। चित्त-सन्तति को समाहित-कुशल अत्यन्त वासित करता है, गुणों से तन्मय करता है; जैसे फूल से तिल को वासित किया जाता है।

शील और चित्त को विशुद्ध कर चार स्मृत्युपस्थान की भावना करते हैं। इन्हें भगवान् ने कुशल-राशि कहा है। इस अभ्यास में काम, वेदना, चित्त और धर्मों के स्वलक्षण और सामान्यलक्षणों की परीक्षा करते हैं। योगी विचार करता है कि सब संस्कृत अनित्य हैं, सब सास्रव-धर्म दुःख हैं, सब धर्म शून्य और अनात्मक हैं; काम का स्वभाव चार महाभूत और भौतिक रूप है। इस अभ्यास से चार निर्वेधभागियों का लाभ होता है। ये चार कुशल-मूल हैं—उष्मगत, मूर्धन्, क्षान्ति और अग्रधर्म। ये लौकिक सम्यग् दृष्टि की चार उत्कृष्ट अवस्थाएं हैं। जब धर्म-स्मृत्युपस्थान में स्थित हो, योगी समस्त आलम्बन को अनित्यतः, दुःखतः, शून्यतः और निरात्मतः देखता हो, तब 'उष्मगत' (एक प्रकार का कुशल-मूल) की उत्पत्ति होती है। यह आर्य-मार्ग का पूर्व निमित्त है। यह वह उष्म (अग्नि) है, जो क्लेशरूपी इन्धन को दग्ध करता है। चतुःसत्य इसका गोचर है और इसके १६ आकार हैं। उष्मगत से 'क्रमेण' की उत्पत्ति होती है। ये तत्सम होते हैं, किन्तु प्रणीत होने के कारण इनको दूसरा नाम देते हैं। 'मूर्ध' शब्द प्रकर्ष पर्यन्तवाची है। चार कुशल मूलों का यह शीर्ष है, क्योंकि इससे परिहाणि हो सकती है। मूर्धन् से 'क्षान्ति' उत्पन्न होती है। 'क्षान्ति' संज्ञा इसलिए है, क्योंकि इस अवस्था में आर्य-सत्यों में अत्यन्त रुचि होती है। 'क्षान्ति' के तीन प्रकार हैं—मृदु, मध्य और अधिमात्र। मृदु और मध्य तद्वत् हैं। अधिमात्र 'क्षान्ति' का विषय कामाप्त दुःख है। इनसे लौकिक अग्रधर्म उत्पन्न होते हैं। ये सास्रव होने से लौकिक हैं। ये भी अधिमात्र क्षान्ति के तुल्य कामाप्त दुःख को आलम्बन बनाते हैं और एक-क्षणिक हैं। इस प्रकार स्मृत्युपस्थान प्रणीततम होते हैं और सत्यों के अनास्रव-दर्शन (अभिसमय) का आवाहन करते हैं।

इन्हें निर्वेधभागीय कहते हैं, क्योंकि ये निश्चित-वेध हैं। इनसे विचिकित्सा का प्रहाण और सत्यों का वेध (विभजन) होता है; "यह दुःख है, यह दुःख-समुदय है, यह निरोध है, यह मार्ग है।" यह प्रयोग-मार्ग है। अब प्रहाण-मार्ग आता है, जिससे क्लेशों का प्रहाण होता है। अब सत्यों के अनास्रव-दर्शन (सत्याभिसमय) का आरम्भ होता है। यह अनास्रव प्रज्ञा है; यह सर्व विपर्यास से विनिर्मुक्त, रागादि सर्व क्लेश-रहित है। यह सत्यों के सामान्य लक्षणों का ग्रहण करती है। योगी पहले कामधातु के दुःख-सत्य का दर्शन करता है। पहले क्षण में वह सकल विचिकित्सा का अन्त करता है। यह प्रमाण-मार्ग है, यह आनन्तर्य-मार्ग है। यह प्रथम क्षण 'सम्यक्त्वनियामावक्रान्ति' कहलाता है; इस समय से योगी आर्य कहलाता है। वह श्रामण्य के प्रथम फल में प्रतिपन्न हो जाता है।

जब विचिकित्सा का नाश होता है, तब दूसरे क्षण में वह एक क्लेश प्रकार से विमुक्त होता है। यह विमुक्ति-मार्ग है। इसी प्रकार अन्य क्षणों में वह रूप और आरूप्य-धातु के दुःख-सत्य का दर्शन करता है। इसी प्रकार वह अन्य सत्यों का दर्शन करता है और अमुक-अमुक क्लेश प्रकार से विमुक्त होता है। इस प्रक्रिया के समाप्त होने पर भावना-मार्ग का आरम्भ होता है। उस समय योगी स्रोत-आपन्न-फल का अधिगम करता है। उसकी विमुक्ति निश्चित हो जाती है और आशु होती है। वह अधिक से अधिक सात या चौदह जन्मों में निर्वाण का लाभ करेगा।

दर्शन-मार्ग केवल दृष्टियों का समुच्छेद करता है। यह राग-द्वेष का उपच्छेद नहीं करता, जो केवल भावना-हेय हैं। यह अभ्यास का, पुनः पुनः आमुखीकरण का मार्ग है। योगी दर्शन-मार्ग से व्युत्थान कर अनास्रव भावना-मार्ग में प्रवेश करता है। इसमें सत्य का पुनः पुनः दर्शन करना होता है। इस भावना से योगी नौ प्रकार के क्लेशों का क्रम से प्रहाण करता है। जो छठे प्रकार के कामावचर-क्लेशों का प्रहाण करता है, वह सकृदागामी होता है। वह केवल एक बार और काम-धातु में उत्पन्न होगा। जो नौ प्रकार के इन क्लेशों का प्रहाण करता है, वह अनागामी होता है। वह कामधातु में पुनरुत्पन्न न होगा। जिस प्रहाण-मार्ग से योगी भवाग्र के क्लेशों के नवें प्रकार का प्रहाण करता है, उसे वज्रोपम-समाधि कहते हैं। इसके अनन्तर विमुक्ति-मार्ग है। तब योगी अर्हत्, अशैक्ष हो जाता है। वह क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान से समन्वागत होता है।

संक्षेप में यह मोक्ष की साधना है। आगे इसका विस्तार से वर्णन होगा।

पंच-शील

मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। गृहस्थ के लिए अनेक विघ्न हैं। उसके लिए यह साधना सुलभ नहीं है। साधारणतः वे स्वर्गोपपत्ति चाहते हैं। उनके लिए शील की शिक्षा है। उपासक होने के लिए त्रिशरण-गमन की विधि है। जो उपासक होना चाहता है, वह बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाता है। "बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि" ये त्रिरत्न हैं। बुद्ध की शरण में जाने का अर्थ है बुद्धकारक धर्मों की शरण में जाना।

उपासकों के पंच-शील ये हैं—

१—प्राणातिपात-विरति, २—अदत्तादान-विरति, ३—काम-मिथ्याचार-विरति, ४—मृषावाद-विरति तथा ५—सुरा-मैरेय-प्रमाद-स्थान-विरति।

उपासक धर्म-श्रवण करते हैं, उपवास-व्रत रखते हैं, भिक्षुओं को दान देते हैं, चार तीर्थों की यात्रा करते हैं। चार तीर्थ ये हैं—कपिलवस्तु, बोधिगया, सारनाथ, कुसिनारा। उपासक को भद्रक-शील और भद्रक-दृष्टि से समन्वागत होना चाहिये। उसको मानसिक, कायिक तथा वाचिक दुश्चरित से बचना चाहिये। उसको सुचरित करना चाहिए। इस प्रकार वह अपाय-गति से बचता है और स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

बुद्ध स्वर्ग-नरकादि मानते थे। उनका लोकवाद वही था, जो कि उस समय के वैदिकों का था। केवल अर्हत् को वे सबसे ऊँचा और उत्तम पद समझते थे। वास्तव में दीर्घायु देव की अवस्था अक्षणावस्था है, क्योंकि इसमें धर्म-प्रविचय अशक्य है।

उस काल में ऋद्धि-प्रातिहार्य का बड़ा प्रभाव था। सब धर्मों में अद्भुत कर्मों का प्रभाव रहा है। बौद्ध-धर्म भी इससे न बच सका। किन्तु बुद्ध ने भिक्षुओं को 'उत्तरि मनुस्सधम्म' दिखाने से मना किया और अनुशासनी-प्रातिहार्य (उपदेश) का सबसे अधिक महत्त्व बताया, अर्थात् धर्मोपदेश ही सबसे बड़ा अद्भुत कर्म है।

तृतीय अध्याय

बुद्ध-देशना की भाषा तथा उसका विस्तार

भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में धर्म का उपदेश दिया था यह जानने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। बुद्धघोष का कहना है कि यह भाषा मागधी थी और उनके अनुसार पालि-भाषा की प्रकृति मागधी भाषा है। रीस् डेविड्स का कहना है कि बुद्ध की मातृभाषा कोशल की भाषा थी और इसी भाषा में बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया क्योंकि कोशल के राजनीतिक प्रभाव के कारण यह भाषा उस समय दिल्ली से पटने तक और श्रावस्ती से अवन्ती तक बोली जाती थी। उसका यह भी मत है कि पालि-भाषा कोशल की बोलचाल की भाषा से निकली थी। पालि-भाषा की बनावट पर यदि दृष्टि डाली जाय और उसकी तुलना अशोक के शिला-लेखों की भाषा से की जाय तो मालूम पड़ेगा कि पालि गिरनार-लेख की भाषा से मिलती-जुलती है। इस कारण वेस्टरगार्ड और ई० कुह्नने पालि को उज्जैन की भाषा से संबद्ध बताया। उनका कहना है कि अशोक के पुत्र (या भाई) महेन्द्र का जन्म उज्जैन में हुआ था और उन्होंने ही लंका-द्वीप में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। उनका कहना है कि यह स्वाभाविक है कि महेन्द्र ने अपनी मातृभाषा का प्रयोग धर्मप्रचार के कार्य में अवश्य किया होगा। इस कारण उनके मत में पालि उज्जैन की भाषा से संबन्ध रखती है। जो कुछ हो, भाषा की बनावट को देखते हुए हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि पालि भारत के पश्चिम प्रदेश की कोई भाषा मालूम पड़ती है और इसके विकास में संस्कृत का अच्छा खासा हाथ है।

यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में धर्म का प्रचार किया पर चुल्लवग्ग से हमको यह मालूम है कि भगवान् बुद्ध किसी भाषा विशेष पर जोर नहीं देते थे। चुल्लवग्ग (५।३३।१) में लिखा है कि किसी समय दो भिक्षुओं ने भगवान् से शिकायत की कि भिक्षु बुद्ध-वचन को अपनी अपनी बोली में (सकाय-निरुत्तिया) परिवर्तित कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने भगवान् से निवेदन किया कि संस्कृत (=छन्दस्) के प्रयोग की आज्ञा प्रदान की जाय जिसमें एक ही भाषा में सारे बुद्ध-वचन सुरक्षित रहें और भिन्न-भिन्न प्रदेश के भिक्षु अपनी इच्छा के अनुसार बुद्धवचन को भिन्न-भिन्न रूप न दे सकें। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं भिक्षुओं को अपनी-अपनी भाषा के प्रयोग करने की आज्ञा देता हूँ (अनुजानामि भिक्खवे सकाय-निरुत्तिया बुद्ध-वचनं परियापुणितुं) और उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। बुद्ध शब्द-विशेष के प्रयोग का महत्त्व नहीं मानते थे। उनकी केवल यही इच्छा थी कि लोग 'धर्म' को जानें और उसका अनुसरण करें। इस आज्ञा के अनुसार भिक्षु बुद्ध शिक्षा को पैशाची, अपभ्रंश, संस्कृत, मागधी या अन्य किसी भाषा में उपनिबद्ध कर सकते

थे। हमारे पास इसका पर्याप्त प्रमाण है कि भिक्षुओं ने इस आदेश के अनुसार कार्य भी किया। विनीतदेव (८वीं शताब्दी ई०) का कहना है कि सर्वास्तिवादी संस्कृत, महासांघिक प्राकृत, सम्मितीय अपभ्रंश, और स्थविरवादी पैशाची भाषा का प्रयोग करते थे[1]। वासिलीफ[2] का कहना है कि पूर्व-शैल और अपर-शैल के प्रज्ञा-ग्रन्थ प्राकृत में थे। बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थ, पालि, गाथा, संस्कृत, चीनी और तिब्बती भाषाओं में पाये जाते हैं। मध्य-एशिया की खोज में बौद्ध निकाय के कुछ ग्रन्थों के अनुवाद मंगोल, निगूर, सोग्डियन, कुचनी और नाईर भाषा में पाए गये हैं।

सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो उपलब्ध हैं पालि-भाषा में हैं। पालि-निकाय को त्रिपिटक कहते हैं। सूत्र, विनय और अभिधर्म यह निकाय के तीन विभाग (पिटक) हैं। त्रिपिटक के सब ग्रन्थ एक समय में नहीं लिखे गये। इनमें सूत्र और विनय अपेक्षया प्राचीन हैं। दीपवंश के अनुसार पहली धर्मसंगीति में धर्म (सूत्र) और विनय का पाठ हुआ। अभिधर्म का इस संबन्ध में उल्लेख नहीं मिलता। वैशाली की धर्मसंगीति में चुल्लवग्ग के अनुसार केवल विनय के ग्रन्थों का पाठ हुआ था। वैशाली की संगीति के समय संघ में भेद हुआ। इस भेद का फल यह हुआ कि भिक्षु-संघ दो भागों में विभक्त हो गया—स्थविरवाद, और महासांघिक वाद। दीपवंश और महावंश के अनुसार विनय के दस नियमों को लेकर ही संघ में भेद हुआ था। महासांघिकों को परिवार पाठ (विनय का एक ग्रन्थ) नहीं मान्य था। अभिधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ कथावत्थुकी रचना अशोक के समय में हुई। सूत्रपिटक के कुछ ग्रन्थ बाद के मालूम पड़ते हैं। पेतवत्थु, विमानवत्थु, बुद्धवंश, अपदान, चरियापिटक और जातक में दस पारमिता, बुद्धपूजा, चैत्यपूजा, स्तूपपूजा, भिक्षादान, विहारदान, आराम-आरोपण की महिमा वर्णित है। बुद्धवंश में 'प्रणिधान' और विमानवत्थु में पुण्यानुमोदन का उल्लेख पाया जाता है। इनकी चर्चा महायान के ग्रन्थों में प्रायः मिलती है। इस कारण यह ग्रन्थ पीछे के मालूम होते हैं। पालि-निकाय के समय के संबन्ध में मतभेद पाया जाता है। सामान्यतः विद्वानों का मत है कि इसका अधिकांश दूसरी धर्मसंगीति के पूर्व प्रस्तुत हो चुका था। जब बौद्ध-धर्म का सिंहलद्वीप में प्रवेश और प्रसार हुआ तब दक्षिण के प्रदेशों के लिए यह द्वीप एक अच्छा केन्द्र बन गया। यहां पालिनिकाय का विशेष आदर हुआ। निकाय ग्रन्थों पर सिंहल की भाषा में टीकायें भी लिखी गईं जिनको आगे चलकर प्रसिद्ध टीकाकार बुद्धघोष ने पालि रूप दिया। बुद्धघोष का जन्म ३६० ई० के लगभग गया में हुआ था। यह रेवत का शिष्य था। अनुराधपुर (लंका) के महाविहार में रहकर इन्होंने संघपाल से शिक्षा पायी और सिंहली भाषा में लिखी हुई टीकाओं का पालि में अनुवाद किया। इन्होंने 'विसुद्धिमग्गो' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा। पाँचवीं शताब्दी में सिंहलद्वीप में पालि में दीपवंश और महावंश लिखे गये। पांचवीं शताब्दी के

१. श्री आशुतोष मुखर्जी सिलवर जुबली, भाग ३. ओरियन्टेलिया, भाग ३ पृ. ८७ में 'हिस्ट्री आफ अर्ली बुद्धिस्ट स्कूल्स,' नामक रेयूकन कीमुरा विरचित निबन्ध देखिए।

२. वासिलीफ, बुद्धिज्मस्, पृष्ठ २११.

दूसरे भाग में कांचीपुर में धर्मपाल नाम के एक स्थविर हुए। इन्होंने ने भी पालि में टीकाएँ लिखीं। लंका, बर्मा और श्याम में जो पालि-ग्रन्थ लिखे गए हैं वह चौथी शताब्दी से पूर्व के नहीं हैं। यह पालि-निकाय स्थविरवाद का निकाय है और लंका, बर्मा, श्याम और कंबोज में इसकी मान्यता है। इस प्रकार पालि-साहित्य का प्रसार होने लगा।

पालि-साहित्य का रचना-प्रकार व विकास

हम कह चुके हैं कि बुद्ध के समय में इसके प्रचार का क्या क्षेत्र था। यह धर्म अवन्ति तक पहुँचा था। 'उदान' से ज्ञात होता है कि अवन्ति दक्षिणापथ में भिक्षुओं की संख्या अल्प थी। महाकात्यायन अवन्ति राष्ट्र में विहार करते थे। तीन वर्ष में ये कठिनता से १० भिक्षु बना सके। बुद्ध के निर्वाण पर प्रथम धर्म-संगीति, धर्म-सभा राजगृह में हुई। जिसमें धर्म और विनय का संग्रह हुआ। धर्म सूत्रान्त हैं, जिसमें बुद्ध के उपदेश हैं। 'धर्म' अभिधर्म नहीं है। विनय में भिक्षु आदि के नियम हैं। त्रिपिटिक पीछे के हैं। चुल्लवग्ग [११ खन्धक] आगम को दो भागों में विभक्त करता है; धर्म और विनय। इसमें 'पिटक' शब्द का उल्लेख नहीं है। 'पिटक' का अर्थ है 'पिटारा'। तीन पिटक हैं—सूत्र, विनय, तथा अभिधर्म। 'त्रिपिटक' शब्द प्राचीन है। प्रथम शताब्दी के शिलालेखों में 'तेपिटक' शब्द का प्रयोग है। अभिधर्म-पिटक के पहले आगम के दो ही विभाग थे। चुल्लवग्ग, १२ खन्धक में रेवत के संबन्ध में कहा है कि उसको 'धर्म' विनय और मातृका (पालि—मातिका) कण्ठस्थ हैं। यहां आगम त्रिविध हैं, किन्तु अभी अभिधर्म नहीं है। प्रथम धर्मसंगीति के विवरणों में भी मातृका का उल्लेख मिलता है। 'ए यू मँग किंग' में कहा है कि महाकाश्यप ने स्वयं मातृका का व्याख्यान किया। एक दूसरे विवरण में मातृका-पिटक का उल्लेख है। दिव्यावदान में ये शब्द हैं—"सूत्रस्य विनयस्य मातृकायाः"। मातृका शब्द का क्या अर्थ है? धर्मगुप्तों के विनय में विनय-मातृका है। इसमें विनय के विषयों की विस्तृत तालिका है। मालूम होता है कि इसी को परिवर्धित कर विनय की रचना हुई है। अतः यह तालिका एक प्रकार से उसकी माता है। इसीलिए इसे मातृका कहते हैं।

विनय-मातृका में पिंडपात, चीवर, शयनासन आदि के नियमों की तालिका थी। पालि-विनय में प्राचीन मातृका का स्थान 'खन्धक' ने लिया। इसको दो भागों में विभक्त किया—महावग्ग और चुल्लवग्ग। किन्तु हैमवतों के विनय में मातृका सुरक्षित है। इसी प्रकार एक धर्म-मातृका रही होगी। सूत्रान्तों की बहुत संख्या थी। उनके विषय विविध थे। इसलिए उनके संक्षिप्त विवरण की आवश्यकता थी, जिसमें देशना का सार संक्षेप में मालूम हो जाय। यह एक प्रकार की अनुक्रमणिका थी। इसका नमूना संगीति-सुत्तन्त है। यह 'दीघनिकाय' में है। सर्वास्तिवाद के अभिधर्मों में संगीति-पर्याय के नाम से यह मातृका पाई जाती है। इसी धर्म-मातृका की वृद्धि होने से अभिधर्म-पिटक की रचना हुई। सूत्र-पिटक के पांच निकाय या आगम हैं। प्रायः पांच निकाय हैं, किन्तु सर्वास्तिवाद में चार आगम ही सुरक्षित हैं।

सांची के लेखों में एक भिक्षु को 'पंचनेकायिक' (पञ्चनैकायिक) कहा है। यह शब्द भरहूत के लेख में (द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व) भी पाया जाता है। ये पाँच निकाय या आगम इस प्रकार हैं—दीर्घ, मध्यम, संयुक्त, एकोत्तर तथा क्षुद्रक।

सूत्रों की लम्बाई के अनुसार यदि उनकी व्यवस्था की जाय, तो सब सूत्रों का समावेश केवल तीन आगमों में ही—दीर्घ, मध्यम और क्षुद्रक में—हो सकता था। शेष दो निरर्थक प्रतीत होते हैं। संयुक्त और एकोत्तर में क्षुद्र-सूत्र ही हैं। संयुक्त में विषय के अनुसार सूत्रों का क्रम है, एकोत्तर में धर्मों की संख्या के अनुसार क्रम है। ऐसा मालूम होता है कि ये दो पीछे से जोड़े गये हैं। यह भी मालूम होता है कि दीर्घ सूत्रों से पहले छोटे-छोटे सूत्र थे।

हमने ऊपर कहा है कि सूत्रपिटक के लिए पहले 'धर्म' शब्द का प्रयोग होता था। धर्म के नौ अंग भी वर्णित हैं। पालि के अनुसार ये इस प्रकार हैं—सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुत-धम्म तथा वेदल्ल। जिस प्रकार वेद के अंग हैं, जैन आगम के अंग हैं, इसी प्रकार आरम्भ में बौद्धों में भी प्रवचन के अंग थे। हम देखते हैं कि पहला अंग सूत्र है। सूत्र के अतिरिक्त अन्य कई अंग हैं। उस समय 'सूत्र' एक प्रकार की देशना को कहते थे, जिसका आरम्भ इन शब्दों से होता था—पाँच स्कन्ध हैं; ये पाँच स्कन्ध कौन हैं? पुनः १८ आयतन हैं; ये १८ क्या हैं? इत्यादि। आकार में ये छोटे होते थे। इनमें धर्मों के नाम और उनके लक्षण होते थे। जिस प्रकार माला में दाने पिरोये जाते हैं, उसी प्रकार ये विविध धर्म एक सूत्र में ग्रथित होते थे। इस अवस्था में दीर्घ सूत्र नहीं हो सकते थे। आगे चलकर जब सूत्रों की संख्या में वृद्धि हुई, और उनके कलेवर की वृद्धि हुई, तब सब प्रकार के उपदेशों को 'सूत्र' कहने लगे। इससे ज्ञात होता है कि त्रिपिटक विभाग की अपेक्षा अंगों का विभाग प्राचीन है।

अब हम अन्य अंगों का विचार करेंगे। दूसरा 'गेय्य' (संस्कृत 'गेय') है। इसका अर्थ है 'छन्दोबद्ध ग्रन्थ'। 'गेय और गीति' एक ही है। 'गीति' एक प्रकार का छन्द भी है; यह आर्या जाति का है। हो सकता है कि 'गेय' एक प्रकार का गान हो, जो आर्या जाति के छन्द में लिखा गया हो। 'गाथा' भी एक प्रकार का श्लोक है, जो गाया जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'गेय' और 'गाथा' आरम्भ में भिन्न-भिन्न छन्दों के श्लोक थे। हलायुध के छन्दशास्त्र के अनुसार संस्कृत में जो 'आर्यागीति' है, वह प्राकृत में 'स्कन्धक' है। संस्कृत में जो 'आर्या' है, वह प्राकृत में 'गाथा' है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के दो अंग—गेय और गाथा—किसी छन्द विशेष के श्लोक नहीं, किन्तु ऐसे श्लोकों के संग्रह हैं। 'गेय्य' आर्या गीति है, गाथा आर्या है। पालि का 'वेदल्ल' संस्कृत का 'वैतालीय' मालूम होता है। हलायुध के अनुसार संस्कृत का वैतालीय प्राकृत की 'मागधिका' है। जैन आगम का एक भाग 'वेतालीय' कहलाता है। मज्झिम-निकाय के ४३ और ४४ का शीर्षक 'वेदल्ल' है, किन्तु इनमें श्लोक नहीं, सुत्तन्त हैं। हो सकता है कि यह भाग निकाल दिया गया हो, जैसा कि प्रायः देखा जाता है। 'मागधिका' शब्द द्रष्टव्य है, क्योंकि सबसे पहले सूत्र पालि में लिखे गये। बौद्ध

बुद्ध की भाषा को मागधी मानते हैं, यद्यपि पालि में वैयाकरणों की मागधी के विशेष चिह्न नहीं मिलते। श्रीरीस् डेविड्स पालि के मूल को कोशल की भाषा मानते हैं।

संक्षेप में यह सिद्ध होता है कि गेय्य, गाथा और वेदल्ल—ये संग्रह उस उस छन्द के नाम पर हैं, जिसमें ये लिखे गये हैं। उदान और इतिवुत्तक भी छन्दोबद्ध हैं। जातक (जन्मकथा) भी श्लोकों का संग्रह है। जातक का वर्गीकरण श्लोकों की संख्या के अनुसार है। इसमें बुद्ध के पूर्वजन्मों से संबन्ध रखनेवाले श्लोक मात्र हैं। जातकट्ठकथा (जातक की अर्थ कथा टीका) में कथा भाग हैं। इस प्रकार आरम्भ में, आगम में पद्य का प्राधान्य था। उसका यह अर्थ नहीं कि गद्य का अभाव था। साथ-साथ सरल अर्थ-कथा (व्याख्या) रही होगी, जिसके बिना श्लोकों को समझना संभव नहीं था, किन्तु श्लोकों के समान उनका प्रामाण्य न था। जब तक बुद्ध-वचन लिपिबद्ध न हुआ था, तब तक धर्म; बुद्धवचन का रूप ऐसा रहा होगा, जिसके पाठ में सुविधा हो और जो सुगमता से कण्ठस्थ हो सके। उस समय आर्या और वैतालीय छन्द सामान्य व्यवहार में आते रहे होंगे। धम्मपद से मालूम होता है कि श्लोक का भी व्यवहार होता था। बुद्धवचन का अर्थ बताने के लिए धर्मधरों को एक मौखिक टीका की आवश्यकता पड़ी। यह 'अर्थ' था। जब बौद्धधर्म का प्रचार मगध के बाहर हुआ, तब इन टीकाओं की और भी आवश्यकता अनुभूत हुई होगी, क्योंकि मूल को ठीक से समझने में अन्य जनपदों के लोगों को कठिनाई होती होगी।

आरम्भ में ये टीकायें विभिन्न रही होंगी। पीछे से इनका रूप स्थिर हो गया होगा और यह भी शिक्षा का अंग हो गया होगा। इस प्रकार प्रवचन की समृद्धि हुई। नये आचार्यों का मत कुछ वस्तुओं पर प्राचीनों से भिन्न था। जो इन परिवर्तनों के विरुद्ध थे, वे बुद्धवचन के आधार पर इनका विरोध करना चाहते थे। इस प्रकार अर्थ को धर्म की प्रामाणिकता प्रदान करने की आवश्यकता हुई। आम्नाय के अनुसार प्रथम महासंगीति ने आगम का संग्रह किया। इस प्रकार आगम में गद्य की प्रधानता हो गई और धीरे-धीरे गेय्य, गाथा, वेदल्ल जो पृथक् अंग थे विलुप्त हो गये। संस्कृत आगम में 'वेदल्ल' का वैपुल्य हो गया। लोग 'वेदल्ल' के मूल अर्थ को भूल गये और बड़े आकार के सूत्रों को वैपुल्य कहने लगे। धीरे-धीरे अंगों का विभाजन भी लुप्त हो गया और इसका स्थान सूत्रों के आकार के अनुसार वर्गीकरण ने लिया। 'सूत्र' एक अंग मात्र न रहा। इसका एक पिटक ही हो गया और अंगों के स्थान में निकाय या आगम हो गये। खुद्दक निकाय में ही कुछ पुराने अंग रह गये; यथा जातक, उदान, इतिवुत्तक। यह पालि-आगम की कथा है। यह संग्रह प्राचीन है। पीछे जब बौद्ध-धर्म मध्यदेश में फैला, जहाँ संस्कृत का प्राधान्य था, प्रवचन का संग्रह संस्कृत में हुआ। सर्वास्तिवादियों का अपना सूत्रपिटक था। यह पालि-पिटक से बहुत कुछ मिलता जुलता था। इसके अंश ही पाये गये हैं। सर्वास्तिवादी चार आगम मानते थे—दीर्घ, मध्यम, संयुक्त, तथा एकोत्तर। सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक में सात ग्रन्थ हैं। ये ज्ञानप्रस्थान और उसके छः पाद हैं। कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थान, धर्मस्कन्धपाद, संगीतिपर्यायपाद, प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञानकायपाद, प्रकरणपाद, तथा धातुकायपाद। आगे चलकर ज्ञानप्रस्थान की एक टीका लिखी गई, जिसे

महाविभाषा कहते हैं। एक आभिधार्मिक हैं, जो—'षट्पादाभिधर्ममात्र पाठी', हैं; ये विभाषा को नहीं मानते। एक हैं जो 'वैभाषिक' हैं। सर्वास्तिवादी और वैभाषिक अभिधर्म को बुद्धवचन मानते हैं। सौत्रान्तिक अभिधर्म-पिटक को बुद्धवचन नहीं मानते। उनका कहना है कि सूत्र में ही बुद्ध ने अभिधर्म की शिक्षा दी है। इसलिए उन्हें सौत्रान्तिक कहते हैं। महाविभाषा की रचना के १५० वर्ष बाद आचार्य वसुबन्धु और संघभद्र का समय है (५ वीं शताब्दी)। वसुबन्धु के रचे ग्रन्थ ये हैं—अभिधर्मकोश, पंचस्कन्ध, त्रिंशिका और विंशिका। संघभद्र का न्यायानुसार अभिधर्मकोश की टीका है। इनका दूसरा ग्रन्थ अभिधर्म-प्रकरण (?) है।

त्रिपिटक तथा अनुपिटकों का संक्षिप्त परिचय

विनय-पिटक—भिक्षुओं के आचरण का नियमन करने के लिए भगवान् बुद्ध ने जो नियम बनाये वे 'प्रातिमोक्ष' (प्रातिमोक्ख) कहे जाते हैं। इन्हीं नियमों की चर्चा विनय-पिटक में है। पिटकों में विनय-पिटक का स्थान सर्वप्रथम है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसकी रचना सर्वप्रथम हुई थी। प्रातिमोक्ष की महत्ता इसी से सिद्ध है, कि भगवान् ने स्वयं कहा था कि उनके न रहने पर भी प्रातिमोक्ष और शिक्षापदों के कारण भिक्षुओं को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता रहेगा और इस प्रकार संघ स्थायी होगा।

प्रारम्भ में केवल १५२ नियम बने होंगे किन्तु विनय-पिटक की रचना के समय उनकी संख्या २२७ हो गई थी। सुत्तविभंग जो विनय-पिटक का प्रथम भाग है, वस्तुतः इन्हीं २२७ नियमों का विधान करने वाले सुत्तों की व्याख्या है।

विनय-पिटक का दूसरा भाग 'खन्धक' कहा जाता है। महावग्ग और चुल्लवग्ग ये दोनों खन्धक में समाविष्ट हैं। महावग्ग में प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा आदि से संबन्ध रखने वाले नियमों का संग्रह है। और चुल्लवग्ग में भिक्षु के पारस्परिक व्यवहार और संघाराम संबन्धी तथा भिक्षुणियों के विशेष आचार का संग्रह है।

भगवान् बुद्ध की साधना का रोचक वर्णन महावग्ग में आता है और उनकी जीवन कथा का यह भाग ही प्राचीनतम प्रतीत होता है। महावस्तु और ललितविस्तर में इसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है।

विनय-पिटक का अन्तिम अंश परिवार है। संभव है यह भाग बहुत बाद में बना हो और उसे सिंहल के किसी भिक्षु ने बनाया हो। इसमें वैदिक अनुक्रमणिकाओं की तरह कई प्रकार की सूचियों का समावेश है।

सुत्त-पिटक—भगवान् के लोकोपकारी उपदेश और संवादों का संग्रह सुत्त-पिटक में है। इस पिटक में १—दीघनिकाय, २—मज्झिमनिकाय, ३—संयुत्तनिकाय, ४—अंगुत्तरनिकाय और ५—खुद्दकनिकाय—इन पांच निकायों का समावेश है।

दीघनिकायादि ग्रन्थों में किस प्रसंग में कहाँ भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिया यह बताकर उपदेश या किसी के साथ होनेवाले वार्तालाप—संवाद का रोचक ढंग से संग्रह किया गया है। सामान्य रूप से इन ग्रन्थों में जो सुत्त हैं वे गद्य में हैं।

दीघनिकाय में ३४ सुत्त हैं। ये सुत्त लम्बे हैं, अतएव दीघ या दीर्घ कहे गये हैं। इनमें शील, समाधि और प्रज्ञा का विस्तृत रोचक वर्णन है। दीघनिकाय के प्रथम ब्रह्मजाल-सुत्त में तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्यों का जो संग्रह है वह भारतीय दर्शनों के प्राचीन इतिहास की सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दूसरे सामञ्‍ञफल-सुत्त में भगवान् बुद्ध के समकालीन धर्मोपदेशकों के मन्तव्यों का वर्णन है। वर्ण-धर्म-व्यवस्था के विषय में बुद्ध का मन्तव्य तीसरे अम्बट्ठ-सुत्त में संग्रहीत है जो प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का अच्छा चित्र खड़ा करता है। पाचवें तेविज्ज-सुत्त में वैदिकधर्म के विषय में बुद्ध ने जो कटाक्ष किया है और यज्ञों का जो विरोध किया है उसका संग्रह करके बुद्ध की दृष्टि में यज्ञ कैसे करना चाहिए उसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार के कई सुत्त दीघनिकाय में हैं जो तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक परिस्थिति के हमारे ज्ञान में वृद्धि करने के साथ ही तत्तद्विषय में बौद्ध मन्तव्य को भी स्पष्ट करते हैं।

मज्झिमनिकाय में मध्यम आकार के १५२ सुत्तों का संग्रह है। दीघनिकाय की तरह इन सुत्तों में भी बुद्ध के उपदेश के ऊपर संवादों का संग्रह है। इसमें चार आर्य-सत्य, निर्वाण, कर्म, सत्कायदृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है और बौद्धधर्म के मन्तव्य का स्पष्टीकरण है। इसमें भी अस्सलायन-सुत्त में वर्णव्यवस्था के दोष बताये गए हैं और तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया है। दृष्टान्त, कथा और उपमा के द्वारा वक्तव्य को हृदयंगम करने की शैली इस निकाय-ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। आख्यान की शैली में अंगुलिमाल की कथा ८६ वें सुत्त में रोचक ढंग से कही गई है। वह एक भयंकर डाकू था किन्तु वह भिक्षु बन गया और निर्वाण को भी प्राप्त हुआ। जातक की शैली की भी कई कथाएँ इस सुत्त में संग्रहीत हैं जैसे सुत्त ८२ और ८३ में। इसके अतिरिक्त बुद्ध के कई प्रधान शिष्यों के बारे में भी ज्ञातव्य सामग्री संग्रहीत है। प्रसिद्ध महापरिनिब्बान सुत्त, जिसमें बुद्ध के निर्वाण-काल का चित्र खड़ा किया गया है, वह भी इसी निकाय में है। इस निकाय के अध्ययन से हमारे समक्ष बुद्धकालीन भारत का स्पष्ट चित्र खड़ा होता है।

तीसरे संयुत्तनिकाय में ५६ संयुत्तों का संग्रह है। जैसे देवता-संयुत्त में देवताओं के वचनों का संग्रह किया गया है। मार-संयुत्त में बुद्ध को चलित करने के लिए किये गए मार के प्रयत्नों का संग्रह है। भिक्खुणी-संयुक्त में भी भिक्षुणियों को चलित करने के लिए किये गए मार के प्रयत्नों का वर्णन है। अनतमग्ग संयुत्त में संसार की अनादिता और उसके भयंकर दुःखों का वर्णन है। ध्यान-संयुत्त में ध्यान का वर्णन है। मातुगाम संयुत्त में नारी के गुण और दोष तथा उसके फल का वर्णन है। सक्क-संयुत्त में बुद्ध के प्रति इन्द्र की भक्ति का निदर्शन है। अन्तिम सच्च-संयुत्त में चतुरार्यसत्य की विवेचना की गई है।

इस ग्रन्थ में काव्य की दृष्टि से भी पर्याप्त सामग्री है। महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद की तरह इसमें भी यक्ष-बुद्ध का रोचक संवाद है (१०–१२)। लोक-कविता का अच्छा संग्रह मार और भिक्खुणी-संयुत्त में मिलता है।

चौथे अंगुत्तरनिकाय में २३०८ सुत्त हैं और उनमें एक वस्तु से लेकर ग्यारह वस्तुओं का समावेश क्रमशः किया गया है। प्रथम निपात में एक क्या क्या है वह सब गिनाया गया है और इसी प्रकार ग्यारहवें निपात में ग्यारह ग्यारह वस्तुओं का संग्रह किया गया है। इसमें विषय वैविध्य होना स्वाभाविक है।

खुद्दकनिकाय में क्षुद्र अर्थात् छोटे-छोटे उपदेशों का संग्रह है। इस निकाय में—निम्न ग्रन्थों का समावेश है।

(१) खुद्दकपाठ—इसमें बौद्धधर्म में प्रवेश पाने वाले के लिए जो सर्वप्रथम जानना आवश्यक होता है उसका संग्रह है। जैसे—त्रिशरण, दश शिक्षापद, ३२ शरीर के अवयवों का संग्रह, एक से दश तक की ज्ञेय वस्तुओं का संग्रह आदि।

(२) धम्मपद—बौद्ध-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रसिद्ध यह ग्रन्थ है। इसमें नैतिक उपदेशों का संग्रह है।

(३) उदान—धम्मपद में एक विषय की निरूपक अनेक गाथाओं का संग्रह वग्गों में किया गया है जब कि उदान में एक ही विषय का निरूपण करनेवाली अल्पसंख्यक गाथाओं का संग्रह है। प्रासंगिक दो चार गाथाओं में अपने मन्तव्य को बुद्ध ने यहाँ व्यक्त किया है।

(४) इतिवुत्तक—भगवान् ने ऐसा कहा इस मन्तव्य से जिन गाथाओं और गद्यांशों का संग्रह किया गया वह इतिवुत्तक-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उपमा का सौन्दर्य और कथन की सरलता द्रष्टव्य है।

(५) सुत्तनिपात—भगवान् बुद्ध के प्राचीनतम उपदेशों का संग्रह है।

(६–७) विमानवत्थु और पेतवत्थु—ये दो ग्रन्थ क्रमशः देवयोनि और प्रेतयोनि का वर्णन करते हैं।

(८–९) थेरगाथा और थेरीगाथा—इन दो ग्रन्थों में बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणियों ने अपने अपने अनुभवों को काव्य में व्यक्त किया है। लोक-कविता के ये दोनों ग्रन्थ सुन्दर नमूने हैं।

(१०) जातक—भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म के सदाचारों को व्यक्त करनेवाली ५४७ कथाओं का संग्रह जातक ग्रन्थ में है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास इन कथाओं में सुरक्षित है। अतएव इस दृष्टि से इसका महत्त्व हमारे लिए अत्यधिक है। नीतिशिक्षण की दृष्टि से इन कथाओं की बराबरी करनेवाला ग्रन्थ अन्यत्र दुर्लभ है।

(११) निद्देश—यह ग्रन्थ सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग और खग्गविसाण-सुत्त की व्याख्या है।

(१२) पटिसंभिदामग्ग—में प्राणायाम, ध्यान, कर्म, आर्यसत्य, मैत्री आदि विषयों का निरूपण है।

(१३) अवदान—जातक में भगवान् बुद्ध के पूर्व भवों के सुचरितों का वर्णन है तो अवदान में अर्हतों के पूर्वभवों के सुचरितों का वर्णन है।

(१४) बुद्धवंश—इसमें गौतम-बुद्ध से पहले होनेवाले अन्य २४ बुद्धों के जीवन-चरित वर्णित हैं।

(१५) चरियापिटक—यह खुद्दकनिकाय का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमें ३५ जातकों का संग्रह है; और बुद्ध ने अपने पूर्वभव में कौन सी पारमिता किस भव में किस प्रकार पूर्ण की इसका वर्णन है।

अभिधम्म-पिटक—भगवान् बुद्ध के उपदेशों के आधार पर बौद्ध दार्शनिक विचारों की व्यवस्था इस पिटक में की गई है। इसमें १. धम्मसंगणि २. विभंग ३. धातु-कथा ४. पुग्गल पञ्ञत्ति ५. कथावत्थु ६. यमक और ७. पट्ठान—इन सात ग्रन्थों का समावेश होता है।

धम्मसंगणि में धर्मों का वर्गीकरण और व्याख्या की गई है।

विभंग में उन्हीं धर्मों के वर्गीकरण को आगे बढ़ाया है और भंगजाल खड़ा किया गया है।

धातुओं का प्रश्नोत्तर रूप में व्याख्यान धातु-कथा में है।

पुग्गलपञ्ञत्ति में मनुष्यों का विविध अंगों में वर्गीकरण किया गया है। इसका अंगुत्तरनिकाय के ३–५ निपात के साथ अधिक साम्य है। मनुष्यों का वर्गीकरण गुणों के आधार पर विविध रीति से इसमें किया गया है।

कथावत्थु का महत्त्व बौद्धधर्म के विकास के इतिहास के लिए सर्वाधिक है। पिटकान्तर्गत होने पर भी इसके लेखक तिस्स-मोग्गलिपुत्त हैं, जो तीसरी संगीति के अध्यक्ष थे। यद्यपि यह ग्रन्थ ई० पू० तीसरी शताब्दी में उक्त आचार्य ने बनाया था फिर भी उसमें क्रमशः बौद्धधर्म में जो मतभेद हुए उनका भी संग्रह बाद में होता रहा है। प्रश्नोत्तर-शैली में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। मतान्तरों का पूर्वपक्षरूप में समर्थन करके फिर उनका खण्डन किया गया है। खास करके आत्मा है या नहीं ऐसे प्रश्न उठाकर बौद्ध-मन्तव्य की स्थापना की गई है।

यमक में प्रश्नों का उत्तर दो प्रकार से दिया गया है और कथावत्थु तक के ग्रन्थों से जिन शंकाओं का समाधान नहीं हुआ उनका विवरण इसमें किया गया है।

पट्ठान को महापकरण भी कहते हैं। इसमें नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्यकारण-भाव संबन्ध की चर्चा है और बताया गया है कि केवल निर्वाण ही असंस्कृत है बाकी सब धर्म संस्कृत हैं।

पिटकेतर पालि-ग्रन्थ

पिटकबाह्य पालिग्रन्थों के निर्माण का श्रेय सिलोन के बौद्ध भिक्षुओं को है किन्तु इसमें मिलिन्दप्रश्न अपवाद है। इतना ही नहीं किन्तु समस्त पालि-वाङ्मय में शैली की दृष्टि से भी यह बेजोड़ है। इसके लेखक का पता नहीं किन्तु यह उत्तर-पश्चिम भारत में बना होगा ऐसा अनुमान किया जाता है। ग्रीक सम्राट् मिनेण्डर (ई० पू० प्रथम श०) को ही मिलिन्द कहा गया है और आचार्य नागसेन के साथ उनके संवाद की योजना इस ग्रन्थ में होने से इसका सार्थक नाम मिलिन्दप्रश्न है। इस ग्रन्थ की प्राचीनता और प्रामाणिकता इसी से सिद्ध होती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पिटक के इस ग्रन्थ को समान प्रामाणिकता दी है। मूल मिलिन्दप्रश्न के कलेवर में बाद में आचार्यों ने समय-समय पर वृद्धि भी की है।

इस ग्रन्थ में बौद्ध-दर्शन के जटिल प्रश्नों को जैसे अनात्मवाद, क्षणभंगवाद के साथ साथ कर्म, पुनर्जन्म और निर्वाण आदि को सरल उपमायें देकर तार्किक दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

मिलिन्दप्रश्न के समान ही नेत्तिपकरण भी प्राचीन ग्रन्थ है जो कि महाकच्चान की कृति मानी जाती है। बुद्ध के उपदेशों का व्यवस्थित सार इसमें दिया गया है। इसी कोटि का एक अन्य प्रकरण 'पेटकोपदेश' महाकच्चान ने बनाया, ऐसा माना जाता है। पिटकों में प्रवेशक ग्रन्थ के रूप में यह एक अच्छा प्रकरण है।

प्राचीन सिलोनी अट्ठकथाओं के आधार पर बुद्धघोष ने (चौथी-पांचवीं शताब्दी) विनयपिटक, दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर, संयुत्त, निकायों की टीका की। इन्हों ने ही सम्पूर्ण अभिधम्मपिटक की भी व्याख्यायें लिखीं। ये व्याख्यायें अट्ठकथा कही जाती हैं। धम्मपद और जातक की अट्ठकथाएँ भी बुद्धघोष-कृत हैं, ऐसी परम्परागत मान्यता है।

इन्होंने ही अनुराधपुर के महाविहार के स्थविरों की आज्ञानुसार 'विसुद्धिमग्गो' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ एक तरह से समस्त पिटक-ग्रन्थों की कुञ्जी के समान है अत एव उसे तिपिटक-अट्ठकथा भी कहा जाता है। इसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का २३ अध्यायों में विस्तार से वर्णन है। इस ग्रन्थ की धम्मपाल-स्थविर ने पाँचवीं शती में 'परमत्थमंजूसा' टीका की है। इसी धर्मपाल ने थेरगाथा, थेरीगाथा, विमानवत्थु आदि खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों की टीका की है। धम्मपाल के अनन्तर दशवीं और बारहवीं शती के बीच में अनिरुद्ध आचार्य ने 'अभिधम्मत्थ-संगहो' नामक एक ग्रन्थ लिखा। अभिधम्म-पिटक में प्रवेशक ग्रन्थ के रूप में यह ग्रन्थ बेजोड़ है। इसकी अनेक टीकायें बनी हैं।

———

चतुर्थ अध्याय

निकायों का विकास

बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् शासन निकायों (सम्प्रदाय) में विभक्त होने लगा। चुल्लवग्ग के अनुसार निर्वाण के १०० वर्ष के पश्चात् संघ में भेद हुआ। वैशाली के भिक्षु नियमों के पालन में शिथिल थे। कुछ वस्तुओं पर उनका मतभेद था। इन मतभेदों को लेकर पश्चिम और पूर्व के भिक्षुओं के दो पक्ष हो गये। झगड़े को शान्त करने के लिए ७०० भिक्षुओं की सभा हुई और इन्होंने ८ स्थविरों की एक परिषद् चुनी, जिसमें चार पूर्व के संघ के और चार पश्चिम के संघ के प्रतिनिधि रखे गये। उस समय पूर्वसंघ का प्रधान स्थान वैशाली था। यहीं ७०० भिक्षुओं की सभा हुई थी। इस सभा के पूर्व और पश्चिम के भिक्षुओं ने अपनी एक सभा मथुरा के पास अहोगंग में की थी। यश पहले कौशाम्बी गये और वहां से उन्होंने भिक्षुओं को आमन्त्रित करने के लिए संदेश भेजे थे। ६६ के लगभग पश्चिम के भिक्षु जो सब आरण्यक धुतंगवादी थे, यश के निमन्त्रण पर आये और अवन्ती के ८८ भिक्षु भी आये, जिनमें थोड़े ही धुतंगवादी थे। इस वृत्तान्त से मालूम होता है कि उस समय बुद्ध-शासन के तीन केन्द्र थे–वैशाली, जहां ७०० भिक्षुओं की एक सभा हुई; कौशाम्बी, जहां से यश ने संदेश भेजा था और मथुरा, जहां पश्चिम के भिक्षुओं की अपनी सभा हुई थी। इस वृहत् क्षेत्र में तीन प्रवृत्तियां मालूम होती हैं—वैशाली (पूर्व) में विनय के पालन में शिथिलता थी;मथुरा के प्रदेश (पश्चिम) में विनय की कठोरता थी तथा अवन्ति और दक्षिणापथ में मध्यम-वृत्ति थी। अवन्ति और दक्षिणापथ का भौगोलिक संबन्ध कौशाम्बी से था। गंगा से भरुकच्छ जाने वाले राजपथ इनको जोड़ते थे। दक्षिणापथ के भिक्षुओं की सभा करने की आवश्यकता यश ने न समझी। कौशाम्बी के प्रमुख भिक्षुओं का मत ही जानना उन्होंने पर्याप्त समझा। ऐसा प्रतीत होता है कि वैशाली, कौशाम्बी और मथुरा तीन निकायों के केन्द्र बन गये। पूर्व-भारत बौद्ध-धर्म के प्राचीन रूप का प्रदेश था। मध्यदेश में ब्राह्मणों के प्रभाव से रूप में परिवर्तन होने लगा। यहां दो निकाय हो गये। एक कौशाम्बी का, जो दक्षिणापथ की ओर झुकता था और जिससे स्थविर-निकाय निकला हुआ प्रतीत होता है; दूसरा मथुरा का निकाय, जो उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ा और जिससे सर्वास्तिवादी निकायों की उत्पत्ति हुई। अब हमको यह देखना है कि पूर्व में किन निकायों की उत्पत्ति हुई।

आम्नाय के अनुसार अष्टादश निकाय (सम्प्रदाय) हो गये, जो दो प्रधान निकायों में विभक्त होते हैं—महासांघिक और स्थविर। महासांघिक निकाय के अन्तर्गत आठ और स्थविर से संभूत सर्वास्तिवादादि दश निकाय थे। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भिक्षु-संघ महासंघ से पृथक् होता गया। अतः स्थविरों का निकाय महासंघ के विरुद्ध था। प्रथम का संचालन स्थविरों की परिषद् करती थी; दूसरे में पुरानी प्रवृत्ति अभी विद्यमान थी। यह संभव है कि दूसरी संगीति के समय स्थविर-सर्वास्तिवादी पश्चिम के प्रतिनिधि थे और महासांघिक पूर्व के।

इस दृष्टि से यदि हम आम्नाय का अध्ययन करें, तो उनपर काफी प्रकाश पड़ता है। वसुमित्र के अनुसार स्थविर और महासांघिक का भेद अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुआ था। उनके अनुसार महादेव की पाँच वस्तुएँ विवाद की विषय थीं। संगीति के सदस्य चार समूह में बंटे थे। वसुमित्र के ग्रन्थ के चीनी और तिब्बती भाषान्तरों में इन समूहों के नाम के बारे में ऐकमत्य नहीं है। भेद दो समूहों में हुआ था। इसलिए अनुमान किया जाता है कि इनमें से प्रत्येक समूह के दो नाम रहे होंगे। इन चार समूहों के ये नाम हैं—स्थविर या भदन्त, नाग या महाजनपद, प्राच्य या प्रत्यन्तक और बहुश्रुत। टीकाकार कहते हैं कि नाग विनयधर उपालि के शिष्यों को कहते हैं। अतः नाग बहुश्रुत (आनन्द) के विपक्षी हैं। इसी प्रकार स्थविर प्राच्य के विपक्षी हो सकते हैं, यदि यह ठीक है कि स्थविर पश्चिम के प्रतिनिधि थे। परमार्थ के अनुसार महाजनपद और प्रत्यन्तक एक दूसरे के विपक्षी हैं। मध्यदेश के ब्राह्मण अपने राष्ट्र के प्रत्यन्त में रहनेवालों को अनार्य मानते थे। स्मृतियों में मगध में जाना मना किया है। मध्यदेश उनके लिए महाजनपद होगा। महासांघिक पूर्व के थे, इसकी पुष्टि फाहियान के विवरण से भी होती है। फाहियान ने पाटलिपुत्र में महासांघिकों के विनय की पोथी देखी थी।

चीनी यात्री इत्सिंग (६९२ ई०) के विवरण[1] के अनुसार अठारह निकाय चार प्रधान निकायों में विभक्त हैं–आर्य-महासांघिक, आर्य-स्थविर, आर्य-मूलसर्वास्तिवादिन् और आर्य संमितीय। इत्सिंग के अनुसार महासांघिक के सात,स्थविर के तीन,मूल सर्वास्तिवाद के चार और सम्मितीय के चार विभाग हैं। मूल सर्वास्तिवाद के चार विभाग ये हैं–मूल–*;धर्मगुप्त,महीशासक, और काश्यपीय। इत्सिंग ने अन्य निकायों के विभागों के नाम नहीं दिये हैं। यद्यपि इत्सिंग के अनुसार चारों निकाय मगध में पाये जाते थे; तथापि हर एक का एक नियत स्थान था। महासांघिक मगध में और अन्य पूर्व जनपदों में, स्थविर दक्षिणापथ में, सर्वास्तिवाद उत्तर भारत में और संमितीय लाट और सिन्धु में प्रधानतः थे। मूल–* के अन्य तीन विभाग भारत में नहीं थे। ये चीन, मध्य-एशिया और ओड्डियान में पाये जाते थे।

हमको यह निश्चित रूप से मालूम है कि सर्वास्तिवाद का उत्तर में और स्थविरवाद का दक्षिण में प्राधान्य था। ह्वेनत्सांग के संस्मरणों से मालूम होता है कि संमितीय बिखर

1. ए रिकार्ड आफ दी बुद्धिस्ट रिलीजन।

गये थे। इत्सिंग स्वयं मूल-सर्वास्तिवादी थे। इससे संभव है कि उसने अपने निकाय के महत्त्व को अतिरंजित कर वर्णित किया है। वह धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय को आर्यमूल सर्वास्तिवाद का विभाग बताता है, किन्तु दीपवंश और महावंश के अनुसार धम्मगुत्त, सब्बत्थिवाद और कस्सपिक महिंसासक-निकाय से अलग हुए थे और महिंसासक थेर की शाखा थे। दोनों विवरणों में इन चारों को एक समूह में रखा है। अन्तर इतना ही है कि इत्सिंग इनको मूल सर्वास्तिवाद के अन्तर्गत बताता है, जब कि दीपवंश और महावंश में इनकी उत्पत्ति स्थविरवाद से बताई गई है।

प्रथम महासंगीति के विवरणों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि स्थविर, महीशासक, धर्मगुप्तक और हैमवत का एक समूह है। दूसरी ओर सिंहलद्वीप के ग्रन्थ और अंशतः इत्सिंग से स्थविर, महीशासक, सर्वास्तिवादी धर्मगुप्तक और काश्यपीय का एक समूह में होना मालूम होता है। दीपवंश (८,१०) से मालूम होता है कि हिमवत्-प्रदेश के निवासियों को मौग्गलिपुत्त के भेजे हुए कस्सपगोत्त, दुन्दुभि-स्वर आदि ने शासन में प्रवेश कराया। महावंश (१२,४१) के अनुसार मज्झिम ने चार स्थविरों के साथ हिमवत्-प्रदेश में जाकर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। 'समन्तपासादिका' के अनुसार यह काम मज्झिम ने किया। सोनरी और सांची के स्तूपों के लेखों में कस्सपगोत्त को हिमवत्-प्रदेश का आचार्य बताया है। अन्य लेखों में मज्झिम और दुदुभिर के नाम हैं। इन सब प्रमाणों को मिलाकर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि कश्यपगोत्र स्थविर के नेतृत्व में हिमवत्-प्रदेश को विनीत करने का काम हुआ था। इसीलिए लेखों में कश्यपगोत्र को सर्वत्र हैमवताचार्य कहा है। अतः यह ज्ञात होता है कि हैमवत और काश्यपीय एक ही निकाय के विभाग हैं। वसुमित्र इन दोनों को पृथक्-पृथक् गिनाते हैं। अतः यह एक नहीं हैं, किन्तु एक ही निकाय के विभाग हैं।

स्थविर-निकाय दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। पीछे वह सिंहलद्वीप गया। महीशासक भी सिंहल में थे और फाहियान ने वहाँ उनका विनय पाया था। सिंहल के आम्नाय के अनुसार सबसे पहले यही स्थविरवाद से अलग हुए। कुछ विद्वानों का विचार है कि महीशासकों का पूर्व स्थान माहिष्मती था। इसका नाम महिष-मण्डल (पालि—महिंसक-मण्डल) है। द्वितीय संगीति के वर्णनों से मालूम होता है कि यहाँ एक प्रसिद्ध बौद्ध-संघ था। इन विद्वानों का कहना है कि इसी नाम पर निकाय का नाम 'महीशासक' पड़ा। धर्मगुप्तक नाम कदाचित् काश्यपीय की तरह निकाय के आचार्य के नाम पर पड़ा। दीपवंश और महावंश के अनुसार धम्मरक्खित अपरान्तक भेजे गये थे और मध्यन्दिन कश्मीर। सर्वास्तिवाद के आगम में इन्हें मध्यन्तिक कहा है। क्या धम्मरक्खित और धर्मगुप्त एक तो नहीं हैं?

कश्मीर के निकाय को मूल सर्वास्तिवादी-निकाय कहते थे। यह बहुत प्रसिद्ध निकाय था। इसमें कई प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की संस्कृत में रचना की।

इस निकाय का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। यह गंगा-यमुना की घाटी से पश्चिम की ओर फैलकर मध्यएशिया में भी गया। स्थविर निकाय का भी विस्तृत क्षेत्र था। यह कौशाम्बी,

विदिशा तथा उज्जयिनी के मार्ग से दक्षिणापथ को गया। महीशासक महिष-मण्डल के थे। वत्सपुत्र या वात्सीपुत्रीय कौशाम्बी के थे। कौशाम्बी वत्सों की राजधानी थी। स्थविर और महीशासक लंका में प्रतिष्ठित हुए और अन्त में धर्मगुप्तक चीन में फैल गये।

विनय के नियमों को लेकर संघ-भेद हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि इसी तरह विवाद आरंभ हुआ और निकाय बने। अभिधर्म के प्रश्नों को लेकर विवाद पहले पहल तृतीय संगीति (अशोक के समय) में ही हुआ। अशोक के समय में, कहा जाता है, 'कथावत्थु' की रचना हुई। इस ग्रन्थ में सब निकायों के भेद दिये हैं।

पंचम अध्याय

शमथ-यान

'विसुद्धिमग्गो' नामक ग्रन्थ में विशुद्धि के मार्ग का निरूपण किया गया है अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश में कहीं विपश्यना[1] द्वारा, कहीं ध्यान और प्रज्ञा द्वारा, कहीं शुभ तर्कों द्वारा, कहीं कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम आजीविका द्वारा और कहीं शील, प्रज्ञा और समाधि द्वारा निर्वाण की प्राप्ति बतलाई है, जैसा नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट है—

सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥

[धम्मपद, २।५]

अर्थात् जब मनुष्य प्रज्ञा द्वारा देखता है तो सब संस्कार अनित्य प्रतीत होते हैं। तब वह क्लेशों से विरक्त होता है और संसार में उसकी आसक्ति नहीं रहती। यह विशुद्धि का मार्ग है।

यम्हि झानं च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके।

[धम्मपद, ३७२]

अर्थात् जिसने ध्यानों का लाभ किया है और जो प्रज्ञावान् है वह निर्वाण के समीप है।

सब्बदा सीलसंपन्नो पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहित्ततो ओघं तरति दुत्तरन्ति॥

[संयुत्त-निकाय, १।५३]

अर्थात् जो सदा शील-सम्पन्न है, जो प्रज्ञावान् है, जो सुष्ठु प्रकार से समाहित अर्थात् समाधिस्थ है, जो अशुभ के नाश के लिए और शुभ की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है और जो दृढ संकल्प वाला है, वह संसाररूपी दुस्तर ओघ को पार करता है।

---

1. विपश्यना उस विशिष्ट ज्ञान और दर्शन को कहते हैं जिनके द्वारा धर्मों की अनित्यता, दुःखता और अनात्मता प्रगट होती है। "अनिच्चादिवसेन विविधाकारेन पस्सतीति विपस्सना" [अभिधम्मत्थसंगह टीका] "विपस्सनाति सङ्खारपरिग्गाहकञाणं। [अंगुत्तर-निकायट्ठकथा, बालवग्ग, सुत्त ३]। "सङ्खारे अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो विपस्सति" [विसुद्धि-मग्गो, पृ० ७०१]।

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा ति॥
[मज्झिमनिकाय, ३।२६२]

अर्थात् कर्म, सम्यग्-दृष्टि, धर्म, शील और उत्तम आजीविका द्वारा, न कि गोत्र और धन द्वारा, जीवों की शुद्धि होती है।

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं॥
[संयुत्तनिकाय, १।१३]

अर्थात् जो मनुष्य शील में प्रतिष्ठित है और जो समाधि और विपश्यना की भावना करता है वह तृष्णा रूपी जटासमूह का संछेद करता है।

इस अन्तिम उपदेश के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने विशुद्धि के मार्ग का निरूपण किया है। शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा सर्व मल का निरसन तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। बुद्ध-शासन की यही तीन शिक्षा हैं। शील से शासन की आदिकल्याणता प्रकाशित होती है, समाधि शासन के मध्य में है और प्रज्ञा पर्यवसान में। शील से अपाय[1] (दुर्गति, विनिपात) का अतिक्रमण, समाधि से कामधातु[2] का और प्रज्ञा से सर्वभव का अतिक्रमण होता है। जो व्यक्ति निर्वाण के लिए यत्नशील होता है, उसे पहिले शील में प्रतिष्ठित होना चाहिए। जब शील अल्पेच्छता, सन्तुष्टि, प्रविवेक (एकान्त-सेवन) आदि गुणों द्वारा सुविशुद्ध हो जाता है, तब समाधि की भावना का आरम्भ होता है। समाधि किसे कहते हैं, समाधि की भावना किस प्रकार होती है और समाधि-भावना का क्या फल है? इन बातों पर यहाँ विस्तार से विचार किया जायगा। समाधि शब्द का अर्थ है—समाधान; अर्थात् एक आलम्बन में समान तथा सम्यग् रूप से चित्त और चैतसिक धर्मों की प्रतिष्ठा। इसलिए 'समाधि' उस धर्म को कहते हैं जिसके प्रभाव से चित्त तथा चैतसिक धर्मों की एक आलम्बन में बिना किसी विक्षेप के सम्यक् स्थिति हो। समाधि में विक्षेप का विध्वंस होता है और चित्त-चैतसिक विप्रकीर्ण न

---

१. अपाय—दुर्गति, विनिपात को कहते हैं। शीलभ्रंश से पुद्गल दुर्गति को प्राप्त होता है। दुर्गति चार हैं—निरय (नरक), तिरश्चान-योनि (तिर्यग्-योनि), प्रेतविषय, असुरनिकाय।

"गतयः षट्। तद्यथा – नरकस्तिर्यक् प्रेतो असुरो मनुष्यो देवश्चेति। (धर्मसंग्रह—२७) पहले चार अपाय हैं।

२. कामधातु— कामप्रतिसंयुक्त मिथ्या संकल्प को कहते हैं।

अथवा अवीचि निरय से आरम्भ कर परनिर्मित वशवर्ती देवताओं तक जो अवचर हैं, उनमें संमिलित रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान को 'कामधातु' कहते हैं।

होकर एक आलम्बन में पिण्ड-रूप से अवस्थित होते हैं। समाधि बहुविध है। पर यदि सब प्रकार की समाधियों का वर्णन किया जाय तो अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होती और यह भी सम्भव है कि इस प्रकार विक्षेप उपस्थित हो। इसलिए यहाँ केवल अभिप्रेत अर्थ का ही उल्लेख किया जायगा। हमको यहाँ लौकिक-समाधि ही अभिप्रेत है। काम, रूप और अरूप भूमियों की कुशल-चित्तैकाग्रता को लौकिक-समाधि कहते हैं। जो एकाग्रता आर्यमार्ग से संप्रयुक्त होती है, उसे लोकोत्तर-समाधि कहते हैं; क्योंकि वह लोक को उत्तीर्ण कर स्थित है। लोकोत्तर-समाधि का भावना-प्रकार प्रज्ञा के भावना-प्रकार में संगृहीत है। प्रज्ञा के सुभावित होने से लोकोत्तर समाधि की भावना होती है। इसलिए लोकोत्तर समाधि की भावना के विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा जायगा। यह प्रज्ञा-स्कन्ध का विषय है। यहाँ हम केवल लौकिक समाधि का ही सविस्तर वर्णन करेंगे। हमारे अभिप्रेत अर्थ में 'समाधि' 'कुशलचित्त की एकाग्रता' को कहते हैं। अर्थात् चित्त की वह एकाग्रता जो दोष-रहित है और जिसका विपाक सुखमय है। इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथ-यान कहते हैं। लोकोत्तर समाधि का मार्ग विपश्यना-यान कहलाता है।

पूर्व इसके कि हम लौकिक समाधि के भावना-प्रकार का विस्तार से वर्णन करें, हम इस स्थान पर शमथ-यान (= मार्ग) का संक्षेप में निरूपण करना आवश्यक समझते हैं।

शमथ का अर्थ है—पाँच नीवरणों (सं० निवारण) अर्थात् विघ्नों का उपशम। 'पञ्च नीवरणानं समनट्ठेन समथं' विघ्नों के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है। इसलिए शमथ का अर्थ 'चित्त की एकाग्रता' भी है। (समथो हि चित्तेकग्गता—अंगुत्तर निकायट्ठकथा, बालवग्ग, सुत्त ३) शमथ का मार्ग लौकिक समाधि का मार्ग है। दूसरा मार्ग विपश्यना का मार्ग है। इसे लोकोत्तर-समाधि भी कहते हैं। विघ्नों के अर्थात् अन्तरायों के नाश से ही लौकिक समाधि में प्रथम ध्यान का लाभ होता है। प्रथम ध्यान में पाँच अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। दूसरे तीसरे ध्यान में पाँच अङ्गों का अतिक्रमण होता है। नीवरण[1] इस प्रकार हैं—कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा। कामच्छन्द 'विषयों में अनुराग' को कहते हैं। जब चित्त नाना विषयों से प्रलोभित होता है तो एक आलम्बन में समाहित नहीं होता।

'व्यापाद' हिंसा को कहते हैं। यह प्रीति का प्रतिपक्ष है। 'स्त्यान' चित्त की अकर्मण्यता और 'मिद्ध' आलस्य को कहते हैं। वितर्क स्त्यान-मिद्ध का प्रतिपक्ष है। औद्धत्य का अर्थ है

१—पातञ्जल योगदर्शन में योग के अन्तरायों का वर्णन निम्नलिखित सूत्र में पाया जाता है :—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः [समाधिपाद सूत्र ३०]

इनमें से अविरति (= कामछन्द), आलस्य (= मिद्ध), अनवस्थितत्व (औद्धत्य) संशय (= विचिकित्सा) और स्त्यान पाँच नीवरणों में भी पाये जाते हैं।

अव्यवस्थित-चित्तता और कौकृत्य 'खेद पश्चात्ताप' को कहते हैं। सुख औद्धत्य-कौकृत्य का प्रतिपक्ष है। विचिकित्सा संशय को कहते हैं। विचार विचिकित्सा का प्रतिपक्ष है। विषयों में लीन होने के कारण समाधि में चित्त की प्रतिष्ठा नहीं होती। हिंसाभाव से अभिभूत चित्त की निरन्तर प्रवृत्ति नहीं होती। स्त्यान-मिद्ध से अभिभूत चित्त अकर्मण्य होता है। चित्त के अनवस्थित होने से और खेद से शान्ति नहीं मिलती और चित्त भ्रान्त रहता है। विचिकित्सा से उपहत चित्त ध्यान का लाभ करानेवाले मार्ग में आरोहण नहीं करता। इसलिए इन विघ्नों का नाश करना चाहिये। नीवरणों के नाश से ध्यान का लाभ और ध्यान के पाँच अङ्ग[1] वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है।

वितर्क आलम्बन में चित्त का आरोप करता है। आलम्बन के पास चित्त का आनयन 'वितर्क' कहलाता है। आलम्बन का यह स्थूल आभोग है। वितर्क की प्रथमोत्पत्ति के समय चित्त का परिस्पन्दन होता है। वितर्क विचार का पूर्वगामी है। विचार सूक्ष्म है[2]। विचार की वृत्ति शान्त होती है और इसमें चित्त का अधिक परिस्पन्दन नहीं होता। जब प्रीति उत्पन्न होती है तब सबसे पहिले शरीर में रोमाञ्च होता है। धीरे-धीरे यह प्रीति बारंबार शरीर को अवक्रान्त करती है। जब प्रीति का बलवान् उद्वेग होता है तो प्रीति शरीर को ऊर्ध्व उत्क्षिप्त कर आकाश-लङ्घन के लिए समर्थ करती है, धीरे-धीरे सकल शरीर प्रीति से सर्वरूपेण व्याप्त हो जाता है, मानों पर्वत गुहा से एक महान् जलप्रपात परिस्फुट हो तीव्र वेग से प्रवाहित हो रहा है। प्रीति के परिपाक से काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि[3] होती है। प्रश्रब्धि के परिपाक से काय और चित्त-सुख होता है। सुख के परिपाक से क्षणिक, उपचार और अर्पणा[4] इस

१—योग दर्शन के निम्नलिखित सूत्र से तुलना कीजिये :—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः। [समाधिपाद। १७] आनन्द ह्लाद है। यही प्रीति है। अस्मिता सुख के स्थान में है।

२—वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। [योगदर्शन, समाधिपाद। १७ पर व्यास भाष्य]। वितर्कविचारावौदार्यसूक्ष्मते [अभिधर्मकोश, २।३३]। ओळारिकट्ठेन। सुखुमट्ठेन। [विसुद्धिमग्गो, पृ० १४२]

३—प्रश्रब्धि सम्बोधि के सात अङ्गों में से एक है। प्रामोद्य और प्रीति के साथ इसका प्रयोग प्रायः देखा जाता है। प्रश्रब्धि शान्ति को कहते हैं।

४—उपचार अर्पणासमाधि के प्रकार हैं। जिस प्रकार ग्राम आदि का समीपवर्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है उसी प्रकार अर्पणा के समीप का स्थान उपचार-समाधि कहलाता है। उपचार-समाधि में ध्यान अल्प प्रमाण का होता है और चित्त आलम्बन में थोड़े काल तक आबद्ध रहता है। फिर भवाङ्ग में अवतरण करता है। उपचार-भूमि में नीवरणों का नाश होता है पर अङ्गों का प्रादुर्भाव नहीं होता। जब अर्पणा-(एकाग्रचित्तं आलम्बनं अर्पयति) समाधि का उत्पाद होता है तब ध्यान के पाँच अंग सुदृढ हो जाते हैं। अर्पणा ध्यान की प्रतिलाभ-भूमि है।

त्रिविध समाधि का परिपूरण होता है। इष्ट आलम्बन के प्रति लाभ से जो तुष्टि होती है उसे प्रीति कहते हैं। प्रतिलब्ध रस के अनुभव को सुख कहते हैं। जहाँ प्रीति है वहाँ सुख है पर जहाँ सुख है वहाँ नियम से प्रीति नहीं है। प्रथम ध्यान में उक्त पाँच अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। धीरे-धीरे अङ्गों का अतिक्रमण होता है और अन्तिम ध्यान में समाधि उपेक्षा सहित होती है। लौकिक समाधि के द्वारा ऋद्धि-बल की प्राप्ति होती है पर निर्वाण की प्राप्ति के लिए विपश्यना के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। निर्वाण के प्रार्थी को शमथ की भावना के उपरान्त विपश्यना की वृद्धि करनी पड़ती है और तभी अर्हत्पद में प्रतिष्ठा होती है अन्यथा नहीं।

जिसको लौकिक समाधि अभीष्ट हो उसको सुपरिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित हो सबसे पहिले विघ्नों का (=पालि, 'पलिबोध') नाश करना चाहिये।

आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, आबाध, ग्रन्थ और ऋद्धि—यह दश 'पलिबोध' कहलाते हैं। जो भिक्षु अभी नया नया किसी काम में उत्सुकता रखता है या बहुविध सामग्री का संग्रह करता है या जिसका चित्त किसी दूसरे कारणवश अपने आवास में प्रतिबद्ध है आवास उसके लिए अन्तराय (= विघ्न) है। कुल से तात्पर्य ज्ञाति-कुल या सेवक के कुल से है। साधारणतया दोनों विघ्नकारी हैं। अपने तथा सेवक के कुल से विशेष संसर्ग होने से भावना में विघ्न उपस्थित होता है। कुछ ऐसे भिक्षु होते हैं जो कुल के मनुष्यों के बिना धर्म-श्रवण के लिए भी पास के विहार में नहीं जाते। वह उन श्रद्धालु उपासकों के सुख में सुखी और दुःख में दुखी होते हैं जिनसे उनको लाभ-सत्कार मिलता है। ऐसे भिक्षुओं के लिए कुल अन्तराय है; दूसरों के लिए नहीं।

'लाभ' चार प्रत्ययों को कहते हैं। प्रत्यय (पालिरूप=पच्चय) यह हैं—चीवर, पिण्डपात, शयनासन और ग्लानप्रत्ययभैषज्य। भिक्षु को इन चार वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। कभी कभी यह भी अन्तराय हो जाते हैं। पुण्यवान् भिक्षु का लाभ-सत्कार प्रचुर परिमाण में होता है। उसको सदा लोग घेरे रहते हैं। जगह जगह से उसको निमन्त्रण आता है। उसको निरन्तर दान का अनुमोदन करना पड़ता है और दाताओं को धर्म का उपदेश देना पड़ता है। श्रमण-धर्म के लिए उसको अवकाश नहीं मिलता। ऐसे भिक्षु को ऐसे स्थान में जाकर रहना चाहिये जहाँ उसे कोई नहीं जानता हो और जहाँ वह एकान्तसेवी हो सके।

'गण' में रहने से लोग उससे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हैं या उसके पास पाठ के लिए आते हैं। इस प्रकार श्रमण-धर्म के लिए अवकाश नहीं मिलता। इस अन्तराय का उपच्छेद इस प्रकार होना चाहिये। यदि थोड़ा ही पाठ रह गया हो तो उसे समाप्त कर अरण्य में प्रवेश करना चाहिये यदि पाठ बहुत बाकी हो तो अपने शिष्यों को समीपवर्ती किसी दूसरे गणवाचक के सुपुर्द करना चाहिये। यदि दूसरा गणवाचक पास में न मिले तो शिष्यों से छुट्टी ले श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

'कर्म' का अर्थ है 'नवकर्म' अर्थात् विहार का अभिसंस्कार। जो नवकर्म कराता है उसे मजदूरों के कार्य का निरीक्षण करना पड़ता है। उसके लिए सर्वदा अन्तराय है। इस

अन्तराय का नाश करना चाहिये। यदि थोड़ा ही काम अवशिष्ट रह गया हो तो काम को समाप्त कर श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। यदि अधिक काम बाकी हो तो संघभार-हारक भिक्षुओं के सुपुर्द करना चाहिये। यदि ऐसा कोई प्रबन्ध न हो सके तो संघ का परित्याग कर अन्यत्र चला जाना चाहिये।

मार्ग-गमन भी कभी कभी अन्तराय होता है। जिसे कहीं किसी की प्रव्रज्या के लिए जाना है या जिसे कहीं से लाभ-सत्कार मिलना है। यदि वह अपनी इच्छा को पूरा किये बिना अपने चित्त को स्थिर नहीं रख सकता तो उससे श्रमण-धर्म सम्यक् रीति से सम्पादित नहीं हो सकता। इसलिए उसे गन्तव्य स्थान पर जाकर अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहिये। तदनन्तर श्रमण-धर्म में उत्साह के साथ प्रवृत्त होना चाहिये।

ज्ञाति भी कभी कभी अन्तराय हो जाते हैं। विहार में आचार्य, उपाध्याय, अन्तेवासिक, समानोपाध्यायक और समानाचार्यक तथा गृह में माता, पिता, भ्राता आदि ज्ञाति होते हैं। जब यह बीमार पड़ते हैं तब यह अन्तराय होते हैं क्योंकि भिक्षु को इनकी सेवा शुश्रूषा करनी पड़ती है। उपाध्याय, प्रव्रज्याचार्य, उपसम्पदाचार्य, ऐसे अन्तेवासिक जिनकी उसने प्रव्रज्या या उपसम्पदा की है, तथा एक ही उपाध्याय के अन्तेवासी के बीमार पड़ने पर उनकी सेवा उस समय तक करना उसका कर्तव्य है जब तक वह निरोग न हो। निश्रयाचार्य, उद्देशाचार्य आदि की सेवा अध्ययन काल में ही कर्त्तव्य है। माता-पिता उपाध्याय के समान हैं। यदि उनके पास औषध न हो तो अपने पास से देना चाहिये; यदि अपने पास भी न हो तो भिक्षा माँगकर देना चाहिये।

आबाध भी अन्तराय है। यदि भिक्षु को कोई रोग हुआ तो श्रमणधर्म के पालन में अन्तराय होता है। चिकित्सा द्वारा रोग का उपशम करने से यह अन्तराय नष्ट होता है। यदि कुछ दिनों तक चिकित्सा करने से भी रोग शान्त न हो तो उसे यह कहकर आत्मगर्हा करनी चाहिये कि मैं तेरा न दास हूँ, न भृत्य, तेरा पोषण कर मैंने इस अनादि अनन्त संसार-मार्ग में दुःख ही प्राप्त किया है और श्रमणधर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

ग्रन्थ भी अन्तराय होता है। जो सदा स्वाध्याय में व्याप्रृत रहता है उसी के लिए ग्रन्थ अन्तराय है; दूसरों के लिए नहीं।

ऋद्धि से पृथग्जन की ऋद्धि से अभिप्राय है। यह ऋद्धि विपश्यना (प्रज्ञा) में अन्तराय है, समाधि में नहीं; क्योंकि जब समाधि की प्राप्ति होती है तब ऋद्धि-बल की प्राप्ति होती है। इसलिए जो विपश्यना का अर्थी है उसे ऋद्धि अन्तराय का उपच्छेद करना चाहिये किन्तु जो समाधि का लाभी होना चाहता है उसे नौ अन्तरायों का नाश करना चाहिये।

इन विघ्नों का उपच्छेद कर भिक्षु को 'कर्मस्थान' ग्रहण के लिए कल्याण-मित्र के पास जाना चाहिये। 'कर्मस्थान' योग के साधन को कहते हैं। योगानुयोग ही कर्म है। इसका स्थान अर्थात् 'निष्पत्ति हेतु' कर्मस्थान है। इसी लिए कर्मस्थान उसे कहते हैं जिसके द्वारा योग भावना की निष्पत्ति होती है। कर्मस्थान अर्थात् समाधि के साधन चालीस हैं। इन

चालीस साधनों में से किसी एक का, जो अपनी चर्या के अनुकूल हो, ग्रहण करना पड़ता है। कर्मस्थान का दायक कल्याणमित्र कहलाता है। क्योंकि वह उसका एकान्त हितैषी है। कल्याण-मित्र गम्भीर कथा का कहने वाला होता है तथा अनेक गुणों से समन्वागत होता है। बुद्ध से बढ़कर कोई दूसरा कल्याण-मित्र नहीं है। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि जीव मुझ कल्याण-मित्र की शरण में आकर जन्म के बन्धन से मुक्त होते हैं।

ममं हि आनन्द कल्याणमित्तमागम्म जातिधम्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्ति। [संयुत्त० १।८८]

इसलिए बुद्ध के रहते उनके समीप ग्रहण करने से कर्मस्थान सुगृहीत होता है। महापरिनिर्वाण के अनन्तर ८० महाश्रावकों में से जो वर्तमान हो उससे कर्मस्थान का ग्रहण उचित है। यदि महाश्रावक न हों तो ऐसे पुरुष के समीप कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिए जिसने उस विशेष कर्मस्थान द्वारा ध्यानों का उत्पाद कर विपश्यना की वृद्धि की हो और आश्रवों [1] (पालि 'आसव') का क्षय किया हो; जिस कर्मस्थान के ग्रहण की वह इच्छा रखता है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति न मिले तो क्रम से अनागामी, सकृदागामी, स्रोतापन्न,[2] ध्यानलाभी, पृथग्जन त्रिपिटकधर, द्विपिटकधर, एक पिटकधर से कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिये। यदि

---

१ आसव (=संस्कृत 'आश्रव')

लोक में बहुत काल की रखी हुई मदिरा को 'आसव' कहते हैं। इस अर्थ में जो ज्ञान का विपर्यय करे वह आसव है। दूसरे अर्थ में जो संसार-दुःख का प्रसव करते हैं उन्हें आसव कहते हैं। 'आसव' क्लेश हैं। कर्म क्लेश तथा नाना प्रकार के उपद्रव भी आसव कहलाते हैं। षडायतन में आसव तीन बताये गये हैं—काम, भव, और अविद्या। पर अन्य सूत्रों में तथा अभिधर्म में आसव चार बताये गये हैं=काम, भव, अविद्या और दृष्टि। जो आश्रवों का क्षय करता है वह अर्हत्पद को पाता है।

'चिरपरिवासियट्ठेन' मदिरादयो आसवा वियातिपि आसवा·····'वुत्तं हेतं। 'पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति अविज्जाय इतो पुब्बे अविज्जा नाहोसीति। आदिं आयत्तं वा संसारदुक्खं सवन्ति पसवन्तीति पि आसवा।·········सळायतने "तयो मे आवुसो आसवा कामासवो भवासवो अविज्जासवो" ति तिधा आगता। अञ्ञेसु च सुत्तन्तेसु अभिधम्मे च ते एव दिट्ठासवेन सह चतुधा आगता'। [मज्झिमनिकायट्ठकथा–सब्बासव सुत्त]

२– स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी,—

स्रोतापन्न—'स्रोत' आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग को कहते हैं। जो इस मार्ग में प्रवेश करे वह स्रोतापन्न है। स्रोतापन्न का विनिपात नहीं होता। वह नियत रूप से संबोधि की प्राप्ति करता है। (नियतो संबोधिपरायनो)

सकृदागामी—जो एक बार से अधिक पृथ्वी पर जन्म नहीं लेता। यह दूसरी अवस्था है।

अनागामी—जो दोबारा पृथ्वी पर नहीं आता, जिसका यह अन्तिम मानव जन्म है। यह तीसरी अवस्था है। चौथी अवस्था अर्हत् की है।

इनमें से भी कोई उपलब्ध न हो तो ऐसे व्यक्ति के समीप ग्रहण करना चाहिये जिसने एक निकाय का अर्थकथा (टीका) सहित अध्ययन किया हो और जो आचार्य-मत का वक्ता हो। क्षीणाश्रव, अनागामी आदि अपने अधिगत मार्ग का आख्यान करते हैं। पर जो बहुश्रुत हैं वह विविध आचार्यों से पाठ तथा परिप्रश्न द्वारा अपने ज्ञान का परिष्कार कर पाँच निकायों से अमुक अमुक कर्मस्थान के अनुरूप सूत्रपद और सूत्रानुगत युक्ति ढूँढ़ निकालते हैं और श्रमण-धर्म के करने वाले को उससे उपयुक्त कर्मस्थान का ग्रहण कराते हैं।

इन चालीस कर्मस्थानों को पालि में—परिहारिय-कम्मट्ठान कहते हैं। क्योंकि इनमें से जो चर्या के अनुकूल होता है उसका नित्य परिहरण अर्थात् अनुयोग करना पड़ता है। पारिहारिक कर्मस्थान के अतिरिक्त सब्बत्थक-कम्मट्ठान' (अर्थात् सर्वार्थक कर्मस्थान) भी है। इसे सर्वार्थक इसलिए कहते हैं क्योंकि यह सबको लाभ पहुँचाता है। भिक्षुसङ्घ आदि के प्रति मैत्रीभावना, मरण-स्मृति और कुछ आचार्यों के मतानुसार अशुभ-संज्ञा भी सर्वार्थक कर्मस्थान कहलाते हैं। जो भिक्षु कर्मस्थान में नियुक्त होते हैं उसे पहिले सीमा में रहनेवाले भिक्षुसङ्घ के प्रति मैत्री प्रदर्शित करनी चाहिये। उसे मैत्री-भावना इस प्रकार करनी चाहिये—सीमा में रहनेवाले भिक्षु सुखी हों, उनका कोई व्यापाद न करे। धीरे-धीरे उसे इस भावना का इस प्रकार विस्तार करना चाहिये। सीमा के भीतर वर्तमान देवताओं के प्रति, तदनन्तर उस ग्राम के निवासियों के प्रति जहाँ वह भिक्षाचर्या करता है, तदनन्तर राजा तथा अधिकारी वर्ग के प्रति, तदनन्तर सब सत्त्वों के प्रति मैत्री-भावना का अनुयोग करना चाहिये। ऐसा करने से उसके सहवासी उसके साथ सुखपूर्वक निवास करते हैं। देवता तथा अधिकारी उसकी रक्षा करते हैं तथा उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, लोगों का वह प्रियपात्र होता है और सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है। मरण-स्मृति द्वारा वह निरन्तर इस बात की चिन्तना करता रहता है कि मुझे मरना अवश्यमेव है। इसलिए वह कुपथ का गामी नहीं होता तथा वह संसार में लीन और आसक्त नहीं होता। जब चित्त अशुभ-संज्ञा से परिचित होता है अर्थात् जब चित्त यह देखता है कि चाहे मृत हो या जीवमान, शरीर शुभ भाव से वर्जित है और इसका स्वभाव अशुचि है। तब दिव्य आलम्बन का लोभ भी चित्त को ग्रस्त नहीं करता। बहु उपकार करने से सबको यह अभिप्रेत है। इसलिए इन्हें सर्वार्थक कर्मस्थान कहते हैं।

इन दो प्रकार के कर्मस्थानों के ग्रहण के लिए कल्याण-मित्र के समीप जाना चाहिये। यदि एक ही विहार में कल्याणमित्र का वास हो तो अति उत्तम है। नहीं तो जहाँ कल्याण-मित्र का आवास हो वहाँ जाना चाहिये। अपना पात्र और चीवर स्वयं लेकर प्रस्थान करना चाहिये। मार्ग में जो विहार पड़े वहाँ वत्त-प्रतिवत्त (कर्तव्य-सेवा-आचार) सम्पादित करना चाहिये। आचार्य का वासस्थान पूछकर सीधे आचार्य के पास जाना चाहिये। यदि आचार्य अवस्था में छोटा हो तो उसे अपना पात्र चीवर ग्रहण न करने देना चाहिये। यदि अवस्था में अधिक हो तो आचार्य को वन्दना कर खड़े रहना चाहिये। जब आचार्य कहे कि पात्र चीवर भूमि पर रख दो तब उन्हें भूमि पर रख देना चाहिये और यदि वह पानी पीने के लिए पूछे तो इच्छा रहते जल पीना चाहिये। यदि पैर धोने को कहें तो पैर न धोना चाहिये। क्योंकि

यदि जल आचार्य द्वारा आहृत हो तो वह पादप्रक्षालन के लिए अनुपयुक्त होगा। यदि आचार्य कहें कि जल दूसरे द्वारा लाया गया है तो उसको ऐसे स्थान में बैठकर पैर धोना चाहिये जहाँ आचार्य उसे न देख सकें। यदि आचार्य तेल दें तो उठकर दोनों हाथों से आदरपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिये। पर पहिले पैरों में न मलना चाहिये, क्योंकि यदि आचार्य के गात्राभ्यञ्जन के लिए वह तेल हो तो पैर में मलने के लिए अनुपयुक्त होगा। इसलिए पहिले सिर और कन्धों में तेल लगाना चाहिये। जब आचार्य कहें कि सब अङ्गों में लगाने का यह तेल है तो थोड़ा सिर में लगाकर पैर में लगाना चाहिये। पहिले ही दिन कर्मस्थान की याचना न करनी चाहिये। दूसरे दिन से आचार्य की सेवा करनी चाहिये। जिस प्रकार अन्तेवासी आचार्य की सेवा करता है उसी प्रकार भिक्षु को कर्मस्थानदायक की सेवा करनी चाहिये। समय से उठकर आचार्य को दन्तकाष्ठ देना चाहिये, मुँह धोने के लिए तथा स्नान के लिए जल देना चाहिये। और बर्तन साफ करके प्रातराश के लिए यवागू देना चाहिये। इसी प्रकार अन्य जो कर्तव्य निर्दिष्ट हैं उनको पूरा करना चाहिये। इस प्रकार अपनी सेवा से आचार्य को प्रसन्न कर जब वह आने का कारण पूछें तब बताना चाहिये; यदि आचार्य आने का कारण न पूछें और सेवा लें तो एक दिन अवसर पाकर आने का कारण स्वयं बताना चाहिये। यदि वह प्रातःकाल बुलावें तो प्रातःकाल जाना चाहिये। यदि उस समय किसी रोग की बाधा हो तो निवेदन कर दूसरा उपयुक्त समय नियत कराना चाहिये। याचना के पूर्व आचार्य के समीप आत्मभाव का विसर्जन करना चाहिये। आचार्य की आज्ञा में सदा रहना चाहिये; स्वेच्छाचारी न होना चाहिये; यदि आचार्य बुरा-भला कहें तो कोप नहीं करना चाहिये। यदि भिक्षु आचार्य के समीप आत्मभाव का परित्याग नहीं करता और बिना पूछे जहाँ कहीं इच्छा होती है चला जाता है तो आचार्य रुष्ट होकर धर्म का उपदेश नहीं करता और गम्भीर कर्मस्थान-ग्रन्थ की शिक्षा नहीं देता। इस प्रकार भिक्षु शासन में प्रतिष्ठा नहीं पाता। इसके विपरीत यदि वह आचार्य के वशवर्ती और अधीन रहता है तो शासन में उसकी वृद्धि होती है। भिक्षु को अलोभादि छः सम्पन्न अध्याशयों से भी संयुक्त होना चाहिये। सम्यक् सम्बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध आदि जिस किसी ने विशेषता प्राप्त की है उसने इन्हीं छः सम्पन्न अध्याशयों द्वारा प्राप्त की है। 'अध्याशय' अभिनिवेश को कहते हैं। 'अध्याशय' दो प्रकार के हैं—विपन्न, सम्पन्न। रुष्यता आदि जो मिथ्याभिनिवेश-निश्रित हैं विपन्न अध्याशय कहलाते हैं। सम्पन्न अध्याशय दो प्रकार के हैं—वर्त अर्थात् संसारनिश्रित और विवर्तनिश्रित। यहाँ विवर्तनिश्रित अध्याशय से अभिप्राय है।

सम्पन्न अध्याशय छः आकार के हैं—अलोभ, अद्वेष, अमोह, नैष्कम्य, प्रविवेक और निस्सरण। इन छः अध्याशयों से बोधि का परिपाक होता है। इसलिए इनका आसेवन आवश्यकीय है। इसके अतिरिक्त योगी का संकल्प समाधि तथा निर्वाण के लाभ के लिए दृढ़ होना चाहिये। जब विशेष गुणों से सम्पन्न योगी कर्मस्थान की याचना करता है तो आचार्य चर्या की परीक्षा करता है। जो आचार्य परचित्त-ज्ञानलाभी हैं वह चित्ताचार का सूक्ष्म निरीक्षण कर आप ही आप योगी के चरित का परिचय प्राप्त कर लेता है पर जो इस ऋद्धि-बल से समन्वागत नहीं है वह विविध प्रश्नों द्वारा योगी की चर्या जानने की चेष्टा करता है।

आचार्य योगी से पूछता है कि वह कौन से धर्म हैं जिनका तुम प्रायः आचरण करते हो ? क्या करने से तुम सुखी होते हो ? किस कर्मस्थान में तुम्हारा चित्त लगता है ? इस प्रकार चर्या का विनिश्चय कर आचार्य चर्या के अनुकूल कर्मस्थान का वर्णन करता है। योगी कर्मस्थान का अर्थ और अभिप्राय भली प्रकार जानने की चेष्टा करता है। वह आचार्य के व्याख्यान को मनोयोग देकर आदरपूर्वक सुनता है ऐसे ही योगी का कर्मस्थान सुगृहीत होता है।

चर्या के कितने प्रभेद हैं, किस चर्या का क्या निदान है, कैसे जाना जाय कि अमुक मनुष्य अमुक चरितवाला है और किस चरित के लिए कौन से शयनासन आदि उपयुक्त हैं, इन विषयों पर यहां विस्तार से विचार किया जायगा। चर्या का अर्थ है प्रकृति, अन्य धर्मों की अपेक्षा किसी विशेष धर्म की उत्सन्नता अर्थात् अधिकता। चर्या छः हैं—रागचर्या, द्वेषचर्या, मोहचर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या और वितर्कचर्या। सन्तान में जब अधिक भाव से राग की प्रवृत्ति होती है तब रागचर्या कही जाती है। कुछ लोग सम्प्रयोग और सन्निपात वश रागादि की चार और चर्यायें मानते हैं जैसे राग-मोहचर्या, राग-द्वेषचर्या, द्वेष-मोहचर्या और राग-द्वेष-मोहचर्या। इसी प्रकार श्रद्धादि चर्याओं के परस्पर सम्प्रयोग और सन्निपातवश श्रद्धा-बुद्धिचर्या, श्रद्धा-वितर्कचर्या, बुद्धि-वितर्कचर्या, श्रद्धा-बुद्धि-वितर्कचर्या इन चार अपर चर्याओं को भी मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में कुल चौदह चर्यायें हैं। यदि हम रागादि का श्रद्धादि चर्याओं से सम्प्रयोग करें तो अनेक चर्यायें होती हैं। इस प्रकार चर्याओं की तिरसठ और इससे भी अधिक संख्या हो सकती है। इसलिए संक्षेप से छः ही मूलचर्या जानना चहिये। मूलचर्याओं के प्रभेद से छः प्रकार के पुद्गल होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित, वितर्कचरित। जिस समय रागचरित पुरुष की कुशल में अर्थात् शुभकर्मों में प्रवृत्ति होती है उस समय श्रद्धा बलवती होती है। क्योंकि श्रद्धा-गुण राग-गुण का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार अकुशल पक्ष में राग की स्निग्धता और अरूक्षता पायी जाती है उसी प्रकार कुशलपक्ष में श्रद्धा की स्निग्धता और अरूक्षता पायी जाती है। श्रद्धा प्रसाद गुणवश स्निग्ध है और राग रञ्जन गुणवश स्निग्ध है। यथा राग काम्य वस्तुओं का पर्येषण करता है उसी प्रकार श्रद्धा शीलादि गुणों का पर्येषण करती है। यथा राग अहित का परित्याग नहीं करता उसी प्रकार श्रद्धा हित का परित्याग नहीं करती। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हुए भी रागचरित और श्रद्धा चरित की सभागता है।

इसी तरह द्वेषचरित और बुद्धिचरित की तथा मोहचरित और वितर्कचरित की सभागता है। जिस समय द्वेषचरित पुरुष की कुशल में प्रवृत्ति होती है उस समय प्रज्ञा बलवती होती है क्योंकि प्रज्ञा-गुण द्वेष का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार अकुशल पक्ष में द्वेष व्यापादवश स्नेहरहित होता है, आलम्बन में उसकी आसक्ति नहीं होती, उसी प्रकार यथाभूत स्वभाव के अवबोध के कारण कुशलपक्ष में प्रज्ञा की आसक्ति नहीं होती। यथा द्वेष अभूत दोष की भी पर्येषणा करता है उसी प्रकार प्रज्ञा यथाभूत दोष का प्रविचय करती है। यथा द्वेषचरित पुरुष सत्त्वों का परित्याग करता है उसी प्रकार बुद्धिचरित पुरुष संस्कारों का परित्याग करता है। इसलिए स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी द्वेषचरित और बुद्धिचरित की सभागता है। जब मोहचरित

पुरुष कुशल कर्मों के उत्पाद के लिए बलवान् होता है तो नाना प्रकार के वितर्क और मिथ्या संकल्प उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वितर्क-गुण मोह-गुण का समीपवर्ती है। जिस प्रकार व्याकुलता के कारण मोह अनवस्थित है उसी प्रकार नाना प्रकार के विकल्प-परिकल्प के कारण वितर्क अनवस्थित है। जिस प्रकार मोह चंचल है उसी प्रकार वितर्क में चपलता है। इस प्रकार स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी मोहचरित और वितर्कचरित की सभागता है।

कुछ लोग इन छः चर्याओं के अतिरिक्त तृष्णा, मान और दृष्टि को भी चर्या में परिगणित करते हैं। पर तृष्णा और मान राग के अन्तर्गत हैं और दृष्टि मोह के अन्तर्गत है।

इन छः चर्याओं का क्या निदान है? कुछ का कहना है कि पूर्व जन्मों का आचरण और धातु-दोष की उत्सन्नता पहली तीन चर्याओं का नियामक है। इनका कहना है कि जिसने पूर्वजन्मों में अनेक शुभ कर्म किये हैं और जो इष्ट-प्रयोग-बहुल रहा है या जो स्वर्ग से च्युत हो इस लोक में जन्म लेता है वह रागचरित होता है। जिसने पूर्वजन्मों में छेदन, वध, बन्धन आदि अनेक वैरकर्म किये हैं या जो निरय या नाग-योनि से च्युत हो इस लोक में उत्पन्न होता है वह द्वेषचरित होता है और जिसने पूर्व जन्मों में अधिक परिमाण में निरन्तर मद्यपान किया है और जो श्रुतविहीन है या जो निकृष्ट पशुयोनि से च्युत हो इस लोक में उत्पन्न होता है, वह मोहचरित होता है। पृथिवी तथा जलधातु की उत्सन्नता से पुद्गल मोहचरित होता है। तेज और वायुधातु की उत्सन्नता से पुद्गल द्वेषचरित होता है। चारों धातुओं के समान भाग में रहने से पुद्गल रागचरित होता है। दोषों में श्लेष्म की अधिकता से पुद्गल रागचरित या मोहचरित होता है; वात की अधिकता से मोहचरित या रागचरित होता है। इन वचनों में श्रद्धाचर्या आदि में से एक का भी निदान नहीं कहा गया है। दोष-नियम में केवल राग और मोह का ही निदर्शन किया गया है; इनमें भी पूर्वापरविरोध देखा जाता है। इसी प्रकार धातुओं में उक्त पद्धति से उत्सन्नता का नियम नहीं पाया जाता। पूर्वाचरण के आधार पर जो चर्या का नियमन बताया गया है उसमें भी ऐसा नहीं है कि सब केवल रागचरित हों या द्वेष-मोह-चरित हों। इसलिए यह वचन अपरिच्छिन्न हैं। अर्थकथाचार्यों के मतानुसार चर्या-विनिश्चय 'उस्सद कित्तन' में इस प्रकार वर्णित है। पूर्व-जन्मों में प्रवृत्त लोभ-अलोभ, द्वेष-अद्वेष, मोह-अमोह, हेतुवश प्रतिनियत रूप में सत्त्वों में लोभ आदि की अधिकता पायी जाती है। कर्म करने के समय जिस मनुष्य में लोभ बलवान् होता है और अलोभ मन्द होता है, अद्वेष और अमोह बलवान् होते हैं और द्वेष-मोह मन्द होते हैं, उसका मन्द अलोभ लोभ को अभिभूत नहीं कर सकता पर अद्वेष-अमोह, बलवान् होने के कारण, द्वेष मोह को अभिभूत करते हैं। इसलिए जब वह मनुष्य इन कर्मों के वश प्रतिसन्धि का लाभ करता है तो वह लुब्ध, सुखशील, क्रोधरहित और प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-द्वेष बलवान् होते हैं, अलोभ-अद्वेष मन्द होते हैं, अमोह बलवान् होता है और मोह मन्द होता है वह लुब्ध और दुष्ट पर प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-मोह-अद्वेष बलवान् होते हैं और इतर मन्द होते हैं वह लुब्ध, मन्द बुद्धिवाला, सुखशील और क्रोधरहित होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ द्वेष मोह बलवान् होते हैं, अलोभादि मन्द होते हैं, वह लुब्ध,

दुष्ट और मूढ़ होता है। कर्म करने के समय जिसके अलोभ द्वेष मोह बलवान् होते हैं, इतर मन्द होते हैं, वह अलुब्ध, दुष्ट और मन्द बुद्धिवाला होता है। कर्म करने के समय जिस सत्त्व के अलोभ अद्वेष मोह बलवान् होते हैं इतर मन्द होते हैं, वह अलुब्ध, अदुष्ट और मन्द बुद्धिवाला होता है। कर्म करने समय जिसके अलोभ, द्वेष और अमोह बलवान् होते हैं, इतर मन्द होते हैं वह अलुब्ध, प्रज्ञावान् और दुष्ट होता है। कर्म करने के समय जिसके अलोभ, अद्वेष और अमोह तीनों बलवान् होते हैं और लोभ आदि मन्द होते हैं वह अलुब्ध, अदुष्ट और प्रज्ञावान् होता है।

यहाँ जिसे लुब्ध कहा है वह रागचरित है; जिसे दुष्ट या मन्द बुद्धिवाला कहा है वह यथाक्रम द्वेषचरित या मोहचरित है; प्रज्ञावान् बुद्धिचरित है; अलुब्ध, अदुष्ट, प्रसन्न प्रकृतिवाला होने के कारण श्रद्धाचरित है। इस प्रकार लोभादि में से जिस किसी द्वारा अभिसंस्कृत कर्मवश प्रतिसन्धि होती है उसे चर्या का निदान समझना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार जाना जाय कि यह पुद्गल रागचरित है, इत्यादि। इसका निश्चय ईर्यापथ[1] (= वृत्ति), कृत्य, भोजन, दर्शन आदि तथा धर्म-प्रवृत्ति (चित्त की विविध अवस्थाओं की प्रवृत्ति) द्वारा होता है।

ईर्यापथ—जो रागचरित होता है उसकी गति अकृत्रिम, स्वाभाविक होती है; वह चतुरभाव से धीरे-धीरे पद-निक्षेप करता है। वह समभाव से पैर रखता है और उठाता है; उसके पादतल का मध्यभाग भूमि का स्पर्श नहीं करता। जो द्वेषचरित है वह जब चलता है तब मालूम होता है मानो भूमि को खोद रहा है; वह सहसा पैर रखता है और उठाता है। पाद-निक्षेप के समय ऐसा मालूम होता है मानो पैर पीछे की ओर खींचता है। मोहचरित की गति व्याकुल होती है। वह भीत पुरुष की तरह पैर रखता है और उठाता है। वह अग्रपाद तथा पार्ष्णि से गति को सहसा सन्निरुद्ध करता है। रागचरित पुरुष जब खड़ा होता है या बैठता है तो उसका आकार प्रसादावह और मधुर होता है। द्वेषचरित पुरुष का आकार स्तब्ध होता है और मोहचरित का आकुल होता है। रागचरित पुरुष बिना त्वरा के अपना बिछौना ठीक तरह से बिछाता है और धीरे से शयन करता है। शयन करते समय वह अपने अंग प्रत्यंग का विक्षेप नहीं करता और उसका आकार प्रासादिक होता है। उठाये जाने पर वह चौंक कर नहीं उठता किन्तु शङ्कित पुरुष की तरह मृदु उत्तर देता है। द्वेषचरित पुरुष जल्दी से किसी न किसी प्रकार अपने बिछौने को बिछाता है और अवश की तरह अंग-प्रत्यंग का सहसा विक्षेप कर भृकुटि चढ़ाकर सोता है। उठाये जाने पर सहसा उठता है और क्रुद्ध होकर उत्तर देता है। मोहचरित पुरुष का बिछौना बेतरतीब होता है। वह हाथ-पैर फैलाकर प्रायः मुँह नीचा

---

१. **ईर्यापथ (पालि इरियापथ) = चर्या, वृत्ति, विहार। ईर्यापथ चार हैं—गमन, स्थान, निषद्या, शयन।**

कर सोता है। उठाये जाने पर हुङ्कार करते हुए मन्दभाव से उठता है। श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति रागचरितादि पुरुष के समान होती है, क्योंकि इनकी सभागता है।

कृत्य—कृत्य से भी चर्या का निश्चय होता है। जैसे झाड़ू देते समय रागचरित पुरुष बिना जल्दबाजी के झाड़ू को अच्छी तरह पकड़ कर समान रूप से झाड़ू देता है और स्थान को अच्छी तरह साफ करता है। द्वेषचरित पुरुष झाड़ू को कसकर पकड़ता है और जल्दी जल्दी दोनों ओर बालू उड़ाता हुआ साफ करता है और स्थान भी साफ नहीं होता। मोहचरित पुरुष झाड़ू को शिथिलता के साथ पकड़ कर इधर-उधर चलाता है; स्थान भी साफ नहीं होता। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं के संबन्ध में भी समझना चाहिये। रागचरित पुरुष कार्य में कुशल होता है; सुन्दर तथा समरूप से सावधानता के साथ कार्य करता है। द्वेषचरित पुरुष का कार्य स्थिर, स्तब्ध और विषम होता है और मोहचरित पुरुष कार्य में अनिपुण, व्याकुल, विषम और अयथार्थ होता है। सभागता होने के कारण श्रद्धाचरितादि पुरुषों की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

भोजन—रागचरित पुरुष को स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय होता है; वह धीरे-धीरे विविध रसों का आस्वाद लेते हुए भोजन करता है; अच्छा भोजन करके उसको प्रसन्नता होती है। द्वेषचरित पुरुष को रूखा और आम्ल भोजन प्रिय होता है; वह बिना रसों का स्वाद लिए जल्दी-जल्दी भोजन करता है; यदि वह कोई बुरे स्वाद का पदार्थ खाता है तो उसे अप्रसन्नता होती है। मोहचरित पुरुष की रुचि अनियत होती है; वह विक्षिप्तचित्त पुरुष की तरह नाना प्रकार के वितर्क करते हुए भोजन करता है। इसी प्रकार श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति होती है।

दर्शन—रागचरित पुरुष थोड़ा भी मनोरम रूप देखकर विस्मितभाव से चिरकाल तक उसका अवलोकन करता रहता है; थोड़ा भी गुण हो तो वह उसमें अनुरक्त हो जाता है; वह यथार्थ दोष का भी ग्रहण नहीं करता। उस मनोरम रूप के पास से हटने की उसकी इच्छा नहीं होती। द्वेषचरित पुरुष थोड़ा भी अमनोरम रूप देखकर खेद को प्राप्त होता है। वह उसकी ओर देर तक देख नहीं सकता। थोड़ा भी दोष उसकी निगाह से बचकर नहीं जा सकता। यथार्थ गुण का भी वह ग्रहण नहीं करता। मोहचरित पुरुष जब कोई रूप देखता है तो वह उसके विषय में उपेक्षाभाव रखता है; दूसरों को निन्दा करते देखकर निन्दा और प्रशंसा करते देखकर प्रशंसा करता है। श्रद्धाचरितादि पुरुषों की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

धर्म-प्रवृत्ति—रागचरित पुरुष में माया, शाठ्य, मान, पापेच्छा, असन्तोष, चपलता, लोभ, शृङ्गारभाव आदि धर्मों की बहुलता होती है। द्वेषचरित पुरुष में क्रोध, द्वेष ईर्ष्या, मात्सर्य, दम्भ आदि धर्मों की बहुलता होती है। मोहचरित पुरुष में विचिकित्सा, आलस्य, चित्तविक्षेप, चित्त की अकर्मण्यता, पश्चात्ताप, प्रतिनिविष्ठता, दृढ़ग्राह आदि धर्मों की बहुलता होती है। श्रद्धाचरित पुरुष का परित्याग निःसङ्ग होता है; वह आर्यों के दर्शन की तथा सद्धर्म-श्रवण की इच्छा रखता है; उसमें प्रीति की बहुलता है, वह शठता और माया से रहित

है, उचित स्थान में वह श्रद्धाभाव रखता है। बुद्धिचरित पुरुष स्निग्धभाषी, मितभोजी और कल्याणमित्र होता है। वह स्मृति-संप्रजन्य की रक्षा करता है; सदा जाग्रत रहता है। संसार का दुःख देखकर उसमें संवेग उत्पन्न होता है और वह उद्योग करता है। वितर्कचरित पुरुष की कुशलधर्मों में अरति होती है; उसका चित्त अनवस्थित होता है; वह बहुभाषी और समाजप्रिय होता है। वह इधर से उधर आलंबनों के पीछे दौड़ता है।

चर्या की विभावना का उक्त प्रकार पालि और अर्थकथाओं में वर्णित नहीं है। यह केवल आचार्य बुद्धघोष के मतानुसार कहा गया है। इसलिए इस पर पूर्णरूप से विश्वास नहीं करना चाहिये। द्वेषचरित पुरुष भी यदि प्रमाद से रहित हो उद्योग करे तो रागचरित पुरुष की गति आदि का अनुकरण कर सकता है। जो पुरुष संसृष्टचरित का है उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की गति आदि नहीं घटती; किन्तु जो प्रकार अर्थकथाओं में वर्णित है उसका साररूप से ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार आचार्य योगी की चर्या को जान कर निश्चय करता है कि यह पुरुष रागचरित है या द्वेष-मोह-चरित है। किस चरित के पुरुष के लिए क्या उपयुक्त है? अब इस प्रश्न पर हम विचार करेंगे। रागचरित पुरुष को तृणकुटी में, पर्णशाला में, एक ओर अवनत पर्वतपाद के अधोभाग में या वेदिका से घिरे हुए अपरिशुद्ध भूमितल पर निवास करना चाहिये। उसका आवास रज से आकीर्ण, छिन्न-भिन्न, अति उच्च या अति नीच, अपरिशुद्ध, चमगादड़ों से परिपूर्ण छायोदकरहित, सिंह व्याघ्रादि के भय से युक्त, देखने में विरूप और दुर्वर्ण होना चाहिए। ऐसा आवास रागचरित पुरुष के उपयुक्त है। रागचरित पुरुष के लिए ऐसा चीवर उपयुक्त होगा जो किनारों पर फटा हो, जिसके धागे चारों ओर से लटकते हों, जो देखने में जालाकार पूए के समान हो, जो छूने में खुरखुरा और देखने में भद्दा, मैला और भारी हो। उसका पात्र मृत्तिका का या लोहे का होना चाहिये। देखने में बदसूरत और भारी हो; कपाल की तरह, जिसको देखकर घृणा उत्पन्न हो। उसका भिक्षाचर्या का मार्ग विषम, अमनोरम, और ग्राम से दूर होना चाहिये। भिक्षाचार के लिए उसे ऐसे ग्राम में जाना चाहिये जहाँ के लोग उसकी उपेक्षा करें, जहाँ एक कुल से भी जब उसे भिक्षा न मिले तब लोग आसन-शाला में बुलाकर उसे यवागू भोजन के लिए दें और बिना पूछे चलते बनें। परोसनेवाले भी दास या भृत्य हों, जिनके वस्त्र मैले और बदबूदार हों, जो देखने में दुर्वर्ण हों और जो बेमन से परोसता हो। उसका भोजन रूक्ष, दुर्वर्ण और नीरस होना चाहिये। भोजन के लिए सावाँ, कोदो, चावल के कण, सड़ा हुआ तक्र और जीर्ण शाक का सूप होना चाहिये। उसका ईर्यापथ स्थान या चंक्रमण होना चाहिये अर्थात् उसे या तो खड़े रहना चाहिये या टहलना चाहिये। नीलादि वर्ण-कसिणों[1] में जिस आलम्बन का वर्ण अपरिशुद्ध हो वह उसके उपयुक्त है।

---

१. कसिण (संस्कृत=कृत्स्न = समस्त); कसिण दस हैं। ये ध्यान के लाभ में सहायक होते हैं।

द्वेषचरित पुरुष के शयनासन को न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना चाहिये; उसे छाया और जल से सम्पन्न तथा सुवासित होना चाहिए। उसका भूमि-तल समुज्ज्वल, मृदु, सम और स्निग्ध हो; ब्रह्मविमान के तुल्य सुन्दर तथा कुसुममाला और नानावर्ण के चैल-वितानों से समलंकृत हो और जिसके दर्शनमात्र से चित्त को आह्लाद प्राप्त हो। उसको श्रमण के अनुरूप हलका सुरक्त और शुद्ध वर्ण का रेशमी या सूक्ष्म क्षौमवस्त्र धारण करना चाहिये। उसका पात्र मणि की तरह चमकता हुआ और लोहे का होना चाहिये। भिक्षाचार का मार्ग भयरहित, सम, सुन्दर तथा ग्राम से न बहुत दूर और न बहुत निकट ही होना चाहिये। जिस ग्राम में वह भिक्षाचर्या के लिए जाय वहाँ के लोग आदरपूर्वक उसको भोजन के लिए अपने घर पर निमन्त्रित करें और आसन पर बैठाकर अपने हाथ से भोजन करायें। परोसनेवाले पवित्र और मनोज्ञ वस्त्र धारण कर, आभरणों से प्रतिमण्डित हो आदर के साथ भोजन परोसें। भोजन वर्ण, गन्ध और रस से सम्पन्न हो और हर प्रकार से उत्कृष्ट हो। ईर्यापथ में उसके लिए शय्या या निषद्या उपयुक्त है अर्थात् उसे लेटना या बैठना चाहिए। नीलादि वर्ण कसिणों में जो आलम्बन सुपरिशुद्ध वर्ण का हो वह उसके लिए उपयुक्त है।

मोहचरित पुरुष का आवास खुले हुए स्थान में होना चाहिये; जहाँ बैठकर वह सब दिशाओं को विवृत रूप से देख सके। चार ईर्यापथों में से इसके लिए चंक्रमण (टहलना) उपयुक्त है, आलम्बनों में शरावमात्र या शूर्पमात्र क्षुद्र आलम्बन इसके लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि घिरी जगह में चित्त और भी मोह को प्राप्त होता है। इसलिए मोहचरित पुरुष का कसिण-मण्डल विपुल होना चाहिये। शेष बातों में मोहचरित पुरुष, द्वेषचरित पुरुष के समान है; जो कुछ द्वेषचरित पुरुष के उपयुक्त बताया गया है वह सब श्रद्धाचरित पुरुष के लिए भी उपयुक्त है। आलम्बनों में श्रद्धाचरित पुरुष के लिए अनुस्मृति-स्थान[1] भी उपयुक्त हैं। बुद्धिचरित पुरुष के लिए आवासादि के विषय में कुछ भी अनुपयुक्त नहीं है। वितर्क-चरित पुरुष के लिए दिशाभिमुख, खुला हुआ आवास उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ऐसे स्थान से उसको आराम, वन, पुष्करिणी आदि दिखलाई देंगी; जिससे चित्त का विक्षेप होगा और वितर्क की वृद्धि होगी। इसलिए उसे गम्भीर पर्वत-विवर में रहना चाहिये। इसके लिए विपुल आलम्बन भी उपयुक्त न होगा; क्योंकि यह भी वितर्क की वृद्धि में हेतु होगा। उसका आलम्बन क्षुद्र होना चाहिये। शेष बातों में वितर्कचरित पुरुष रागचरित पुरुष के समान है।

आचार्य को चर्या के अनुकूल कर्मस्थान का ग्रहण कराना चाहिये। इस संबन्ध में ऊपर संक्षेप में ही कहा गया है। अब विस्तार से कहा जायगा।

---

१. अनुस्मृति-स्थान—'अनुस्मृति' का अर्थ है 'बार बार स्मरण' अथवा 'अनुरूप स्मृति'। जो स्मृति उचित स्थान में प्रवर्तित होती है वह योगी के अनुरूप होती है। अनुस्मृति के दस विषय हैं। इन्हें अनुस्मृति-स्थान कहते हैं।

कर्मस्थान चालीस हैं। वह इस प्रकार हैं—दस 'कसिण', दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, चार आरूप्य, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान।

'कसिण' योग-कर्म के सहायक आलम्बनों में से हैं। श्रावक 'कसिण' आलम्बनों की भावना करते हैं। 'कसिणों' (=कृत्स्न) पर चित्त को एकाग्र करने से ध्यान की समाप्ति होती है। इस अभ्यास को 'कसिण कम्म' कहते हैं। 'कसिण' दस हैं। विशुद्धिमार्ग के अनुसार 'कसिण' इस प्रकार हैं—पृथ्वीकसिण, अपक°, तेजक°, वायुक°, नीलक°, पीतक°, लोहितक°, अवदातक°, आलोकक°, परिच्छिन्नाकाशक°,। मज्झिम तथा दीघनिकाय की सूची में आलोक और परिच्छिन्नाकाश के स्थान में आकाश और विज्ञान परिगणित हैं।

अशुभ दस हैं—उद्धुमातक (भाथी की तरह फूला हुआ मृत शरीर), विनीलक (मृत शरीर सामान्यतः नीला हो जाता है), विपुब्बक (जिसके भिन्न स्थानों से पीप विस्यन्दमान होती है), विच्छिद्दक (द्विधा छिन्न शवशरीर), विक्खायितक (वह शव जिसे कुत्ते और शृगालों ने स्थान स्थान पर विविध रूपसे खाया हो), विक्खित्तक (वह शव जिसके अङ्ग इधर-उधर छितरे पड़े हों), हतविक्खित्तक (वह शव जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शस्त्र से काट कर इधर-उधर छितरा दिये गए हों), लोहितक (रक्त से सनी लाश), पुलुवक (कृमियों से परिपूर्ण शव), अट्ठिक (अस्थि-पञ्जर मात्र)।

अनुस्मृति दस हैं—बुद्धानु°, धर्मानु°, सङ्घानु°, शीलानु°, त्यागानु°, देवतानु°, कायगतास्मृति, मरणानुस्मृति, आनापानस्मृति[1], उपशमानुस्मृति। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा यह चार **ब्रह्मविहार** हैं[2]। आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन यह चार **आरूप्य** हैं। आहार में प्रतिकूल संज्ञा एक संज्ञा है। चार धातुओं का व्यवस्थान एक व्यवस्थान है।

समाधि के दो प्रकार हैं—उपचार और अर्पणा[3]। जब तक ध्यान क्षीण रहता है और अर्पणा की उत्पत्ति नहीं होती; तब तक उपचार-समाधि का व्यवहार होता है। उपचार-भूमि में नीवरणों का प्रहाण होकर चित्त समाहित होता है। पर वितर्क, विचार आदि पाँच अङ्गों का प्रादुर्भाव नहीं होता। जिस प्रकार ग्राम का समीपवर्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है उसी प्रकार अर्पणा-समाधि के समीपवर्ती होने के कारण उपचार संज्ञा पड़ी। उपचार-भूमि में अङ्ग मजबूत

---

१. तुलना कीजिये—**"प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य" [योग दर्शन, समाधिपाद, सू० ३४]।**

२. तुलना कीजिए—**"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्" [योग दर्शन, समाधिपाद, सू० ३३]।**

३. **अर्पणा (पालि='अप्पना') "सम्पयुत्तधम्मे आरम्मणे अप्पेन्तो विय पवत्ततीति वितक्को अप्पना" [परमत्थमञ्जूसाटीका]।**

नहीं होते; पर अर्पणा में अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है और वह सुदृढ़ हो जाते हैं। इसलिए यह समाधि की प्रतिलाभ-भूमि है। जिस प्रकार बालक जब खड़े होकर चलने की कोशिश करता है तो आरम्भ में अभ्यास न होने के कारण खड़ा होता है और फिर बार बार गिर पड़ता है उसी प्रकार उपचार-समाधि के उत्पन्न होने पर चित्त कभी निमित्त को आलम्बन बनाता है तो कभी भवाङ्ग में अवतीर्ण हो जाता है। पर अर्पणा में अङ्ग सुदृढ़ हो जाते हैं; सारा दिन, सारी रात, चित्त स्थिर रहता है। चालीस कर्मस्थानों में से दस कर्मस्थान—बुद्ध-धर्म-सङ्घ-शील-त्याग-देवता यह छः अनुस्मृतियाँ मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार के विषय में प्रतिकूल संज्ञा और चतुर्धातु-व्यवस्थान—उपचार-समाधि का और बाकी तीस अर्पणा-समाधि का आनयन करते हैं। जो कर्मस्थान अर्पणा-समाधि का आनयन करते हैं; उनमें से दस 'कसिण' और आनापानस्मृति चार ध्यानों के आलम्बन होते हैं; दस अशुभ और कायगतास्मृति प्रथम ध्यान के आलम्बन हैं; पहले तीन ब्रह्म-विहार तीन ध्यानों के और चौथा ब्रह्म-विहार और चार आरूप्य चार ध्यानों के आलम्बन हैं। पहले ध्यान के पाँच अङ्ग होते हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता (समाधि)। इसे सवितर्क-सविचार कहते हैं। ध्यानों की परिगणना दो प्रकार से है। चार ध्यान या पाँच ध्यान माने जाते हैं। पाँच की परिगणना के दूसरे ध्यान में वितर्क का अतिक्रम होता है पर विचार रह जाता है। इसे अवितर्क-विचार मात्र कहते हैं। पर चार की परिगणना के द्वितीय ध्यान में और पाँच की परिगणना के तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार दोनों का अतिक्रम होता है; केवल प्रीति, सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाते हैं। पाँच की परिगणना के चतुर्थ ध्यान में और चार की परिगणना के तृतीय ध्यान में प्रीति का अतिक्रम होता है; केवल सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाते हैं। दोनों प्रकार के अन्तिम ध्यान में सुख का अतिक्रम होता है। अन्तिम ध्यान की समाधि उपेक्षा-सहगत होती है।

इस प्रकार तीन और चार ध्यानों के आलम्बन-स्वरूप कर्मस्थानों में ही अङ्ग का समतिक्रम होता है क्योंकि वितर्क-विचारादि ध्यान के अङ्गों का अतिक्रम कर उन्हीं आलम्बनों में द्वितीयादि ध्यानों की प्राप्ति होती है। यही कथा चतुर्थ ब्रह्म-विहार की है। मैत्री आदि आलम्बनों में सौमनस्य का अतिक्रमण कर चतुर्थ ब्रह्म-विहार में उपेक्षा की प्राप्ति होती है। चार आरूप्यों में आलम्बन का समतिक्रम होता है। पहले नौ कसिणों में से किसी-किसी का अतिक्रमण करने से ही आकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती है। आकाश आदि का अतिक्रमण कर विज्ञानानन्त्यायतन आदि की प्राप्ति होती है। शेष अर्थात् इक्कीस कर्मस्थानों में समतिक्रम नहीं होता। इस प्रकार कुछ में अङ्ग का अतिक्रमण और कुछ में आलम्बन का अतिक्रमण होता है।

इन चालीस कर्मस्थानों में से केवल दस कसिणों की वृद्धि करनी चाहिये। क्योंकि जितना स्थान कसिण द्वारा व्याप्त होता है उतने ही अवकाश में दिव्य श्रोत्र से शब्द सुना जाता है, दिव्य चक्षु से रूप देखे जा सकते हैं और परचित्त का ज्ञान हो सकता है। पर कायगता स्मृति और दस अशुभों की वृद्धि नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं है। यह परिच्छिन्नाकार में ही उपस्थित होते हैं। इसलिए इनकी वृद्धि से कोई अर्थ नहीं निकलता। इनकी वृद्धि किये बिना भी काम-राग का ध्वंस होता है। शेष कर्मस्थानों की भी वृद्धि नहीं

करनी चाहिये। उदाहरण के लिए जो आनापान निमित्त की वृद्धि करता है, वह वातराशि की ही वृद्धि करता है और अवकाश भी परिच्छिन्न होता है। चार ब्रह्म-विहारों के आलम्बन सत्त्व हैं। इनमें निमित्त की वृद्धि करने से सत्त्व-राशि की ही वृद्धि होती है और उससे कोई उपकार नहीं होता। कोई प्रतिभाग-निमित्त नहीं है जिसकी वृद्धि की जाय। आरूप्य आलम्बनों में भी आकाश की वृद्धि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि कसिण के अपगम से ही आरूप्य की प्राप्ति होती है। विज्ञान और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन स्वभाव-धर्म हैं; इस लिए इनकी वृद्धि संभव नहीं है। शेष की वृद्धि इसलिए नहीं हो सकती; क्योंकि वह अनिमित्त है। बुद्धानुस्मृति आदि का आलम्बन प्रतिभाग-निमित्त नहीं है। इसलिए इनकी वृद्धि नहीं करनी चाहिये।

दस कसिण, दस अशुभ, आनापान-स्मृति, कायगतास्मृति; केवल इन बाइस कर्मस्थानों के आलम्बन प्रतिभाग-निमित्त होते हैं। शेष आठ स्मृतियां, आहार के विषय में प्रतिकूल-संज्ञा और चतुर्धातु-व्यवस्थान, विज्ञानानन्त्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन इन बारह कर्मस्थानों के आलम्बन स्वभाव-धर्म हैं। उक्त दस कसिण आदि बाइस कर्मस्थानों के आलम्बन निमित्त हैं। शेष छः—चार ब्रह्म-विहार, आकाशानान्त्यायतन और आकिञ्चन्यायतन के आलम्बनों के संबन्ध में न यही कहा जा सकता है कि वह निमित्त हैं और न यही कहा जा सकता है कि वह स्वभाव-धर्म हैं।

विपुब्बक, लोहितक, पुलुवक, आनापान-स्मृति, अप्कसिण, तेजकसिण, वायुकसिण और आलोककसिणों में सूर्यादि से जो अवभास-मण्डल आता है—इन आठ कर्मस्थानों के आलम्बन चलित हैं; पर प्रतिभाग-निमित्त स्थिर हैं। शेष कर्मस्थानों के आलम्बन स्थिर हैं।

मनुष्यों में सब आलम्बनों की प्रवृत्ति होती है। देवताओं में दस अशुभ, कायगता-स्मृति और आहार के विषय में प्रतिकूल-संज्ञा इन बारह आलम्बनों की प्रवृत्ति नहीं होती। ब्रह्मलोक में बारह उक्त आलम्बन तथा आनापान-स्मृति की प्रवृत्ति नहीं होती। अरूप-भव में चार आरूप्यों को छोड़कर किसी अन्य आलम्बन की प्रवृत्ति नहीं होती।

वायु-कसिण को छोड़कर बाकी नौ कसिण और दस अशुभ का ग्रहण दृष्टि द्वारा होता है। इस का अर्थ यह है कि पहले चक्षु से बार बार देखने से निमित्त का ग्रहण होता है। कायगता-स्मृति के आलम्बन का ग्रहण दृष्टि-श्रवण से होता है; क्योंकि त्वक् पञ्च का ग्रहण दृष्टि से और शेष का श्रवण से होता है। आनापान-स्मृति स्पर्श से, वायु-कसिण दर्शन-स्पर्श से, शेष अठारह श्रवण से गृहीत होते हैं। भावना के आरम्भ में योगी उपेक्षा, ब्रह्म-विहार और चार आरूप्यों का ग्रहण नहीं कर सकता; पर शेष चौंतीस आलम्बनों का ग्रहण कर सकता है।

आकाश-कसिण को छोड़कर शेष नौ कसिण आरूप्यों में हेतु हैं; दश कसिण अभिज्ञा[1] में हेतु हैं, पहले तीन ब्रह्म-विहार चतुर्थ ब्रह्म-विहार में हेतु हैं; नीचे का आरूप्य ऊपर के

---

1. [धर्मसंग्रह]—"पञ्चाभिज्ञाः दिव्यचक्षुर्दिव्यश्रोत्रं परचित्तज्ञानं पूर्वनिवासानुस्मृतिर्ऋद्धिश्चेति"—'अभिज्ञा' अधिक ज्ञान को कहते हैं।

आरूप्य में हेतु हैं; नैवसंज्ञानासंज्ञायतन निरोध-समापत्ति में हेतु है; और सब कर्मस्थान सुख-विहार, विपश्यना और भव-सम्पत्ति में हेतु हैं।

रागचरित पुरुष के ग्यारह कर्मस्थान—दस अशुभ और कायगता-स्मृति—अनुकूल हैं; द्वेषचरित पुरुष के आठ कर्मस्थान—चार ब्रह्म-विहार और चार वर्ण-कसिण—अनुकूल हैं; मोह और वितर्क-चरित पुरुष के लिए एक आनापान-स्मृति ही अनुकूल है; श्रद्धाचरित पुरुष के लिए पहली छः अनुस्मृतियाँ, बुद्धिचरित पुरुष के लिए मरण-स्मृति, उपशमानुस्मृति, चतु-र्धातु-व्यवस्थान और आहार के विषय में प्रतिकूल-संज्ञा यह कर्मस्थान अनुकूल हैं। शेष कसिण और चार आरूप्य सब चरित के पुरुषों के लिए अनुकूल हैं। कसिणों में जो क्षुद्र है वह वितर्क-चरित पुरुष के लिए और जो अप्रमाण है वह मोहचरित पुरुष के अनुकूल है। जिसके लिए जो कर्मस्थान अत्यन्त उपयुक्त है उसका उल्लेख ऊपर किया गया है। ऐसी कोई कुशलभावना नहीं है जिसमें रागादि का परित्याग न हो और जो श्रद्धादि की उपकर्त्री न हो।

भगवान् मेघिय-सुत्त में कहते हैं कि इन चार धर्मों की भावना करनी चाहिये—राग के नाश के लिए अशुभ-भावना, व्यापाद के नाश के लिए मैत्री-भावना, वितर्क के उपच्छेद के लिए आनापन-स्मृति की भावना और अहङ्कार-ममकार के समुद्घात के लिए अनित्य-संज्ञा की भावना। भगवान् ने राहुल-सुत्त में एक के लिए सात कर्मस्थानों का उपदेश किया है। इसलिए वचन मात्र में अभिनिवेश न रखकर सब जगह अभिप्राय की खोज होनी चाहिये।

दस कसिणों का ग्रहण कर भावना किस प्रकार की जाती है और ध्यानों का उत्पाद कैसे होता है इस पर अब हम विस्तार से विचार करेंगे।

कसिण-निर्देश

पृथ्वी-कसिण—योगी को कल्याण-मित्र के समीप अपनी चर्या के अनुकूल किसी कर्मस्थान का ग्रहण कर समाधि-भावना के अनुपयुक्त विहार का परित्याग कर अनुरूप विहार में वास करना चाहिये और भावना-विधान का किसी अंश में भी परित्याग न कर कर्मस्थान का आसेवन करना चाहिये।

जिस विहार में आचार्य निवास करते हों यदि वहाँ समाधि-भावना की सुविधा हो तो वहीं रहकर कर्मस्थान का संशोधन करना चाहिये। यदि असुविधा हो तो आचार्य के विहार से अधिक से अधिक एक योजन की दूरी पर निवास करना चाहिये। यदि किसी विषय में सन्देह उपस्थित हो या स्मृति-संमोष हो तो विहार का दैनिक-कृत्य संपादन कर आचार्य के समीप जाकर गृहीत कर्मस्थान का संशोधन करना चाहिए। यदि एक योजन के भीतर भी कोई उपयुक्त विहार न मिले तो सब प्रकार के सन्देहों का निराकरण कर कर्मस्थान के अर्थ और अभिप्राय को भली प्रकार चित्त में प्रतिष्ठित कर कर्मस्थान को सुविशुद्ध करना चाहिये। तदनन्तर दूर भी जाकर समाधि-भावना के अनुरूप स्थान में निवास करना चाहिये। अठारह दोषों में से किसी एक से भी समन्वागत विहार समाधि-भावना के अनुरूप नहीं होता।

सामान्यतः योगी को महाविहार, नवविहार, जीर्णविहार, राजपथ-समीपवर्ती विहार आदि में निवास नहीं करना चाहिये।

महाविहार में नानाप्रकार के भिक्षु निवास करते हैं। आपस के विरोध के कारण विहार का दैनिक कृत्य भलीभाँति संपादित नहीं होता। जब योगी भिक्षा के लिए बाहर जाता है और यदि वह देखता है कि कोई काम करने से रह गया है, तो उसे उस काम को स्वयं करना पड़ता है। न करने से वह दोष का भागी होता है और यदि करे तो समय नष्ट होता है, विलम्ब हो जाने से उसको भिक्षा भी नहीं मिलती। यदि वह किसी एकान्त स्थान में बैठकर समाधि की भावना करना चाहता है तो श्रामणेर और तरुण भिक्षुओं के शोर के कारण विक्षेप उपस्थित होता है।

जीर्ण विहार में अभिसंस्कार का काम बराबर लगा रहता है। राजपथ के समीपवर्ती विहार में दिनरात आगन्तुक आया करते हैं। यदि विकाल में कोई आया तो अपना शयनासन भी देना पड़ता है। इसलिए वहां कर्मस्थान का अवकाश नहीं मिलता। यदि विहार के समीप पुष्करिणी हुई तो वहाँ निरन्तर लोगों का जमघट रहा करता है। कोई पानी भरने आता है तो कोई चीवर धोने और रंगने आता है। इस प्रकार निरन्तर विक्षेप हुआ करता है। ऐसा विहार भी अनुपयुक्त है, जहाँ नाना प्रकार के शाक, पर्ण, फल या फूल के वृक्ष हों, वहाँ भी निवास नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे स्थानों पर फल-फूलों के अर्थी निरन्तर आया जाया करते हैं, न देने पर कुपित होते हैं, कभी कभी जबरदस्ती भी करते हैं, और समझाने बुझाने पर नाराज होते हैं और उस भिक्षु को विहार से निकालने की चेष्टा करते हैं।

किसी लोक-संमत स्थान में भी निवास न करना चाहिये। क्योंकि ऐसे प्रसिद्ध स्थान में यह समझकर कि यहाँ अर्हत् निवास करते हैं, लोग दूर दूर से दर्शनार्थ आया करते हैं। इससे विक्षेप होता है। जो विहार नगर के समीप हो वह भी अनुरूप नहीं है, क्योंकि वहाँ निवास करने से कामगुणोपसंहित हीन शब्द कर्णगोचर होते रहते हैं और असदृश आलम्बन दृष्टिपथ में आपतित होते हैं। जिस विहार में वृक्ष होते हैं, वहां काष्ठहारक लकड़ी काटने आते हैं; जिससे ध्यान में विक्षेप होता है। जिस विहार के चारों ओर खेत हों वहाँ भी निवास न करना चाहिये। क्योंकि विहार के मध्य में किसान खलिहान बनाते हैं, धान पीटते हैं और तरह तरह के विघ्न उपस्थित करते हैं। जिस विहार में बड़ी जायदाद लगी हो वहाँ भी विक्षेप हुआ करता है। लोग तरह तरह की शिकायतें लाते हैं और समय समय पर राजद्वार पर जाना पड़ता है। जिस विहार में ऐसे भिक्षु निवास करते हों जिनके विचार परस्पर न मिलते हों और जो एक दूसरे के प्रति वैरभाव रखते हों वहाँ सदा विघ्न उपस्थित रहता है, वहाँ भी नहीं रहना चाहिये।

योगी को दोषों से युक्त विहारों का परित्याग कर ऐसे विहार में निवास करना चाहिये जो भिक्षाग्राम से न बहुत दूर हो, न बहुत समीप; जहाँ आने-जाने की सुविधा हो, जहां दिन में लोगों का संघट्ट न हो, जहां रात्रि में बहुत शब्द न हो और जहां हवा, धूप, मच्छड़, खटमल और सांप आदि रेंगनेवाले जानवरों की बाधा न हो; ऐसे विहार में सूत्र और विनय के जानने वाले भिक्षु निवास करते हैं। योगी उनसे प्रश्न करता है और वह उसके सन्देहों को दूर करते हैं।

अनुरूप विहार में निवास करते हुए योगी को पहले क्षुद्र अन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिये। अर्थात् यदि चीवर मैला हो तो उसे फिर से रंगवाना चाहिये, यदि पात्र मैला हो तो उसे शुद्ध करना चाहिये, यदि केश और नख बढ़ गए हों तो उनको कटवाना चाहिये और यदि चीवर जीर्ण हो गया हो तो उसको सिलवाना चाहिये। इस प्रकार क्षुद्र अन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिये।

भोजन के उपरान्त थोड़ा विश्राम कर एकान्त स्थान में पर्यङ्कबद्ध हो सुखपूर्वक बैठकर प्राकृतिक अथवा कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल में भावना-ज्ञान द्वारा पृथ्वी-निमित्त का ग्रहण करना चाहिये; अर्थात् पृथ्वी-मण्डल की ओर बार बार देखकर चक्षुनिमीलन के द्वारा पृथ्वी-निमित्त को मन में अच्छी तरह धारण करना चाहिये, जिसमें पुनरवलोकन के क्षण में ही वह निमित्त उपस्थित हो जाय।

जो पुण्यवान् है और जिसने पूर्वजन्म में श्रमण-धर्म का पालन करते हुए पृथ्वी-कसिण नामक कर्मस्थान की भावना कर ध्यानों का उत्पाद किया है; उसके लिए कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल के उत्पादन की आवश्यकता नहीं है। वह खलमण्डलादिक प्राकृतिक पृथ्वी-मण्डल में ही निमित्त का ग्रहण कर लेता है। पर जिसको ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं है, उसे चार कसिण दोषों का परिहार करते हुए कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिये। नील, पीत, लोहित, और अवदात (श्वेत) के संसर्गवश पृथ्वी-कसिण में दोष प्राप्त हो जाते हैं। नीलादि वर्ण दस कसिणों में परिगणित हैं। इनके संसर्ग से शुद्ध पृथ्वी-कसिण का उत्पाद नहीं होता। इसीलिए इन वर्णों की मृत्तिका का परित्याग बताया गया है। अतः पृथ्वी-मण्डल बनाते समय नीलादि वर्ण की मृत्तिका का ग्रहण न कर गङ्गा नदी की अरुण वर्ण की मृत्तिका काम में लानी चाहिये।

विहार में जहाँ श्रामणेर आदि आते-जाते हों वहाँ मण्डल न बनाना चाहिये। विहार के प्रत्यन्त में, प्रच्छन्न स्थान में, गुहा या पर्णशाला में, पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिये। यह मण्डल दो प्रकार का होता है—१. चल (पालि : संहारिमं = चलनयोग्यम्) और २. अचल (पालि : तत्रट्ठकं)। चार दण्डों में कपड़ा, चमड़ा या चटाई बांधकर उसमें साफ की हुई मिट्टी का नियत प्रमाण का वृत्त (वर्तुल) लीप देने से चल-मण्डल बनता है। भावना के समय यह भूमि पर फैला दिया जाता है। पद्मकर्णिका के आकार में स्थाणु गाड़कर लताओं से उसे वेष्टित कर देने से अचल-मण्डल बनता है। यदि अरुण वर्ण की मृत्तिका पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो सके तो अधोभाग में दूसरे तरह की मिट्टी डालकर ऊपर के हिस्से में सुपरिशुद्ध अरुण वर्ण की मृत्तिका का एक बालिश्त चार अङ्गुल के विस्तार का वृत्त बनाना चाहिये।

प्रमाण के संबन्ध में कहा गया है कि वृत्त शूर्पमात्र हो अथवा शरावमात्र। कुछ लोगों के मत में इन दोनों का सम-प्रमाण है, पर कुछ का कहना है कि शराव (= प्याला) एक बालिश्त चार अङ्गुल का होता है और शूर्प का प्रमाण इससे अधिक है। इनके मत में

वृत्त को शराव से कम और शूर्प से अधिक प्रमाण का न होना चाहिये[1]। इस वृत्त को पत्थर से घिसकर भेरि-तल के सदृश सम करना चाहिये। स्थान साफ कर और स्नान कर मण्डल से ढाई हाथ के फासले पर एक बालिश्त चार अङ्गुल ऊँचे पैरोंवाले पीढ़े पर बैठना चाहिये। इससे अधिक फासले पर बैठने से मण्डल नहीं दिखलाई देगा और यदि इससे नजदीक बैठा जाय तो मण्डल के दोष देखने में आवेंगे। यदि उक्त प्रमाण से अधिक ऊँचे आसन पर बैठा जाय तो गरदन झुकाकर देखना पड़ेगा और यदि इससे भी नीचे आसन पर बैठा जाय तो घुटने दर्द करने लगेंगे। इसलिए उक्त प्रकार के आसन पर ही बैठना चाहिये।

काम का दोष देखकर और ध्यान के लाभ को ही सब दुःखों के अतिक्रमण का उपाय निश्चित कर नैष्कम्य के लिए प्रीति उत्पन्न करनी चाहिये। बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और आर्यश्रावकों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया है। मैं भी इसी मार्ग का अनुगामी हो एकान्त-सेवन के सुख का आस्वाद करूँगा, ऐसा विचार कर उसे योग-साधन के लिए उत्साह पैदा करना चाहिये। और सम आकार से चक्षु का उन्मीलन कर निमित्त-ग्रहण (पालि = उग्गहनिमित्तं) की भावना करनी चाहिये। जिस प्रकार अतिसूक्ष्म और अतिभास्वर रूप के ध्यान से आँखें थक जाती हैं उसी प्रकार अति उन्मीलन से आँखें थक जाती हैं और मण्डल का रूप भी अत्यन्त प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके स्वभाव का अत्यन्त आविर्भाव होता है; तथा उसके वर्ण और लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार निमित्त का ग्रहण नहीं होता। मन्द उन्मीलन से मण्डल का रूप दिखाई नहीं देता और दर्शन के कार्य में चित्त का व्यापार मन्द हो जाता है; इसलिए निमित्त का ग्रहण नहीं होता। अतः सम आकार से ही चक्षु का उन्मीलन करना चाहिये।

पृथ्वी-कसिण के अरुण वर्ण का चिन्तन और पृथ्वी-धातु के लक्षण का ग्रहण न करना चाहिये। यद्यपि वर्ण का चिन्तन मना है तथापि पृथ्वी-धातु की उत्सन्नतावश वर्ण सहित पृथ्वी की भावना एक प्रज्ञप्ति के रूप में करनी चाहिये। इस प्रकार प्रज्ञप्तिमात्र में चित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। लोक में संभार सहित पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहते हैं। पृथ्वी, मही, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा आदि पृथ्वी के नामों में से जो नाम योगी को पसन्द हो, उस नाम का उच्चारण

---

१. सुप्पसरावानि समप्पमाणानि इच्छितानि, केचि पन वदन्ति—सरावमत्तं विदत्थि-चतुरङ्गुलं होति, सुप्पमत्तं ततो अधिकप्पमाणन्ति । किञ्चिमं कसिणमण्डलं हेट्ठिम-परिच्छेदेन सरावमत्तं उपरिमपरिच्छेदेन सुप्पमत्तं, न ततो अधो उद्धं वाति परित्तप्प-माणाभेदसंगहणत्थं "सुप्पमत्तं वा सरावमत्तं वा" ति वुत्तन्ति । यथोपट्ठिते आरम्मणे एकंगुलमत्तम्पि वड्ढितं अप्पमाणमेवाति । वुत्तो वायमत्थो केचि पन वुत्तमत्तम्पि कसिणमण्डलं कातब्बन्ति वदन्ति । [परमत्थमञ्जूसा टीका]

२. यदा पन तं निमित्तं चित्तेन समुग्गहितं होति, चक्खुना पस्सन्तस्सेव मनोद्वारस्स आपाथमागतं, तदा तमेव आरम्मणं उग्गहनिमित्तं नाम । सा च भावना समाधियति । [अभिधम्मत्थसंगहो, ६।१७]

करना चाहिये। पर पृथ्वी नाम ही प्रसिद्ध है, इसलिए पृथ्वी नाम का ही उच्चारण कर भावना करनी अच्छी है। कभी आँख खोलकर, कभी आँख मूँदकर, निमित्त का ध्यान करना चाहिये। जब तक निमित्त का उत्पाद नहीं होता तब तक इसी प्रकार भावना करनी चाहिये। जब भावना-वश आँखें मूँदने पर उसी तरह जैसा आँखें खोलने पर निमित्त का दर्शन हो, तब समझना चाहिये कि निमित्त का उत्पाद हुआ है। निमित्तोत्पाद के बाद उस स्थान पर न बैठना चाहिये। अपने निवास-स्थान में बैठकर भावना करनी चाहिये। यदि किसी अनुपयुक्त कारण-वश इस तरुण समाधि का नाश हो जाय तो शीघ्र उस स्थान पर जाकर निमित्त का ग्रहण कर अपने वास-स्थान पर लौट आना चाहिये और बहुलता के साथ इस भावना का आसेवन और बार बार चित्त में निमित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। ऐसा करने से क्रमपूर्वक नीवरण अर्थात् अन्तरायों का नाश और क्लेशों का उपशम होता है।

भावना-क्रम से जब श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ[1] सुविशद और तीक्ष्ण हो जाती हैं तब कामादि दोष का लोप होता है और उपचार-समाधि में चित्त समाहित हो प्रतिभाग-निमित्त[2] का प्रादुर्भाव होता है। प्रतिभाग-निमित्त, उद्ग्रह-निमित्त (पालि = उग्गहनिमित्त) में से कई गुना अधिक सुपरिशुद्ध होता है। उद्ग्रह-निमित्त में कसिण-दोष (जैसे उंगली की छाप) दिखलाई पड़ते हैं; पर प्रतिभाग-निमित्त भास्वर और स्वच्छ होकर निकलता है। प्रतिभाग-निमित्त वर्ण और आकार (संस्थान) से रहित होता है। यह चक्षु द्वारा ज्ञेय नहीं है, यह स्थूल पदार्थ नहीं है और अनित्यता आदि लक्षणों से अङ्कित नहीं है। केवल समाधि-लाभी को यह उपस्थित होता है और भावना-संज्ञा से इसका उत्पाद होता है। इसकी उत्पत्ति के

---

१. इन्द्रिय पाँच हैं–समाधि, वीर्य, श्रद्धा, प्रज्ञा, स्मृति। क्लेश के उपशम में इनका आधिपत्य होने के कारण इनकी इन्द्रिय संज्ञा है।

वास्तव में २२ इन्द्रियाँ हैं। इनमें से पाँच का यह संग्रह प्रसिद्ध है—"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्" [योगसूत्र १।२०]। विशुद्धिमार्ग में इन पाँच इन्द्रियों का कृत्य इस प्रकार दिखाया गया है—"सद्धादीनं पटिपक्खाभिभवनं सम्पयुत्तधम्मानञ्च पसन्नाकारादिभावसम्पापनं" [पृ० ४९३]।

'श्रद्धा' 'चित्त के सम्प्रसाद' को कहते हैं; 'वीर्य' का अर्थ 'उत्साह' है, अनुभूत-विषय के असम्प्रमोष को 'स्मृति' कहते हैं; 'समाधि' चित्त की एकाग्रता को कहते हैं और 'प्रज्ञा' उसे कहते हैं जिसके द्वारा यथाभूत वस्तु का ज्ञान होता है।

२. तथा समाहितस्स पनेतस्स ततो परं तस्मिं उग्गहनिमित्ते परिकम्मसमाधिना भावनमनुयुञ्जन्तस्स यदा तप्पटिभागं वत्थुधम्मविमुच्चितं पञ्ञत्तिसंखातं भावनामयमारम्मणं चित्ते संनिसिन्नं समप्पितं होति, तदा तं पटिभागनिमित्तं समुप्पन्नं ति पवुच्चति। ततो पट्ठाय परिबन्धविप्पहीना कामावचर-समाधि-संखात-उपचारभावनानिप्फन्ना नाम होति।

[अभिधम्मत्थसंगहो ९।१८]।

समय से ही अन्तरायों का नाश और क्लेशों का उपशम होता है तथा चित्त उपचार-समाधि[1] द्वारा समाहित होता है।

प्रतिभाग-निमित्त का उत्पाद अति दुष्कर है। इस निमित्त की रक्षा बड़े प्रयत्न के साथ करनी चाहिये। क्योंकि ध्यान का यही आलम्बन है। निमित्त के विनष्ट होने से लब्ध-ध्यान भी नष्ट हो जाता है। उपचार-समाधि के बलवान् होने से ध्यान के अधिगम की अवस्था अर्थात् अर्पणा-समाधि उत्पन्न होती है। उस अवस्था में ध्यान के अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। उपयुक्त के आसेवन और अनुपयुक्त के परित्याग से निमित्त की रक्षा और अर्पणा समाधि का लाभ होता है। जिस आवास में निमित्त उत्पन्न और स्थिर होता है, जहाँ स्मृति का सम्प्रमोष नहीं होता और चित्त एकाग्र होता है; उसी आवास में योगी को निवास करना चाहिये। जो गोचर, ग्राम, आवास के समीप हो और जहाँ भिक्षा सुलभ हो वही उपयुक्त है। योगी के लिए लौकिक-कथा अनुपयुक्त है। इससे निमित्त का लोप होता है। योगी को ऐसे पुरुष का संग न करना चाहिये जो लौकिक-कथा कहे; क्योंकि इससे समाधि में बाधा उपस्थित होती है और जो प्राप्त किया है वह भी खो जाता है। उपयुक्त भोजन, ऋतु और ईर्यापथ (= वृत्ति) का आसेवन करना चाहिये, ऐसा करने से तथा बहुलता के साथ निमित्त का आसेवन करने से शीघ्र ही अर्पणा-समाधि का लाभ होता है। पर यदि इस विधि से भी अर्पणा का उत्पाद न हो तो निम्नलिखित दश प्रकार से अर्पणा में कुशलता प्राप्त होती है:—

१. शरीर तथा चीवर आदि की शुद्धता से।

यदि केश-नख बढ़े हों, शरीर से दुर्गन्ध आती हो, चीवर जीर्ण तथा क्लिष्ट और आसन मैला हो तो चित्त तथा चैतसिक-धर्म भी अपरिशुद्ध होते हैं; ज्ञान भी अपरिशुद्ध होता है, समाधि-भावना दुर्बल और क्षीण हो जाती है; कर्मस्थान भी प्रगुण भाव को नहीं प्राप्त होता और इस प्रकार अङ्गों का प्रादुर्भाव नहीं होता। इसलिए शरीर तथा चीवर आदि को विशद तथा परिशुद्ध रखना चाहिये जिसमें चित्त सुखी हो और एकाग्र हो।

२. श्रद्धादि इन्द्रियों के समभाव प्रतिपादन से।

श्रद्धादि इन्द्रियों में से (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा) यदि कोई एक इन्द्रिय बलवान् हो तो इतर इन्द्रियाँ अपने कृत्य में असमर्थ हो जाती हैं। जिसमें श्रद्धा का आधिक्य होता है और जिसकी प्रज्ञा मन्द होती है, वह अवस्तु में श्रद्धा करता है; जिसकी प्रज्ञा बलवती होती है और श्रद्धा मन्द होती है वह शठता का पक्ष ग्रहण करता है और उसका चित्त शुष्क तर्क से विलुप्त होता है। श्रद्धा और प्रज्ञा का अन्योन्यविरह अनर्थावह है। इसलिये इन दोनों इन्द्रियों का समभाव इष्ट है। दोनों की समता से ही अर्पणा होती है। इसी प्रकार वीर्य

---

१. अभिधर्मकोश [८।२२] में इसे 'सामन्तक' कहा है। यह ध्यान का पूर्वांग है। अर्पणा-समाधि को मौल-ध्यान कहते हैं। प्रत्येक मौल-ध्यान का एक एक सामन्तक होता है, मौल-ध्यान आठ हैं—चार रूप, चार आरूप्य। "एवं मौल-समापत्तिद्रव्यमष्टविधं त्रिधा" [अभि० ८।५]।

और समाधि का भी समभाव इष्ट है। समाधि यदि प्रबल हो और वीर्य मन्द हो तो आलस्य अभिभूत करता है; क्योंकि समाधि आलस्य-पाक्षिक है। यदि वीर्य प्रबल हो और समाधि मन्द हो तो चित्त की भ्रान्तता या विक्षेप अभिभूत करता है; क्योंकि वीर्य विक्षेप-पाक्षिक है। किसी एक इन्द्रिय की सातिशय प्रवृत्ति होने से अन्य इन्द्रियों का व्यापार मन्द हो जाता है। इसलिए अर्पणा की सिद्धि के लिए इन्द्रियों की एकरसता अभीष्ट है। किन्तु शमथ-यानिक को बलवती श्रद्धा भी चाहिये। बिना श्रद्धा के अर्पणा का लाभ नहीं हो सकता। यदि वह यह सोचे कि केवल पृथ्वी-पृथ्वी इस प्रकार चिन्तन करने से कैसे ध्यान की उत्पत्ति होगी तो अर्पणा-समाधि का लाभ नहीं हो सकता। उसको भगवान् बुद्ध की बताई हुई विधि की सफलता पर विश्वास होना चाहिये। बलवती स्मृति तो सर्वत्र अभीष्ट है क्योंकि चित्त स्मृति-परायण है और इसलिए बिना स्मृति के चित्त का निग्रह नहीं होता।

३. निमित्त-कौशल से अर्थात् लब्ध-निमित्त की रक्षा में कुशल और दक्ष होने से।

४. जिस समय चित्त का प्रग्रह (=उत्थान) करना हो उस समय चित्त का प्रग्रह करने से।

जिस समय वीर्य, प्रामोद्य आदि की अति शिथिलता से भावना-चित्त सङ्कुचित होता है, उस समय प्रश्रब्धि (=काय और चित्त की शान्ति), समाधि और उपेक्षा इन बोध्यङ्गों[1] की भावना उपयुक्त नहीं है; क्योंकि इनसे सङ्कुचित चित्त का उत्थान नहीं होता। जिस समय चित्त संकुचित हो उस समय धर्म-विचय (=प्रज्ञा), वीर्य (= उत्साह) और प्रीति इन बोध्यङ्गों की भावना करनी चाहिये। इनसे मन्द-चित्त का उत्थान होता है। कुशल (= पुण्य) और अकुशल (= अपुण्य) के स्वभाव तथा सामान्य लक्षणों के यथार्थ अवबोध से धर्मविचय की भावना होती है। आलस्य के परित्याग से अभ्यासवश कुशल-क्रिया का आरम्भ, वीर्य-सञ्चय और प्रतिपक्ष धर्मों के विध्वंसन की पटुता प्राप्त होती है। प्रीतिसम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से प्रीति का उत्पाद और वृद्धि होती है।

परिप्रश्न, शरीरादि की शुद्धता, इन्द्रिय-समभाव-करण, मन्दबुद्धिवालों के परिवर्जन, प्रज्ञावान् के आसेवन, स्कन्ध, आयतन, धातु, चार आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि गम्भीर ज्ञानकथा की प्रत्यवेक्षा तथा प्रज्ञापरायणता से धर्मविचय का उत्पाद होता है।

दुर्गति आदि दुःखावस्था की भीषणता का विचार करने से, इस विचार से कि लौकिक अथवा लोकोत्तर जो कुछ विशेषता है उसकी प्रीति वीर्य के अधीन है, इस विचार से कि आलसी पुरुष बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, महाश्रावकों के मार्ग का अनुगामी नहीं हो सकता, शास्ता के महत्त्व का चिन्तन करने से (शास्ता ने हमारे साथ बहुत उपकार किया है, शास्ता के शासन का अतिक्रमण नहीं हो सकता, वीर्यारम्भ (= कुशलोत्साह) की शास्ता ने प्रशंसा

---

1. बोधि के सात अङ्ग हैं—१ स्मृति, २ धर्मविचय, ३ वीर्य, ४ प्रीति, ५ प्रश्रब्धि, ६ समाधि और ७ उपेक्षा।

की है), धर्मदाय के महत्त्व का चिन्तन करने से (मुझे धर्म का दायाद होना चाहिये, आलसी पुरुष धर्म का दायाद नहीं हो सकता), आलोक-संज्ञा के चिन्तन से, ईर्यापथ के परिवर्तन और खुली जगह में रहने से, आलस्य और अकर्मण्यता का परित्याग करने से, आलसियों के परिवर्जन और वीर्यवान् के आसेवन से, व्यायाम (= उद्योग) के चिन्तन से तथा वीर्यपरायण होने से वीर्य का उत्पाद होता है।

बुद्ध, धर्म, सङ्घ, शील, त्याग, (=दान) देवता और उपशम के निरन्तर स्मरण से, बुद्धादि में जो स्नेह और प्रसाद नहीं रखता उसके परिवर्जन तथा बुद्ध में जो स्निग्ध है उसके आसेवन से, सम्पसादनीय-सुत्तन्त[1] के चिन्तन तथा प्रीति-परायण होने से प्रीति का उत्पाद होता है।

५. जिस समय चित्त का निग्रह करना हो, उस समय चित्त का निग्रह करने से।

जिस समय वीर्य, संवेग (= वैराग्य), प्रामोद्य के अतिरेक से चित्त उद्धत और अनवस्थित होता है उस समय धर्मविचय, वीर्य और प्रीति की भावना अनुपयुक्त है; क्योंकि इनसे उद्धत-चित्त का समाधान नहीं हो सकता। ऐसे समय प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन बोध्यङ्गों की भावना करनी चाहिये।

काय और चित्त की शान्ति का निरन्तर चिन्तन करने से प्रश्रब्धि की भावना, शमथ और अव्यग्रता का निरन्तर चिन्तन करने से समाधि की भावना और उपेक्षा-सम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से उपेक्षा की भावना होती है।

प्रणीत-भोजन, अच्छी ऋतु, उपयुक्त ईर्यापथ के आसेवन से, उदासीन वृत्ति से, क्रोधी पुरुष के परित्याग और शान्त-चित्त पुरुष के आसेवन से तथा प्रश्रब्धि-परायण होने से प्रश्रब्धि का उत्पाद होता है।

शरीरादि की शुद्धता से, निमित्त कुशलता से, इन्द्रिय-समभाव-करण से, समय समय पर चित्त का प्रग्रह (लीन चित्त का उत्थान) और निग्रह (उद्धत चित्त का समाधान) करने से, श्रद्धा और संवेग (=वैराग्य) द्वारा उपशम-सुख-रहित चित्त का संतर्पण करने से प्रग्रह-निग्रह-सन्तर्पण के विषय में सम्यक्-प्रवृत्त भावना-चित्त की विरक्तता से, असमाहित पुरुष के परित्याग और समाहित पुरुष के आसेवन से, ध्यानों की भावना, उत्पाद, अधिष्ठान (= अवस्थिति) व्युत्थान, संक्लेश और व्यवदान (= विशुद्धता) के चिन्तन से तथा समाधि-परायण होने से समाधि का उत्पाद होता है।

जीवों और संस्कारों के प्रति उपेक्षा-भाव, ऐसे लोगों का परित्याग जिनको जीव और संस्कार प्रिय हैं, ऐसे लोगों का आसेवन जो जीव और संस्कारों के प्रति उपेक्षा-भाव रखते हैं, तथा उपेक्षा-परायणता से उपेक्षा का उत्पाद करते हैं।

६. जिस समय चित्त का सम्प्रहर्षण (=सन्तर्पण) करना चाहिये उस समय चित्त के सम्प्रहर्षण से।

---

१. दीघनिकाय, ३।११।११६; इस सूत्र में बुद्धादिकों का गुण-प्रदीपन है।

जब प्रज्ञा-व्यापार के अल्पभाव के कारण या उपशम-सुख के अलाभ के कारण चित्त का तर्पण नहीं होता तब आठ संवेगों द्वारा संवेग उत्पन्न करना चाहिये। जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अपाय दुःख, अतीत में जिस दुःख का मूल हो, अनागत में जिस दुःख का मूल हो और वर्तमान में आहारपर्येषण का दुःख—यह आठ संवेग-वस्तु हैं। बुद्ध, धर्म और संघ के गुणों के अनुस्मरण से चित्त का सम्प्रसाद होता है।

७. जिस समय चित्त का उपेक्षा भाव होना चाहिये उस समय चित्त की उदासीन-वृत्ति से।

जब भावना करते हुए योगी के चित्त का व्यापार मन्द नहीं होता, चित्त का विक्षेप नहीं होता, चित्त को उपशम सुख का लाभ होता है, आलम्बन में चित्त की सम-प्रवृत्ति होती है और शमथ के मार्ग में चित्त का आरोहण होता है; तब प्रग्रह, निग्रह और सम्प्रहर्षण के विषय में चित्त की उदासीन वृत्ति होती है।

८. ऐसे लोगों के परित्याग से जो अनेक कार्यों में व्यापृत रहते हैं, जिनका हृदय विक्षिप्त है और जो ध्यान के मार्ग में कभी प्रवृत्त नहीं हुए हैं।

९. समाधि-लाभी पुरुषों के आसेवन से।

१०. समाधि-परायण होने से।

उक्त दश प्रकार से अर्पणा में कुशलता प्राप्त की जाती है।

आलस्य और चित्त-विक्षेप का निवारण कर जो योगी सम-प्रयोग से भावना-चित्त को प्रतिभाग-निमित्त में स्थित करता है वह अर्पणा-समाधि का लाभ करता है। चित्त के लीन और उद्धत भावों का परित्याग कर निमित्त की ओर चित्त को प्रवृत्त करना चाहिये।

जब योगी चित्त को निमित्त की ओर प्रेरित करता है तब चित्त-द्वार भावना के बल से उपस्थित उसी पृथ्वी-मण्डल-रूपी आलम्बन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। उस समय उस आलम्बन में चार या पाँच चेतनायें (पालि : जवनं[1]) उत्पन्न होती हैं। इनमें से अन्तिम रूपावचर-भूमि[2] की हैं; शेष तीन या चार चेतनायें काम-धातु की हैं। प्राकृतिक चित्त की अपेक्षा इन तीन या चार चेतनाओं के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता आदि भावना के बल से पटुतर होते हैं। इन्हें 'परिकर्म' (पालिरूप : परिकम्म) कहते हैं। क्योंकि ये चेतनायें अर्पणा की प्रति-संस्कारक हैं। अर्पणा के समीपवर्ती होने से इन्हें 'उपचार' भी कहते हैं। अर्पणा के अनुलोम होने से इनकी 'अनुलोम' संज्ञा भी है। तीसरी या चौथी चेतना

---

१. जवतीति जवनम्। वीथि-चित्त के १४ कृत्यों के संग्रह में इसका बारहवाँ स्थान है। किच्चसंगहे किच्चानि नाम पटिसन्धि-भवंगावज्जन-दस्सन-सवन-घायन-सायन-फुसन-संपटिच्छन्न-संतीरण-वोट्ठपन-जवन-तदारम्मण-चुतिवसेन चुद्दसविधानि भवन्ति।
[अभिधम्मत्थसंगहो, ३।८]

२. भूमियाँ चार हैं—अपाय-भूमि, काम-सुगति-भूमि, रूपावचर-भूमि, और अरूपावचर-भूमि।

गोत्रभू कहलाती है। यह चेतना (=जवन) काम-तृष्णा के विषयों के विशेष रूप और अनुत्तरधर्मों के साम्परायिक रूप की सीमा पर स्थित है। इस प्रकार में ये सब संज्ञायें सामान्य रूप से सब जवनों की हैं। यदि विशेषता के साथ कहा जाय तो पहला जवन 'परिकर्म', दूसरा 'उपचार', तीसरा 'अनुलोम', चौथा 'गोत्रभू', या पहला 'उपचार', दूसरा 'अनुलोम', तीसरा 'गोत्रभू', और चौथा या पाँचवाँ 'अर्पणा' है। जिसकी बुद्धि प्रखर है उसको चौथे जवन में अर्पणा की सिद्धि होती है; पर जिसकी बुद्धि मन्द है, उसको पाँचवें जवन में अर्पणा-चित्त का लाभ होता है। चौथे या पाँचवें जवन में ही अर्पणा की सिद्धि होती है। तत्पश्चात् चेतना भवाङ्ग में अवतीर्ण होती है। अर्पणा का कालपरिच्छेद एक चित्त-क्षण है, तदनन्तर भवाङ्ग में पात होता है। पीछे भवाङ्ग का उपच्छेद कर ध्यान की प्रत्यवेक्षा के लिए चित्तावर्जन होता है; तत्पश्चात् ध्यान की परीक्षा होती है।

काम और अकुशल के परित्याग से ही प्रथम ध्यान का लाभ होता है, यह प्रथम ध्यान के प्रतिपक्ष हैं। प्रथम ध्यान में विशेष कर काम-धातु का अतिक्रमण होता है। काम से 'वस्तु-काम' का आशय है। जो वस्तु (जैसे, प्रिय-मनोरम-रूप) काम का उद्दीपन करे वह वस्तुकाम है, किसी वस्तु के लिए अभिलाष, राग तथा लोभ के प्रभेद 'क्लेशकाम' कहलाते हैं। अकुशल से क्लेशकाम तथा अन्य अकुशल का आशय है। काम के परित्याग से कार्य-विवेक और अकुशल के विवर्जन से चित्त-विवेक सूचित होता है। पहले से तृष्णा आदि क्लेश के विषय का परित्याग और दूसरे से क्लेश का परित्याग सूचित होता है। पहले से काम-सुख का परित्याग और दूसरे से ध्यान-सुख का परिग्रह प्रकाशित होता है। पहले से चपल भाव के

अपाय (=दुर्गति)-भूमि चतुर्विध है—निरय (=नरक), तिर्यक्-योनि, प्रेतविषय, असुरकाय।

काम-सुगति-भूमि सप्तविध है—मनुष्य, छः देवलोक (चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माण-रति, परनिर्मित-वशवर्ती)। अपायभूमि और काम-सुगत-भूमि मिलकर कामावचर-भूमि (=कामधातु) कहलाते हैं। इस प्रकार ग्यारह लोक काम-धातु के अन्तर्गत हैं।

काम-धातु के ऊपर रूपधातु है। रूप-धातु में सोलह स्थान हैं। पहले ध्यान में ब्रह्म-पारिषद्य, ब्रह्म-पुरोहित और महाब्रह्मा, दूसरे ध्यान में परीत्ताभ, अप्रमाणाभ, और आभस्वर; तीसरे ध्यान में परीत्त-शुभ, अप्रमाण-शुभ और शुभकृत्स्न, चौथे ध्यान में बृहत्फल, असंज्ञि-सत्त्व, शुद्धावास (शुद्धावास पाँच हैं—अविह, अतप्प, सुदर्श, सुदर्शी, अकनिष्ठ) हैं।

अरूप-भूमि चार हैं—आकाशानन्त्यायतन-भूमि, विज्ञानानन्त्यायतन-भूमि, आकिञ्चन्यायतन-भूमि और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-भूमि।

रूपावचर कुशल केवल मानसिक कर्म है। यह भावना-मय, अर्पणा-प्राप्त, और ध्यान के अङ्गों के भेद से पाँच प्रकार का है।

हेतु का परित्याग और दूसरे से अविद्या का परित्याग; पहले से प्रयोग-शुद्धि (प्राणातिपातादि अशुद्ध प्रयोग का परित्याग) और दूसरे से अध्याशय की शुद्धि सूचित होती है।

यद्यपि अकुशल धर्मों में दृष्टि, मान आदि पाप भी संगृहीत हैं; तथापि यहां केवल उन्हीं अकुशल धर्मों से तात्पर्य है जो ध्यान के अङ्गों के विरोधी हैं। यहां अकुशल धर्मों से पाँच नीवरणों से ही आशय है। ध्यान के अङ्ग इनके प्रतिपक्ष हैं और इनका विघात करते हैं। समाधि कामच्छन्द (= अभिलाष, लोभ, तृष्णा) का प्रतिपक्ष है, प्रीति व्यापाद (= हिंसा) का प्रतिपक्ष है, वितर्क का स्त्यान-(आलस्य-अकर्मण्यता) प्रतिपक्ष है; सुख का औद्धत्य-कौकृत्य (=अनवस्थितता, खेद) और विचार का विचिकित्सा प्रतिपक्ष है, इस प्रकार काम, विवेक से कामच्छन्द का विष्कम्भन और अकुशल धर्मों के विवेक से शेष चार नीवरणों का विष्कम्भन होता है। पहले से लोभ (अकुशल-मूल) और दूसरे से द्वेष-मोह, पहले से तृष्णा तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था, दूसरे से अविद्या तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था का परित्याग सूचित होता है।

यह पाँच नीवरण प्रथम-ध्यान के प्रहाण-अङ्ग हैं। जब तक इनका विष्कम्भम नहीं होता तब तक ध्यान का उत्पाद नहीं होता। ध्यान के क्षण में अन्य अकुशल धर्मों का भी प्रहाण होता है; तथापि पूर्वोक्त नीवरण ध्यान में विशेष रूप से अन्तराय उपस्थित करते हैं। इन पाँच नीवरणों का परित्याग कर प्रथम ध्यान वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, और समाधि इन पाँच अङ्गों से समन्वागत होता है।

आलम्बन के विषय में यह कल्पना कि यह ऐसा है 'वितर्क'[1] कहलाता है, अथवा आलम्बन के समीप चित्त का आनयन आलम्बन में चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है। आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न-प्रवृत्ति 'विचार' है, वितर्क विचार का पूर्वगामी है। वितर्क चित्तका प्रथम अभिनिपात है। घण्टे के अभिघात से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह वितर्क के समान है। इसका जो अनुरव होता है, वह विचार के समान है। जिस प्रकार आकाश में उड़ने की इच्छा करनेवाला पक्षी पक्ष-विक्षेप करता है, इसी प्रकार वितर्क की प्रथमोत्पत्ति के काल में विचार की वृत्ति शान्त होती है; उसमें चित्त का अधिक परिस्पन्दन नहीं होता। विचार आकाश में उड़ते हुए पक्षी के पक्ष-प्रसारण या कमल के ऊपरी भाग पर भ्रमर के परिभ्रमण के समान है।

प्रीति, काय और चित्त के तर्पण, परितोषण को कहते हैं। प्रीति प्रणीत रूप से काय में व्याप्त होती है और इसका उत्कृष्ट-भाव होता है। 'प्रीति' पाँच प्रकार की है—१. क्षुद्रिका-प्रीति, २. क्षणिका-प्रीति, ३. अवक्रान्तिका-प्रीति, ४. उद्वेगा-प्रीति, ५. स्फरणा-प्रीति। क्षुद्रिका-प्रीति शरीर को केवल रोमाञ्चित कर सकती है। क्षणिका-प्रीति क्षण क्षण पर होनेवाले विद्युत्पात के समान होती है। जिस प्रकार समुद्रतट पर लहरें टकराती हैं उसी प्रकार

---

१. "तमिदं वितक्कनं ईदिसमिदन्ति आरम्मणस्स परिकप्पनन्ति" [परमत्थमंजूसा टीका]

अवक्रान्तिका-प्रीति शरीर को अवक्रान्त कर भिन्न हो जाती है। उद्वेगा-प्रीति बलवती होती है। स्फरणा प्रीति निश्चला और चिरस्थायिनी होती है। यह सकल शरीर को व्याप्त करती है। यह पाँच प्रकार की प्रीति परिपक्व हो, काय और चित्त-प्रश्रब्धि (=शान्ति) को सम्पन्न करती है। प्रश्रब्धि परिपाक को प्राप्त हो कायिक और चैतसिक सुख को सम्पन्न करती है। सुख परिपक्व हो समाधि का परिपूरण करता है। स्फरणा-प्रीति ही अर्पणा-समाधि का मूल है। यह प्रीति अनुक्रम से वृद्धि को पाकर अर्पणा-समाधि से सम्प्रयुक्त होती है। यहाँ यही प्रीति अभिप्रेत है। 'सुख' काय और चित्त की बाधा को नष्ट करता है। सुख से सम्प्रयुक्त धर्मों की अभिवृद्धि होती है।

वितर्क चित्त को आलम्बन के समीप ले जाता है। विचार से आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न प्रवृत्ति होती है। वितर्क-विचार से चित्त-समाधान के लिए भावना-प्रयोग सम्पादित होता है। प्रीति से चित्त का तर्पण और सुख से चित्त की वृद्धि होती है। तदनन्तर एकाग्रता, अवशिष्ट स्पर्शादि धर्मों सहित चित्त को एक आलम्बन में सम्यक् और समरूप से प्रतिष्ठित करती है। प्रतिपक्ष धर्मों के परित्याग से चित्त का लीन और उद्धत भाव दूर हो जाता है। इस प्रकार चित्त का सम्यक् और सम आधान होता है। ध्यान के क्षण में एकाग्रता-वश चित्त सातिशय समाहित होता है।

इन पाँच अङ्गों का जब तक प्रादुर्भाव नहीं होता तब तक प्रथम ध्यान का लाभ नहीं होता। यह पाँच अङ्ग उपचार-क्षण में भी रहते हैं पर अर्पणा-समाधि में पटुतर हो जाते हैं। क्योंकि उस क्षण में यह रूप-धातु के लक्षण प्राप्त करते हैं। प्रथम ध्यान की त्रिविध-कल्याणता है। इसके आदि, मध्य, और अन्त तीनों कल्याण के करने वाले हैं। प्रथम ध्यान दस लक्षणों से सम्पन्न है। ध्यान के उत्पाद-क्षण में भावना-क्रम के पूर्व-भाग की (अर्थात् गोत्रभू तक) विशुद्धि होती है। यह ध्यान की आदि-कल्याणता है। इसके तीन लक्षण हैं—नीवरणों के विष्कम्भन से चित्त की विशुद्धि, चित्त की विशुद्धि से मध्यम शमथ-निमित्त का अभ्यास और इस अभ्यासवश उक्त निमित्त में चित्र का अनुप्रवेश। स्थिति-क्षण में उपेक्षा की अभिवृद्धि विशेष रूप से होती है। यह ध्यान की मध्य-कल्याणता है, यह तीनों लक्षणों से समन्वागत है—विशुद्ध चित्त की उपेक्षा, शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा और एक आलम्बन में सम्यक् समाहित चित्त की उपेक्षा। ध्यान के अवसान में प्रीति का लाभ होता है, अवसान-क्षण में कार्य निष्पन्न होने से धर्मों के अनतिवर्तनादि-साधक-ज्ञान की परिशुद्धि प्रकट होती है। इसके चार लक्षण हैं—१. जातधर्म एक दूसरे को अतिक्रान्त नहीं करते; २. इन्द्रियों की (पाँच मानसिक शक्तियों की) एक एक सत्ता होती है; ३. योगी इनके उपकारक वीर्य धारण करता है; ४. और योगी इनका आसेवन करता है।

जिस क्षण में अर्पणा का उत्पाद होता है, उसी क्षण में अन्तराय उपस्थित करने वाले क्लेशों से चित्त विशुद्ध होता है। 'परिकर्म' की विशुद्धि से अर्पणा की सातिशय विशुद्धि होती है, जब तक चित्त का आवरण दूर नहीं होता तब तक मध्यम शमथ-निमित्त का अभ्यास नहीं हो सकता। लीन और उद्धतभाव इन दो अन्तों का परित्याग करने से इसे मध्यम कहते हैं।

विरोधी धर्मों का विशेष रूप से उपशम करने से शमथ और योगी के सुखविशेष का कारण होने से यह निमित्त कहलाता है। यह मध्यम शमथ-निमित्त लीन और उद्धत-भाव से रहित अर्पणासमाधि ही है। तदनन्तर गोत्रभू-चित्त एकत्व-नय से अर्पणा-समाधि-वश समाहित-भाव को प्राप्त होता है, और इस निमित्त का अभ्यास करता है। अभ्यास-वश समाहित-भाव की प्राप्ति से निमित्त में चित्त अनुप्रविष्ट होता है। इस प्रकार प्रतिपद्विशुद्धि गोत्रभू-चित्त में इन तीन लक्षणों को निष्पन्न करती है। एक बार विशुद्ध हो जाने से योगी फिर विशोधन की चेष्टा नहीं करता और इस प्रकार यह विशुद्ध चित्त को उपेक्षा-भाव से देखता है।

शमथ के अभ्यास-वश शमथ-भाव को प्राप्त होने के कारण योगी समाधान की चेष्टा नहीं करता और शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा करता है। शमथ के अभ्यास और क्लेश के प्रहाण से चित्त सम्यक् रूप से एक आलम्बन में समाहित होता है। योगी समाहित चित्त की उपेक्षा करता है। इस प्रकार उपेक्षा की वृद्धि होती है। उपेक्षा की वृद्धि से ध्यान-चित्त में उत्पन्न एकाग्रता और प्रज्ञा बिना एक दूसरे को अतिक्रान्त किये प्रवृत्त होती हैं; श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ (= मानसिक शक्ति) नाना क्लेशों से विनिर्मुक्त हो विमुक्ति-रस से एकरसता को प्राप्त होती हैं, योगी इन अवस्थाओं के अनुकूल वीर्य प्रवृत्त करता है। स्थिति क्षण से आरम्भ कर ध्यान-चित्त की आसेवना प्रवृत्त होती है। यह सब अवस्थाएँ इस कारण निष्पन्न होती हैं, क्योंकि ज्ञान द्वारा इस बात की प्रतीति होती है कि समाधि और प्रज्ञा की समरसता न होने से भावना संक्लिष्ट होती है और इनकी समरसता से विशुद्ध होती है।

इस विशोधक-ज्ञान के कार्य के निष्पन्न होने से चित्त का परितोष होता है। उपेक्षा-वश ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, प्रज्ञा द्वारा अर्पणा-प्रज्ञा की व्यापार-बहुलता होती है। उपेक्षा-वश नीवरण आदि नाना क्लेशों से चित्त विमुक्त होता है। इस विशुद्धि से और पूर्व-प्रवृत्त प्रज्ञा-वश प्रज्ञा की बहुलता होती है और श्रद्धा आदि धर्मों का व्यापार समान हो जाता है। इस एकरसता से भावना[1] निष्पन्न होती है। यह ज्ञान का व्यापार है। इसलिए ज्ञान के व्यापार से चित्त-परितोषण की सिद्धि होती है।

प्रथम ध्यान के अधिगत होने पर यह देखना चाहिये कि किस प्रकार के आवास में रह कर किस प्रकार का भोजन कर और किस ईर्यापथ में विहार कर चित्त समाहित हुआ था। समाधि के नष्ट होने पर उपयुक्त अवस्थाओं को सम्पन्न करने से योगी बार बार अर्पणा का लाभी हो सकता है। इससे अर्पणा का लाभमात्र होता है पर वह चिरस्थायिनी नहीं होती।

समाधि के अन्तरायों और विरोधी धर्मों के सम्यक्-प्रहाण से ही अर्पणा की चिर स्थिति होती है। उपचार-क्षण में इनका प्रहाण होता है, पर अर्पणा की चिर-स्थिति के लिए अत्यन्त प्रहाण की आवश्यकता है। कामादि का दोष और नैष्कम्य का गुण देखकर लोभ-राग का

---

1. "एकरसट्ठेन भावनाति" [विसुद्धिमग्गो, पृ० १४६]। "भावना चित्तवासनात्" [अभिधर्मकोश, ४।१२३]। "तद्धि समाहितं कुशलं चित्तमत्यर्थं वासयति, गुणैस्तन्मयीकरणात् सन्ततेः। पुष्पैस्तिलवासनवत्" [यशोमित्रव्याख्या]।

भली प्रकार प्रहाण किये बिना, काय-प्रश्रब्धि द्वारा कायक्लम को अच्छी तरह शान्त किये बिना, वीर्य द्वारा आलस्य और अकर्मण्यता का अच्छी तरह परित्याग किये बिना, शमथ, निमित्त की भावना द्वारा खेद और चित्त की अनवस्थितता का उन्मूलन किये बिना, तथा समाधि के अन्य अन्तरायों का अच्छी तरह उपशम किये बिना जो योगी ध्यान सम्पादित करता है, उसका ध्यान शीघ्र ही भिन्न हो जाता है। पर जो योगी समाधि के अन्तरायों का अत्यन्त प्रहाण कर ध्यान सम्पादित करता है वह दिन भर समाधि में रत रह सकता है। इसलिए जो योगी अर्पणा की चिरस्थिति चाहता है, उसे अन्तरायों का अत्यन्त प्रहाण करके ही ध्यान सम्पन्न करना चाहिये। समाधि-भावना के विपुलभाव के लिए लब्ध-प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि करनी चाहिये। जिस प्रकार भावना द्वारा ही निमित्त की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार भावना द्वारा उसकी वृद्धि भी होती है। इस प्रकार ध्यान-भावना भी वृद्धि को प्राप्त होती है। प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि के लिए दो भूमियाँ हैं—१. उपचार और २. अर्पणा; इन दो स्थानों में से एक में तो अवश्य ही इसकी वृद्धि करनी चाहिये।

प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि परिच्छिन्न रूप से ही करनी चाहिये। क्योंकि बिना परिच्छेद के भावना की प्रवृत्ति नहीं होती। इसकी वृद्धि क्रम से चक्रवाल-पर्यन्त की जा सकती है। जिस योगी ने पहले ध्यान का लाभ किया है उसे प्रतिभाग-निमित्त का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये; पर अधिक प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिये। क्योंकि प्रत्यवेक्षा के आधिक्य से ध्यान के अङ्ग अतिविभूत मालूम होते हैं और प्रगुण-भाव को नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार वे स्थूल और दुर्बल ध्यान के अङ्ग उत्तर-ध्यान के लिए उत्सुकता उत्पन्न नहीं करते। उद्योग करने पर भी योगी प्रथम ध्यान से च्युत होता है और दूसरे ध्यान का लाभ नहीं करता। योगी को इसलिए पाँच प्रकार से प्रथम ध्यान पर आधिपत्य प्राप्त करना चाहिये। तभी द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हो सकती है।[1] पाँच प्रकार यह हैं—१. आवर्जन, २. सम, ३. अधिष्ठान, ४. व्युत्थान और ५. प्रत्यवेक्षण।

इष्ट देश और काल में ध्यान के प्रत्येक अङ्ग को इष्ट समय के लिए शीघ्र यथारुचि प्रवृत्त करने की सामर्थ्य आवर्जन-वशिता कहलाती है। जिसकी आवर्जन-वशिता सिद्ध हो चुकी है वह जहाँ चाहे जब चाहे और जितनी देर तक चाहे प्रथम ध्यान के किसी अङ्ग को तुरन्त प्रवृत्त कर सकता है। आवर्जनवशिता प्राप्त करने के लिए योगी को क्रम से ध्यान के अङ्गों का आवर्जन करना चाहिये। जो योगी प्रथम ध्यान से उठ कर पहले वितर्क का आवर्जन करता है और भवाङ्ग का उपच्छेद करता है; उसमें उत्पन्न आवर्जन के बाद ही वितर्क को आलम्बन बना चार या पाँच जवन (चेतनायें) उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर दो क्षण के लिए भवाङ्ग में पात होता है। तब विचार को आलम्बन बना उक्त प्रकार से फिर जवन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ध्यान के पाँचो अङ्गों में चित्त को निरन्तर प्रेषित करने की शक्ति योगी को प्राप्त होती है।

---

1. "अधिगमेन समं ससम्पयुत्तस्स झानस्स सम्मापज्जन पटिपज्जनं समापज्जनं झानसमङ्गिता" [परमत्थमञ्जूसाटीका]।

अङ्गावर्जन के साथ ही शीघ्र ध्यान-समङ्गी होने की योग्यता एक या दस अङ्गुलि-स्फोट के काल तक वेग को रोक कर ध्यान की प्रतिष्ठा करने की शक्ति अधिष्ठान-वशिता है। ध्यान-समङ्गी होकर ध्यान से उठने की सामर्थ्य व्युत्थान-वशिता है। यह व्युत्थान भवाङ्ग-चित्त की उत्पत्ति ही है। पूर्व परिकर्म-वश इस प्रकार की शक्ति सम्पन्न करना कि, मैं इतने क्षण ध्यान-समङ्गी होकर ध्यान से व्युत्थान करूँगा, व्युत्थान-वशिता है। वितर्क आदि ध्यान के अङ्गों के यथाक्रम आवर्जन के अनन्तर जो जवन प्रवृत्त होते हैं वह प्रत्यवेक्षण के जवन हैं। इनके प्रत्यवेक्षण की शक्ति प्रत्यवेक्षण-वशिता है।

जो इन पाँच प्रकारों से प्रथम ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है वह परिचित प्रथम-ध्यान से उठकर यह विचारता है कि प्रथम-ध्यान सदोष है। क्योंकि इसके वितर्क-विचार स्थूल हैं और इसलिए इसके अङ्ग दुर्बल और परिक्षीण (=ओदारिक) हैं। यह देख कर कि द्वितीय-ध्यान की वृत्ति शान्त है और उसके प्रीति, सुख आदि शान्ततर और प्रणीततर हैं, उसे द्वितीय-ध्यान के अधिगम के लिए यत्नशील होना चाहिये और प्रथम-ध्यान की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। जब स्मृति-सम्प्रजन्य[1] पूर्वक वह ध्यान के अङ्गों की प्रत्यवेक्षा करता है तो उसे मालूम होता है कि वितर्क-विचार स्थूल हैं और प्रीति, सुख और एकाग्रता शान्त हैं। वह स्थूल अङ्गों के प्रहाण तथा शान्त अङ्गों के प्रतिलाभ के लिए उसी पृथ्वी-निमित्त का बारम्बार ध्यान करता है। तब भवांग का उपच्छेद हो चित्त का आवर्जन होता है। इससे यह सूचित होता है कि अब द्वितीय-ध्यान सम्पादित होगा। उसी पृथ्वी-कसिण में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। केवल अन्तिम जवन रूपावचर दूसरे ध्यान का है।

द्वितीय ध्यान के पक्ष में वितर्क और विचार का अनुत्पाद होता है। इसलिए द्वितीय ध्यान वितर्क और विचार से रहित है। वितर्क-सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि धर्म द्वितीय ध्यान में रहते हैं; पर प्रथम ध्यान के स्पर्श आदि से भिन्न प्रकार के होते हैं। द्वितीय ध्यान के केवल तीन अंग हैं—१. प्रीति, २. सुख, और ३. एकाग्रता। द्वितीय-ध्यान 'सम्प्रसादन'[2] है। अर्थात् श्रद्धायुक्त होने के कारण तथा वितर्क-विचार के क्षोभ के व्युपशम के कारण यह चित्त को सुप्रसन्न करता है। सम्प्रसाद इस ध्यान का परिष्कार है। यह ध्यान वितर्क-विचार से अध्यारूढ़ न होने के कारण अग्र और श्रेष्ठ हो ऊपर उठता है अर्थात् समाधि की वृद्धि करता है। इसलिए इसे 'एकोदिभाव'[3] कहते हैं।

---

१. काय और चित्त की अवस्थाओं की प्रत्यवेक्षा 'सम्प्रजन्य' कहलाती है।

२. "प्रीत्यादयः प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम्। तृतीये पञ्च तूपेक्षा स्मृतिर्ज्ञानं सुखं स्थितिः ॥"
[अभिधर्मकोश ८।७,८।८]।

३. "एको उदेतीति एकोदि। वितक्कविचारे हि अनज्झारूळ्हत्ता अग्गो सेट्ठो हुत्वा उदेतीति अत्थो। सेट्ठोपि हि लोके एकोति वुच्चति। वितक्कविचारविरहितो वा एको असहायो हुत्वा इति पि वत्तुं वट्टति। अथवा सम्पयुत्तधम्मे उदायतीति उदि उट्ठपेतीति अत्थो सेट्ठट्ठेन एको च सो उदि चाति एकोदिः समाधिस्सेतं अधिवचनं, इति इमं एकोदिं

पहला ध्यान वितर्क-विचार के कारण क्षुब्ध और समाकुल होता है। इसलिए उसमें यथार्थ श्रद्धा होती है तथापि वह 'सम्प्रसादन' नहीं कहलाता। सुप्रसन्न न होने से प्रथम ध्यान की समाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत नहीं होती। इसलिए उसका एकोदिभाव नहीं होता। किन्तु दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार के अभाव से श्रद्धा अवकाश पाकर बलवती होती है और बलवती-श्रद्धा की सहायता से समाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत होती है।

द्वितीय-ध्यान का भी उक्त पाँच प्रकार से अभ्यास करना चाहिये। द्वितीय-ध्यान से उठ कर योगी विचार करता है कि द्वितीय-ध्यान भी सदोष है। क्योंकि इसकी प्रीति स्थूल है और इसलिए इसके अङ्ग दुर्बल हैं। इस प्रीति के बारे में कहा है कि इसने परिग्रह में प्रेम का परित्याग नहीं किया और यह तृष्णा सहगत होती है। क्योंकि इस प्रीति की प्रवृत्ति का आकार उद्वेगपूर्ण होता है। यह देख कर कि तृतीय ध्यान की वृत्ति शान्त है, तृतीय-ध्यान के लिए यत्नशील होना चाहिये। जब वह ध्यान के अङ्गों की प्रत्यवेक्षा करता है, तो उसे प्रीति स्थूल और सुख-एकाग्रता शान्त मालूम होते हैं। वह स्थूल अङ्ग के प्रहाण के लिए पृथ्वी-निमित्त का बारम्बार चिन्तन करता है। तब भवाङ्ग का उपच्छेद हो चित्त का आवर्जन होता है। तदनन्तर उसी पृथ्वी-कसिण आलम्बन में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। इनमें केवल अन्तिम जवन रूपावचर तृतीय-ध्यान का है। तृतीय-ध्यान के क्षण में प्रीति का अनुत्पाद होता है। इस ध्यान के दो अंग हैं—१. सुख और २. एकाग्रता। उपेक्षा, स्मृति और सम्प्रजन्य इसके परिष्कार हैं।

प्रीति का अतिक्रमण करने से और वितर्क-विचार के उपशम से तृतीय-ध्यान का लाभी उपेक्षाभाव रखता है, वह समदर्शी होता है अर्थात् पक्षपात रहित हो देखता है। इसकी समदर्शिता विशद, विपुल और स्थिर होती है। इस कारण तृतीय-ध्यान का लाभी उपेक्षक कहलाता है।

उपेक्षा दस प्रकार की होती है:—१. षडंगोपेक्षा, २. ब्रह्मविहारोपेक्षा, ३. बोध्यंगोपेक्षा, ४. वीर्योपेक्षा, ५. संस्कारोपेक्षा, ६. वेदनोपेक्षा, ७. विपश्यनोपेक्षा, ८. तत्रमध्यत्वोपेक्षा, ९. ध्यानोपेक्षा और १०. पारिशुद्ध्युपेक्षा।

छः इन्द्रियों के छः इष्ट अनिष्ट विषयों से क्लिष्ट न होना और अपनी शुद्ध-प्रकृति को निश्चल रखना 'षडङ्गोपेक्षा' है। सब प्राणियों के प्रति समभाव रखना ब्रह्मविहारोपेक्षा कहलाती है। आलम्बन में चित्त की समप्रवृत्ति से और प्रग्रह-निग्रह-सम्प्रहर्षण के विषय में व्यापार का अभाव होने से सम्प्रयुक्त धर्मों में उदासीन वृत्ति को बोध्यङ्गोपेक्षा कहते हैं। जो वीर्य लीन और उद्धत भाव से रहित है उसे वीर्योपेक्षा कहते हैं। भावना की समप्रवृत्ति के समय जो उपेक्षाभाव होता है, उसे वीर्योपेक्षा कहते हैं। प्रथम-ध्यान आदि से नीवरण आदि का प्रहाण होता है यह निश्चय कर और नीवरणादि धर्मों के स्वभाव की परीक्षा कर संस्कारों के

भावेति वड्ढेतीति इदं दुतियज्झानं एकोदिभावं। [विसुद्धिमग्गो पृ० १२६]।
यहाँ ज्ञान 'सम्प्रज्ञान' = 'सम्प्रजन्य' है। 'स्थिति' 'समाधि' है।

ग्रहण में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है वह संस्कारोपेक्षा है। यह उपेक्षा समाधिवश आठ[1] और विपश्यनावश दश[2] प्रकार की है। जो उपेक्षा दुःख और सुख से रहित है वह वेदनोपेक्षा कहलाती है। अनित्यादि लक्षणों पर विचार करने से पंचस्कन्ध के विषय में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है वह 'विपश्यनोपेक्षा' है। जो उपेक्षा सम्प्रयुक्त धर्मों की समप्रवृत्ति में हेतु होती है वह 'तत्रमध्यत्वोपेक्षा' है। जो उपेक्षा तृतीय-ध्यान के अग्रसुख के विषय में भी पक्षपात रहित है वह ध्यानोपेक्षा कहलाती है। जो उपेक्षा नीवरण, वितर्क, विचारादि अन्तरायों से विमुक्त है और जो उनके उपशम के व्यापार में प्रवृत्त नहीं है वह 'पारिशुद्ध्युपेक्षा' कहलाती है।

इन दश प्रकार की उपेक्षाओं में षडङ्गोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, तत्रमध्यत्वोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा, और पारिशुद्ध्युपेक्षा अर्थ में एक हैं; केवल अवस्था-भेद से संज्ञा में भेद किया गया है। इसी प्रकार संस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा का अर्थतः एकीभाव है। यथार्थ में दोनों प्रज्ञा के कार्य हैं। केवल कार्य के भेद से संज्ञा-भेद किया गया है। विपश्यना-ज्ञान द्वारा लक्षण-त्रय का ज्ञान होने से संस्कारों के अनित्यभावादि के विचार में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है वह विपश्यनोपेक्षा है। लक्षण-त्रय के ज्ञान से तीन भवों[3] को आदीप्त देखने वाले योगी को संस्कारों के ग्रहण में जो उपेक्षा होती है, वह संस्कारोपेक्षा है। किन्तु वीर्योपेक्षा और वेदनोपेक्षा, एक दूसरे से, तथा अन्य उपेक्षाओं से, अर्थ में भिन्न हैं। इन दश उपेक्षाओं में से यहाँ ध्यानोपेक्षा अभिप्रेत है। उपेक्षा-भाव इसका लक्षण है; प्रणीत सुख का भी यह आस्वाद नहीं करती, प्रीति से यह विरक्त है और व्यापार रहित है।

यह उपेक्षा-भाव प्रथम तथा द्वितीय-ध्यान में भी पाया जाता है। पर वहाँ वितर्क आदि से अभिभूत होने के कारण इसका कार्य अव्यक्त रहता है, तृतीय-ध्यान में वितर्क, विचार और प्रीति से अनभिभूत होने के कारण इसका कार्य परिव्यक्त होता है, इसलिए इसी ध्यान के संबन्ध में कहा गया है कि योगी तृतीय-ध्यान का लाभ कर उपेक्षा-भाव से विहार करता है। तृतीय-ध्यान का लाभी सदा जागरूक रहता है और इस बात का ध्यान रखता है कि प्रीति से अपनीत तृतीय-ध्यान का सुख प्रीति से फिर सम्प्रयुक्त न हो जाय। तृतीय-ध्यान का सुख अति मधुर है। इससे बढ़कर कोई दूसरा सुख नहीं है और जीव स्वभाव से ही सुख में अनुरक्त होते हैं। इसी लिए योगी इस ध्यान में स्मृति और सम्प्रजन्य द्वारा सुख में आसक्त नहीं होता और प्रीति को उत्पन्न नहीं होने देता। जिस प्रकार छुरे की धार पर बहुत सँभाल कर चलना होता है उसी प्रकार इस ध्यान में चित्त की गति का भली प्रकार निरूपण करना पड़ता है और सदा सतर्क और जागरूक रहना पड़ता है।

योगी इस ध्यान में चैतसिक सुख का लाभ करता है और ध्यान से उठकर कायिक सुख का भी अनुभव करता है, क्योंकि उसका शरीर अति प्रणीत रूप से व्याप्त हो जाता है।

---

१. चार ध्यान और चार आरूप्य।

२. चार मार्ग, चार फल, शून्यता-विहार और अनिमित्त का विहार।

३. कामभव, रूपभव और अरूपभव।

जब तीसरे ध्यान का पाँच प्रकार से अच्छी तरह अभ्यास हो जाता है, तब तृतीय-ध्यान से उठकर योगी विचारता है कि तृतीय-ध्यान सदोष है, क्योंकि इसका सुख स्थूल है और इसलिए इसके अंग दुर्बल हैं। यह देखकर कि चतुर्थ-ध्यान शान्त है उसे चतुर्थ-ध्यान के अधिगम के लिए यत्नशील होना चाहिये।

जब स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक वह ध्यान के अंगों की प्रत्यवेक्षा करता है तो उसे मालूम होता है कि चैतसिक सुख स्थूल है और उपेक्षा, वेदना तथा चित्तैकाग्रता शान्त हैं। तब स्थूल अंग के प्रहाण तथा शान्त अंगों के प्रतिलाभ के लिए वह उसी पृथ्वीनिमित्त का बार-बार ध्यान करता है। भवांग का उपच्छेद कर चित्त का आवर्जन होता है, जिससे यह सूचित होता है कि अब चतुर्थ-ध्यान सम्पादित होगा, उसी पृथ्वी-कसिण में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं, केवल अन्तिम जवन रूपावचर चौथे ध्यान का है।

चतुर्थ ध्यान के दो अंग हैं—१. उपेक्षा-वेदना और २. एकाग्रता। चतुर्थ-ध्यान के उपचार-क्षण में चैतसिक सुख का प्रहाण होता है। कायिक दुःख का प्रथम ध्यान के उपचार क्षण में, चैतसिक दुःख का द्वितीय और कायिक सुख का तृतीय-ध्यान के उपचार-क्षण में, निरोध होता है पर अतिशय निरोध उस ध्यान की अर्पणा में ही होता है। प्रथम-ध्यान के उपचार-क्षण में जो निरोध होता है वह अत्यन्त निरोध नहीं है, पर अर्पणा में प्रीति के स्फुरण से सारा शरीर सुख से अवक्रान्त होता है। इस प्रकार प्रतिपक्षी-सुख द्वारा दुःखेन्द्रिय का अत्यन्त निरोध होता है। इसी प्रकार यद्यपि द्वितीय-ध्यान के उपचार-क्षण में चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है तथापि वितर्क और विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा में वितर्क और विचार के अभाव से इसकी कोई संभावना नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय-ध्यान के उपचार-क्षण में कायिक-सुख का निरोध होता है तथापि सुख के प्रत्यय (=हेतु) प्रीति के रहने से कायिक-सुख की उत्पत्ति सम्भव है। पर अर्पणा में प्रीति के अत्यन्त निरोध से इसकी सम्भावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थ-ध्यान के उपचार-क्षण में अर्पणा-प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भली प्रकार से चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है, पर अर्पणा में इसकी सम्भावना नहीं है।

यह दुःख और सुख-रहित वेदना अतिसूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है; सुगमता से इसका ग्रहण नहीं हो सकता। यह न कायिक सुख है, न कायिक दुःख, न चैतसिक सुख है न चैतसिक दुःख। यह सुख, दुःख, सौमनस्य (=चैतसिक सुख) और दौर्मनस्य (=चैतसिक दुःख) का अभाव मात्र नहीं है। यह तीसरी वेदना है। इसे उपेक्षा भी कहते हैं। यही उपेक्षा चित्त की विमुक्ति (पालि : चेतो विमुत्ति) है। सुख दुःखादि के प्रहाण से इसका अधिगम होता है।

सुख आदि के घात से राग-द्वेष प्रत्यय-(=हेतु) सहित नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उनका दूरीभाव हो जाता है। चतुर्थ-ध्यान में स्मृति परिशुद्ध[1] होती है। यह परिशुद्धि उपेक्षा के द्वारा होती है, अन्यथा नहीं। केवल स्मृति ही परिशुद्ध नहीं होती किन्तु सब सम्प्रयुक्त

---

१. चत्वार्यन्त्ये स्मृत्युपेक्षाऽसुखाऽदुःखसमाधयः। [अभिधर्मकोश ८।८]

धर्म भी परिशुद्ध हो जाते हैं। यद्यपि पहले तीन ध्यानों में भी उपेक्षा विद्यमान है तथापि उनमें वितर्क आदि विरोधी धर्मों द्वारा अभिभूत होने से तथा सहायक प्रत्ययों की विकलता से उनकी अपेक्षा अपरिशुद्ध होती है और उसके अपरिशुद्ध होने से सहजात धर्म, स्मृति आदि भी अपरिशुद्ध होते हैं। पर चतुर्थ-ध्यान में वितर्क आदि विरोधी धर्मों के उपशम से तथा उपेक्षा वेदना के प्रतिलाभ से उपेक्षा अत्यन्त परिशुद्ध होती है और साथ ही साथ स्मृति आदि भी परिशुद्ध होती हैं।

ध्यान-पञ्चक के द्वितीय-ध्यान[1] में केवल वितर्क नहीं होता और विचार, प्रीति, सुख, और एकाग्रता यह चार अङ्ग होते हैं; तृतीय-ध्यान में विचार का परित्याग होता है और प्रीति,सुख, और एकाग्रता यह तीन अङ्ग होते हैं; अन्तिम दो ध्यान ध्यान-चतुष्क के तृतीय और चतुर्थ हैं। ध्यान-चतुष्क के द्वितीय-ध्यान को ध्यान-पञ्चक में दो ध्यानों में विभक्त करते हैं।

आपो-कसिण—सुख पूर्वक बैठकर जल में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। नील, पीत, लोहित और अवदात वर्णों में से किसी वर्ण का जल ग्रहण न करना चाहिये। पूर्व इसके कि आकाश का जल भूमि पर प्राप्त हो, उसे शुद्ध वस्त्र में ग्रहण कर किसी पात्र में रखना चाहिये। इस जल का या किसी दूसरे शुद्ध जल का व्यवहार करना चाहिये। जल से भरे पात्र को (बिदत्थि चतुरङ्गुल-वर्तुल) विहार के प्रत्यन्त में किसी ढँके स्थान में रखना चाहिये। भावना करते हुए वर्ण और लक्षण की प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिये। भावना करते करते क्रम से पूर्वोक्त प्रकार से निमित्तद्वय की उत्पत्ति होती है, पर इसका उद्ग्रह-निमित्त चलित प्रतीत होता है। यदि जल में फेन और बुद्बुद् उठता हो तो कसिण दोष प्रकट हो जाता है। प्रतिभाग-निमित्त स्थिर है। उक्त रीत्या योगी आपो-कसिण का आलम्बन कर ध्यानों का उत्पाद करता है।

तेजो-कसिण—तेजो-कसिण की भावना करने की इच्छा रखने वाले योगी को अग्नि में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। जो अधिकारी है वह अकृत अग्नि में भी—जैसे दावाग्नि—निमित्त का उत्पाद कर सकता है, पर जो अधिकारी नहीं है उसे सूखी लकड़ी लेकर आग जलाना पड़ता है। चटाई, चमड़े या कपड़े के टुकड़े में एक बालिश्त चार अङ्गुल का छेद कर उसे अपने सामने रख लेना चाहिये, जिसमें नीचे का तृण-काष्ठ और ऊपर की धूपशिखा न दिखाई देकर केवल मध्यवर्ती अग्नि की घनी ज्वाला ही दिखलाई दे। इसी घनी ज्वाला में निमित्त का ग्रहण करना चाहिये। नील, पीत आदि वर्ण तथा उष्णता आदि लक्षण की प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिये। केवल प्रज्ञप्तिमात्र में चित्त को प्रतिष्ठित कर भावना करनी चाहिये। उक्त प्रकार से भावना करने पर क्रम पूर्वक दोनों निमित्त उत्पन्न होते हैं। उद्ग्रह-निमित्त में अग्निज्वाला खण्ड-खण्ड होकर गिरती हुई मालूम होती है। प्रतिभाग-निमित्त निश्चल

---

1. ध्यान पञ्चक के द्वितीय ध्यान को अभिधर्म कोश में 'ध्यानान्तर' कहा है; अवितर्क-ध्यानमन्तरम्। ८।२२

होता है। उक्त रीत्या योगी उपचार-ध्यान का लाभी हो, क्रमपूर्वक ध्यानों का उत्पाद करता है।

वायो-कसिण—योगी को वायु में निमित्त का ग्रहण करना होता है। दृष्टि या स्पर्श द्वारा इस निमित्त का ग्रहण होता है।

घने पत्तों सहित गन्ना, बाँस या किसी दूसरे वृक्ष के अग्रभाग को वायु से सञ्चालित होते देखकर चलनाकार से निमित्त का ग्रहण कर प्रहारक-वायु-सङ्घात में स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिये या शरीर के किसी प्रदेश में वायु का स्पर्श अनुभव कर सङ्घट्टनाकार में निमित्त का ग्रहण कर वायु-सङ्घात में स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। इसका उद्ग्रहनिमित्त चल और प्रतिभाग-निमित्त निश्चल और स्थिर होता है। ध्यानोत्पाद की प्रणाली वही है जो पृथ्वी-कसिण के संबन्ध में बतायी गई है।

नील-कसिण—जो अधिकारी है उसे नील-पुष्प-संस्तर, नील-वस्त्र या नीलमणि देखकर निमित्त का उत्पाद होता है। पर जो अधिकारी नहीं है उसे नीले रङ्ग के फूल लेकर उन्हें टोकरी में फैला देना चाहिये और ऊपर तक फूल की पत्तियों को इस तरह भर देनी चाहिये जिसमें केसर या वृन्त न दिखलाई पड़े या टोकरी को नीले कपड़े से इस तरह बांधना चाहिये जिसमें वह नील-मण्डल की तरह मालूम पड़े; या नील वर्ण के किसी धातु को लेकर चल-मण्डल बनावे या दीवाल पर उसी धातु से कसिण-मण्डल बनावे और उसे किसी असदृश वर्ण से परिच्छिन्न कर दे। फिर उस पर भावना करे। शेष-क्रिया पृथ्वी-कसिण के समान है।

पीत-कसिण—पीतवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में निमित्त का ग्रहण करना पड़ता है।

लोहित-कसिण—रक्तवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में नीलकसिण की तरह भावना करनी होती है।

अवदात-कसिण—अवदात-पुष्प, वस्त्र या धातु में नील कसिण की तरह भावना करनी होती है।

आलोक-कसिण—जो अधिकारी है वह प्राकृतिक आलोक-मण्डल में निमित्त का ग्रहण करता है। सूर्य या चन्द्र का जो आलोक खिड़की या छेद के रास्ते प्रवेश कर दीवाल या जमीन पर आलोक-मण्डल बनाता है या घने वृक्ष की शाखाओं से निकलकर जो आलोक जमीन पर आलोक-मण्डल बनाता है, उसमें भावना द्वारा योगी निमित्त का उत्पाद करता है। पर यह अवभास-मण्डल चिरकाल तक नहीं रहता। इसलिए साधारण-जन इसके द्वारा निमित्त का उत्पाद करने में असमर्थ भी होते हैं। ऐसे लोगों को घट में दीपक जलाकर घट के मुख को ढक देना चाहिये, और घट में छेदकर घट को दीवार के सामने रख देना चाहिये। छेद से दीप का जो आलोक निकलता है वह दीवाल पर मण्डल बनाता है। उसी आलोक-मण्डल

में भावना करनी चाहिये । उद्ग्रह-निमित्त दीवाल या जमीन पर बने आलोक-मण्डल की तरह होता है। प्रतिभाग-निमित्त बहल और शुभ्र आलोक-पुञ्ज की तरह होता है।

परिच्छिन्नाकाश-कसिण—जो अधिकारी है वह किसी छिद्र में निमित्त का उत्पाद कर लेता है। सामान्य योगी सुच्छन्न-मण्डल में या चमड़े की चटाई में एक बालिश्त चार अङ्गुल का छेद बनाकर उसी छेद में भावना द्वारा निमित्त का ग्रहण करता है। उद्ग्रह-निमित्त दीवाल के कोनों के साथ छेद की तरह होता है। उसकी वृद्धि नहीं होती। प्रतिभाग-निमित्त आकाश-मण्डल की तरह उपस्थित होता है। उसकी वृद्धि हो सकती है।

दश अशुभ-कर्मस्थान

कर्मस्थानों का संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है। उद्धुमातक आदि इन दश कर्मस्थानों का ग्रहण आचार्य के पास ही करना चाहिये। कर्मस्थान सभाग है या विसभाग इसकी परीक्षा करनी चाहिये। पुरुष के लिए स्त्री-शरीर विसभाग है और स्त्री के लिये पुरुष-शरीर। इसलिए अशुभ-कर्मस्थान अमुक जगह पर है, ऐसा जानने पर भी उसको ठीक जाँच करके ही उस स्थान पर जाना चाहिये। जाने के पहले संघ-स्थविर या अन्य किसी स्थविर-भिक्षु को कहकर ही जाना चाहिये। ऐसे कर्मस्थान प्रायः श्मशान पर ही मिलते हैं, जहां वन्य पशु; भूत-प्रेत और चोरों का भय रहता है। संघ-स्थविर को कहकर जाने से योगावचर-भिक्षु की पूर्ण व्यवस्था की जा सकती है। योगी को ऐसे कर्मस्थान के पास अकेला जाना चाहिये। उपस्थितस्मृति से, संवृत-इन्द्रियों से, एकाग्रचित्त से, जिस प्रकार क्षत्रिय अभिषेक स्थान पर, या यजमान यज्ञशाला पर, या निर्धन निधि-स्थान की ओर सौमनस्यचित्त से जाता है उसी प्रकार योगी को अशुभ-कर्मस्थान के पास जाना चाहिये। वहीं जाकर अशुभ-निमित्त को सहजभाव से देखना चाहिये। उसको वर्ण, लिंग, संस्थान, दिशा, अवकाश, परिच्छेद, सन्धि विवर आदि निमित्तों को सुगृहीत करना चाहिये। अशुभ-ध्यान के गुणों का दर्शन करके अशुभ-कर्मस्थान को अमूल्य रत्न के समान देखकर उसे चित्त को उस आलम्बन पर एकाग्र करना चाहिये और सोचना चाहिये कि—"मैं इस प्रतिपदा के कारण जरा-मरण से मुक्त होऊँ"। चित्त की एकाग्रता के साथ ही वह कामों से विविक्त होता है, अकुशलधर्मों से विविक्त होता है और विवेकज-प्रीति के साथ प्रथम-ध्यान को प्राप्त करता है। इस कर्मस्थान में प्रथम-ध्यान को आगे बढ़ा नहीं जाता क्योंकि यह आलम्बन दुर्बल होने से वितर्क के बिना चित्त उसमें स्थिर नहीं रहता। इसी कारण प्रथम-ध्यान के बाद इसी आलम्बन को लेकर द्वितीय-ध्यान असम्भव है।

दश अनुस्मृतियाँ

दश कसिण और दश अशुभ-कर्मस्थान के बाद दश अनुस्मृति-कर्मस्थान उद्दिष्ट हैं। पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली स्मृति ही अनुस्मृति है। प्रवर्तन के योग्य स्थान में ही प्रवृत्त होने के कारण अनुरूप स्मृति को भी अनुस्मृति कहते हैं। दस अनुस्मृतियाँ इस प्रकार हैं—

बुद्धानुस्मृति—बुद्ध की अनुस्मृति, जो योगी इस अनुस्मृति को प्राप्त करना चाहता है उसे प्रसादयुक्त चित्त से एकान्त में बैठकर "भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध हैं, विद्याचरण-

सम्पन्न हैं, सुगत हैं, लोकविद् हैं, शास्ता हैं" इत्यादि प्रकार से भगवान् बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये। इस प्रकार बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करते समय योगी का चित्त न राग-पर्युत्थित होता है, न द्वेष-पर्युत्थित होता है, न मोह-पर्युत्थित होता है। तथागत को चित्त का आलम्बन करने से उसका चित्त ऋजु होता है, नीवरण विष्कम्भित होते हैं, और बुद्ध के गुणों का ही चिन्तन करनेवाले वितर्क और विचार उत्पन्न होते हैं। बुद्धगुणों के वितर्क-विचार से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से प्रश्रब्धि पैदा होती है, जो काय और चित्त को प्रशांत करती है। प्रशांत भाव से सुख और सुख से समाधि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अनुक्रम से एक क्षण में ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं। बुद्ध-गुणों की गम्भीरता के कारण और नाना प्रकार के गुणों की स्मृति होने के कारण यह चित्त अर्पणा को प्राप्त नहीं होता, केवल उपचार-समाधि ही प्राप्त होती है। यह समाधि बुद्धगुणों के अनुस्मरण से उत्पन्न है, इसलिए इसे बुद्धानुस्मृति कहते हैं।

इस बुद्धानुस्मृति से अनुयुक्त भिक्षु शास्ता में सगौरव होता है, प्रसन्न होता है, श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य-वैपुल्य को प्राप्त करता है, भय-भैरव को सहन करता है। बुद्धानुस्मृति के कारण उसका शरीर भी चैत्यगृह के समान पूजार्ह होता है, उसका चित्त बुद्धभूमि में प्रतिष्ठित होता है।

धर्मानुस्मृति—धर्मानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक योगी को विचार करना चाहिये कि भगवान् से धर्म स्वाख्यात है। यह धर्म संदृष्टिक, अकालिक, एहिपस्सिक, औपनेय्यिक और विज्ञों से प्रत्यक्ष जानने योग्य है। इस प्रकार धर्म की स्मृति करने से वह धर्म में सगौरव होता है। अनुत्तर धर्म के अधिगम में उसका चित्त प्रवृत्त होता है। इसमें भी अर्पणा प्राप्त नहीं होती। केवल उपचार-समाधि प्राप्त होती है।

सङ्घानुस्मृति—सङ्घानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक योगी को विचार करना चाहिये कि भगवान् का श्रावक-सङ्घ सुप्रतिपन्न है, ऋजुप्रतिपन्न, आर्यधर्मप्रतिपन्न है, सम्यक्त्व-प्रतिपन्न है। भगवान् का श्रावक-सङ्घ श्रोतापन्न आदि अष्ट पुरुषों का बना हुआ है। वह दक्षिणेय है, अञ्जलिकरणीय है, और लोक के लिए अनुत्तर पुण्य-क्षेत्र है। इस प्रकार की सङ्घानुस्मृति से योगी संघ में सगौरव होता है, अनुत्तर-मार्ग की प्राप्ति में उसका चित्त दृढ़ होता है। यहाँ पर भी केवल उपचार-समाधि होती है।

शीलानुस्मृति—शीलानुस्मृति में योगी एकान्त स्थान में अपने शीलों पर विचार करता है कि "अहो! मेरे शील अखण्ड, अच्छिद्र, अशबल, अकिल्मिष, स्वतन्त्र, विज्ञों से प्रशस्त, अपरामृष्ट और समाधि-संवर्तनिक हैं"। यदि योगी गृहस्थ हो तो गृहस्थ-शील का, प्रव्रजित हो तो प्रव्रजित-शील का, स्मरण करना चाहिये। इस अनुस्मृति से योगी शिक्षा में सगौरव होता है। अणुमात्र दोष में भी भय का दर्शन करता है, और अनुत्तर शील को प्राप्त करता है। इस अनुस्मृति में भी अर्पणा नहीं होती। उपचार-ध्यान मात्र होता है।

त्यागानुस्मृति—त्यागानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक योगी को चाहिये कि वह इस स्मृति को करने के पहले कुछ न कुछ दान दे। ऐसा निश्चय भी करे कि बिना कुछ

दान दिये मैं अन्नग्रहण न करूँगा। अपने दिए हुए दान को ही आलम्बन बनाकर वह सोचता है कि "अहो! लाभ है मुझे, जो मत्सरमलों से युक्त प्रजा के बीच में भी विगत-मत्सर हो विहार करता हूँ। मैं मुक्तत्याग, प्रयतपाणि, व्युत्सर्गरत, याचयोग और दान-संविभागरत हूँ"। इस विचार के कारण उसका चित्त प्रीति-बहुल होता है और उसे उपचार-समाधि प्राप्त होती है।

देवतानुस्मृति—देवतानुस्मृति में योगी आर्यमार्ग में स्थिर रहकर चातुर्महाराजिक आदि देवों को साक्षि बनाकर अपने श्रद्धादि गुणों का तथा देवताओं के पुण्य-सम्भार का ध्यान करता है। इस अनुस्मृति से योगी देवताओं का प्रिय होता है। इसमें भी वह उपचार-समाधि को प्राप्त करता है।

मरणानुस्मृति—एक भव-पर्यापन्न जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद को मरण कहते हैं। अर्हतों का वर्तदुःख-समुच्छेद-मरण या संस्कारों का क्षणभङ्ग-मरण, यहाँ अभिप्रेत नहीं है। जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद से जो मरण होता है वही यहाँ अभिप्रेत है। उसकी भावना करने के इच्छुक योगी एकान्त स्थान में जाकर 'मरण होगा, जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा', ऐसा विचार करता है। 'मरण-मरण' इस प्रकार बार-बार चित्त में विचार करता है। मरणानुस्मृति में योग्य आलम्बन को चुनना चाहिये। इष्टजनों के मरणानुस्मरण से शोक होता है, अनिष्ट-जनों के मरणानुस्मरण से प्रामोद्य होता है, मध्यस्थजनों के मरणानुस्मरण से संवेग नहीं होता। अपने ही मरण के विचार से सन्त्रास उत्पन्न होता है। इसलिए जिनकी पूर्व सम्पत्ति और वैभव को देखा हो, ऐसे सत्त्वों के मरण का विचार करना चाहिये, जिससे स्मृति, संवेग और ज्ञान उपस्थित होता है। इस चिन्तन से उपचार-समाधि की प्राप्ति होती है। मरणानुस्मृति में अपयुक्त योगी सतत अप्रमत्त रहता है, सर्व भवों से अनभिरति-संज्ञा को प्राप्त करता है, जीवित की तृष्णा को छोड़ता है और निर्वाण को प्राप्त करता है।

कायगतानुस्मृति—यह अनुस्मृति बहुत महत्त्व की है। बुद्धघोष के अनुसार यह केवल बुद्धों से ही प्रवर्त्तित और सर्वतीर्थिकों का अविषयभूत है। भगवान् ने भी कहा है—"भिक्षुओ! एक धर्म यदि भावित, बहुलीकृत है तो महान् संवेग को प्राप्त कराता है, महान् अर्थ को, योगक्षेम को, स्मृति-संप्रजन्य को, ज्ञान-दर्शन-प्रतिलाभ को, दृष्ट-धर्म-सुख-विहार को, विद्या-विमुक्ति-फल-साक्षात्करण को प्राप्त कराता है। कौन है वह एक एकधर्म? कायगत-स्मृति ही वह धर्म है। जो कायगत-स्मृति को प्राप्त करता है वह अमृत को प्राप्त करता है।" (अङ्गु० १।४२)

कायगता स्मृति को प्राप्त करने का इच्छुक योगी इस शरीर को पादतल से केश-मस्तक तक और त्वचा से अस्थियों तक देखता है। इस शरीर में केश, लोम, नख, दन्त, त्वचा, मांस, न्हारु, अस्थि, अस्थिमज्ज, वक्क, हृदय आदि बत्तीस कर्मस्थानों को देखकर अशुचि-भावना को प्राप्त करता है। ये कर्मस्थान आचार्य के पास ग्रहण करके इन बत्तीस कर्मस्थानों का अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से बार-बार मन-वचन से स्वाध्याय करता है। फिर उन कर्मस्थानों के वर्ण-संस्थान, परिच्छेद आदि का चिन्तन करता है। इन कर्मस्थानों का अनुपूर्व से, नातिशीघ्र

और नातिमन्द गति से, अविक्षिप्तचित्त से चिन्तन करता है। इस प्रकार इन बत्तीस कर्मस्थानों में से एक एक कर्म-स्थान में वह अर्पणासमाधि को प्राप्त करता है। कायगता स्मृति के पूर्व की सात अनुस्मृतियों में अर्पणा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वहां आलम्बन गम्भीर है और अनेक हैं। यहां पर योगी सतत अभ्यास से एक एक कोट्ठास को लेकर प्रथम-ध्यान को प्राप्त करता है। इस कायगत-स्मृति में अनुयुक्त योगी अरति-रति-सह होता है। उत्पन्नरति और अरति को अभिभूत करता है; भयभैरव को सहन करता है, शीतोष्ण को सहन करता है, चार ध्यानों को प्राप्त करता है और षडभिज्ञ भी होता है।

आनापान-स्मृति—स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि प्राप्त होती है उसे आनापान-स्मृति कहते हैं। यह शान्त, प्रणीत, अव्यवकीर्ण, ओजस्वी, और सुख-विहार है।

इसका विशेष वर्णन आगे किया जा रहा है।

उपशमानुस्मृति—इस अनुस्मृति में योगी निर्वाण का चिन्तन करता है। वह एकान्त में समाहित चित्त से सोचता है कि जितने संस्कृत या असंस्कृत धर्म हैं, उन धर्मों में अग्र-धर्म निर्वाण है। वह मद का निर्मर्दन है, पिपासा का विनयन है, आलय का समुद्घात है, वर्त्म का उपच्छेद है, तृष्णा का क्षय है, विराग है, निरोध है। इस प्रकार सर्वदुःखोपशम-स्वरूप निर्वाण का चिन्तन ही उपशमानुस्मृति है। भगवान् ने इसी के बारे में कहा है कि यह निर्वाण ही सत्य है, पार है, सुदुर्दर्श है, अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत, शिव, क्षेम, अव्यापाद्य और विशुद्ध है। निर्वाण ही दीप है, निर्वाण ही त्राण है।

इस उपशमानुस्मृति से अनुयुक्त योगी सुख से सोता है, सुख से प्रतिबुद्ध होता है। इसके इन्द्रिय और मन शान्त होते हैं। वह प्रासादिक होता है और अनुक्रम से निर्वाण को प्राप्त करता है।

उपशम गुणों की गम्भीरता के कारण और अनेक गुणों का अनुस्मरण करने के हेतु से इस अनुस्मृति में अर्पणाध्यान की प्राप्ति नहीं होती। केवल उपचार-ध्यान की ही प्राप्ति होती है।

आनापान-स्मृति

चित्त के एकाग्र करने के लिये पातञ्जल-दर्शन में कई उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। योग के ये विविध साधन 'परिकर्म' कहलाते हैं। बौद्ध-साहित्य में इन्हें **कर्म-स्थान**[1] कहा है। ये विविध प्रकार के चित्त-संस्कार हैं, जिनसे चित्त एकाग्र होता है। योग शास्त्र का रेचन-पूर्वक कुंभक इसी प्रकार का एक साधन है। इसका उल्लेख समाधि-पाद के चौंतीसवें सूत्र में किया गया है—'प्रच्छर्दनविदारणाभ्यां वा प्राणस्य'। योग शास्त्रोक्त प्रयत्न विशेष द्वारा भीतर की वायु को बाहर निकालना ही प्रच्छर्दन या रेचन कहलाता है।

---

१. 'कर्म' का अर्थ है 'योगानुयोग', स्थान का अर्थ है निष्पत्ति-हेतु। इसलिये 'कर्म-स्थान' उसे कहते हैं जिसके द्वारा योग-भावना की निष्पत्ति होती है। कर्म-स्थान चालीस हैं।

रेचित वायु का बहिःस्थापन कर प्राणरोध करना ही विधारण या कुंभक है। इस क्रिया में भीतर की वायु को बाहर निकालकर फिर श्वास का ग्रहण नहीं होता। इससे शरीर हल्का और चित्त एकाग्र होता है। यह एक प्रकार का प्राणायाम है। प्राणायाम के प्रसङ्ग में इसे **बाह्य-वृत्तिक** प्राणायाम कहा है। योग-दर्शन में चार प्रकार का प्राणायाम वर्णित है [देखिए साधनपाद। सूत्र ५०-५१] बाह्य-वृत्तिक, आभ्यन्तर-वृत्तिक, स्तंभ-वृत्तिक और बाह्याभ्यंतर विषयाक्षेपी। प्राणायाम का अर्थ है श्वास-प्रश्वास का अभाव अर्थात् श्वासरोध। बाह्य वृत्तिक रेचक पूर्वक कुंभक है। आभ्यन्तर-वृत्तिक पूरक-पूर्वक कुंभक है। इस प्राणायाम में बाह्य वायु को नासिका पुट से भीतर खींचकर फिर श्वास का परित्याग नहीं किया जाता है। स्तंभ-वृत्तिक प्राणायाम केवल कुंभक है। इसमें रेचक या पूरक की क्रिया के बिना ही सकृत्प्रयत्न द्वारा वायु की बहिर्गति और आभ्यन्तरगति का एक साथ अभाव होता है। चौथा प्राणायाम एक प्रकार का स्तंभ-वृत्तिक प्राणायाम है। भेद इतना ही है कि स्तंभवृत्तिक प्राणायाम सकृत्प्रयत्न-द्वारा साध्य है किन्तु चौथा प्राणायाम बहु-प्रयत्न-द्वारा साध्य है। अभ्यास करते-करते अनुक्रम से चतुर्थ प्राणायाम सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। तृतीय प्राणायाम में पूरक और रेचक के देशादि विषय की आलोचना नहीं की जाती। केवल देश, काल और संख्या-परिदर्शन-पूर्वक स्तंभवृत्तिक की आलोचना होती है। किन्तु चतुर्थ प्राणायाम में पहले देशादि परिदर्शन-पूर्वक बाह्य वृत्ति और आभ्यन्तर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। चिरकाल के अभ्यास से जब ये दो वृत्तियां अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती हैं, तब साधक इनका अतिक्रम कर श्वास का रोध करता है। यही चतुर्थ प्राणायाम है। तृतीय और चतुर्थ प्राणायाम में बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों का अतिक्रम होता है, अंतर इतना ही है कि तृतीय प्राणायाम में यह अतिक्रम एक बार में ही हो जाता है। किन्तु चतुर्थ प्राणायाम में चिरकालीन अभ्यास वश ही अनुक्रम से यह अतिक्रम सिद्ध होता है। बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों का अभ्यास करते करते पूरण और रेचन का प्रयत्न इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह विधारण में मिल जाता है।

प्राणायाम योग का एक उत्कृष्ट साधन है। बौद्धागम में इसे **आनापान-स्मृति-कर्म-स्थान** कहा है। 'आन' का अर्थ है 'सांस लेना' और 'अपान' का अर्थ है 'सांस छोड़ना'। इन्हें आश्वास-प्रश्वास[1] भी कहते हैं। स्मृति-पूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि में

---

1. विनय की अर्थकथा (टीका) के अनुसार 'आश्वास' साँस छोड़ने को और प्रश्वास साँस लेने को कहते हैं। लेकिन सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ इसका ठीक उलटा है। आचार्य बुद्धघोष विनय की अर्थ-कथा का अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि जब बालक माता की कोख से बाहर आता है तब पहले भीतर की हवा बाहर जाती है और पीछे बाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है। इस प्रवृत्ति क्रम से आश्वास वह वायु है जिसका निःसारण होता है। सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ पातञ्जल योगसूत्र के व्यास-भाष्य के अनुसार है (२।४९ पर व्यास-भाष्यः बाह्यस्थवायोराचमनं श्वासः, कोष्ठ्यस्य वायोः निःसारणं प्रश्वासः)।

निष्पन्न की जाती है, वह आनापान स्मृति-समाधि कहलाती है। भगवान् बुद्ध ने १६ प्रकार से इस समाधि की भावना करने की विधि निर्दिष्ट की है। बुद्ध-शासन में इस समाधि की विधि का ग्रहण सर्वप्रकार से किया गया है। परमार्थमंजूसा टीका (विशुद्धि मार्ग की एक टीका) के अनुसार अन्य शासनों के श्रमण भावना के प्रथम चार प्रकार ही जानते हैं[१]।

यह एक प्रकृष्ट कर्मस्थान समझा जाता है। आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि ४० कर्मस्थानों में इसका शीर्षस्थान है और इसी कर्मस्थान की भावना कर सब बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध-श्रावकों ने विशेष फल प्राप्त किया है[२]। नाना प्रकार के वितर्कों के उपशम के लिए भगवान् ने इस कर्मस्थान को विशेष रूप से उपयुक्त बताया है[३]। दस-अशुभ कर्मस्थानों के आलंबनों की तरह (मृत शरीर के भिन्न-भिन्न प्रकार की भावना) इसका आलंबन बीभत्स और जुगुप्सा भाव उत्पन्न करने वाला नहीं है। यह कर्मस्थान किसी दृष्टि से भी अशान्त और अप्रणीत नहीं है। अन्य कर्मस्थानों में शांतभाव उत्पादित करने के लिए पृथ्वी-मण्डलादि बनाना पड़ता है और भावना द्वारा निमित्त का उत्पादन करना पड़ता है। पर इस कर्मस्थान में किसी विशेष क्रिया की आवश्यकता नहीं है। अन्य कर्मस्थानों में उपचार-क्षण में विघ्नों के विष्कंभन और अंगों के प्रादुर्भाव के कारण ही शान्ति होती है। पर यह समाधि तो स्वभाव-वश आरंभ से ही शान्त और प्रणीत है। इसलिए यह असाधारण है। जब जब इस समाधि की भावना होती है तब तब चैतसिक सुख प्राप्त होता है और ध्यान से उठने के समय प्रणीत रूप से शरीर व्याप्त हो जाता है और इस प्रकार कायिक सुख का भी लाभ होता है। इस असाधारण समाधि की बार-बार भावना करने से उदय होने के साथ ही पाप क्षणमात्र में सम्यक् रूप से विलीन होते हैं। जिनकी प्रज्ञा तीक्ष्ण है और जो उत्तरज्ञान की प्राप्ति चाहते हैं उनके लिए यह कर्मस्थान विशेष रूप से उपयोगी है। क्योंकि यह समाधि आर्य-मार्ग की भी साधिका है। क्रमपूर्वक इसकी वृद्धि करने से आर्य-मार्ग की प्राप्ति होती है और क्लेशों का सातिशय विनाश होता है। किन्तु इस कर्मस्थान की भावना सुगम नहीं है। क्षुद्र जीव इसकी भावना करने में समर्थ नहीं होते। यह कर्म-स्थान बुद्धादि महापुरुषों द्वारा ही आसेवित होता है[४]। यह स्वभाव से ही शान्त और सूक्ष्म है। भावना-बल से

१. बाहिरका हि जानन्ता आदितो चतुप्पकारमेव जानन्ति। पृ० २२७, परमत्थ-मंजूसा टीका।

२. अथवा यस्मा इदं कम्मट्ठानप्पभेदे मुद्धभूतं सब्बञ्ञु बुद्ध पच्चेकबुद्ध बुद्धसावकानं विसेसाधिगम दिट्ठधम्म सुख विहार पदट्ठानं आनापानसति कम्मट्ठानं ....। विसुद्धिमग्गो। पृ० २६१

३. आनापानसति भावेतब्बा वितक्कुपच्छेदायाति: अंगुत्तर निकाय।४।३५३। तत्राऽवतरत्य शुभयाऽनापानस्मृतेन च। रागवितर्कबहुलाः श्रद्धा सर्पे रागिषु। अभिधर्मकोश ६।६।

४. इदं पन आनापान सति कम्मट्ठानं गरुकं गरुकभावनं बुद्धपच्चेक-बुद्ध-बुद्धपुत्तानं महा-पुरिसानमेव मनसिकारभूमिभूतं, न चेव इत्तरं, न इत्तरसत्तसमासेवितं। विसुद्धिमग्गो, पृ० २८४।

उत्तरोत्तर अधिकाधिक शान्त और सूक्ष्म होता जाता है। यहाँ तक कि यह दुर्लक्ष्य हो जाता है। इसी लिए इस कर्मस्थान में बलवती और सुविशदा स्मृति और प्रज्ञा की आवश्यकता है। सूक्ष्म अर्थ का साधन भी सूक्ष्म ही होता है। इसी लिए भगवान् कहते हैं कि जिसकी स्मृति विनष्ट हो गयी है और जो सम्प्रजन्य से रहित है, उसके लिए आनापान-स्मृति की शिक्षा नहीं है[1]। अन्य कर्मस्थान भावना से विभूत हो जाते हैं, पर यह कर्मस्थान बिना स्मृति-सम्प्रजन्य[2] के सुगृहीत नहीं होता।

जो योगी इस समाधि की भावना करना चाहता है उसे एकान्त-सेवन करना चाहिये। शब्द ध्यान में कंटक होता है। वहाँ दिन रात रूपादि इन्द्रिय-विषयों की ओर भिक्षु का चित्त प्रधावित होता रहता है और इसीलिये इस समाधि में चित्त आरोहण करना नहीं चाहता। अतः जन-समाकुल स्थान में भावना करना दुष्कर है। उसे अपने चित्त का दमन करने के लिये विषयों से दूर किसी निर्जन स्थान में रहना चाहिये। वहाँ पर्यंकबद्ध होकर सुख-पूर्वक आसन पर बैठना चाहिये और शरीर के ऊपरी भाग को सीधा रखना चाहिये। इससे चित्त लीन और उद्धत भाव का परित्याग करता है। इस तरह आसन स्थिर होता है और सुखपूर्वक आश्वास-प्रश्वास का प्रवर्तन होता है। इस आसन में बैठने से चमड़ा, मांस और स्नायु नहीं नमते और जो वेदना इनके नमन से क्षण-क्षण पर उत्पन्न होती, वह नहीं होती है। इसलिये चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है। और कर्मस्थान वीथि का उल्लंघन न कर वृद्धि को प्राप्त होता है।

योगसूत्र में भी आसन की स्थिरता प्राप्त करने के अनन्तर ही प्राणायाम की विधि है (२।४९)। वहाँ भी आसन के संबन्ध में कहा गया है कि इसे स्थिर और सुखावह होना चाहिये। (स्थिरसुखमासनम् २।४६) इस सूत्र के भाष्य में कई आसनों का उल्लेख है। इनमें पर्यंक-आसन भी है। पर इसका जो वर्णन वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में मिलता है, वह पालि-साहित्य में वर्णित पर्यंक-आसन में नहीं घटता। पालि के अनुसार पर्यंक-आसन में बाईं जाँघ पर दाहिना पैर और दाहिनी जांघ पर बायाँ पैर रखना होता है[3]। यह पद्मासन का लक्षण है। प्रायः योगी इसी आसन का अनुष्ठान करते हैं। इसी पद्मासन को पालिसाहित्य में पर्यंक-आसन कहा है।

योगी पर्यंक-बद्ध हो आसन की स्थिरता को प्राप्त कर विरोधी आलम्बनों का चित्त-द्वार से निवारण करता है। और इसी कर्मस्थान को अपने सम्मुख रखता है। वह स्मृति का कभी संमोष नहीं होने देता। वह स्मृति-परायण हो श्वास छोड़ता और श्वास लेता है। आश्वास या प्रश्वास की एक भी प्रवृत्ति स्मृति-रहित नहीं होती, अर्थात् यह समस्त क्रिया उसकी जान में

---

१. नाहं भिक्खवे मुट्ठस्सतिस्स असम्पजानस्स आनापान सतिभावनं वदामीति। संयुत्त-निकाय, ५।१।१७।

२. काय और चित्त की अवस्थाओं की प्रत्यवेक्षा 'सम्प्रजन्य' है।

३. पल्लङ्कन्ति समन्ततो ऊरुबद्धासनम्।

होती है। जब वह दीर्घ श्वास छोड़ता है या दीर्घ श्वास लेता है तब वह अच्छी तरह जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ रहा हूँ या दीर्घ श्वास ले रहा हूँ। स्मृति-आलम्बन के समीप सदा उपस्थित रहती है और प्रत्येक क्रिया की प्रत्यवेक्षा करती है।

निम्नलिखित १६ प्रकार से आश्वास-प्रश्वास की क्रिया के करने का विधान है:—

(१) यदि वह दीर्घ श्वास छोड़ता है तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ, यदि वह दीर्घ श्वास लेता है तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ।

(२) यदि वह ह्रस्व श्वास छोड़ता या ह्रस्व श्वास लेता है, तो जानता है कि मैं ह्रस्व श्वास छोड़ता या ह्रस्व श्वास लेता हूँ।

आश्वास-प्रश्वास की दीर्घ-ह्रस्वता काल-निमित्त मानी जाती है। कुछ लोग धीरे-धीरे श्वास लेते और धीरे-धीरे श्वास छोड़ते हैं, इनका आश्वास-प्रश्वास दीर्घ-काल-व्यापी होता है। कुछ लोग जल्दी-जल्दी श्वास लेते और जल्दी-जल्दी श्वास छोड़ते हैं। इनका आश्वास-प्रश्वास अल्प-कालव्यापी होता है। यह विभिन्नता शरीर-स्वभाव वश देखी जाती है। भिक्षु ९ प्रकार से आश्वास-प्रश्वास की क्रिया को ज्ञान-पूर्वक करता है। इस प्रकार भावना की निरन्तर प्रवृत्ति होती रहती है। जब वह धीरे-धीरे श्वास छोड़ता है, तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ। जब वह धीरे-धीरे श्वास लेता है, तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ। और जब धीरे-धीरे आश्वास-प्रश्वास दोनों क्रियाओं को करता है, तो जानता है कि मैं आश्वास-प्रश्वास दोनों क्रियाओं को दीर्घकाल में करता हूँ। यह तीन प्रकार केवल काल-निमित्त हैं। इनमें पूर्व की अपेक्षा विशेषता प्राप्त करने की कोई चेष्टा नहीं पायी जाती। भावना करते-करते योगी को यह शुभ इच्छा (=छंद) उत्पन्न होती है कि मैं इस भावना में विशेष निपुणता प्राप्त करूँ। इस प्रवृत्ति से प्रेरित हो वह विशेष रूप से भावना करता है और कर्मस्थान की वृद्धि करता है। भावना के बल से भय और परिताप दूर हो जाते हैं और शरीर के आश्वास-प्रश्वास पहले की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हो जाते हैं। इस प्रकार इस शुभ इच्छा के कारण वह पहले से अधिक सूक्ष्म आश्वास, अधिक सूक्ष्म प्रश्वास और अधिक सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास की क्रियाओं को दीर्घकाल में करता है। आश्वास-प्रश्वास के सूक्ष्मतर भाव के कारण आलम्बन के अधिक शान्त होने से तथा कर्मस्थान की वीथि में प्रतिपत्ति होने से भावना चित्त के साथ 'प्रामोद्य' अर्थात् तरुण प्रीति उत्पन्न होती है। प्रामोद्य-वश वह और भी सूक्ष्म श्वास दीर्घकाल में लेता है और भी सूक्ष्म श्वास दीर्घकाल में छोड़ता है तथा और भी सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास की क्रियाओं को दीर्घकाल में करता है। जब भावना के उत्कर्ष से क्रम-पूर्वक आश्वास-प्रश्वास अत्यन्त सूक्ष्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं; तब चित्त उत्पन्न प्रतिभाग-निमित्त[1] की ओर ध्यान देता है। और इसलिए वह प्राकृतिक दीर्घ आश्वास-

1. उदाहरण के लिये—यदि पृथ्वी मंडल को निमित्त मान कर उसका ध्यान किया जाय तो भावना के बल से आरंभ में उद्ग्रह निमित्त का उत्पाद होता है अर्थात् आँख मूँदने या आँख खोलने पर इच्छानुसार निमित्त का दर्शन होता है। पीछे बहुलता के साथ

प्रश्वास से विमुख हो जाता है। प्रतिभाग निमित्त के उत्पाद से समाधि की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार ध्यान के निष्पन्न होने से व्यापार का अभाव होता है और उपेक्षा उत्पन्न होती है।

इन ६ प्रकारों से दीर्घ श्वास लेता हुआ या दीर्घ श्वास छोड़ता हुआ या दोनों क्रियाओं को करता हुआ योगी जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ या दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ या दोनों क्रियाओं को करता हूँ। ऐसा योगी इनमें से किसी एक प्रकार से कायानुपश्यना[1] नामक स्मृत्युपस्थान की भावना सम्पन्न करता है। ६ प्रकार से जो आश्वास-प्रश्वास होते हैं, उनको 'काय' कहते है। यहाँ 'काय' समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आश्वास-प्रश्वास का आश्रयभूत शरीर भी 'काय' कहलाता है और यहां वह भी संगृहीत है। 'अनुपश्यना' ज्ञान को कहते हैं। यह ज्ञान शमथ-वश निमित्त-ज्ञान है और विपश्यना-वश नाम रूप की व्यवस्था के अनन्तर काम विषयक यथाभूत ज्ञान है। इसलिए 'कायानुपश्यना' वह ज्ञान है जिसके द्वारा काम के यथाभूत स्वभाव की प्रतीति होती है। जिसके द्वारा श्वास-प्रश्वास आदि शरीर की समस्त आभ्यन्तरिक और बाह्य क्रियायें तथा चेष्टायें ज्ञान और स्मृतिपूर्वक होती हैं। जिसके द्वारा शरीर का अनित्य-भाव , अनात्म-भाव, दुःख-भाव और अशुचि-भाव जाना जाता है। इस ज्ञान के द्वारा यह विदित होता है कि समस्त 'काय' पैर के तलुवे से ऊपर और केशाग्र से नीचे केवल नाना प्रकार के मलों से परिपूर्ण है। इस काय के केश लोम आदि ३२ आकार अपवित्र और जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाले हैं। वह इस काय को रचना के अनुसार देखता है कि इस काय में पृथ्वी-धातु है, तेज-धातु है, जल-धातु है और वायु-धातु है, वह काय में अहंभाव और मम-भाव नहीं देखता तथा काय को कायमात्र ही समझता है।

इसी प्रकार जब वह जल्दी-जल्दी श्वास छोड़ता है या लेता है, तब जानता है कि—मैं अल्पकाल में श्वास छोड़ता या लेता हूँ। इस ह्रस्व आश्वास-प्रश्वास की क्रिया भी दीर्घ आश्वास-प्रश्वास की क्रिया के समान ही ६ प्रकार से की जाती है, यहाँ तक कि पूर्ववत् योगी कायानुपश्यना नामक स्मृत्युपस्थान की भावना सम्पन्न करता है।

भावना करने से प्रतिभाग-निमित्त का प्रादुर्भाव होता है। यह उद्ग्रह-निमित्त की अपेक्षा कहीं अधिक सुपरिशुद्ध होता है। प्रतिभाग-निमित्त वर्ण और आकार से रहित होता है, यह स्थूल पदार्थ नहीं है। प्रज्ञप्तिमात्र है।

१. स्मृत्युपस्थान चार हैं :—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना। शरीर का यथाभूत अवबोध कायानुपश्यना है। सुखवेदना, दुःखवेदना, अदुःखवेदना का यथार्थ ज्ञान वेदनानुपश्यना है। चित्त-ज्ञान चित्तानुपश्यना है। पाँच नीवरण, पाँच उपादान स्कंध, ६ आयतन, १० संयोजन, ७ बोध्यंग, तथा चार आर्य सत्य का यथार्थ ज्ञान धर्मानुपश्यना है। 'सतिपट्ठानसुत्त' में इन चार स्मृत्युपस्थानों का विस्तार से वर्णन है।

(३) योगी सकल आश्वासन-काय के आदि, मध्य और अवसान इन सब भागों का अवरोध कर अर्थात् उन्हें विशद और विभूत कर श्वास परित्याग करने का अभ्यास करता है। इसी तरह सकल प्रश्वास-काय के आदि, मध्य और अवसान इन सब भागों का अवबोधकर श्वास ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। उसके आश्वास-प्रश्वास का प्रवर्तन ज्ञान-युक्त चित्त से होता है किसी को केवल आदि स्थान, किसी को केवल मध्य, किसी को केवल अवसान स्थान और किसी को तीनों स्थान विभूत होते हैं। योगी को स्मृति और ज्ञान को प्रतिष्ठितकर तीनों स्थानों में ज्ञान-युक्त चित्त को प्रेरित करना चाहिये। इस प्रकार आनापान-स्मृति की भावना करते हुए योगी स्मृति-पूर्वक भावना-चित्त के साथ उच्चकोटि के शील, समाधि और प्रज्ञा का आसेवन करता है।

पहले दो प्रकार में आश्वास-प्रश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता है। किन्तु इनके आगे ज्ञानोत्पादनादि के लिए सातिशय उद्योग करना होता है।

(४) योगी स्थूल **काय-संस्कार**[1] का उपशम करते हुए श्वास छोड़ने और श्वास ग्रहण करने का अभ्यास करता है।

कर्मस्थान का आरंभ करने के पूर्व शरीर और चित्त दोनों क्लेश-युक्त होते हैं। उनका गुरुभाव होता है। शरीर और चित्त की गुरुता के कारण आश्वास-प्रश्वास प्रबल और स्थूल होते हैं; नाक के नथुने भी उनके वेग को नहीं रोक सकते। और भिक्षु को मुँह से भी साँस लेना पड़ता है। किन्तु जब योगी पृष्ठवंश को सीधा कर पर्यंक-आसन से बैठता है और स्मृति को सम्मुख उपस्थापित करता है तब योगी के शरीर और चित्त का परिग्रह होता है। इससे बाह्य विक्षेप का उपशम होता है, चित्त एकाग्र होता है और कर्मस्थान में चित्त की प्रवृत्ति होती है। चित्त के शान्त होने से चित्त-समुत्थित रूपधर्म लघु और मृदुभाव को प्राप्त होते हैं। आश्वास-प्रश्वास का भी स्वभाव शान्त हो जाता है और वह धीरे धीरे इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि यह जानना भी कठिन हो जाता है कि वास्तव में उनका अस्तित्व भी है या नहीं।

यह काय-संस्कार क्रमपूर्वक स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर; सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम हो जाता है, यहाँ तक कि चतुर्थ ध्यान के क्षण में यह परम सूक्ष्मता की कोटि को प्राप्त हो दुर्लक्ष्य हो जाता है। जो काय संस्कार कर्म-स्थान के आरंभ करने के पूर्व प्रवृत्त था, वह चित्त-परिग्रह के समय शान्त हो जाता है। जो काय-संस्कार चित्त-परिग्रह के पूर्व प्रवृत्त था, वह प्रथम ध्यान के

---

१. काय-संस्कार 'आश्वास प्रश्वास' को कहते हैं, यद्यपि आश्वास-प्रश्वास चित्त-समुत्थित धर्म है, तथापि शरीर से प्रतिबद्ध होने के कारण इन्हें 'काय' कहते हैं। शरीर के होने पर ही आश्वास-प्रश्वास की क्रिया संभव है अन्यथा नहीं।
कतमे कायसंखारा ? दीघं अस्सास ······पस्सासा कायिका एते धम्मा कायपटिबद्धा कायसंखारा पटिसंभिदा।

उपचार-क्षण[1] में शान्त हो जाता है। इसी प्रकार पूर्व काय-संस्कार उत्तरोत्तर काय संस्कार द्वारा शान्त हो जाता है। काय-संस्कार के शान्त होने से शरीर का कंपन, चलन, स्पंदन, और नमन भी शान्त हो जाता है।

आनापान-स्मृति-भावना के ये चार प्रकार प्रारंभिक अवस्था के साधक के लिये बताये गये हैं, इन चार प्रकारों से भावना कर जो योगी ध्यानों का उत्पाद करता है, वह यदि विपश्यना द्वारा अर्हत् पद पाने की अभिलाषा रखता है तो उसे शील को विशुद्ध कर आचार्य के समीप कर्म-स्थान को पाँच आकार से ग्रहण करना चाहिये। यह पांच आकार कर्म-स्थान के सन्धि (= पर्व = भाग) कहलाते हैं। यह इस प्रकार है:—

उद्ग्रह, परिपृच्छा, उपस्थान, अर्पणा और लक्षण। कर्म-स्थान ग्रन्थ का स्वाध्याय 'उद्ग्रह' कहलाता है। कर्म-स्थान के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रश्न पूछना 'परिपृच्छा' है। भावनानुयोगवश निमित्त के उपधारण को 'उपस्थान' कहते हैं। चित्त को एकाग्र कर भावना-बल से ध्यानों का प्रतिलाभ 'अर्पणा' है। कर्म-स्थान के स्वभाव का उपधारण 'लक्षण' कहलाता है। योगी दीर्घकाल तक स्वाध्याय करता है, उपयुक्त आवास में निवास करते हुए आनापान-स्मृति कर्मस्थान की ओर चित्तावर्जन करता है और अश्वास-प्रश्वास पर चित्त को स्थिर करता है। कर्मस्थान अभ्यास की विधि इस प्रकार है :—

गणना—योगी पहिले आश्वास-प्रश्वास की गणना द्वारा चित्त को स्थिर करता है। एक बार में एक से आरंभ कर कम से कम पाँच तक और अधिक से अधिक दस तक गिनती गिननी चाहिये। गणना-विधि को खण्डित भी न करनी चाहिये। अर्थात् एक, तीन, पाँच इस प्रकार बीच-बीच में छोड़ते हुए गिनती न गिननी चाहिये। पाँच से नीचे रुकने पर चित्त का स्पन्दन होता है और दस से अधिक गिनती गिनने पर चित्त कर्मस्थान का आश्रय छोड़ गणना का आश्रय लेता है। गणना-विधि के खण्डन होने से चित्त में कंपन होता है और कर्मस्थान की सिद्धि के विषय में चित्त संशयान्वित हो जाता है। इसलिए इन दोषों का परित्याग करते हुए गणना करनी चाहिये। पहले धीरे-धीरे गिनती करनी चाहिये। जिस प्रकार धान का तौलने वाला गिनती करता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे पहले गिनती करनी चाहिये। धान का तौलने-वाला तराजू के एक पलड़े में धान भरता है और उसे तौलकर 'एक' कहकर जमीन पर उँड़ेल देता है। फिर पलड़े में धान भरता है और जब तक दूसरी बार नहीं उँड़ेलता, तब तक बराबर 'एक'—'एक' कहता जाता है। आश्वास-प्रश्वासों में जो विशद और विभूत होता है उसी का ग्रहण कर गणना आरंभ होती है और जब तक दूसरा विशद और विभूत नहीं होता, तब तक निरन्तर आश्वास-प्रश्वास की ओर 'एक'—'एक' कहता रहता है, दृष्टि रखते हुए दस तक गणना

---

1. **उपचार और अर्पणा समाधि के प्रकार हैं। अर्पणा का अर्थ है—आलंबन में एकाग्र चित्त का अर्पण। अर्पणा ध्यान की प्रतिलाभ भूमि है। अर्पणा के उत्पाद से ही ध्यान के पाँच अंग सुदृढ़ होते हैं। अर्पणा का समीपवर्ती प्रदेश उपचार है। उपचार-समाधि का ध्यान अल्प-प्रमाण का होता है।**

की जाती है। तदनन्तर फिर से उसी प्रकार गणना शुरू होती है। इस प्रकार गणना करने से जब आश्वास-प्रश्वास विशद और विभूत हो जाय तब जल्दी-जल्दी गणना करनी चाहिये। पूर्व प्रकार की गणना से आश्वास-प्रश्वास विशद हो जल्दी-जल्दी बार-बार निष्क्रमण और प्रवेश करते हैं। ऐसा जानकर योगी आभ्यन्तर और बाह्य प्रदेश में आश्वास-प्रश्वास का ग्रहण नहीं करता। वह द्वार पर (नासिका-पुट ही निष्क्रमण-द्वार और प्रवेश-द्वार है) ही आते-जाते उनका ग्रहण करता है। और 'एक-दो-तीन-चार-पाँच' 'एक-दो-तीन-चार-पाँच-छः.........' इस प्रकार एक बार में दस तक जल्दी-जल्दी गिनता है। इस प्रकार जल्दी-जल्दी गिनती करने से आश्वास-प्रश्वास का निरन्तर प्रवर्तन उपस्थित होता है। आश्वास-प्रश्वास की निरन्तर प्रवृत्ति जानकर अभ्यन्तरगत और बहिर्गत वात का ग्रहण न कर जल्दी-जल्दी गिनती करनी चाहिये। क्योंकि अभ्यन्तरगत वात की गति की ओर ध्यान देने से चित्त उस स्थान पर वात से आहत मालूम पड़ता है, और बहिर्गत वात की गति का अन्वेषण करते समय नाना प्रकार के बाह्य आलंबनों की ओर चित्त विधावित होता है और इस प्रकार विक्षेप उपस्थित होता है। इसलिए स्पृष्ट-स्पृष्ट स्थान पर ही स्मृति उपस्थापित कर भावना करने से भावना की सिद्धि होती है। जबतक गणना के बिना ही चित्त आश्वास-प्रश्वास रूपी आलंबन में स्थिर न हो जाय, तबतक गणना की क्रिया करनी चाहिये। बाह्य-वितर्क का उपच्छेद कर आश्वास-प्रश्वास में चित्त की प्रतिष्ठा करने के लिए ही गणना की क्रिया की जाती है।

अनुबंधना—जब गणना का कार्य निष्पन्न हो जाता है तब गणना का परित्याग कर **अनुबंधना** की क्रिया का आरंभ होता है। इस क्रिया के द्वारा बिना गिनती के ही चित्त आश्वास-प्रश्वास-रूपी आलंबन में आबद्ध हो जाता है। गणना का परित्यागकर स्मृति आश्वास-प्रश्वास का निरन्तर अनुगमन करती है। इस क्रिया को **अनुबंधना** कहते हैं। अभिधर्मकोश में इसे 'अनुगम' कहा है। आदि, मध्य, और अवसान का अनुगमन करने से अनुबंधना नहीं होती। आश्वासवायु की उत्पत्ति पहले नाभि में होती है, हृदय मध्य है और नासिकाग्र पर्यवसान है। इनका अनुगमन करने से चित्त असमाहित होता है और काय तथा चित्त का कंपन और स्पन्दन होता है। इसलिए अनुबंधना की क्रिया करते समय आदि, मध्य और अवसान-क्रम से कर्मस्थान का चिंतन न करना चाहिये।

स्पर्श और स्थापना—जिस प्रकार गणना और अनुबंधना द्वारा अनुक्रम से अलग-अलग कर्मस्थान की भावना की जाती है उस प्रकार केवल स्पर्श या स्थापना द्वारा पृथक् रूप से भावना नहीं होती। गणना कर्म-स्थान-भावना का मूल है; **अनुबंधना** स्थापना का मूल है। क्योंकि अनुबंधना के बिना स्थापना (=अर्पणा) असंभव है।

इसलिए इन दोनों (गणना और अनुबंधना) का प्रधान रूप से ग्रहण किया गया है। स्पर्श और स्थापना की प्रधानता नहीं है। स्पर्श गणना का अंग है। स्पर्श का अर्थ है 'स्पृष्ट-स्थान'। अभिधर्मकोश में इसे '**स्थान**' कहा है। स्पर्श-स्थान नासिकाग्र है। स्पर्श-स्थान के समीप स्मृति को उपस्थापितकर गणना का कार्य करना चाहिये। इस प्रकार गणना और

स्पर्श द्वारा एक साथ अभ्यास किया जाता है। जब गणना का परित्याग कर स्मृति स्पर्श-स्थान में ही आश्वास-प्रश्वास का निरन्तर अनुगमन करती है और अनुबंधना के निरन्तर अभ्यास से अर्पणा-समाधि के लिए चित्त एकाग्र होता है तब अनुबंधना, स्पर्श और स्थापना तीनों द्वारा एक साथ कर्म-स्थान का चिन्तन होता है। इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ अर्थ-कथा वर्णित पंगुल और द्वारपाल की उपमा का उल्लेख करेंगे।

जिस प्रकार पंगुल खंभे के पास बैठकर जिस समय बच्चों को झूला झुलाता है, उस समय झूले के पटरे का अगला भाग (आते समय), पिछला भाग (जाते समय) और मध्यभाग अनायास ही उसको दृष्टिगोचर होता है और इसके लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता; उसी प्रकार स्पर्श-स्थान (= नासिकाग्र) में स्मृति को उपस्थापित कर योगी का चित्त आते-जाते आश्वास-प्रश्वास के आदि, मध्य और अवसान का अनायास ही अनुगमन करता है।

जिस प्रकार नगर का द्वारपाल नगर के भीतर और बाहर लोगों की पूछताछ नहीं करता फिरता किन्तु जो मनुष्य नगर के द्वार पर आता है उसकी जाँच करता है, उसी प्रकार योगी का चित्त अंतः-प्रविष्ट वायु और बहिर्निष्क्रान्त वायु की उपेक्षा कर केवल द्वार-प्राप्त आश्वास-प्रश्वास का अनुगमन करता है। स्थान-विशेष पर स्मृति को उपस्थापित करने से क्रिया सुलभ हो जाती है, कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

'पटि सम्भिदा' में आरे की उपमा दी गई है। जिस प्रकार आरे से काटते समय वृक्ष को समतल भूमि पर रखकर क्रिया की जाती है और आते-जाते आरे के दाँतो की ओर ध्यान न देकर जहाँ-जहाँ आरे का दाँत वृक्ष का स्पर्श करते हैं, वहाँ-वहाँ ही स्मृति उपस्थापित कर आते-जाते आरे के दाँत जाने जाते हैं और प्रयत्न-वश छेदन की क्रिया निष्पन्न होती है और यदि कोई विशेष प्रयोजन हो तो वह भी संपादित होता है, उसी प्रकार योगी नासिकाग्र या उत्तरोष्ठ में स्मृति को उपस्थापित कर सुखासीन होता है। आते-जाते आश्वास-प्रश्वास की ओर ध्यान नहीं देता। किन्तु यह बात नहीं है कि वे उसको अविदित हों, भावना को निष्पन्न करने के लिये वह प्रयत्नशील होता है, विघ्नों (=नीवरण) का नाश कर भावनानुयोग साधित करता है और उत्तरोत्तर लौकिक तथा लोकोत्तर-समाधि का प्रतिलाभ करता है।

काय और चित्त वीर्यारंभ से भावना-कर्म में समर्थ होता है; विघ्नों का नाश और वितर्क का उपशम होता है; दश संयोजनों का परित्याग होता है, इसलिए अनुशयों का लेश-मात्र भी नहीं रह जाता।

इस कर्मस्थान की भावना करने से थोड़े ही समय में प्रतिभाग-निमित्त का उत्पाद होता है और ध्यान के अन्य अङ्गों के साथ अर्पणा-समाधि का लाभ होता है। जब गणना-क्रिया-वश स्थूल आश्वास-प्रश्वास का क्रमशः निरोध होता है और शरीर का क्लेश दूर हो जाता है, तब शरीर और चित्त दोनों बहुत हल्के हो जाते हैं।

अन्य कर्मस्थान भावना के बल से उत्तरोत्तर विभूत होते जाते हैं। किन्तु यह कर्मस्थान अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। यहाँ तक कि यह उपस्थित भी नहीं होता। जब कर्मस्थान

की उपलब्धि नहीं होती तो योगी को आसन से उठ जाना चाहिये। पर यह विचार कर न उठना चाहिये कि आचार्य से पूछना है कि—क्या मेरा कर्मस्थान नष्ट हो गया है। ऐसा विचार करने से कर्मस्थान नवीन हो जाता है। इसलिए अनुपलब्ध आश्वास-प्रश्वास का पर्येषण प्रकृत स्पर्श-स्थान वश करना चाहिये। जिसकी नाक बड़ी होती है, उसके आश्वास-प्रश्वास प्रवर्तन के समय नासिकाग्र का स्पर्श करते हैं और जिसकी नाक छोटी होती है उसके आश्वास-प्रश्वास उत्तरोष्ठ का स्पर्श कर प्रवर्त्तित होते हैं। स्मृति-सम्प्रजन्य पूर्वक योगी को प्रकृत स्पर्श-स्थान में स्मृति प्रतिष्ठित करनी चाहिये। प्रकृत स्पर्श-स्थान को छोड़कर अन्यत्र पर्येषण न करना चाहिये। इस उपाय से अनुपस्थित आश्वास-प्रश्वास की सम्यक् उपलब्धि में योगी समर्थ होता है।

भावना करते करते प्रतिभाग-निमित्त उत्पन्न होता है। यह किसी को मणि के सदृश, किसी को मुक्ता, कुसुममाला, धूम-शिखा, पद्मपुष्प, चन्द्र-मण्डल या सूर्य-मण्डल के सदृश उपस्थित होता है। प्रतिभाग-निमित्त की उत्पत्ति संज्ञा से ही होती है। इसलिए संज्ञा की विविधता के कारण कर्मस्थान के एक होते हुए भी प्रतिभाग-निमित्त नानारूप से प्रकट होता है। जो यह जानता है कि आश्वास-प्रश्वास और निमित्त एक चित्त के आलंबन नहीं हैं, उसी का कर्मस्थान उपचार और अर्पणा-समाधि का लाभ करता है। प्रतिभाग-निमित्त के इस प्रकार उपस्थित होने पर योगी को इसकी सूचना आचार्य को देनी चाहिये। आचार्य, भिक्षु के उत्साह को बढ़ाते हुए बार-बार भावना करने का उपदेश करता है। उक्त प्रकार के प्रतिभाग-निमित्त में ही अनुबंधना और स्पर्श का परित्याग कर भावना-चित्त की स्थापना की जाती है। इस भावना से क्रम पूर्वक अर्पणा होती है। प्रतिभाग-निमित्त की उत्पत्ति के समय से विघ्न और क्लेश दूर हो जाते हैं, स्मृति उपस्थित होती है और चित्त उपचार-समाधि द्वारा समाहित होता है।

योगी को उक्त प्रतिभाग-निमित्त के वर्ण और लक्षण का ग्रहण न करना चाहिये। निमित्त की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये। इसलिए अनुपयुक्त आवास आदि का परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार निमित्त की रक्षा कर निरंतर भावना द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करनी चाहिये। अर्पणा में कुशलता प्राप्त कर, वीर्य का सम-भाव प्रतिपादित करना चाहिये। तदनन्तर ध्यानों का उत्पाद करना चाहिये।

इस प्रकार ध्यानों का उत्पाद कर जो योगी संलक्षणा (= विपश्यना, इसे अभिधर्मकोश में 'उपलक्षण' कहा है) और विवर्त्तना (= मार्ग) द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करना चाहता है और परिशुद्धि (= मार्गफल) प्राप्त करना चाहता है, उसे पांच प्रकार से (आवर्जन, समङ्गी होना, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण) ध्यानों का अभ्यास करना चाहिये। और नाम-रूप की व्यवस्था कर विपश्यना का आरंभ करना चाहिये। योगी सोचता है कि शरीर और चित्त के कारण आश्वास-प्रश्वास होता है; चित्त इनका समुत्थापक है और शरीर के बिना इनका प्रवर्तन संभव नहीं है। वह स्थिर करता है कि आश्वास-प्रश्वास और शरीर रूप हैं और चित्त तथा चैतसिक-धर्म अरूप (= नाम) हैं। इस प्रकार नाम-रूप की व्यवस्था कर वह

इनके हेतु का पर्येषण करता है, वह अनित्यादि लक्षणों का विचार करता है, निमित्त का निवर्तन कर आर्य-मार्ग में प्रवेश करता है, और सकल क्लेश का ध्वंस कर अर्हत्फल में प्रतिष्ठित हो विवर्त्तना और परिशुद्धि की प्रत्यवेक्षा ज्ञान की कोटि को प्राप्त होता है। इस प्रत्यवेक्षा को पालि में 'परिपस्सना' कहा है।

आनापान-स्मृति समाधि की प्रथम चार प्रकार की भावना का विवेचन सर्वरूप से किया जा चुका है। अब हम शेष बारह प्रकार की भावना का विचार करेंगे।

यह बारह प्रकार भी तीन वर्गों में विभक्त किए जाते हैं। एक-एक वर्ग में चार प्रकार सम्मिलित हैं। इनमें से पहिला वर्ग वेदनानुपश्यना-वश चार प्रकार का है।

५. इस वर्ग के पहले प्रकार में योगी प्रीति का अनुभव करते हुए श्वास का परित्याग और ग्रहण करना सीखता है। दो तरह से प्रीति का अनुभव किया जाता है—शमथ-मार्ग (= लौकिक-समाधि) में आलंबन-वश और विपश्यना-मार्ग में असंमोह-वश। प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय-ध्यान सम्पादित कर ध्यान-क्षण में योगी प्रीति का अनुभव करता है। प्रीति के आश्रयभूत आलंबन का संवेदन होने से प्रीति का अनुभव होता है। इसलिए यह संवेदन आलंबन-वश होता है। योगी प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय ध्यानों को सम्पादित कर ध्यान से व्युत्थान करता है और ध्यान-संप्रयुक्त प्रीति के क्षय-कर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना प्रज्ञा द्वारा प्रीति के विशेष और सामान्य लक्षणों के यथावत् ज्ञान से दर्शन-क्षण में प्रीति का अनुभव होता है। यह संवेदन असंमोह-वश होता है।

'पटिसंभिदा' में कहा है—जब योगी दीर्घश्वास लेता है और स्मृति को ध्यान के संमुख उपस्थापित करता है तब इस स्मृति के कारण तथा इस ज्ञान के कारण कि चित्त एकाग्र है, योगी प्रीति का अनुभव करता है। इसी प्रकार जब योगी दीर्घश्वास छोड़ता है, ह्रस्वश्वास लेता है, ह्रस्वश्वास छोड़ता है, सकल श्वास-काय सकल प्रश्वास-काय के आदि, मध्य और अवसान सब भागों का अवबोध कर तथा उन्हें विशद और विभूत कर श्वास छोड़ता और श्वास लेता है, काय-संस्कार (श्वास-प्रश्वास) का उपशम करते हुए श्वास छोड़ता है और श्वास लेता है, तब उसका चित्त एकाग्र होता है और इस ज्ञान द्वारा वह प्रीति का अनुभव करता है। यह प्रीति-संवेदन आलंबन वश होता है। जो ध्यान की ओर चित्त का आवर्जन करता है, जो ध्यान-समापत्ति के क्षण में आलंबन को जानता है, जो ध्यान से उठकर ज्ञान-चक्षु से देखता है, जो ध्यान की प्रत्यवेक्षा करता है, जो यह विचार कर ध्यानचित्त का अवस्थान करता है कि 'मैं इतने काल तक ध्यान-समर्जन रहूँगा' वह आलंबन-वश प्रीति का अनुभव करता है। जिन धर्मों द्वारा शमथ और विपश्यना की सिद्धि होती है, उनके द्वारा भी योगी प्रीति का अनुभव करता है। यह धर्म श्रद्धा आदि पांच इन्द्रिय हैं (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। क्लेश के उपशम में इनका आधिपत्य होने से 'इन्द्रिय' संज्ञा पड़ी।) जो शमथ और विपश्यना में दृढ़ श्रद्धा रखता है, जो कुशलोत्साह करता है, जो स्मृति उपस्थापित करता है, जो चित्त समाहित करता है और जो प्रज्ञा द्वारा यथाभूत दर्शन करता है, वह प्रीति का

अनुभव करता है। यह संवेदन आलंबन-वश और असंमोह-वश होता है। जिसने ६ अभिज्ञा का अधिगम किया है, जिसने हेय दुःख को जान लिया है और जिसकी तद्विषयक जिज्ञासा निवृत्त हो गयी है, जिसने दुःख के कारण क्लेशों का परित्याग (हेय-हेतु या दुःख-समुदय) किया है, जिसके लिए और कुछ हेय नहीं है, जिसने मार्ग की भावना की है (हानोपाय) तथा जिसके लिए और कुछ कर्तव्य नहीं है तथा जिसने निरोध का साक्षात्कार किया है और जिसके लिए अब और कुछ प्राप्य नहीं है, उसको प्रीति का अनुभव होता है। यह प्रीति असंमोहवश होती है।

६. इस वर्ग के दूसरे प्रकार में योगी सुख का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। सुख का अनुभव भी आलंबन-वश और असंमोह-वश होता है। सुख-सहगत प्रथम तीन ध्यान सम्पादित कर ध्यान-क्षण में योगी सुख का अनुभव करता है, और ध्यान से व्युत्थान कर ध्यान-संयुक्त सुख के क्षयधर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना द्वारा सुख के सामान्य और विशेष लक्षणों को यथावत् जानने से दर्शन-क्षण में असंमोह-वश सुख का अनुभव होता है। विपश्यना-भूमि में योगी कायिक और चैतसिक दोनों प्रकार के सुख का अनुभव करता है।

७. इस वर्ग के तीसरे प्रकार में योगी चारों ध्यान द्वारा चित्त-संस्कार (= संज्ञायुक्त वेदना। संज्ञा और वेदना चैतसिक धर्म हैं। चित्त ही इनका समुत्थापक है।) का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ता और श्वास लेता है।

८. इस वर्ग के चौथे प्रकार में स्थूल चित्त-संस्कार का निरोध करते हुए श्वास छोड़ता और श्वास लेता है। इसका क्रम वही है जो काय-संस्कार के उपशम का है। दूसरा वर्ग चित्तानुपश्यना-वश चार प्रकार का है।

९. पहले प्रकार में योगी चारों ध्यान द्वारा चित्त का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ना और लेना सीखता है।

१०. दूसरे प्रकार में योगी चित्त को प्रमुदित करते हुए श्वास छोड़ना या लेना सीखता है। समाधि और विपश्यना द्वारा चित्त प्रमुदित होता है। योगी प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय-ध्यान को संपादित कर ध्यान-क्षण में संप्रयुक्त प्रीति से चित्त को प्रमुदित करता है। यह समाधि-वश चित्त-प्रमोद है। प्रथम और द्वितीय-ध्यान से उठकर योगी ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति के क्षय-धर्म का ग्रहण करता है। इस प्रकार योगी विपश्यना क्षण में ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति को आलंबन बना, चित्त को प्रमुदित करता है। यह विपश्यना-वश चित्त-प्रमोद है।

११. तीसरे प्रकार में योगी प्रथम-ध्यानादि द्वारा चित्त को आलंबन में समरूप से अवस्थित करते हुए श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। अर्पणा-क्षण में समाधि के चरम उत्कर्ष के कारण चित्त किंचिन्मात्र भी लीन और उद्धत-भाव को नहीं प्राप्त होता तथा स्थिर और समाहित होता है। ध्यान से उठकर योगी ध्यान-सम्प्रयुक्त चित्त के क्षय-धर्म को देखता है और उसे विपश्यना-क्षण में चित्त के अनित्यता आदि लक्षणों का क्षण-क्षण

पर अवबोध होता है। इससे क्षणमात्र स्थायी समाधि उत्पन्न होती है। वह समाधि आलंबन में एकाकार से निरंतर प्रवृत्त होती मालूम पड़ती है और चित्त को निश्चल रखती है।

१२. चौथे प्रकार में प्रथम-ध्यान द्वारा विघ्नों (=नीवरण) से चित्त को मुक्त कर, द्वितीय द्वारा वितर्क-विचार से मुक्तकर, तृतीय द्वारा प्रीति से मुक्तकर चतुर्थ-ध्यान द्वारा सुख-दुःख से चित्त को विमुक्तकर, योगी श्वास छोड़ने और श्वास लेने का अभ्यास करता है अथवा ध्यान से व्युत्थानकर ध्यान-सम्प्रयुक्त चित्त के क्षय-धर्म का ग्रहण करता है और विपश्यना-क्षण में अनित्य-भावदर्शी हो चित्त को नित्य-संज्ञा से विमुक्त करता है अर्थात् योगी अनित्यता की परमकोटि 'भंग' का दर्शन कर संस्कार की अनित्यता का साक्षात्कार करता है। इसलिए संस्कृत धर्मों के संबंध में उसकी जो मिथ्या-संज्ञा है, वह दूर हो जाती है। जिसका अनित्य-भाव है वह दुःख है, सुख कदापि नहीं है; जो दुःख है, वह अनात्मा है, आत्मा कभी नहीं है। इस ज्ञान द्वारा वह चित्त को सुख-संज्ञा और आत्म-संज्ञा से विमुक्त करता है, वह देखता है कि जो अनित्य, दुःख और अनात्मा है उसमें अभिरति और राग न होना चाहिये। उसके प्रति योगी को निर्वेद और वैराग्य उत्पन्न होता है। वह चित्त को प्रीति और राग से विमुक्त करता है। जब योगी का चित्त संस्कृत-धर्मों से विरक्त होता है, तब वह संस्कारों का निरोध करता है, उन्हें उत्पन्न होने नहीं देता। इस प्रकार निरोध-ज्ञान द्वारा वह चित्त को उत्पत्ति धर्म-समुदय से विमुक्त करता है। संस्कारों का निरोध कर वह नित्य आदि आकार से उनका ग्रहण नहीं करता, वह उनका परित्याग करता है, वह क्लेशों का परित्याग करता है और संस्कृत-धर्मों का दोष देखकर तद्विपरीत असंस्कृत-धर्म निर्वाण में चित्त का प्रवेश करता है।

तीसरा वर्ग भी चार प्रकार का है।

१३. पहले प्रकार में योगी अनित्य-ज्ञान के साथ श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। पहले यह जानना चाहिये कि अनित्य क्या है? अनित्यता क्या है? अनित्य-दर्शन किसे कहते हैं? और अनित्य-दर्शी कौन है? पंचस्कंध अनित्य हैं, क्योंकि इनके—उत्पत्ति, विनाश, और अन्यथाभाव हैं। पंचस्कंधों का उत्पत्ति-विनाश ही अनित्यता है। वह उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होते हैं। उस आकार में उनकी अवस्थिति नहीं होती। उनका क्षण-भंग होता है। रूप आदि को अनित्य देखना अनित्यानुपश्यना है। इस ज्ञान से जो समन्वागत है, वह अनित्यदर्शी है।

१४. दूसरे प्रकार में योगी विराग-ज्ञान के साथ श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। विराग दो हैं—१. क्षय-विराग और २. अत्यन्त-विराग। संस्कारों का क्षण-भङ्ग क्षय-विराग है। यह क्षणिक निरोध है। अत्यन्त-विराग, निर्वाण के अधिगम से संस्कारों का अत्यन्त, न कि क्षणिक, निरोध होता है। क्षय-विराग के ज्ञान से विपश्यना और अत्यन्त-विराग के ज्ञान से मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

१५. तीसरे प्रकार में योगी निरोधानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। निरोध भी दो प्रकार का है—१. क्षय-निरोध और २. अत्यन्त-निरोध।

१६. चौथे प्रकार में योगी प्रतिनिसर्गानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। प्रतिनिसर्ग (=त्याग) भी दो प्रकार का है—१. परित्याग-प्रतिनिसर्ग और २. प्रस्कन्दन-प्रतिनिसर्ग। विपश्यना और मार्ग को प्रतिनिसर्गानुपश्यना कहते हैं। विपश्यना द्वारा योगी अभिसंस्कारक स्कन्धों सहित क्लेशों का परित्याग करता है; तथा संस्कृत-धर्मों का दोष देखकर तद्विपरीत-असंस्कृत निर्वाण में प्रस्कन्दन अर्थात् प्रवेश करता है।

इस तरह १६ प्रकार से आनापान-स्मृति-समाधि की भावना की जाती है। चार-चार प्रकार का एक-एक वर्ग है। अन्तिम वर्ग शुद्ध उपासना की रीति से उपदिष्ट हुआ है; शेष वर्ग शमथ तथा विपश्यना, दोनों रीतियों से उपदिष्ट हुए हैं। [शमथ लौकिक-समाधि को कहते हैं; विपश्यना एक प्रकार का विशिष्ट ज्ञान है, इसे लोकोत्तर-समाधि भी कहते हैं।]

आनापान-स्मृति-भावना का जब परमोत्कर्ष होता है तब चार स्मृत्युपस्थापन का परिपूरण होता है। स्मृत्युपस्थापनाओं के सुभावित होने से सात बोध्यङ्गों का (स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा) पूरण होता है और इनके पूरण से मार्ग और फल का अधिगम होता है।

इस भावना की विशेषता यह है कि मृत्यु के समय जब श्वास-प्रश्वास निरुद्ध होते हैं, तब योगी मोह को प्राप्त नहीं होता। मरण समय के अन्तिम आश्वास-प्रश्वास उसको विशद और विभूत होते हैं। जो योगी आनापान-स्मृति की भावना भली प्रकार करता है उसको मालूम पड़ता है कि मेरा आयु-संस्कार अब इतना अवशिष्ट रह गया है। यह जानकर वह अपना कृत्य संपादित करता है और शान्तिपूर्वक शरीर का परित्याग करता है।

चार ब्रह्म-विहार

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यह चार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थायें हैं। इनको 'ब्रह्म-विहार' कहते हैं। चित्त-विशुद्धि के यह उत्तम साधन हैं। जीवों के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिये इसका भी यह निदर्शन है। जो योगी इन चार ब्रह्म-विहारों की भावना करते हैं उनकी सम्यक्-प्रतिपत्ति होती है। वह सब प्राणियों के हित-सुख की कामना करता है। वह दूसरों के दुःखों को दूर करने की चेष्टा करता है। जो सम्पन्न है उसको देखकर वह प्रसन्न होता है, उनसे ईर्ष्या नहीं करता। सब प्राणियों के प्रति उसका सम-भाव होता है, किसी के साथ वह पक्षपात नहीं करता।

संक्षेप में—इन चार भावनाओं द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया, आदि चित्त के मलों का क्षालन होता है। योग के अन्य परिकर्म केवल आत्म-हित के साधन हैं, किन्तु यह चार ब्रह्म-विहार परहित के भी साधन हैं।

आर्य-धर्म के ग्रन्थों में इन्हें 'अप्रामाण्य' या 'अप्रमाण' भी कहा है। क्योंकि इनकी इयत्ता नहीं है। अपरिमाण जीव इन भावनाओं के आलम्बन होते हैं।

जीवों के प्रति स्नेह और सुहृद्भाव प्रवर्तित करना मैत्री है। मैत्री की प्रवृत्ति परहित-साधन के लिए है। जीवों का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष और द्रोह का

परित्याग, इसके लक्षण हैं। मैत्री भावना की सम्यक्-निष्पत्ति से द्वेष का उपशम होता है। राग इसका आसन्न शत्रु है। राग के उत्पन्न होने से इस भावना का नाश होता है। मैत्री की प्रवृत्ति जीवों के शील आदि गुण-ग्रहण-वश होती है। राग भी गुण देखकर प्रलोभित होता है। इस प्रकार राग और मैत्री की समान-शीलता है। इसलिए कभी-कभी राग मैत्रीवत् प्रतीय-मान हो प्रवंचना करता है। स्मृति का किंचिन्मात्र भी लोप होने से राग मैत्री को अपनीत कर आलम्बन में प्रवेश करता है। इसलिए यदि विवेक और सावधानी से भावना न की जाय तो चित्त के रागारूढ़ होने का भय रहता है। हमको सदा स्मरण रखना चाहिये कि मैत्री का सौहार्द तृष्णा-वश नहीं होता, किन्तु जीवों की हित-साधना के लिए होता है। राग, लोभ, और मोह के वश होता है किन्तु मैत्री का स्नेह मोह-वश नहीं होता किन्तु ज्ञानपूर्वक होता है। मैत्री का स्वभाव अद्वेष है और यह अलोभ-युक्त होता है।

पराये दुःख को देखकर सत्पुरुषों के हृदय का जो कम्पन होता है उसे 'करुणा' कहते हैं। करुणा की प्रवृत्ति जीवों के दुःख का अपनय करने के लिए होती है, दूसरों के दुःख को देखकर साधु-पुरुष का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। वह दूसरों के दुःख को सहन नहीं कर सकता, जो करुणाशील पुरुष है वह दूसरों की विहिंसा नहीं करता। करुण-भावना की सम्यक्-निष्पत्ति से विहिंसा का उपशम होता है। शोक की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। शोक, दौर्मनस्य इस भावना का निकट शत्रु है।

'मुदिता' का लक्षण 'हर्ष' है। जो मुदिता की भावना करता है वह दूसरों को सम्पन्न देखकर हर्ष करता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नहीं करता। दूसरों की सम्पत्ति, पुण्य, और गुणो-त्कर्ष को देखकर उसको असूया और अप्रीति नहीं उत्पन्न होती। मुदिता की भावना की निष्पत्ति से अरति का उपशम होता है, पर यह प्रीति संसारी पुरुष की प्रीति नहीं है। पृथग्जनोचित प्रीति-वश जो हर्ष का उद्वेग होता है उससे इस भावना का नाश होता है। मुदिता-भावना में हर्ष का जो उत्पाद होता है उसका शान्त प्रवाह होता है। वह उद्वेग और क्षोभ से रहित होता है।

जीवों के प्रति उदासीन भाव 'उपेक्षा' है। 'उपेक्षा' की भावना करने वाला योगी जीवों के प्रति सम-भाव रखता है, वह प्रिय-अप्रिय में कोई भेद नहीं करता। सबके प्रति उसकी उदासीन-वृत्ति होती है। वह प्रतिकूल और अप्रतिकूल इन दोनों आकारों का ग्रहण नहीं करता, इसी-लिए उपेक्षा-भावना की निष्पत्ति होने से विहिंसा और अनुनय दोनों का उपशम होता है। उपेक्षा-भावना द्वारा इस ज्ञान का उदय होता है कि "मनुष्य कर्म के अधीन है, कर्मानुसार ही सुख से सम्पन्न होता है या दुःख से मुक्त होता है या प्राप्त-सम्पत्ति से च्युत नहीं होता"। यही ज्ञान इस भावना का आसन्न-कारण है। मैत्री आदि प्रथम तीन भावनाओं द्वारा जो विविध प्रवृत्ति होती थी उसका ज्ञान द्वारा प्रतिषेध होता है। पृथक्-जनोचित अज्ञान-वश उपेक्षा की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है।

यह चारों ब्रह्म-विहार समान रूप से ज्ञान और सुगति को देने वाले हैं।

मैत्री-भाव-भावना का विशेष कार्य द्वेष (=व्यापाद) का प्रतिघात करना है। करुणा-भावना का विशेष कार्य विहिंसा का प्रतिघात करना है। मुदिता-भावना का विशेष कार्य अरति, अप्रीति का नाश करना है और उपेक्षा-भावना का विशेष कार्य राग का प्रतिघात करना है।

प्रत्येक भावना के दो शत्रु हैं—१. समीपवर्ती, २. दूरवर्त्ती। मैत्री-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु राग है। राग की मैत्री से समानता है। व्यापाद उसका दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनों एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। व्यापाद का नाश करके ही मैत्री की प्रवृत्ति होती है। करुणा-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु शोक, दौर्मनस्य है। जिन जीवों की भोगादि-विपत्ति देखकर चित्त करुणा से आर्द्र हो जाता है, उन्हीं के विषय में तन्निमित्तशोक भी उत्पन्न हो सकता है। यह शोक, दौर्मनस्य पृथग्जनोचित है, जो संसारी पुरुष है वह इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूप की अप्राप्ति से और प्राप्त-सम्पत्ति के नाश से उद्विग्न और शोकाकुल हो जाते हैं। जिस प्रकार दुःख के दर्शन से करुणा उत्पन्न होती है उसी प्रकार शोक भी उत्पन्न होता है। शोक करुणा-भावना का आसन्न शत्रु है। विहिंसा दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनों से भावना की रक्षा करनी चाहिये।

पृथग्जनोचित सौमनस्य मुदिता-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु है। जिन जीवों की भोग-सम्पत्ति देखकर मुदिता की प्रवृत्ति होती है उन्हीं के विषय में तन्निमित्त पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न हो सकता है। वह इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूपों के लाभ से संसारी पुरुष की तरह प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सम्पत्ति-दर्शन से मुदिता की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। यह सौमनस्य मुदिता का आसन्न-शत्रु है। अरति, अप्रीति दूरवर्त्ती-शत्रु हैं। दोनों से भावना को सुरक्षित रखना चाहिये।

अज्ञान-सम्मोह प्रवर्त्तित उपेक्षा उपेक्षा-भावना का आसन्न-शत्रु है। मूढ़ और अज्ञ पुरुष, जिसने क्लेशों को नहीं जीता है, जिसने सब क्लेशों के मूलभूत सम्मोह के दोष को नहीं जाना है और जिसने शास्त्र का मनन नहीं किया है, वह रूपों को देखकर उपेक्षा-भाव प्रदर्शित कर सकता है, पर इस सम्मोहपूर्वक उपेक्षा द्वारा क्लेशों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जिस प्रकार उपेक्षा-भावना गुण-दोष का विचार न कर केवल उदासीन-वृत्ति का अवलम्बन करती है, उसी प्रकार अज्ञानोपेक्षा जीवों के गुण-दोष का विचार न कर केवल उपेक्षावश प्रवृत्त होती है। यही दोनों की समानता है। इसलिए यह अज्ञानोपेक्षा उपेक्षा-भावना का आसन्न-शत्रु है। यह अज्ञानोपेक्षा पृथग्जनोचित है। राग और द्वेष इस भावना के दूरवर्ती शत्रु हैं। दोनों से भावना-चित्त की रक्षा करनी चाहिये।

सब कुशल-कर्म इच्छा-मूलक हैं। इसलिए चारों ब्रह्म-विहार के आदि में इच्छा है, नीवरण (= योग के अन्तराय) आदि क्लेशों का परित्याग मध्य में है, और अर्पणा-समाधि पर्यवसान में है। एक जीव या अनेक प्रज्ञप्ति रूप में इन भावनाओं के आलम्बन हैं। आलम्बन की वृद्धि क्रमशः होती है। पहले एक आवास के जीवों के प्रति भावना की जाती है। अनुक्रम से आलम्बन की वृद्धि कर एक ग्राम, एक जनपद, एक राज्य, एक दिशा, एक चक्रवाल के जीवों के प्रति भावना होती है।

सब क्लेश, द्वेष, मोह, राग आदिक हैं। इनसे चित्त को विशुद्ध करने के लिए यह चार ब्रह्म-विहार उत्तम उपाय हैं। जीवों के प्रति कुशल-चित्त की चार ही वृत्तियाँ हैं—दूसरों का हित-साधन करना, उनके दुःख का अपनयन करना, उनकी सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना और सब प्राणियों के प्रति पक्षपात-रहित और समदर्शी होना। इसीलिए ब्रह्म-विहारों की संख्या चार है। जो योगी इन चारों की भावना चाहता है उसे पहले मैत्री-भावना द्वारा जीवों का हित करना चाहिये। तदनन्तर दुःख से अभिभूत जीवों की प्रार्थना सुनकर करुणा-भावना द्वारा उनके दुःख का अपनयन करना चाहिये। तदनन्तर दुःखी लोगों की सम्पन्न-अवस्था देखकर मुदिता-भावना द्वारा प्रमुदित होना चाहिये और तत्पश्चात् कर्तव्य के अभाव में उपेक्षा-भावना द्वारा उदासीन-वृत्ति का अवलम्ब करना चाहिये। इसी क्रम से इन भावनाओं की प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं।

यद्यपि चारों ब्रह्म-विहार अप्रमाण हैं तथापि पहले तीन केवल प्रथम तीन ध्यानों का उत्पाद करते हैं और चौथा ब्रह्म-विहार अन्तिम ध्यान का ही उत्पाद करता है। इसका कारण यह है कि मैत्री, करुणा और मुदिता, दौर्मनस्य-संभूत, व्यापाद विहिंसा और अरति के प्रतिपक्ष होने के कारण सौमनस्य-रहित नहीं होती। सौमनस्य-सहित होने के कारण इनमें सौमनस्य-विरहित उपेक्षासहगत चतुर्थ-ध्यान का उत्पाद नहीं हो सकता। उपेक्षा-वेदना से संयुक्त होने के कारण केवल उपेक्षा ब्रह्म-विहार में अन्तिम-ध्यान का लाभ होता है।

चार अरूप-ध्यान

चार ब्रह्म-विहारों के पश्चात् चार अरूप-कर्मस्थान उद्दिष्ट हैं। अरूप-आयतन चार हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

चार रूपध्यानों की प्राप्ति होने पर ही अरूप-ध्यान की प्राप्ति होती है, करजरूप काय में और इन्द्रिय तथा उनके विषय में दोष देखकर रूप का समतिक्रम करने के हेतु से यह ध्यान किया जाता है। चौथे ध्यान में कसिण-रूप रहता है। उस कसिण-रूप का समतिक्रम इस ध्यान में होता है। जिस प्रकार कोई पुरुष सर्प को देखकर भयभीत हो भाग जाता है, और सर्प के समान दिखाई देनेवाले रज्जु आदि का भी निवारण चाहता है, उसी प्रकार योगी करज-रूप से भयभीत हो चतुर्थ-ध्यान प्राप्त करता है, जहाँ करजरूप से समतिक्रम होता है; लेकिन उसके प्रतिभाग-रूप कसिण-रूप में स्थित होता है। उस कसिण-रूप का निवारण करने की इच्छा से योगी अरूपध्यान को प्राप्त करता है, जहाँ सभी प्रकार के रूप का समतिक्रम संभव है।

आकाशानन्त्यायतन—में तीन संज्ञाओं का निवारण होता है :—रूप-संज्ञा अर्थात् चक्षुरादि सम्बन्धी विचार; प्रतिघ-संज्ञा अर्थात् इन्द्रिय और विषयों का प्रत्याघात-मूलक विचार; नानात्व-संज्ञा अर्थात् अनेकविध रूप-शब्दादि-आलम्बनों का विचार। इन तीनों संज्ञाओं का अनुक्रम से समतिक्रम, अस्तंगम, और अमनसिकार होने पर 'आकाश अनन्त है' ऐसी संज्ञा उत्पन्न होती है। इसे आकाशानन्त्यायतन-ध्यान कहते हैं।

परिच्छिन्न आकाश-कसिण को छोड़कर अन्य किसी कसिण को आलम्बन कर चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त करने पर ही यह भावना की जाती है। कसिण पर चतुर्थ-ध्यान साध्य करने

के पूर्व ही उस कसिण की मर्यादा अनन्त की जानी चाहिये। कसिण प्रथम छोटे आकार का होता है, जिसे अनुक्रम से बढ़ाकर समस्त विश्वाकार किया जाता है, उस विश्वाकार-आकृति पर चतुर्थ-ध्यान साध्य करने के पश्चात् योगी अपने ध्यान-बलसे उस आकृति को दूर करके 'विश्व में केवल एक आकाश ही भरा हुआ है' ऐसा देखता है। चतुर्थ-ध्यान तक रूपात्मक आलम्बन था; अब अरूपात्मक आलम्बन है। इसलिए 'आकाश अनन्त है' ऐसी संज्ञा होने से इसे आकाशानन्त्यायतन कहा है।

विज्ञानानन्त्यायतन—इस ध्यान में योगी आकाश-संज्ञा का समतिक्रम करता है। आकाश की अनन्त मर्यादा ही विज्ञान की मर्यादा है। ऐसी संज्ञा उत्पन्न करने पर वह विज्ञान का आनन्त्य जिसका आलम्बन है, ऐसे ध्यान को प्राप्त करता है।

आकिञ्चन्यायतन—इस ध्यान में योगी विज्ञान में भी दोष देखता है और उसका समतिक्रम करने के लिए विज्ञान के अभाव की संज्ञा प्राप्त करता है। "अभाव भी अनन्त है; कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है, सब कुछ शान्त है" इस प्रकार की भावना करने पर योगी इस तृतीय अरूप-ध्यान को प्राप्त होता है।

नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—अभाव की संज्ञा भी बड़ी स्थूल है। अभाव की संज्ञा का भी अभाव जिसमें है, ऐसा अति शान्त, सूक्ष्म यह चौथा आयतन है। इस ध्यान में संज्ञा अति 'सूक्ष्म-रूप में रहती है, इसलिए उसे असंज्ञा नहीं कह सकते, और स्थूल-रूप में न होने के कारण उसे संज्ञा भी नहीं कहते हैं। पालि में एक उपमा देकर इसे समझाया है। गुरु और शिष्य प्रवास में थे। रास्ते में थोड़ा पानी था। शिष्य ने कहा आचार्य! मार्ग में पानी है; इसलिए जूता निकाल लीजिये। गुरु ने कहा—'अच्छा तो स्नान कर लूँ, लोटा दो।' शिष्य ने कहा—"गुरु जी! स्नान करने योग्य पानी नहीं है।" जिस प्रकार उपानह को भिगाने के लिए पर्याप्त पानी है किन्तु स्नान के लिए पर्याप्त नहीं, इसी प्रकार इस आयतन में संज्ञा का अतिसूक्ष्म अंश विद्यमान है किन्तु संज्ञा का कार्य हो, इतना स्थूल भी वह नहीं है, इसीलिए इस आयतन को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा है।

इस आयतन को प्राप्त करने पर ही योगी निरोध-समापत्ति को प्राप्त कर सकता है, जिसमें अमुक काल (= सातदिन) तक योगी की मनोवृत्तियों का आत्यंतिक निरोध होता है।

इन चार अरूप-ध्यानों में केवल दो ही ध्यानाङ्ग रहते हैं—उपेक्षा और चित्तैकाग्रता। ये चार ध्यान अनुक्रम से शान्ततर, प्रणीततर, और सूक्ष्मतर होते हैं।

आहार में प्रतिकूल-संज्ञा

आरूप्य के अनन्तर आहार में प्रतिकूल-संज्ञा नामक कर्मस्थान निर्दिष्ट है। आहरण करने के कारण 'आहार' कहते हैं। वह चतुर्विध है—कबलीकार (=खाद्य पदार्थ), स्पर्शाहार, मनोसञ्चेतनाहार और विज्ञानाहार। इनमें से कबलीकार आहार ओजष्टक-रूप का आहरण करता है; स्पर्शाहार सुख, दुःख, उपेक्षा, इन तीन वेदनाओं का आहरण करता है, मनोसञ्चेतनाहार काम, रूप, अरूप भवों में प्रतिसन्धि का आहरण करता है,विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण

में नाम-रूप का आहरण करता है। ये चारों आहार भयस्थान हैं, किन्तु यहाँ केवल कवलीकार आहार ही अभिप्रेत है। उस आहार में जो प्रतिकूल-संज्ञा उत्पन्न होती है, वही यह कर्मस्थान है। इस कर्मस्थान की भावना करने का इच्छुक योगी असित, पीत, खायित, सायित प्रभेद का जो कवलीकार आहार है, उसके गमन, पर्येषण परिभोग, आशय, निधान, अपरिपक्वता, परिपक्वता, फल, निष्यन्द और सम्रक्षण रूप से जो अशुचिभाव का विचार करता है। उस विचार से उसे आहार में प्रतिकूल-संज्ञा उत्पन्न होती है, और कवलीकार-आहार उसी प्रकार प्रकट होता है। वह उस प्रतिकूल भावना को बढ़ाता है। उसके नीवरणों का विष्कम्भन होता है और चित्त उपचार-समाधि को प्राप्त होता है; अर्पणा नहीं होती है।

इस संज्ञा से योगी की रस-तृष्णा नष्ट होती है। वह केवल दुःख-निस्सरण के लिए ही आहार का सेवन करता है; पञ्च काम-गुण में राग उत्पन्न नहीं होता और कायगता-स्मृति उत्पन्न होती है।

चतुर्धातु-व्यवस्थान

चालीस कर्मस्थानों में यह अन्तिम-कर्मस्थान है। स्वभाव निरूपण द्वारा विनिश्चय को 'व्यवस्थान' कहते हैं। महासतिपट्ठान, महाहत्थिपादोपम, राहुलोवाद आदि सूत्रों में इसका विशेष-वर्णन आता है। महासतिपट्ठान-सुत्त में कहा है—"भिक्षुओ! जिस प्रकार कोई दक्ष गोघातक बैल को मार कर चौराहे पर खण्ड-खण्ड कर रख दे और उसे उन खण्डों को देखकर 'यह बैल है' ऐसी संज्ञा नहीं उत्पन्न होती, उसी प्रकार भिक्षु इसी काय को धातु द्वारा व्यवस्थित करता है कि—इस काय में पृथिवी-धातु है, आपो-धातु है तेजो-धातु है, वायु-धातु है। इस प्रकार के व्यवस्थान से काय में "यह सत्त्व है, यह पुद्गल है, यह आत्मा है" ऐसी संज्ञा नष्ट होकर धातु-संज्ञा ही उत्पन्न होती है।

भिक्षु इस संज्ञा को उत्पन्न कर अपने आध्यात्मिक और बाह्य-रूप का चिन्तन करता है। वह आचार्य के पास ही केशा-लोमा-नखा-दन्ता आदि कर्मस्थान को ग्रहण कर उनमें भी चतुर्धातु का व्यवस्थान करता है; फिर पृथिवी-आदि महाभूतों के लक्षण, समुत्थान, नानात्व, एकत्व, प्रादुर्भाव, संज्ञा, परिहार और विकार का चिन्तन करता है। उनमें अनात्म-संज्ञा, दुःख-संज्ञा, और अनित्य-संज्ञा को उत्पन्न करता है और उपचार-समाधि को प्राप्त करता है। अर्पणा प्राप्त नहीं होती।

चतुर्धातु-व्यवस्थान में अनुयुक्त योगी शून्यता में अवगाह करता है, सत्वसंज्ञा का समुद्-घात करता है और महाप्रज्ञा को प्राप्त करता है।

विपश्यना

समाधि-मार्ग का विस्तृत-वर्णन हमने ऊपर दिया है। किन्तु निर्वाण के प्रार्थी को शमथ की भावना के पश्चात् विपश्यना की वृद्धि करना आवश्यक है। इसके बिना अर्हत्पद में प्रतिष्ठा नहीं होती।

विपश्यना एक प्रकार का विशेष दर्शन है। जिस समय इस ज्ञान का उदय होता है कि—सब धर्म अनित्य हैं, दुःखमय हैं तथा अनात्म हैं—उस समय विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है।

बौद्धागम में पुद्गल (जीव) संस्कार-समूह है। वह एक सन्तान है। आत्मा नाम का नित्य, ध्रुव और स्वरूप से अविपरिणाम-धर्म वाला कोई पदार्थ नहीं है, पञ्च-स्कन्ध-मात्र है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, और विज्ञान यह स्कन्ध-पञ्चक क्षण-क्षण में उत्पद्यमान और विनश्यमान हैं। यह साश्रव धर्म 'दुःख' है, क्योंकि क्लेश-हेतु-वश इनकी उत्पत्ति होती है। क्लेश सन्तान को दूषित करते हैं। दुःख का अन्त करने में प्रज्ञा की प्रधानता है। पहले इसका ज्ञान होना चाहिये कि न आत्मा है, न आत्मीय, सब संस्कृत-धर्म अनित्य हैं। जो सब धर्मों को अनित्यता, दुःखता और अनात्मता के रूप में देखता है वह यथाभूतदर्शी है। उसको विपश्यना-ज्ञान प्राप्त है। इसीलिए धर्मपद की अर्थकथा[1] में आत्मभाव के क्षय-व्यय की प्रतिष्ठा कर सतत अभ्यास से अर्हत्व के ग्रहण को विपश्यना कहा है।

विपश्यना प्रज्ञा का मार्ग है। इसे लोकोत्तर-समाधि भी कहते हैं। इस मार्ग का अनुगामी 'विपश्यनायानिक' कहलाता है। सप्त-विशुद्धियों द्वारा विपश्यना-मार्ग के फल की प्राप्ति होती है। यह सात विशुद्धियां इस प्रकार हैं—

१. शील-विशुद्धि; २. चित्त-विशुद्धि; ३. दृष्टि-विशुद्धि (= नामरूप का यथावद्दर्शन); ४. कांक्षा-वितरण-विशुद्धि (= संशयों को उत्तीर्ण कर नाम-रूप के हेतु का परिग्रह); ५. मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (= मार्ग और अमार्ग का ज्ञान और दर्शन); ६. प्रतिपत्तिज्ञानदर्शन-विशुद्धि (= अष्टांगिक मार्ग का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष-साक्षात्कार); ७. ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (= स्रोतापत्ति-मार्ग, सकृदागामि-मार्ग, अनागामि-मार्ग, अर्हन्मार्ग, इन चार मार्गों का ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन)।

---

१. इमस्मिं सासने कति धुरानीति? गन्थधुरं विपस्सनाधुरन्ति द्वे येव धुरानि भिक्खूति।...... कतमं विपस्सना धुरन्ति? सल्लहुक वुत्तिनो पन पन्थ सेनासनाभिरतस्स अत्तभावे खयवयं पट्ठपेत्वा सातच्चकिरियवसेन विपस्सनं वड्ढेत्वा अरहत्तगहणन्ति इदं विपस्सनाधुरं नामाति। [धम्मपदट्ठकथा।१।१]

द्वितीय खण्ड

महायान-धर्म और दर्शन
उसकी उत्पत्ति तथा विकास-
साहित्य और साधना

षष्ठ अध्याय

महायान-धर्म की उत्पत्ति

जब महाराज अशोक बौद्ध हो गये, तब उनका प्रश्रय पाकर बौद्ध-धर्म बहुत फैला। उनका विस्तृत साम्राज्य था। उन्होंने धर्म का प्रचार करने के लिए दूर-दूर उपदेशक भेजे। भारत के बाहर भी उनके भेजे उपदेशक गये थे। उन्होंने अनेक स्तूप और विहार बनवाये। अशोक के कौशाम्बी के लेख से मालूम होता है कि यहाँ एक भिक्षु-संघ था। एक संघ का पता सारनाथ के लेख से चलता है। भाब्रू लेख में अशोक कहते हैं कि सब बुद्ध-वचन सुभाषित हैं किन्तु मैं कुछ वचनों की विशेष रूप से सिफारिश करता हूँ। उन्हीं के समय में 'खुतन' में भारतीयों का उपनिवेश हुआ। वहाँ से ही पहले पहल बौद्ध-धर्म चीन गया।

अशोक के समय में बौद्धों में मूर्त्तिपूजा न थी। बुद्ध का प्रतीक रिक्त-आसन, चक्र, कमल-पुष्प, या चरणपादुका था। स्तूप में बुद्ध का धातु-गर्भ रखकर पूजा करते थे। कथा है कि अशोक ने बुद्ध की अस्थियों को प्राचीन स्तूपों से निकाल कर ८४००० स्तूपों में बांट दिया। चैत्य की पूजा भी प्राचीन थी। आरंभ में बुद्ध यद्यपि अन्य अर्हतों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे; यद्यपि उनका जन्म, उनके लक्षण, मार-धर्षण, जन्म के पूर्व तुषितलोक में निवास, उनकी मृत्यु, सभी अद्भुत थे; तथापि प्राचीन निकायों के अनुसार बुद्ध का निर्वाण अन्य अर्हतों के निर्वाण से भिन्न न था। उनका यह विश्वास न था कि परिनिर्वृत बुद्ध इस लोक में हस्तक्षेप कर सकते हैं। यद्यपि ये बुद्ध के निर्वाण को महाशून्य मानते थे तथापि उनके लिए बुद्ध त्राता नहीं थे जैसे ईसाईयों के लिए ईसामसीह त्राता है। शास्ता ने कहा है कि तुम्हीं अपने लिए दीपक हो, दूसरे का आश्रय मत लो, धर्म ही एकमात्र तुम्हारा दीप, शरण, सहाय, हो। बुद्ध का कहना था कि निर्वाण का साक्षात्कार प्रत्येक को स्वयं करना होता है। उनके लिए वे संघ के गणाचार्य थे, शास्ता थे। वे उनके लिए मैत्री और ज्ञान की मूर्त्ति थे। उनको बुद्ध की शरण में जाना पड़ता था। बुद्ध की अनुस्मृति एक कर्मस्थान था, किन्तु जब शास्ता का परिनिर्वाण हो गया तब पूजा का विषय अतीन्द्रिय हो गया। अब प्रश्न यह हुआ कि पूजा से क्या फल होगा ?

कर्मवाद के अनुसार बौद्ध यह नहीं मानते थे कि पूजा करने से बुद्ध वरदान देंगे। किन्तु वे यह मानते थे कि बुद्ध का ध्यान करने से चित्त समाहित और विशुद्ध होगा, और पूजक अपने को निर्वाण के लिए तैयार करेगा। सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अपने किए हुए कर्मों का फल भोगता है। बुद्ध की शिक्षा में प्रसाद (ग्रेस) और प्रार्थना को स्थान नहीं दिया गया है। इसके लिए कोई उचित शब्द भी नहीं है। मिलता-जुलता एक शब्द प्रणिधि, प्रणिधान है,

किन्तु उसका अर्थ 'प्रतिज्ञा' है। कभी-कभी यह पुण्य-विपरिणामना (=सत्य-वचन) है। किन्तु ईसवी सदी के कुछ पहले से बौद्धों में कल्याणमय-देवों की पूजा प्रारम्भ हुई, जिनकी प्रतिमा या प्रतीक की वे पूजा करने लगे और जिनसे सुख और मोक्ष की प्राप्ति के लिए वे प्रार्थना करने लगे। ये देव शाक्यमुनि, पूर्व-बुद्ध, अनागत बुद्ध, मैत्रेय, बोधिसत्त्व हैं। भक्ति का प्रभाव बढ़ने लगा। निर्वाण का स्वरूप भी बदलने लगा। सुखभूमि की प्राप्ति इसका उद्देश्य होने लगा। बुद्ध लोकोत्तर हो गये। यद्यपि पालि-निकाय में बुद्ध को लोकोत्तर कहा है, किन्तु वहाँ इसका अर्थ केवल इतना है कि बुद्ध पद्म-पत्र की तरह लोक से ऊपर हैं। उनका विशेषत्व केवल यही है कि उन्होंने निर्वाण के मार्ग का आविष्कार किया है। बुद्ध को लक्षण और अनुव्यंजनों से युक्त महापुरुष भी कहा है, यह भी इसी अर्थ में है। जैसे—नारायण को 'महापुरुष' कहते हैं, जो एक, अद्वितीय, शाश्वत हैं, वैसे पालि-आगम के बुद्ध नहीं हैं।

किन्तु कुछ बौद्ध उनको विशेष-अर्थ में लोकोत्तर मानने लगे। कुछ अन्धक, और उत्तरापथक मानते थे कि भगवान् के उच्चार-प्रस्राव (=मल-मूत्र) का गन्ध अन्य गन्धों से विशिष्ट है। कथावत्थु १८वें वर्ग के अनुसार भगवान् ने एक शब्द भी नहीं कहा है। आनन्द ने ही उपदेश दिया है। इस मत के बौद्ध लोकोत्तरवादी कहलाते थे। उनके अनुसार निर्वाण का अर्थ बुद्ध-अवस्था का शाश्वतत्व है। गान्धार-रीति की जो बुद्ध की मूर्तियाँ हैं उनमें शाक्यमुनि, पूर्वबुद्ध, तथा अन्य-बुद्धों को ध्यान की अवस्था में दिखाया है। चरम-भविक (=अन्तिम जन्मवाला) बोधिसत्व तुषित-लोक से बुद्ध होने के लिए अवतीर्ण होता है। वह लोकोत्तर-पुरुष है। उसका जन्म अद्भुत है, और वह लक्षणों से संयुक्त है। स्थविरों का कहना है कि बोधि के अनन्तर वह लोकोत्तर होते हैं किन्तु वह लोकानुवर्तन करते हैं। अनेक कल्प हुए कि हमारे शाक्यमुनि ने पूर्वबुद्ध के सम्मुख यह प्रणिधान किया कि 'मैं बुद्ध हूँगा'। उन्होंने अनेक जन्मों में १० पारमिताओं की साधना की। उन्होंने अन्तिम-जन्म में कुमारी-माया के गर्भ में मनोमय-शरीर धारण किया। उनकी पत्नी भी कुमारी थीं, क्योंकि अन्तिम-जन्म में बुद्ध काम-राग में अभिनिविष्ट नहीं होते। भूतदया से प्रेरित हो वे मानव-जन्म ले लोगों को उपदेश देते हैं। 'वेतुल्लक' कहते हैं कि—शाक्यमुनि ने मनुष्य-लोक में कभी अवस्थान नहीं किया; वे वास्तव में तुषित-लोक में रहते हैं। मनुष्यों और देवताओं ने केवल उनकी छाया देखी है। सद्धर्मपुण्डरीक में यह वाद सुपल्लवित हुआ है। इस ग्रन्थ में शाक्यमुनि का माहात्म्य वर्णित है। उनका यथार्थ-काय संभोगकाय है। ये धर्मदेशना के लिए समय-समय पर लोक में प्रादुर्भूत होते हैं। यह उनका निर्माणकाय है। इसी की स्तूप-पूजा होती है। पाँचवीं-छठी शताब्दी में कुछ बौद्ध आदि-बुद्ध (=आदि कल्पिक बुद्ध) भी मानने लगे, जिनसे अन्य बुद्धों का प्रादुर्भाव हो सकता था। किन्तु यह विचार तीर्थक (हेरिटिक) विचार माना जाता था।

सूत्रालंकार (६।७७) में इसका प्रतिषेध यह कहकर है कि कोई पुरुष आदि से बुद्ध नहीं होता, क्योंकि बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए पुण्य और ज्ञान-संभार की आवश्यकता है। धीरे-धीरे बुद्धों की संख्या बढ़ने लगी। पूर्वविश्वास के अनुसार एक काल में एक साथ दो बुद्ध नहीं होते थे। महायान में एक काल में अनेक बुद्ध हो सकते हैं, किन्तु एक लोक में अनेक

नहीं हो सकते। पहले ७ मानुषी बुद्धों का उल्लेख मिलता है; धीरे-धीरे यह संख्या २४ हो जाती है। इनके अलग-अलग बुद्ध-क्षेत्र हैं, जहाँ इनका आधिपत्य है। इसी प्रकार का एक बुद्ध-क्षेत्र सुखावती-व्यूह है, जहाँ अमिताभ या अमितायु-बुद्ध शासन करते हैं। यहाँ दुःख का लव-लेश भी नहीं है। यह विशुद्ध-सत्त्व से निर्मित है। वहाँ अमिताभ के भक्त मरणानन्तर निवास करते हैं। सुखावती-व्यूह में नाम-जप, नाम-घोष, नाम-संकीर्त्तन का बड़ा माहात्म्य है। जो सुशील-पुरुष सच्चे हृदय से अमिताभ का नाम एक बार भी लेते हैं, वे सुखावती में जन्म लेते हैं। इस निकाय का प्रचार जापान में विशेष रूप से हुआ। वहाँ के एक मन्दिर में ही यह ग्रन्थ मिला था।

इस प्रकार धीरे-धीरे बुद्ध-वाद विकसित हुआ। यह बौद्ध-शासन में एक नूतन परिवर्तन है। यह लोकोत्तरवाद महासांघिकों में उत्पन्न हुआ। हम महासांघिकों का स्थविरों से पृथक् होना बता चुके हैं। विकसित होते-होते इस निकाय से महायान की उत्पत्ति हुई। बौद्ध-संघ दो प्रधान यानों (= मार्ग) में विभक्त हो गया—हीनयान और महायान।

हमने देखा कि किस प्रकार महायान ने बुद्ध को एक विशेष अर्थ में लोकोत्तर बना दिया। इससे बुद्ध-भक्ति बढ़ने लगी। जब यूनानियों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया, तब बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनने लगीं। भक्ति के कारण मूर्त्तिकला में भी उन्नति हुई। प्रसिद्ध रूपकारों ने प्रस्तर में भगवान् के कुशल-समाहित-चित्त, उनकी मैत्री-भावना और करुणा, उनके पुण्य और ज्ञान के संभार का उद्ग्रहण करने की सफल चेष्टा की। यह व्यक्त है कि मूर्त्ति-कला पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। गुप्तकाल इसका समृद्धिकाल है।

महायान-धर्म की विशेषता

स्थविर-वाद का आदर्श अर्हत्त्व और उसका लक्ष्य निर्वाण था। अर्हत् रागादि-मलों का उच्छेद कर क्लेश-बन्धन-विनिर्मुक्त होता था। उसका चित्त संसार से विमुक्त और मन निर्विषयी होता था। अर्हत् अपनी ही उन्नति के लिए यत्नवान् होता था। उसकी साधना अष्टाङ्गिक मार्ग की थी। स्थविर-वादियों के मत में बुद्ध यद्यपि लोक-ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ हैं तथापि बुद्ध-काय जरा-व्याधि-मरण इत्यादि दुःखों से विमुक्त न था। महासांघिकों के विचार में बुद्ध एक विशेष-अर्थ में लोकोत्तर थे। महासांघिक-वाद के अन्तर्गत लोकोत्तर-वाद एक अवान्तर शाखा थी। इसके विनय का प्रधानग्रन्थ महावस्तु है। इनके मत में बुद्ध को विश्राम अथवा निद्रा की आवश्यकता नहीं है और जितने समय तक वह जीवित रहना चाहें, उतने समय तक जीवित रह सकते हैं। स्थविर-वादियों के अनुसार यदि नियम-पूर्वक अच्छा अभ्यास किया जाय तो इस दृष्ट-धर्म में ही निर्वाण-फल का अधिगम होता है। मोक्ष के इस मार्ग का अनुसरण वह करता है जो शील-प्रतिष्ठित है और ब्रह्मचर्य का पालन करता है। बुद्ध अन्य अर्हतों से मिलते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का निर्देश किया, जिस पर चलकर लोग संसार से विमुक्त होते हैं। इस विशेषता का कारण है कि बुद्ध ने पूर्व-जन्मों में पुण्य-राशि का संचय और अनन्त-ज्ञान प्राप्त किया था।

चरियापिटक में बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथा वर्णित है। इस ग्रन्थ में भी पारमिता का उल्लेख मिलता है। अर्हत् का आदर्श परम-कारुणिक बुद्ध के आदर्श की अपेक्षा तुच्छ मालूम पड़ने लगा। बुद्ध-चरित के अनुशीलन से बुद्ध के अनुकरण करने की इच्छा प्रकट हुई। भगवान् सर्वज्ञ थे। वह जानते थे कि जीव दुःख से आर्त्त हैं। जीवों के प्रति उनको महा-करुणा उत्पन्न हुई और इसी करुणा से प्रेरित होकर भगवान् बुद्ध ने जीवों के कल्याण के लिए ही धर्मोपदेश करना स्वीकार किया। बुद्ध-चरित से प्रभावित होकर बौद्धों में एक नवीन विचार-पद्धति का उदय हुआ। अष्टांगिक-मार्ग की जगह पर बोधिसत्व-चर्या का विकास हुआ और इस समुदाय का आदर्श अर्हत्त्व न होकर बोधिसत्व हुआ, क्योंकि भगवान् बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व तक 'बोधिसत्व' थे। 'बोधिसत्व' उसे कहते हैं जो सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति चाहता है। जिसमें सम्यक्-ज्ञान है उसी के चित्त में जीवलोक के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। इस नवीन-धर्म का नाम महायान पड़ा। महायान-वादी प्राचीन विचार वालों को हीनयान-वादी कहते थे। हीनयान का दूसरा नाम श्रावक-यान है। इसका प्रतिपक्ष महायान या बोधिसत्वयान है, इसको अग्रयान भी कहा है। बुद्ध-वंश में श्रावक और प्रत्येक-बुद्ध, सम्यक्-सम्बुद्ध के प्रतिपक्षी हैं। श्रावकयान और प्रत्येक-बुद्धयान में ऐसा अन्तर नहीं है; दोनों एक ही बोधि और निर्वाण को पाते हैं। प्रत्येक-बुद्ध सद्धर्म के लोप हो जाने पर अपने उद्योग से बोधि प्राप्त करते हैं। प्रत्येक-बुद्ध उपदेश से विरत हैं, केवल प्रातिहार्य द्वारा अन्यधर्मावलम्बियों (तीर्थियों) को बौद्धधर्म की शिक्षा देते हैं।

सद्धर्म-पुण्डरीक तथा अन्य कई सूत्रों का स्पष्ट कहना है कि एक ही यान है—बुद्धयान। पर इसकी साधना में बहुत समय लगता है, इसलिए बुद्ध ने अर्हत् के निर्वाण का निर्देश किया है। एक प्रश्न यह उठता है कि— क्या महायान के आचार्यों के मत में महायान ही मोक्षदायक है? इत्सिंग का कहना है कि दोनों यान बुद्ध की आर्य-शिक्षा के अनुकूल हैं। दोनों समानरूप से सत्य और निर्वाणगामी हैं। इत्सिंग स्वयं हीनयान-वादी था। वह कहता है कि यह बताना कठिन है कि हीनयानान्तर्गत अट्ठारह वादों में से किसकी गणना महायान या हीनयान में की जाय। युआन-च्वांग (ह्वेनत्सांग) ऐसे भिक्षुओं का उल्लेख करता है, जो स्थविर-वादी होकर भी महायान के अनुयायी थे और विनय में पूर्ण थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ हीनयान के भिक्षु भी महायान-संवर का ग्रहण और पालन करते थे। महायान के विनय का प्राचीनतम रूप ज्ञात नहीं है। यह संभव है कि आदि में महायान-वाद के निजके विनय नहीं थे। पीछे से साधक के लिए ग्रन्थों की रचना की गई। इत्सिंग के अनुसार महायान की विशेषता केवल बोधि-सत्वों की पूजा में थी। महायान के अन्तर्गत भी हीनयान के समान अनेक वाद थे। इनमें पारमिता-यान या बोधिसत्व-यान या बुद्ध-यान, प्रज्ञा-यान (= ज्ञान-मार्ग) और भक्ति-मार्ग प्रधान हैं। आगे चलकर तन्त्र के प्रभाव से मन्त्र-यान, वज्र-यान, और तन्त्र-यान का विकास हुआ।

प्राय महायानवादी हीनयान की साधना को तुच्छ समझते हैं। कुछ का यहाँ तक कहना है कि श्रावकयान द्वारा निर्वाण नहीं मिल सकता। शान्तिदेव का कहना है कि श्रावक-यान की कथा का उपदेश नहीं करना चाहिये, न उसको सुने, न उसको पढ़ें; क्योंकि इससे

क्लेशों का अन्त न हो सकेगा। हम आगे चलकर महायान के दर्शन एवं साधना का विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रज्ञा-यान के अन्तर्गत दो दार्शनिक विचार-पद्धतियों का उदय हुआ—मध्यमक और विज्ञानवाद। मध्यमक-वादी मानते थे कि सब वस्तु स्वभाव-शून्य हैं और विज्ञानवादी बाह्य-वस्तु-जात को असत् और विज्ञान को सत् मानते थे और यह विश्वास रखते थे कि बोधिसत्व सहायता करते हैं। महायान-वादियों को प्राचीन निकाय मान्य है, पर हीनयान के अनुयायी महायान के ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते। महायान-वादियों का कहना है कि महायान नवीन नहीं है और हीनयान के आगम ग्रन्थ ही महायान की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। मध्यमक-कारिका के वृत्तिकार चन्द्रकीर्ति का कहना है कि हीनयान के ग्रन्थों में भी शून्यता की शिक्षा मिलती है। हीनयान के ग्रन्थों में महा-वस्तु में दश-भूमि और पारमिता का भी वर्णन है। महायान के ग्रन्थ गाथा और संस्कृत में हैं।

हीनयान के वैभाषिक-प्रस्थान के ग्रन्थ संस्कृत में हैं उनका विवरण "बौद्ध-संस्कृत-साहित्य के अध्ययन" के प्रकरण में देंगे।

लोकोत्तरवाद का पर्यवसान त्रिकायवाद में हुआ जो महायान की विशेषता है, इसलिये अब त्रिकायवाद का उल्लेख करेंगे।

त्रिकाय-वाद

पालि-निकाय में त्रिकाय-वाद नहीं है, किन्तु उसमें बुद्ध के तीन कायों में विशेष किया गया है :—चातुर्महाभौतिक-काय, मनोमय-काय और धर्म-काय। प्रथम काय पूतिकाय है। यह जरायुज-काय है। शाक्यमुनि ने माता की कुक्षि में इसी काय को धारण किया था। पालि में बुद्ध के निर्माण-काय का उल्लेख नहीं है। किन्तु चातुर्महाभौतिक-काय के विपक्ष में एक मनोमय-काय का भी उल्लेख है (संयुत्त पृ० २८२; दीघ, २, पृ० १०६)। सर्वास्ति-वाद की परिभाषा में बुद्ध में नैर्माणिकी और पारिणामिकी ऋद्धि थी। वह अपने सदृश अन्य-रूप निर्मित कर सकते थे और अपने काय का परिदापन भी कर सकते थे। यथा ब्रह्मा का काय अपर देवों के असदृश है, वह अभिनिर्मित शरीर से उनको दर्शन देते हैं (दीघ २, पृ० २१२; कोश, ३,पृ० २६६)। इसलिए अवतंसक में बुद्ध की तुलना ब्रह्मा से करते हैं। पालि-निकाय में रूपी देव को मनोमय कहा है (मज्झिम १, ४१०; विनय २, १८५) में कहा है कि कोलियपुत्त कालकर मनोमय-काय में उत्पन्न हुआ है। बाह्य-प्रत्यय के बिना मनस् से निष्पन्न, निर्वृत-काय मनोमय-काय है। विशुद्धि-मार्ग के अनुसार (पृ० ४०५) यह अधिष्ठान मन से निर्मित है। यह अरूपी का संज्ञामय-काय नहीं है। सर्वास्ति-वादी भी मनोमय-काय के देवों का रूपावचर मानता है। सौत्रान्तिक के मत से यह रूप और आरूप्य दोनों के हैं। अन्तराभव भी मनोमय कहलाता है, क्योंकि यह केवल मन से निर्मित है और शुक्र-शोणितादि किञ्चित्-बाह्य का उपादान न लेकर इसका भाव होता है। योगाचार के अनुसार—आठवीं भूमि में काय मनोमय होता है, इसमें मन का वेग होता है; यह मन की तरह शीघ्रगमन करता है और इसकी गति अप्रतिहत होती है। सब श्रावक मनोमय-काय धारण कर सकते हैं (योगशास्त्र, ८०)। मनो-

मय काय के १० प्रकार हैं। कुछ के अनुसार यह काय मनःस्वभाव है, दूसरों के अनुसार इस काय की उत्पत्ति इच्छानुसार होती है, पूर्वकाय का परिणाम मात्र होता है। अभिनव काय की उत्पत्ति नहीं होती।

बुद्ध का यथार्थ-काय रूप-काय नहीं है, जिसके धातु-गर्भ की पूजा उपासना करते हैं, किन्तु धर्म (=धर्म-विनय) यथार्थ-काय है। धर्म-काय प्रवचन-काय है। शाक्य-पुत्रीय-भिक्षु इसी धर्म-काय से उत्पन्न हुए हैं। "मैं भगवत् का औरस पुत्र हूँ, धर्म से उत्पन्न हूँ, धर्म का दायाद हूँ" (दीघ ३, पृ० ८४; इतिवुत्तक पृ० १०१)। दूसरा कारण यह है कि भगवान् धर्म-भूत हैं, ब्रह्म-भूत हैं, धर्म-काय भी हैं (दीघ ३, ८४; मज्झिम, ३, पृ० १९५)। इसी प्रकार कहते हैं प्रज्ञा-पारमिता धर्म-काय है, तथागत-काय है। जो प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करता है वह धर्म-काय का दर्शन करता है। प्रज्ञापारमितास्तोत्र में नागार्जुन कहते हैं—जो तुझे भाव से देखता है, वह तथागत को देखता है। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार के आरंभ में सुगतात्मज और धर्म-काय की भी वन्दना करते हैं (पृ० ३)।

स्थविर-वाद से महा-यान में आते-आते बुद्ध में पूर्ण अलौकिक-गुण आ जाते हैं। अब बुद्ध को केवल अलौकिक-गुण-व्यूह-सम्पत्ति से समन्वागत ही नहीं किया गया, पर उनका व्यक्तित्व ही नष्ट कर दिया गया। बुद्ध अजन्मा, प्रपञ्च-विमुक्त, अव्यय और आकाश प्रतिसम हो गये।

स्थविर-वादियों के अनुसार भगवान् बुद्ध लोकोत्तर थे। बुद्ध ने स्वयं कहा था कि मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ और सब सत्त्वों में अनुत्तर हूँ। एक बार द्रोण ब्राह्मण बुद्ध के पादों में सर्वाकार परिपूर्ण-चक्रों को देखकर चकित हुआ। उसने बुद्ध से पूछा कि आप देव हैं, यक्ष हैं, गन्धर्व हैं, क्या हैं? भगवान् ने कहा—मैं इनमें से कोई नहीं हूँ। द्रोण बोला—फिर क्या आप मनुष्य हैं? बुद्ध ने उत्तर दिया—मैं मनुष्य भी नहीं हूँ; मैं बुद्ध हूँ—जिससे देवोत्पत्ति होती है, जिससे यक्षत्व या गन्धर्वत्व की प्राप्ति होती है। सब आस्रवों का मैंने नाश किया है। हे ब्राह्मण! जिस प्रकार पुण्डरीक जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मैं लोक से उपलिप्त नहीं होता[1]। दीघ निकाय[2] के अनुसार बोधिसत्व की यह धर्मता है कि जब वह तुषितकाय से च्युत हो माता की कुक्षि में अवक्रान्त होते हैं, तब सब लोकों में अप्रमाण अवभास का प्रादुर्भाव होता है। यह अवभास देवताओं के तेज को भी अभिभूत कर देता है। लोकों के बीच जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य ऐसे महानुभावों की भी आभा नहीं पहुँचती, वहाँ भी अप्रमाण-अवभास का प्रादुर्भाव होता है। बोधिसत्त्व महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से और अस्सी अनुव्यंजनों से समन्वागत होते हैं[3]। एक स्थल पर[4] भगवान् आनन्द से कहते हैं कि दो काल में तथागत का छवि-वर्ण परिशुद्ध होता है:—

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय भाग २, चतुक्कनिपात, चक्कवग्ग, पृ० ३८।
२. भाग २, पृष्ठ १२, महापदान सुत्तन्त।
३. दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ १६।
४. दीघनिकाय, भाग ३, पृष्ठ १३४।

१. जिस रात्रि को भगवान् सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त करते हैं।

२. जिस रात्रि को भगवान् अनुपधि-शेष-निर्वाण में प्रवेश करते हैं।

पालि-निकाय के अनुसार जब बोधिसत्त्व ने गर्भावक्रान्ति की, तब मानुष और अमानुष परस्पर हिंसा का भाव नहीं रखते थे और सब सत्त्व हृष्ट और तुष्ट थे। भगवान् के यह सब अद्भुत धर्म त्रिपिटक में वर्णित हैं। इन सब अद्भुत-धर्मों से समन्वागत होते हुए भी स्थविरवादी बुद्ध को इसी अर्थ में लोकोत्तर मानते थे कि वह लोक को अभिभूत कर स्थित हैं, अर्थात् लोक से अनुपलिप्त होकर विहार करते हैं। जहाँ दूसरे बुद्ध के बताए हुए मार्ग का अनुसरण कर अर्हत् अवस्था को प्राप्त करते हैं और उनको मार्ग का अन्वेषण नहीं करना पड़ता वहां बुद्ध स्वयं अपने उद्योग से निर्वाण-मार्ग का उद्घाटन करते हैं। यही उनकी विशेषता है। पर स्थविरवादी मनुष्य-लोक में बुद्ध की स्थिति को स्वीकार करते थे। वे उनके जीवन की घटनाओं को सत्य मानते थे। इस पर उनका पूरा विश्वास था कि बुद्ध लोक में उत्पन्न हुए, लोक में ही उन्होंने सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति की और लोक में ही उन्होंने धर्म का उपदेश किया। स्थविर-वादी बुद्ध के व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए उनकी शिक्षा पर अधिक जोर देते थे। परिनिर्वाण के पूर्व स्वयं बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था[1]—हे आनन्द! तुममें से किसी का विचार यह हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत हो गया, अब हमारा कोई शास्ता नहीं है। पर ऐसा विचार उचित नहीं है। जिस धर्म और विनय का मैंने तुमको उपदेश किया है मेरे पीछे वह तुम्हारा शास्ता हो। बुद्ध ने यह भी कहा[2] है कि जो धर्म को देखता है वह मुझको देखता है और जो मुझको देखता है वह धर्म को देखता है। इसका यही अर्थ है कि जिसने धर्म का तत्त्व समझ लिया है, उसी ने वास्तव में बुद्ध का दर्शन किया है। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् यही धर्म शास्ता का कार्य करता है। बुद्ध का बुद्धत्व इसी में है कि, उन्होंने दुःख की अत्यन्त-निवृत्ति के लिए धर्म का उपदेश किया। बुद्ध केवल पथ-प्रदर्शक हैं, उनके बताये हुए धर्म की शरण में जाने से ही निर्वाण का अधिगम होता है। बुद्ध कहते हैं—"हे आनन्द! तुम अपने लिये स्वयं दीपक हो; धर्म की शरण में जाओ; किसी दूसरे का आश्रय न खोजो।" धर्म की प्रधानता को मानते हुए भी स्थविरवादी बुद्ध के व्यक्तित्व को स्वीकार करते थे, पर बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् श्रद्धालु-श्रावक बुद्ध को देवातिदेव मानने लगे और यह मानने लगे कि बुद्ध सहस्र-कोटि-कल्प से हैं और उनका आयु-प्रमाण अनन्त-कल्प का है। बुद्ध लोक के पिता और स्वयंभू हो गये, जो सदा गृध्रकूट पर्वत पर निवास

---

१. दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ १५४ महापरिनिब्बान-सुत्त।

२. धम्मं हि सो भिक्खवे भिक्खु पस्सति, धम्मं पस्सन्तो मं पस्सति 'ति—इतिवुत्तक, वग्ग ५, सुत्त ३, पृष्ठ ९१। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति—संयुत्त-निकाय, भाग ३, पृष्ठ १२०।

करते हैं[1], और जब धर्म का उपदेश करना चाहते हैं, तब भ्रूमध्य के ऊर्णाकोश से एक रश्मि प्रसृत करते हैं, जिससे अष्टादश-सहस्र-बुद्धक्षेत्र अवभासित होते हैं। बुद्धों की संख्या भी अनन्त हो गयी। महायान सूत्रों में इस प्रकार के विचार प्रायः पाये जाते हैं। सद्धर्म-पुण्डरीक वैपुल्य-सूत्रों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसमें तथागतायुःप्रमाण पर एक अध्याय है। इस अध्याय में भगवान्-बुद्ध कहते हैं कि सहस्र-कोटि-कल्प व्यतीत हुए, जिसका कि प्रमाण नहीं है, जब मैंने सम्यक्-ज्ञान प्राप्त किया, और मैं नित्य-धर्म का उपदेश करता हूँ[2]। भगवान् कहते हैं कि "मैं सत्त्वों की शिक्षा के लिए उपाय का निदर्शन करता हूँ और उनको निर्वाण भूमि का दर्शन कराता हूँ। मैं स्वयं निर्वाण में प्रवेश नहीं करता और निरन्तर धर्म का प्रकाश करता रहता हूँ। पर विमूढ़-चित्त-पुरुष मुझको नहीं देखते। यह समझ कर कि मेरा परिनिर्वाण हो गया है, वह मेरे धातु की विविध प्रकार से पूजा करते हैं, पर मुझको नहीं देखते। उनमें एक प्रकार की स्पृहा उत्पन्न होती है, जिससे उनका चित्त सरल हो जाता है। जब ऐसे सरल और मृदु सत्त्व शरीर का उत्सर्ग करते हैं, तब मैं श्रावक-संघ को एकत्र कर गृध्रकूट-पर्वत पर उनको अपना दर्शन कराता हूँ; और उनसे कहता हूँ, कि मेरा उस समय निर्वाण नहीं हुआ था; यह मेरा केवल उपाय-कौशल था; मैं जीवलोक में बार-बार आता हूँ[3]"।

---

१. एवेम हं लोकपिता स्वयंभूः चिकित्सकः सर्वप्रजान-नाथः।
विपरीत मूढांश्च विदित्व बालान् अनिर्वृतो निर्वृत दर्शयामि ॥२१॥

[सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२६]

२. अचिन्तिया कल्पसहस्रकोट्यो यासां प्रमाणं न कदाचि विद्यते।
प्राप्ता मया एष तदाग्रबोधिर्धर्मं च देशेम्यहु नित्यकालम् ॥१॥

[सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२३]

३. निर्वाणभूमिं चुपदर्शयामि विनयार्थसत्त्वान वदाम्युपायम्।
न चापि निर्वाम्यहु तस्मि काले इहैव चो धर्मु प्रकाशयामि ॥ ॥
तत्रापि चात्मानमधिष्ठहामि सर्वांश्च सत्त्वान तथैव चाहम्।
विपरीतबुद्धी च नरा विमूढाः तत्रैव तिष्ठन्तु न पश्यिषू माम् ॥४॥
परिनिर्वृतं दृष्ट्व ममात्मभावं धातूषु पूजां विविधां करोन्ति।
मां च अपश्यन्ति जनेन्ति तृष्णां ततोऽजुकं चित्त प्रभोति तेषाम् ॥५॥
ऋजू यदा ते मृदुमार्दवाश्च उत्सृष्टकामाश्च भवन्ति सत्त्वाः।
ततो अहं श्रावकसंघ कृत्वा आत्मान दर्शेम्यहु गृध्रकूटे ॥६॥
एवं च हं तेष वदामि पश्चात् इहैवनाहं तद आसि निर्वृतः।
उपायकौशल्य ममेति भिक्षवः पुनः पुनो भोम्यहु जीवलोके ॥७॥

[सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२३-३२४]

प्रज्ञापारमिता-सूत्र के भाष्य में नागार्जुन कहते हैं कि तथागत सदा धर्म का उपदेश करते रहते हैं, पर सत्त्व अपने पाप-कर्म के कारण उनके उपदेश को नहीं सुनते और न उनकी आभा को देखते हैं, जैसे बहरे वज्र के निनाद को नहीं सुनते और अन्धे सूर्य की ज्योति को नहीं देखते। ललित-विस्तर में एक स्थल पर आनन्द और बुद्ध का संवाद है। भगवान् आनन्द से कहते हैं कि—"भविष्य-काल में कुछ भिक्षु अभिमानी और उद्धत होंगे। वे बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि में विश्वास न करेंगे। वे कहेंगे कि यह किस प्रकार संभव है कि बोधिसत्त्व माता की कुक्षि से बाहर आते हुए गर्भमल से उपलिप्त नहीं हुए। वे नहीं जानते कि तथागत देवतुल्य हैं और हम मनुष्य-मात्र हैं, और उनके स्थान की पूर्ति करने में समर्थ नहीं हैं। उनको समझना चाहिये कि हमलोग भगवान् की इयत्ता या प्रमाण को नहीं जान सकते; वह अचिन्त्य है।" करण्डक-व्यूह में अवलोकितेश्वर के गुणों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में लिखा है कि आरम्भ में आदि-बुद्ध का उदय हुआ। इनको स्वयंभू और आदिनाथ भी कहा है। इन्होंने ध्यान द्वारा संसार की सृष्टि की। अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति आदि-बुद्ध से हुई और उन्होंने सृष्टि की रचना में आदि-बुद्ध की सहायता की। अवलोकितेश्वर की आँखों से सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि हुई, मस्तक से महेश्वर, स्कन्ध से ब्रह्मा, और हृदय से नारायण उत्पन्न हुए।

सुखावती-व्यूह में लिखा है कि यदि तथागत चाहें तो एक पिण्ड-पात कर कल्पशत-सहस्र तक और इससे भी अधिक काल तक रह सकते हैं, और तिस पर भी उनकी इन्द्रियाँ नष्ट न होंगी, उनका मुख विवर्ण न होगा; और उनके छविवर्ण में परिवर्तन न होगा। यह बुद्ध का लोकोत्तर भाव है[1]। सुखावती लोक में अमिताभ-तथागत निवास करते हैं, अमिताभ की प्रतिभा अनुपम है, उसका प्रमाण नहीं है। इसी कारण उनको 'अमिताभ' 'अमितप्रभ' आदि नाम से संकीर्तित करते हैं। यदि तथागत कल्प भर अमिताभ के कर्म का प्रभा से आरंभ कर वर्णन करें तो उनकी प्रभा का गुण-पर्यन्त अधिगत न कर सकें, क्योंकि अमिताभ की प्रभा-गुण-विभूति अप्रमेय, असंख्येय, अचिन्त्य, और अपर्यन्त है। अमिताभ का श्रावकसंघ भी अनन्त और अपर्यन्त है। अमिताभ की आयु अपरिमित है। इसीलिए इन्हें 'अमितायु' भी कहते हैं। साम्प्रत कल्पगणना के अनुसार इस लोक-धातु में अमितायु को सम्बोधि प्राप्त किए दश-कल्प व्यतीत हो चुके हैं। समाधिराज में लिखा है कि बुद्ध का ध्यान करते हुए श्रावक को किसी रूपकाय का ध्यान न करना चाहिये। क्योंकि बुद्ध का धर्म-शरीर है, बुद्ध की उत्पत्ति नहीं होती, वह बिना कारण के ही कार्य हैं, वह सबके आदिकारण हैं, उनका आरंभ नहीं है। सुवर्णप्रभाससूत्र में भी बतलाया है कि बुद्ध का जन्म नहीं होता। उनका सच्चा शरीर 'धर्म-काय' या धर्म-धातु है। इसीलिए सुखावतीव्यूह में बुद्ध को 'धर्म-स्वामी' और बुद्धचरित में

---

1. आकांक्षन्नानन्द तथागत एकपिण्डपातेन कल्पं वा तिष्ठेत् कल्पशतं वा कल्पसहस्रं वा कल्पशतसहस्रं वा यावत् कल्पकोटीनियुतशतसहस्रं वा ततो वोत्तरि तिष्ठेत् नच तथागतस्येन्द्रियाण्युपनश्येयु र्नमुखवर्णस्यान्यथात्वं भवेन्नापि च्छविवर्ण उपहन्येत।

[सुखावतीव्यूह, पृष्ठ ४]

'धर्म-राज' कहा है। महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र का कहना है कि बुद्ध ने निर्वाण में प्रवेश नहीं किया; उनका काय शाश्वत है।

स्थविरवादियों ने महायानियों के लोकोत्तरवाद का विरोध किया, जैसा कथावत्थु से स्पष्ट है। कथावत्थु के अठारहवें वर्ग में इसकी स्थापना की गयी है कि बुद्ध मनुष्य-लोक में थे और इस पूर्व-पक्ष का खण्डन किया गया है कि उनकी स्थिति मनुष्य-लोक में न थी। पूर्व-पक्ष का खण्डन करते हुए पिटक ग्रन्थों से बुद्ध-वचन उद्धृत कर यह दिखाया गया है कि बुद्ध के संवादों से ही यह सिद्ध है कि बुद्ध की स्थिति मनुष्यलोक में थी। बुद्ध लोक में उत्पन्न हुए थे, सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त कर उन्होंने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया था और उनका परि-निर्वाण हुआ था। इसी वर्ग में इस पूर्व-पक्ष का भी खण्डन किया गया है कि बुद्ध ने धर्म का उपदेश नहीं किया। स्थविर-वादी पूछता है कि, यदि बुद्ध ने धर्म का उपदेश नहीं किया तो फिर किसने किया। पूर्व-पक्ष इसका उत्तर देता है कि 'अभिनिर्मित' ने धर्म-देशना की,और यह अभिनिर्मित 'आनन्द' था। सिद्धान्त बताते हुए सूत्रों से उद्धरण दिये गये हैं, जिनसे मालूम होता है कि बुद्ध ने स्वयं शारिपुत्र से कहा था कि मैं संक्षेप में भी और विस्तार से भी धर्म का उपदेश करता हूँ; इसलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं धर्म-देशना की थी[1]।

यह हम ऊपर कह चुके हैं कि त्रिपिटक में ही बुद्ध के धर्म-काय की सूचना मिलती है। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि जो धर्म को देखता है वह मुझको देखता है और जो मुझको देखता है, वह धर्म को देखता है।

धर्म-काय—यह उन धर्मों का समुदाय है जिनके प्रतिलाभ से एक आश्रय-विशेष सर्व-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध कहलाता है। बुद्ध-कारकधर्म -क्षयज्ञान, अनुत्पादज्ञान,सम्यक्-दृष्टि हैं। इन ज्ञानों के परिवार अनास्रव पंच-स्कंध हैं। धर्म-काय अनास्रव धर्मों की सन्तति है या आश्रय-परिवृत्ति है। यह पञ्चभाग या पञ्चाङ्ग धर्म-काय कहला है। धर्म-संग्रह (पृ० २३) में इन्हें लोकोत्तर-स्कन्ध कहा है; महाव्युत्पत्ति में असमसमस्कंध है; इन्हें जिन-स्कन्ध भी कहते हैं। यह दीघ-निकाय (३,२२६; ४, २७६) के धम्मक्खन्ध हैं। यह इस प्रकार हैं— शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन। बुद्ध की शरण में जाने का अर्थ है, धर्म-काय की शरण में जाना; यह उनके रूपकाय की शरण में जाना नहीं है। भिक्षु की भिक्षुता, उसका संवरशील उसका धर्म-काय है। इसी प्रकार बुद्ध का बुद्धत्व, बुद्ध के अनास्रव-धर्म, उसके धर्म-काय हैं। दीघ-निकाय (३, ८४) में कहा है कि तथागत का यह धर्म-काय श्रेष्ठ-अधिवचन है। धर्म-काय ब्रह्म-काय है। यह धर्मभूत, ब्रह्मभूत भी है। भगवत् के फलसंपत् का लक्षण धर्म-काय है। फलसंपत् चतुर्विध है। धर्म-काय की परिनिष्पत्ति से इनकी

---

1. न वत्तब्बं बुद्धो भगवा मनुस्सलोके अट्ठासीति। आमन्ता–ननु भगवा लोके जातो लोके सम्बुद्धो लोकं अभिभुय्य विहरति अनुपलित्तो लोकेन, नो वत रे वत्तब्बे बुद्धो भगवा मनुस्स लोके अट्ठासीति। मनुस्सलोककथा।

प्राप्ति होती है। चार संपत्तियां ये हैं—ज्ञानसंपत्, प्रहाणसंपत्, प्रभावसंपत्, रूपकायसंपत्। प्रभावसंपत् बाह्य-विषय के निर्माण,परिणाम, और अधिष्ठानवशिता की संपत् है। अपूर्व-बाह्य-संपत् का उत्पादन निर्माण है। पत्थर का सोना बना देना आदि परिणाम है। किसी विषय की दीर्घ-काल तक अवस्थान कराने की सामर्थ्य अधिष्ठानवशिता है। प्रभावसंपत् के अन्तर्गत आयु के उत्सर्ग और अधिष्ठानवशिता की संपत् आवृत्त-गमन, आकाशगमन, सुदूर-क्षिप्र-गमन, अल्प में बहु का प्रवेश, विविध और स्वाभाविक आश्चर्य-धर्मों की संपत् भी है। यह अन्तिम भगवत् का सहज प्रभाव है। बुद्धों की यह धर्मता है कि उनके चलने पर निम्नस्थल समतल हो जाता है, जो ऊँचा है, वह नीचा हो जाता है, जो नीचा है वह ऊँचा हो जाता है। अन्धे दृष्टि का, बहरे श्रोत्र का, उन्मत्त स्मृति का, प्रतिलाभ करते हैं।

यह धर्मकाय अचिन्त्य है और सब तथागतों द्वारा समान-रूप से अधिकृत है। अष्ट-साहस्रिका-प्रज्ञापारमिता के अनुसार वास्तव में बुद्ध का यही शरीर है। रूपकाय सत्काय नहीं है। धर्मशरीर ही भूतार्थिक शरीर है[1]। आर्यशालिस्तम्बसूत्र के अनुसार धर्मशरीर अनुत्तर है। वज्रच्छेदिका का कहना है कि बुद्ध का ज्ञान धर्म द्वारा होता है, क्योंकि बुद्ध धर्मकाय हैं पर धर्मता अविज्ञेय है[2]। धर्म क्या है? आर्यशालिस्तम्बसूत्र के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद ही धर्म है। जो इस प्रतीत्यसमुत्पाद को यथावत् अविपरीत देखता है और जानता है कि यह अजात, अव्यु-पशम-स्वभाव है, वह धर्म को देखता है[3]। यह प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध के मध्यम-मार्ग का सार है। इसको भगवान् ने गम्भीर-नय कहा है। 'तत्त्वज्ञान' अधिगम धर्म के कारण ही बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। 'तत्त्वज्ञान' को 'धर्म' और 'प्रज्ञा' दोनों कहते हैं। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो बुद्ध-स्वभाव को 'धर्म' और 'प्रज्ञा' कहा गया है। अष्टसाहस्रिका में प्रज्ञा-

---

1. तथापि नाम तथागतनेत्रीचित्रीकारेण एतद्धि तथागतानां भूतार्थिकशरीरम्। तत्कस्य हेतोः? उक्तं ह्येतद्भगवता धर्मकाया बुद्धा भगवन्तः। मा खलु पुनरिमं भिक्षवः सत्कायं कायं मन्यध्वम्। धर्मकायपरिनिष्पत्तितो मा भिक्षवो द्रक्ष्यथ्येष च तथागतकायो भूतकोटि प्रभावितो द्रष्टव्यो यदुत प्रज्ञापारमिता। अपि नु खलु पुनर्भगवन्नितः प्रज्ञापारमितातो निर्जातानि तथागतशरीराणि पूजां लभन्ते।

[अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, पृष्ठ ९४]

2. धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायकाः।
धर्मता चाप्यविज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्॥

[वज्रच्छेदिका, पृ० ४३]

3. यदुक्तं भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति.........य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सततसमितं निर्जीवं यथावदविपरीतमजातमभूतमसंस्कृतं अप्रतिघमनालम्बनं शिवमभयमहार्यमव्युपशमस्वभावं पश्यति स धर्मं पश्यति। सोऽनुत्तरं धर्मशरीरं बुद्धं पश्यति।

[बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ३८६]

पारमिता को बुद्ध का धर्मकाय बताया है। प्रज्ञा को एक स्थान पर तथागतों की माता भी कहा है। यह धर्मकाय रूपकाय के असदृश सर्वप्रपञ्च-व्यतिरिक्त है। यह 'शुद्धकाय' है, क्योंकि यह प्रपञ्च या आवरण से रहित और प्रभास्वर है। इसको 'स्वभावकाय' भी कहा है[1]। 'क्सोमा' के अनुसार चार काय हैं और 'स्वभावकाय' धर्मकाय से भिन्न तथा अन्य भी अनुत्तर-शरीर है। अमृतकणिका का भी यही मत है कि धर्मकाय स्वाभाविक-काय से भिन्न है। तत्त्वज्ञान से ही निर्वाण का अधिगम होता है। इसलिए कहीं-कहीं धर्म-काय को 'समाधि-काय' भी कहा है। यह तत्त्वज्ञान या बोधि ही परमार्थ-सत्य है। संवृतिसत्य की दृष्टि से इसको शून्यता, तथता, भूत-कोटि और धर्मधातु कहते हैं[2]। सब पदार्थ निःस्वभाव अर्थात् शून्य हैं; न उनकी उत्पत्ति है और न निरोध। यही परमार्थ-सत्य है। नागार्जुन माध्यमिक-सूत्र में कहते हैं :—

अप्रतीत्यसमुत्पन्नो धर्मः कश्चिन्न विद्यते।
यस्मात्तस्मादशून्योऽहि धर्मः कश्चिन्न विद्यते॥

[प्रकरण २४, श्लोक–१६]

अर्थात् कोई ऐसा धर्म नहीं है जिसका उत्पाद हेतु-प्रत्यय-वश न हो। इसलिए अशून्य धर्म कोई नहीं है। सब धर्म शून्य हैं अर्थात् निःस्वभाव हैं, क्योंकि यदि भावों की उत्पत्ति स्वभाव से हो तो स्वभाव हेतु-प्रत्यय-निरपेक्ष होने के कारण न उत्पन्न होता है और न उसका उच्छेद होता है; यदि भावों की उत्पत्ति हेतु-प्रत्यय-वश होती है तो उनका स्वभाव नहीं होता। इसलिए स्वभाव की कल्पना में अहेतुकत्व का आगम होता है और इससे कार्य, कारण, कर्ता, करण, क्रिया, उत्पाद, निरोध और फल की बाधा होती है। पर जो स्वभाव-शून्यतावादी हैं उनके लिये किसी कार्य को बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि जो प्रतीत्य-समुत्पाद है वही शून्यता है अर्थात् स्वभाव से भावों का अनुत्पाद है। भगवान् कहते हैं—

यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो न तस्य उत्पादु स्वभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतो जानति सोऽप्रमत्तः॥

[मध्यमकवृत्ति, पृष्ठ ५०४]

अर्थात् जिसकी उत्पत्ति प्रत्ययवश है, वह अजात है, उसका उत्पाद स्वभाव से नहीं है। जो प्रत्यय के अधीन है, वह शून्य है। जो शून्यता को जानता है, वह प्रमाद नहीं करता।

---

१. सर्वं प्रपञ्चव्यतिरिक्तो भगवतः स्वाभाविको धर्मकायः स एव चाधिगमस्वभावो धर्मः।

[बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृष्ठ ३]

२. बोधिर्बुद्धत्वमेकानेकस्वभावविविक्तमनुत्पन्नानिरुद्धमनुच्छेदमशाश्वतं सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्तमाकाशप्रतिसमं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिता-शून्यता-तथता-भूत-कोटि-धर्मधात्वादिशब्देन संवृतिमुपादायाभिधीयते।

[बोधिचर्यावतारपञ्जिका, अ० ६, श्लो० ३८]

माध्यमिक-सूत्र के अट्ठारहवें प्रकरण में नागार्जुन कहते हैं कि शून्यता अर्थात् धर्मता चित्त और वाणी का विषय नहीं है। वह निर्वाण-सदृश अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है[१]। शून्यता एक प्रकार से सब दृष्टियों का निःसरण है। माध्यमिक की कोई प्रतिज्ञा नहीं है। जो शून्यता की दृष्टि रखते हैं, अर्थात् जिनका शून्यता में अभिनिवेश है, उनको बुद्ध ने असाध्य बताया है[२]।

अब शून्यतावादी के अनुसार बुद्धकाय की परीक्षा करनी चाहिये।

माध्यमिक-सूत्र में 'तथागतपरीक्षा' नाम का एक प्रकरण है। नागार्जुन कहते हैं कि निष्प्रपञ्च-तथागत के सम्बन्ध में कोई भी कल्पना सम्भव नहीं है। तथागत न शून्य है, न अशून्य, न उभय और न न-उभय। जो प्रपञ्चातीत-तथागत के सम्बन्ध में विविध-प्रकार के परिकल्प करते हैं, वे मूढ़ पुरुष तथागत को नहीं जानते अर्थात् तथागत की गुण-समृद्धि के अत्यन्त परोक्षवर्ती हैं[३]। जिस प्रकार से जन्मान्ध सूर्य को नहीं देखता, उसी प्रकार वह बुद्ध को नहीं देखते। नागार्जुन आगे चलकर कहते हैं कि तथागत का जो स्वभाव है वही स्वभाव इस जगत् का है, जैसे तथागत निःस्वभाव है, उसी प्रकार यह जगत् भी निःस्वभाव है[४]। प्रज्ञापारमिता में कहा है कि सब धर्म मायोपम हैं, सम्यक्-संबुद्ध भी मायोपम हैं, निर्वाण भी मायोपम है, और निर्वाण से भी विशिष्टतर यदि कोई धर्म हो तो वह भी मायोपम है। माया और निर्वाण अद्वय हैं। एक सूत्र[५] में कहा है कि तथागत अनास्रव-कुशल धर्म के प्रतिबिम्ब हैं, न तथता है, न तथागत, सब लोकों में बिम्ब ही दृश्यमान है। इन सबका आशय यही है कि शून्यतावादी के मत में बुद्ध निःस्वभाव हैं अर्थात् वस्तुनिबन्धन से मुक्त हैं और परमार्थ

---

१. निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचरे।
अनुत्पन्ना निरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता॥

[माध्यमिकवृत्ति, पृ० ३६४]

२. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥

[माध्यमिकसूत्र; १३।८]

३. प्रपञ्चयन्ति ये बुद्धं प्रपञ्चातीतमव्ययम्।
ते प्रपञ्चहताः सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥

[माध्यमिकसूत्र, २२।१५]

४. तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्।
तथागतो (निःस्वभावो) निःस्वभावमिदं जगत्॥

[माध्यमिकसूत्र, २२।१६]

५. तथागतो हि प्रतिबिम्बभूतः कुशलस्य धर्मस्य अनाश्रवस्य।
नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति बिम्बं च संदृश्यति सर्वलोके॥

[माध्यमिकवृत्ति, पृ० ४४९]

सत्य की दृष्टि से तथागत और जगत् का यही यथार्थ रूप है।

अब विज्ञानवाद के अनुसार बुद्धकाय की परीक्षा करनी है।

विज्ञानवादी का कहना है कि—शून्यता लक्षणों का अभाव है और तत्त्वतः यह एक अलक्षण 'वस्तु' है। क्योंकि शून्यता की संभावना के लिए दो बातों का मानना परमावश्यक है—१. उस आश्रय का अस्तित्व जो शून्य है और २. किसी वस्तु का अभाव जिसके कारण हम कह सकते हैं कि यह शून्य है, पर यदि इन दोनों का अस्तित्व न माना जाय तो शून्यता असंभव हो जायगी। शून्यता को विज्ञानवादी 'वस्तुमात्र' मानते हैं और यह वस्तुमात्र 'चित्त-विज्ञान' या 'आलय-विज्ञान' है; जिनमें सास्रव और अनास्रव बीज का संग्रह रहता है। सास्रव-बीज प्रवृत्ति-धर्मों का और अनास्रव-बीज निवृत्ति-धर्मों का हेतु है। जो कुछ है, वह चित्त का ही आकार है। जगत् चित्तमात्र है। चित्त के व्यतिरिक्त अन्य का अभ्युपगम विज्ञानवादी को नहीं मान्य है। इस चित्त के दो प्रभास हैं १. रागादि आभास २. श्रद्धादि आभास। चित्त से पृथक् धर्म और अधर्म नहीं है। सब कुछ मनोमय है। संसार और निर्वाण दोनों चित्त के धर्म हैं। परमार्थतः चित्त का स्वभाव प्रभास्वर और अद्वय है तथा वह आगन्तुक दोष से विनिर्मुक्त है। पर रागादि-मल से आवृत होने के कारण चित्त संक्लिष्ट हो जाता है, जिससे आगन्तुक-धर्मों का प्रवर्तन होता है और संसार की उत्पत्ति होती है। यही प्रवृत्ति धर्म या विज्ञान का संक्लेश संसार कहलाता है और विज्ञान का व्यवदान ही निर्वाण है। यही शून्यता है। विज्ञानवादी के अनुसार तथता, भूततथता, धर्म-काय, सत्यस्वभाव है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव शाश्वत और लक्षण रहित है। जब लक्षण-युक्त हो जाता है तब उसे माया कहते हैं और जब वह अलक्षण है, तब वह शून्य के समान है। बुद्धत्व ही धर्मकाय है। क्योंकि बुद्धत्व विज्ञान की परिशुद्धि है और यदि विज्ञान वास्तव में संक्लिष्ट होता तो वह शुद्ध न हो सकता, इस दृष्टि में बुद्धत्व प्रत्येक वस्तु का शाश्वत और अपरिवर्त्तित स्वभाव है। त्रिकाय-स्तव नाम का एक छोटा सा स्तोत्र-ग्रन्थ है। इसमें स्रग्धरा छन्द के सोलह श्लोक हैं। नालन्दा के किसी भिक्षु ने सन् १००० ईसवी (=विक्रम सं. १०५७) के लगभग इस स्तोत्र को चीनी अक्षरों में लिपिबद्ध किया था। फाहियान ने चीनी लिपि में उसे लिखा था। तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद पाया जाता है और पहले बारह श्लोकों का संस्कृत पाठ भी वहीं सुरक्षित है। धर्मकाय के सम्बन्ध का श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है। इस श्लोक में धर्मकाय की बड़ी सुन्दर व्याख्या की गयी है। कुछ लोगों का अनुमान है कि त्रिकाय-स्तव नागार्जुन का है।

यो नैको नाप्यनेको स्वपरहितमहासम्पदाधारभूतो
नैवाभावो न भावः खमिव समरसो निर्विभावस्वभावः।
निर्लेपं निर्विकारं शिवमसमसमं व्यापिनं निष्प्रपञ्चं
वन्दे प्रत्यात्मवेद्यं तमहमनुपमं धर्मकायं जिनानाम्॥

"धर्मकाय एक नहीं है, क्योंकि वह सबको व्याप्त करता है। और सबका आश्रय है; धर्मकाय अनेक भी नहीं है क्योंकि वह समस्त है। वह बुद्धत्व का आश्रय है। यह अरूप है।

न इसका भाव है, न अभाव। आकाश के समान यह एकरस है; इसका स्वभाव अव्यक्त है; यह निर्लेप, निर्विकार, अतुल्य, सर्वव्यापी और प्रपञ्चरहित है। यह स्वसंवेद्य है। बुद्धों का ऐसा धर्मकाय अनुपम है।"

तान्त्रिक ग्रन्थों में धर्मकाय को वैरोचन, वज्रसत्त्व या आदि-बुद्ध कहा है। यह धर्मकाय बुद्ध का सर्वश्रेष्ठ काय है।

रूप-काय या निर्माण-काय—भगवान् का जन्म लुम्बिनी वन में हुआ था। उनका जन्म जरायुज है औपपादुक नहीं। वह गर्भ में संप्रजन्य के साथ निवास करते हैं और संप्रजन्य के सहित गर्भ से बाहर आते हैं। औपपादुक योनि श्रेष्ठ समझी जाती है किन्तु बोधिसत्त्व जरायुज योनि पसन्द करते हैं। मरण पर औपपादुक अर्चि के सदृश विनष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर उपासक धातुगर्भ की पूजा न कर सकते। इसलिए बोधिसत्त्व ने जरायुज-योनि पसन्द की। महावस्तु के अनुसार यद्यपि बोधसत्त्व की गर्भावक्रान्ति होती है तथापि वह औपपादुक हैं।

सर्वास्तिवादियों के अनुसार रूपकाय सास्रव है किन्तु महासांघिक और सौत्रान्तिकों का मत है कि बुद्ध का रूपकाय अनास्रव है। महासांघिक निम्न सूत्र का प्रमाण देते हैं। "तथागत लोक में समृद्ध होते हैं, वह लोक को अभिभूत कर विहार करते हैं, वह लोक से उपलिप्त नहीं होते (संयुत्त, ३, १४०)। विभाषाकार इस मत का निराकरण करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि जन्मकाय सास्रव है। यदि अनास्रव होता तो अनुपमा में बुद्ध के प्रति कामराग उत्पन्न नहीं होता, अङ्गुलिमाल में द्वेष-भाव उत्पन्न नहीं होता इत्यादि। वह कहते हैं कि सूत्र के पहले भाग में जन्मकाय का उल्लेख है और जब सूत्र कहता है कि यह काय लौकिक धर्मों से उपलिप्त नहीं होता है तो उसकी अभिसंधि धर्मकाय से है। भगवान् का रूपकाय अविद्या-तृष्णा से निर्वृत्त है, अतः वह सास्रव है। किन्तु हम रूपकाय के लिए भी यह कह सकते हैं कि यह लाभादि ८ लौकिक धर्मों से प्रभावित नहीं है।

बुद्ध का रूप-काय निर्माण-काय या निर्मित-काय कहलाता है। सुवर्ण-प्रभास में कहा है कि भगवान् न कृत्रिम हैं और न उत्पन्न होते हैं। केवल सत्त्वों के परिपाक के लिए निर्मित-काय का दर्शन करते हैं। अस्थि और रुधिर-रहित काय में धातु (= अस्थि) की कहाँ सम्भावना है? भगवान् में सर्षपमात्र भी धातु नहीं है। केवल सत्त्वों का हित करने के लिए वह उपाय-कौशल द्वारा धातु का निर्माण करते हैं। वैतुल्यकों का यह विचार था कि बुद्ध संसार में जन्म नहीं लेते, वह सदा तुषित लोक में निवास करते हैं पर संसार के हित के लिए निर्मित रूप-मात्र लोक में भेजते हैं। सद्धर्मपुण्डरीक में एक स्थल पर तथागत-मैत्रेय का संवाद है, जिसमें मैत्रेय पूछते हैं कि इन असंख्य-बोधिसत्त्वों का जो पृथ्वी-विवर से निकले हैं, समुद्गम कहाँ से हुआ। उस समय जो सम्यक्-सम्बुद्ध अन्य असंख्य लोक-धातुओं से आए हुए थे, और शाक्यमुनि तथागत के निर्मित थे, और अन्य लोक-धातुओं में धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यमुनि के चारों ओर पर्यङ्क-बद्ध हो आसनोपविष्ट हुए। वहाँ अन्य लोक-धातु के तथागतों को शाक्य-

मुनि तथागत का निर्मित कहा है[1] अर्थात् वह उनकी लीला या माया-मात्र है। कथावत्थु में भी इस मत का उल्लेख पाया जाता है। दिव्यावदान में हम 'बुद्ध-निर्माण' और निर्मित का प्रयोग पाते हैं। प्रातिहार्य-सूत्रावदान में यह कथा वर्णित है कि एक समय भगवान् राजगृह में विहार करते थे। उस समय पूरण-कश्यप आदि छः तीर्थिक राजगृह में एकत्र हुए और कहने लगे कि जब से श्रमण गौतम का लोक में उत्पाद हुआ है तब से हम लोगों का लाभ-सत्कार सर्वथा समुच्छिन्न हो गया है। हम लोग ऋद्धिमान् और ज्ञानवादी हैं, श्रमण-गौतम अपने को ऐसा समझते हैं। उनको चाहिये कि हमारे साथ ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखलावें, जितने ऋद्धिप्रातिहार्य वह दिखलायेंगे उसके दुगुने हम दिखलायेंगे। भगवान् ने विचारा कि अतीत बुद्धों ने किस स्थान पर प्राणियों के हित के लिए महाप्रातिहार्य दिखलाया था। उनको ज्ञात हुआ कि श्रावस्ती में। तब वह भिक्षु-संघ के साथ श्रावस्ती गए। तीर्थिकों ने राजा प्रसेनजित् से प्रार्थना की कि आप श्रमण-गौतम से प्रातिहार्य दिखलाने को कहें। राजा ने बुद्ध से निवेदन किया। बुद्ध ने कहा—मेरी तो शिक्षा यह है कि कल्याण को छिपाओ और पाप को प्रकट करो। राजा ने कहा कि आप ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखलावें और तीर्थिकों की निर्भर्त्सना करें। बुद्ध ने प्रसेनजित् से कहा कि—आज से सातवें दिन तथागत सबके समक्ष महाप्रातिहार्य दिखलायेंगे। जेतवन में एक मण्डप बनाया गया और तीर्थिकों को सूचना दी गयी। सातवें दिन तीर्थिक एकत्र हुए। भगवान् मण्डप में आये। भगवान् के काय से रश्मियाँ निकलीं और उन्होंने समस्त मण्डप को सुवर्ण वर्ण की कान्ति से अवभासित किया। भगवान् ने अनेक-प्रातिहार्य दिखलाकर महाप्रातिहार्य दिखलाया। ब्रह्मादि देवता भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् के दक्षिण ओर और शक्रादि देवता बाईं ओर बैठ गये। नन्द, उपनन्द, नाग-राजाओं ने शकट-चक्र के परिमाण का सहस्र-दल सुवर्ण-कमल निर्मित किया। भगवान् पद्मकर्णिका में पर्यङ्क-बद्ध हो बैठ गये और पद्म के ऊपर दूसरा पद्म निर्मित किया। उस पर भी भगवान् पर्यङ्क-बद्ध हो बैठे दिखाई पड़े। इस प्रकार भगवान् ने बुद्ध-पिंडी अकनिष्ठ-भवन-पर्यन्त निर्मित की। कुछ बुद्ध-निर्माण शय्यासीन थे, कुछ खड़े थे, कुछ प्रातिहार्य करते थे और कुछ प्रश्न पूछते थे। राजा ने तीर्थिकों से कहा कि तुम भी ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखलाओ। पर वे चुप रह गए और एक दूसरे से कहने लगे कि तुम उठो, तुम उठो; पर कोई भी नहीं उठा। पूरण कश्यप को इतना दुःख हुआ कि वह गले में बालुकाघट बाँधकर शीत-पुष्करिणी में कूद पड़ा और मर गया। इस कथा से ज्ञात होता है कि बुद्ध प्रातिहार्य द्वारा अनेक-बुद्धों की सृष्टि कर लेते थे। इनको 'बुद्ध-निर्माण' कहा है। तथागत की यह धर्मता है कि महा-प्रातिहार्य करने के पश्चात् वह अपनी माता माया को अभिधर्म का उपदेश करने के लिए स्वर्गलोक को जाते हैं। उनको प्रतिदिन भिक्षा के लिए मर्त्यलोक

---

१. तेन खलु पुनः समयेन ये ते तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः अन्येभ्यो लोकधातु कोटीनयुतशतसहस्रेभ्योऽभ्यागता भगवतः शाक्यमुनेस्तथागतस्य निर्मिता येऽन्येषु लोकधातुषु सत्त्वानां धर्मं देशयन्ति स्म।

[सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३०७]

में जाना पड़ता था। इसलिए अपनी अनुपस्थिति में शिक्षा देने के लिए उन्होंने अपना प्रतिरूप निर्मित किया था। वर्षा में भगवान् स्वर्ग में रहे। जब वह उतरनेवाले थे तब शक्र ने विश्वकर्मा से त्रिपद् सोपान बनवाया जिसका अधोपाद् सांकाश्य-नगर के समीप रक्खा गया। भगवान् का सांकाश्य के समीप स्वर्गलोक से अवतरण हुआ। यहाँ सब बुद्ध स्वर्ग से उतरे हैं। बुद्ध अनेक प्रकार का रूप सर्वत्र धारण कर सकते हैं। इसलिए निर्माण-काय को 'सर्वत्रग' कहा है। त्रिकाय-स्तव में कहा है कि सत्त्वों के परिपाक के लिए बुद्ध अनेक-रूप धारण करते हैं। विज्ञान-वादियों के अनुसार बुद्ध के अनेक निर्मित-रूप ही निर्माण-काय नहीं हैं किन्तु समस्त जगत् बुद्ध का निर्माण-काय कहा जा सकता है। शून्य और प्रकृति-प्रभास्वर विज्ञान धर्म-काय है। निर्माण-काय इस धर्म-काय के असत्-रूप हैं। जब विज्ञान वासना से संक्लिष्ट होता है तब वह रूपलोक और कामलोक का निर्माण करता है।

सम्भोग-काय—धर्मकाय और निर्माण काय के अतिरिक्त एक और काय की भी कल्पना की गयी है,वह है 'सम्भोग-काय' इसे 'विपाक-काय' भी कहते हैं। स्थविरवादियों के ग्रन्थों में सम्भोग-काय की कोई सूचना नहीं मिलती। वैसिलीफ का कहना है कि सौत्रान्तिक धर्म-काय और सम्भोग-काय दोनों को मानते थे। सम्भोग-काय वह काय है जिसको बुद्ध दूसरों के कल्याण के लिये बोधिसत्त्व के रूप में अपने पुण्य-संभार के फल-स्वरूप तब तक धारण करते हैं जब तक निर्वाण में प्रवेश नहीं करते। महायान ग्रन्थों में हम बार-बार इस विचार का उल्लेख पाते हैं कि बुद्धत्व ज्ञान-संभार और पुण्य-संभार का फल है। महायान-ग्रन्थों में ऐसे बुद्धों की सूचना मिलती है जो शून्यता में प्रवेश नहीं करते, जो दूसरों का कल्याण चाहते हैं और जो सबको सुखी करने के लिए ही बुद्धत्व की आकांक्षा करते हैं। वह एक उत्कृष्ट प्रणिधान की रचना करते हैं जो प्रणिधान अन्त में सफल होता है। वह फल-स्वरूप एक बुद्ध-क्षेत्र के अधिकारी हो जाते हैं जो नाना-प्रकार की प्रचुर दिव्य-सम्पत् से समन्वागत होता है। उस बुद्ध-क्षेत्र में अपने पार्षदों के साथ वह सुशोभित होते हैं। सुखावती-व्यूह में वर्णित है कि धर्माकार-भिक्षु ने ऐसे ही प्राणिधान का अनुष्ठान किया था और सुखावती-लोक उनका बुद्ध-क्षेत्र हुआ। यहां अमिताभ नाम के बुद्ध निवास करते हैं। भगवान् के मुख से धर्माकार-भिक्षु की प्रणिधान-सम्पत्ति को सुनकर आनन्द बोले—क्या धर्माकार-भिक्षु सम्यक्-संबोधि प्राप्त कर परिनिर्वाण में प्रवेश कर गये अथवा अभी संबोधि को प्राप्त नहीं हुए अथवा अभी वर्तमान हैं और धर्म-देशना करते हैं? भगवान् बोले—वह न अतीत और न अनागत-बुद्ध हैं। वह इस समय वर्तमान हैं। सुखावती लोकधातु में अमिताभ नाम के तथागत धर्म-देशना करते हैं। उनके बुद्ध-क्षेत्र की सम्पत्ति अनन्त है। उसकी प्रतिभा अमित है, उसकी इयत्ता का प्रमाण नहीं है। अनेक बोधिसत्त्व अमिताभ का दर्शन करने, उनसे परिप्रश्न करने तथा वहां के बोधिसत्त्वगण और बुद्ध-क्षेत्र के गुणालङ्कार-व्यूह को देखने सुखावती जाते हैं। बुद्ध अपनी पुण्य-राशि से यहां शोभित हैं। अमिताभ के पार्षद अवलोकितेश्वर और महास्थाम-प्राप्त हैं। अमिताभ के नाम-श्रवण से ही जिनको चित्त-प्रसाद उत्पन्न होता है, जो श्रद्धावान् हैं, जिनमें संशय और विचिकित्सा नहीं है। जो अमिताभ का नाम-कीर्तन करते हैं वह सुखावती में जन्म लेते

हैं। अमिताभ बुद्ध का सम्भोग-काय है। यह सुकृत का फल है जैसा त्रिकाय-स्तव में कहा है:—

लोकातीतामचिन्त्यां सुकृतशतफलामात्मनो यो विभूतिं
पर्षन्मध्ये विचित्रां प्रथयति महतीं धीमतीं प्रीति-हेतोः।
बुद्धानां सर्वलोक-प्रसृतमविरतोदारसद्धर्मघोषं
वन्दे सम्भोगकायं तमहमिह महाधर्मराज्यप्रतिष्ठम् ॥

भगवान् इस काय के द्वारा अपनी विभूति को प्रकट करते हैं। धर्मकाय के असदृश यह काय रूपवान् है पर यह रूप अपार्थिव है। चन्द्रकीर्ति सम्भोग-काय के लिये 'रूपकाय' का प्रयोग करते हैं और उसकी तुलना धर्मकाय से करते हैं। मध्यमकावतार की टीका में वह कहते हैं[1] कि ज्ञान-संभार अर्थात् ध्यान और प्रज्ञा से धर्मकाय होता है; जिसका लक्षण 'अनुत्पाद' है और पुण्य-संभार रूपकाय का हेतु है। इस 'रूपकाय' को 'नाना-रूप-वाला' कहा है क्योंकि संभोग-काय अपने को अनेक रूपों में (निर्माण-काय) प्रकट करने की शक्ति रखता है। बोधिचर्यावतार [पृ० ३२३] में संभोग-काय को 'लोकोत्तर-काय' कहा है।

चीन के बौद्ध-साहित्य में भी हम त्रिकाय का उल्लेख पाते हैं। इस साहित्य के अनुसार 'त्रिकाय' बुद्ध के इन तीन रूपों का भी सूचक है :—

१. शाक्यमुनि (मानुषीबुद्ध), जिनका इस लोक में उत्पाद हुआ। यह कामधातु में निवास करते हैं। यही निर्माणकाय है।

२. लोचन, यह ध्यानी बोधिसत्त्व हैं। यह रूपधातु में निवास करते हैं। यह संभोग-काय है।

३. वैरोचन (या ध्यानी-बुद्ध), यह धर्मकाय है। यह अरूप-धातु में निवास करते हैं।

ध्यानी-बुद्ध की स्थिति से वह चतुर्थ बुद्ध-क्षेत्र का आधिपत्य करते हैं इस बुद्ध-क्षेत्रमें सब सत्त्व शान्ति और प्रकाश की शाश्वत अवस्था में रहते हैं। ध्यानी-बोधिसत्त्व की स्थिति से वह तृतीय बुद्ध-क्षेत्र के अधिकारी हैं, जहाँ भगवान् का धर्म सहज ही स्वीकृत होता है और जहाँ सत्त्व इस धर्म के अनुसार अनायास ही पूर्णरूपेण आचरण करते हैं। मानुषी-बुद्ध की स्थिति से बुद्ध द्वितीय और प्रथम क्षेत्र के अधिकारी हैं। द्वितीय-क्षेत्र में अकुशल नहीं हैं, यहाँ सब सत्त्व श्रावक और अनागामिन् की अवस्था को प्राप्त होते हैं। प्रथम-क्षेत्र में शुभ और अशुभ, कुशल और अकुशल दोनों पाये जाते हैं[2]।

---

१. तत्र यः पुण्यसंभारः स भगवतां सम्यक्संबुद्धानां शतपुण्यलक्षणवतोऽद्भुताचिन्त्यस्य नानारूपस्य रूपकायस्य हेतुः, धर्मात्मकस्य कायस्य अनुत्पादलक्षणस्य ज्ञानसंभारो हेतुः [मध्यमावतार टीका, पृ० ६२–६३]।

२. "हैण्डबुक् आफ् चाइनिज् बुद्धिज्म" बाइ-अर्नेस्ट जे. एरिटेल । पृ० १७८ । पृ० ३ ।

संक्षेप में यदि कहा जाय तो बुद्धत्व की दृष्टि से त्रिकाय की व्याख्या इस प्रकार होगी। बुद्ध का स्वभाव, बोधि या प्रज्ञा-पारमिता या धर्म है। यही परमार्थ-सत्य है। इस ज्ञान-संभार के लाभ से निर्वाण का अधिगम होता है। इसीलिए धर्म-काय निर्वाण-स्थित या निर्वाण-सदृश समाधि की अवस्था में स्थित बुद्ध हैं। बुद्ध जब तक निर्वाण में प्रवेश नहीं करते तब तक लोक-कल्याण के लिये वह पुण्य-संभार के फल-स्वरूप अपना दिव्य-रूप सुखावती या तुषित-लोक में बोधिसत्त्वों को दिखलाते हैं। यह संभोग-काय है। मानुषी-बुद्ध इनके निर्माण-काय हैं जो समय-समय पर संसार में धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो धर्म-काय शून्यता है या अलक्षण-विज्ञान है। संभोग-काय धर्मकाय का सत्, चित्, आनन्द या करुणा के रूप में विकास मात्र है। यही चित् जब दूषित होकर पृथग्-जन के रूप में विकसित होता है तब वह निर्माण-काय कहलाता है।

त्रिकाय की कल्पना हिन्दू-धर्म में नहीं पायी जाती। पर यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो विदित होगा कि वेदान्त का परब्रह्म, विष्णु और विष्णु के मानुषी अवतार (जैसे राम, कृष्ण) क्रमशः धर्म-काय संभोग-काय और निर्माण-काय के समान हैं। जिस प्रकार बौद्ध-ग्रन्थों में धर्म-काय को निर्लेप, निर्विकार, अतुल्य, सर्वव्यापी और प्रपंच-रहित कहा है उसी प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म को अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, शान्त, शिव, प्रपञ्चोपशम, निर्गुण, निष्क्रिय, सूक्ष्म, निर्विकल्प, और निरञ्जन कहा है[1]। दोनों मन और वाणी के विषय नहीं हैं और दोनों के स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता। जिस प्रकार विष्णु करुणा के रूप हैं उसी प्रकार बुद्ध भी करुणा के रूप हैं। पुराणों में तथा श्री रामानुजाचार्य-रचित श्रीवैकुण्ठ-गद्य में विष्णु-लोक का जो वर्णन हमको मिलता है उसकी तुलना सुखावती-लोक के वर्णन से करने पर कई बातों में समानता पायी जाती है। दोनों लोक दिव्य हैं और प्रचुर दिव्य-संपत्ति से समन्वागत हैं। दोनों लोकों में सब वस्तु इच्छामात्र से ही सुलभ हैं। दोनों का तेज अनन्त है। विष्णु और अमिताभ परिजनों से परिवृत हैं। विष्णु के शेष, शेषाशनादि पार्षद हैं। ये नित्य-मुक्त हैं। लोग दोनों का स्तुति-पाठ करते हैं। दोनों लोकों में आए हुए जीव सुखपद को

1. अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। [माण्डूक्योपनिषत्]

अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम्।
निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनो वाचामगोचरम्॥ [अध्यात्मोपनिषत्]

निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने।
अद्वितीये परे तत्वे व्योमवत् कल्पना कुतः॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ [आत्मोपनिषत्]

माध्यमिक सिद्धान्त से इसकी तुलना कीजिये।

प्राप्त करते हैं और वहाँ से फिर नहीं लौटते[१]। अनन्य-भक्ति-द्वारा ही दोनों लोकों की प्राप्ति होती है[२]। दोनों विशुद्ध-सत्त्व से निर्मित हैं। इसीलिए दोनों ज्ञान और आनन्द के वर्धक हैं। दोनों अत्यद्भुत वस्तु हैं। विष्णु और अमिताभ की प्रभा से समस्त जगत् उद्भासित हो जाता है, जिस प्रकार बौद्धागम में आदिबुद्ध शब्द का व्यवहार पाया जाता है उसी प्रकार त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् में 'आदि-नारायण' का प्रयोग मिलता है। जिस प्रकार मानुषी-बुद्ध संभोग-काय के निर्माण-काय हैं, उसी प्रकार राम, कृष्ण आदि विष्णु के अवतार हैं। यह धर्म की स्थापना के लिए संसार में समय-समय पर आते हैं।

ईसाई-धर्म में भी ईसा के व्यक्तित्व के बारे में कुछ इसी प्रकार के विचार पाये जाते हैं। ईसाईयों में भी कुछ मत ऐसे प्रकट हुए, जो यह शिक्षा देते थे कि ईसा का पार्थिव-शरीर न था, वह माता के गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे, देखने में ही वह मनुष्य मालूम होते थे, यह उनका माया-निर्मित शरीर था। वे उनके लोक में उत्पाद को तथा उनकी मृत्यु को एक सत्य-घटना नहीं मानते थे। इनमें से कुछ ऐसे भी थे जो ईसा के शरीर का अस्तित्व तो मानते थे पर उसको पार्थिव न मानकर दिव्य मानते थे और उनका यह विश्वास था कि ईसा सुख और दुःख के अधीन न थे। इस प्रकार के विचारों को 'डोसेटिज्म' कहते हैं।

पारसियों के अवेस्ता में जिन चार स्वर्गों का उल्लेख मिलता है उनमें से एक का नाम 'अनन्त प्रभा वाला' है। इससे इलियट महाशय अनुमान करते हैं कि अमिताभ की पूजा बाहर से भारत में आयी[३]। जैनियों का सत्पुर भी सुखावती-लोक से मिलता-जुलता है[४]।

---

१. तस्मिन् बन्धविनिर्मुक्ता, प्राप्यन्ते सुसुखं पदम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तस्मात् मोक्ष उदाहृतः ॥
[पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, २६ अध्याय]

२. एकेन ह्यनन्येन तथा भक्त्या त्वनन्यया।
तद्गम्यं शाश्वतं दिव्यं प्रपद्ये वै सनातनम् ॥ [३० अध्याय]

३. इलियट : हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भा २, पृ० २८–२६।

४. उपमितभवप्रपञ्चा कथा, पृष्ठ ६७७ आदि।

सप्तम अध्याय

बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का अर्वाचीन-अध्ययन

महायान के ग्रन्थ गाथा और संस्कृत में हैं। महायान के ग्रन्थों की भाषा संस्कृत होने के कारण प्रायः लोग आजकल महायान को संस्कृत-बौद्ध-धर्म कहते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि हीनयान के अन्तर्गत सर्वास्तिवाद के आगम-ग्रन्थ भी संस्कृत में हैं। हम महायान के ग्रन्थों का विवरण उसके प्रधान आचार्यों के परिचय के साथ देंगे, यहाँ हीनयान के संस्कृत ग्रथों का थोड़ा परिचय देना आवश्यक है।

पालि-निकाय का अध्ययन यूरोप में अट्ठारहवीं शताब्दी में ही आरंभ हो गया था पर बौद्ध-धर्म के संस्कृत-साहित्य से यूरोपीय विद्वान् अपरिचित थे। सन् १८१६ ई० में जब नेपाल-युद्ध का अन्त हुआ और अंग्रेजों से नेपाल-दरबार की मैत्री स्थापित हुई तब से सिगौली के सुलहनामे के अनुसार काठमांडू में अंग्रेज-रेजिडेंट रहने लगे। जब पहले पहल रेजिडेंसी कायम हुई तब ब्रायन् हाजसन् रेजिडेंट के सहायक नियुक्त हुए। यह बड़े विद्याव्यसनी थे। रेजिडेंसी में अमृतानन्द नाम के एक बौद्ध-पण्डित मुन्शी का काम करते थे। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि नेपाल में इस समय भी बौद्धधर्म जीवित था। जब मुसलमानों के आक्रमण और अत्याचारों के कारण बौद्धधर्म भारत से लुप्त हो गया तब बौद्ध-भिक्षुओं को नेपाल और तिब्बत में ही शरण मिली। पहाड़ी-प्रदेश होने के कारण नेपाल मुसलमानों के आक्रमण से भी सुरक्षित रहा। अमृतानन्द एक अच्छे विद्वान् थे, इन्होंने कई संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की थी। बुद्ध-चरित की जो पोथी उस समय नेपाल में प्राप्य थी, वह अधूरी थी। अमृतानन्द ने इस कमी को पूरा किया और चार सर्ग अपने रचे जोड़ दिए। हाजसन् का ध्यान बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट हुआ और अमृतानन्द की सहायता से वह हस्तलिखित पोथियों का संग्रह करने लगे। हाजसन् का संग्रह बंगाल की एशिआटिक सोसायटी, पेरिस के बिब्लिओथेक नाश्नाल और इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय में बँट गया। बर्नूफ़ ने पेरिस के ग्रन्थों के आधार पर बौद्ध-धर्म का इतिहास फ्रेंच-भाषा में लिखा और सद्धर्मपुण्डरीक का अनुवाद किया।

इधर नेपाल के राजमंत्री राणा जंगबहादुर ने एक बौद्ध-विहार पर कब्जा कर उसके ग्रन्थ सड़क पर फेंक दिये थे। रेजिडेंसी के डाक्टर राइट ने इनको मांग लिया और केम्ब्रिज की यूनिवर्सिटी को दान दे दिया। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी को हाजसन् का जो संग्रह मिला था उसकी सूची डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने तैयार की, जो १८८२ में नेपालीज़् बुद्धिस्ट लिटरेचर के नाम से प्रकाशित हुई। केम्ब्रिज के संग्रह का सूची-पत्र प्रोफेसर सी० सी० बेंडल

ने सन् १८८३ में प्रकाशित किया। इन सूचीपत्रों के प्रकाशित होने से महायान-धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तथा उनके विकास के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत सी उपयोगी बातें मालूम हुईं और विद्वानों का ध्यान बौद्ध-संस्कृत-साहित्य की ओर गया। राजेन्द्रलाल मित्र ने ललित-विस्तर और अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिताग्रन्थों को 'बिब्लिओथिका इण्डिका' में प्रकाशित किया और बेंडल महाशय ने 'शिक्षा-समुच्चय' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। फ्रांसीसी विद्वान् सेनार्ट ने महावस्तु-अवदान तीन खण्डों में और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने स्वयंभू-पुराण प्रकाशित किया। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में बेंडल सन् १८८४ में नेपाल गये। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने १८९७ में नेपाल की यात्रा की; सिलवाँ लेवी भी नेपाल गये और असंग-रचित सूत्रालंकार की एक प्रति उनके हाथ लगी, जिसको फ्रेंच अनुवाद के साथ उन्होंने प्रकाशित किया। सन् १८९८-९९ में बेंडल के साथ हरप्रसाद शास्त्री जी फिर नेपाल गये और इस समय शास्त्री जी ने दरबार के पुस्तकालय की पोथियों का सूचीपत्र तैयार किया जो १९०५ में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा भाग १९१५ में प्रकाशित हुआ। बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी में जो बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का संग्रह सन् १८९७ के बाद से हुआ था उसका सूचीपत्र शास्त्री जी ने १९१६ में प्रकाशित किया। शास्त्रीजी का ख्याल था कि तिब्बत और चीन के पूर्व-भाग में संस्कृत के अनेक ग्रन्थ खोजने से मिल सकते हैं। इधर मध्यएशिया में तुरफ़ान, काशगर, खुतन, तोखारा, और कूचा में, खोज में बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ तथा लेख और चित्र मिले हैं। युआन-च्वांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी में इस प्रदेश में बौद्धधर्म का प्रचुरता से प्रसार था। यारकन्द और खुतन में महायान-धर्म और उत्तरी-भाग में सर्वास्तिवाद प्रचलित था। लेफ्टिनेंट बावर को सन् १८९० में भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन पोथी मिली थी। डाक्टर होअर्नले ने इस पोथी को पढ़ा। वह गुप्त-लेख में लिखी हुई थी और इसका समय पाँचवीं शताब्दी के लगभग था। इस अन्वेषण का फल यह हुआ कि काश्मीर, लद्दाख और काशगर के पोलिटिकल एजेंटों को ब्रिटिश गवर्नमेंट ने पुरानी पोथियों की खोज का आदेश किया। सन् १८९२ में दुत्रुइल-द-रीन[१] ने खुतन में तीन पोथियाँ पायीं। इनमें एक ग्रन्थ खरोष्ठी लिपि में है। यह पालि-धम्मपद का प्राकृत-रूपान्तर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राकृत में भी बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थ लिखे जाते थे। सर आरेल स्टाइन ने खुतन के चारों ओर सन् १९०१ में खोज करना आरम्भ किया। स्टाइन की देखा देखी जर्मनी के विद्वानों ने सन् १९०२ में ग्रुन वेंडल और हुथ को तुरफान भेजा। पिशेल के उद्योग से जर्मनी में खोज की एक कमेटी बनायी गयी और इस कमेटी की ओर से सन् १९०४ और १९०७ में ल कौक[२] और ग्रुनवेडल की अध्यक्षता में तुर्किस्तान को मिशन भेजे गये। इन लोगों ने कूचा और तुरफ़ान का कोना कोना ढूँढ़ डाला। सन् १९०६-१९०८ में स्टाइन ने तुनहुआंग में पुस्तकों का एक बहुत बड़ा ढेर पाया।

१. Dutrevil de Rheidns.

२. Le Coq.

इस खोज से कई नयी भाषाओं तथा लिपियों के अस्तित्व का पता चला है। मंगोल, तोखारी, इत्यादि भाषाओं में बौद्ध-ग्रन्थों के अनुवाद मिले हैं, सबसे बड़ी बात यह मालूम हुई है कि संस्कृत में भी एक निकाय था। इस निकाय के कुछ अंश ही प्राप्त हुए हैं। यह निकाय सर्वास्तिवाद का निकाय था। उदानवर्ग, एकोत्तरागम, और मध्यमागम के अंश प्राप्त हुए हैं। जो संग्रह इन खोजों से प्राप्त हुआ है उसका अध्ययन किया जा रहा है। अनुमान किया जाता है कि कई वर्षों के निरन्तर परिश्रम के उपरान्त ही प्राप्त-ग्रन्थों का पूरा विवरण प्रकाशित हो सकेगा। अभी तक इस निकाय के विनय और धर्मग्रन्थों के अंश ही मिले हैं।

यहाँ सर्वास्तिवाद का संक्षेप में विवरण देना आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है। बौद्ध-धर्म के अट्ठारह निकायों में सर्वास्तिवाद की भी गणना है। एक समय इसका सबसे अधिक प्रसार और प्रभाव था। जैसा नाम से ही स्पष्ट है सर्वास्तिवादियों के मत में बाह्य वस्तुजात और आध्यात्मिक वस्तुजात दोनों का अस्तित्व है। यह निकाय स्थविरवाद से बहुत पहले पृथक् हो गया था। दीपवंश से मालूम होता है कि वैशाली की धर्म-संगीति के अनन्तर महीशासक स्थविरवाद से और महीशासक से 'सब्बत्थिवाद' और धर्मगुप्त पृथक् हो गये। चीनी यात्री इत्सिंग के[१] विवरण से ज्ञात होता है कि उसके समय में चार प्रधान-निकाय थे, जिनमें से एक आर्य-मूल-सर्वास्तिवाद निकाय था। इसके अन्तर्गत मूल सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्त, महीशासक, और काश्यपीय निकाय थे। इससे यह स्पष्ट है कि इन अन्तिम तीन वादों में और मूल-सर्वास्तिवाद में विशेष अन्तर न था। अन्यथा वह सब एक निकाय के विभिन्न अंग न समझे जाते।

इस निकाय का इतिहास वास्तव में अशोक के समय की धर्मसंगीति से आरंभ होता है। इसी संगीति में मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्थु का संग्रह किया था। इस ग्रन्थ का उद्देश्य अपने समय के उन वादों का खण्डन करना था जो स्थविरवाद को मान्य नहीं थे। इस ग्रन्थ में 'सब्बत्थिवाद' के विरुद्ध केवल तीन प्रश्न उठाये गये हैं :—

१. क्या एक अर्हत् अर्हत्व से हीन हो सकता है ?

२. क्या समस्त वस्तुजात प्रत्यक्ष-ग्राह्य है ?

३. क्या चित्त-सन्तति समाधि है ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर सब्बत्थिवाद के अनुसार और स्थविरवाद के प्रतिकूल था। अशोक के समय में जब कथावत्थु का संग्रह हुआ तब इस निकाय का विशेष प्रभाव नहीं मालूम पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि गान्धार और काश्मीर में पहले पहल वैभाषिक नाम से इस निकाय का उत्थान हुआ और इन प्रदेशों में इसने विशेष उन्नति प्राप्त की। 'वैभाषिक' शब्द[२] की व्युत्पत्ति 'विभाषा' शब्द से है। ज्ञान-प्रस्थान

---

१. इ-त्सिंग : रेकार्ड आफ दी बुद्धिस्ट रिलिजन, इन्ट्रोडक्शन। पृ० २३।

२. विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः।
विभाषां वा विदन्ति वैभाषिकाः। विक्रिस्फोथिका बुद्धिका। पृ० २१।१२।

नामक ग्रन्थ की वृत्ति का नाम 'विभाषा' है। ज्ञान-प्रस्थान के रचयिता कात्यायनी-पुत्र थे। यह सर्वास्तिवादी थे। 'विभाषा' का रचना-काल कनिष्क के राज्यकाल के पीछे है। विभाषा में सर्वास्तिवाद-निकाय के भिन्न-भिन्न आचार्यों का मत सावधानी के साथ उपनिबद्ध किया गया है, जिसमें पाठक अपनी रुचि के अनुसार जिस मत को चाहें, ग्रहण कर लें। इसी कारण इसका नाम विभाषा है। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र सर्वास्तिवादियों का प्रधान ग्रन्थ है। विभाषा के रचयिता वसुमित्र थे और इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'महाविभाषा शास्त्र' हुआ।

विभाषा ग्रन्थ अपने असली रूप में उपलब्ध नहीं है। इसका कुछ ही अंश मिला है, जिसके देखने से मालूम होता है कि यह विस्तार और उत्कृष्टता में किसी प्रकार कम न था। इस ग्रन्थ से इसकी दार्शनिक-पद्धति प्रौढ़ मालूम पड़ती है। परमार्थ (४९९–५६९ ई०) के अनुसार छठी शताब्दी में यह ग्रन्थ शास्त्रार्थ का प्रधान विषय था। इस समय बौद्धों से सांख्यों का विवाद चल रहा था।

फाहियान[१] (३९९—४१४) अपने यात्रा-विवरण में लिखता है कि सर्वास्तिवाद के अनुयायी पाटलिपुत्र और चीन में थे। पर उनका विनयपिटक उस समय तक लिपिबद्ध नहीं हुआ था। युआन-च्वांग (ह्वेन-साङ्ग) (६२९—६४५ ई०) के समय में इस निकाय का अच्छा प्रचार था। उसके अनुसार काशगर, उद्यान (स्वात),उत्तरी सीमा के कई अन्य प्रदेश, फारस, कन्नौज और राजगृह के पास किसी एक स्थान में इस मत का प्राधान्य था। यद्यपि युआन्-च्वांग् तेरह स्थानों का उल्लेख करता है जहाँ सर्वास्तिवाद का प्राधान्य था परन्तु खास भारतवर्ष में इस निकाय के उतने अनुयायी नहीं थे जितने कि अन्य निकायों के थे। इत्सिंग सातवीं शताब्दी में भारत आया (६७१—६९५ ई०)। वह स्वयं सर्वास्तिवाद का अनुयायी था। वह इस निकाय का पूरा विवरण देता है। इत्सिंग[२] के अनुसार इसका प्रचार मगध, लाट, सिन्धु, दाक्षिणात्य, पूर्व भारत, सुमात्रा, जावा, चम्पा (कोचीन चाइना), चीन के दक्षिण-पश्चिम-पूर्व के प्रान्त तथा मध्य एशिया में था। इस विवरण से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी के पहले या पीछे किसी अन्य निकाय का इतना प्रचार नहीं हुआ जितना कि सर्वास्तिवादनिकाय का था। इत्सिंग के अनुसार इस निकाय का त्रिपिटक तीन लाख श्लोकों में था। चीनी भाषा में बौद्ध-साहित्य का जो भांडार उपलब्ध है; उसको देखने से मालूम होता है कि इस निकाय का अपना अलग विनयपिटक और अभिधम्म-पिटक था। इत्सिंग ने सर्वास्तिवाद के समग्र विनयपिटक का चीनी भाषा में अनुवाद किया और उसके प्रचलित विनय के नियमों पर स्वयं एक ग्रन्थ लिखा।

भारतवर्ष में केवल मूल-सर्वास्तिवाद के ही अनुयायी थे। लंका में यह वाद प्रचलित नहीं था। मूल-सर्वास्तिवाद के अन्य तीन विभाग मध्य एशिया में पाये जाते थे। पूर्व और

१. लग-फा-हिआन पृ० ६६।

२. रेकॉर्ड, ऑफ दी बुद्धिस्ट रिलिजन : इन्ट्रोडक्शन। इ-त्सिङ्ग :

पश्चिम चीन में केवल धर्मगुप्त प्रचलित था। वासिलीफ[1] कहते हैं कि तिब्बत का विनय सर्वास्तिवादी निकाय का है।

सिलवाँ लेवी के अनुसार संस्कृत के विनय-ग्रन्थ पहले पहल तीसरी या चौथी शताब्दी में संगृहीत हुए। एकोत्तरागम (अंगुत्तर-निकाय), दीर्घागम (= दीघ-निकाय), मध्यमागम (= मज्झिम निकाय) के अंश पूर्वी तुर्किस्तान में खोज में मिले हैं। धर्मत्रात के उदान वर्ग (= उदान) के भी अंश मिले हैं। प्रातिमोक्ष सूत्र के एक तिब्बती और चार चीनी अनुवाद मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि प्रातिमोक्ष-सूत्र विनयपिटक में था। पालि के विनयपिटक के ग्रन्थों के नाम संस्कृत निकाय के ग्रन्थों के नाम से मिलते हैं। स्थविरवाद के समान सर्वास्तिवाद के अभिधर्म ग्रन्थों की भी संख्या सात है पर नाम प्रायः भिन्न हैं। सर्वास्तिवादी ज्ञान-प्रस्थान को अपना मुख्य ग्रन्थ समझते हैं और अन्य छः ग्रन्थ एक प्रकार के परिशिष्ट हैं। ज्ञान-प्रस्थान काय है और अन्य छः ग्रन्थपाद हैं। जो सम्बन्ध वेद, वेदाङ्ग का है वही इनका सम्बन्ध है। इन अभिधर्म-ग्रन्थों का उल्लेख सबसे पहले यशोमित्र की अभिधर्म-कोश व्याख्या[2] (कारिका ३ की व्याख्या) में पाया जाता है। ज्ञान-प्रस्थान पर दो वृत्तियाँ हैं—विभाषा और महाविभाषा। प्रवाद है कि वसुमित्र ने विभाषा का संग्रह किया था। महाविभाषा एक बृहत् ग्रन्थ है और प्रामाणिक माना जाता है। यह बौद्ध-अभिधर्म का एक प्रकार का विश्वकोष है। महाविभाषा का बृहत् आकार होने के कारण एक छोटे ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई; इसलिए आचार्य वसुबन्धु ने कारिका रूप में अभिधर्मकोश लिखा। वसुबन्धु का विरोधी संघभद्र था। उसने इस ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए अभिधर्म न्यायानुसार और अभिधर्मसमयप्रदीपिका रचा। यह मूल संस्कृत-ग्रन्थ अप्राप्य है किन्तु चीनी अनुवाद उपलब्ध है। पालि के अभिधर्म ग्रन्थों में और इनमें कोई समानता नहीं पायी जाती।

सौत्रान्तिक इन अभिधर्म ग्रन्थों को बुद्ध-वचन न मानकर केवल सामान्य-शास्त्र मानते थे। वह केवल सूत्रान्तों को प्रमाण मानते थे। इसलिए इनको सौत्रान्तिक कहते हैं। सौत्रान्तिक स्वसंवित्ति के सिद्धान्तों को मानते थे। इनका कहना था कि वस्तु स्वभाव से नाशवान् है; वे अनित्य नहीं हैं, पर क्षणिक हैं। उनका परमाणुवाद के विकास में हाथ है। उनका कहना है कि अणुओं में स्पर्श नहीं है, क्योंकि अणु के अवयव नहीं होते; इसलिए एक अवयव का दूसरे अवयव से स्पर्श नहीं होता। अणुओं में निरन्तरत्व है।

---

१. वासिलीफ़ : बुद्धिज़्मस् , पृ० ६६ ।

२. श्रूयन्ते ह्यभिधर्मशास्त्राणां कर्तारः। तद्यथाः–ज्ञान-प्रस्थानस्य आर्यकात्यायनी पुत्रः कर्ता। प्रकरणपादस्य स्थविरवसुमित्रः। विज्ञानकायस्य स्थविरदेवशर्मा। धर्मस्कन्धस्य आर्यशारिपुत्रः। प्रज्ञप्तिशास्त्रस्य आर्यमौद्गल्यायनः। धातुकायस्य पूर्णः। संगीतिपर्यायस्य महाकौष्ठिलः। [स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या...]

अब तक सौत्रान्तिक-साहित्य बहुत कम प्राप्त हो सका है। वसुबन्धु यद्यपि वैभाषिक थे किन्तु सौत्रान्तिकवाद की ओर उनका विशेष झुकाव था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्मकोश और उसके भाष्य में उन्होंने स्थल-स्थल पर इसका परिचय दिया है। अभिधर्मकोश के व्याख्याकार यशोमित्र तो स्पष्ट ही सौत्रान्तिक थे। शुआन-च्वांग के अनुसार सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुमारलाभ या कुमारलब्ध थे। सौत्रान्तिक आचार्यों में श्रीलब्ध, धर्मत्रात, बुद्धदेव आदि के नाम आते हैं परन्तु इनके ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

कुछ विद्वानों ने दिङ्नाग और उनकी परम्परा के अन्य आचार्यों को सौत्रान्तिक माना है। ऐसी अवस्था में सौत्रान्तिक साहित्य विपुल हो जाता है। वस्तुतः सौत्रान्तिक की गणना हीनयान में किया जाता है जब कि उसके कुछ सिद्धान्त महायान से मिलते हैं, क्योंकि सौत्रान्तिकवाद संक्रमणावस्था का दर्शन है।

बौद्ध-संकर-संस्कृत का विकास

महावस्तु, ललित-विस्तर आदि ग्रन्थों की भाषा शुद्ध-संस्कृत नहीं है। कोई इसे गाथा-संस्कृत कहता है, कोई मिश्र-संस्कृत या बौद्ध-संस्कृत। प्रोफेसर एजर्टन इसे बौद्ध संकर-संस्कृत का नाम देते हैं। प्रो० एजर्टन के अनुसार यह भाषा मूलतः मध्यदेश की कोई प्राचीन बोल-चाल की भाषा थी या उस पर आश्रित थी। यह ईसा के पूर्व की भाषा है। किन्तु आरंभ से ही हम देखते हैं कि कम से कम हस्तलिखित-पोथियों में संस्कृत के प्रति इसका झुकाव है। शब्दों की वर्तनी में हम अंशतः संस्कृत का प्रभाव पाते हैं। हमारा अनुमान है कि संस्कृत की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के कारण ऐसा हुआ होगा। इन ग्रन्थों में हम बहुत से शुद्ध-संस्कृत-शब्द और रूप पाते हैं। कुछ आंशिक रूप से संस्कृत हैं, और कुछ ऐसे हैं जो अपने शुद्ध रूप को अपरिवर्तित रखते हैं। इन ग्रन्थों का शब्द-भाण्डार बहुत कुछ मध्य-देशीय है अर्थात् यह शब्द संस्कृत के नहीं हैं अथवा संस्कृत में उनका भिन्न अर्थ है। जहाँ कहीं इनकी वर्तनी पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा है वहाँ भी इनका मूल-प्रभाव प्रकट हो जाता है। क्योंकि संस्कृत-भाषा में या तो इनका प्रयोग नहीं पाया जाता या वहाँ यह किसी दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, संस्कृत का प्रभाव इस भाषा पर बढ़ता गया। लेखकों ने शुद्ध मध्य-देशीय शब्दों का बहिष्कार करना भी आरंभ कर दिया और उनके स्थान पर संस्कृत शब्द रखने लगे, किन्तु अधिकतर शब्द-रूप और धातु-रूप के ही संस्कृत-रूप देने का प्रयत्न होता था। ऐसे भी ग्रन्थ हमको मिलते हैं जो बाहर से शुद्ध संस्कृत में लिखे मालूम होते हैं किन्तु सूक्ष्म की परीक्षा करने पर अनेक असंस्कृत रूप और शब्द मिलते हैं। आजकल जो सज्जन इन ग्रन्थों का संपादन करते हैं वह इस दोष के सबसे बड़े भागी हैं। वह बिना विचारे असंस्कृत शब्द और रूपों को बहिष्कृत करते हैं। वह समझते हैं कि यह ग्रन्थ भ्रष्ट-संस्कृत में लिखे गये हैं और उनको सुधारना वह अपना कर्तव्य समझते हैं। किन्तु यह बड़ी भारी भूल है। यह भाषा मध्य-देशीय है, अशुद्ध संस्कृत नहीं। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम प्रत्येक ऐसे शब्द और रूप को सुरक्षित रखें।

अनेक ग्रन्थों में पद्य की अपेक्षा गद्य-भाग को कहीं अधिक संस्कृत रूप दिया गया है। इस भाषा को किसी परिचित मध्यदेशीय बोली से मिलाना ठीक नहीं है। इसके कई प्रयत्न किये गये हैं किन्तु सब विफल रहे। हम यह भी नहीं बता सकते कि यह भाषा किस प्रदेश की थी। किन्तु इस भाषा की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो अन्य भाषाओं में नहीं पायी जातीं। कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह भाषा अर्धमागधी है; किन्तु यह ठीक नहीं है। कुछ बातों में सादृश्य होने से ऐसा भ्रम हो गया था, किन्तु परीक्षण करने पर यह मालूम हुआ कि विभिन्नता कहीं अधिक है।

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को आदेश दिया था कि वह भगवान् के वचन को अपनी-अपनी भाषा में परिवर्तित करें। वैदिक-भाषा में बुद्ध-वचन को परिवर्तित करने का निषेध था। इसलिए आगम-ग्रन्थ पालि, प्राकृत,संस्कृत आदि अनेक भाषाओं में पाये जाते हैं। इसी आदेश के अनुसार उत्तर भारत की कई बोलियों में बुद्ध-वचन उपनिबद्ध किये गए। इन्हीं में से एक बोली पाली थी, जो उज्जयिनी में कदाचित् बोली जाती थी। इसी में त्रिपिटक लिखा गया, जो लंका, बर्मा आदि देशों में मान्य हुआ। एक दूसरी बोली, जिसका मूल स्थान—हमको मालूम नहीं है, बौद्ध-संकर-संस्कृत का है। संस्कृत की चारों ओर प्रतिष्ठा होने से धीरे-धीरे इस पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने लगा। आरंभ में यह प्रभाव थोड़ा और आंशिक था। आगे चलकर इसमें वृद्धि हुई किन्तु पूर्णरूपेण संस्कृत का प्रभाव नहीं पड़ सका। प्रो० एजर्टन ने इस भाषा का व्याकरण और कोश लिखकर बड़ा उपकार किया है। ये ग्रन्थ येल विश्वविद्यालय से सन् १९५३ में प्रकाशित हुए हैं।

महावस्तु

हीनयान का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ महावस्तु या महावस्तु-अवदान है। महासांघिक और लोकोत्तरवादी बौद्ध-निकाय का उद्भव कैसे हुआ इसका विचार पहले हमने किया है। महावस्तु इन्हीं लोकोत्तरवादी महासांघिकों का विनय-ग्रन्थ है। हीनयान के अनेक महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों में इसकी गणना है। महावस्तु का प्रथम संपादन सेना (ई० सेना) ने तीन भागों में सन् १८८२–१८९७ में किया है। महावस्तु का अर्थ है "महान् विषय या कथा" अर्थात् उपसंपदा इत्यादि बौद्ध-विनय-सम्बन्धी कथा। पालि-विनय के 'महावग्ग' के प्रारम्भ में बुद्ध के बोधिप्राप्ति का, धर्मचक्रप्रवर्तन का तथा संघ-स्थापना का वर्णन है। उसी प्रकार महावस्तु में भी भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित और संघ-स्थापना का वर्णन मिलता है। महावस्तु के प्रारम्भ में ही चार बोधिसत्व-चर्याओं का वर्णन दिया गया है—प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या और अनिवर्तनचर्या। इन चार चर्याओं की पूर्ति से बोधिसत्व बुद्धत्व की प्राप्ति करते हैं। इन चर्याओं का उल्लेख कर के ग्रन्थ का नाम दिया गया है—'आर्यमहासांघिकानां लोकोत्तरवादिनां मध्यदेशिकानां पाठेन विनयपिटकस्य महावस्तुनो···" आदि। इस परिचय के बाद चतुर्विध उपसंपदाओं का वर्णन है। स्वाम उपसंपदा, एहिभिक्षुकाय उपसंपदा, दशवर्गेण गणेन उपसंपदा, और पंचवर्गेण गणेन उपसंपदा।

यह ग्रन्थ लोकोत्तरवादियों का है। इसका प्रमाण यह भी है कि ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध को लोकोत्तर बताया गया है। एक जगह कहा है कि बोधिसत्व माता-पिता से उत्पन्न नहीं होते, उनका जन्म उपपादुक है। इतना ही नहीं, तुषित-स्वर्ग से च्युत होने के बाद वे काम-सेवन भी नहीं करते। ऐसी स्थिति में गौतमबुद्ध का पुत्र राहुल है इसका सामञ्जस्य किस प्रकार है? इसके सम्बन्ध में कहा है—"भो जिनपुत्र! को हेतुः, कः प्रत्ययः, यं अप्रहीणेहि क्लेशेहि बोधिसत्वाः कामा न प्रतिसेवन्ति, राहुलश्च कथमुत्पन्न इति?······एवमनुश्रूयते भो धुतधर्मधर! राजानश्चक्रवर्तिनः औपपादुका बभूवु। तद्यथा······चक्रवर्तिगणा औपपादुका आसन्न तथा राहुलभद्र इति"। इसी प्रकार भगवान् का शरीर, उनका आहार, उनका चीवर-धारण भी लोकोत्तर माना गया है। महावस्तु में बुद्धानुस्मृति नाम का बुद्धस्तोत्र है, (जिल्द १,पृ० १६३), उसमें तो यहाँ तक कहा गया है कि दीपंकर भगवान् के पास जब बोधिसत्व ने अनिवर्तनचर्या का प्रारंभ किया तभी से वह वीतराग हैं।

दीपंकरमुपादाय वीतरागस्तथागतः।
राहुलं पुत्रं दर्शेन्ति एषा लोकानुवर्तना॥ इत्यादि।

इस प्रकार महावस्तु में भगवान् को लोकोत्तर माना गया है। हीनयान से महायान की ओर यह संक्रमणावस्था है। हीनयान में समाधि का महत्व था। महावस्तु में भक्ति प्रधान स्थान लेती है। स्तूप की परिक्रमा करने से अथवा पुष्पोपहार से भगवान् की आराधना करने से अमित पुण्य प्राप्त होता है। एक स्थल पर कहा गया है कि बुद्ध की उपासना से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

हीनयान के प्राचीन पालिग्रन्थों में बोधिसत्व की दशभूमियों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। 'महावस्तु' में ही इसका प्रथम विस्तृत वर्णन हम पाते हैं।

बोधिसत्व की दश भूमियाँ ये हैं:—दुरारोहा, बद्धमाना, पुष्पमण्डिता, रुचिरा, चित्तविस्तार, रूपवती, दुर्जया, जन्मनिदेश, यौवराज और अभिषेक। बोधिसत्व ने इन भूमियों की प्राप्ति किस प्रकार और किन बुद्धों के सान्निध्य में की, इसका विस्तृत वर्णन महावस्तु में मिलता है। 'दश-भूमिशास्त्र' में जिन भूमियों का उल्लेख है, वे इनसे भिन्न हैं। दशभूमियों का सिद्धान्त पहले पहल 'महावस्तु' में ही उपदिष्ट है और उसी को आगे चलकर महायान-ग्रन्थों में सुपल्लवित किया गया।

बुद्ध का जीवन-चरित ही महावस्तु का मुख्य उद्देश्य है। इसीलिए उसे महावस्तु-अवदान कहा गया है। किन्तु 'ललित-विस्तर' में जीवन चरित का जो व्यवस्थित रूप हम पाते हैं वह 'महावस्तु' में नहीं है। जातक, सूत्र, कथा और विनय ऐसे कई अंगों का यहाँ मिश्रण है। शाक्य-वंश और कोलियवंश के उद्भव की कथा पालिग्रन्थों के वर्णन से मिलती है। बुद्ध के जन्म की कथा पालि 'निदान-कथा' और संस्कृत 'ललित-विस्तर' में काफी मिलती है। भाषा की दृष्टि से 'महावस्तु' का पद्यमय-भाग ललित-विस्तर से प्राचीन है। महावस्तु में कई भाग ऐसे हैं जो पालि-निकायों से मिलते हैं। सुत्तनिपात के पब्बज्जासुत्त, पधानसुत्त, खग्गविसाण-

सुत्त; धम्मपद का सहस्सवग्ग, दीघनिकाय का महागोविन्दसुत्त और मज्झिमनिकाय का दीघनख-सुत्त आदि अनेक ऐसे सुत्तन्त हैं जो 'महावस्तु' में पूर्णतया पाये जाते हैं। 'महावस्तु' का आधा से अधिक भाग जातक और अन्य कथाओं से भरा है जो सामान्यतः पालिजातकों का अनुसरण करता है।

महावस्तु के काल का निश्चय करना कठिन है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका मूलरूप प्राचीन है। इसके वह अंश जो पालिनिकाय में भी पाये जाते हैं, निश्चित रूप से अति प्राचीन हैं। इसकी भाषा भी इसकी प्राचीनता का सूचक है। समग्र ग्रन्थ 'मिश्र-संस्कृत' में लिखा गया है, जब कि महायान के ग्रन्थों में मिश्र-संस्कृत और शुद्ध-संस्कृत, दोनों का प्रयोग पाया जाता है। लोकोत्तरवाद का ग्रन्थ होना भी इसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के मूलरूप की रचना ईसा से २०० वर्ष पूर्व हुई किन्तु ग्रन्थ का समय-समय से विस्तार होता रहा। हूण और चीनी भाषा तथा लिपि का उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थ के कुछ अंश चौथी शताब्दी के हैं।

ललित-विस्तर

ललित-विस्तर महायान सूत्र-ग्रन्थों में बहुत पवित्र माना जाता है। इसकी गणना वैपुल्य-सूत्रों में है। आरंभ में हीनयानान्तर्गत सर्वास्तिवादी निकाय का यह ग्रन्थ था। इसमें बुद्ध-चरित का वर्णन है। भूमण्डल पर भगवान् बुद्ध ने जो क्रीड़ा (= ललित) की उसका वर्णन होने के कारण ग्रन्थ का नाम ललित-विस्तर पड़ा। अभिनिष्क्रमण-सूत्र (नेञ्जियो सूची नं० ६८०) के अनुसार इसको महाव्यूह भी कहते हैं।

डाक्टर एस. लेफमान ने इस ग्रन्थ के आरंभ के कुछ अध्यायों का अनुवाद बर्लिन से १८७५ ईस्वी में प्रकाशित किया था। बिब्लिओथिका इण्डिका नामक ग्रन्थमाला के लिए डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने ललित-विस्तर का अंग्रेजी अनुवाद तैयार किया था; पर १८८१ से १८८६ के बीच में केवल पन्द्रह अध्यायों का ही अनुवाद प्रकाशित हो सका। डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने मूल ग्रन्थ का भी एक अपूर्ण संस्करण निकाला था। समग्र मूल-ग्रन्थ का संपादन डाक्टर एस. लेफमान ने किया। इसका फ्रेंच अनुवाद फूको ने एनल द मुसे गिमे (जिल्द ६ और १६, पेरिस सन् १८८४–१८९२) में प्रकाशित किया। तिब्बती भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद पाँचवीं शताब्दी में हुआ था।

पहले अध्याय में यह बतलाया है कि एक समय रात्रि के मध्य-याम में भगवान् समाधिस्थ हुए। उसी क्षण भगवान् के उष्णीष-विवर से रश्मि प्रादुर्भूत हुई,जिसने सब देव-भवनों को अपने प्रकाश से अवभासित किया और देवताओं को क्षुब्ध किया। रात्रि के व्यतीत होने पर ईश्वर, महेश्वर इत्यादि देवपुत्र जेतवन आये और भगवान् की पाद-वन्दना कर एक ओर बैठ गये और कहने लगे, "भगवन्! ललित-विस्तर नामक धर्मपर्याय का आप व्याकरण करें। भगवान् का तुषितलोक में निवास, गर्भावक्रान्ति, जन्म, बालचर्या, सर्वमारमण्डलविध्वंसन इत्यादि विषयों का इस ग्रन्थ में वर्णन है। पूर्व तथागतों ने भी इस ग्रन्थ का व्याकरण किया था"।

भगवान् ने जनकाय के कल्याण और सुख के लिये तथा सद्धर्म की वृद्धि के लिए, देवपुत्रों की प्रार्थना स्वीकार किया और भिक्षुओं को आमंत्रित कर 'अविदूरे निदान' (तुषित काय से च्युति से प्रारंभ कर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तक का काल 'अविदूरे निदान' कहलाता है) की कथा से आरंभ कर बुद्धचरित का वर्णन सुनाने लगे। बोधिसत्व एक महाविमान में तुषित-लोक में निवास करते थे। बोधिसत्व ने क्षत्रिय-कुल में जन्म लेने का निश्चय किया। भगवान् ने बतलाया कि बोधिसत्व शुद्धोदन की महिषी माया देवी के गर्भ में उत्पन्न होंगे। वही बोधिसत्व के लिए उपयुक्त माता हैं। वह रूप-यौवन-सम्पन्न हैं, शीलवती और पतिव्रता हैं। परपुरुष का स्वप्न में भी ध्यान नहीं करती। जम्बूद्वीप में कोई दूसरी स्त्री नहीं है, जो बोधिसत्व के तुल्य महापुरुष का गर्भधारण करने में समर्थ हो। इसको दशसहस्र नागों का बल प्राप्त है। देवताओं की सहायता से बोधिसत्व ने महानाग कुञ्जर के रूप में गर्भावक्रान्ति की। कुक्षिगत बोधिसत्व के निवास के लिए देवताओं ने एक रत्नव्यूह तैयार किया, जिसमें बोधिसत्व को दुर्गन्धयुक्त मनुष्याश्रय में निवास न करना पड़े। आकृति और वर्ण में यह रत्नव्यूह अनुपम था। बोधिसत्व इस रत्नव्यूह में बैठे हुए अत्यन्त शोभित थे। माता की कोख में से बोधिसत्व ने समस्त-दिशाओं को अपने तेज और वर्ण से अवभासित किया। बोधिसत्व के शरीर से दूर तक प्रभा निकलती थी। यदि कपिलवस्तु या अन्य किसी जनपद में किसी स्त्री या पुरुष को भूत का आवेश होता था तो बोधिसत्व की माता के दर्शनमात्र से उसको चेतना का पुनर्लाभ होता था। जो लोग नाना रोग से पीड़ित होते थे उनके सिर पर बोधिसत्व की माता अपना दाहिना हाथ रखतीं थीं। इसी से उनकी व्याधि दूर हो जाती थी, यहां तक कि रोगियों को मायादेवी भूमि से तृण-गुल्म उठाकर देती थीं, उसी से रोगी निर्विकार होते थे। मायादेवी जब अपना दक्षिण पार्श्व देखती थीं तब उनको कुक्षिगत बोधिसत्व उसी प्रकार दिखलाई पड़ते थे जिस प्रकार शुद्ध आदर्श-मण्डल में मुखमण्डल का दर्शन होता है। जिस प्रकार अन्तरिक्ष में चन्द्रमा तारागण से परिवृत हो शोभा को प्राप्त होता है, उसी तरह बोधिसत्व बत्तीस लक्षणों से अलंकृत थे। वह राग-द्वेष, और मोह की बाधा से परिमुक्त थे। क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण उनको किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते थे। नित्य दिव्य-तूर्य का वाद होता था और नित्य सुन्दर दिव्य-पुष्पों की वर्षा होती थी। मानुष और अमानुष परस्पर हिंसा का भाव नहीं रखते थे। सत्व हृष्ट और तुष्ट थे। समय पर वृष्टि होती थी। तृण, पुष्प, और औषधियाँ समय पर होती थीं। राजगृह में सात रात रत्नों की वर्षा हुई। कोई सत्व दरिद्री या दुःखी न रहा। दश महीने बीतने पर जब बोधिसत्व का जन्म-समय उपस्थित हुआ तब राजा शुद्धोदन के गृह और उद्यान में बत्तीस पूर्वनिमित्त प्रादुर्भूत हुए। मायादेवी पति की आज्ञा ले—लुम्बिनी-वन गईं। वहां बोधिसत्व का जन्म हुआ। उसी समय पृथ्वी को भेदकर महापद्म का प्रादुर्भाव हुआ। नन्द, उपनन्द, नागराजाओं ने बोधिसत्व को शीत और उष्ण जलकी वारिधारा से स्नान कराया। अन्तरिक्ष में दो चामर और रत्न-छत्र प्रादुर्भूत हुए। बोधिसत्व ने महापद्म पर बैठकर चारों दिशाओं को देखा। बोधिसत्व ने दिव्य-चक्षु से समस्त लोक-धातु को देखा और जाना कि प्रज्ञा, शील, समाधि या कुशलमूल-चर्या में मेरे तुल्य कोई सत्व नहीं है। विगत-भय हो, सर्वसत्वों का चित्त और चरित जानकर बोधिसत्व ने

पूर्वाभिमुख हो सात कदम रखे। उस समय अन्तरिक्ष में उनके ऊपर श्वेत वर्ण का दिव्य विपुल-छत्र और दो शुभ चामर धारण कराये गये। जहाँ जहाँ बोधिसत्व पैर रखते थे वहाँ वहाँ कमल प्रादुर्भूत होता था। इसी प्रकार दक्षिणमुख और पश्चिममुख हो सात सात कदम रखे। सातवें कदम पर सिंह की तरह निनाद किया और कहा कि मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। मैं जाति-जरा और मरण-दुःख का अन्त करूँगा। उत्तराभिमुख हो बोधिसत्व ने कहा कि मैं सब सत्वों में अनुत्तर हूँ। नीचे की ओर सात पग रख कर कहा कि मार को उसकी सेना के सहित नष्ट करूँगा और नरक-निवासी सत्वों लिए महाधर्म-मेघ की वृष्टि कर निरयाग्नि को शान्त करूँगा। ऊपर की ओर भी बोधिसत्व ने सात पग रखे और अन्तरिक्ष की ओर ताका।

जब बोधिसत्व ने जन्म लिया उस समय नाना प्रकार के प्रातिहार्य उदित हुए। दिव्य दुंदुभियाँ बजीं, सब ऋतु और समय के वृक्षों में फूल और फल लगे। विशुद्ध गगनतल से मेघ-शब्द सुन पड़ा। पृथ्वी कम्पायमान हुई। मेघ-रहित आकाश से वर्षा हुई। सुगन्धित-वायु बहने लगी। सब दिशायें सुप्रसन्न मालूम पड़ीं। सब सत्वों को काय-सुख और चित्त-सुख प्राप्त हुआ। सब सत्व अकुशल-क्रिया से विरत हुए। सब सत्व राग-द्वेष, मोह, दर्प इत्यादि दोषों से रहित हुए। जिनको नेत्रविकलता थी उनको चक्षु-लाभ हुए। दरिद्रों ने धन पाया। जो बद्ध थे वे बन्धन से मुक्त हुए। अवीची आदि नरकों में वास करनेवाले सत्व दुःख रहित हो गये। तिर्यग्योनि वालों का अन्योन्य-भक्षण-दुःख दूर हुआ। यमलोक-निवासी सत्वों का क्षुत्पिपासा-दुःख शान्त हुआ। सप्तपदी के समय सर्वलोक तेज से परिस्फुटित हो गये। गीत और नृत्य शब्द हुआ और पुष्प, चूर्ण, गन्ध, माल्य, रत्न, आभरण और वस्त्र की वर्षा हुई। संक्षेप में यह क्रिया अद्भुत और अचिन्त्य हुई।

सातवें अध्याय में आनन्द और बुद्ध का संवाद है। आनन्द ने अंजलिबद्ध हो बुद्ध को प्रणाम किया और कहा कि बुद्ध का अद्भुत-धर्म है। मैं भगवान् की शरण में अनेक बार जाता हूँ। भगवान् ने कहा कि हे आनन्द! भविष्य-काल में कुछ भिक्षु उद्धत और अभिमानी होंगे। उनको भगवान् में श्रद्धा न होगी। उनका चित्त विक्षिप्त होगा और वे संशयान्वित होंगे। वे बोधिसत्व की गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि में विश्वास न करेंगे। वे कहेंगे कि यह किस प्रकार संभव है कि बोधिसत्व माता की कोख से बाहर आते हुए गर्भमल से उपलिप्त नहीं हुए। वे मोह-पुरुष इस बात को न जानेंगे कि पुण्यवान् सत्वों का शरीर उच्चार-प्रस्रावमण्ड में नहीं होता; तथागत की गर्भावक्रान्ति कल्याण की देनेवाली होती है। भगवान् की गर्भ में अवस्थिति भूतदया के कारण होती है। वे नहीं जानते कि तथागत देवतुल्य हैं और हम लोग मनुष्यमात्र हैं। उनके स्थान की पूर्ति करने में हम समर्थ नहीं हैं। उनको समझना चाहिये कि हम लोग भगवान् की इयत्ता या प्रमाण को नहीं जान सकते। वह अचिन्त्य हैं। उद्धत भिक्षु ऋद्धि और प्रातिहार्य पर भी विश्वास नहीं करेंगे। वे बुद्धधर्मों का प्रतिक्षेप करेंगे। उनकी दुर्गति होगी। आनन्द ने भगवान् से पूछा कि इन असत्पुरुषों की क्या गति होगी? भगवान् बोले कि जो

कोई इन सूत्रान्तों को सुनकर इनपर श्रद्धा न लावेगा, वह च्युत होने पर अवीचि नाम महानरक में गिरेगा। आनन्द! तथागत की बात अप्रामाणिक नहीं होती। इसके विपरीत जो इन सूत्रान्तों को सुनकर प्रसन्न होंगे उनको प्रसाद सुलभ होगा। उनका जीवन और मानुष्य सफल और सार्थक होगा। वे सारपदार्थ का ग्रहण करेंगे। वे तीनों अपायों से मुक्त होंगे। तथागत-धर्म में श्रद्धा रखने का यही फल है। जिन सत्वों को भगवान् का दर्शन या धर्मश्रवण प्रिय होता है, भगवान् उनको मुक्त करते हैं और उनको भगवद्ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रद्धा का अभ्यास करना चाहिये। मित्र के मिलने के लिए लोग योजनशत भी जाते हैं और अदृष्टपूर्व मित्र को देखकर सुखी होते हैं। फिर उसका क्या कहना जो मेरे आश्रित हो कुशलमूल का आरोपण करता है। जो मुझ पर श्रद्धा रखते हैं अनागत बुद्ध भी उनकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। जो मेरी शरण में आये हैं वे मेरे मित्र हैं। मैं उनका कल्याण साधित करता हूँ। तथागत के यह मित्र हैं, यह समझकर अनागतबुद्ध भी उनके साथ मैत्री करेंगे। इसलिए हे आनन्द! श्रद्धोत्पाद के लिए उद्योग करो।

यह संवाद अकारण नहीं है। बुद्ध की गर्भावक्रान्ति तथा जन्म की जो कथा ललित-विस्तर में मिलती है वह पालिग्रन्थों में वर्णित कथा से भिन्न है। यद्यपि पालिग्रन्थों में भगवान् के अनेक अद्‌भुत-धर्म वर्णित हैं तथापि इन अद्‌भुत धर्मों से—समन्वागत होते हुए भी पालि-ग्रन्थों के बुद्ध अन्य मनुष्यों के समान जरा-मरण-दुःख और दौर्मनस्य के अधीन थे। बुद्ध ने स्वयं कहा था कि मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ और सर्वसत्वों में अनुत्तर हूँ। संयुत्त-निकाय (स्कन्धवग्ग, भाग ३, पृष्ठ १४०) में बुद्ध ने कहा है कि जिस प्रकार हे भिक्षु! कमल उदक में ही उत्पन्न होता है और उदक में ही संबद्ध है पर उदक से अनुपलिप्त होकर उदक के ऊपर स्थित है, उसी प्रकार तथागत लोक में संवृद्ध होकर भी लोक को अभिभूत कर लोक से बिना उपलिप्त हुए विहार करते हैं। दीघनिकाय (दूसरा भाग, पृष्ठ १२, महापदानसुत्तंत) के अनुसार बोधिसत्व की यह धर्मता है कि जब वह तुषितकाय से च्युत हो माता की कुक्षि में उत्क्रान्ति करते हैं, तब सब लोकों में अप्रमाण अवभास का प्रादुर्भाव होता है। यह अवभास देवताओं के तेज को भी अवभासित करता है। दीघनिकाय (भाग ३, पृष्ठ १६) के अनुसार बोधिसत्व महापुरुष के बत्तीस लक्षणों से और बयासी अनुव्यंजनों से समन्वागत होते हैं। महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार तथागत यदि चाहें तो कल्पपर्यन्त या कल्पावशेष पर्यन्त निवास कर सकते हैं। इसी लिए आनन्द ने भगवान् से देवमनुष्यों के कल्याण के लिए कल्प-पर्यन्त अवस्थिति रखने की प्रार्थना की थी। पर भगवान् आयु-संस्कार का उत्सर्ग पहले ही कर चुके थे, इसलिए उन्होंने आनन्द की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। इन अद्‌भुत-धर्मों को मानते हुए भी पालि-ग्रन्थों के बुद्ध लोकोत्तर केवल इसी अर्थ में हैं कि—उन्होंने विशेष उद्योग कर मोक्ष के मार्ग का अन्वेषण किया, और दूसरे उनके बताए हुए मार्ग का अनुसरण करने से ही अर्हत्त्व की अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं, उनको मार्ग का अन्वेषण नहीं करना पड़ता। पर महासांघिक-लोकोत्तरवादी लोकोत्तर शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं करते। यदि उनको भी यह अर्थ मान्य होता तो बौद्धों में इस प्रश्न पर मतभेद होने का कोई कारण न था और न उनमें लोको-

त्तरवाद नामका वाद ही प्रचलित होता। इससे स्पष्ट है कि लोकोत्तरवादियों के मत में 'लोकोत्तर' का कोई विशेष अर्थ है। आनन्द-बुद्ध के संवाद से यह प्रकट होता है कि लोकोत्तरवादी बोधिसत्व की गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि में विश्वास करते थे और उनको अचिन्त्य मानते थे।

आगे चलकर ललितविस्तर का वर्णन महावस्तु की कथा से बहुत कुछ मिलता जुलता है। जहाँ समानता है वहाँ भी कुछ बातें ललित-विस्तर में ऐसी वर्णित हैं जो अन्य ग्रन्थों में नहीं पाई जातीं। ऐसी दो कथाओं का हम यहाँ पर संक्षेप में उल्लेख करते हैं। एक कथा आठवें अध्याय में वर्णित है। शाक्यों ने राजा शुद्धोदन से कहा कि कुमार को देवकुल में ले चलना चाहिये। जब कुमार को आभूषण पहनाये गये तब स्मितपूर्वक कुमार बोले 'मुझसे बड़कर कौन देवता है ? मैं देवातिदेव हूँ।' जब कुमार ने देवकुल में पैर रखा तब सब प्रतिमायें अपने-अपने स्थान से उठीं और उनके पैरों पर गिर पड़ीं; प्रतिमाओं ने अपना-अपना स्वरूप दिखाकर भगवान् को नमस्कार किया। इसी प्रकार दशवें अध्याय में बोधिसत्व की लिपिशाला में जाने की कथा है। अनेक मंगल-कृत्य करके दश हजार बालकों के साथ कुमार लिपिशाला में ले जाये गये। आचार्य विश्वामित्र कुमार के तेज को न सह सके और धरणितल पर अधोमुख गिर पड़े। तब शुभांग नाम के तुषित-कायिक देवपुत्र ने उन्हें उठाया और उपस्थित राजा और जन-काय को सम्बोधित करके कहा—"यह कुमार मनुष्य-लोक के सभी शास्त्र, संख्या, लिपि, गणना, धातुतंत्र और अप्रमेय लौकिक शिल्पयोग में अनेक कल्प-कोटियों के पूर्व ही शिक्षित हैं। किन्तु लोकानुवर्तना के हेतु अनेक दारकों को अग्रयान में प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से और असंख्य सत्वों का विनयन करने के लिए आज यह कुमार लिपिशाला में आये हैं। लोकोत्तर चार आर्य-सत्यार्थों में जो विधिज्ञ है, जो हेतु-प्रत्यय में कुशल है और जो शीतीभाव को प्राप्त है उसे लिपिशास्त्र में भला क्या जानना है ? त्रिलोक में भी इसका कोई आचार्य नहीं है, सर्व-देवमनुष्यों में यही ज्येष्ठ है। कल्पकोटियों के पहले इसने जिन लिपियों का शिक्षण पाया है उनके नाम भी आप जानते नहीं हैं; यह शुद्धसत्व एकक्षण में जगत् की विविध और विचित्र चित्तधाराओं को जानता है। अदृश्य और रूपरहित की गति को जाननेवाले इस कुमार को दृश्यरूप लिपि को जानना क्या कठिन है ?" इस प्रकार सम्बोधन करके वह देवपुत्र अन्तर्हित हुआ। धात्री और चेटीवर्ग को कुमार के पास छोड़कर शुद्धोदन राजा और जन-काय घर लौटे। तब बोधिसत्व ने उरग सार चन्दनमय लिपि-फलक को लाकर विश्वामित्र आचार्य को कहा—'भो उपाध्याय ! आप मुझे किस लिपि की शिक्षा देंगे ?' बोधिसत्व ने ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारि, अंग, वंग, मगध, आदि ६४ लिपियाँ गिनाई। आचार्य ने कुमार के कौशल को देखकर उसका अभिनन्दन किया।

इसी प्रकार १२ और १३ परिवर्तों में कुछ ऐसी कथायें वर्णित हैं, जो अन्यत्र नहीं पायी जाती किन्तु १४–२६ परिवर्तों में कथामुख में थोड़ा ही अन्तर पाया जाता है। बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनायें ये हैं:—चार पूर्व-निमित्त, जिनसे बुद्ध ने जरा, व्याधि, मृत्यु और प्रव्रज्या-ज्ञान प्राप्त किया। अभिनिष्क्रमण, बिम्बिसारोपसंक्रमण, दुष्करचर्या, मारधर्षण, अभिसंबोधन और धर्मदेशना। जहाँ तक इनका संबन्ध है ललित-विस्तर की कथा कुछ बहुत भिन्न

नहीं है। किन्तु ललित-विस्तर में अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है। २७ वें परिवर्त में महायान-ग्रन्थों की परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन है। "जो इस धर्मपर्याय को सुनेंगे वह वीर्यलाभ करेंगे; मार का धर्षण करेंगे। जो इस धर्मपर्याय की कथा बाचेंगे, जो कथा को सुनकर साधुकार देंगे, जो इस पुस्तक को लिखकर उसकी पूजा करेंगे, जो इसका विस्तार से प्रकाश करेंगे, वह विविध-धर्मों का लाभ उठावेंगे, इस धर्मपर्याय की महिमा अनन्त है। यदि तथागत कल्प भर रात-दिन इस धर्मपर्याय का माहात्म्य वर्णन करें तो भी उसका अन्त न हो और तथागत के प्रति भाव का भी क्षय न हो।"

यह बहुत संभव मालूम होता है कि ललित-विस्तर हीनयान के किसी प्राचीन मूलग्रन्थ का रूपान्तर है। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार यह आरंभ में बुद्ध-चरित का ग्रन्थ था, पीछे से महायान के रूप और आकार में परिणत और परिवर्धित हुआ। ग्रन्थ गद्यमय है, बीच-बीच में गाथा उपन्यस्त है। कथाभाग प्रायः गद्य में ही है। अनेक गाथायें हैं, बड़े सुन्दर ग्राम्य-गीत हैं, जिनका समय सुत्त-निपात की गाथाओं के सदृश अति प्राचीन है। सातवें परिवर्त में वर्णित जन्म और असित कथा, सोलहवें परिवर्त में वर्णित बिंबिसारोपसंक्रमण, अट्ठारहवें परिवर्त में वर्णित मारसंवाद इसके उदाहरण हैं। यह गाथायें बुद्ध के कुछ शताब्दी के बाद की हैं। २६ वें परिवर्त के कुछ गद्य भाग भी, जैसे वाराणसी का धर्म-चक्र-प्रवर्तन, बौद्ध-आम्नाय के प्राचीनतम अंश हैं। दूसरी ओर अपेक्षाकृत नवीन भाग हैं जो गद्य और गाथा में लिखे गये हैं।

हमको यह ज्ञान नहीं है कि ललित-विस्तर का अन्तिम-संस्करण कब हुआ। पहले यह भूल से कहा जाता था कि ललित-विस्तर का चीनी अनुवाद ईसा की पहली शताब्दी में हुआ था। वस्तुतः हम यह भी नहीं जानते कि जो बुद्ध-चरित चीनी-भाषा में धर्म-रक्षित द्वारा सन् ३०८ में अनूदित हुआ था और जिसके बारे में कहा जाता है कि यह ललित-विस्तर का दूसरा अनुवाद है, सचमुच वह हमारे ग्रन्थ का अनुवाद भी है। संस्कृत का शुद्ध तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है, जिसका समय पाँचवीं शती है। फूको ने इसका संपादन फ्रेंच अनुवाद के साथ किया है। यह निश्चय है कि जिन रूपकारों ने (८५०—६०० ई०) जावा स्थित बोरोबुदुर के मन्दिर को प्रतिमाओं से सुशोभित किया था, वह ललित-विस्तर के किसी न किसी पाठ से, जो हमारे पाठ से प्रायः अभिन्न था, अवश्य परिचित थे। शिल्प में बुद्ध का चरित इस प्रकार खचित है मानों शिल्पी ललित-विस्तर को हाथ में लेकर इस कार्य में प्रवृत्त हुए थे। जिन शिल्पियों ने उत्तर-भारत में बौद्ध-यूनानी कला-वस्तुओं को बुद्ध चरित के दृश्यों से समलंकृत किया था वह भी ललित-विस्तर में वर्णित बुद्ध-कथा से परिचित हैं।

अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि ललित-विस्तर में पुरानी परंपरा के अनुसार बुद्ध-कथा वर्णित है तथा अपेक्षा-कृत कई शताब्दी पीछे की कथा का भी सन्निवेश है। इसमें सन्देह नहीं कि ललित-विस्तर से बुद्ध-कथा के विकास का इतिहास जाना जाता है। साहित्य की दृष्टि से इसका बड़ा गौरव है, ललित-विस्तर में सुरक्षित गाथा और उसके कथांशों के आधार पर ही अश्वघोष ने बुद्ध-चरित नामक अनुपम महाकाव्य की रचना की थी।

अश्वघोष-साहित्य

सन् १८६२ ई० में सिलवां लेवी ने बुद्ध-चरित का प्रथमसर्ग प्रकाशित किया था। उस समय तक योरप में कोई यह नहीं जानता था कि अश्वघोष एक महान् कवि हो गया है। चीनी और तिब्बती आम्नाय के अनुसार अश्वघोष महाराज-कनिष्क के समकालीन थे। बुद्ध-चरित का चीनी अनुवाद पाँचवीं शताब्दी के पूर्वभाग में हुआ था। अश्वघोष का एक दूसरा ग्रन्थ शारिपुत्र-प्रकरण है। प्रोफेसर लुडर्स के अनुसार इस ग्रन्थ के जो अवशेष पाये गये हैं उनकी लिपि कनिष्क या हुविष्क के समय की है। जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन या उनसे कुछ पूर्व के थे। चीनी आम्नाय के अनुसार अश्वघोष का सम्बन्ध विभाषा से भी था। पहले तो हमको विभाषा का काल निश्चित-रूप से नहीं मालूम है। हम यह भी नहीं कह सकते कि समग्र-ग्रन्थ की रचना एक ही समय में हुई। पुनः यह भी नहीं प्रतीत होता कि अश्वघोष विभाषा के सिद्धान्तों से परिचित थे। कनिष्क के समय में जो धर्म-संगीति बतायी जाती है, उसके अस्तित्व के बारे में भी सन्देह है।

अश्वघोष की काव्य-शैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व के थे। भास उनका अनुकरण करते हैं और उनका शब्द-भांडार यह सिद्ध करता है कि वह कौटिल्य के निकटवर्ती हैं।

अश्वघोष अपने को 'साकेतक' कहते हैं और अपनी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' बताते हैं। रामायण का उनके ग्रन्थों पर विशेष प्रभाव है, और वह इस बात पर जोर देते हैं कि 'शाक्य' इक्ष्वाकु-वंश के थे। अश्वघोष ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों के समान उनकी शिक्षा हुई थी। हमको यह नहीं मालूम है कि वह कैसे बौद्धधर्म में दीक्षित हुए। किन्तु उनके तीनों ग्रन्थ के विषय ऐसे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वह बौद्धधर्म के प्रचार में बहुत व्यस्त थे। तिब्बती विवरण के अनुसार वह एक अच्छे संगीतज्ञ भी थे, और गायकों के साथ वह भ्रमण करते थे, और बौद्धधर्म का प्रचार गानों द्वारा करते थे। चीनी यात्री इत्सिङ् का कहना है कि उनके समय में बुद्ध-चरित का बड़ा प्रचार था और समस्त भारत में तथा दक्षिण-समुद्र के देशों (सुमात्रा, जावा आदि) में बुद्ध-चरित बड़ा लोकप्रिय था।

बुद्ध-चरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्र प्रकरण—अश्वघोष के इन तीन ग्रन्थों से हम परिचित हैं। बुद्ध-चरित में जैसा नाम से ही प्रकट है, बुद्ध की कथा वर्णित है। इसमें २८ सर्ग हैं। किन्तु प्रथम सर्ग का ¾ भाग, २–१३ सर्ग, तथा १४वें सर्ग का ⅓ भाग ही मिलते हैं। बुद्ध-कथा भगवत्प्रसूति से आरंभ होती है और संवेगोत्पत्ति, अभिनिष्क्रमण, मारविजय, संबोधि, धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन, परिनिर्वाण आदि घटनाओं का वर्णन कर प्रथम धर्म-संगीति और अशोक के राज्य-काल पर परिसमाप्त होती है। सौन्दरनन्द में बुद्ध के भाई नन्द के बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने की कथा है। इस ग्रन्थ में १८ सर्ग हैं। समग्र-ग्रन्थ सुरक्षित है। शारिपुत्र-प्रकरण नाटक ग्रन्थ है। इसमें ६ अंक हैं। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्ध-धर्म में दीक्षित

होने की कथा वर्णित है। इसका कियदंश ही प्राप्त है। इसका उद्धार प्रोफेसर लुडर्स ने किया है। यह तीनों ग्रन्थ एक ही ग्रन्थकार के रचे मालूम होते हैं। एक ही प्रकार के भाव और वाक्य बुद्ध-चरित और सौन्दरनन्द में बार-बार मिलते हैं। श्रीजान्सटन, जिन्होंने बुद्ध-चरित का सम्पादन किया है, भूमिका में लिखते हैं कि मैं तब तक बुद्ध-चरित का संपादन नहीं कर सका जब तक मैंने सौन्दरनन्द का पाठ ठीक तरह से निश्चत नहीं कर लिया। चीनी और तिब्बती अनुवाद अश्वघोष को अन्य-ग्रन्थों का भी रचयिता बताते हैं। टामस ने इन ग्रन्थों की सूची कवीन्द्रवचनसमुच्चय-में दिया है, क्योंकि संस्कृत-ग्रन्थ अप्राप्य हैं। इसलिये उनके सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना संभव नहीं है। किन्तु वे ग्रन्थ जिनका विषय मुख्यतः दार्शनिक है अथवा जिनमें महायान का विकसित रूप पाया जाता है, अश्वघोष के नहीं हो सकते, क्योंकि अश्वघोष कवि और प्रचारक हैं, और उनका समय महायान के विकसित रूप से पूर्व का है। किन्तु कुछ ऐसे संस्कृत-ग्रन्थ हैं जिनके संबन्ध में मत देना आवश्यक है।

प्रोफेसर लुडर्स को शारिपुत्र-प्रकरण के साथ दो नाटकों के अंश मिले थे, इनमें से एक के तीन श्लोक मिले हैं। इनकी शैली अश्वघोष की शैली से मिलती है। एक श्लोक में बुद्ध के ऋद्धि-बल का प्रदर्शन है और सौन्दरनन्द, सर्ग ३, श्लोक २२ से इसका साम्य है। दोनों में एक ही उपमा का प्रयोग किया गया है। क्या यह संभव है कि कोई दूसरा अश्वघोष की शैली की विशेषताओं का इतना अच्छा अनुकरण कर सकता? दूसरे नाटक में एक नवयुवक की कथा है जिसका अनुचित-संबन्ध मगधवती से हो गया, और जिसने बौद्ध-धर्म में दीक्षा ली। इस नाटक के रचयिता के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है क्योंकि हमारे पास यह कहने के लिये पर्याप्त प्रमाण नहीं है, कि यह ग्रन्थ भी अश्वघोष की रचना है।

तीन और ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके रचयिता अश्वघोष बताये जाते हैं। इनमें से एक वज्र-सूची है। इस ग्रन्थ की शैली अश्वघोष की शैली से सर्वथा भिन्न है। चीनी अनुवाद के अनुसार धर्मकीर्ति इसके रचयिता हैं। इसकी सत्यता पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं मालूम होता। कम से कम यह ग्रन्थ अश्वघोष का नहीं है। दूसरा ग्रन्थ गंडी-स्तोत्र है। इसमें २६ श्लोक हैं। अधिकांश श्लोकों का छन्द स्रग्धरा है। २० वें श्लोक के अनुसार यह ग्रन्थ काश्मीर में लिखा गया जब कि वहाँ का प्रबन्ध बिगड़ गया था। शैली की दृष्टि से इसका अश्वघोष की कृतियों से कोई साम्य नहीं है। पुनः यह ग्रन्थ कई शताब्दी पीछे का मालूम पड़ता है।

इत्सिंग 'सूत्रालंकार' नाम के ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं जिसे वह अश्वघोष का बताते हैं। सन् १६०८ में इ० ह्यूबर ने इस नाम से एक चीनी ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित किया था, जिसे चीनी अनुवादक अश्वघोष का बताते हैं। बाद को मध्य-एशिया में मूल संस्कृत के अंश लुडर्स को मिले और उन्होंने सिद्ध किया कि ग्रन्थकार का नाम वहाँ कुमारलात बताया गया है और ग्रन्थ का नाम कल्पनामण्डितिका है। इससे बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। कई प्रसिद्ध विद्वानों ने अपना यह मत व्यक्त किया कि यह संग्रह या तो अश्वघोष का है अथवा कुमारलात ने अश्वघोष की किसी रचना को नया रूप दिया है। अब सामान्यतः

विद्वान् इस पर सहमत हैं कि यह अश्वघोष की रचना नहीं है, हस्तलिखित पोथी का काल ही इसका निर्णय करने में पर्याप्त है।

यह निश्चित है कि अश्वघोष हीनयान के अनुयायी थे। चीनी आम्नाय के अनुसार वह सर्वास्तिवादी थे और पार्श्व (=पूर्ण या पूर्णाश) ने उनको बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था। किन्तु अश्वघोष विभाषा के सिद्धान्तों से अपरिचित थे। यदि वह सर्वास्तिवादी थे तो वह ऐसे समय में रहे होंगे जब विभाषा के मुख्य-सिद्धान्त स्थिर नहीं हुए थे। सौन्दरनन्द, १७ वाँ सर्ग, श्लोक १८ देखिए :—

"यस्मादभूत्वा भवतीह सर्वं, भूत्वा च भूयो न भवत्यवश्यम्"।

सर्वास्तिवादी इसका प्रतिषेध करते हैं। यह विचार मज्झिम-निकाय (३, २५) के आधार पर है। पुनः सौन्दरनन्द के १२ वें सर्ग में श्रद्धा की बड़ी महिमा बतायी गयी है। इसकी समता केवल पूर्वकालीन महायान-सूत्र में पायी जाती है। श्रद्धा केवल धर्मच्छन्द नहीं है, यह बुद्ध के प्रति भक्ति है। सर्वास्तिवाद के आगम में इसका कोई महत्व नहीं है किन्तु अश्वघोष इस पर बहुत जोर देते हैं। अश्वघोष कहते हैं :—

श्रद्धांकुरमिमं तस्मात् संवर्द्धयितुमर्हसि।
तद्वृद्धौ वर्धते धर्मो मूलवृद्धौ यथा द्रुमः ॥४१॥

जहाँ वसुबन्धु सौन्दरनन्द के एक ऐसे श्लोक का उद्धरण देते हैं किन्तु अश्वघोष का उल्लेख नहीं करते, वहीं सत्यसिद्धि के रचयिता हरिवर्मा अश्वघोष को प्रमाण मानते हैं। सत्य-सिद्धि (पूसें के अनुसार 'तत्त्वसिद्धि') के दो उद्धरण अश्वघोष की उक्तियों से मिलते जुलते हैं, किन्तु उनका उल्लेख अभिधर्मकोश में नहीं है। अनित्य के सम्बन्ध में इसमें कहा है कि धर्म अनित्य हैं क्योंकि उनके हेतु अनित्य हैं। सौन्दरनन्द सर्ग १७, श्लोक १८ में इसी प्रकार की उक्ति है। पुनः एक दूसरे स्थान पर कहा है—स्कन्ध, धातु, आयतन और हेतु-प्रत्यय-सामग्री है और कोई कर्त्ता और भोक्ता नहीं है। ये विचार सौन्दरनन्द, सर्ग १७, श्लोक २० में पाये जाते हैं। इससे यह स्वाभाविक अनुमान है कि अश्वघोष या तो बहुश्रुतिक हैं या किसी ऐसे निकाय में प्रपन्न हैं जिससे बहुश्रुतिक निकले हैं। बहुश्रुतिक के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान वसुमित्र के ग्रन्थ पर आश्रित है। वसुमित्र के अनुसार बहुश्रुतिक दो वस्तुओं को छोड़कर अन्य विषयों में सर्वास्तिवादी थे। उनका विचार था कि अनित्य, दुःख, शून्य, अनात्मक और शान्त (=निर्वाण) के सम्बन्ध में बुद्ध की शिक्षा लोकोत्तर है, क्योंकि यह निःसरण मार्ग है। सौन्दर-नन्द सर्ग १७, श्लोक १७–२१, का मत सत्यसिद्धि के मत से मिलता है। अतः अश्वघोष बहुश्रुतिक हैं, बहुश्रुतिक महासांघिक की शाखा है और इसलिए यह महादेव के ५ वस्तुओं को स्वीकार करते हैं। इनमें से चतुर्थ के अनुसार अर्हत् पर-प्रत्यय से ज्ञान प्राप्त करते हैं, यह स्पष्ट है कि पर-प्रत्यय के लिए श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। कोश के अनुसार यह व्यक्ति श्रद्धानुसारी है। जान्सटन का कहना है कि यहाँ हमको मालूम होता है कि अश्वघोष श्रद्धा पर क्यों इतना जोर देते हैं। जान्सटन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अश्वघोष बहुश्रुतिक या कौकुलिक हैं।

तारानाथ के अनुसार मातृचेट अश्वघोष का दूसरा नाम है। इत्सिंग का कहना है कि मातृचेट का स्तोत्र अत्यन्त लोकप्रिय था। इत्सिंग ने स्वयं इसका चीनी में अनुवाद किया था। सौभाग्य से मध्य-एशिया में मूलस्तोत्र का एक बहुत बड़ा भाग खोज में मिल गया है। मातृचेट अश्वघोष के बाद के हैं। इसी प्रकार 'आर्यशूर' जिनकी जातकमाला प्रसिद्ध है, अश्वघोष के ऋणी हैं। जातकमाला ३४ जातक-कथाओं का संग्रह है। इनमें से लगभग सभी कथायें पालिजातक में पायी जाती हैं। इत्सिंग जातकमाला की भी प्रशंसा करता है और कहता है कि इसका उस समय बड़ा आदर था। अजन्ता की गुफाओं में जातकमाला के दृश्य खचित हैं। आर्यशूर का समय चौथी शताब्दी है।

अवदान-साहित्य

अवदान (पालि, अपदान) शब्द की व्युत्पत्ति अज्ञात है, कम से कम विवाद-ग्रस्त है। ऐसा समझा जाता है कि इसका प्रारंभिक अर्थ असाधारण, अद्भुत कार्य है। अवदान-कथायें कर्म-प्राबल्य को सिद्ध करने की दृष्टि से लिखी गयी हैं। आरंभ में 'अवदान' का कोई भी अर्थ क्यों न रहा हो, यह असंदिग्ध है कि प्रायः इस शब्द का अर्थ कथामात्र रह गया है। 'महावस्तु' को भी 'अवदान' कहा है। अवदान-कथाओं का सबसे प्राचीन संग्रह अवदान-शतक है। तीसरी शताब्दी में इसका चीनी अनुवाद हुआ था। प्रत्येक कथा के अन्त में यह निष्कर्ष दिया हुआ है कि शुक्ल-कर्म का शुक्ल-फल, कृष्ण का कृष्ण, और व्यामिश्र का व्यामिश्र-फल होता है। इनमें से अनेक-अवदानों में अतीत-जन्म की कथा दी है जिसका फल प्रत्युत्पन्न-काल में मिला। किसी किसी अवदान में बोधिसत्त्व की कथा है। इन्हें हम जातक भी कह सकते हैं क्योंकि जातक में बोधिसत्त्व के जन्म की कथा दी गई है, किन्तु कुछ ऐसे भी अवदान हैं जिनमें अतीत की कथा नहीं पायी जाती। कुछ अवदान 'व्याकरण' के रूप में हैं अर्थात् इनमें प्रत्युत्पन्न की कथा वर्णित कर अनागत-फल का व्याकरण किया गया है।

अवदान-शतक–हीनयान का ग्रन्थ है। इसके चीनी अनुवादकों का ही यह मत नहीं है, किन्तु इसके अन्तरंग प्रमाण भी विद्यमान हैं। सर्वास्तिवाद आगम के परिनिर्वाणसूत्र तथा अन्य सूत्रों के उद्धरण अवदान-शतक में पाये जाते हैं। यद्यपि इसकी कथाओं में बुद्ध-पूजा की प्रधानता है तथापि बोधिसत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। अवदान-शतक की कई कथायें अवदान के अन्य-संग्रहों में और कुछ पालि-अपदानों में भी पायी जाती है।

दिव्यावदान–का संग्रह बाद का है, किन्तु इसमें कुछ प्राचीन कथायें भी हैं। यह मूलतः हीनयान का ग्रन्थ है, यद्यपि इसके कुछ अंश महायान से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसा विश्वास था कि इसकी सामग्री बहुत-कुछ मूल-सर्वास्तिवाद के विनय से प्राप्त हुई है। विनय के कुछ अंशों के प्रकाशन से (गिलगिट हस्तलिखित पोथी, जिल्द ३) यह बात अब निश्चित हो गयी है। दिव्यावदान में दीर्घागम, उदान, स्थविरगाथा आदि के उद्धरण प्रायः मिलते हैं। दिव्यावदान में विनय से अनेक अवदान शब्दशः उद्धृत किये गये हैं। कहीं-कहीं बौद्ध-भिक्षुओं की चर्या के नियम भी दिये गये हैं जो इस दावे की पुष्टि करते हैं कि दिव्यावदान मूलतः विनय-ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की रचना में कोई योजना नहीं दीखती। भाषा और शैली भी एक प्रकार की नहीं है। अधिकांश कथायें सरल संस्कृत-गद्य में लिखी गयी हैं। बीच-बीच में गाथायें उप-न्यस्त हैं किन्तु कुछ ऐसी भी कथायें हैं जिनमें समासान्त पदों का बाहुल्य से प्रयोग किया गया है और प्रौढ़ काव्य के छन्द व्यवहृत हुए हैं। ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न भाग एक काल के नहीं हैं। कुछ ऐसे अंश हैं जो निश्चित रूप से तीसरी शताब्दी (ईसा) से पूर्व के हैं, किन्तु संग्रह चौथी शताब्दी से पूर्व का नहीं हो सकता। 'दीनार' शब्द का प्रयोग बार-बार आता है। इसमें शुंग-वंश के राजाओं का भी उल्लेख है। पुनः शार्दूल-कर्णावदान का अनुवाद चीनी-भाषा में २६५ ई० में हुआ था। दिव्यावदान में अशोकावदान और कुमारलात की कल्पनामंडितिका से अनेक उद्धरण हैं। दिव्यावदान की कई कथायें अत्यन्त रोचक हैं। उपगुप्त और मार की कथा और कुणालावदान इसके अच्छे उदाहरण हैं।

अवदान-शतक की सहायता से अनेक अवदान-मालाओं की रचना हुई। यथाः—**कल्प-द्रुमावदानमाला, अशोकावदानमाला**। **द्वाविंशत्यवदानमाला** भी अवदान शतक का ऋणी है। अवदानों के अन्य संग्रह **भद्रकल्पावदान** और **विचित्रकर्णिकावदान** हैं। इनमें से प्रायः सभी अप्र-काशित हैं। कुछ केवल तिब्बती और चीनी अनुवाद मिलते हैं।

क्षेमेन्द्र कवि की **अवदान-कल्पलता** का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इस ग्रन्थ की समाप्ति १०५२ ई० में हुई। तिब्बत में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है। इस संग्रह में १०७ कथायें हैं। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने ग्रन्थ की भूमिका ही नहीं लिखी किन्तु एक कथा भी अपनी ओर से जोड़ दी। यह जीमूतवाहन-अवदान है।

महायान-सूत्र

महायान-सूत्र अनेक हैं किन्तु इनमें से कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका विशेष-रूप से आदर है। इनकी संख्या ९ है। ये इस प्रकार हैं—अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञा-पारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललित-विस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागत-गुह्यक, समाधिराज और दशभूमीश्वर। इन्हें नेपाल में नवधर्म (धर्मपर्याय) कहते हैं। इन्हें वैपुल्यसूत्र भी कहते हैं। नेपाल में इनकी पूजा होती है।

सद्धर्म-पुण्डरीक—महायान के वैपुल्य-सूत्रों का सर्वोत्कृष्ट-ग्रन्थ सद्धर्म-पुण्डरीक है। महायान की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के बाद ही संभवतः इस ग्रन्थ की रचना हुई। इस ग्रन्थ का संपादन ई० १९१२में प्रो. एच. कर्न और प्रो. बुनयिउ नंजियो ने किया है। 'सद्धर्म-पुण्डरीक' नाम के बारे में एम. अनिसाकी कहते हैं—'पुण्डरीक' अर्थात् 'कमल' शुद्धता और पूर्णता का चिन्ह है। पंक में उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार कमल उससे उपलिप्त नहीं होता उसी प्रकार बुद्ध इस लोक में उत्पन्न होने पर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। यह ग्रन्थ चीन जापान आदि महायानधर्मी देशों में बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी-भाषा में इस मूल-ग्रन्थ के छः अनुवाद हुए, जिसमें सबसे पहला अनुवाद ईस्वी सन् २२३ में हुआ। धर्मरक्ष, कुमारजीव, ज्ञानगुप्त और धर्मगुप्त इन आचार्यों के अनुवाद भी पाये जाते हैं। चीनी-परंपरा के अनुसार इस ग्रन्थ पर बोधिसत्व

वसुबन्धु ने सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र-शास्त्र नाम की टीका लिखी थी, जिसका अनुवाद बोधिरुचि और रत्नमति ने लगभग ई० ५०८ में चीनी-भाषा में किया था। चीन और जापान में सद्धर्म-पुण्डरीक का कुमारजीव-कृत अनुवाद अधिक लोकप्रिय है और उसपर कई टीकायें लिखी गई हैं। ईसा के ६१५वें वर्ष में जापान के एक राजपुत्र शी-तोकु-ताय-शि ने इसी ग्रन्थ पर एक टीका लिखी थी, जो आज भी बड़े आदर से पढ़ी जाती है। सद्धर्म-पुण्डरीक का रचनाकाल यद्यपि निश्चित नहीं है तथापि उसकी मिश्र-संस्कृत भाषा, स्तूप-पूजा और बुद्ध-भक्ति आदि का विशेष वर्णन देखकर यह कहा जा सकता है कि महावस्तु और ललित-विस्तर के बाद, किन्तु ईसा के प्रथम शतक के प्रारंभ में, इसकी रचना हुई है।

इस ग्रन्थ के अन्तिम सात अध्याय बाद को जोड़े गए हैं। यदि हम इनका तथा अन्य क्षेपक-स्थलों का विचार न करें तो इस ग्रन्थ की रचना एक विशेष-पद्धति के अनुसार हुई मालूम पड़ती है। यह महायान-धर्म के विशेष-सिद्धान्तों की एक अच्छी भूमिका है। साहित्य की दृष्टि से भी यह एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है, यद्यपि इसकी शैली आज के लोगों को नहीं पसन्द आवेगी। इसमें अतिशयोक्ति है; एक ही बात बार-बार दुहराई गई है। शैली संक्षिप्त न होकर विस्तार-बहुल है।

सद्धर्म-पुण्डरीक में कुल २७ अध्याय हैं, जिन्हें 'परिवर्त' कहा जाता है। पहले निदान-परिवर्त में ग्रन्थ के निर्माण के विषय में कहा गया है कि यह ग्रन्थ 'वैपुल्यसूत्रराज' है।

वैपुल्यसूत्रराजं परमार्थनयावतारनिर्देशम्।
सद्धर्म-पुण्डरीकं सत्त्वाय महापथं वक्ष्ये॥

सूत्र का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट-पर्वत पर अनेक क्षीणास्रव, बोधिसत्व, देव, नाग, किन्नर, असुर और राजा मागध अजातशत्रु से परिवेष्टित हो 'महानिर्देश' नाम के धर्मपर्याय का उपदेश करके 'अनन्तनिर्देश-प्रतिष्ठान' नामक समाधि में स्थित हुए। उस समय भगवान् के उष्णीष-विवर से रश्मि प्रादुर्भूत हुई, जिससे सभी बुद्धक्षेत्र परिस्फुट हुए। इस आश्चर्य को देखकर मैत्रेय बोधिसत्व को ऐसा हुआ—'अहो! भगवान् का यह प्रातिहार्य किसी महानिमित्त को लेकर हुआ है।' मैत्रेय बोधिसत्व ने मंजुश्री बोधिसत्त्व से प्रार्थना की कि वे इसका रहस्य बतावें। मंजुश्री बोधिसत्व ने बताया कि महाधर्म का श्रवण कराने के हेतु, महाधर्म-वर्षा करने की इच्छा से, भगवान् यह प्रातिहार्य बता रहे हैं। पूर्व काल में भी चन्द्र,सूर्य, प्रदीप, नाम के तथागत हुए थे, उन्होंने भी श्रावकों को चतुरार्यसत्य-संप्रयुक्त प्रतीत्यसमुत्पाद-प्रवृत्त-धर्म का उपदेश दिया जो दुःख का समतिक्रम करनेवाला था और निर्वाण-पर्यवसायी था। जो बोधिसत्त्व थे उन्हें षट्पारमिताओं का तथा सर्वज्ञानपर्यवसायी धर्म का उपदेश दिया। वे भी महानिर्देश नाम के धर्म-पर्याय का उपदेश करने पर ऐसे ही समाधिस्थ हुए थे। उस समय उनके भी उष्णीष-विवर से ऐसी ही रश्मि प्रादुर्भूत हुई थी और उसके बाद उन्होंने सर्वबुद्धों के परिग्रह से युक्त, सर्व-बोधिसत्वों की प्रशंसा से समन्वित महावैपुल्यसूत्रान्त 'सद्धर्मपुण्डरीक' का उपदेश किया था। आज भी भगवान् इस समाधि से व्युत्थित होने पर 'सद्धर्मपुण्डरीक' का उपदेश करेंगे।

भगवान् समाधि से व्युत्थित हुए और शारिपुत्र को संबोधित किया—"हे शारिपुत्र ! बुद्धों का ज्ञान, सम्यक्सम्बुद्धों का ज्ञान श्रावक और प्रत्येकबुद्धों के लिए दुर्विज्ञेय है। स्व-प्रत्यय से वे धर्म का प्रकाशन करते हैं और सत्वों के भिन्न-भिन्न स्वभाव के अनुसार विविध उपाय-कौशल्यों के द्वारा उनके दुःख का निवारण करते हैं"। भगवान् के इन वचनों को वहां उपस्थित आज्ञातकौण्डिन्य आदि अर्हत्, क्षीणास्रव महाश्रावकों ने सुना। उन्हें आश्चर्य हुआ कि क्या कारण है कि आज भगवान् बिना प्रार्थना किये ही स्वयं कह रहे हैं कि बुद्ध-धर्म दुरनुबोध है ? भगवान् ने जो विमुक्ति बतलाई है उस विमुक्ति को—निर्वाण को—तो हमने प्राप्त ही किया है। भगवान् कैसे कहते हैं कि बुद्ध-ज्ञान हमारे लिए दुर्विज्ञेय है ? शारिपुत्र ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अर्हतों के कुतूहल का, शंका का, निवारण करें। भगवान् ने कहा—शारिपुत्र ! सुनो, मैं कहता हूँ।

भगवान् के मुख से ये शब्द निकलते ही उस परिषद् से पांच हजार आभिमानिक भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक और उपासिकायें आसन से उठकर भगवान् को प्रणाम करके चले गये।

तब भगवान् ने कहा—अच्छा हुआ शारिपुत्र ! अब संघ शुद्ध है। सुनो ! हे शारिपुत्र ! तथागत का संधभाष्य दुर्बोध्य है। नाना निरुक्ति और निदर्शनों से और विविध-उपाय कौशल्यों से मैंने धर्म का प्रकाशन किया है। सद्धर्म तर्क-गोचर नहीं है। तथागत सत्वों को ज्ञान का प्रतिबोध कराने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। यह महा कृत्य एक ही यान पर अधिष्ठित होकर बुद्ध करते हैं। यह यान है 'बुद्ध-यान'। इससे अन्य कोई दूसरा या तीसरा यान नहीं है। नाना अभिमुक्तियों के लिए और नाना धात्वाशय के सत्वों के लिए विविध उपाय-कौशल्य हैं किन्तु उन सभी उपाय-कौशल्यों का पर्यवसान बुद्ध-यान में ही है। यह बुद्धयान ही सर्वज्ञता-पर्यवसान, तथागत-ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति, उसका संदर्शन, अवतरण और प्रतिबोधन करनेवाला है। अतीत, अनागत, और वर्तमान तीनों काल में तथागतों ने बुद्धयान ही स्वीकृत किया है। हे शारिपुत्र ! जब सम्यक्-संबुद्ध क्लेश, दृष्टि,संक्षोभ और अकुशलमूल के बाहुल्य से युक्त सत्वों के बीच पैदा होते हैं, तब बुद्धयान का ही तीन यानों के रूप में निर्देश करते हैं। इसलिए हे शारिपुत्र ! जो श्रावक, अर्हत् या प्रत्येक-बुद्ध इस बुद्धयान को न सुनगे या न मानेंगे, वे न तो श्रावक हैं, न अर्हत् हैं और न प्रत्येक बुद्ध ही हैं। इसलिए हे शारिपुत्र ! तुम विश्वास करो कि एक ही यान है 'बुद्धयान'।

"एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते
···तृतियं हि नैवास्ति कदाचि लोके।
एकं हि कार्यं द्वितियं न विद्यते
न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः ॥२ –५५

यह दूसरा उपाय-कौशल्य-परिवर्त है। भगवान् का यह उपदेश सुनकर शारिपुत्र ने प्रमुदित होकर भगवान् को प्रणाम किया और कहा "भगवन् ! आपका यह घोष सुनकर मैं आश्चर्य-चकित हूँ। हे भगवन् ! मैं बार-बार खिन्न होता हूँ कि मैं हीनयान में क्यों प्रविष्ट हुआ। अनागत-काल में बुद्धत्व प्राप्त करके धर्मोपदेश करने का मौका मैंने गवांया। किन्तु, भगवन् !

वह मेरा ही अपराध है, न कि आपका। यदि भगवान् से हम पहले ही प्रार्थना करते तो भगवान् हमें सामुत्कर्षिकी-धर्मदेशना (चतुरादि-सत्य-देशना) के समय ही इस अनुत्तरा सम्यक्-संबोधि की भी देशना देते और हम बुद्ध-यान में ही निर्यात होते। भगवन्! आज बुद्ध-यान का उपदेश सुनकर मैं कृतार्थ हुआ हूँ, मेरा पश्चात्ताप मिट गया है।" भगवान् ने कहा "हे शारिपुत्र ! मैं तुमको बताता हूँ कि तुमने अतीत-भवों में अनुत्तरा-सम्यक्संबोधि के लिए मेरे पास ही चर्या-प्रणिधान किया है, किन्तु तुम उसका स्मरण नहीं कर पा रहे हो और अपने को निर्वाण-प्राप्त समझते हो ? पूर्व के चर्या-प्रणिधान-ज्ञान का तुम्हें स्मरण दिलाने के लिएही 'सद्धर्मपुण्डरीक' नाम के इस महावैपुल्य धर्मपर्याय का प्रकाशन श्रावकों के निमित्त करूँगा।" "हे शारिपुत्र ! अनागत काल में तुम भी पद्मप्रभ नाम के तथागत होकर धर्म-प्रकाश करोगे। यह मेरा व्याकरण है; तुम प्रसन्न हो।" भगवान् के इस व्याकरण का देवों ने अभिनन्दन किया और कहा—भगवान् ने पहला धर्मचक्र-प्रवर्तन वाराणसी में किया था, यह अनुत्तर द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्तन भगवान् ने अब किया है।

"पूर्वं भगवता वाराणस्यामृषिपतने मृगदावे धर्मचक्रं प्रवर्तितमिदं पुनर्भगवताद्यानुत्तरं द्वितीयं धर्मचक्रं प्रवर्तितम्"।

तब शारिपुत्र ने कहा—"भगवन् मैं निष्कांक्ष हूँ। भगवान् के व्याकरण से मैं निष्कांक्ष हुआ हूँ। परन्तु यहाँ बारह हजार ऐसे श्रावक हैं जिन्हें भगवान् ने ही पहले शैक्षभूमि में आहित किया था। आपने उनसे कहा था—

"एतत्पर्यवसानो मे भिक्षवो धर्मविनयो यदिदं जाति-जरा-व्याधि-मरण-शोकसमतिक्रमो निर्वाणसमवसरणः।"

इन्हें भगवान् के इस द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्त्तन को सुनकर विचिकित्सा हुई। भगवान् इन्हें निशंक करें"। तब भगवान् ने कहा—शारिपुत्र ! मैं तुम्हें एक उपमा देता हूँ। यहाँ किसी नगर में एक महाधनी पुरुष है। उसके कई बच्चे हैं। उसके निवेशन में यदि आग लग जाय और उसमें उसके बच्चे घिर जायें और निकलने का एक ही द्वार हो, तब वह पिता सोचता है कि बच्चों को खिलौने प्रिय हैं और मेरे पास कई खिलौने हैं जैसे कि गोरथ, अजरथ, मृगरथ, इत्यादि। झट वह बच्चों को पुकारकर कहता है—बच्चो ! आओ ! खिलौने लो ! तब वे बच्चे खिलौने के लोभ से शीघ्र बाहर आ जाते हैं। हे शारिपुत्र ! वह पिता उन सभी बच्चों को सर्वोत्कृष्ट गोरथ ही देता है। अजरथ या मृगरथ, जो हीन है, उसे नहीं देता। ऐसा क्यों ? इसीलिए कि वह पुरुष महाधनी है, उसका कोश और कोष्ठागार सम्पूर्ण है। ये सभी मेरे पुत्र हैं। मुझे चाहिये कि मैं सबको समान मानकर 'महायान' ही दूँ। क्या शारिपुत्र ! उस पिता ने तीन यानों को बताकर एक ही 'महायान' दिया इसमें क्या उसका मृषावाद है ? शारिपुत्र कहा—'नहीं; भगवन्'। "साधु, शारिपुत्र ! तथागत सम्यक्-सम्बुद्ध भी महोपायकौशल्यज्ञानपरमपारमिता-प्राप्त महाकारुणिक, हितैषी और अनुकम्पक हैं। वह सभी सत्वों के पिता हैं। (अहं खल्वेषां सत्वानां पिता) दुःखरूपी निवेशन से बाहर लाने के लिए वह श्रावकयान, प्रत्येक-बुद्धयान

और बुद्धयान बताते हैं लेकिन अन्त में वह सबको बुद्धयान की ही देशना करते हैं। वही श्रेष्ठयान है, वही महायान है। यह औपम्य-परिवर्त नाम का तीसरा परिवर्त है।

शारिपुत्र के बारे में भगवान् ने जो व्याकरण किया उसे सुनकर आयुष्मान् सुभूति, महाकाश्यप, महामौद्गल्यायन आश्चर्य-चकित हुए और उन्होंने भगवान् से कहा :—भगवन्! इस भिक्षु-संघ में हम जीर्ण, वृद्ध, एवं स्थविर संमत हैं; हम निर्वाण को प्राप्त हैं; इसलिए अनुत्तरा सम्यक्-संबोधि के विषय में हम निरुद्यम हैं। जब भगवान् उपदेश देते हैं तब भी हम शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित का ही विचार करते हैं, किन्तु भगवान् से उपदिष्ट बुद्ध-धर्मों में या बोधिसत्व-विक्रीडित में हमें स्पृहा उत्पन्न नहीं हुई है। भगवन्! हम तो निर्वाण-संज्ञी थे। अब भगवान् ने तो यह भी बताया कि हमारे जैसे अर्हत् भी संबोधि की प्राप्ति करके तथागत बन सकते हैं। आश्चर्य है भगवन्! अद्भुत है भगवन्! अचिन्तित, अप्रार्थित ही भगवान् से एक अप्रमेय-रत्न हमें आज मिला है। यह अधिमुक्ति-परिवर्त नाम का चौथा परिवर्त है। जैसे कोई जात्यन्ध हो और वात, पित्त, श्लेष्म से पीड़ित हो; उसे कोई महावैद्य अनेक औषधियों से व्याधि का प्रशमन कर दृष्टिलाभ करा दे; उसी प्रकार तथागत एक महावैद्य हैं, मोहान्ध-सत्व जात्यन्ध हैं। राग, द्वेष, मोह, वात, पित्त, श्लेष्म हैं; शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित औषधि या निर्वाण द्वार हैं। इस शून्यतादि विमोक्षमुखों की भावना करके अविद्या का निरोध करते हैं। अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध और क्रम से इस महान् दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है। इस प्रकार वह न पाप में स्थित होता है न कुशल में प्रतिष्ठित होता है। यही उस जन्मान्ध का चक्षु-लाभ है।

जिस प्रकार अन्ध को चक्षु का लाभ होता है उसी प्रकार यह श्रावक और प्रत्येक-बुद्धयानीय है। वह संसार के क्लेशबन्धनों का छेद करके षड्गतियों से और त्रैधातुक से मुक्त होते हैं। इसी से श्रावकयानीय ऐसा मानता है और कहता भी है—"दूसरे कोई अभिसम्बो-द्धव्य धर्म अब बाकी नहीं है। मैं निर्वाण को प्राप्त हुआ हूँ।" तब तथागत उसे धर्म की देशना करते हैं कि जो सर्वधर्मों को प्राप्त नहीं हुआ उसका निर्वाण कैसे ? तब भगवान् उसे बोधि में स्थिर करते हैं। बोधिचित्त को उत्पन्न करके वह न संसार में स्थित होता है और न निर्वाण को ही प्राप्त होता है। वह त्रैधातुक का अवबोध करके दश दिशाओं में शून्य निर्मितोपम, मायोपम, स्वप्नमरीचिकोपम, लोक को देखता है। वह सर्व धर्मों को अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अबद्ध, अमुक्त-स्वभाव में देखता है।"

हे काश्यप! तथागत सत्वविनय में सम हैं, असम नहीं। जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य की प्रभा सर्वत्र सम होती है इसी प्रकार सर्वज्ञ-ज्ञान चित्तप्रभा पंचगतियों में उत्पन्न सत्वों में उनके अधिमुक्ति के अनुसार महायानिक, प्रत्येकबुद्धयानि और श्रावकयानिकों में समभाव से सद्धर्म-देशना को प्रवर्तित करती है। इससे सर्वज्ञज्ञानप्रभा की किसी प्रकार न्यूनता किंवा अतिरिक्तता संभावित नहीं होती। हे काश्यप! यान तीन नहीं हैं; केवल सत्व ही अन्योन्य-चरित हैं, उनके अनुसार तीन यानों की प्रज्ञापना है।

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने भगवान से पूछा—भगवन् ! यदि तीन यान वास्तव में नहीं हैं तो श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्व यह तीन प्रज्ञप्तियां क्यों हैं ?

भगवान् ने कहा—"हे काश्यप ! जिस प्रकार कुम्भकार एक ही मृत्तिका से अनेक भाजन बनाता है; उनमें से कोई गुडभाजन, कोई घृत-भाजन और कोई क्षीर-भाजन होता है। इससे मृत्तिका का नानात्व तो नहीं होता; किन्तु द्रव्यप्रक्षेपमात्र से भाजनों का नानात्व होता है। इसी प्रकार हे काश्यप ! बुद्धयान ही वास्तव में एक यान है,दूसरा या तीसरा कोई याननहीं है।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने पूछा—"भगवन् ! यदि सत्व नानाधिमुक्त हैं और वे त्रैधातुक से निःसृत हैं तो क्या उनका एक ही निर्वाण है या दो या तीन हैं 'भगवान् ने कहा—काश्यप ! सर्वधर्म-समतावबोध से ही निर्वाण होता है। वह एक ही है, दो या तीन नहीं।' महाकाश्यप आदि स्थविरों का यह वचन सुनकर भगवान् ने कहा—साधु, साधु, महाकाश्यप ! तुमने ठीक ही कहा है। हे काश्यप ! तथागत धर्मस्वामी, धर्मराज और प्रभु हैं। वे सर्वधर्मों का युक्ति से प्रतिपादन करते हैं। जिस प्रकार इस त्रिसाहस्रमहासाहस्र-लोकधातु में पृथ्वी, पर्वत और गिरि-कन्दरों में उत्पन्न हुए जितने तृण, गुल्म, औषधि और वनस्पतियां हैं, उन सबको महाजल मेघ समकाल में वारिधारा देता है, वहां यद्यपि एक धरणी पर ही तरुण एवं कोमल तृण, गुल्म, औषधियां और महाद्रुम भी प्रतिष्ठित हैं और वे एक तोय से अभिष्यन्दित हैं, तथापि अपने अपने योग्यतानुरूप ही जल लेते हैं और फल देते हैं। ठीक इसी प्रकार जब तथागत इस लोक में उत्पन्न होकर धर्म-वर्षा करते हैं तब बहुसहस्र सत्व उनसे धर्मश्रवण करने आते हैं। तथागत भी उन सत्वों के श्रद्धादि इन्द्रिय, वीर्य और परापरवैमात्रता को जानकर भिन्न-भिन्न धर्मपर्यायों का उपदेश करते हैं। सत्व भी यथाबल यथास्थान सर्वज्ञधर्म में अभियुक्त होते हैं। जिस प्रकार मेघ एक जल है उसी प्रकार तथागत जिस धर्म का उपदेश देते हैं वह सर्वधर्म एकरस है—विमुक्तरस, विरागरस, निरोधरस और सर्वज्ञज्ञान-पर्यवसान है। इस सर्वज्ञज्ञान-पर्यवसान धर्म का उपदेश देते समय तथागत श्रोताओं की हीन, मध्यम और उत्कृष्ट अधिमुक्ति को भी जानते हैं। इसलिए काश्यप ! मैं निर्वाणपर्यवसान, नित्यपरिनिर्वृत्त, एकभूमिक और आकाशगतिक अधिमुक्ति को जानकर, सत्वों के रक्षण के लिए सहसा सर्वज्ञज्ञान को प्रकाशित नहीं करता। इसलिए तुम मेरे आज के उपदेश को दुर्विज्ञेय मानते हो। इसलिए हे काश्यप ! बोधि की प्राप्ति ही वास्तविक प्राप्ति है।

प्रज्ञामध्यव्यवस्थानात्प्रत्येकजिन उच्यते।
शून्यज्ञानविहीनत्वाच्छ्रावकः संप्रभाष्यते ॥
सर्वधर्मावबोधात्तु सम्यक्संबुद्ध उच्यते।
तेनोपायशतैर्नित्यं धर्मं देशेति प्राणिनाम् ॥
[५, २-५३]

यह औषधी-परिवर्त नाम का पंचम परिवर्त है।

व्याकरण-परिवर्त नाम के छठे परिवर्त में अनेक श्रावकयान के स्थविरों के बारे में व्याकरण किया गया है। बुद्ध कहते हैं कि "श्रावक काश्यप भविष्य में रश्मिप्रभास नाम के

तथागत होंगे, स्थविर सुभूति 'शशिकेतु' नाम के तथागत होंगे; महाकात्यायन जाम्बूनदप्रभास नाम के तथागत होंगे और स्थविर महामौद्गल्यायन तमालपत्रचन्दनगन्ध नाम के तथागत होंगे" इत्यादि।

पूर्वयोग-परिवर्त नाम के सप्तम परिवर्त में अतीतकाल के एक महाभिज्ञाज्ञानाभिभू नाम के तथागत का और उनकी चर्या का वर्णन है। पंचभिक्षुशतव्याकरण-परिवर्त में पूर्ण मैत्रायणी पुत्र आदि अनेक भिक्षुओं के बुद्धत्व प्राप्ति का व्याकरण किया गया है। नवम व्याकरण-परिवर्त में आयुष्मान् आनन्द और राहुल आदि दो सहस्र श्रावकों के बारे में भी बुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण है। दशम धर्मभाणक-परिवर्त में भगवान् कहते हैं कि इस परिषद् में जिस किसी ने इस धर्मपर्याय की एक भी गाथा सुनी हो या एक चित्तोत्पाद से भी इसकी अनुमोदना की हो वे सभी अनागत काल में बुद्धत्व को प्राप्त करेंगे। एकादश स्तूपसंदर्शन परिवर्त में बताया गया है कि इस धर्मपर्याय के उपदेश के बाद भगवान् के सामने ही परिषद् के मध्य से एक सप्तरत्न-मय स्तूप अभ्युद्गत हुआ और अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित हुआ। भगवान् ने कहा—हे बोधिसत्व! इस महास्तूप में तथागत का शरीर स्थित है उसी का यह स्तूप है, इस परिवर्त में भगवान् के अनेक प्रातिहार्य बताए गये हैं जो अद्भुत धर्म है। इस स्तूप में भी बुद्ध का एक विश्वरूपदर्शन जैसा दर्शन प्राप्त होता है। उसका दर्शन सागर नागराज की कन्या को हुआ जिसने परमभक्ति से अपनी महार्घ-मणि भगवान् को समर्पित किया। उसी क्षण सर्वलोक के सामने उस नागकन्या का स्त्रीन्द्रिय अंतर्हित हुआ और पुरुषेन्द्रिय प्राप्त हुआ। वह बोधिसत्व के रूप में स्थित हुई। बारहवें उत्साह-परिवर्त में अनेक बोधिसत्व और भिक्षु भगवान् से कहते हैं "भगवन्! आप इस धर्मपर्याय के विषय में अल्पोत्सुक हों। हम तथागत के परिनिर्वृत्त होने पर इस धर्मपर्याय को प्रकाशित करेंगे। यद्यपि भगवन्! अनागत काल में सत्व परीत्तकुशल मूल और अधिमुक्ति विरहित होंगे तथापि हम शान्तिबल को प्राप्त करके इस सूत्र को धारण करेंगे, उपदेश करेंगे, उसे लिखेंगे। अपने काय और जीवित का उत्सर्ग करके भी हम इस सूत्र का प्रकाशन करेंगे। भगवान् इस विषय में अल्पोत्सुक, निश्चिन्त हों।"

उस समय महाप्रजापती गोतमी और भिक्षुणी राहुल-माता यशोधरा उसी परिषद् में दुःखी होकर बैठी थी कि भगवान् ने हमारे बारे में बुद्धत्व का व्याकरण क्यों नहीं किया। भगवान् ने उनके चित्त का विचार जानकर कृपा से उनका भी व्याकरण किया।

सुखविहार-परिवर्त नाम के त्रयोदश-परिवर्त में भगवान् बताते हैं कि जो बोधिसत्व आचार गोचर में प्रतिष्ठित हो, सुख-स्थित हो, धर्मप्रेम से पूर्ण हो और मैत्री-विहार से युक्त हो ऐसा ही बोधिसत्व इस धर्मपर्याय का उपदेश करने योग्य है।

चतुर्दश बोधिसत्व पृथिवी-विवर-समुद्गम-परिवर्त में गंगा नदी वालुकोपम संख्या के बोधिसत्वों का दर्शन होता है। तथागतायुष्प्रमाण-परिवर्त नामक पंद्रहवें परिवर्त में बुद्ध के लोकोत्तर भाव का परिचय मिलता है।

वहाँ भगवान् कहते हैं—हे कुलपुत्रों! लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् शाक्यमुनि ने शाक्यकुल से अभिनिष्क्रमण करके गया में बोधिमण्ड के नीचे अनुत्तरा सम्यक्-संबोधि की प्राप्ति की है। हे कुलपुत्र! ऐसा नहीं है। अनेक कोटि कल्पों के पहले ही मैंने सम्यक्-संबोधि की

प्राप्ति की है। जब से मैंने इस लोकधातु में सत्वों को धर्मोपदेश देना प्रारंभ किया है, तब से आजतक मैंने जिन सम्यक्-सम्बुद्धों का परिकीर्तन किया है, दीपंकर प्रभृति तथागतों के निर्वाण का जो वर्णन किया है वह सब मैंने उपाय-कौशल्य से धर्मदेशना के लिए ही किया है। जो सत्व अल्पकुशल मूल संयुक्त है, उन्हें मैं कहता हूँ कि मैं दहर हूँ, अभी ही मैंने सम्यक्-संबोधि की प्राप्ति की है। यह मेरा कहना केवल सत्वों के परिपाचनार्थ ही है। सत्वों के विनय के लिए ही ये सर्वधर्मपर्याय हैं। सत्वों के ही उपकार के लिए तथागत आत्मालम्बन या परालम्बन से उपदेश देते हैं। किन्तु तथागत ने सत्य का दर्शन किया है कि यह त्रैधातुक न भूत है न अभूत, न सत् है, न असत्, न संसार है, न निर्वाण। वस्तुतः भगवान् चिरकाल से अभिसंबुद्ध है और अपरिमित आयु में स्थित हैं। तथागत अपरिनिर्वृत्त हैं, केवल वैनेयवश होकर परिनिर्वाण को बताते हैं:—

अपरिनिर्वृत्तस्तथागतः परिनिर्वाणमादर्शयति वैनेयवशेन। तथागत का प्रादुर्भाव दुर्लभ है। यह बताने से वे लोग वीर्यारंभ में उत्साहित होते हैं। इसीलिए मैं परिनिर्वाण को प्राप्त न होते हुए भी परिनिर्वाण को प्राप्त होता हूँ। यह मृषावाद नहीं है; यह महाकरुणा है।

सोलहवां पुण्यपर्याय-परिवर्त है। सत्रहवां अनुमोदना-पुण्यनिर्देश-परिवर्त है। उसमें कहा है कि जो इस सूत्र की अनुमोदना करेगा वह शक्रासन और ब्रह्मासन का लाभी होगा। अट्ठारहवें धर्मभाणकानुशंस परिवर्त में इस सूत्र के धर्मभाणक के गुणों का वर्णन है। उन्नीसवें सदापरिभूत-परिवर्त में इस सूत्र के निन्दकों के विपाक बताये गये हैं। बीसवाँ तथागत धर्माभि-संस्कार-परिवर्त है। इक्कीसवें धारणी-परिवर्त में इस धर्मपर्याय की रक्षावरणगुप्ति के लिए अनेक धारणी मंत्र दिये गये हैं। बाईसवें भैषज्यराज-पूर्व-योग-परिवर्त में भैषज्यराज बोधिसत्व की चर्या का वर्णन है। तेईसवें गद्गदस्वर-परिवर्त में गद्गदस्वर बोधिसत्व का संवाद है। चौबीसवें समन्तमुखपरिवर्त में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की महिमा का अद्भुत वर्णन है। भक्ति-मार्ग की चरम कोटि यहाँ मिलती है। पच्चीसवें शुभव्यूहराज-पूर्वयोग-परिवर्त में शुभव्यूह नाम के राजा की कथा है। छब्बीसवें समन्तभद्रोत्साहन परिवर्त में बताया गया है कि समन्तभद्र नामक अन्य बुद्धक्षेत्र बोधिसत्व सद्धर्म-पुण्डरीक के श्रवण के लिए गृद्धकूट पर्वत पर आता है। अन्तिम परिवर्त का नाम है अनुपरीन्दना-परिवर्त। सद्धर्मपुण्डरीक का उपदेश करने पर भगवान् धर्मासन से उठे और उन्होंने सभी बोधिसत्वों को संबोधन करके कहा—हे कुलपुत्रों! असंख्य कल्पों से संपादित इस सम्यक्-संबोधि को मैं तुम्हें सौंपता हूँ। वह जैसे विपुल और विस्तार को प्राप्त हो ऐसा करो। सभी बोधिसत्वों ने भगवान् का अभिनन्दन किया। यहाँ सद्धर्म-पुण्डरीक सूत्र समाप्त होता है।

सद्धर्म-पुण्डरीक सूत्र के इस संक्षिप्त अवलोकन से महायान बौद्ध-धर्म का हीनयान से संबन्ध स्पष्ट होता है। शारिपुत्र, मौद्गल्यायन जैसे धुरीण स्थविर अर्हतों को बुद्धयान की दीक्षा देने के लिए भगवान् ने यह द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन किया है। पालिग्रन्थों में भगवान् का उपदेश दो प्रकार का बताया जाता है। एक केवल शीलकथा, दानकथा, आदि उपासकोचित धर्म की देशना है; दूसरी "सामुक्कंसिका धम्मदेसना" है जिसमें चतुरार्यसत्य का उपदेश है

जो भिक्षु होने योग्य व्यक्तियों को दिया जाता है। सद्धर्म-पुण्डरीक में चतुरार्यसत्य की देशना और सर्वज्ञ-ज्ञान-पर्यवसायी देशना यह दो देशनाएँ हैं। ये द्वितीय देशना भगवान् ने शारिपुत्र को पहले ही क्यों नहीं दी? इसका उत्तर यह है कि यह भगवान् का उपायकौशल्य है। द्वितीय देशना ही परमार्थ देशना है। इस द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्तन में शारिपुत्र आदि सभी महास्थविर अर्हतों को तथा महाप्रजापती गोतमी आदि स्थविराओं को आश्वासन दिया गया है कि वे सभी भविष्य में बुद्धत्व को प्राप्त होंगी। हीनयान में उपदिष्ट धर्म भी बुद्ध का ही है। उसे एकान्ततः मिथ्या नहीं कहा है। वह केवल उपाय-सत्य है। परमार्थ-सत्य तो बुद्धयान ही है। इस प्रकार महावस्तु और ललित-विस्तर में ही हम भगवान् का लोकोत्तर-स्वरूप देखते हैं। सद्धर्म-पुण्डरीक में यह स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है।

सद्धर्म-पुण्डरीक में यद्यपि बुद्धयान और तथागत की महिमा का प्रधान वर्णन है तथापि इस ग्रन्थ के कुछ अध्यायों में अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्वों को बुद्ध के तुल्य स्थान दिया गया है। समन्तमुख-परिवर्त नाम के चौबीसवें परिवर्त में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की महाकरुणा का अद्भुत् वर्णन है। अन्य बोधिसत्व और अवलोकितेश्वर बोधिसत्व में अन्तर यह है कि अवलोकितेश्वर बोधिसत्व ने बोधि की प्राप्ति की है, किन्तु जब तक संसार का एक भी सत्व दुःख में बद्ध रहेगा तबतक निर्वाण प्राप्त न करने का उनका संकल्प है। वास्तव में वे बुद्ध ही हैं, किन्तु जिस प्रकार अन्य बुद्ध निर्वाण को यथा समय प्राप्त होते हैं उस प्रकार अवलोकितेश्वर निर्वाण में प्रवेश न करेंगे। वे सदा बोधिसत्व की साधना से सम्पन्न हैं। इससे उनकी श्रेष्ठता कम नहीं होती। सद्धर्मपुण्डरीक में कहा है—

यश्च कुलपुत्र द्वाषष्टीनां गंगानदीवालुकासमानां बुद्धानां भगवतां सत्कारं कृत्वा पुण्याभिसंस्कारो यश्चावलोकितेश्वरस्य बोधिसत्वस्य महासत्वस्यान्तश एकमपि नमस्कारं कुर्यान्नामधेयं च धारयेत्समोऽनधिकोऽनतिरेकः पुण्याभिसंस्कार उभयतो भवेत्। [सद्धर्म० परिवर्त २४]

अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का नाम मात्र भी अनेक दुःखों और आपदाओं से रक्षण करता है। महान् अग्निस्कन्ध से, वेगवती नदी के भय से, समुद्रप्रवास के समय कालिकावात से रक्षण करने की शक्ति एकमात्र अवलोकितेश्वर के नामोच्चारण में है। अवलोकितेश्वर की भक्ति में बोधिसत्व-उपासना का प्रबल प्रारंभ हम देखते हैं।

कारण्ड-व्यूह—कारण्ड-व्यूह नाम के एक महायानसूत्र में इस बोधिसत्व की महिमा का गान है। इसे गुण-कारण्ड-व्यूह भी कहते हैं। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में मिलता है। गद्य कारण्ड-व्यूह को सत्यव्रतसामश्रमी ने ई० १८७३ में प्रकाशित किया था। पद्य कारण्ड-व्यूह में एक विशेष सिद्धान्त का उल्लेख है। सद्धर्म-पुण्डरीक में ही गौतमबुद्ध की, अनेक कल्पों के पहले ही, वीतरागता या बुद्धत्व की प्राप्ति का वर्णन मिलता है। पद्य कारण्ड-व्यूह में 'आदि-बुद्ध' की कल्पना मिलती है। योगदर्शन के नित्यमुक्त और सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना से यह कल्पना मिलती जुलती है। इतना ही नहीं यह आदिबुद्ध जगत् का कर्ता भी है। समस्त-विश्व के

प्रारंभ में 'स्वयम्भू' या 'आदिनाथ' नाम के 'आदिबुद्ध' प्रकट हुए और उन्होंने समाधि से विश्व को निर्मित किया। उनके सत्व में से अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति हुई, जिसके शरीर से देवों की सृष्टि हुई। यहाँ हमें पुराणों का सा वर्णन दृष्टिगोचर होता है। मैत्रेयनाथ अपने महायान-सूत्रालंकार (६, ७७) में कहते हैं कि 'आदिबुद्ध' कोई नहीं है। इस खण्डन से अनुमान होता है कि आदिबुद्ध की कल्पना ईसा की चौथी शती से पहले की है। अवलोकितेश्वर भक्ति-सम्प्रदाय इस समय में खूब प्रचलित था। इसका प्रमाण यह है कि चीनी पर्यटक फाहियान ने (जो ईसा की चौथी शती में भारत आया था) लंका से चीन जाते समय समुद्रप्रवास में तूफान से बचने के लिए अवलोकितेश्वर की प्रार्थना की थी। अवलोकितेश्वर के अनेक चित्र और मूर्तियाँ मिली हैं, जिनका समय ५ वीं शती के समीप का माना जाता है। इस पद्य-ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद नहीं मिलता है किन्तु गद्य कारण्ड-व्यूह का तिब्बती भाषान्तर ईस्वी-सन् ६१६ में हुआ था, जिसमें आदिबुद्ध का उल्लेख नहीं है।

कारण्ड-व्यूह में अवलोकितेश्वर की महाकरुणा के अनेक वर्णन हैं। वह अवीचि नरक में जाकर नारकियों को दुःख से बचाती है। वह प्रेत, भूत तथा राक्षसों को भी सुख पहुँचाती हैं। अवलोकितेश्वर केवल करुणामूर्ति ही नहीं है। वह सृष्टि का स्रष्टा भी है। उसका रूप विराट् है। उसकी आँखों से सूर्य और चन्द्र, भ्रू से महेश्वर, भुजाओं से ब्रह्मन् आदि देव, हृदय से नारायण, अन्त्य दन्तों से सरस्वती, मुख से मरुत्, पैरों से पृथिवी और पेट से वरुण उत्पन्न हुए हैं। उसकी उपासना स्वर्गापवर्ग की प्रापक है। कारण्ड-व्यूह में हम तंत्र और मंत्रों को भी पाते हैं। "ॐ मणिपद्मे हूँ" यह षडक्षर मंत्र, जो आज भी तिब्बत में प्रतिष्ठा प्राप्त है, पहली बार कारण्ड-व्यूह में मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार मणिपद्मा अवलोकितेश्वर की अर्धांगिनी है। इस प्रकार कारण्ड-व्यूह में हमें आदिबुद्ध, स्रष्टा-बुद्ध और मंत्र, तंत्रों से समन्वित बौद्धधर्म का और भक्तिमार्ग का दर्शन होता है।

अक्षोभ्य-व्यूह व करुणा-पुण्डरीक—"अक्षोभ्यव्यूह" और "करुणा-पुण्डरीक" नाम के और दो सूत्र-ग्रन्थों में अनुक्रम से बुद्ध अक्षोभ्य और पद्मोत्तर के लोकों का वर्णन मिलता है। ये दोनों ग्रन्थ ईसा की चौथी शती के पहले चीनी भाषा में अनूदित हुए थे। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर से सम्बद्ध एक बुद्ध हैं, जिन्हें अमिताभ कहते हैं।

सुखावती-व्यूह—सुखावती-व्यूह नामक महायान सूत्र में बुद्ध अमिताभ के सुखावती लोक का वर्णन है। संस्कृत में इसके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। एक ग्रन्थ विस्तृत है और दूसरा संक्षिप्त। पहले का प्रकाशन और अंग्रेजी भाषान्तर मैक्समूलर ने, दूसरे का फ्रेंच-भाषान्तर भी जापानी विद्वानों ने किया।

"पुण्य संभार" की कल्पना सुखावती-व्यूह में अधिक प्रबल है। सुखावती, यह बौद्धों का नन्दनवन है जहाँ बुद्ध अमिताभ का, जिन्हें अमितायु भी कहते हैं, राज्य है। जो व्यक्ति पुण्यसंभार को प्राप्त करके मृत्यु के समय बुद्ध अमिताभ का चिन्तन करता है वह इस बुद्धलोक

को प्राप्त होता है। इस बुद्धलोक में नरक, प्रेत, असुर और तिर्यग्लोक का अभाव है। वहाँ सदाकाल दिन है, रात्रि नहीं है। सुखावती में गर्भज जन्म नहीं है। वहाँ सभी सत्व औपपादुक हैं और कमलदल से उद्भुत होते हैं। यहाँ के सत्व पाप से सर्वथा विरत हैं और प्रज्ञा से संयुक्त हैं।

दीर्घ सुखावती-व्यूह के कुल बारह भाषान्तर चीनी भाषा में हुए थे जिनमें से आज केवल पाँच ही चीनी त्रिपिटक में उपलब्ध हैं। इनमें से सबसे पुराना भाषान्तर ई० सन् १४७ और १८६ के बीच का है। संक्षिप्त सुखावती-व्यूह का चीनी-भाषान्तर कुमारजीव, गुणभद्र, और शुआन च्वांग ने किया था। अमितायुर्ध्यान-सूत्र नामक एक और अन्य चीनी भाषा में उपलब्ध है, जिसमें सुखावती को प्राप्त करने के लिए अनेक ध्यानों का वर्णन है। शताब्दियों से ये तीन ग्रन्थ चीन और जापान के अमितायु के उपासक-बौद्धों के पवित्र ग्रन्थ माने जाते हैं। वहाँ आज भी अमिद के नाम से अमितायु की पूजा प्रचलित है और जापान में जोडो-शु और शिन्-शु ये दो बौद्ध सम्प्रदाय केवल अमितायु के ही उपासक हैं।

आर्यबुद्धावतंसक—बोधिसत्व-उपासना का परमप्रकर्ष हम 'आर्यबुद्धावतंसक' नाम के महायान सूत्र में पाते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख महाव्युत्पत्ति (६५, ४) में आता है। चीनी त्रिपिटक और तिब्बती कांजुर में अवतंसक-साहित्य पाया जाता है। इस नाम का एक बौद्ध-निकाय ईसा की छठी शती में उत्पन्न हुआ। उसी का यह पवित्र-ग्रन्थ है। जापान का केगोन-(kegon) निकाय भी इसे मान्यता देता है। चीनी परम्परा के अनुसार छः भिन्न-भिन्न अवतंसक-सूत्र थे, जिनमें छत्तीस हजार से लेकर एक लक्ष गाथाओं का संग्रह है। इनमें से छत्तीस हजार गाथाओं का चीनी-भाषान्तर बुद्धभद्र ने अन्य भिक्षुओं के सहयोग से ई० ४१८ में किया था। शिक्षानन्द ने ४५,००० गाथा-ग्रन्थ का भाषान्तर सातवीं शती में किया था। अवतंसक-सूत्र मूल संस्कृत में अभी उपलब्ध नहीं है। किन्तु 'गण्ड-व्यूह-महायान' सूत्र नामक ग्रन्थ संस्कृत में मिला है जो चीनी अवतंसक सूत्र से मिलता जुलता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन डाक्टर सुज़ुकी ने कियोटो से सन् १९३४ में किया था।

गण्ड-व्यूह—बोधिसत्व-उपासना के अध्ययन में गण्डव्यूह-महायानसूत्र महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ का प्रारंभ इस प्रकार है। एक समय भगवान् श्रावस्ती के जेतवन में महाव्यूह कूटागार में विहार करते थे। उनके साथ समन्तभद्र और मंजुश्री आदि प्रमुख पाँच हजार बोधिसत्व थे। ये सभी बोधिसत्व 'समन्तभद्र-बोधिसत्व-चर्या' में प्रतिष्ठित थे। वे सर्वज्ञाता ज्ञानाभिलाषी थे। उन्होंने इच्छा की कि भगवान् उन्हें—'पूर्व-सर्वज्ञता-प्रस्थान' आदि अनेक चर्यायें तथा 'तथागत सर्वसत्व-देशना-नुशासनी प्रातिहार्य' आदि अनेक प्रातिहार्य बतायें। तब भगवान्—सिंह विजृम्भित नाम की समाधि में समाहित हुए और उसी समय अवर्णनीय प्रातिहार्य दिखलायी पड़े। जिन्हें देखने के लिए आगे दिशाओं के सहस्रों बोधिसत्व वहाँ आकर उपस्थित हुए। वहाँ उपस्थित सभी बोधिसत्वों ने इस महान् प्रातिहार्य को देखा। वहीं पर शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, आदि

प्रमुख महाश्रावक उपस्थित थे। लेकिन वे इस अद्भुत प्रातिहार्य को देख न सके। जिस प्रकार गंगा महानदी के दोनों तीर पर सैकड़ों प्रेत क्षुत्पिपासा से पीड़ित होकर भ्रमण करते हैं किन्तु उस गंगानदी के जल को नहीं देख सकते, या देखते भी हैं तो उसे निरुदक और शुष्क ही देखते हैं, उसी प्रकार वे स्थविर महाश्रावक जेतवन में स्थिर होने पर भी सर्वज्ञताविपक्षिक अविद्या के पटल के कारण तथा सर्वज्ञता भूमि कुशलमूल के अपरिग्रह के कारण तथागत के उस महान् प्रातिहार्य को देख न सके। तब समन्तभद्र बोधिसत्व ने उस बोधिसत्व-परिषद् को भगवान् के इस महान् समाधि और प्रातिहार्य का प्रकाशन और उपदेश किया। तब भगवान् ने उन बोधिसत्वों को सिंह-विजृम्भित-समाधि में संनियोजन करने के हेतु भ्रूविवरान्तर के उर्णाकोश से 'धर्मधातु समन्त द्वार विज्ञप्ति त्र्यध्वावभास' नामक रश्मि निश्चारित किया। जिससे दश दिशाओं के सर्व लोक-धातु का अवभासन हुआ। उन बोधिसत्वों ने बुद्धानुभाव से वहीं बैठकर दश दिशाओं के लोक-धातु का विशद दर्शन किया। तब उन्होंने दश दिग्-लोकधातु में सहस्रों बोधिसत्वों को देखा जो सर्वसत्वों को महाकरुणा से प्लावित करते थे। कोई बोधिसत्व श्रमण रूप से, कोई ब्राह्मण रूप से, कोई वणिक् रूप से, कोई वैद्य, नर्तक या अन्य शिल्पाधार रूप से सर्व ग्राम, निगम, नगर, जनपद, राष्ट्रों में अनन्त सत्वों के हित के लिए प्रवृत्त थे। सत्वपरिपाक विनय के हेतु से ये बोधिसत्वचर्या में प्रवृत्त थे। तब मंजुश्री बोधिसत्व भी अनेक देव, देवता और बोधिसत्वों के परिवार के साथ अपने विहार से निकले और भगवान् की पूजा करके सत्वपरिपाक के हेतु दक्षिणा पथ की ओर विहार करने लगे।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने बुद्धानुभाव से मंजुश्री बोधिसत्व की कृपा से इस विहार को देखा और भगवान् को प्रणाम कर साठ भिक्षुओं के साथ उन्होंने मंजुश्री बोधिसत्व का अनुगमन किया। प्रवास में शारिपुत्र ने मंजुश्री बोधिसत्व के महान् विभूति की प्रशंसा की। जैसे जैसे शारिपुत्र उनका गुणकीर्तन करते वैसे वैसे उन साठ भिक्षुओं के चित्त प्रसाद को प्राप्त होते थे। बुद्ध-धर्मों में उनके चित्त परिणत हुए। उन्होंने मंजुश्री के चरणों को प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की कि उनको भी इस बोधिसत्व-विभूति की प्राप्ति हो।

तब मंजुश्री बोधिसत्व ने उन भिक्षुओं को कहा—भिक्षुओं! दश प्रकार के चित्तोत्पाद के समन्वागम से महायान-संप्रस्थित कुलपुत्र तथागतभूमि को प्राप्त होता है। सर्व-तथागत-दर्शन-पर्युपासन और पूजा-स्थान में, सर्वकुशल-मूलों के उपचय में, सर्वधर्म-पर्येषण में, सर्वबोधिसत्व-पारमिताप्रयोग में, सर्वबोधिसत्व-समाधि-परिनिष्पादन में, सर्व अध्वपरंपरावतार में, दशदिक्सर्व-बुद्धक्षेत्र-समुद्रस्फरणपरिशुद्धि में, सर्वसत्वधातुपरिपाक विनय में, सर्वक्षेत्रकल्प बोधिसत्वचर्यानिर्हार में, सर्वबुद्धक्षेत्र परमाणुरजःसमपारमिताप्रयोग से एक एक करके सर्वसत्व धातुओं को परिमोचन करनेवाले बल के निष्पादन में जो कुलपुत्र प्रसादयुक्त चित्तोत्पाद करता वही तथागतभूमि को प्राप्त होता है।

मंजुश्री से इस धर्मनय को सुनकर वे भिक्षु—'सर्वबुद्धविदर्शनासंगविषय' नाम के समाधि को प्राप्त हुए। उसके अनुभाव से उन्होंने दशदिशाओं के तथागतों का और सत्वों का

दर्शन किया। उन लोक-धातुओं के प्रत्येक परमाणु तक का उन्हें दर्शन हुआ। इस प्रकार सर्वबुद्धधर्मों की परिनिष्पत्ति में वे भिक्षु प्रतिष्ठित हुए।

तब मंजुश्री बोधिसत्व ने उन भिक्षुओं को सम्यक्संबोधि में प्रतिष्ठित करके दक्षिणापथ के धन्याकर नाम के महानगर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने 'धर्मधातु-नयप्रभास' नाम के सूत्रान्त का प्रकाशन किया। वहाँ उनकी परिषद् में सुधन नाम का एक श्रेष्ठिपुत्र बैठा था। उसने मंजुश्री बोधिसत्व से इस सूत्रान्त को सुना। अनुत्तर-सम्यक्-संबोधि की अभिलाषा से उसका चित्त व्याकुल हुआ और उसने मंजुश्री के पास बोधिसत्व-चर्या की पूर्त्ति के उपदेश की प्रार्थना की।

मंजुश्री ने सुधन श्रेष्ठिपुत्र का साधुकार किया और कहा—साधु! साधु! कुलपुत्र! यह अभिनन्दनीय है कि तुमने अनुत्तरा-सम्यक्-संबोधि में चित्त उत्पन्न किया है और अब बोधिसत्व-मार्ग को पूर्ण करना चाहते हो। हे कुलपुत्र! सर्वज्ञता-परिनिष्पत्ति का आदि और निष्यन्द है:—कल्याण-मित्रों का सेवन, भजन और पर्युपासन। इसी से हे कुलपुत्र! बोधिसत्व के 'समन्तभद्रचर्यामण्डल' की परिपूर्णता होती है। हे कुलपुत्र! इसी दक्षिणापथ के रामावर्तन्त जनपद में सुग्रीव नाम का पर्वत है। वहाँ मेघश्री नाम का भिक्षु है। तुम उसके पास जाकर बोधिसत्वचर्या को पूछो, वह कल्याणमित्र तुम्हें 'समन्तभद्रचर्या-मण्डल' का उपदेश देगा।

आर्य सुधन ने मंजुश्री से विदा ली और मेघश्री के पास पहुँचा। मेघश्री ने उसे सागर-मेघ नामक भिक्षु के पास अन्य जनपद में भेजा। इस प्रकार करीब पचास भिन्न-भिन्न जगहों पर सुधन ने भिन्न-भिन्न कल्याणमित्रों की पर्युपासना की। प्रत्येक कल्याणमित्र ने उसका अभिनन्दन करके उसे बोधिसत्वचर्या में एक एक श्रेणी आगे बढ़ाया। अपनी अपनी साधना बतायी। भारतवर्ष के कोने-कोने में आर्य सुधन ने इस प्रकार चंक्रमण किया। उसने बुद्धमाता माया से और बुद्धपत्नी गोपा से भी भेंट की। गोपा से उसने जो प्रश्न पूछे हैं, वे बहुत ही गंभीर हैं। उसने गोपा को अंजलिबद्ध होकर कहा—आर्ये! मैंने अनुत्तरा-सम्यक्संबोधि में चित्त उत्पाद किया है, किन्तु बोधिसत्व संसार में संसरण करने पर भी संसार-दोषों से किस प्रकार लिप्त नहीं होते, यह मैं नहीं जानता। आर्ये! बोधिसत्व सर्वधर्म-समता-स्वभाव को जानते हैं पर श्रावक-प्रत्येक-बुद्धभूमि में पतित नहीं होते। वे बुद्धधर्मावभास-प्रतिलब्ध होते हैं किन्तु बोधिसत्वचर्या का व्यवच्छेद नहीं करते हैं। बोधिसत्व-भूमि में प्रतिष्ठित होकर भी तथागतविषय को सन्दर्शित करते हैं। सर्वलोक-गति से समतिक्रान्त होते हैं और सर्वलोक-गतियों में विचरण भी करते हैं। धर्मकायपरिनिष्पन्न होते हुए भी अनन्तवर्ण और रूपकाय का अभिनिर्हार करते हैं। अलक्षण धर्मपरायण होते हुए भी सर्ववर्णसंस्थान-युक्त स्वकाय का दर्शन देते हैं। अनभिलाप्य सर्वधर्म-स्वभाव को प्राप्त होते हुए भी सर्व वाक्पथ-निरुक्ति-उदाहारों से सत्वों को धर्म की देशना देते हैं, सर्वधर्मों को निःसत्व जानते हुए भी सत्व धातुविनयप्रयोग से निवृत्त नहीं होते। सर्वधर्मों को अनुत्पाद-अनिरोध कहते हुए भी सर्वतथागत-पूजोपस्थान से विरत नहीं होते। सर्वधर्मों को अकर्म-अविपाक मानते हैं परन्तु कुशल-कर्माभिसंस्कार-प्रयोग से विरत नहीं होते। आर्ये!

बोधिसत्वचर्या के इस आश्चर्यकारक विरोध को मैं नहीं जान पाता हूँ। आर्य ! आप मुझे इसका उपदेश दें।

आर्य सुधन के ये प्रश्न शून्यवाद और बोधिसत्व-यान के परस्पर संबन्ध के बारे में बहुत ही मार्मिक हैं। गोपा से उसे उत्तर नहीं मिला। कल्याणमित्र की खोज में घूमते-घूमते वह अन्त में समुद्रकच्छ नामक जनपद में वैरोचनव्यूहालंकार नामक विहार के कूटागार में मैत्रेय बोधिसत्व के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। उसने मैत्रेय का दर्शन किया और कहा—आर्य ! मैं अनुत्तरा-सम्यक्-संबोधि में अभिसंप्रस्थित हूँ, किन्तु बोधिसत्वचर्या को नहीं जानता हूँ। आर्य ! आपके बारे में व्याकरण हुआ है कि आप सम्यक्-संबोधि में केवल एक-जातिप्रतिबद्ध हैं। आर्य ! जो एक-जातिप्रतिबद्ध है उसने सर्व बोधिसत्व-भूमियों को प्राप्त किया है, वह उस सर्वज्ञ ज्ञान-विषय में अभिषिक्त हुआ है जो सर्व-बुद्धधर्मों का प्रभव है। आर्य ! आप ही मुझे बोधिसत्वचर्या को बताने में समर्थ हैं।

तब आर्य मैत्रेय ने आर्य सुधन की भूरि-भूरि प्रशंसा की और बोधिचित्तोत्पाद का माहात्म्य बताकर कहा :—"कुलपुत्र ! तुम बोधिसत्वचर्या को जानने के लिए उत्सुक हो तो इस वैरोचनव्यूहालंकारगर्भ के महाकूट के अभ्यन्तर में प्रवेश करके देखो। वहाँ तुम जानोगे कि किस प्रकार बोधिसत्वचर्या की पूर्त्ति होती है और उसकी परिनिष्पत्ति क्या है"। मैत्रेय के अनुभाव से सुधन ने उस कूटागार में विराट् दर्शन किया। सब सत्वलोकों के बुद्धों का और बोधिसत्वों का उसे दर्शन हुआ। यह सारा वर्णन अत्यन्त रोमाँचकारी है। धर्म के विकास में, भक्ति-परम्परा में, बौद्धधर्म में, इन विराट् दर्शनों की बाढ़ सी आयी है; जिसका परम प्रकर्ष हम यहाँ देख सकते हैं। उसे देखकर सुधन स्तिमित हुआ। यह सारा प्रातिहार्य आर्य मैत्रेय का ही अनुभाव था। आर्य मैत्रेय ने उसे समाधि से उठाकर कहा :—कुलपुत्र ! यही धर्मों की धर्मता है। मायास्वप्नप्रतिभासोपम यह सारा विश्व है। कुलपुत्र ! तुमने अभी बोधिसत्व के 'सर्वत्र्य-ध्वारम्बणज्ञानप्रवेशासंमोषस्मृतिव्यूह-गत' नाम के विमोक्ष को और उसके समाधि प्रीति सुख को प्राप्त किया है। कुलपुत्र ! जो तुमने अभी देखा वह न कहीं से आया है न कहीं गया है। इसी प्रकार हे कुलपुत्र ! बोधिसत्वों की गति है। वह अचलनास्थान गति है। वह अनालया-निकेतन गति है, वह अच्युत्युपपत्ति गति है। वह अस्थासंक्रान्ति गति है। वह अचलनानुत्थान गति है। वह अकर्मविपाक गति है। वह अनुत्पादानिरोध गति है। वह अनुच्छेदाशाश्वत-गति है। ऐसा होने पर भी हे कुलपुत्र ! बोधिसत्व की गति महाकरुणा-गति है। महामैत्री-गति है, शीलगति है, प्रणिधानगति है, अनभिसंस्कार गति है, अनायूह-वियूह गति है, प्रज्ञोपायगति है और निर्माणसंदर्शनगति है। हे कुलपुत्र ! प्रज्ञापारमिता बोधिसत्वों की माता है, उपायकौशल्य पिता है, दानपारमिता स्तन्य है, शीलपारमिता धात्री है, क्षान्तिपार-मिता भूषण है, वीर्यपारमिता संवर्धिका है, ध्यानपारमिता चर्याविशुद्धि है, कल्याणमित्र उसका शिक्षाचार्य है, बोध्यंग उसके सहायक हैं, बोधिसत्व उसके भाई हैं, बोधिचित्त उसका कुल है। इससे हे कुलपुत्र ! बोधिसत्व बालपृथग्जनभूमि को अवक्रान्त करके तथागतभूमि में प्रतिपन्न होता है।

हे कुलपुत्र ! मैंने तुझे संक्षेप में बताया है। परन्तु हे कुलपुत्र ! तुम बोधिसत्वचर्या के बारे में उसी कल्याणमित्र मंजुश्री के पास जाओ और प्रश्न करो। वह मंजुश्री बोधिसत्व परमपारमिता-प्राप्त है।

तब सुधन ने परमभक्ति से मंजुश्री की प्रार्थना की। दश हजार योजन दूर पर स्थित मंजुश्री बोधिसत्व ने महाकरुणा से प्रेरित हो उसके मस्तक पर अपना आशीर्वाद-हस्त रखकर उसका अभिनन्दन किया। उसे असंख्य धर्म में प्रतिष्ठित किया, अनन्तज्ञानमहावभास को प्राप्त कराया, अपर्यन्तबोधिसत्व-धारणी प्रतिभान-समाधि-अभिज्ञाज्ञान से विभूषित किया और उसे समन्तभद्रचर्या-मण्डल में प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार गण्डव्यूह में हम बोधिसत्व-उपासना का अति सुन्दर वर्णन देखते हैं। भाषा, वर्णनशैली और कथाभाग की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्भुत है। ललित-विस्तर, सद्धर्म-पुण्डरीक, कारण्डव्यूह, सुखावतीव्यूह और गण्डव्यूह में हम बोधिसत्व-उपासना का प्रकर्ष देखते हैं। बोधिसत्वयान में गण्डव्यूह ने कलश चढ़ा दिया है। आश्चर्य नहीं कि यह ग्रन्थ 'अवतंसक सूत्र' के नाम से ही परिचित है।

रत्नकूट—अवतंसक सूत्र के समान ही चीनियों का एक और मौलिक ग्रंथ है जिसे 'रत्नकूट' कहते हैं। तिब्बती कान्जुर में भी यह संगृहीत है। यह ४६ सूत्रों का एक संग्रहग्रन्थ है, जिसमें 'अक्षोभ्यव्यूह, मंजुश्री-बुद्धक्षेत्र-गुण-व्यूह, बोधिसत्व-पिटक, पितापुत्र-समागम, काश्यप परिवर्त, राष्ट्रपालपरिपृच्छा आदि अनेक छोटे छोटे ग्रन्थ सम्मिलित हैं। तारानाथ के अनुसार 'रत्नकूट-धर्म-पर्याय' नामका ग्रन्थ (जिसमें एक सहस्र अध्याय थे) कनिष्क के पुत्र के समय में रचा गया था। इसके कुछ मौलिक संस्कृत-भाग खुतन के समीप मिले हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'रत्नकूट' और 'काश्यप-परिवर्त' एक ही ग्रन्थ हैं और रत्नकूट में अन्य ग्रन्थों का संग्रह बाद में हुआ है।

काश्यप परिवर्त—में भगवान् का भिक्षु-महाकाश्यप से संवाद है। बोधिसत्वयान और शून्यता का इसमें बार बार उल्लेख आता है। एक जगह पर तो यहाँ तक कहा है कि तथागत से भी बोधिसत्व की पूजा अधिक फलप्रद है। "हे काश्यप ! जिसप्रकार प्रतिपदा के चन्द्र की विशेष पूजा होती है, पूर्णिमा के चन्द्र की विशेष पूजा नहीं होती, उसी प्रकार मेरे अनुयायियों को चाहिए कि वे तथागत से भी विशेष पूजा बोधिसत्व की करें। क्योंकि तथागत बोधिसत्वों से ही उत्पन्न होते हैं"।

काश्यपपरिवर्त का चीनी अनुवाद ई० सन् १७८ और १८४ के बीच किया गया था, ऐसी मान्यता है। 'रत्नकूट' में अनेक परिपृच्छायें संगृहीत हैं।

परिपृच्छा-ग्रन्थ—राष्ट्रपाल परिपृच्छा में दो परिवर्त हैं। प्रथम परिवर्त का नाम निदान-परिवर्त है। एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर अनेक बोधिसत्वों के परिवार में धर्मदेशना देते थे। उस समय प्रामोद्यराज नाम के बोधिसत्व ने भगवान् की स्तुति की और अनिमेष नयनों से तथागत-काय को देखते हुए गम्भीर, दुरवगाह, दुर्दर्श, दुरनुबोध, अतर्क्य, तर्कापगत, शान्त, सूक्ष्म धर्मधातु का उसे विचार आया। उसने देखा कि

बुद्धभगवान् अनालयगगन-गोचर हैं। अनावरण-बुद्धविमोक्ष की उसने अभिलाषा की। भगवान् बुद्ध का काय ध्रुव, शिव और शाश्वत है। वह सर्वसत्वाभिमुख और सर्वबुद्धक्षेत्र-प्रसरानुगत है। इस गम्भीर धर्म का अवलोकन करके वह तूष्णींभूत हुआ और धर्मधातु का ही विचार करने लगा।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल श्रावस्ती से त्रैमास्य के अत्यय पर भगवान् के दर्शन के लिए आया। अभिवादन कर उसने भगवान् को बोधिसत्वचर्या के बारे में प्रश्न किया। भगवान् ने उसे बोधिसत्वचर्या का उपदेश किया। यह सारा उपदेश पालि-अंगुत्तरनिकाय का अनुसरण है। हे राष्ट्रपाल ! चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्व परिशुद्धि को प्राप्त होता है। कौन से चार ? अध्याशयप्रतिपत्ति, सर्वसत्वसमचित्तता, शून्यताभावना, और यथावादि-तथाकारिता। इन चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्व परिशुद्धि का प्रतिलाभ करता है। इसी प्रकार अन्य कई धर्मों का उपदेश इस ग्रन्थ में आया है। प्रथम परिवर्त के अन्त में भगवान् ने भविष्य का व्याकरण किया है कि बुद्धशासन विकृत होगा और भिक्षु असंयमी बनेंगे। यह व्याकरण हमें पालि के थेरगाथा में आए हुए व्याकरणों की याद दिलाता है। अनात्मवाद को मानकर चलने में तब भी कितनी कठिनाई थी यह निम्न श्लोकों से प्रतीत होता है—

यत्रात्म नास्ति न जीवो देशित पुद्गलोऽपि न कथंचित्।
व्यर्थः श्रमोऽत्र घटते यः शीलप्रयोग संवरक्रिया च॥
यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि आत्मसत्व मनुजो वा।
व्यर्थः श्रमोऽत्र हि कृतो मे यत्र न चात्मसत्वउपलब्धिः॥

द्वितीय परिवर्त में पुण्यरश्मि नाम के राजकुमार की जातक-कथा है।

'राष्ट्रपाल-परिपृच्छा' का चीनी भाषान्तर ई० ५८५ और ५९२ के बीच में हुआ था। इस ग्रन्थ का प्रकाशन एल. फिनो ने सन् १९०१ में किया है। उग्रपरिपृच्छा, उदयन-वत्सराज-परिपृच्छा, उपालिपरिपृच्छा, चन्द्रोत्तरा-दारिका-परिपृच्छा, नैरात्म्यपरिपृच्छा आदि अनेक संवाद-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जिनका उल्लेख 'शिक्षा समुच्चय' में मिलता है।

दशभूमीश्वर—को भी अवतंसक का एक भाग समझा जाता है। इस ग्रन्थ में दश-भूमियों का वर्णन है जिनसे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। 'महावस्तु' में इस सिद्धान्त का पूर्वरूप मिलता है। दशभूमक इस सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने सन् २९७ ई० में किया था।

प्रज्ञापारमिता-सूत्र

महायान के वैपुल्यसूत्रों में दो प्रकार के ग्रन्थ पाये जाते हैं। एक में बुद्ध, बोधिसत्व, बुद्धयान, की महत्ता बतलायी गयी है। ललित-विस्तर, सद्धर्म-पुण्डरीक आदि ग्रन्थ इस प्रकार के हैं। दूसरा प्रकार उन ग्रन्थों का है जिनमें महायान के मुख्य सिद्धान्त 'शून्यता' या 'प्रज्ञा' की महत्ता बतायी गयी है। ऐसा ग्रन्थ है 'प्रज्ञापारमिता सूत्र'। एक ओर शून्यता और दूसरी ओर महाकरुणा, इन दो तत्वों का समन्वय करने का प्रयत्न प्रज्ञापारमिता-सूत्र में दिखाई

देता है। आगे चलकर 'बोधिचर्यावतार' में आर्य शान्तिदेव ने इसी समन्वय को व्यवस्थित किया है।

महायान साहित्य में प्रज्ञापारमिता-सूत्रों का स्थान महत्व का है। इन्हें हम आगम-ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इनकी संवाद-शैली प्राचीन है। दूसरे महायान-ग्रन्थों में बुद्ध प्रायः किसी बोधिसत्व से संवाद करते हैं। यहाँ बुद्ध, सुभूति नामक स्थविर से प्रश्न करते हैं। शून्यता के बारे में इन ग्रन्थों में सुभूति और शारिपुत्र इन दो स्थविरों का संवाद बहुत ही तात्विक और गंभीर है। प्रज्ञापारमिता-सूत्रों की रचना भी प्राचीन है। ई० १७६ में प्रज्ञापारमिता-सूत्र का चीनी भाषान्तर हुआ था, जिससे संभव है कि खिस्तपूर्व काल में ही इनकी रचना हुई हो।

नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता-महायान-सूत्र सवा लाख श्लोकों का था और क्रमशः घटा कर लक्ष, पचीस हजार, दशहजार और आठहजार श्लोकों का सूत्र-ग्रन्थ बना। दूसरी परम्परा के अनुसार मूलग्रन्थ आठ हजार श्लोकों का था जिसे 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' कहते हैं। उसी को बढ़ाकर अनेक पारमिता ग्रन्थ बनाए गए। यह परम्परा अधिक ठीक जँचती है। शुआन-च्वाङ्ग ने अपने 'महाप्रज्ञा-पारमिता-सूत्र' में बारह भिन्न-भिन्न प्रज्ञा-पारमिता-सूत्रों का अनुवाद किया है। चीनी और तिब्बती भाषा में इसके और भी अनेक प्रकार हैं,जिसमें एक लक्ष श्लोकों से लेकर 'एकाक्षरी प्रज्ञा-पारमिता' भी संग्रहीत हैं। संस्कृत में निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, २. पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ३. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ४. सार्धद्विसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ५. सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, ६. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, ७. अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता, ८. प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र। इन सभी ग्रन्थों में अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र ही सबसे प्राचीनतम है, जिसका वर्णन हम यहाँ करेंगे।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—ग्रन्थ के कुल बत्तीस परिवर्त हैं। प्रथम परिवर्त का नाम है सर्वाकारज्ञताचर्या-परिवर्त। ग्रन्थ का प्रारंभ इस प्रकार होता है—"ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर सार्धत्रयोदशशत अर्हतों से परिवारित हो विराजमान थे। उस सभा में आयुष्मान् आनन्द को छोड़कर, शेष सभी अर्हत् कृतकृत्य थे। उस सभा में भगवान् ने आयुष्मान् सुभूति से कहा—हे सुभूति! तुम्हें बोधिसत्व महासत्वों के प्रज्ञापारमिता की पूर्णता के बारे में प्रतिभान हो"। भगवान् के इस वचन को सुनकर आयुष्मान् शारिपुत्र के मन में संदेह हुआ—क्या स्थविर सुभूति अपने सामर्थ्य से यह प्रतिभान करेंगे या बुद्धानुभाव से? स्थविर सुभूति ने उनके मन की बात बुद्धानुभाव से जानकर कहा—"आयुष्मान् शारिपुत्र! जो कुछ भी श्रावक भाषण करते हैं, उपदेश करते हैं, या प्रकाशन करते हैं, वह सर्वथा तथागत का ही पुरुषकार है, क्योंकि हे शारिपुत्र! धर्मता के अविलोम जो कुछ श्रावक कहेंगे वह बुद्धानुभाव ही है, बुद्धों से ही प्रथम उपदिष्ट है।"

तब आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् को अंजलि-बद्ध होकर कहा—भगवन्! बोधिसत्व-बोधिसत्व और प्रज्ञापारमिता-प्रज्ञापारमिता, ऐसा कहा जाता है; किन्तु भगवन्! किस धर्म का यह अधिवचन है? मैं ऐसे किसी धर्म को नहीं देखता हूँ, न जानता हूँ, जिसे मैं बोधिसत्व कह

सकूँ या जिसे प्रज्ञापारमिता कह सकूँ। ऐसा होने पर भी चित्त में विषाद न लाकर प्रज्ञापारमिता की भावना करते हुए भी, बोधिसत्व को चाहिये कि वह उस बोधिचित्त को परमार्थतः न माने; क्योंकि वह चित्त अचित्त है; चित्त की प्रकृति प्रभास्वर है। (तत्कस्य हेतोः ? तथाहि तच्चित्त-मचित्तं प्रकृतिश्चित्तस्य प्रभास्वरा)।

तब शारिपुत्र ने कहा—क्या आयुष्मन् सुभूति ! ऐसा भी कोई चित्त है जो अचित्त हो ? सुभूति ने कहा—क्या आयुष्मन् शारिपुत्र ! जो अचित्तता है उस अचित्तता में अस्तिता या नास्तिता की उपलब्धि होती है ?

शारिपुत्र ने कहा—नहीं। आयुष्मन् सुभूति ! यह 'अचित्तता' क्या है ?

सुभूति ने कहा—आयुष्मन्। यह अचित्तता अविकार अविकल्प है। (अविकारा-युष्मन् अविकल्पाऽचित्तता)।

सुभूति का वचन सुनकर शारिपुत्र ने साधुवाद किया कि, हे आयुष्मन् ! श्रावकभूमि में भी, प्रत्येकबुद्धभूमि में भी और बोधिसत्वभूमि में भी जो शिक्षा-काम है, उसे इसी प्रज्ञापारमिता का प्रवर्तन करना चाहिये। इसी प्रज्ञापारमिता में सर्वबोधिसत्व-धर्म उपदिष्ट हैं। उपायकौशल्य से इसी का योग करणीय है।

तब सुभूति ने भगवान् से फिर कहा—भगवन् ! मैं बोधिसत्व का कोई नामधेय भी नहीं जान सकता हूँ; क्योंकि नामधेय भी अविद्यमान है। वह न स्थित है, न अस्थित है; न विष्ठित है न अविष्ठित है। और यह भी है भगवन् ! कि प्रज्ञापारमिता में विचरण करते हुए बोधिसत्व को न रूप में, न वेदना में, न संज्ञा में, न संस्कार में,न विज्ञान में स्थित होना चाहिये। क्योंकि वह यदि रूप में स्थित होता है तो रूपाभिसंस्कार में ही स्थित होता है, प्रज्ञापारमिता में स्थित नहीं होता। इसलिए प्रज्ञापारमिता की पूर्ति करने के इच्छुक बोधिसत्व को 'सर्वधर्मापरिगृहीत' नामक अप्रमाणनियत और असाधारण समाधि की प्राप्ति करनी चाहिये। वह रूप का तथा संज्ञा······विज्ञान का परिग्रह नहीं करता। यही उसकी प्रज्ञापारमिता है। वह प्रज्ञा को बिना पूर्ण किए अन्तरापरिनिर्वाण को भी प्राप्त नहीं करता,जबतक कि वह दश तथागतबलों से अपरि-पूर्ण हो। यह भी उसकी प्रज्ञापारमिता है। और यह धर्मता भी है कि रूप रूपस्वभाव से विरहित है, वेदना वेदना-स्वभाव से······विज्ञान विज्ञानस्वभाव से विरहित है। प्रज्ञापारमिता भी प्रज्ञापारमिता-स्वभाव से विरहित है। सर्वज्ञता भी सर्वज्ञता-स्वभाव से विरहित है। लक्षण भी लक्षण-स्वभाव से विरहित है, स्वभाव भी स्वभाव से विरहित है।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने सुभूति से प्रश्न किया—क्या आयुष्मन् ! जो बोधिसत्व यहाँ शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा ?

सुभूति ने कहा—जो बोधिसत्व इस प्रज्ञापारमिता में शिक्षित होगा वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा। क्यों; हे आयुष्मन् ! सर्व धर्म अजात है, अनिर्यात हैं। ऐसे जानने पर बोधिसत्व सर्वज्ञता के आसन्न होता है। जैसे-जैसे वह सर्वज्ञता के आसन्न होता है वैसे-वैसे वह सत्व-परिपाचन, कायचित्तपरिशुद्धि, लक्षणपरिशुद्धि बुद्धक्षेत्रशुद्धि और बुद्धों से समवधान करता है। इस प्रकार हे आयुष्मन् ! प्रज्ञापारमिता में विहार करने से सर्वज्ञता आसन्न होती है।

तब शारिपुत्र ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन्! इस प्रकार शिक्षा पानेवाला बोधिसत्व किस धर्म में शिक्षा प्राप्त करता है?

भगवान् ने कहा–शारिपुत्र! इस प्रकार शिक्षा पानेवाला किसी भी धर्म में शिक्षा नहीं पाता। क्यों; हे शारिपुत्र! धर्म वैसे विद्यमान नहीं हैं जैसे बाल और पृथग्जन उसमें अभिनिविष्ट हैं।

शारिपुत्र ने पूछा—भगवन्! धर्म कैसे विद्यमान हैं? भगवान् ने कहा—जिस प्रकार वे संविद्यमान नहीं हैं, उस प्रकार वे संविद्यमान हैं; अविद्यमान हैं; इसलिए कहा जाता है कि यह अविद्या है। उसमें बाल और पृथग्जन अभिनिविष्ट हैं। उन्होंने अविद्यमान सर्वधर्मों की कल्पना की है। वे उनकी कल्पना करके दो अन्तों में सक्त होते हैं; अतीतानागत–प्रत्युत्पन्न-धर्मों की कल्पना करते हैं और नानारूपों में अभिनिविष्ट हैं। इस कारण वे मार्ग को नहीं जानते। यथाभूत मार्ग को बिना जाने वे त्रैधातुक से मुक्त नहीं होंगे, और न वे भूतकोटि को जानेंगे। इसलिए वे बाल और पृथग्जन हैं। जो बोधिसत्व है, वह किसी भी धर्म में अभिनिवेश नहीं करता। हे शारिपुत्र! वह बोधिसत्व सर्वज्ञता में भी शिक्षित नहीं होता और इसी कारण सर्वधर्मों में शिक्षित होता है, सर्वज्ञता को प्राप्त होता है।

तब आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन्! जो ऐसा पूछे कि क्या मायापुरुष सर्वज्ञता में शिक्षित होगा? सर्वज्ञता को प्राप्त होगा? ऐसे पूछे जाने पर क्या उत्तर दिया जाय?

भगवान् ने कहा—"सुभूति! मैं तुमसे ही प्रश्न करता हूँ क्या वह माया अलग है,और रूप अलग है? संज्ञा···विज्ञान अलग है और माया अलग है?" सुभूति ने कहा—'नहीं भगवान्! रूप ही माया है, माया ही रूप है।·····विज्ञान ही माया है, माया ही विज्ञान है"। भगवान् ने कहा—तो क्या सुभूति, यहीं, इन पाँच उपादान स्कन्धों में ही क्या यह संज्ञा, प्रज्ञप्ति-व्यवहार नहीं है कि यह बोधिसत्व है? सुभूति ने कहा—भगवन्! ठीक ऐसा ही है। भगवान् ने रूपादि को मायोपम कहा है। यह पंचोपादान-स्कन्ध ही मायापुरुष है। किन्तु भगवन्! नवयानसंप्रस्थित बोधिसत्वों को यह उपदेश सुनकर संत्रास होगा। क्योंकि भगवन्! फिर बोधिसत्व, क्या पदार्थ है? उसे क्यों महासत्व कहा जाता है?

भगवान् ने कहा – सुभूति! बोधिसत्व पदार्थ अपदार्थ है। सर्वधर्मों में असक्तता में ही यह शिक्षित होता है। उसी से वह सम्यक्-संबोधि को अभिसम्बुद्ध करता है। बोध्यर्थ से वह बोधिसत्व महासत्व कहा जाता है। महान् सत्वराशि में महान् सत्वनिकाय में वह अग्रता को प्राप्त करता है, इसलिए वह महासत्व है।

तब शारिपुत्र ने कहा—भगवन्! मैं मानता हूँ कि आत्मदृष्टि, सत्वदृष्टि, जीव-पुद्गल-भव-विभव-उच्छेद-शाश्वत और स्वकायदृष्टि आदि महती दृष्टियों के प्रहाण के लिए धर्म का उपदेश करता है, इसलिए बोधिसत्व महासत्व कहा जाता है।

तब सुभूति ने कहा—भगवन्! बोधिचित्त जो सर्वज्ञताचित्त है, अनास्रव है और

सर्व श्रावकप्रत्येक-बुद्धों के चित्तों से असाधारण है। ऐसे महान् चित्त में भी अनासक्त और अपर्यापन्न होने से वह बोधिसत्व महासत्व कहा जाता है।

शारिपुत्र ने पूछा—आयुष्मन् सुभूति! क्या कारण है कि ऐसे महान् चित्त में भी वह अनासक्त और अपर्यापन्न है?

सुभूति ने कहा—हे शारिपुत्र! इसलिए कि वह चित्त अचित्त है।

तब पूर्ण मैत्रीयणीपुत्र ने कहा—भगवन्! महासन्नाहसन्नद्ध होने से, महायान में संप्रस्थित होने से वह सत्त्व महासत्त्व कहा जाता है।

भगवान् ने कहा—सुभूते! वह महासन्नाहसंनद्ध इसलिये है कि उसका ऐसा प्रणिधान है—"अप्रमेय सत्वों का मुझे परिनिर्वापण करना है।" वह उन असंख्येय सत्त्वों का परिनिर्वापण करता है। वास्तव में सुभूति! ऐसा कोई सत्त्व नहीं है जो परिनिर्वृत्त हो या परिनिर्वृत्त कराता हो। सुभूते! यह धर्मों की धर्मता है कि सभी मायाधर्म हैं। जिस प्रकार कोई दक्ष मायाकार महान् जनकाय को निर्माण करके उसका अन्तर्द्धान करे, लेकिन उससे न कोई जन्म पाता है, न मरता है, न नष्ट होता है, न अन्तर्हित होता है, उसी प्रकार हे सुभूते! वह बोधिसत्व अप्रमेय सत्वों को परिनिर्वृत्त करता है, तथापि न कोई निर्वाण को प्राप्त होता है, न कोई निर्वाण का प्रापक है।

तब सुभूति ने कहा—तब तो भगवान् के भाषण का अर्थ यह है कि बोधिसत्व असन्नाह-सन्नद्ध ही है?

भगवान् ने कहा—ठीक ऐसा ही है, सुभूते! सर्वज्ञता अकृता है, अविकृत है, अनभिसंस्कृत है। वे सत्त्व भी अकृत हैं, अविकृत हैं, अनभिसंस्कृत हैं; जिनके लिये वह बोधिसत्व सन्नाहसन्नद्ध है। क्यों? निर्माण को प्राप्त होनेवाला और प्रापक ये दोनों धर्म अविद्यमान हैं।

तब सुभूति ने भगवान् से कहा—भगवन्! महायान-महायान कहते हैं। महायान क्या पदार्थ है? भगवन्! मैं मानता हूँ कि आकाशसम होन से, अतिमहान् होने से वह महायान कहा जाता है। इसका न आगम देखा जाता है न निर्गम। इसका स्थान संविद्यमान नहीं है। इसका पूर्वान्त, मध्यान्त, या अपरान्त भी अनुपलब्ध है। यह यान समहै, इसलिये यह महायान है। भगवन! महायान नामका कोई पदार्थ नहीं है। 'बुद्ध' यह भी एक नामधेयमात्र है, बोधिसत्व, प्रज्ञापारमिता यह भी नामधेय मात्र है। "... ... ..." और ऐसा क्यों? भगवन्! जब बोधिसत्व इन रूपादि धर्मों की प्रज्ञापारमिता से परीक्षा करता है, तब रूप न प्राप्त होता है न नष्ट होता है; न वह रूप का उत्पाद देखता है, न विनाश देखता है। (इसी प्रकार अन्य स्कन्ध भी) क्यों? जो रूपका अनुत्पाद है वह रूप नहीं है, जो रूप का अव्यय है वह भी रूप नहीं है। इस प्रकार से अनुत्पाद और रूप तथा अव्यय और रूप ये दोनों अद्वय हैं, अद्वैधीकार है।"

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने कहा—आयुष्मान् सुभूति! आपकी देशना के अनुसार बोधिसत्व भी अनुत्पाद है। ऐसा होने पर वह बोधिसत्व दुष्कर चारिका करने के लिए क्यों उत्साहित होगा?

आयुष्मान् सुभूति ने कहा—आयुष्मन् शारिपुत्र ! मैं नहीं चाहता कि बोधिसत्व दुष्कर-चारिका करें या दुष्कर-संज्ञा को प्राप्त करें। दुष्करसंज्ञा से अप्रमेय और असंख्येय सत्त्वों की अर्थसिद्धि नहीं होती। इसलिए उस बोधिसत्व को सर्व सत्त्वों में सुखसंज्ञा, मातृ-पितृसंज्ञा उत्पन्न करनी चाहिये और आत्मविसर्जन करना चाहिए। ऐसा होने पर भी आपने जो कहा कि 'क्या बोधिसत्व अनुत्पाद है'? तो मैं फिर से कहता हूँ कि हे आयुष्मन् ! ऐसा ही है; बोधिसत्व अनुत्पाद है। केवल बोधिसत्व ही नहीं, बोधिसत्व-धर्म भी, सर्वज्ञता और सर्वज्ञता-धर्म भी, पृथग-जन और पृथग्जन-धर्म भी अनुत्पाद ही है।

आयुष्मान् शारिपुत्र ! यही सर्वधर्मानिश्रित पारमिता है, यही सर्वयानिकी पारमिता है जो 'प्रज्ञापारमिता' है। ऐसी गम्भीर प्रज्ञापारमिता के उपदेश से जिसका चित्त द्विविधा को प्राप्त नहीं होता वही इस गम्भीर प्रज्ञापारमिता को, इस अद्वय-ज्ञान को, प्राप्त करता है। भगवान् ने और आयुष्मान् शारिपुत्र ने आयुष्मान् सुभूति के इस बुद्धानुभाव से उक्त वचनों का साधुवाद से अभिनन्दन किया।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र के इस प्रथम परिवर्त का संक्षेप यहाँ हमने दिया है। विराट्-प्रज्ञापारमिता में जिन विषयों की चर्चा बार बार आती है, उनका सारांश इसी परिवर्त में आ गया है। व्यवहारसत्य और परमार्थसत्य का एकत्र निरूपण करने से जो कठिनाइयाँ पैदा होती हैं,उनका प्रत्यय हमें आयुष्मान् शारिपुत्र और सुभूति के इस संवाद में मिलता है। स्थविर-वादी सुभूति और शारिपुत्र के ही द्वारा इस चर्चा का किया जाना और भी मार्मिक है। हीनयान के अर्हतों से ही शून्यवाद की स्थापना कराने का यह प्रयत्न है। बोधिसत्व, महासत्व, महायान आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ इस परिवर्त में बताये गये हैं। अद्वयज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही बोधिचर्या है। यह अद्वयज्ञान ही प्रज्ञा है। इस सिद्धान्त का प्रथम स्पष्ट दर्शन यहाँ होता है। इसी सिद्धान्त को नागार्जुन आदि आचार्यों ने व्यवस्थित रूप दिया। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' नागार्जुन की कृति है। यह निश्चित है कि नागार्जुन के पहले ही ये ग्रन्थ अस्तित्व में थे। नागार्जुन ने इनपर टीकायें अवश्य लिखी हैं, जो चीनी भाषा में उपलब्ध हैं। नागार्जुन का 'प्रज्ञापारमितासूत्र-शास्त्र' ग्रन्थ पंचविंशति-साहस्रिका-पारमिता की ही टीका है। पारमिताशास्त्रों को आगे चलकर 'भगवती' यह विशे-षण भी दिया गया है, जिससे इसकी महत्ता स्पष्ट होती है।

लंकावतार-सूत्र

महायान-बौद्धधर्म प्रमुखतः शून्यवाद और विज्ञानवाद नाम के दो निकायों में विभक्त है। प्रज्ञापारमितासूत्र-ग्रन्थों में हमने शून्यवाद-सिद्धान्त का अवलोकन किया है। विज्ञानवाद का प्रारंभ शून्यवाद के बाद और शून्यवाद के आत्यन्तिकता के विरोध में हुआ। 'लंकावतार-सूत्र' नामक वैपुल्य-सूत्रग्रन्थ विज्ञानवाद का मूल ग्रन्थ है। विज्ञान ही सत्य है, विज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता नहीं है। यह इस वाद की मान्यता है।

लंकावतार-सूत्र के चीनी में तीन भाषान्तर हुए हैं। ई० सन् ४४३ में गुणभद्र ने, ई० ५१३ में बोधिरुचि ने और ई० ७००–७०४ में शिक्षानन्द ने इसके चीनी अनुवाद किये थे, जो उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ का संपादन 'बुन्यिउ नंजिओ' ने क्योटो (जापान) से १६२३ में किया है। डा० सुजूकी ने इस ग्रन्थ पर विशेष अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है।

लंकावतार-सूत्र का अर्थ है लंकाधीश रावण को सद्धर्म का उपदेश। इस ग्रन्थ के कुल दश परिवर्त हैं। प्रथम परिवर्त में लंका के राक्षसाधिपति रावण का बुद्ध से संभाषण है। बोधिसत्व महामति के कहने पर रावण भगवान् से धर्म और अधर्म के संबन्ध में प्रश्न करता है। द्वितीय परिवर्त में महामति बोधिसत्व भगवान् से एक सौ प्रश्न पूछता है। प्रायः ये सभी प्रश्न मूल सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। निर्वाण, संसार-बन्धन, मुक्ति, आलयविज्ञान, मनोविज्ञान, शून्यता आदि गंभीर विषयों के बारे में; तथा चक्रवर्ति, माण्डलिक, शाक्यवंश आदि के बारे में भी ये प्रश्न हैं। तृतीय परिवर्त में कहा गया है कि तथागत ने जिस रात्रि को सम्यक्-संबोधि की प्राप्ति की और जिस रात्रि को महापरिनिर्वाण की प्राप्ति की उसके बीच उन्होंने एक शब्द का भी उच्चारण नहीं किया है। यह भगवान् के उपदेश का लोकोत्तर-स्वभाव है। इसी परिवर्त में कहा गया है कि जिस प्रकार एक ही वस्तु के अनेक नाम उपयुक्त होते हैं उसी प्रकार बुद्ध के असंख्य नाम है। कोई उन्हें तथागत कहते है, तो कोई स्वयम्भू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बलि, वरुण आदि नामों से पुकारते हैं। उन्हें ही अनिरोधानुत्पाद, शून्यता, तथता, सत्य, धर्मधातु और निर्वाण; ये संज्ञायें दी गई हैं। दूसरे से सातवें परिवर्त तक विज्ञानवाद के सूक्ष्म-सिद्धान्तों की चर्चा है। अष्टम परिवर्त में मांसाशन का निषेध है। हीनयान के विनयपिटक में त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस का विधान है, किन्तु महायान में मांसाशन वर्जित है। इसका प्रथम दर्शन हमें लंकावतार-सूत्र में मिलता है। नवम परिवर्त में अनेक धारणियों का वर्णन है। अन्तिम दशम परिवर्त में ८८४ श्लोकों में विज्ञानवाद की विस्तृत चर्चा है, जो आगे के दार्शनिक विज्ञानवाद के लिये भित्तिरूप है।

दशवें परिवर्त में कुछ स्थल पर भविष्य के बारे में व्याकरण है। भगवान् कहते हैं कि उनके परिनिर्वाण के बाद व्यास, कणाद, ऋषभ, कपिल आदि उत्पन्न होंगे। निर्वाण के एक सौ वर्ष बाद व्यास, कौरव, पाण्डव, राम और मौर्य (चन्द्रगुप्त) होंगे और उनके बाद नन्द, गुप्त राज्य करेंगे। उसके बाद—म्लेच्छों का राज्य होगा जब कलियुग का भी प्रारंभ होगा और शासन वृद्धिंगत न होगा। अन्य एक स्थल पर पाणिनि, अक्षपाद, बृहस्पति (लोकायत के आचार्य), कात्यायन, याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि,कौटिल्य और आश्वलायन आदि ऋषियों के बारे में व्याकरण है।

इन व्याकरणों से विद्वानों ने निर्णय किया है कि लंकावतार का यह दशम परिवर्त पीछे का अर्थात् उत्तर-गुप्तकाल का है और उसका विज्ञानवाद सम्बन्धी भाग योगाचार के संस्थापक आर्य मैत्रेयनाथ के समय का अर्थात् चौथी शती का है।

अन्य सूत्र—अन्य सूत्र-ग्रन्थों में 'समाधिराज-सूत्र' और 'सुवर्णप्रभास-सूत्र' ये दो सूत्र विशेष महत्त्व के हैं। समाधिराज का दूसरा नाम चन्द्रप्रदीप-सूत्र है। इस ग्रन्थ में योगाचार की अनेक समाधियों का वर्णन है।

सुवर्णप्रभास-सूत्र में भगवान् के धर्मकाय की प्रतिष्ठा है अर्थात् बुद्ध का रूपकाय नहीं है और इसलिए भगवान् के धातु की वस्तुतः उत्पत्ति नहीं है। इसके तीन चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं। धर्मक्षेम (४१४–४३३ ई०) परमार्थ तथा उनके शिष्य (५५२–५५७ ई०) और इत्सिङ् (७०३ ई०) ने सुवर्णप्रभास के चीनी अनुवाद किये थे। महायान देशों में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है। मध्य-एशिया में भी इस ग्रन्थ के कुछ अंश मिले हैं।

———

अष्टम अध्याय

महायान-दर्शन की उत्पत्ति और उसके प्रधान आचार्य

पहले हम महायान-धर्म की उत्पत्ति और उसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख कर चुके हैं। हमने देखा है कि महायान का हीनयान से मौलिक भेद है। इसके आगम-ग्रंथ, इसकी चर्या, इसका बुद्धवाद, इसका सब कुछ भिन्न है। हम देखेंगे कि इसका दर्शन भी सर्वथा भिन्न है। संक्षेप में महायान की ये विशेषतायें हैं:—बोधिसत्व की कल्पना, बोधि-चित्तग्रहण, षट्पारमिता की साधना, दश-भूमि, त्रिकायवाद और धर्म-शून्यता या तथता। महायान-ग्रन्थों में हीनयान को श्रावक-यान और महायान को बोधिसत्व-यान भी कहते हैं। असंग महायानसूत्रालंकार में कहते हैं कि श्रावक-यान में परहित-साधन का प्रयत्न नहीं है, केवल अपने ही मोक्ष का उपाय-चिन्तन है। महायान का अनुगमन करनेवाला अपर्यन्त सत्वों के समुद्धरण का आशय रखता है और इसके लिए बोधि-चित्त का समादान करता है। हीनयान का अनुयायी केवल पुद्गल-नैरात्म्य में प्रतिपन्न है, किन्तु महायान का अनुयायी धर्मनैरात्म्य या धर्म-शून्यता में भी प्रतिपन्न है। महायानी का कहना है कि वह क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों को अपनीत करता है। उसके अनुसार हीनयानी केवल क्लेशावरण का ही अपनयन करता है। महायान का प्रधान आगम प्रज्ञापारमिता है। हमने पिछले अध्याय में देखा है कि इसमें ही सबसे पहले शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। यही हीनयान से महायानदर्शन को भिन्न करने का बीज है। सौत्रान्तिकों के अनुसार महायान की शिक्षा सबसे पहले अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता में पायी जाती है। प्रज्ञापारमिता कई हैं। इनमें अष्टसाहस्रिका सबसे प्राचीन है। इसका समय ईसा से एक शती पूर्व अवश्य होगा। साहस्रिकायें महायान के सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ समझे जाते हैं। महायानदर्शन के आदि आचार्य नागार्जुन ने इनमें से एक का भाष्य लिखा था। इस ग्रन्थ को महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र कहते हैं।

पहले हमने कहा है कि महायान के संकेत हीनयान में भी पाये जाते हैं। सर्वास्तिवाद का जो अवदान-साहित्य है, उसमें बोधिसत्व-यान का पूर्वरूप व्यक्त होता है। दिव्यावदान सर्वास्तिवाद का ग्रन्थ है, इसमें पूर्ण की कथा मिलती है। दिव्यावदान में अनुत्तरसम्यक्-सम्बोधि का भी उल्लेख है। ऐसी अनेक कथायें हैं, जिनमें दिखाया गया है कि पारमिताओं की साधना के लिए उपासक अपने जीवन का भी उत्सर्ग करते हैं, वह ऐहिक या पारलौकिक सुख के लिए यत्नशील न होकर अनुत्तर-सम्यक्-संबोधि के लिए यत्नवान् हैं, जिसमें वह सब जीवों को विमुक्त करें। महावस्तु में हम ऐसे उपासकों का उल्लेख पाते हैं, जो बोधि-चित्त का ग्रहण कर बोधि के

लिए चित्त का आवर्जन करते हैं। महावस्तु में तीन यानों का उल्लेख है, जैसे दिव्यावदान में श्रावक-बोधि, प्रत्येक-बोधि, और अनुत्तर-सम्यक्-सम्बोधि का उल्लेख है। हमने पहले देखा है कि इसमें बोधिसत्व की चार चर्याओं और दश भूमियों का भी उल्लेख है। किन्तु यह दश भूमियाँ दशभूमक-सूत्र की दश भूमियों से बहुत कम समानता रखती हैं। महावस्तु महासांघिकों में लोकोत्तरवादियों का विनय-ग्रन्थ है। महासांघिक महायानियों के पूर्ववर्ती हैं, दशभूमक-सूत्र में भूमियों के दो विभाग किये गये हैं, पहली ६ भूमियों में बोधिसत्व पुद्गल-शून्यता का साक्षात्कार करता है (यही श्रावक-बोधि है) तथा अन्तिम ४ भूमियों में धर्मशून्यता का साक्षात्कार करता है। अतः ७वीं भूमि से ही महायान की साधना का आरंभ होता है।

हीनयान के साहित्य में भी 'शून्यता' शब्द का प्रयोग पाया जाता है किन्तु महायान में इसका एक नया ही अर्थ है। महायान के त्रिकाय में से रूप-(या निर्माण) काय और धर्मकाय दिव्यावदान और महावस्तु में भी पाये जाते हैं। दिव्यावदान में कहा है कि मैंने तो भगवत् का धर्मकाय देखा है, रूप-काय नहीं। धर्मकाय प्रवचन-काय है। यह बुद्ध का स्वाभाविक काय है। किन्तु महायान में धर्मकाय का एक भिन्न अर्थ है। त्रिकायवाद में हम इसका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। सर्वास्तिवादी की परिभाषा में बुद्ध में नैर्माणिकी ऋद्धि थी। वह अपने सदृश अन्यरूप निर्मित कर सकते थे। दिव्यावदान में है कि शाक्यमुनि एक बुद्ध-पिंडी का निर्माण करते हैं किन्तु इन ग्रन्थों में संभोगकाय का वर्णन नहीं है। अतः महायान-धर्म का आरंभ उस समय में हुआ जब धर्म-शून्यता, धर्मकाय (=तथता) और संभोगकाय के विचार पहले-पहल प्रविष्ट हुए। धर्म-शून्यता का नया सिद्धान्त सबसे प्रथम प्रज्ञापारमिता ग्रन्थों में प्रतिपादित हुआ। अष्टसाहस्रिका में दो कायों का ही वर्णन है, नागार्जुन के महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र में भी इन्हीं दो कायों का उल्लेख है। धर्मकाय का दो अर्थ है १. धर्मों का समूह २. धर्मता। योगाचार में रूपकाय औदारिक और सूक्ष्म दो प्रकार का है। प्रथम को रूप या निर्माण-काय कहते हैं द्वितीय को संभोग-काय कहते हैं। लंकावतार सूत्र में संभोग-काय को निष्यन्द-बुद्ध या धर्मता-निष्यन्द-बुद्ध कहते हैं। सूत्रालंकार में निष्यन्द-बुद्ध को संभोग-काय और धर्मकाय को स्वाभाविक-काय कहा है। पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में संभोगकाय बुद्ध का सूक्ष्म-काय है, जिसके द्वारा बुद्ध बोधिसत्वों को उपदेश देते हैं। शतसाहस्रिका में संभोगकाय को आसेचनक-काय कहा है; इसे प्रकृत्यात्मभाव भी कहते हैं। यह शरीर तेज का पुंज है। इस शरीर के प्रत्येक रोम-कूप से अनन्त रश्मि-राशि निःसृत होती है, जो अनन्त लोक-धातु को अवभासित करती है। तब बुद्ध अपने प्रकृत्यात्मभाव का देव-मनुष्य को दर्शन कराते हैं। सकल लोक-धातु के सब सत्व शाक्यमुनि बुद्ध को भिक्षुओं तथा बोधिसत्वों को प्रज्ञापारमिता का उपदेश देते देखते है।

अतः पंचविंशतिसाहस्रिका में सबसे प्रथम संभोग-काय का उल्लेख पाया जाता है। नागार्जुन के समय तक संभोग-काय रूपकाय (अथवा निर्माण काय) से पृथक् नहीं किया गया था। उस समय तक इस सांभोगिक काय को निर्मित मानते थे और इसलिए उसे रूपकाय के अन्तर्गत मानते थे। दश भूमियों का उल्लेख सब से पहले महावस्तु में पाया जाता है; तदनन्तर

शत और पंचविंशतिसाहस्रिका में। दशभूमकसूत्र, बोधिसत्व-भूमि, लंकावतार, सूत्रालंकार आदि ग्रन्थों में, भूमियों का विकसित रूप पाया जाता है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि प्रज्ञापारमिता ग्रन्थों में अष्ट और दश साहस्रिका सबसे प्राचीन हैं। इसके पश्चात् शत और पंचविंशति प्रज्ञापारमिता का समय है। यद्यपि धर्मशून्यता का विचार अष्टसाहस्रिका में पाया जाता है तथापि महायान में त्रिकाय और दशभूमि पंचविंशति-प्रज्ञापारमिता के पूर्व नहीं पाये जाते।

अष्टसाहस्रिका आदि प्रज्ञापारमिता ग्रन्थों का मुख्य विचार यह है कि प्रज्ञापारमिता अन्य-पारमिताओं की नायिका अथवा पूर्वंगमा है। अष्टसाहस्रिका पृथ्वी से प्रज्ञापारमिता की तुलना करती है, जिसपर अन्य पारमिताओं का अवस्थान है, और जिसपर वह सर्वज्ञता के फल का उत्पाद करती है। अतः प्रज्ञापारमिता सर्वज्ञ तथागत की उत्पादक है। अन्य पारमिताओं की तरह प्रज्ञा-पारमिता का अभ्यास नहीं किया जाता। यह चित्त की अवस्था है, जिसके होने पर दानपारमिता अलक्षण और निःस्वभाव प्रतीत होती है, और ग्राह्य-ग्राहक-विकल्प प्रहीण होता है। प्रज्ञापार-मिता बताती है कि किसी में अभिनिवेश नहीं होना चाहिए और बोधिसत्व को सदा इसका ध्यान रखना चाहिए कि पारमिता, समाधि, समापत्ति, फल या बोधिपाक्षिक-धर्म उपायकौशल्य-मात्र हैं। वस्तुतः इनका कोई स्वभाव नहीं है। प्रज्ञापारमिता ग्रन्थों की शिक्षा है कि सब शून्य है अर्थात् पुद्गल (आत्मा) और धर्म द्रव्यसत् स्वभाव नहीं हैं। इनकी शिक्षा है कि विज्ञान और विज्ञेय (बाह्यार्थ) दोनों का परमार्थतः अस्तित्व नहीं है, केवल संवृतितः है। सर्वास्तिवाद पुद्गल-नैरात्म्य तो मानता है किन्तु वह एक नियत संख्या को द्रव्यसत् मानता है। किन्तु महा-यान के ये ग्रन्थ इन धर्मों को भी निःस्वभाव मानते हैं—धर्म भी संवृतितः हैं, परमार्थतः नहीं। जीवन प्रवाहमात्र है, यह शाश्वत नहीं है और इसका उच्छेद भी नहीं होता। धर्मों का विभाजन करके जब हम देखते हैं, तब उन्हें हम निःस्वभाव पाते हैं, प्रवाहमात्र है, जिसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है; इस प्रवाह का स्वरूप क्या है, यह नहीं बताता।

योगाचार-विज्ञानवादी इस प्रवाह को आलय-विज्ञान कहता है। इस नय में चित्त-चैत्त वस्तु सत् हैं, बाह्यार्थ प्रज्ञप्तिमात्र है। आलय-विज्ञान स्रोत के रूप में अव्युपरत प्रवर्तित होता है। स्रोत का अर्थ हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलोत्पत्ति होती है, और हेतु का विनाश होता है। आलय-विज्ञान में धर्मों का निरन्तर स्वरूप-विशेष होता है, और आलय-विज्ञान नवीन धर्म आक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है, आलय-विज्ञान विज्ञानों का आलय और सर्व सांक्लेशिक बीजों का संग्रह-स्थान है।

विज्ञानवाद माध्यमिकवाद की प्रतिक्रिया है। जहाँ माध्यमिक विज्ञान को भी शून्य और निःस्वभाव मानता है, वहाँ विज्ञानवाद त्रैधातुक को चित्तमात्र मानता है, उसके अनुसार सब शून्य है, केवल विज्ञप्ति वस्तु-सत् है। विज्ञानवाद दशभूमक-शास्त्र को अपना आधार मानता है। तथापि इस वाद का आरंभ वस्तुतः आचार्य असंग से होता है। माध्यमिकवाद के प्रथम-आचार्य नागार्जुन हैं।

अब हम आगे इन दोनों दर्शनों के प्रधान आचार्यों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

नागार्जुन–तारानाथ का कहना है हीनयानवादियों के अनुसार शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता अन्तिम महायान-सूत्र है; और इसके रचयिता नागार्जुन हैं। प्रज्ञापारमितासूत्र-शास्त्र अवश्य नागार्जुन का बताया जाता है। यह पंचविंशतिसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता की टीका है। हो सकता है इसी कारण भूल से नागार्जुन को शतसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता का रचयिता मान लिया गया हो। कम से कम नागार्जुन महायान के प्रतिष्ठापक नहीं हैं, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि उनसे बहुत पहले ही महायान-सूत्रों की रचना हो चुकी थी।

शुआन-च्वाङ्ग के अनुसार अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलब्ध (=कुमार-लात) समकालीन थे। वह इनको बौद्ध-जगत् के चार सूर्य मानते हैं। राजतरंगिणी के अनुसार बोधिसत्व-नागार्जुन हुष्क, जुष्क और कनिष्क के समय में काश्मीर के एकमात्र स्वामी थे। तारानाथ के अनुसार नागार्जुन, कनिष्क के काल में पैदा हुए थे। नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी हो सकता है, किन्तु नागार्जुन के सम्बन्ध में इतनी कहानियाँ प्रचलित हैं कि कभी-कभी उनके अस्तित्व के बारे में ही सन्देह होने लगता है। कुमारजीव ने ४०५ ई० के लगभग चीनी भाषा में नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया था। इसके अनुसार उनका जन्म दक्षिण भारत में ब्राह्मण-कुल में हुआ था। वह ज्योतिष, आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओं में निपुण थे। वह जादूगर समझे जाते थे। उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि कई शताब्दी बाद में भी अनेक ग्रन्थ उन्हीं के बताये जाते हैं।

नागार्जुन का मुख्य ग्रन्थ कारिका या माध्यमिक-सूत्र है। इस ग्रन्थ में ४०० कारिकायें हैं। नागार्जुन ने इस पर एक टीका लिखी थी। जिसका नाम 'अकुतोभया' है। इसका केवल तिब्बती अनुवाद पाया जाता है। बुद्धपालित और भावविवेक ने भी इस ग्रन्थ पर टीकायें लिखीं थी, किन्तु उनके भी केवल तिब्बती अनुवाद ही मिलते हैं। केवल चन्द्रकीर्ति की 'प्रसन्नपदा' नामक संस्कृत टीका उपलब्ध है। नागार्जुन ने माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसे शून्यवाद भी कहते हैं। चन्द्रकीर्ति सिद्ध करते हैं कि माध्यमिक नास्तिक नहीं हैं। नागार्जुन संवृतिसत्य और परमार्थसत्य की शिक्षा देते हैं। परमार्थसत्य की दृष्टि से न संसार है, न निर्वाण।

नागार्जुन के अन्य ग्रन्थ युक्तिषष्ठिका, शून्यता-सप्तति, प्रतीत्यसमुत्पाद-हृदय,महायानविंशक और विग्रह-व्यावर्तनी हैं। इनके अतिरिक्त भी कई ग्रन्थ हैं, जो नागार्जुन के बताये जाते हैं। किन्तु उनके बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। धर्म-संग्रह पारिभाषिक शब्दों का एक कोष है। इसे भी नागार्जुन का लिखा बताते हैं। इसी प्रकार 'सुहृल्लेख' के रचयिता भी नागार्जुन कहे जाते हैं। इत्सिंग ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। उनके समय में यह बहुत लोकप्रिय था। उनके अनुसार इसके रचयिता नागार्जुन थे। चीनियों के अनुसार जिस राजा को यह लेख लिखा गया था, वह शातवाहन था। तिब्बतियों के अनुसार वह उदयन था। माध्यमिक के अन्य प्रसिद्ध आचार्य देव या आर्यदेव बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव हैं।

चन्द्रकीर्त्ति छठीं शताब्दी के हैं। यह मध्यमकावतार और प्रसन्नपदा के रचयिता हैं। नागार्जुन के बाद का विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में देंगे'।

आर्यदेव—नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव भी एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गये हैं। इन्हें देव, काणदेव या नीलनेत्र भी कहते हैं। शुआन-च्वांग के अनुसार यह सिंहल देश से आये थे। कुमारजीव ने इनकी जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। आर्यदेव का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ चतुः शतक है। इसमें ४०० कारिकायें हैं। चन्द्रकीर्ति के ग्रन्थ में शतक या शतक-शास्त्र के नाम से इसका उल्लेख है। शुआन-च्वाङ्ग ने इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इनका एक दूसरा ग्रन्थ 'चित्तविशुद्धि-प्रकरण' बताया जाता है। इसके कुछ ही भाग मिले हैं। विन्टर नित्ज को इसमें सन्देह है कि यह ग्रन्थ आर्यदेव का है। चीनी त्रिपिटक में दो ग्रन्थ हैं, जिनका अनुवाद बोधिसत्त्व (५०८–५३५ ई०) ने किया है और जो आर्यदेव के बताये जाते हैं। आर्यदेव का एक ग्रन्थ मुष्टि-प्रकरण है, जिसके संस्कृत-पाठ का निर्माण टामस ने चीनी और तिब्बती अनुवादों की सहायता से किया है।

असंग, वसुबंधु—अब तक यह समझा जाता था कि योगाचार-विज्ञानवाद के प्रतिष्ठापक आर्यासंग थे। परंपरा के अनुसार अनागत बुद्ध मैत्रेय ने तुषित-लोक में असंग को कई ग्रन्थ प्रकाशित किये थे। किन्तु अब इस लोक-कथा का व्याख्यान इस प्रकार किया जाता है कि जिन ग्रन्थों के सम्बन्ध में ऐसी उक्ति है, वह वस्तुतः असंग के गुरु मैत्रेय नाथ की रचना है। अब इसकी अधिक संभावना है कि मैत्रेयनाथ योगाचार मतवाद के प्रतिष्ठापक थे। कम से कम अब यह निश्चित हो गया है कि अभिसमयालंकार कारिका मैत्रेयनाथ की कृति है। यह ग्रन्थ पंचविंशतिसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता सूत्र की टीका है। यह टीका योगाचार की दृष्टि से लिखी गयी है। विन्टर नित्ज का कहना है कि महायानसूत्रालंकार के भी रचयिता संभवतः मैत्रेयनाथ थे। सिलवां लेवी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन और अनुवाद किया है। उनका मत है कि यह ग्रन्थ असंग का है। एक और ग्रन्थ 'योगाचारभूमिशास्त्र' या 'सप्तदशभूमिशास्त्र' है जिसका केवल एक भाग अर्थात् बोधिसत्त्वभूमि संस्कृत में मिलता है। इसके सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि मैत्रेय ने इसको असंग के लिये प्रकाशित किया था। विन्टर नित्ज का कहना है कि यह भी प्रायः मैत्रेयनाथ की रचना है। किन्तु तिब्बती लेख इस ग्रन्थ को असंग का बताते हैं। शुआन च्वांग का भी यही मत है। जो कुछ हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि योगाचार-विज्ञानवाद के आचार्य के रूप में मैत्रेयनाथ की अपेक्षा असंग की अधिक प्रसिद्धि है। इनके ग्रन्थों का परिचय चीनी अनुवादों से मिलता है—महायान-संपरिग्रह, जिसका अनुवाद परमार्थ ने किया; प्रकरण-आर्यवाचा, महायानाभिधर्म-संगीति-शास्त्र जिसका अनुवाद शुआन च्वाङ्ग ने किया, वज्रच्छेदिका की टीका, जिसका अनुवाद धर्मगुप्त ने किया।

असंग तीन भाई थे। असंग ही सबसे बड़े थे। इनका जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनका गोत्र कौशिक था। इनसे छोटे वसुबन्धु थे। बौद्धसाहित्य में इनका ऊँचा स्थान है। आरंभ में दोनों भाई सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। अभिधर्मकोश के देखने से मालूम होता है कि वसुबन्धु स्वतंत्र विचारक थे। किन्तु उनका झुकाव सौत्रान्तिक

मतवाद की ओर था। पीछे से असंग ने महायान-धर्म स्वीकार कर लिया और उनकी प्रेरणा से वसुबन्धु भी महायान के माननेवाले हो गये।

ताकाकुसू के अनुसार वसुबन्धु का काल ४२० ई० और ५०० ई० के बीच है। वोगिहारा वसुबन्धु का समय ३९० ई० और ४७० ई० के बीच तथा असंग का समय ३७५ ई० और ४५० ई० के बीच निर्धारित करते हैं। सिलवाँ लेवी के अनुसार असंग का काल ५ वीं शताब्दी का पूर्वार्धभाग है। किन्तु एन्० पेरी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वसुबन्धु का जन्म ३५० ई० के लगभग हुआ। इससे विन्टर नित्ज़ दोनों भाइयों का समय चौथी शताब्दी मानते हैं।

परमार्थ ने वसुबन्धु की जीवनी लिखी थी। परमार्थ का समय ४९९–५६९ ई० है। ताकाकुसू ने चीनी से इसका अनुवाद किया है। तारानाथ के इतिहास में भी वसुबन्धु की जीवनी मिलती है, किन्तु यह प्रामाणिक नहीं है। वसुबन्धु का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्म-कोश है। इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। लुई द ला वाले पूसें ने चीनी से फ्रेंच में अनुवाद किया। राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से मूल संस्कृत-ग्रन्थ का फोटो लाये थे। जायसवाल-अनुशीलन-संस्था पटना की ओर से मूल ग्रन्थ के प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है। चीनी भाषा में इस ग्रन्थ के दो अनुवाद हैं—एक परमार्थ का, दूसरा शुआन-च्वाङ् का। परमार्थ का अनुवाद ५६३ ई० का है। इस ग्रन्थ में ६०० कारिकायें हैं और वसुबन्धु ने इसका स्वयं भाष्य लिखा है। इस ग्रन्थ का बौद्ध-जगत् पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। सब निकायों में तथा सर्वत्र इसका आदर हुआ। इसने बहुत शीघ्र अन्य प्राचीन ग्रन्थों का स्थान ले लिया। यह बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। वसुबन्धु के अनुसार अभिधर्मकोश में वैभाषिक-सिद्धान्त का निरूपण काश्मीर-नय से किया गया है। कोश के प्रकाशित होने पर सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रन्थों (अभिधर्म और विभाषा) का महत्त्व घट गया। कोश में वैभाषिक-सौत्रान्तिक का विवाद भी दिया गया है; अन्त में ग्रन्थकार अपना मत भी देते हैं। कोश में अन्य ग्रन्थों से उद्धरण भी दिये गये हैं। इस प्रकार प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिये भी कोश का बड़ा मूल्य है।

अभिधर्म कोश पर कई टीकायें लिखी गयी थीं, किन्तु केवल यशोमित्र की 'स्फुटार्था' व्याख्या पायी जाती है। इसका संपादन वोगिहारा ने जापान से किया है। कलकत्ते से देव-नागरी अक्षरों में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। दिङ्नाग, स्थिरमति, गुणमति आदि ने भी कोशपर टीकायें लिखी हैं—मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थटीका, लक्षणानुसार आदि। चीनी भाषा में भी कोश पर कई टीकायें हैं।

संघभद्र ने न्यायानुसार नाम का अभिधर्मशास्त्र वसुबन्धु के मत का खण्डन करने तथा यह बताने के लिए लिखा कि कहाँ वसुबन्धु शास्त्र से व्यावृत्त करते हैं; न्यायानुसार अभिधर्मकोश की आलोचनात्मक टीका है। जहाँ जहाँ वसुबन्धु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ वहाँ न्यायानुसार उसका खण्डन करता है।

वृद्धावस्था में वसुबन्धु ने असंग के प्रभाव से महायान-धर्म स्वीकार किया और विंशतिका और त्रिंशिका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे। यह विज्ञानवाद के ग्रन्थ हैं। विंशतिका पर वसुबन्धु ने अपनी वृत्ति लिखी। त्रिंशिका पर १० टीकायें थीं। इनमें से केवल स्थिरमति की टीका उपलब्ध है। युआन-च्वाङ् ने त्रिंशिका पर विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि नामक ग्रन्थ चीनी भाषा में लिखा। पूसें ने इस ग्रन्थ का फ्रेंच में अनुवाद प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है, क्योंकि इसमें त्रिंशिका के सब टीकाकारों के मत का निरूपण है और धर्मपाल की टीका भी सन्निविष्ट है।

वसुबन्धु ने अन्य भी ग्रन्थ लिखे थे, जो अप्राप्त हैं। विश्वभारती से त्रिस्वभाव-निर्देश नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसके रचयिता वसुबन्धु बताये जाते हैं। वसुबन्धु के कुछ अन्य ग्रन्थ यह हैं:—पंचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति और कर्मसिद्धिप्रकरण। वसुबन्धु की मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था में अयोध्या में हुई। इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में हम असंग के विज्ञानवाद का, वसुबन्धु के वैभाषिकवाद तथा विज्ञानवाद का विस्तृत परिचय देंगे।

दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और अन्य आचार्य—आचार्य असंग और वसुबन्धु के दो प्रधान शिष्य दिङ्नाग (या दिग्नाग) और स्थिरमति थे। स्थिरमति माध्यमिक और विज्ञानवाद के बीच की कड़ी हैं। विज्ञानवाद की दूसरी शाखा के प्रतिष्ठापक दिङ्नाग हैं। इस शाखा का माध्यमिक से सर्वथा विच्छेद हो गया। इस शाखा का केन्द्र नालन्दा था। दिङ्नाग बौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। भारतीय दर्शन में इनका ऊँचा स्थान है। इनके ग्रन्थों में न्याय-प्रवेश, आलम्बन-परीक्षा प्राप्त हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय का प्रत्यक्ष परिच्छेद भी प्रकाशित हो चुका है। अन्य ग्रन्थों के भी तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्ति (६७५–७०० ई०) हुए जिनका न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु और प्रमाणवार्तिक संस्कृत में उपलब्ध हैं। युआन्-च्वांग ने नालन्दा संघाराम में अध्ययन किया था और शीलभद्र उनके आचार्य थे। विज्ञानवाद के अन्य आचार्य जयसेन तथा चन्द्रगोमिन् (सातवीं शती) थे। यह एक प्रसिद्ध वैयाकरण, दार्शनिक और कवि थे। तारानाथ के अनुसार चन्द्रगोमिन् ने अनेक स्तोत्र और अन्य ग्रंथ रचे। यह असन्दिग्ध है कि सातवीं शती में विज्ञानवाद का बड़ा प्रभाव था। पीछे के माध्यमिक आचार्यों का विज्ञानवाद के आचार्यों से बड़ा शास्त्रार्थ होता था। यद्यपि माध्यमिक विज्ञानवादियों के पूर्ववर्ती हैं, तथापि बौद्धधर्म के तिब्बती और चीनी इतिहासों में योगाचार-विज्ञानवाद को प्रायः हीनयान और माध्यमिक के बीच की कड़ी माना गया है। उनके अनुसार माध्यमिकों का वाद पूर्ण है।

नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य धर्मपाल थे, जिन्होंने त्रिंशिका पर टीका लिखी थी। इनके शिष्य चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक दर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे। चन्द्रकीर्ति ने बुद्धपालित और भव्य के शिष्य कमलबुद्धि से नागार्जुन के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। बुद्धपालित प्रासंगिक-निकाय के प्रतिष्ठापक हैं और भावविवेक (भव्य) ने स्वातन्त्र निकाय की स्थापना की थी। इनके ग्रन्थों के केवल तिब्बती अनुवाद मिलते हैं। चन्द्रकीर्ति का मुख्य ग्रन्थ मध्यमकावतार है। मूल मध्यमककारिका पर प्रसन्नपदा नाम की टीका भी चन्द्रकीर्ति की है। इन्होंने चतुः-

शतिका पर भी एक टीका लिखी, जो बहुत प्रसिद्ध है। ये ग्रन्थ चन्द्रकीर्ति की अपूर्व विद्वत्ता के प्रमाण हैं।

शान्तिदेव—शान्तिदेव सातवीं शताब्दी में हुए। तारानाथ के अनुसार शान्तिदेव का जन्म सौराष्ट्र (= वर्तमान गुजरात) में हुआ था, और वह श्रीहर्ष के पुत्र शील के समकालीन थे। परन्तु भारतीय अथवा चीनी लेखों में अथवा शील किसी अन्य नाम के पुत्र का पता नहीं चलता। शान्तिदेव राजपुत्र था, पर तारा की प्रेरणा से उसने राज्य का परित्याग किया। कहा जाता है कि स्वयं बोधिसत्व मंजुश्री ने योगी के रूप में उसको दीक्षा दी और अन्त में वह भिक्षु हो गया।

तारानाथ के अनुसार शान्तिदेव बोधिचर्यावतार, सूत्रसमुच्चय, और शिक्षासमुच्चय के रचयिता थे। बोधिचर्यावतार औरों से पीछे लिखी गयी। शिक्षासमुच्चय की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें ग्रन्थकार का नाम नहीं पाया जाता है, पर तंजोर इण्डेक्स ३१ के अनुसार शान्तिदेव ही इस ग्रन्थ के रचयिता हैं। महायान-धर्म के विद्वान् दीपंकर श्रीज्ञान (अतीश) इस उक्ति की पुष्टि करते हैं। शिक्षासमुच्चय के अनेक अंशों का उद्धरण उन्होंने किया है। और इस ग्रन्थ को वह शान्तिदेव ही की कृति समझते थे।

बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति भी शान्तिदेव ही को शिक्षासमुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का ग्रन्थकार मानते हैं। दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृतियाँ हैं। इसका अन्तरंग प्रमाण भी है। दोनों ग्रन्थों में कई श्लोक सामान्य हैं। इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार (पंचम परिच्छेद, श्लोक १०५, १०६) में शिक्षासमुच्चय अथवा सूत्रसमुच्चय के बारम्बार अभ्यास करने का आदेश किया गया है।

शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः॥
संक्षेपेणाथवा तावत्पश्येत्सूत्रसमुच्चयम्।

यदि शिक्षासमुच्चय के रचयिता बोधिचर्यावतार के रचयिता से भिन्न होते तो यह मानना पड़ता कि एक ने दूसरे के श्लोकों की चोरी की है और उस अवस्था में जिस ग्रन्थ से चोरी की गयी है उस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं पाया जाता।

अतः स्पष्ट है; दोनों ग्रन्थों के कर्ता शान्तिदेव ही हैं। प्रज्ञाकरमति अपनी बोधिचर्यावतारपंजिका में ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोकों की टीका में लिखते हैं :—

शिक्षासमुच्चयोऽपि स्वयमेभिरेव कृतः। तदा। नानासूत्रैकदेशानां वा समुच्चय एभिरेव कृतः।

बोधिचर्यावतार में आर्य नागार्जुन द्वारा लिखे हुए एक दूसरे सूत्रसमुच्चय का उल्लेख पाया जाता है।

आर्यनागार्जुनाबद्धं द्वितीयं च प्रयत्नतः

प्रज्ञाकरमति के अनुसार आर्य नागार्जुन के लिखे हुए शिक्षासमुच्चय और सूत्रसमुच्चय हैं।

टीका—आर्यनागार्जुनपादैर्निबद्धं द्वितीयं शिक्षासमुच्चयं सूत्रसमुच्चयं च पश्येत् प्रयत्नतः आदरतः।

पर यह अर्थ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। 'द्वितीयं' से द्वितीय सूत्रसमुच्चय से तात्पर्य है; क्योंकि श्लोक के प्रथम पाद में सूत्रसमुच्चय ही का का उल्लेख है।

कर्न साहब के अनुसार दोनों ग्रन्थ नागार्जुन के हैं। (मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म, पृष्ठ १२७, नोट ५)

सी. बेण्डल साहब इसका अर्थ इस प्रकार लगाते हैं :—

आर्य नागार्जुन-रचित सूत्रसमुच्चय अवश्य द्रष्टव्य है। यह श्रामणेर का द्वितीय अभ्यास है। (शिक्षासमुच्चय, सी. बेण्डल द्वारा रचित, १ बिब्लिओथिका बुद्धिका, पृष्ठ ४ के सामने, नोट २)

इस अर्थ के अनुसार शान्तिदेव अपने रचे किसी सूत्रसमुच्चय का उल्लेख नहीं करते। वास्तव में यह निर्णय करना कि कौन सा अर्थ ठीक है, असंभव सा है। नागार्जुन ने यदि इन नामों के कोई ग्रन्थ लिखे भी हों तो वे उपलब्ध नहीं हैं। शान्तिदेव ने यदि सूत्रसमुच्चय नामक ग्रन्थ रचा भी हो तो उसकी कोई प्रति नहीं मिलती, तंजोर इण्डेक्स (बर्लिन की प्रति जो कि इण्डिया ऑफिस द्वारा प्रमाणित है) में शान्तिदेव के एक चौथे ग्रन्थ का उल्लेख है। इसका नाम शारिपुत्र-अष्टक है, पर यह सन्दिग्ध है।

शिक्षासमुच्चय का संपादन सी. बेण्डल महाशय द्वारा सेण्ट पिटर्सबर्ग की रूसी बिब्लिओथिका बुद्धिका ग्रन्थमाला में सन् १८९७ ई० में हुआ। दूसरा संस्करण १९०२ में हुआ। इसका अंग्रेजी अनुवाद सी. बेण्डल तथा डब्ल्यू. एच. डी. राउज द्वारा हुआ है और सन् १९२२ ई० में इण्डियन टेक्स्ट सिरीज में प्रकाशित हुआ है।

इस पुस्तक का तिब्बती भाषा में अनुवाद ८१६ और ८३८ ई० के बीच हुआ था। अनुवाद तीन महाशयों द्वारा हुआ था। इनके नाम ये हैं—जिनमित्र, दानशील, और एक तिब्बती पंडित ज्ञानसेन। ज्ञानसेन का चित्र तंजोर इंडेक्स के उस भाग के आरंभ में पाया जाता है, जिसमें शिक्षासमुच्चय है (इण्डिया ऑफिस की प्रति)। अन्त के दो अनुवादक तिब्बती राजा स्त्री-दे-स्रङ्-स्तान (८१६-८३८ ई०) के आश्रित थे। इससे प्रकट होता है कि मूल पुस्तक ८०० ई० से पूर्व लिखी गयी।

शान्तिदेव का दूसरा ग्रन्थ जो प्रकाशित हो चुका है, बोधिचर्यावतार है। रूसी विद्वान् आई. पी. मिनायेव ने सबसे प्रथम इसे जापेस्की में प्रकाशित किया था। हरप्रसाद शास्त्री ने बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जरनल में पीछे से प्रकाशित किया।

प्रज्ञाकरमति की टीका (पंजिका) फ्रेंच अनुवाद के साथ ला वली पूँसें ने बिब्लियोथिका इण्डिका में सन् १९०२ में प्रकाशित की। टीका की एक प्रति जिसमें केवल ९ वें परिच्छेद की टीका थी, पूँसें ने लैटिन अक्षरों में 'बुद्धिस्म स्तदी एत मटीरियाँ' १, (लन्दन, लुजाक) में प्रकाशित की थी। बोधिचर्यावतार टिप्पणी नाम की एक हस्तलिखित पोथी मिली है, पर यह खण्डित है। प्रोफेसर सी. बेण्डल को यह पोथी नेपाल दरबार लाइब्रेरी में मिली थी। सन् १८९३ ई० में शास्त्री जी को पंजिका की एक प्रति मिली थी, यह प्रतिलिपि नेवारी अक्षरों में सन् १०७८ ई०में लिखी गई। लेखक का नाम नहीं है, पर प्रज्ञाकरमति टीकाकार को तातपाद कहता है—इससे

जान पड़ता है कि वह टीकाकार का शिष्य था। प्रज्ञाकरमति विक्रमशिला विहार के आचार्य थे (एस. सी. विद्याभूषण लिखित इण्डियन लॉजिक, पृष्ठ १५१) और ११ वीं शताब्दी के आरंभ में हुए। मैथिल अक्षरों में केवल प्रज्ञापाठ परिच्छेद की टीका की एक प्रति भी उसी समय उपलब्ध हुई।

टोकियो के प्रोफेसर ओमिगा का कहना है कि नांजियो के कैटलॉग में बोधिचर्यावतार की एक भिन्न व्याख्या है। तीन ताल पत्र मिले, जिसमें शान्तिदेव का जीवन-चरित दिया है। (एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के सरकारी संग्रह नं० ९९९० में) ये पत्र १४ वीं शताब्दी में खाट-मंडू में नेवारी अक्षरों में लिखे गये थे। इसमें लिखा है कि शान्तिदेव किसी राजा के पुत्र थे। राजा का नाम मंजुवर्मा था। उनकी राजधानी का नाम मिट गया है, पढ़ा नहीं जाता। (तारानाथ का कहना है वह सुराष्ट्र के राजा का लड़का था। तारानाथ का समय इन तालपत्रों के समय से पीछे है)।

शान्तिदेव महायान-धर्म का एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गया है। दीपंकर (अतीश) नागार्जुन, आर्यदेव, और अश्वघोष के साथ शान्तिदेव का भी नाम लेते हैं।

तारानाथ और अन्य तिब्बती लेखक शान्तिदेव से भली-भांति परिचित हैं। ('शान्तिदेव' हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित, एण्टाक्वेरी, १९१३ पृ० ४५)

जब उनका युवराज पद पर अभिषेक हुआ तब उनकी माता ने बताया कि राज्य केवल पाप में हेतु है। माँ ने कहा—तुम वहाँ जाओ, जहाँ बुद्ध और बोधिसत्व मिलें। मंजुवज्र के पास जाने से तुमको निःश्रेयस् की प्राप्ति होगी। वह एक हरित वर्ण के घोड़े पर सवार होकर अपने पिता के राज्य से चला गया। कई दिनों तक वह खाना पीना भूल गया। गहन वन में एक सुन्दरी ने उसके घोड़े को पकड़ लिया और उसको उसपर से उतारा। उसने पीने के लिए अच्छा पानी दिया, और बकरी का मांस भूँना। उसने कहा कि मैं मंजुवज्रसमाधि की शिष्या हूँ। शान्तिदेव प्रसन्न हुआ, क्योंकि वह उसी का शिष्य होना चाहता था। १२ वर्ष तक वह गुरु के समीप रहा और मंजुश्रीज्ञान का प्रतिलाभ किया। शिक्षा की समाप्ति पर गुरु ने मध्यदेश जाने का आदेश किया। वहाँ वह अचलसेन नाम रखकर 'राउत' हो गया। देवदारु काष्ठ का एक खड्ग बनवाया और राजा का शीघ्र ही प्रिय हो गया। अन्य राजभृत्य उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने राजा से निवेदन किया कि इसने देवदारु वृक्ष का एक खड्ग बनवाया है, यह किस प्रकार युद्ध में सेवा कर सकेगा। राजा ने सब राजभृत्यों के खड्गों को देखना चाहा। अचलसेन ने कहा कि मेरा खड्ग न देखा जाय। पर राजा नहीं माना और अचलसेन इस शर्त से एकान्त में दिखलाने के लिए तैयार हुआ कि वह एक आँख बन्द कर देगा। राजा ने ज्योंही खड्ग देखा, उसकी आँख भूमि पर गिर पड़ी। राजा को आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। अचलसेन ने खड्ग को पत्थर पर फेंक दिया। नालन्दा गया, और संसार का परित्याग किया। शान्तचित्त होने से 'शान्तिदेव' नाम पड़ा। उसने तीनों पिटकों को सुना। उसका नाम भुसुकु

भी पढ़ा, क्योंकि—भुंजानोपि प्रभास्वरः, सुप्तोपि, कुटीं गतोपि तदेवेति भुसुकु समाधिसमापन्नत्वात् भुसुकुनामख्याति संघेऽपि।

नालन्दा के युवकों ने उनके ज्ञान की परीक्षा करने में उत्सुकता दिखाई। नालन्दा की प्रथा थी कि प्रतिवर्ष ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष में धर्म-कथा होती थी। उन्होंने उनको इसके लिए बाध्य किया। नालन्दा-विहार के उत्तर-पूर्व दिशा में एक बड़ी धर्मशाला थी। उस धर्मशाला में सब पंडित एकत्र हुए और शान्तिदेव सिंहासन पर बैठाये गये। उसने तत्काल पूछा—

किमार्षं पठामि अर्थार्षं वा, तत्र ऋषिः परमार्थज्ञानवान्। ऋष् गतौ–इत्यत्र औणादिकः किः। ऋषिणा जिनेन प्रोक्तं आर्षं। ननु प्रज्ञापारमितादौ सुभूत्यादिदेशितं कथमार्षं इत्यत्रोच्यते युवराजार्यमैत्रेयेण।

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः।
भवे भवेच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तद्वत् किमार्षं विपरीतमन्यथा॥

तदाकृष्टं आर्यावैरर्थार्षं सुभूत्यादिदेशना तु भगवदधिष्ठानादित्यदोषः।

पंडित लोग आश्चर्यान्वित हुए और उनसे अर्थार्ष ग्रन्थ का पाठ सुनाने को कहा। उन्होंने विचारा कि स्वरचित तीन ग्रन्थों में से किसका पाठ सुनावें। उन्होंने बोधिचर्यावतार को पसन्द किया और पढ़ने लगे—"सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान्..." इत्यादि। लेकिन जब वह—

यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बः प्रशाम्यति॥

पढ़ने लगे, तब भगवान् सन्मुख प्रादुर्भूत हुए; और शान्तिदेव को स्वर्ग ले गये। पंडित आश्चर्यान्वित हुए। उनकी पढु-कुटी (स्टूडेन्ट्स कॉटेज) ढूँढ़ी। वहाँ से तीनों ग्रन्थों को ले उन्हें प्रकाशित किया।

यह वृत्तान्त इन तीन तालपत्रों से प्राप्त होता है।

उनके ग्रन्थों से मालूम होता है कि वह माध्यमिक-दर्शन के अनुयायी थे। बेंडल का कहना है कि शान्तिदेव के ग्रन्थों में तन्त्र का प्रभाव पाया जाता है। कार्दिये कृत कैटालाग से पाया जाता है कि शान्तिदेव 'श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रबलिविधि' नामक तान्त्रिक ग्रन्थ के रचयिता थे। दरबार लाइब्रेरी, नेपाल में चर्याचर्यविनिश्चय नामक तालपत्र से मालूम होता है कि भुसुकु ने वज्रयान के कई ग्रन्थ लिखे, बंगाली में भुसुकु के कई गान बताए जाते हैं। एक गान में लिखा कि वह बंगाली थे—

४८—रागमल्लारी–भुसुकुपादानां—
वाजनाव पाड़ी पऊँआ खालें वाहिउ।
अदय बंगाले क्लेश लुडिउ॥ ध्रु॥
आजि भुसुकु बंगाली भइलि—
णिअ घरिणी चण्डालि लेलि॥ ध्रु॥

प्रज्ञापारमिताम्भोधिपरिमथनातमृतपरितोषितसिद्धाचार्य भुसुकुपादो बंगालिका व्याजेन तमेवार्थं प्रतिपादयति। प्रज्ञारविन्दकुहरहृदे सद्गुरुचरणोपायेन प्रवेशितं तत्रानन्दादि शब्दो ही-त्यादि अक्षरसुलाद्वय बंगालेन वाहित इति अभिन्नार्थं कृतं।

यह नगर बंगाल में था। बंगाल मध्यप्रदेश के आगे है। शान्तिदेव तराई के बंगलों में गये। उनका काल ६४८ ईस्वी से ८१६–८३८ ईस्वी है, जब कि यह ग्रन्थ तिब्बती भाषा में अनूदित हुआ। भुसुकु द्वारा निर्मित बताये जाने वाले गीत भी इसी समय के होंगे। यद्यपि ये बौद्धधर्म के सहजिया सम्प्रदाय के गीत हैं, जो कि वज्रयान की एक शाखा है; अथवा उसी का पर्याय है। नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में बोधिचर्यावतारानुशंस नामका एक ग्रन्थ है जो कि बोधिचर्यावतार ही है, केवल उसमें कुछ पद जोड़ दिये गये हैं। भुसुकु ने एक दोहे में अपना नाम 'कंट' लिखा है—

राउत भणइ कट भुसुकु भणइ कट सअला अइस सहाव।
ज इतो मूढ़ा अइसी भान्ति पुच्छतु सद्गुरुपाव।

मैं इस सम्बन्ध में 'दोहा' में कुछ और भी कहना चाहता हूँ। वासिलजीन का ख्याल है कि अपभ्रंश में बौद्ध ग्रन्थ थे। तारानाथ का भी यही मत है। नेपाल में सन् १८९८-९९ ई० में बेंडल और मुझको सुभाषितसंग्रह नामक ग्रन्थ मिला था—बेंडल ने इसे प्रकाशित किया है।

इसमें अपभ्रंश के कुछ उद्धरण हैं। सन् १९०७ में मैंने अपभ्रंश के कई ग्रन्थ नेपाल में पाये। इसे मैं प्राचीन बंगाली कहता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्व भारत में ७ वीं, ८ वीं और ९ वीं शताब्दी में यही भाषा बोली जाती थी।

दशम अध्याय में हम शान्तिदेव के आधार पर बोधिचर्या एवं उनके दर्शन का विस्तार देंगे।

शान्तरक्षित—८ वीं शताब्दी में शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह नाम के ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ कमलशील की टीका के साथ बरोदा से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में स्वातंत्रिक-योगाचार की दृष्टि से बौद्ध तथा अन्य दार्शनिक मतवादों का खण्डन किया गया है। शान्तरक्षित नालन्दा से तिब्बत गये थे। वहाँ उन्होंने सामये नाम के संघाराम की स्थापना ७४९ ई० में की थी। इनकी मृत्यु तिब्बत में ७६२ ई० में हुई।

———

नवम अध्याय

माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तन्त्रों का संक्षिप्त परिचय

महायान-सूत्र और पुराणों में बड़ा सादृश्य है। जिस तरह पौराणिक-साहित्य में अनेक माहात्म्य और स्तोत्र पाये जाते हैं, उसी तरह महायान-साहित्य में भी इसी प्रकार की रचनायें पायी जाती हैं। स्वयंभूपुराण, नेपालमाहात्म्य और इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों से हम परिचित हैं। स्वयंभूपुराण में नेपाल के तीर्थ-स्थानों की महिमा वर्णित है। यह ग्रन्थ पुराना नहीं है। महावस्तु तथा ललित-विस्तर में भी कुछ स्तोत्र पाये जाते हैं। मातृचेट के स्तोत्र का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।

तिब्बती अनुवाद में नागार्जुन का चतुःस्तव मिलता है। सुप्रभातस्तव, लोकेश्वर-शतक और परमार्थ नाम संगीति भी प्रसिद्ध हैं। तारा के लिये अनेक स्तोत्र लिखे गये हैं। ८ वीं शताब्दी में इस प्रकार का एक स्तोत्र कश्मीरी कवि सर्वज्ञमित्र ने लिखा था। इसका नाम आर्यतारा-स्रग्धरा स्तोत्र है।

धारणी का महायान साहित्य में बड़ा स्थान है। धारणी रक्षा का काम करती है। जो कार्य वैदिक मंत्र करते थे, विशेषकर अथर्ववेद के; वही कार्य बौद्ध धर्म में 'धारणी' करती है। सिंहल में आज भी कुछ सुन्दर 'सुत्तों' से 'परित्त' का काम लेते हैं। इसी प्रकार महायान धर्मानुयायी सूत्रों को मंत्रपदों में परिवर्तित कर देते थे। अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता-सूत्र धारणी का काम करती है। धारणियों में प्रायः बुद्ध, बोधिसत्त्व और ताराओं की प्रार्थना होती है। धारणी के अन्त में कुछ ऐसे अक्षर होते हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं होता। धारणी के साथ कुछ अनुष्ठान भी होते हैं। अनावृष्टि, रोग, आदि के समय धारणी का प्रयोग होता है। पांच धारणियों का एक संग्रह 'पंच रक्षा' नेपाल में अत्यन्त लोकप्रिय है। इनके नाम इस प्रकार हैं:—महाप्रतिसार, महासहस्रप्रमर्दिनी, महामयूरी, महाशीतवती, महा (रक्षा) मन्त्रानुसारिणी; महामयूरी को विद्या राज्ञी कहते हैं। सर्पदंश तथा अन्य रोगों के लिये इसका प्रयोग करते हैं। हर्षचरित में इसका उल्लेख है।

मन्त्रयान और वज्रयान महायान की शाखायें हैं। मन्त्रयान में मन्त्रपदों के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। इन मन्त्रपदों में गुह्य शक्ति होती। वज्रयान में मन्त्रों द्वारा तथा 'वज्र' द्वारा निर्वाण का लाभ होता है। शून्य और विज्ञान वज्रतुल्य हैं और इसलिये उनका विनाश नहीं होता। वज्रयान अद्वैत दर्शन की शिक्षा देता है। सब सत्त्व वज्र-सत्त्व हैं। और एक ही वज्र-सत्त्व सब जीवों में पाया जाता है।

शाक्तों के अनुसार त्रिकाय के अतिरिक्त एक सुखकाय भी है। इस महा-सुख की प्राप्ति एक अनुष्ठान द्वारा होती है। मंत्रयान और वज्रयान का साहित्य 'तन्त्र' कहलाता है। कुछ महायान सूत्र ऐसे हैं, जिनमें तंत्र-भाग भी पाया जाता है। बौद्ध तन्त्रों के चार वर्ग हैं:—क्रिया-तन्त्र जिसमें मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनुष्ठान वर्णित हैं; चर्या-तन्त्र, जिसमें चर्या का वर्णन है; योग-तन्त्र जिनमें योग की क्रिया वर्णित है और अनुत्तर-योग-तन्त्र। प्रथम वर्ग का प्रसिद्ध ग्रंथ 'आदिकर्मप्रदीप' है, जिसमें गृह्यसूत्रों तथा कर्मप्रदीपों की शैली में बुद्धत्व की कामना से महायान का अनुसरण करनेवाले 'आदिकर्मिक बोधिसत्व' की दीक्षा के नियमों तथा उसकी दिन-चर्या बतायी गयी है। क्रिया-तन्त्र का दूसरा ग्रन्थ 'अष्टमी-व्रत-विधान' है, जिसमें प्रतिपक्ष की अष्टमी को रहस्यमय मन्त्रों और मुद्राओं का अनुष्ठान विहित है।

तन्त्र-साहित्य में साधनाओं का भी समावेश होता है। साधनाओं में मन्त्रों, मुद्राओं और ध्यान के द्वारा अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियों के अतिरिक्त सर्वज्ञता तथा निर्वाण की सिद्धि के उपाय बताये गये हैं। ध्यान के लिए उपास्य देवों का जो वर्णन किया गया है, उसका बौद्ध शिल्पियों ने मूर्ति-निर्माण के लिए पर्याप्त उपयोग किया है। इस दृष्टि से 'साधन-माला'—जिसमें ३१२ साधनायें संग्रहीत हैं, तथा 'साधन-समुच्चय' जैसे ग्रन्थों का बड़ा महत्व है। उपास्य देवों में ध्यानी-बुद्ध तथा उनके कुटुम्ब और तारा आदि देवियाँ भी हैं। बौद्धों का कामदेव भी है, जिसका नाम वज्रानंग है; और जो मंजुश्री का अवतार है। साधनाओं का मुख्य तात्पर्य तन्त्र और इन्द्रजाल है, यद्यपि इनका अधिकार प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास, ध्यान, पूजा, मैत्री तथा करुणा आदि का अनुष्ठान करना आवश्यक बताया गया है। 'तारा-साधना' में इन गुणों का विस्तृत निरूपण है। साधनाओं का निर्माण-काल ७ वीं से ११ वीं शताब्दी तक माना गया है। कतिपय साधनाओं के प्रणेता तन्त्रों के भी प्रणेता बताये गये हैं। नागार्जुन ने (माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रणेता नहीं) ७ वीं शताब्दी में अनेक साधनाओं और तन्त्रों का प्रणयन किया। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये एक साधना भोट देश अर्थात् तिब्बत से लाये थे। इनके अनेक तन्त्र-ग्रन्थ तंजोर में पाये गये हैं। उड्डियान (उड़ीसा) के राजा और 'ज्ञान-सिद्धि' तथा अनेक अन्य तन्त्र-ग्रन्थों के रचयिता इन्द्रभूति (६८७–७१७ ई०) भी एक साधना के प्रणेता बताये जाते हैं। इनके समकालीन पद्मवज्र-कृत 'गुह्यसिद्धि' में वज्रयान की समस्त गुह्य-क्रियाओं का निरूपण है। इन्द्रभूति के पुत्र पद्मसम्भव लामा-संप्रदाय के प्रणेता थे। इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मींकरा ने अपने ग्रन्थ 'अद्वय-सिद्धि' में सहजयान के नवीन अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो बंगाल के बाउल लोगों में अब भी प्रचलित है। उसने तपस्या, क्रिया तथा मूर्तिपूजा का खंडन किया, और सर्वदेवों के निवासस्थान मानव-शरीर का ध्यान करने का विधान किया। तन्त्र-लेखकों में 'सहज-योगिनी-चिन्ता' आदि अन्य प्रमुख लेखिकाओं के अनेक नाम दिखाई देते हैं।

प्रारम्भिक तन्त्र महायान सूत्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं। इनमें ७ वीं शती में प्रणीत 'तथागतगुह्यक' या 'गुह्य-समाज' बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'पंचकर्म' इसी का एक

वंश कहा जाता है। यह अनुत्तर योगतन्त्र है। इसमें मुख्य रूप से योगसिद्धि की पाँच भूमियों का ही वर्णन है, किन्तु इन भूमियों की प्राप्ति के उपाय मंडल, यंत्र, मंत्र और देवपूजन बताये गये हैं। इस ग्रन्थ के पाँच भाग हैं। तीसरे भाग के रचयिता शाक्य-मित्र (८५० ई०) तथा शेष ४ भागों के प्रणेता नागार्जुन बताये गये हैं।

'मंजुश्रीमूलकल्प' नाम का ग्रन्थ अपने को 'अवतंसक' के अन्तर्गत 'महावैपुल्य-महायान-सूत्र' के रूप में प्रकट करता है। किन्तु विषय की दृष्टि से यह मंत्रयान के अन्तर्गत है। इसमें शाक्यमुनि ने मंजुश्री को मंत्र, मुद्रा और मण्डलादि का उपदेश किया है। 'एकल्लवीर चण्डमहारोषण-तंत्र' में एक ओर महायान-दर्शन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या की गई है और दूसरी ओर योगिनियों की साधनाएँ बताई गई हैं। 'श्रीचक्रसम्भार-तंत्र' में जो केवल तिब्बती भाषा में उपलब्ध है, महासुख की प्राप्ति के साधन रूप से मंत्र, ध्यान आदि का निरूपण है, और मंत्रों की प्रतीकात्मक व्याख्या की गयी है।

———

दशम अध्याय

महायान में साधना की नई दिशा

महायान में उपदेशकों का अदम्य उत्साह और जीवों की अर्थचर्या की अमिट अभिलाषा थी। उनका आदर्श अर्हत् के समान व्यक्तिगत निःश्रेयस् के लाभ का न था। पूर्णावदान में इस नए प्रकार के भिक्षु का चित्र हमको मिलता है। यह कथा पालि निकाय में भी है (संयुक्त ४,६०; मज्झिम ३,२६७)। किन्तु दिव्यावदान में इसका विकसित रूप मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार पूर्ण जन्म से ही रूपवान्, गौर, सुवर्णवर्ण का था और वह महापुरुष के कुछ लक्षणों से समन्वागत था। शाक्य मुनि ने उनकी उपसंपदा की थी। उन्होंने बुद्ध से संक्षिप्त अववाद की देशना चाही। भगवत् ने देशनानन्तर पूछा कि तुम किस जनपद में विहार करोगे? पूर्ण ने कहा—श्रोणापरान्तक में। बुद्ध ने कहा—किन्तु वहां के लोग चण्ड हैं, परुषवाची हैं। यदि आक्रोश करें, तुम्हारा अपवाद करें, तो तुम क्या सोचोगे? पूर्ण ने कहा—मैं सोचूँगा कि वे लोग भद्रक हैं, जो मुझे हाथ से नहीं मारते; केवल परुष-वचन कहते हैं। बुद्ध ने फिर कहा, यदि वह हाथ से मारें, तो क्या सोचोगे? पूर्ण ने कहा–कि मैं सोचूँगा कि वे लोग भद्रक हैं, जो मुझे हाथ से मारते हैं, दण्ड से नहीं मारते। बुद्ध ने पुनः पूछा, यदि वे दण्ड से मारें? पूर्ण ने कहा–तब मैं सोचूँगा कि भद्र-पुरुष हैं, जो मेरे प्राण नहीं हर लेते। और यदि वे प्राण हर लें? पूर्ण ने कहा–तब मैं सोचूँगा कि वे भद्रपुरुष हैं, जो मुझे इस पूतिकाय (दुर्गन्धपूर्ण शरीर) से अनायास ही विमुक्त करते हैं। बुद्ध ने कहा—साधु-साधु! इस उपशम से, इस क्षान्तिपारमिता से समन्वागत हो, तुम उन चण्ड पुरुषों में विहार कर सकते हो। जाओ पूर्ण! दूसरों को विमुक्त करो। दूसरों को संसार के पार लगाओ।

पूर्ण का आदर्श अर्हत्त्व नहीं है। वह बोधिसत्त्व है, अर्थात् उसका अभिप्राय बोधि की प्राप्ति है। वह कुछ लक्षणों से अन्वित है, सब लक्षणों से नहीं; जैसे बुद्ध होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण बोधिचर्या में कुछ उन्नति कर चुका है। उष्णीष, ऊर्णा, उसके लम्बे हाथ, सब इसके चिह्न हैं। वह क्षान्ति-पारमिता से समन्वागत है। जब वह श्रोणापरान्तक में उपदेश का कार्य आरंभ करता है, तब लोग उसके साथ दुष्ट व्यवहार करते हैं। एक लुब्धक, जो आखेट के लिए जा रहा था, इस मुण्डित भिक्षु को देखकर, उसे अपशकुन समझ, उसकी ओर दौड़ा। पूर्ण ने उससे कहा कि तुम मुझे मारो, हरिण का वध मत करो। यह नवीन प्रकार का भिक्षु है, जो धर्म के प्रचार को सबसे अधिक महत्त्व देता है। इसमें सन्देह नहीं कि हीनयान के भिक्षुओं में भी इस प्रकार का उत्साह था, जैसे आनन्द में। किन्तु इस नए भिक्षु

की साधना अष्टांगिक मार्ग की नहीं है, किन्तु पारमिता की है। यह क्षान्ति-पारमिता में परिपूर्ण है। यह बुद्ध होना चाहता है, अर्हत् नहीं। जातक की निदान-कथा से मालूम होता है कि शाक्य मुनि ने ५४७ जन्मों में पारमिताओं की साधना की थी। बुद्ध होने के पूर्व वे बोधिसत्व थे। इस चर्या से उन्होंने पुण्य और ज्ञान-संभार प्राप्त किया था। वेस्सन्तर जातक में बोधिसत्व ने अपने शरीर का मांस भी दान में दे दिया था। वे सबके साथ मैत्री-भाव रखते थे। वे कहते हैं—जैसे माता अपने एक मात्र पुत्र की रक्षा प्राण देकर भी करती है, उसी प्रकार सब जीवों के साथ अप्रमेय-(प्रमाण-रहित) मैत्री होनी चाहिए। इस नई विचार-प्रणाली के अनुसार भिक्षु इस मैत्री-भावना के बिना नहीं हो सकता। इस दृष्टि में बुद्ध का पूर्ण वैराग्य ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु बुद्ध की सक्रिय मैत्री भी चाहिए। यह महायान का आदर्श है। बोधिसत्व संसार के जीवों के निस्तार के लिए निर्वाण में प्रवेश को भी स्थगित कर देता है। वह सब जीवों को दुःख से विमुक्त करना चाहता है। वह कहता है कि सबका दुःख-सुख बराबर है। मुझे सबका पालन आत्मवत् करना चाहिये। जब सबको समान रूप से दुःख और भय अप्रिय है, तब मुझमें क्या विशेषता है, जो मैं अपनी ही रक्षा करूँ, दूसरों की न करूँ। उसके अर्हत्त्व से क्या लाभ, जो अपने ही लिए अर्हत् है? क्या वह राग-विनिर्मुक्त है, जो अपने ही दुःख-विमोचन का ख्याल करता है? जो केवल अपने ही निर्वाण का विचार करता है, जो स्वार्थी है, जो सर्व क्लेश-विनिर्मुक्त है, जो द्वेष और करुणा दोनों से विनिर्मुक्त है, ऐसा अर्हत् क्या निर्वाण के मार्ग का पथिक होगा? हीनयानी व्यर्थ कहते हैं कि उनका अर्हत् जीवन्मुक्त है। सच्चा अर्हत् बोधिसत्व है। इनके अनुसार हीनयानियों का मोक्ष अरसिक है (बोधिचर्यावतार, ८,१०८)। अर्हत् के निर्वाण और बुद्ध के निर्वाण में भी भेद हो गया। स्तोत्रकार मातृचेट कहते हैं कि जिस प्रकार नील आकाश और रोम-कूप के विवर दोनों आकाश-धातु हैं, किन्तु दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है, उसी प्रकार का अन्तर भगवत् के निर्वाण और दूसरों के निर्वाण में है।

बुद्ध के पूर्व-जन्म

शाक्यमुनि सर्वज्ञ थे। वे परम कारुणिक थे। जीवों के उद्धार के लिए उन्होंने उस सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का आविष्कार किया, जिस पर चलकर लोग संसार से मुक्त होते हैं। उन्होंने सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति केवल अपने लिए नहीं की, किन्तु अनेक जीवों के क्लेश-बंधन को नष्ट करने के लिए की। इसके विपरीत अर्हत् केवल अपने निर्वाण के लिए यत्नवान् होता था। अर्हत् का आदर्श बुद्ध के आदर्श की अपेक्षा तुच्छ था। इस विशेषता का कारण यह है कि बुद्ध ने पूर्वजन्मों में पुण्यराशि का संचय किया था, और अनन्त ज्ञान प्राप्त किया था। भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह पूर्व-जन्मों में 'बोधिसत्व' थे। जातक की निदान-कथा में वर्णित है कि अनेक कल्प व्यतीत हो गये कि शाक्यमुनि अमरवती नगरी में, एक ब्राह्मण-कुल में, उत्पन्न हुए थे। उनका नाम सुमेध था। बाल्यकाल में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। सुमेध को वैराग्य उत्पन्न हुआ और

उसने तापस-प्रव्रज्या की। एक दिन उसने विचार किया कि पुनर्भव दुःख है; मैं उस मार्ग का अन्वेषण करता हूँ, जिस पर चलने से भव से मुक्ति मिलती है। ऐसा मार्ग अवश्य है। जिस प्रकार लोक में दुःख का प्रतिपक्ष सुख है, उसी प्रकार भव का भी प्रतिपक्ष विभव होना चाहिये। जिस प्रकार उष्ण का उपशम शीत है, उसी प्रकार रागादि दोष का उपशम निर्वाण है। ऐसा विचार कर सुमेध तापस हिमालय में पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। उस समय लोकनायक दीपंकर-बुद्ध संसार में धर्मोपदेश करते थे। एक दिन सुमेध-तापस आश्रम से निकलकर आकाश-मार्ग से जा रहे थे, देखा कि लोग नगर को अलंकृत कर रहे हैं, भूमि को समतल कर रहे हैं, उस पर बालुका आकीर्ण कर लाज और पुष्प विकीर्ण कर रहे हैं, नाना रंग के वस्त्रों की ध्वजा-पताका का उत्सर्ग कर रहे हैं और कदली तथा पूर्ण घट की पंक्ति प्रतिष्ठित कर रहे हैं। यह देखकर सुमेध आकाश से उतर और लोगों से पूछा कि किस लिए मार्ग-शोधन हो रहा है। सुमेध को प्रीति उत्पन्न हुई और बुद्ध-बुद्ध कहकर वे बड़े प्रसन्न हुए। सुमेध भी मार्ग-शोधन करने लगे। इतने में दीपंकर बुद्ध आ गए। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता साधु-साधु कहने लगे। आकाश से मंदार पुष्पों की वर्षा होने लगी। सुमेध अपना जटा खोलकर, वल्कल, चीर और चर्म बिछाकर, भूमि पर लेट गए और यह विचार किया कि यदि दीपंकर मेरे शरीर को अपने चरणकमल से स्पर्श करें तो मेरा हित हो। लेटे-लेटे उन्होंने दीपंकर की बुद्धश्री को देखा और चिन्ता करने लगे कि सर्वक्लेश का नाश कर निर्वाण-प्राप्ति से मेरा उपकार न होगा। मुझको यह अच्छा मालूम होता है कि मैं भी दीपंकर की तरह परम संबोधि प्राप्त कर अनेक जीवों को धर्म की नौका पर चढ़ाकर संसार-सागर के पार ले जाऊँ, और पश्चात् स्वयं परिनिर्वाण में प्रवेश करूँ। यह विचार कर उन्होंने 'बुद्धभाव' के लिए उत्कट अभिलाषा (पालि, अभिनीहार) प्रकट की।

दीपंकर के समीप सुमेध ने बुद्धत्व की प्रार्थना की और ऐसा दृढ़ विचार किया कि बुद्धों के लिए मैं अपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हूँ। इस प्रकार सुमेध अधिकार-सम्पन्न हुए।

दीपंकर पास आकर बोले—इस जटिल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा। यह बुद्ध का 'व्याकरण' हुआ। 'यह एक दिन बुद्ध होगा' इस वचन को सुनकर देवता और मनुष्य प्रसन्न हुए, और बोले—यह 'बुद्धबीज' है, यह 'बुद्धांकुर' है। वहाँ पर जो 'जिन-पुत्र' (बुद्ध-पुत्र) थे, उन्होंने सुमेध की प्रदक्षिणा की; लोगों ने कहा—तुम निश्चय ही बुद्ध होगे। दृढ़ पराक्रम करो, आगे बढ़ो, पीछे न हटो। सुमेध ने सोचा कि बुद्ध का वचन अमोघ होगा।

बुद्धत्व की आकांक्षा की सफलता के लिए सुमेध बुद्धकारक धर्मों का अन्वेषण करने लगे, और महान् उत्साह प्रदर्शित किया। अन्वेषण करने से १० पारमितायें प्रकट हुईं, जिनका आसेवन पूर्वकाल में बोधिसत्वों ने किया था। इन्हीं के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। 'पारमिता' का अर्थ है 'पूर्णता'; पालिरूप 'पारमी' है। दश पारमितायें ये हैं :—दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय), मैत्री (अहित और हित में

समभाव रखना), तथा उपेक्षा (सुख और दुःख में समान रूप रहना)। सुमेध ने बुद्ध गुणों का ग्रहण कर दीपंकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या अर्थात् साधना प्रारंभ हुई और ५५० विविध जन्मों के पश्चात् वह तुषित-लोक में उत्पन्न हुए; और वहां बोधि प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध-हलाहल शब्द इस अभिप्राय से हुआ कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुषित-लोक से च्युत होकर माया देवी के गर्भ में उनकी अवक्रान्ति हुई, और मनुष्यभाव धारण कर उन्होंने सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त की।

सुमेध-कथा से स्पष्ट है कि सुमेध ने सम्यक्-संबोधि के आगे अर्हत् के आदर्श निर्वाण को तुच्छ समझा और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये दश पारमिताओं का ग्रहण किया। शाक्य मुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर पारमिताओं द्वारा सम्यक्-सम्बुद्ध की लोकोत्तर-संपत्ति प्राप्त की। शाक्यमुनि का पुण्य-संभार और ज्ञान अर्हत् के पुण्य-संभार और ज्ञान से कहीं बढ़कर है। बुद्ध अन्य अर्हतों से भिन्न हैं, क्योंकि उन्होंने निर्वाण-मार्ग का आविष्कार किया है। अर्हत् ने बुद्ध के मुख से दुःख-निरोध का उपाय श्रवण किया, और उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण कर अर्हत् अवस्था प्राप्त की। बुद्ध का ज्ञान अनंत है और उनकी चर्या, साधना परार्थ है।

बुद्धत्व

महायान-धर्म सर्वभूतदया पर आश्रित है। 'आर्यगयाशीर्ष' में कहा है—

किमारंभा मंजुश्री बोधिसत्वानां चर्या। किमधिष्ठाना। मंजुश्रीराह महाकरुणारंभा देवपुत्र बोधिसत्वानां चर्या सत्वाधिष्ठानेति विस्तरः। (बोधिचर्यावतार पंजिका पृ० ४८७)।

अर्थात् हे मंजुश्री, बोधिसत्वों की चर्या का आरंभ क्या है, और उसका अधिष्ठान अर्थात् आलंबन क्या है? मंजुश्री बोले—हे देवपुत्र! बोधिसत्वों की चर्या महाकरुणा पुरःसर होती है, अतः महाकरुणा ही उसका आरंभ है। इस करुणा के जीव ही पात्र हैं। दुःखित जीवों का आलंबन करके ही करुणा की प्रवृत्ति होती है।

आर्यधर्मसंगीति में कहा है—

न भगवन् बोधिसत्वेनातिबहुषु धर्मेषु शिक्षितव्यम्। एक एव हि धर्मो बोधिसत्वेन स्वाराधितकर्तव्यः सुप्रतिविद्धः। तस्य करतलगताः सर्वे बुद्धधर्मा भवंति।

भगवन्! येन बोधिसत्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वबुद्धधर्माः गच्छन्ति। तद्यथा भगवन् जीवितेन्द्रिये सति शेषाणाम् इन्द्रियाणाम् प्रवृत्तिर्भवति एवमेव भगवन् महाकरुणायां सत्याम् बोधिकारकाणाम् धर्माणाम् प्रवृत्तिर्भवति। (बोधि० पृ० ४८६–४८७)

अर्थात् हे भगवन्, बोधिसत्व के लिये बहुधर्म की शिक्षा का ग्रहण अनावश्यक है। बोधिसत्व को एक ही धर्म स्वायत्त करना चाहिये। उसके हस्तगत होने से सब बुद्ध-धर्म हस्तगत होते हैं। जिस ओर महाकरुणा की प्रवृत्ति होती है, उसी ओर सब बुद्ध-धर्मों की प्रवृत्ति होती है; जिस प्रकार जीवितेन्द्रिय के रहते अन्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार महाकरुणा के रहने से बोधिकारक अथवा बोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति होती है।

महायान धर्म में महाकरुणा को सम्यक्-संबोधि का साधन माना है। भगवान् बुद्ध के चरित से भी महाकरुणा की उपयोगिता प्रकट होती है। 'महावग्ग' में वर्णित है कि जब भगवान् को बोधि-वृक्ष के तले सम्बोधि प्राप्त हुई, तब धर्म-देशना में उनकी प्रवृत्ति न थी। उन्होंने सोचा कि लोग अन्धकार से आच्छन्न हैं, और राग-दोष से संयुक्त हैं। अतः धर्म का प्रकाश नहीं देख सकते। यदि मैं इन्हें धर्मोपदेश भी करूँ, तब भी इनको सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति न होगी। बुद्ध का यह भाव जानकर ब्रह्मा सहंपति को चिन्ता हुई कि यदि बुद्ध धर्मोपदेश न करेंगे तो संसार नष्ट हो जायगा। आर्तजन को दुःखार्णव के उस पार कौन ले जायगा, और धर्मनदी का प्रवर्तन कर, कौन जीवलोक की तृष्णा का उपशम करेगा? यह विचार कर ब्रह्मा बुद्ध के सम्मुख प्रादुर्भूत हुए, और भगवान् से प्रार्थना की, कि भगवान् धर्म का उपदेश करें; नहीं तो जो लोग दोषपूर्ण हैं, वे धर्म का परित्याग कर देंगे। भगवान् ने कहा कि मैंने गंभीर और दुरनुबोध धर्म पाया है, पर धर्म-देशना में मेरा चित्त नहीं लगता। ब्रह्मा के विशेष प्रार्थना करने पर जीवों पर करुणा कर भगवान् ने बुद्ध-चक्षु से लोक को देखा, और जाना कि जीव दुःखार्दित हैं। अतः ब्रह्मा-सहंपति की प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की और सर्व-भूत-दया से प्रेरित होकर सत्वों के कल्याण के लिए धर्मोपदेश किया।

जहाँ 'हीनयान' का अनुगामी केवल अपने दुःख का अत्यन्त निरोध चाहता है, वहाँ महायान धर्म का साधक बुद्ध के समान अपने ही नहीं, किन्तु सत्व-समूह के जन्म-मरणादि दुःखों का अपनयन चाहता है। बोधिचर्या (बुद्धत्व की प्राप्ति की साधना, जो पारमिता की साधना है) का ग्रहण केवल इसी अभिप्राय से है कि जिसमें साधक सब जीवों का समुद्धरण करने में समर्थ हो। महायान का अनुगामी निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी भूतदया से प्रेरित हो, संसार का उपकार करने के लिए अपने इस अपूर्व अधिकार का भी परित्याग करता है। इसी कारण महायान ग्रन्थों में सप्तविध-अनुत्तर-पूजा का एक अंग 'बुद्ध-याचना' कहा है, जिसमें निर्वाण की इच्छा रखने वाले कृतकृत्य-जनों से प्रार्थना की जाती है, कि वे अनन्त कल्प तक निवास करें; जिसमें यह लोक अन्धकार से आच्छन्न न हो।

हीनयान तथा महायान की परस्पर तुलना करते हुए अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता के एकादश परिवर्त्त में कहा है कि हीनयान के अनुयायी का विचार होता है कि मैं एक आत्मा का दमन करूँ, एक आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊँ और एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी चेष्टाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए होती हैं। पर बोधिसत्व की शिक्षा अन्य प्रकार की है। उसका अभिप्राय उदार और उत्कृष्ट है। वह अपने को परमार्थ-सत्य में स्थापित करना चाहता है, पर साथ ही साथ सब सत्वों की भी परमार्थ-सत्य में प्रतिष्ठा चाहता है। वह अप्रमेय सत्वों को परिनिर्वाण की प्राप्ति कराने के लिए उद्योग करता है, इसलिए बोधिसत्व को हीनयान की शिक्षा ग्रहण न करनी चाहिए। सर्व ज्ञान के मूल-स्वरूप प्रज्ञा-पारमिता को छोड़ कर जो शाखा-पत्र स्वरूप हीनयान में सार-बुद्धि देखते हैं, वह भूल करते हैं।

एक महायान ग्रन्थ का कहना है कि महाकरुणा ही मोक्ष का उपाय है। हीनयान-वादी इस मोक्षोपाय को नहीं रखता। उसकी प्रज्ञा असमर्थ है, क्योंकि वह पाप-शोधन का उपाय नहीं रखता।

महायान ग्रन्थों के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए यत्नवान् है, अर्थात् जो बोधिसत्व है, उसे षट्पारमिता का ग्रहण करना चाहिए। दान-शीलादि गुणों में जिसने पूर्णता प्राप्त की है, उसके लिए कहा जाता है कि इसने दान-शीलादि पारमिता हस्तगत कर ली है। यही बोधिसत्व-शिक्षा है और इसी को बोधिचर्या कहते हैं।

षट् पारमितायें निम्नलिखित हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। षट् पारमिता में प्रज्ञापारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञापारमिता यथार्थज्ञान को कहते हैं। इसका दूसरा नाम भूत-तथता है। प्रज्ञा के बिना पुनर्भव का अन्त नहीं होता। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए ही अन्य पारमिताओं की शिक्षा कही गई है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान आदि पूर्णता को प्राप्त होते हैं, और 'पारमिता' का व्यपदेश प्राप्त करते हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति में इस पुण्य-संभार की परिणामना होने के कारण ही इनकी पारमिता सार्थक होती है। यह पंच पारमिता प्रज्ञा-रहित होने पर लौकिक कहलाती हैं। उदाहरण के लिए जबतक दाता भिक्षु, दान और अपने अस्तित्व में विश्वास रखता है, तब तक उसकी दान-पारमिता लौकिक होती है; पर जब वह इन तीनों के शून्य-भाव को मानता है, तब उसकी पारमिता लोकोत्तर कहलाती है। जब पंच-पारमितायें प्रज्ञा-पारमिता से समन्वागत होती हैं, तभी वह सचक्षुष्क होती हैं, और उसको लोकोत्तर-संज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारमिताओं का ग्रहण नितान्त आवश्यक है। संबोधि की प्राप्ति में दान प्रथम कारण है, शील दूसरा कारण है। दान, शील की अनुपालना क्षान्ति द्वारा होती है। दानादि-त्रितय पुण्य-संभार, वीर्य अर्थात् कुशलोत्साह के बिना नहीं हो सकता। और बिना ध्यान अर्थात् चित्तैकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता, क्योंकि समाहित-चित्त होने से ही यथाभूत-परिज्ञान होता है, जिससे सब आवरणों की अत्यंत हानि होती है।

इसी बोधिचर्या का वर्णन शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय में विशेष रूप से किया है। शान्तिदेव महायान धर्म के एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गये हैं। इनके ग्रन्थों के आधार पर हम बोधिचर्या का वर्णन करेंगे।

बोधि-चित्त तथा बोधि-चर्या

मनुष्य-भाव की प्राप्ति दुर्लभ है। इसी भाव में परम पुरुषार्थ अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं। यही भाव अक्षणों[1] से विनिर्मुक्त है। अक्षणावस्था में

1. आठ अक्षण ये हैः—नरकोपपत्ति, तिर्यगुपपत्ति, यमलोकोपपत्ति, प्रत्यंतजनपदोपपत्ति, दीर्घायुष्देवोपपत्ति, इन्द्रियविकलता, मिथ्यादृष्टि, और चित्तोत्पादविरागितता। (धर्मसंग्रह)।

धर्म-प्रविचय करना अशक्य है। इसीलिये इस सुअवसर को खोना न चाहिये। यदि हमने मनुष्य-भाव में अपने और पराये हित की चिन्ता न की तो ऐसा समागम हमको फिर प्राप्त न होगा। मनुष्य-भाव में भी अकुशल-पक्ष में अभ्यस्त होने के कारण साधारणतया मनुष्य की बुद्धि शुभ-कर्म में रत नहीं होती। पुण्य सर्वकाल में दुर्बल है और पाप अत्यन्त प्रबल है। ऐसी अवस्था में प्रबल पाप पर विजय केवल किसी बलवान् पुण्य द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। भगवान् बुद्ध ही लोगों की अस्थिर मति को एक मुहूर्त के लिए शुभकर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। जिस प्रकार बादलों से घिरे हुए आकाश-मण्डल में रात्रि के समय क्षणमात्र के विद्युत्प्रकाश से वस्तु-ज्ञान होता है, उसी प्रकार इस अंधकारमय जगत् में भगवत्कृपा से ही क्षणमात्र के लिए मानव-बुद्धि शुभ-कर्मों में प्रवृत्त होती है। वह बलवान् शुभ कौन सा है, जो घोरतम पाप को अपने तेज से अभिभूत करता है? वह शुभ बोधिचित्त ही है। इससे बढ़कर पाप का प्रतिघातक और विरोधी दूसरा नहीं है। बोधिचित्त क्या है? सब जीवों के समुद्धरण के अभिप्राय से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक्-सम्बोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना, बोधिचित्त का ग्रहण करना है। एक बोधि-चित्त ही सर्वार्थसाधन की योग्यता रखता है। इसी के द्वारा अनेक जीव भवसागर के पार लगते हैं। बोधिचित्त का ग्रहण सदा सबके लिए आवश्यक है। इसका परित्याग किसी अवस्था में न होना चाहिये। जो श्रावक की तरह दुःख का अत्यन्त-निरोध चाहते हैं, जो बोधिसत्वों की तरह केवल अपने ही नहीं, किन्तु सत्वसमूह के दुःखों का अपनयन चाहते हैं, और जिनको दुःखाप-नयनमात्र नहीं, वरंच संसार-सुख की भी अभिलाषा है; उन सबको सदा बोधिचित्त का ग्रहण करना चाहिये। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार (प्रथम परिच्छेद, श्लोक ८) में कहते हैं—

भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम्॥

बोधिचित्त के उदय के समय ही वह बुद्धपुत्र हो जाता है, और इस प्रकार देवता और मनुष्य सब उसकी वंदना और स्तुति करते हैं। जिस प्रकार एक पल रस, सहस्र पल लोहे को सोना बना देता है, उसी प्रकार बोधिचित्त एक प्रकार का रसधातु है, जो मनुष्य के अमेध्य-कलेवर और स्वभाव को बुद्ध-विग्रह और स्वभाव में परिवर्तित कर देता है। बोधिचित्त ग्रहण से पापशुद्धि होती है, ऐसा आर्य मैत्रेय ने विमोक्ष में कहा है। जिस प्रकार एक गुहा का सहस्रों वर्षों से सञ्चित अन्धकार प्रदीप के प्रवेशमात्र से ही नष्ट हो जाता है, और वहाँ प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार बोधिचित्त अनेक कल्पों के संचित पाप का ध्वंस और ज्ञान का प्रकाश करता है। वह केवल सर्व शुभ का संचय ही नहीं करता, वरंच उन समस्त दारुण और महान् पापों का एक क्षण में क्षय करता है, जो बोधिचित्त-ग्रहण के पूर्व किये गये हैं। जिस प्रकार कोई बड़ा अपराध करके भी किसी बलवान् की शरण में जाने से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार बोधिचित्त का आश्रय ग्रहण करने से एक ही क्षण में पुण्यराशि का अनुपम लाभ होता है, और समस्त पाप का ध्वंस हो जाता है। बोधिचित्त के उत्पाद से प्रसूत आकाशधातु के समान व्यापक पुण्यराशि में पाप अन्तर्लीन हो जाता है; और जिस प्रकार सबल दुर्बल

को दबा देता है, उसी प्रकार पाप प्रतिपक्षी से अभिभूत होकर फल देने में असमर्थ हो जाता है।

बोधिचित्त ही सब पापों के निर्मूल करने का महान् उपाय है। यह सतत फल देने वाला कल्पवृक्ष है, सकल दारिद्र्य को दूर करने वाला चिंतामणि है, और सब का अभिप्राय परिपूर्ण करने वाला भद्रघट है। आर्यगंडव्यूह-सूत्र में भगवान् अजित ने स्वयं कहा है कि सब बुद्ध-धर्मों का बीज बोधिचित्त है। (बोचित्तं हि कुलपुत्र बीजभूतं सर्वबुद्धधर्माणाम्)। अतः महायानधर्म की शिक्षा की मूल भित्ति बोधिचित्त ही है।

बोधिचित्तोत्पाद के बिना कोई व्यक्ति, जो महायान का अनुगामी होना चाहता है, बोधिसत्व की चर्या अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी नहीं होता। बोधिचित्तग्रहण-पूर्वक ही बोधिसत्व-शिक्षा का समादान होता है, अन्यथा नहीं। वह बोधिचित्त दो प्रकार का है—बोधिप्रणिधि-चित्त और बोधिप्रस्थान-चित्त। प्रणिधि का अर्थ है—ध्यान अथवा कर्मफल का परित्याग। शिक्षासमुच्चय (पृ० ८) में कहा है—मया बुद्धेन भवितव्यमिति चित्तं प्रणिधानादुत्पन्नं भवति। अर्थात्—मैं सर्व जगत् के परित्राण के लिये बुद्ध होऊँ—ऐसी भावना प्रार्थना रूप में जब उदित होती है, तब बोधिप्रणिधि-चित्त का उत्पाद होता है। यह पूर्वावस्था है। महायान का पथिक होने की इच्छा मात्र प्रकट हुई है। अभी उस मार्ग पर पथिक ने प्रस्थान नहीं किया है। पर जब व्रत का ग्रहण कर वह मार्ग पर प्रस्थान करता है, और कार्य में व्यापृत होता है, तब बोधिप्रस्थान-चित्त का उत्पाद होता है। प्रस्थान-चित्त निरंतर पुण्य का देने वाला है। इसीलिये शूरंगमसूत्र में कहा है कि ऐसे प्राणी इस जीवलोक में अत्यन्त दुर्लभ हैं, जो सम्बोधि-प्राप्ति के लिये प्रस्थान कर चुके हैं। वह जगत् के दुःख की ओषधि और जगदानन्द का बीज है। वह सब दुःखित जनों के समस्त दुःखों का अपनयन कर सबको सर्वसुख-सम्पन्न करने का उद्योग करता है। वह सब का अकारण बन्धु है। उसका व्यापार अहेतुक है। उसकी महिमा अपार है, जो उसका निरादर करता है, वह सब बुद्धों का निरादर करता है और जो उसका सत्कार करता है, उसने सब बुद्धों का सत्कार किया।

सप्तविध अनुत्तर-पूजा—बोधिचित्त का उत्पाद करने के लिए सप्तविध अनुत्तर-पूजा का विधान है। धर्म-संग्रह के अनुसार इस लोकोत्तर पूजा के सात अंग इस प्रकार हैं :—वंदना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और परिणामना। बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इस पूजा के आठ अंग हैं—वन्दन, पूजना, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येषण, याचना और बोधिपरिणामना।

बोधिचित्त-ग्रहण के लिए सबसे पहले बुद्ध, सद्धर्म तथा बोधिसत्वगण की पूजा आवश्यक है। यह पूजा मनोमय पूजा है। शान्तिदेव मनोमय पूजा के हेतु देते हैं—

अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित् ।
अतो ममार्थाय परार्थचिन्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥

[बोधि० परि० २,७]

अर्थात् मैंने पुण्य नहीं किया है, मैं महादरिद्र हूँ, इसलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नहीं है। भगवान् महाकारुणिक हैं, सर्वभूत-हित में रत हैं। अतः इस पूजोपकरण को नाथ! ग्रहण करें। अकिंचन होने के कारण आकाशधातु का जहाँ तक विस्तार है, तत्पर्यन्त निरवशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न, जल, रत्नमय पर्वत, वनप्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष, कल्पवृक्ष, मनोहर तड़ाक तथा जितनी अन्य उपहार वस्तुएँ प्राप्त हैं, उन सबको बुद्धों तथा बोधिसत्वों के प्रति वह दान करता है। यही अनुत्तर दक्षिणा है। यद्यपि वह अकिंचन है, पर आत्मभाव उसकी निज की सम्पत्ति है, उस पर उसका स्वामित्व है। इसलिए वह बुद्ध को आत्मभाव समर्पण करता है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर वह दासभाव स्वीकार करता है। भगवान् के आश्रय में आने से वह निर्भय हो गया है। वह प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं प्राणिमात्र का हित साधन करूँगा, पूर्वकृत पाप का अतिक्रमण करूँगा, और फिर पाप न करूँगा। मनोमय पूजा के अनंतर साधक बुद्ध, बोधिसत्व, सद्धर्म, चैत्य आदि की विशेष पूजा करता है। मनोरम स्नानगृह में गन्ध-पुष्प-पूर्ण रत्नमय कुम्भों के जल से गीत-वाद्य के साथ बुद्ध तथा बोधिसत्त्व को स्नान कराता है; स्नानानन्तर निर्मल वस्त्र से शरीर संमार्जन कर सुरक्त, वासित वर-चीवर उनको प्रदान करता है। दिव्य अलंकारों से उनको विभूषित करता है; उत्तम उत्तम गन्ध-द्रव्य से शरीर का विलेपन करता है। तदनन्तर उनको माला से विभूषित करता है, धूप, दीपक तथा नैवेद्य अर्पित करता है। वह बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाता है, तत्पश्चात् अपने सर्वपाप का प्रख्यापन करता है। इसे पापदेशना कहते हैं। जो कायिक, वाचिक, मानसिक पाप उसने स्वयं किया है अथवा दूसरे से कराया है अथवा जिसका अनुमोदन किया है, उन सब पापों को वह प्रकट करता है। अपना सब पाप वह बुद्ध के समक्ष प्रकाशित करता है, और भगवान् से प्रार्थना करता है कि भगवन्! मेरी रक्षा करो। जब तक मैं पाप का क्षय न कर लूँ, तब तक मेरी मृत्यु न हो; नहीं तो मैं दुर्गति, अपाय में पड़ूँगा। मेरा इस अनित्य जीवन में विशेष आग्रह था। मैं यह नहीं जानता था कि मुझको नरकादि दुःख भोगना पड़ेगा। मैं यौवन, रूप, धनादि के मद से उन्मत्त था; इसलिए मैंने अनेक पापों का अर्जन किया। मैंने चारों दिशाओं में घूम कर देखा कि कौन ऐसा साधु है, जो मेरी रक्षा करे, दिशाओं को त्राणशून्य देखकर मुझको संमोह हुआ और अन्त में मैंने यह निश्चय किया कि बुद्धों की शरण में जाऊँ, क्योंकि वह सामर्थ्यवान् है, संसार की रक्षा के लिए उपयुक्त हैं, और सबके त्रास के हरनेवाले हैं। मैं बुद्ध द्वारा साक्षात्कृत-धर्म की तथा बोधिसत्त्व-गण की भी शरण में जाता हूँ। मैं हाथ जोड़कर भगवान् के सम्मुख अपने समस्त उपार्जित पापों का प्रख्यापन करता हूँ, और प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी अनार्य या गर्हित कर्म न करूँगा।

पापदेशना के अनन्तर साधक सर्वसत्त्वों के लौकिक शुभ-कर्म का प्रसादपूर्वक अनुमोदन करता है तथा सब प्राणियों के सर्वदुःख-विनिर्मोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे पुण्यानुमोदन

कहते हैं। तदनन्तर अंजलिबद्ध हो सर्वदिशाओं में अवस्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि अज्ञान-तम से आवृत जीवों के उद्धार के लिए भगवान् धर्म का उपदेश करें। यही बुद्धाध्येषणा है। वह फिर कृतकृत्य जिनों से याचना करता है कि वह अभी परिनिर्वाण में प्रवेश न करें, जिसमें यह लोक मार्ग का ज्ञान न होने निश्चेतन न हो जाय। यह बुद्ध-याचना है। अन्त में साधक प्रार्थना करता है कि उक्त क्रम से अनुत्तर-पूजा करने से जो सुकृत मुझे प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के सर्व दुःखों का प्रशमन करने में समर्थ होऊँ, और उनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराऊँ, यह बोधि-परिणामना है। साधक भक्तिपूर्वक प्रार्थना करता है—हे भगवन्! जो व्याधि से पीड़ित हैं, उनके लिए मैं उस समय तक ओषधि, चिकित्सक और परिचारक होऊँ, जबतक व्याधि की निवृत्ति न हो, मैं क्षुधा और पिपासा की व्यथा का अन्न-जल की वर्षा से निवर्तन करूँ, और दुर्भिक्षान्तर कल्प में जब अन्नपान के अभाव से प्राणियों का एक दूसरे का मांस, अस्थि-भक्षण ही आहार हो, उस समय मैं उनके लिए पान-भोजन बनूँ। दरिद्र लोगों का मैं अक्षय धन होऊँ। जिस जिस पदार्थ की वह अभिलाषा करें, उस उस पदार्थ को लेकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित होऊँ।

पारमिताओं की साधना

दान-पारमिता—बोधिसत्व बोधिचित्तोत्पाद के अनन्तर शिक्षा-ग्रहण के लिए विशेष रूप से यत्नशील होता है। पहली पारमिता दानपारमिता है। सर्व वस्तुओं का सब जीवों के लिए दान और दानफल का भी परित्याग दानपारमिता है। इसलिये बोधिसत्व आत्मभाव का उत्सर्ग करता है। वह सर्व भोग्य वस्तुओं का परित्याग करता है, तथा अतीत, वर्तमान और अनागत-काल के कुशल-मूल का भी परित्याग करता है, जिनमें सब प्राणियों की अर्थ-सिद्धि हो। आत्मभाव का त्याग ही निर्वाण है।

यदि निर्वाण के लिए सब कुछ त्यागना ही है तो अच्छा तो यह है कि सब कुछ प्राणियों को अर्पित कर दिया जाय। ऐसा विचार कर वह अपना शरीर सब प्राणियों के लिये अर्पित करता है। चाहे वे दण्डादि से उसकी ताड़ना करें, चाहे जुगुप्सा करें, चाहे उसपर धूल फेकें और चाहे उसके साथ क्रीड़ा करें; वह केवल इतना चाहता है कि उसके द्वारा किसी प्राणी का अनर्थ संपादित न हो। वह चाहता है कि जो उस पर मिथ्या दोष आरोपित करते हैं या उसका अपकार करते हैं या उपहास करते हैं, वे भी बुद्धत्व-लाभ करें। वह चाहता है कि जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार महाभूत समस्त आकाशधातु-निवासी अनन्त प्राणियों के अनेक प्रकार से उपभोग्य होते हैं, उसी प्रकार वह भी तब तक सब सत्वों का आश्रय-स्थान रहे जब तक सब संसार-दुःख से विनिर्मुक्त न हों।

उसका किसी वस्तु में भी ममत्व नहीं होता। वह सब सत्वों को पुत्रतुल्य देखता है और अपने को सबका पुत्र समझता है। यदि कोई याचक उससे किसी वस्तु की याचना करता है, तो तुरंत वह वस्तु उसे दे देता है; मात्सर्य नहीं करता। बोधिसत्व के लिये ये चार बातें कुत्सित हैं—शाठ्य, मात्सर्य, ईर्ष्या-पैशुन्य, और संसार में लीनचित्तता। बोधिसत्व को ऐसी

किसी वस्तु का ग्रहण न करना चाहिए, जिसमें उसकी त्याग-चित्तता उत्पन्न न हुई हो। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसको वह वस्तु बिना शोक किये, बिना फल की आकांक्षा के, और बिना प्रतिसार के, दे दे। आशोचन्न विप्रतिसारी अविपाकप्रतिकांक्षी परित्यक्ष्यामि। [शिक्षासमुच्चय, पृ० २१]

सांसारिक दुःख का मूल सर्वपरिग्रह है, अतः अपरिग्रह द्वारा भव-दुःख से विमुक्ति मिलती है। इस प्रकार बोधिसत्व अनन्त कल्प तक लौकिक तथा लोकोत्तर सुखसंपत्ति का अनुभव करता है, और दूसरों का भी निस्तार करता है। इसीलिये रत्नमेघ में कहा है—दानं हि बोधिसत्वस्य बोधिरिति [शिक्षासमुच्चय, पृ० ३४]।

इस प्रकार आत्मभाव आदि का उत्सर्ग कर, अनाथ सत्वों पर दया कर, स्वयं दुःख उठाते हुए दूसरों के दुःख का विनाश करने के अभिप्राय से वह बुद्धत्व ही को उपाय ठहरा कर, वह बुद्धत्व के लिए बद्धपरिकर हो जाता है और अन्य पारमिताओं का ग्रहण करता है।

शील-पारमिता—आत्मभाव का उत्सर्ग इसीलिए बताया गया है कि जिससे सब सत्व उसका उपभोग करें। पर यदि इस आत्मभाव की रक्षा न होगी तो सत्व उसका उपभोग किस प्रकार करेंगे? वीरदत्तपरिपृच्छा में कहा है :—

शकटमिव भारोद्वहनार्थं केवलं धर्मबुद्धिना वोढव्यमिति।

[शिक्षासमुच्चय, पृ० ३४]

अर्थात् यह समझकर, कि शकट की नाईं केवल भारोद्वहन करना है, धर्मबुद्धि से शरीर की रक्षा करे, इसलिए आत्मभावादि का परिपालन आवश्यक है। यह शिक्षा की रक्षा और कल्याणमित्र के अपरित्याग से हो सकता है। कहा भी है—

परिभोगाय सत्वानां आत्मभावादि दीयते।
अरक्षिते कुतो भोगः किं दत्तं यन्न भुज्यते॥
तस्मात्सत्वोपभोगार्थं आत्मभावादि पालयेत्।
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणां च सदेक्षणात्॥

[शिक्षासमुच्चय, पृ० ३४]

कल्याणमित्र के अपरित्याग से मनुष्य दुर्गति में नहीं पड़ता, कल्याण-मित्र प्रमाद स्थान से निवारण करता है। क्या करणीय है और क्या अकरणीय है, इसका ज्ञान शिक्षा की रक्षा से होता है, और विहित कर्म करने से और प्रतिषिद्ध के न करने से नरकादि विनिपात-गमन से रक्षा होती है।

आत्मभावादि की रक्षा शिक्षा की रक्षा से होती है। शिक्षा की रक्षा चित्त की रक्षा से होती है। चित्त चलायमान है। यदि इसको स्वायत्त न किया जायगा तो शिक्षा की स्थिरता नष्ट हो जायगी। भय और दुःख का कारण चित्त ही है। चित्त द्वारा ही अर्थात् मानसकर्म द्वारा ही वाक्-कर्म और काय-कर्म की उत्पत्ति होती है। अतः वाक्कायकर्म का चित्त ही समुत्थापक है।

चित्त ही अति विचित्र सत्त्व-लोक की रचना करता है; इसलिए चित्त का दमन अत्यन्त आवश्यक है। जिसका चित्त पाप से निवृत्त है, उसके लिए भय का कोई हेतु नहीं है। जिसका चित्त स्वाधत्त है, उसके सुख की हानि नहीं होती। इसलिए पाप चित्त से कोई अधिक भयानक वस्तु नहीं है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि दानपारमिता आदि में चित्त कैसे प्रधान है, क्योंकि दानपारमिता का लक्षण सब प्राणियों का दारिद्र्य दूर करना है, और इसका चित्त से कोई संबन्ध नहीं है। यह शंका अनुचित है। यदि दानपारमिता का अर्थ--समस्त जगत् के दारिद्र्य को दूर कर सब सत्वों को परिपूर्ण करना ही हो तो अनेक बुद्ध हो चुके हैं, पर आज भी जगत् दरिद्र है। तो क्या उनमें दानपारमिता न थी? ऐसा नहीं कहा जा सकता। दानपारमिता का अर्थ केवल यही है कि सब वस्तुओं का सब जीवों के लिए दान और दानफल का भी परित्याग। इस प्रकार के अभ्यास से मात्सर्यमल का अपनयन होता है, और चित्त निरासंग हो जाता है। इस प्रकार दानपारमिता निष्पन्न होती है। इसलिए दानपारमिता चित्त से भिन्न नहीं है। शीलपारमिता भी इसी प्रकार चित्त से भिन्न नहीं है। शील का अर्थ है—प्राणातिपात आदि सब गर्हित कार्यों से चित्त की विरति। विरति-चित्तता ही शील है। इसी प्रकार क्षान्तिपारमिता का अर्थ है--दूसरे के द्वारा अपकार के होते हुए भी चित्त की अकोपनता। शत्रु गगन के समान अपर्यन्त हैं। उनका मारना अशक्य है, पर उपाय द्वारा यह शक्य है। उनके किए हुए अपकार को न गिनना ही उपाय है। क्रोधादि से चित्त की निवृत्ति होने से ही उनकी मृत्यु हो जाती है। वीर्य-पारमिता का लक्षण कुशलोत्साह है। यह स्वरूपेण चित्त है। ध्यान-पारमिता का लक्षण चित्तैकाग्रता है; इसलिए उसको चित्त से पृथक् नहीं बताया जा सकता। प्रज्ञा तो निर्विवाद रूप से चित्त ही है।

शत्रु प्रभृति जो बाह्य भाव हैं, उनका निवारण करना शक्य नहीं है, चित्त के निवारण से ही कार्य-सिद्धि होती है। इसलिए बोधिसत्त्व को अपकार-क्रिया से अपने चित्त का निवारण करना चाहिये। शान्तिदेव कहते हैं—

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी॥

[बोधि० ५,१३]

अर्थात् कंटकादि से रक्षा करने के लिए पृथ्वी को चर्म से आच्छादित करना उचित ही है। पर यह संभव नहीं है; क्योंकि इतना चर्म कहाँ मिलेगा? यदि मिले भी तो छादन असंभव है। पर उपाय द्वारा कंटकादि से रक्षा शक्य है। उपानह के चर्म द्वारा सब भूमि छादित हो जाती है। इसी प्रकार अनन्त बाह्य भावों का निवारण एक चित्त के निवारण से होता है।

चित्त की रक्षा के लिए 'स्मृति' और 'संप्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। 'स्मृति' का अर्थ है 'स्मरण'। किसका स्मरण? विहित और प्रतिषिद्ध का स्मरण। विहित प्रतिषिद्धयोर्यथायोगं स्मरणं स्मृतिः [बो० पृ० १०८]।

आर्यरत्नचूड-सूत्र में कहा है, कि स्मृति से क्लेशों का प्रादुर्भाव नहीं होता; स्मृति से ही सुरक्षित होकर मनुष्य उत्पथ या कुमार्ग में पैर नहीं रखता। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है जो अकुशल को अवकाश नहीं देती [शिक्षा० पृ० १२०]।

संप्रजन्य का अर्थ है—प्रत्यवेक्षण। किसकी प्रत्यवेक्षा करना? काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते बैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है। स्मृति तीव्र आदर से ही उत्पन्न होती है। तीव्र आदर शमथ-माहात्म्य जानने से ही होता है। 'शमथ' चित्त की शान्ति को कहते हैं। अचलपता, अचंचलता सौम्यभाव, अनुद्धतता, कर्मण्यता, एकाग्रता, एकारामता इत्यादि शम के लक्षण हैं।

शम ही के प्रभाव से चित्त समाहित होता है, और समाहित-चित्त होने से ही यथा-भूत-दर्शन होता है। यथाभूत-दर्शन से ही सत्वों के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है, बोधिसत्व की इच्छा होती है कि मैं सब सत्वों को भी यथाभूत परिज्ञान कराऊँ। इस प्रकार वह शील, चित्त, और प्रज्ञा की परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सम्यक्-संबोधि प्राप्त करता है। इसलिए वह शील में सुप्रतिष्ठित होता है, और बिना विचलित हुए, बिना शिथिलता के, उसके लिए यत्नवान् होता है। यह जानकर कि शम से अपना और पराये का कल्याण होगा, अनन्त दुःखों का समतिक्रमण और अनन्त लौकिक तथा लोकोत्तर सुखसंपत्ति की प्राप्ति होगी, बोधिसत्व को शम की आकांक्षा होनी चाहिये। इससे शिक्षा के लिए तीव्र आदर उत्पन्न होता है, जिससे स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृति से अनर्थ का परिहार होता है। इसलिए जो आत्मभाव की रक्षा करना चाहता है, उसको स्मृति के मूल का अन्वेषण कर नित्य सजग रहना चाहिये। शील से समाधि होती है। चन्द्रदीपसूत्र में कहा है, कि जो समाधि चाहता है,उसका शील विशुद्ध होना चाहिये और उसको स्मृति तथा संप्रजन्य ग्रहण करना चाहिए। शीलार्थी को भी समाधि के लिए यत्नवान् होना चाहिये।

शील और समाधि द्वारा चित्त-परिकर्म की निष्पत्ति होती है। यही बोधिसत्व-शिक्षा है, क्योंकि पुरुषार्थ का यही मूल है (शिक्षा० पृ० १२१)। आर्यरत्नमेघ में कहा है—चित्त पूर्वङ्गमाश्च सर्वधर्माः। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति (शिक्षा०, पृ० १२१) अर्थात् सब धर्म चित्त पुरःसर हैं। चित्त का ज्ञान होने पर सब धर्म परिज्ञात होते हैं। आर्यधर्मसंगीति सूत्र में कहा है—तदुच्यते। चित्ताधीनो धर्मो धर्माधीना बोधिरिति (शिक्षा० पृ० १२२)। अर्थात् चित्त के अधीन धर्म है, और धर्म के अधीन बोधि है। आर्यगंडव्यूह-सूत्र में भी कहा है—स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वबोधिसत्वचर्या स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वसत्वपरिपाकविनयः (शिक्षा० पृ० १२२) अर्थात् बोधिसत्वचर्या अपने चित्त में अधिष्ठित है; सब सत्वों को संबोधि प्राप्त कराने की शिक्षा अपने चित्त में अधिष्ठित है। इसलिए चित्त-नगर के परिपालन में कुशल होना चाहिए। चित्त-नगर का परिपालन संसार के सब विषयों से विरक्त होने से होता है। ईर्ष्या, मात्सर्य और शठता के अपनयन से चित्तनगर का परिशोधन करना चाहिए। सर्वक्लेश और मार (=कामदेव) की सेना का विमर्दन कर चित्त-नगर को दुर्योध्य तथा दुरासद्य बनाना चाहिए। चित्तनगर के विस्तार के लिए सब सत्वों के प्रति महामैत्री प्रदर्शित करनी चाहिये। सर्व जगत् को आध्यात्मिक और बाह्य वस्तु का दान कर चित्त-नगर का द्वार खोलना चाहिये।

चित्त-नगर की शुद्धि से सब आवरण नष्ट होते हैं (शिक्षा० १२२-१२३)। इसलिये यह व्यवस्थित हुआ कि चित्त-परिकर्म ही बोधिसत्व-शिक्षा है। जब चित्त अचपल होता है, तभी उसका परिकर्म होता है। शम से चित्त अचल होता है। जो निरंतर प्रत्यवेक्षा नहीं करता और जिसमें स्मृति का अभाव है, उसका चित्त चलायमान होता है। पर स्मृति और संप्रजन्य से जिसकी बाह्य चेष्टाओं का निवर्तन हो गया है, उसका चित्त इच्छानुसार एक आलंबन में ही निबद्ध रहता है।

इसलिये स्मृति को मनोद्वार से कभी न हटावे। यदि प्रमाद-वश स्मृति अपने उचित स्थान से हट जाय तो उसको फिर से अपने स्थान पर लौटा कर आरोपण करे। स्मृति की उत्पत्ति ऐसे लोगों के लिये सुकर है, जो आचार्य का संवास करते हैं, जिनके हृदय में उनके प्रति आदर का भाव है, और जो यत्नशील हैं। जो सदा यह ध्यान करता है कि बुद्ध और बोधिसत्व-गण समस्त वस्तु-विषय का अप्रतिहत ज्ञान रखते हैं, सब कुछ उनके सामने है, मैं भी उनके सम्मुख हूँ, वह शिक्षा में आदरवान् होता है, और अयोग्य कर्म के प्रति लज्जा करता है। जब चित्त की रक्षा के लिये स्मृति मनोद्वार पर द्वारपाल की नाईं अवस्थित होती है, तब संप्रजन्य बिना प्रयत्न के उत्पन्न होता है। अतः स्मृति ही संप्रजन्य की उत्पत्ति और स्थैर्य में कारण है। जिसका चित्त संप्रजन्य से रहित है, उसको वस्तु का उसी प्रकार स्मरण नहीं रहता जिस प्रकार सच्छिद्र कुंभ का जल ऊपर भरा जाता है, और नीचे से निकल जाता है। संप्रजन्य के अभाव से संचित कुशल धन भी विलुप्त हो जाता है, और मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है। क्लेश-तस्कर छिद्रान्वेषण में तत्पर होते हैं, और प्रवेश मार्ग पाकर हमारे कुशल धन का अपहरण करते हैं, और सद्गति का नाश करते हैं। इसलिये चित्त की सदा प्रत्यवेक्षा करे, और इसकी प्रत्यवेक्षा करे कि मन कहाँ जाता है, पहले अवलम्बन में निबद्ध है, अथवा कहीं अन्यत्र चला गया है।

ऐसा प्रयत्न करे जिसमें मन समाहित हो। अनर्थ विवर्जन के लिए सदा काष्ठवत् रहना चाहिए। बिना प्रयोजन नेत्र-विक्षेप न करना चाहिए। दृष्टि सदा नीचे की ओर रखे, पर कभी कभी दृष्टिको विश्राम देने के लिए अपने चारों ओर भी देखे। जब कोई समीप आवे, तब उसकी छाया मात्र के अवगत होने से उसका स्वागत करे, अन्यथा अवज्ञा करने से अकुशल की उत्पत्ति होती है। भय-हेतु जानने के लिए मार्ग में बारम्बार चारों ओर देखे। अच्छी तरह निरूपण कर अग्रसर हो अथवा पीछे अपसरण करे।

इस प्रकार सब अवस्थाओं में बुद्धिपूर्वक कार्य करे, जिसमें उपघात का परिहार और आत्मभाव की रक्षा हो। प्रत्येक काम में शरीर की अवस्था पर ध्यान रखे, बीच-बीच में देखता रहे। देह की भिन्न अवस्था होने पर उसका पूर्ववत् अवस्थापन करे। नानाविध प्रलाप सुनने तथा कुतूहल देखने के लिए उत्सुक न हो। निष्प्रयोजन नख-दण्डादि से भूमि-फलकादि पर रेखा न खींचे। कोई निरर्थक कार्य न करे। जब चित्त मान, मद या कुटिलता से दूषित हो, तब उसको स्थिर करे। जब चित्त में अनेक गुणों के अतिशय प्रकाशन की इच्छा प्रकट हो, या दूसरों के छिद्रान्वेषण की आकांक्षा का उदय हो, या दूसरे से कलह करने के लिए चित्त चला-

यमान हो, तो उस समय मन को स्थिर करे। जब मन परार्थ-विमुख और स्वार्थाभिनिविष्ट होकर, लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी हो, तब मन को काष्ठवत् स्थिर करे। इस प्रकार चित्त की सर्व प्रवृत्तियों का निरोध करे और मन को निश्चल रखे। शरीर में अभिनिवेश न रखे। चित्तरहित मृतकाय व्यापार-शून्य होता है। आमिष-लोभी गृध्र जब शरीर को इधर-उधर खींचते हैं, तब वह आत्मरक्षा में समर्थ नहीं होता और प्रतिकार में असमर्थ होता है। इसलिए शरीर सर्वथा अनुपयोगी है। इसकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इस मांस और अस्थि के पुंज को आत्मवत् स्वीकार करके इसकी रक्षा में प्रयत्नशील न होना चाहिए। जब यह आत्मा से भिन्न है, तब इसके अपचय से कोई अनिष्ट सम्पादित नहीं होता। जिसको तुम अपना समझते हो, वह अपवित्र है। इस अपवित्र, अमेध्य घटित यन्त्र की रक्षा से कोई लाभ नहीं है। इस चर्मपुट को अस्थि-पंजर से पृथक् कर अस्थियों को खण्ड-खण्ड कर मज्जा को देखे, और स्वयं विचार करे कि इसमें सारभूत क्या है। इस प्रकार यत्न-पूर्वक ढूँढ़ने पर भी जब कुछ सारवस्तु नहीं दिखलाई देती, तब शरीर की रक्षा व्यर्थ है। जब इसकी अँतड़ियाँ नहीं चूस सकते, इसका रक्तपान नहीं कर सकते, तब फिर इस काय में क्यों आसक्ति है? जिसकी रक्षा केवल गृध्र-शृगालों के आहारार्थ की जाती है, उसमें अभिनिवेश न होना चाहिये। यह शरीर मनुष्य के लिए एक उपयुक्त कर्मोपकरण अवश्य है। जो भृत्य भृत्य-कर्म नहीं करता, उसको वस्त्रादि नहीं दिया जाता। शरीर को वेतनमात्र देना चाहिये। मन द्वारा शरीर को स्वायत्त करे। जो शरीर के स्वभाव और उपयोग को विचार कर उसको अपने वश में करता है, वह सदा प्रसन्न रहता है। वह संसार का बंधु है। वह दूसरों का स्वागत करता है। वह निष्फल कार्य नहीं करता। सदा उसकी निःशब्द में अभिरति होती है। जिस प्रकार बक, बिडाल और चोर निःशब्द भ्रमण करते हुए विवक्षित अर्थ को पाते हैं, उसी प्रकार आचरण करता हुआ बोधिसत्त्व अभिमत फल पाता है।

जो दूसरों को उपदेश देने में दक्ष हैं, और बिना प्रार्थना के ही दूसरों के हित की कामना करते हैं, उनका अपमान न करना चाहिये; और उनका हितविधायक वचन आदर-पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। अपने को सबका शिष्य समझना चाहिये। सबसे सब कुछ सीखना चाहिये। इस प्रकार ईर्ष्या-मल का प्रक्षालन करना चाहिये। कुशल-कर्म करने वाले को देख कर उसका पुण्य-कर्म सराहे। सब सत्त्वों के सारे उपक्रम तुष्टि के लिये हैं। तुष्टि धन के विसर्ग द्वारा भी दुर्लभ है। इसलिये पराये गुण को श्रवण कर बिना परिश्रम किये तुष्टि-सुख का अनुभव होता है। इसमें कुछ व्यय नहीं है, और दूसरे को भी सुख मिलता है। पर दूसरे के गुण का अभिनंदन न करने से दुःख और द्वेष उत्पन्न होता है।

बोधिसत्व को मित और स्निग्धभाषी होना चाहिये। किसी से कर्कश वचन न बोले। सदा सबको सरल दृष्टि से देखे, जिसमें लोग उसकी ओर आकृष्ट हों, और उसकी बात का विश्वास करें। सदा कार्य-कुशल होना चाहिये, और सत्त्वों के हित, सुख का विधान करने के लिये नित्य उत्थान करना चाहिये। किसी कार्य में दूसरे की अपेक्षा न करे। सब काम स्वयं करे। प्रातिमोक्ष में जिस कर्म का निषेध है, उसका आचरण न करे।

सद्धर्म-सेवक काय को थोड़े के लिये कष्ट न दे, अन्यथा महती अर्थ-राशि की हानि होगी। क्षुद्र अवसर पर अपने जीवन का परित्याग न करे, अन्यथा एक सत्व के अर्थ-संग्रह के लिये महान् अर्थ की हानि संपन्न होगी। सब सत्त्वों के लिए आत्मभाव का उत्सर्ग पहले ही हो चुका है। केवल अकाल-परिभोग से उसकी रक्षा करनी है। इस प्रकार उपाय-कौशल से विहार करता हुआ बोधिसत्व बोधि-मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता।

क्षान्ति-पारमिता—अनेक प्रकार से शील-विशुद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका है। आत्मभाव, पुण्य तथा भोग की रक्षा और शुद्धि का भी प्रतिपादन किया गया है। अब क्षान्ति-पारमिता का उल्लेख करते हैं। शांतिदेव कारिका में कहते हैं:—

क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम् ॥

शिक्षासमुच्चय में इस कारका के प्रत्येक पद को लेकर व्याख्या की गयी है।

मनुष्य में क्षान्ति होनी चाहिये। जो अक्षम है, वह श्रुतादि में खेद सहन करने की शक्ति न रखने के कारण अपना वीर्य नष्ट करता है। अखिन्न होकर श्रुत की इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि बिना ज्ञान के समाधि का उपाय नहीं जाना जाता, और क्लेश-शोधन का उपाय भी अधिगत नहीं होता। ज्ञानी के लिए भी संकीर्णचारी होने से समाधान दुष्कर है; इसलिए वन का आश्रय ले। वन में भी बिना चित्त-समाधान के विक्षेप का प्रशमन नहीं होता। इसलिये समाधि करे। समाहित-चित्त होने पर भी बिना क्लेश शोधन के कोई फल नहीं है; इसलिए अशुभ आदि की भावना करे।

जिस प्रकार अग्निकण तृणराशिको दग्ध करता है। उसी प्रकार द्वेष सहस्रों कल्प के उपार्जित शुभकर्म को तथा बुद्ध-पूजा को नष्ट करता है।

द्वेष के समान दूसरा पाप नहीं है। और क्षान्ति के समान कोई तप नहीं है। इसलिए नाना प्रकार से क्षान्ति का अभ्यास करना चाहिये। जिसके हृदय में द्वेषानल प्रज्वलित है, उसको शान्ति और सुख कहाँ! उसको न नींद आती है, और न उसका चित्त सुखी होता है। वह लाभ-सत्कार से जिनका अनुनय करता है और जो उसके अश्रित हैं, वे भी उसका विनाश चाहते हैं, उसके मित्र भी उससे त्रास खाते हैं। दान देने पर भी उसकी कोई सेवा नहीं करता; संक्षेप में क्रोधी कभी सुखी नहीं होता। अतः मनुष्य को द्वेष के परित्याग के लिए यत्नवान् होना चाहिये। जो क्रोध का नाश करता है, वह इस लोक तथा परलोक, दोनों में, सुखी रहता है ! द्वेष के उपघात के लिए उसके कारण का उपघात करना चाहिये। जो हमारी कल्पना में हमारे सुख का साधन है, वह इष्ट है; और जो इसके विपरीत है, वह अनिष्ट है। अनिष्ट के संपादन से अथवा इष्ट के उपघात से मानस-दुःख की उत्पत्ति होती है। इसलिए जो अनिष्टकारी हैं, अथवा इष्ट-विरोधी हैं, उसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। दौर्मनस्यरूपी भोजन पाकर द्वेष बलवान् होता है; इसलिए द्वेष के नाश की इच्छा रखता हुआ बोधिसत्त्व सबसे पहले दौर्मनस्य का समूल उपघात करे, क्योंकि द्वेष का उद्देश्य

बंध ही है। इस प्रकार द्वेष के दोषों को भलीभाँति जानकर द्वेष के विपक्षरूप क्षान्ति का उत्पादन करे। क्षान्ति तीन प्रकार की है:—१. दुःखाधिवासना क्षान्ति; २. परोपकार-मर्षण क्षान्ति और ३. धर्मनिध्यान क्षान्ति।

१. दुःखाधिवासना क्षान्ति वह है, जिसमें अत्यन्त अनिष्ट का आगम होने पर भी दौर्मनस्य न हो। दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है। वह केवल पुण्य का नाश करता है। अतः दौर्मनस्य के प्रतिपक्षरूप 'मुदिता' की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। दुःख पड़ने पर प्रमुदित-चित्त रहना चाहिये। चित्त में क्षोभ या किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने देना चाहिये। दौर्मनस्य से कोई लाभ नहीं है, वरन् प्रत्यक्ष हानि ही है। यदि इष्ट-विघात का प्रतीकार हो, तब भी दौर्मनस्य व्यर्थ और निष्प्रयोजन है। ऐसा विचार कर दौर्मनस्य का परित्याग ही श्रेष्ठ है।

प्रतीकार होने पर भी क्षुब्ध-व्यक्ति मोह को प्राप्त होता है, और क्रोध से मूर्छित हो जाता है, उसको यथार्थ अयथार्थ का विवेक नहीं रह जाता। उसका उत्साह मंद पड़ जाता है और उसे आपत्तियाँ घेर लेती हैं। इसलिए प्रतीकार भी असफल हो जाता है। इसी से कहा है कि दौर्मनस्य निरर्थक और अनर्थवान् है, पर अभ्यास से दुःख अबाधक हो जाता है। अभ्यास द्वारा दौर्मनस्य का त्याग हो सकता है। अभ्यास से दुष्कर भी सुकर हो जाता है। सुख अत्यन्त दुर्लभ है, दुःख सदा सुलभ है। दुःख का सर्वदा परिचय मिलता रहता है। इसलिए उसका अभ्यास कठिन नहीं है।

निस्तार का उपाय भी दुःख ही है, इसलिए दुःख का परिग्रह युक्त ही है। चित्त को दृढ़ करना चाहिये, और कातरता का परित्याग करना चाहिये। बोधिसत्व तो अपने को तथा दूसरों को बुद्धत्व की प्राप्ति कराने का बीड़ा उठा चुका है। उसको तो कदापि कातर न होना चाहिये। यदि यह कहो कि अल्प दुःख तो किसी प्रकार सहा जा सकता है, पर कर-चरण-शिरश्छेदनादि दुःख अथवा नरकादि का दुःख किस प्रकार सहा जा सकेगा? ऐसी शंका अनुचित है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो अभ्यास द्वारा अधिगत न हो सके। अल्पतर व्यथा के अभ्यास से महती व्यथा भी सही जा सकती है। अभ्यासवश ही जीवों को दुःख-सुख का ज्ञान हो सकता है, इसलिए दुःख के उत्पाद के समय सुख-संज्ञा के प्रत्युपस्थान का अभ्यास करने से सुख-संज्ञा ही का प्रवर्त्तन होता है। इससे सर्वधर्मसुखाक्रान्त नाम की समाधि का प्रतिलाभ होता है। इस समाधि के लाभ से बोधिसत्व सब कार्यों में सुखवेदना का ही अनुभव करता है।

क्षुत्पिपासा आदि वेदना को और मशक-दंश आदि व्यथा को निरर्थक न समझना चाहिये। इन मृदु व्यथाओं के अभ्यास के कारण ही हम महती व्यथा के सहन करने में समर्थ होते हैं। शीतोष्ण, वृष्टि, वात, मार्गक्लेश, व्याधि आदि का दुःख सुकुमार-चित्तता के कारण बढ़ता है; इसलिए चित्त को दृढ़ रखना चाहिये। हम देखते हैं कि कोई भी संग्राम-भूमि में अपना रक्त बहता देखकर और भी वीरता दिखलाते हैं, और कोई ऐसे हैं कि दूसरे का रुधिर-दर्शन होने से ही मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं। यह चित्त की दृढ़ता और कातरता के

कारण है ? इसलिए जो दुःख से पराजित नहीं होता, वही व्यथा को अभिभूत करता है। दुःख में भी पण्डित को चित्तक्षोभ न करना चाहिये, क्योंकि उसने क्लेश-शत्रुओं से संग्राम छेड़ रखा है, और संग्राम में व्यथा का होना अनिवार्य है। जो शत्रु के सम्मुख जाकर उसके प्रहारों को अपने वक्षःस्थल पर धारण करते हुए समर-भूमि में विजयी होते हैं, वे ही सच्चे विजयी और शूर हैं, शेष मृतमारक हैं।

दुःख का यह भी गुण है कि उससे यौवन-धनादि विषयक मद का भंग होता है, और संसार के सत्वों के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

पित्तादि दोषत्रय के प्रति हम कोप नहीं करते, यद्यपि वे व्याधि उत्पन्न कर सब दुःखों के हेतु होते हैं। इसका कारण यह है कि हम समझते हैं कि वे अचेतन हैं, और बुद्धिपूर्वक दुःखदायक नहीं हैं। इसी प्रकार सचेतन भी कारणवश ही कुपित होते हैं। पूर्वकर्म के अपराध से कुपित होकर वे दुःखदायक होते हैं। उनका प्रकोप भी कारणाधीन है। इसलिए उन पर भी कोप नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार पित्तादि की इच्छा के बिना शूल अवश्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बिना इच्छा के कारण-विशेष से क्रोध उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य क्रोध करने के लिए ही इच्छापूर्वक क्रोध नहीं करता, और न क्रोध विचारपूर्वक उत्पन्न होता है। मनुष्य जो पाप या विविध अपराध करता है, वह प्रत्यय-बल से ही करता है। उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती। प्रत्यय-सामग्री को यह चेतना नहीं रहती कि मैं कार्य की उत्पत्ति कर रही हूँ; और कार्य को भी यह चेतना नहीं रहती, कि अमुक प्रत्यय-सामग्री द्वारा मैं उत्पन्न हुआ हूँ। यह जगत् प्रत्ययतामात्र है। सर्वधर्म हेतु-प्रत्यय के अधीन हैं। अतः किसी वस्तु का संभव स्वतन्त्र नहीं है। सांख्य के मत में प्रधान और वेदान्त के मत में आत्मा स्वतन्त्र है, पर यह उनकी कल्पनामात्र है। यदि प्रधान या आत्मा विषय में प्रवृत्त होते हैं, तो उनकी निवृत्ति नहीं होती, अन्यथा अनित्यत्व का प्रसंग होगा। यदि वह नित्य और अचेतन है, तो स्पष्ट ही अक्रिय है, क्योंकि यद्यपि उसका प्रत्ययान्तर से संपर्क भी हो, तब भी निर्विकार अर्थात् पूर्व स्वभाव से च्युत न होने से उसमें किसी प्रकार की क्रिया का होना संभव नहीं है। जो अक्रिया-काल तथा क्रिया-काल में एक रूप है; वह क्रिया का कौन सा अंश संपादित करता है ? आत्मा और क्रिया में संबन्ध का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि क्रिया ही संबन्ध है, तो इसमें कोई निमित्त नहीं ज्ञात होता। इस प्रकार सब बाह्य तथा आध्यात्मिक वस्तुएँ परायत्त हैं, स्वायत्त नहीं। हेतु भी स्वहेतु-परतन्त्र है। इस प्रकार अनादि संसार-परम्परा है। यहाँ स्ववशिता कहाँ संभव है ? परमार्थदृष्टि में कौन किसके साथ द्रोह करता है, जिसके कारण अपराधी के प्रति द्वेष किया जाय ? अतः जो चेष्टा और व्यापार से रहित हैं, उन पर कोप करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

यह कहा जा सकता है कि जब कोई स्वतंत्र नहीं है, तो द्वेष आदि का निवारण भी संभव नहीं है; सब वस्तुजात प्रत्यय-सामग्री के बल से उत्पन्न होते हैं; कौन निवारण करता है जब कि कोई स्वतंत्र कर्ता नहीं है ? और किसका निवारण किया जाता है, जब कि किसी वस्तु की स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं होती ? अतः द्वेषादि से निवृत्ति का उपाय भी व्यर्थ है, क्योंकि सब कुछ

परवश है, स्ववश नहीं है; ऐसी शंका करना उचित नहीं है। यद्यपि सर्व वस्तुजात व्यापार-रहित है, तथापि प्रत्यय-बल से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र है। अविद्यादि प्रत्यय-बल से संस्कारादि उत्तरोत्तर कार्य-प्रवाह का प्रवर्त्तन होता है, और पूर्व-पूर्व की निवृत्ति से निवर्त्तन होता है। इसलिए दुःख की निवृत्ति अभिमत है। द्वेषादि पाप प्रवृत्ति-निवारणरूपी प्रत्यय-बल से अभ्युदय-निःश्रेयफल की उत्पत्ति होती है। इसलिए यदि शत्रु या मित्र कुछ अपकार करें तो यह विचार कर कि ऐसे ही प्रत्यय-बल से उसकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है, दुःख से संतप्त न होना चाहिये। अपनी इच्छामात्र से इष्टप्राप्ति और अनिष्टहानि नहीं होती; हेतुवश ही होती है। यदि इच्छामात्र से अभीष्ट की सिद्धि होती तो किसी को दुःख न होता, क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता, सभी अपना सुख चाहते हैं।

२. दूसरे के किए हुए अपकार को सहन करना, और उसका प्रत्यपकार न करना, परापकारमर्षण क्षान्ति है। प्रमादवश, क्रोधवश, अथवा अगम्य-परदार-धनादि-लिप्सावश, सत्व अनेकानेक कष्ट उठाते हैं, पर्वतादि से गिरकर अथवा विष खाकर, आत्महत्या कर लेते हैं अथवा पापाचरण द्वारा अपना विनाश करते हैं। जब क्लेशवश सत्व अपने आपको पीड़ा पहुँचाते हैं, तब पराये के लिए अपकार से विरत कैसे हो सकते हैं। अतः ये जीव कृपा के पात्र हैं, न कि द्वेष के स्थान। क्लेश से उन्मत्त हो परापकार द्वारा आत्मघात में प्रवृत्त हैं, अतः ये दया के पात्र हैं। इनके प्रति क्रोध कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि दूसरों के साथ उपद्रव करना बालकों का स्वभाव है तो उनपर कोप करना उपयुक्त नहीं। अग्नि का स्वभाव जलाना है, यदि वह दहन-क्रिया छोड़ दे तो तत्स्वभावता की हानि का प्रसंग उपस्थित हो। यह विचार कर कोई अग्नि पर कोप नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि सत्व दुष्ट स्वभाव के नहीं हैं, बरंच सरल स्वभाव के हैं, और यह दोष आगन्तुक है; तब भी इनपर कोप करना अयुक्त होगा। जिस प्रकार धूम से आच्छन्न आकाश के प्रति क्रोध करना मूर्खता है, क्योंकि आकाश का स्वभाव निर्मल है, वह प्रकृति से परिशुद्ध है, कटुता उसका स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति-शुद्ध सत्वों पर आगन्तुक दोष के लिए क्रोध करना मूर्खता है।

कटुता आकाश का स्वभाव नहीं है, धूम का है। इसलिए धूम से द्वेष करे न कि आकाश से। अतः सत्वों पर क्रोध न कर दोषों पर क्रोध करना चाहिए। दुःख का जो प्रधान कारण है, उसी पर कोप करना चाहिए, न कि अप्रधान कारण पर। शरीर पर दण्ड-प्रहार होने से जो दुःख वेदना होती है, उसका मुख्य कारण दण्ड ही प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि दण्ड दूसरे की प्रेरणा से दुःख वेदना उत्पन्न करता है, इसमें दण्ड का क्या दोष है? अतः दण्ड के प्रेरक से द्वेष करना युक्त होगा, तो यह अधिक समुचित होगा कि दण्ड-प्रेरक के प्रेरक द्वेष से द्वेष किया जाय।

मुख्यं दंडादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोपि द्वेषोऽस्तु मे वर॥ [बोधि० ६।४१]

बोधिसत्व को विचार करना चाहिये कि मैंने भी पूर्व जन्मों में सत्वों को ऐसी पीड़ा पहुँचायी थी, इसलिए यह युक्त है कि ऋणपरिशोधन-न्यायेन मेरे साथ भी दूसरा अपकार करे।

अपकारी का शस्त्र और मेरा शरीर दोनों दुःख के कारण हैं। उसने शस्त्र ग्रहण किया है और मैंने शरीर ग्रहण किया है। यदि कारणोपनायक पर ही क्रोध करना है तो अपने ऊपर भी क्रोध करना चाहिए।

जो कार्य की अभिलाषा नहीं करता, उसको उसके कारण का ही परिहार करना चाहिए। पर मेरी तो उलटी मति है। मैं दुःख नहीं चाहता, पर दुःख के कारण शरीर में मेरी आसक्ति है। इसमें अपराध मेरा है। दूसरे पर कोप करना व्यर्थ है, दूसरा तो सहकारीमात्र है। आत्मवध के लिए मैंने स्वयं शस्त्र ग्रहण किया है, तो दूसरे पर क्यों कोप करूँ? नरक का असिपत्र-वन और वहाँ के पक्षी जो नरक में मेरे दुःख के हेतु हैं, वे मत्कर्म-जनित हैं। इसमें दूसरा कारण नहीं है। इसी प्रकार दूसरा यदि मेरे साथ दुष्ट-व्यवहार करता है, और उससे मुझको दुःख उत्पन्न होता है, तो उसमें भी मेरा कर्म ही हेतु है। ऐसा विचार कर कोप न करना चाहिए।

मैंने पहले दूसरों के साथ अपकार किया, इसलिए मेरे कर्म से प्रेरित होकर वे भी अपकार करते हैं, और नरक में निवास करते हैं; इसलिए मैंने ही इनका नाश किया। इन्होंने मेरा विघात नहीं किया। इस प्रकार चित्त का बोध करना चाहिए।

इन अपकारियों के निमित्त क्षान्ति-धारण करने से पूर्वजन्मकृत परापकार जनित पाप दुःखानुभव द्वारा क्षीण हो जाता है, और मेरे निमित्त इनका नरक-गमन होता है, जहाँ इनको दुःसह दुःख का अनुभव करना होता है। इस प्रकार मैं ही इनका अपकारी हूँ और यह मेरे उपकारी हैं। फिर उपकारी के प्रति मेरी अपकार की बुद्धि क्यों है?

मैं यदि अपकारी होते हुए भी किसी उपाय-कौशल से, यथा प्रत्यपकार-निवृत्ति-निष्ठा द्वारा नरक न जाऊँ, और अपनी रक्षा करूँ, तो इसमें इन उपकारियों की क्या क्षति है? यदि ऐसा है तो उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करनी चाहिए, और अपकार निवृत्ति द्वारा अपनी रक्षा न करनी चाहिए। पर प्रत्यपकार करने से भी इनकी रक्षा नहीं होती। इनको अपने पाप कर्म का फल भोगने के लिए नरक में अवश्य निवास करना होगा, और ऐसा करने से मैं बोधिसत्वचर्या से भ्रष्ट हो जाऊँगा। कहा है—

सर्वसत्वेषु न मैत्रचित्तं मया निक्षेप्तव्यम्। अन्तशो न दग्धस्थूणायामपि प्रतिघचित्त-मुत्पादयितव्यम्।

इसके अतिरिक्त मैं सब सत्वों की रक्षा करने में अशक्य हो जाऊँगा, और इस प्रकार वे दुर्गति में पड़ेंगे।

३. अब धर्म-निध्यान क्षान्ति बतलाते हैं। दुःख दो प्रकार का है—कायिक और मानसिक। इसमें मानसिक दुःख परमार्थतः नहीं है, क्योंकि मन अमूर्त है, और इस लिए मन पर दण्डादिद्वारा प्रहार शक्य नहीं है। पर इस कल्पना द्वारा कि यह शरीर मेरा है, शरीर को दुःख पहुँचने से चित्त भी दुःखी होता है। पर अयश और परुष-वाक्य तो शरीर का उपघात नहीं करते। फिर किसलिए इनसे चित्त कुपित होता है? यदि यह कहा जाय कि जब लोग मेरे अयश इत्यादि की बात सुनते हैं, तो वे मुझसे अप्रसन्न होते हैं और उनकी अप्रस-

जता मुझको अभीष्ट नहीं है। पर यह विचार कर कि लोक का अप्रसाद न इस लोक में मेरा अनर्थ संपादन कर सकता है, न जन्मांतर में, इस लिये लोक की अप्रसन्नता में अभिनिवेश न करना चाहिये।

यदि यह सन्देह हो कि लाभ का विघात होगा, लोग मुझसे विमुख हो जायेंगे और पिण्डपातादि लाभ-सत्कार से मुझको वंचित रखेंगे, तो यह विचार करना चाहिये कि लाभ विनश्वर होने के कारण नष्ट हो जायगा, पर पाप सदा स्थिर रहेगा।

नंक्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्थास्यति ध्रुवम् [बोधि० ६,५५]

लाभ के अभाव में आज ही मर जाना अच्छा है, पर परापकार द्वारा लाभ-सत्कार पाकर चिरकाल तक मिथ्या जीवन व्यतीत करना बुरा है, क्योंकि चिरकालतक जीवित रहने में भी मृत्यु का दुःख वैसा ही बना रहता है। एक स्वप्न में १०० वर्ष का सुख अनुभव कर जागता है, और दूसरा मुहूर्त के लिए सुखी होकर जागता है। स्वप्नोपलब्ध सुख जाग्रत अवस्था में लौट नहीं आता। उसका स्मरणमात्र अवशिष्ट रह जाता है। जाग्रत अवस्था में उपभुक्त सुख भी विनष्ट होकर नहीं लौटता। इसी प्रकार मनुष्य चाहे चिरजीवी हो या अल्पजीवी, उसका उपभुक्त सुख मरण समय में विनष्ट हो जाता है। प्रचुरतर लाभ-सत्कार पाकर और दीर्घकाल पर्यन्त अनेक सुखों का उपभोग करके भी अन्त में खाली हाथ और नग्नशरीर जाना होता है, मानों किसी ने सर्वस्व हर लिया हो।

लब्ध्वापि च बहूँल्लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा। [बोधि० ६,५६]

यदि यह विचार हो कि लाभ द्वारा चीवरादि का विघात न होने से चिरकाल तक जीवित रहकर हम पापक्षय और पुण्य-संचय करेंगे, तो यह भी स्मरण रहे कि लाभ के लिए द्वेष करनेवाले का सुकृत नष्ट हो जाता है, और अशान्ति से पापराशि की उत्पत्ति होती है।

पापक्षयं च पुण्यं च लाभाज्जीवन् करोमि चेत्।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु॥ [बोधि० ६,६०]

जिसके लिए मेरा जीवन है, यदि वही नष्ट हो जाय तो ऐसे निन्दित जीवन से क्या लाभ? बोधिसत्व का जीवन इतर जन के जीवन के सदृश निष्प्रयोजन नहीं है। उसका जीवन पाप के क्षय के लिए, और पुण्य की अभिवृद्धि के लिए है। यदि यह उद्देश्य फलीभूत न हो और सुकृत का क्षय हो तो ऐसा अशुभ जीवन व्यर्थ है। यदि यह कहो कि जो मेरे गुणों को छिपाकर केवल दोषों का आविष्करण करता है, उससे मेरा द्वेष करना युक्त है, क्योंकि वह सत्वों का नाश करता है, तो जब दूसरे किसी का कोई अयश प्रकाशित करता है, तो उसके प्रति तुमको क्यों कोप उत्पन्न नहीं होता? जो दूसरे की निन्दा करता है, उसको तो तुम क्षमा कर देते हो, उसके प्रति क्रोध नहीं करते, तब अपनी निंदा करनेवाले को भी क्षमा क्यों नहीं करते?

जो प्रतिमा, स्तूप, और सद्धर्म के निंदक या नाशक हों, उनके प्रति भी श्रद्धावश द्वेष करना युक्त नहीं है, इससे बुद्धादि को कोई पीड़ा नहीं पहुंचती। यदि कोई गुरुजन, सहोदर

भाई, तथा अन्य बन्धुवर्ग का भी अपकार करे तो उसपर भी क्रोध न करना चाहिये। एक अज्ञान के वश हो, दूसरे के साथ अपकार करता है, अथवा दूसरे की निन्दा करता है, तो दूसरा अपकारी पर मोहवश क्रोध करता है। इनमें से किसको अपराधी और किसको निर्दोष कहें ? दोनों का दोष समान है। पहले ऐसे कर्म क्यों किये जिनके कारण दूसरों द्वारा पीड़ित होना पड़ता है ? सब अपने कर्म के अधीन है। कर्मफल के निवर्त्तन में कोई समर्थ नहीं है, ऐसा विचार कर कुशल-कर्म के सम्पादन में यत्नवान् होना चाहिये, जिसमें सन्मार्ग में प्रवेश कर सब सत्व द्रोह छोड़कर एक दूसरे के हित-सुख-विधान में तत्पर हों।

जिस प्रकार जब एक घर में आग लगती है और वह आग फैलकर दूसरे घर में जाती है, और वहाँ के तृणादि में लगती है, तब शीघ्र उस तृण आदि को हटाकर उसकी रक्षा का विधान किया जाता है, उसी प्रकार चित्त जिस वस्तु के संग से द्वेषाग्नि से दह्यमान हो, उस वस्तु का उसी क्षण परित्याग करना चाहिये।

जिसको मारण दण्ड मिला है, यदि वह हस्तच्छेदमात्रानन्तर मुक्त कर दिया जाय तो इसमें उसका स्पष्ट लाभ है; क्षति नहीं है। इसी प्रकार यदि मनुष्य को दुःख का अनुभव कर नरक-दुःख से छुटकारा मिले, तो इसमें सुखी होना चाहिये। क्योंकि नरक-दुःख की अपेक्षा मनुष्य-दुःख कुछ भी नहीं है। यदि इतना भी दुःख नहीं सहा जा सकता, तो उस क्रोध का निवारण क्यों नहीं करते, जिसके कारण नरक की व्यथा भोगनी पड़ती है ? इसी क्रोध के निमित्त अनेकसहस्र बार मुझको नरक व्यथा सहनी पड़ी है। इससे न मैं ने अपना उपकार किया और न दूसरों का। इसलिए सारा दुःखानुभव निष्प्रयोजन ही हुआ। पर मनुष्य-दुःख नरक-दुःख के समान कठोर नहीं है, और यह इसके अतिरिक्त बुद्धत्व का साधन भी है। अतः इस दुःख में अभिरुचि होनी चाहिये, क्योंकि यह संसार के दुःख का प्रशमन करेगा। यदि किसी गुणी के गुणों का वर्णन कर दूसरे सुखी होते हैं तो तुम भी उसका गुणानुवाद कर अपने मन को क्यों नहीं प्रसन्न करते ? ईर्ष्यानिल की ज्वाला से क्यों जलते हो ? यह सुख अनिन्द्य है, और सुख का कारण है। इसमें सबसे बड़ा गुण यह है कि सत्वों के आवर्जन का यह सर्वोत्तम उपाय है।

यदि यह कहो कि पराए की गुण-प्रशंसा मुझको प्रिय नहीं है, क्योंकि इसमें दूसरे को सुख प्राप्त होता है, तो इससे बड़ा अनर्थ सम्पादित होगा। इससे ऐहिक और पारलौकिक दोनों फल नष्ट हो जायेंगे। दूसरे की सुख-संपत्ति को देखकर कुढ़ना अनुचित है। जब अपने गुण का संकीर्तन सुन तुम यह इच्छा रखते हो कि दूसरे प्रसन्न हों, तो क्यों दूसरों की प्रशंसा सुनकर तुम स्वयं प्रसन्न नहीं होते ? तुमने इसलिए बोधिचित्त का ग्रहण किया है कि बुद्धत्व के अनुपम लाभ द्वारा सब सत्वों को समस्त सुख-संपत्ति का उपभोग करायेंगे, तो फिर यदि वे स्वयं सुख प्राप्त करें तो इससे क्यों अप्रसन्न होते हो ? दूसरे की सुख-संपत्ति देख तुम्हारी यह असहिष्णुता क्यों है ? तुम तो यह आकांक्षा रखते हो कि सत्वों को बुद्धत्व प्राप्त करावेंगे। जिसमें वे त्रैलोक्य में पूजे जायें, फिर उनके स्वल्प लाभ-सत्कार को देखकर क्यों जलते हो ?

त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्वानां किल वाञ्छसि।
सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिदह्यसे ॥ [बोधि० ६,८१]

सब सत्व तुम्हारे आत्मीय हैं। उनके पोषण का भार तुमने अपने ऊपर लिया है। जो उनका पोषण करता है, वह तुम्हीं को देता है। ऐसे पुरुष को पाकर तुम क्रोध करते हो। उनको सुखी देख तुमको सुखी होना चाहिये। यदि यह कहो कि बुद्धत्व ही के लिए मैंने जगत् को आमन्त्रित किया है, न कि अन्य सुख के लिए तो यह उपयुक्त नहीं है। जो सत्वों के लिए बुद्धत्व की इच्छा रखता है, वह उनके लिए लौकिक तथा लोकोत्तर समस्त वस्तुजात की इच्छा रखता है। जो दूसरे की सुखसम्पत्ति को देखकर क्रुद्ध होता हो और दूसरे का लाभ-सत्कार नहीं देख सकता हो, उसकी बोधिचित्त की प्रतिज्ञा मिथ्या है। यदि उसने लाभ-सत्कार न पाया तो दान की वस्तु दानपति के घर में रहती है, वह वस्तु किसी अवस्था में भी तुम्हारी नहीं हो सकती। लाभ-सत्कार का पानेवाला क्या उस पूर्व-जन्मकृत पुण्य का निवारण करे जिसके कारण उसको लाभ-सत्कार प्राप्त होता है, अथवा दाता का निवारण करे ? अथवा अपने गुणों का निवारण करे जिनसे प्रसन्न हो दानपति लाभ-सत्कार का दान करता है ? कहो, किस प्रकार से तुम्हारा परितोष हो ? तुम अपने किये हुए पापों के लिए शोक नहीं करते, पर दूसरे के पुण्य की ईर्ष्या करते हो। यदि तुम्हारी अभिलाषामात्र से तुम्हारे शत्रु का अनिष्ट सम्पादित हो तो उससे क्या फल मिलेगा ? बिना हेतु के केवल तुम्हारी अभिलाषा से ही किसी का अनिष्ट नहीं हो सकता। यदि हो भी तो दूसरे के दुःख में तुमको क्या सुख मिलता है ?

यदि दूसरे को दुःखी देखना ही तुम्हारा अभिप्राय हो, और इसी में अपना सुख मानते हो तो इससे बढ़कर तुम्हारे लिए क्या अनर्थ हो सकता है ? यम के दूत तुमको ले जाकर कुम्भीपाक नरक में पकावेंगे। स्तुति के विघात से दुःख उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। स्तुति, यश अथवा सत्कार से न पुण्य की वृद्धि होती है, न आयु की, न बल की, न आरोग्य लाभ होता है और न शरीर-सुख प्राप्त होता है। बुद्धिमान् पुरुष इन पांच प्रकार के पुरुषार्थों की कामना करता है। यश के लिए लोग अपने धन और प्राण को भी तुच्छ समझते हैं। यश के लिए मरने पर उसका सुख किसको प्राप्त होता है ? केवल अक्षरमात्र हैं। तो क्या अक्षर खाये जायेंगे ? यह बालक्रीड़ा के समान है। जिस प्रकार एक बालक धूलिमय गृह बनाकर परम परितोष से क्रीड़ा करता है, पर उसके भग्न हो जाने पर अत्यन्त दुःखी हो करुणस्वर से आर्तनाद करता है; उसी प्रकार उस व्यक्ति की दशा होती है जो स्तुति और यशरूपी खिलौनों से खेलता है और उनके विघात से दुःखी होता है।

यदि कोई मुझसे या किसी दूसरे से प्रीति करता है, तो मुझे क्या ? वह प्रीति-सुख उसी को है। इसमें मेरा किंचिन्मात्र भी भाग नहीं है। यदि दूसरे के सुख से सुख की प्राप्ति हो तो सर्वत्र ही मुझको सुख की प्राप्ति हो और जब कोई किसी का लाभ-सत्कार करे तो मुझको भी सुख हो; पर ऐसा नहीं होता। मैं तो तभी प्रसन्न होता हूँ जब दूसरे मेरी प्रशंसा करते हैं। यह तो बालचेष्टा है। स्तुति आदि कल्याण की घातक होती है। स्तुति आदि द्वारा गुणी के प्रति ईर्ष्या और परलाभसत्कारामर्षण का उदय होता है। स्तुति आदि में यह दोष है। इसलिए जो मेरी निन्दा के लिए उद्यत है, वह नरकपात से मेरी रक्षा करने में प्रवृत्त हुआ है। लाभ-सत्कार विमुक्ति के लिए बन्धन है। मैं मुमुक्षु हूँ। इसलिए जो इन बन्धनों से

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥ [बोधि० ६।१२७]

एक राजपुरुष जन-समूह का विमर्दन करता है और वह समूह उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। वह अकेला नहीं है। उसको राजबल प्राप्त है। इसी प्रकार जो अपराध करता है, उसको दुर्बल समझकर अपमानित न करना चाहिये। वह अकेला नहीं है। नरक-पाल और दयामय उनके बल हैं। इसलिए जैसे भृत्य कुपित राजा को प्रसन्न करता है, उसी प्रकार सब को सत्वों को प्रसन्न करना चाहिये। कुपित होकर भी राजा उतना कष्ट नहीं दे सकता जितना कष्ट सत्वों को अप्रसन्न कर नारकीय यातना के अनुभव से मिलता है। राजा प्रसन्न होकर यदि बड़े से बड़ा पदार्थ भी दे, तब भी वह बुद्धत्व की समता नहीं कर सकता, जो सत्वाराधन से मिलता है। सत्वाराधन से भविष्य में बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ-साथ इस लोक में सौभाग्य, यश और सुख मिलता है। जो क्षमा करता है वह संसार में आरोग्य, चित्तप्रसाद, दीर्घायु और अत्यन्त सुख पाता है।

वीर्य-पारमिता—जो क्षमी है, वही वीर्य लाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठित है। वीर्य के बिना पुण्य नहीं है; जैसे वायु के बिना गति नहीं है। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपक्ष आलस्य, कुत्सित में आसक्ति, विषाद और आत्म-अवज्ञा हैं। संसार-दुःख का तीव्र अनुभव न होने से कुशल-कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। इस निर्व्यापारिता से आलस्य होता है। क्या नहीं जानते कि क्लेश रूपी मछुओं से आक्रान्त तुम जन्म के जाल में पड़े हो? क्या नहीं जानते कि मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो? क्या अपने वर्ग के लोगों को, एक के बाद दूसरे को, मारे जाते नहीं देखते हो? तुम यह देखकर भी निद्रा के मोहजाल में पड़े हो। अपने को निःशरण देखकर भी सुखपूर्वक बैठे हो। तुमको भोजन कैसे रुचता है? नींद क्योंकर आती है, और संसार में रति कैसे होती है? आलस्य छोड़कर कुशलोत्साह की वृद्धि करो। मृत्यु अपनी सामग्री एकत्र कर शीघ्र ही तुम्हारे वध के लिए आ उपस्थित होगी। उस समय तुम कुछ न कर सकोगे। उस समय तुम इस चिन्ता से विह्वल हो जाओगे कि हा! जो काम विचारा था, वह न कर सका; जिसका आरंभ किया था या जिसको कुछ निष्पन्न किया था, उस कार्य को समाप्त न कर सका और बीच ही में अकस्मात् मृत्यु का आक्रमण हुआ। तुम उस समय यमदूतों के मुख की ओर निहारोगे, तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारे जीवन से निराश हो जायेंगे और शोक के वेग से उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होगी। मरण समय उपस्थित होने पर सुकृत या पापकर्म का स्मरण होने से तुमको पश्चात्ताप होगा। तुम नारक शब्दों को सुनोगे और त्रास से पुरीषोत्सर्ग के कारण तुम्हारे गात्र मलमूत्र से उपलिप्त हो जायेंगे। शरीर, वाणी और चित्त तुम्हारे अधीन न रहेंगे। उस समय तुम क्या करोगे? ऐसा समझकर स्वस्थ अवस्था में ही कुशल-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार बहुत से लोग क्रमशः खाने के लिए ही मछलियों को पालते हैं, उनका मरण आज नहीं तो कल अवश्य होगा, उसी प्रकार सत्वों को समझना चाहिये कि आज नहीं तो कल मृत्यु अवश्यमेव होगी। उन लोगों को विशेषकर तीव्र नारक दुःखों से

भयभीत होना चाहिये, जिन्होंने पाप कर्म किया है। सुकुमार होने के कारण जब तुम उष्णोदक के स्पर्श को भी सहन नहीं कर सकते तो, नारक कर्म करके सुखासीन क्यों हो? बिना पुरुषार्थ किये फल की आकांक्षा करते हो; दुःख सहने की सामर्थ्य नहीं है, मृत्यु के वशीभूत हो। तुम्हारी दशा कष्टपूर्ण है। अष्टाक्षण-विनिर्मुक्त मनुष्यभाव रूपी नौका तुमको मिली है। दुःखमयी महानदी को पार करो। वीर्य का अवलम्बन कर सब दुःखों को पार करो। यह निद्रा का समय नहीं है। यदि इस समय पुरुषार्थ न करोगे, तो फिर नौका का मिलना कठिन होगा। समागम बार-बार नहीं होता। कुत्सित कर्मों में आसक्त न हो। शुभ कर्मों में रति होने से अपर्यन्त सुख-प्रवाह प्रवाहित होता है। इसको छोड़कर तुम्हारी प्रवृत्ति रति, हास, क्रीडा, इत्यादि में क्यों है? यह केवल दुःख का हेतु है।

अविषाद, बलव्यूह, निपुणता, आत्मवशवर्तिता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्त्तन से वीर्य-समृद्धि का लाभ होता है। कोई पुरुष-विशेष अपरिमित पुण्य, ज्ञान के बल से दुष्कर कर्मों का अनुष्ठान कर कहीं असंख्येय कल्पों में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। मैं साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त करूँगा? ऐसा विषाद न करना चाहिये; क्योंकि सत्यवादी तथागत बुद्ध ने सत्य कहा है कि जिन बुद्धों ने उत्साहवश, दुर्लभ, अनुत्तरबोधि को पाया है, वे भी संसार-सागर के आवर्त्त में परिभ्रमण करते हुए मशक, मक्षिका और कृमि की योनियों में उत्पन्न हुए थे। जिसमें पुरुषार्थ है, उसके लिए कुछ दुष्कर नहीं। मैं मनुष्यभाव में हूँ; हित-अहित पहचानने की मुझमें शक्ति है।

सर्वज्ञ के बताये हुए मार्ग के अपरित्याग से बोधि अवश्य प्राप्त होगी। अति दुष्कर कर्म के श्रवण से अनध्यवसाय ठीक नहीं है। हस्त-पादादि दान में देना होगा; कैसे ऐसे दुष्कर कर्म कर सकेंगे, ऐसा भय केवल इसीलिए होता है कि मोहवश गुरु और लाघव का परमार्थ विचार नहीं होता। पापकर्म कर सत्व नरकाग्नि में जलाये जाते हैं, और नाना प्रकार की यातनायें भोगते हैं। यह दुःख महान्, पर निष्फल है। इससे बोधि नहीं प्राप्त होती, पर बुद्धत्व का प्रसाधक दुःख अल्प और सफल है। शरीर में प्रविष्ट शल्य के उद्धरण में थोड़ा दुःख अवश्य होता है, पर बहुव्यथा का निवर्तन होता है। इसी प्रकार थोड़ा दुःख सहकर दीर्घकालिक दुःख का उपशम होता है। इसलिए इस थोड़े से दुःख को सहना उचित है। वैद्य लंघन, पाचन, आदि दुःखमय क्रियाओं द्वारा रोगियों को आरोग्य-लाभ कराता है। इससे बहुत से दुःख नष्ट हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को थोड़ा दुःख स्वीकार करना चाहिये। पर सर्व-व्याधि-चिकित्सक भगवान् ने साधक के लिए इन उचित दुःखोत्पादिनी क्रियाओं का कर्त्तव्यरूप में प्रतिपादन नहीं किया है। वह सामर्थ्यानुसार मृदु उपचार द्वारा दीर्घ रोगियों की चिकित्सा करते हैं। प्रारम्भ में शल्य के परित्याग में, यथा शाकादि दान में, नियुक्त करते हैं। पीछे से जब मृदु दानाभ्यास-कर्म से अधिक मात्रा में दानाभ्यास प्रकर्ष होता है, तब अपना मांस रुधिर आदि भी प्रसन्नतापूर्वक देने की सामर्थ्य प्रकट होती है। जब अभ्यासवश स्वमांस में शाक के समान निरासंग बुद्धि उत्पन्न होती है, तब स्वमांसादि दान भी सुलभ हो जाता है।

बोधिसत्व को कायिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख नहीं होते। पाप से विरत होने के कारण कायिक दुःख नहीं होता। बाह्य और आध्यात्म-नैरात्म्य होने के कारण मानसिक दुःख भी उसको नहीं होता। मिथ्याकल्पना से मानसिक और पाप से कायिक-व्यथा होती है पुण्य से शरीर-सुख और यथार्थज्ञान से मानसिक-सुख मिलता है। जो दयामय है, और जिसका जीवन संसार में परमार्थ के लिए ही है, उसको कौन सा दुःख हो सकता है? यदि यह शंका हो, कि दीर्घकाल में पुण्य-संचय द्वारा सम्यक्-संबोधि की प्राप्ति होती है, इसलिए मुमुक्षु को चाहिये, कि शीघ्र काल में फल देनेवाले हीनयान ही का आश्रय ले; तो ऐसी शंका न करनी चाहिये। क्योंकि महायान पूर्वकृत पापों का क्षय करता है, और पुण्यसागर की प्राप्ति कराता है। इसलिए यह हीनयान की अपेक्षा शीघ्रगामी है।

बोधिचित्त-रथ पर आरूढ़ होना चाहिये। यह सब क्लेशों का निवारक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख पाते हुए कौन ऐसा सचेतन है, जो विषाद को प्राप्त हो? सत्वों की अर्थसिद्धि के लिए बोधिसत्व के पास एक बलव्यूह है जो इस प्रकार है:—छन्द, स्थाम, रति, और मुक्ति। 'छन्द' कुशल की अभिलाषा को कहते हैं। इस भय से कि अशुभ कर्म से दुःख उत्पन्न होता है और यह सोचकर कि शुभकर्म द्वारा अनेक प्रकार से मधुर फलों की उत्पत्ति होती है, सत्व को कुशल-कर्म की अभिलाषा होनी चाहिये। 'स्थाम' आरब्ध की दृढ़ता को कहते हैं। 'रति' सत्कर्म में आसक्ति है। 'मुक्ति' का अर्थ उत्सर्ग है। यह बलव्यूह वीर्य-साधन में चतुरंगिणी सेना का काम देता है। इसके द्वारा आलस्यादि विपक्ष का उन्मूलन कर वीर्य प्रवर्धन के लिए यत्न करना चाहिये।

मुझको अपने और पराये अप्रमेय काय-वाक्-चित्तसमाश्रित दोष नष्ट करने हैं। एक-एक दोष का क्षय मुझ मन्दवीर्य से अनेक शत-सहस्र कल्पों में होगा। दोष नाश के लिए मुझमें लेशमात्र भी उत्साह नहीं दिखलाई पड़ता। मैं अपरिमित दुःख का भाजन हूँ। मेरा हृदय क्यों नहीं विदीर्ण होता? इस अद्भुत और दुर्लभ मनुष्य-जन्म को मैंने वृथा गँवाया। मैंने भगवत्पूजा का सुख नहीं उठाया। मैंने बुद्ध-शासन की पूजा नहीं की। भीतों को अभयदान नहीं दिया। दरिद्रों की आशा नहीं पूरी की। आर्तों को सुखी नहीं किया। मेरा जन्म केवल माता को दुःख देने के लिए हुआ है। पूर्वकृत पापों के कारण धर्म की अभिलाषा का अभाव है। इसीलिए इस जन्म में मेरी यह दशा हुई है। ऐसा समझकर कौन कुशल-कर्म की अभिलाषा का परित्याग करेगा? सब कुशलों का मूल 'छन्द' है। उसका भी मूल बार-बार शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक-फल की भावना है। जो पापी हैं, उनको अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक नरकादि दुःख होते हैं, और उनके लाभ का विघात होता है। पुण्यवान् को पुण्यबल से अभिवांछित फल मिलता है, पापी को जब जब सुख की इच्छा का उदय होता है, तब तब दुःख-शस्त्रों से उसका विघात होता है। जो असाधारण शुभकर्म करते हैं, वे इच्छा न रखते हुए मातृ-कुक्षि में नहीं उत्पन्न होते। जो अशुभ कर्म करते हैं, काल-दूत उनके शरीर की सारी खाल उधेड़ते हैं। आग में गलाए हुए ताँबे से उनके शरीर को स्नान कराते हैं, जलती हुई तलवार और शक्ति के प्रहार से मांस के सैकड़ों खण्ड करते हैं, और सुतप्त लौहभूमि पर वे बार बार

गिरते हैं। शुभ और अशुभ कर्मों का यह मधुर और कटु फल-विपाक होता है। इसलिए शुभ-कर्मों की अभिलाषा होनी चाहिये।

उपस्थित सामग्री का निरूपण कर बलाबल का विचार करना चाहिये। फिर कार्य का आरंभ करे अथवा न करे। आरंभ न करने में इतना दोष नहीं है जितना कि आरंभ करके निवर्तन करने में है। प्रतिज्ञात कर्म के न करने से पाप होता है और उससे दुःख की वृद्धि होती है। इस प्रकार आरब्ध कर्म का ही संपादन न होता हो, ऐसा नहीं है, पर उस काल में जो अन्य कार्य हो सकते थे, वह भी नहीं होते। कर्म, उपक्लेश और शक्ति में 'मान' होता है। 'मुझ अकेले के ही करने का यह काम है' यह भाव 'कर्म-मानिता' कहलाता है। सब सत्व क्लेशाधीन हैं; स्वार्थ साधन में समर्थ नहीं हैं, ये अशक्त हैं और मैं भारोद्वहन में समर्थ हूँ। इसलिए मुझको सब का सुख संपादन करने के लिए बोधिचित्त का उत्पाद करना चाहिये। मुझ दास के रहते और लोग क्यों नीच कर्म करें? जो काम मेरे करने का है, उसे और क्यों करे? यदि मैं इस मान से कि यह मेरे लिये अयुक्त है, उसे न करूँ, तो इससे तो यही अच्छा है कि मेरा मान ही नष्ट हो जाय। यदि मेरा चित्त दुर्बल है,तो थोड़ी भी आपत्ति बाधक होगी। मृत सर्प को पाकर काक भी गरुड़ हो जाता है। जो विषादयुक्त है, उसके लिए आपत्ति सुलभ है, पर जो उत्साहसंपन्न है और स्मृति-संप्रजन्य द्वारा उपक्लेशों को अवकाश नहीं देता, उसको बड़े से बड़ा भी नहीं जीत सकता। इसलिए बोधिसत्व दृढ़चित्त हो आपत्ति का अन्त करता है। यदि बोधिसत्व क्लेशों के वशीभूत हो जाय, तो उसका उपहास हो। क्योंकि वह त्रैलोक्य के विजय की इच्छा रखता है। वह विचार करता है कि मैं सबको जीतूँ और मुझको कोई नहीं जीते। उसको इस बात का मान है कि मैं शाक्यसिंह का पुत्र हूँ। जो मान से अभिभूत हो रहे हैं, वे मानी नहीं हैं; क्योंकि मानी शत्रु के वश में नहीं आता और वह मानरूपी शत्रु के वश में है। मान से वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं। मनुष्य भाव में भी उनको सुख नहीं मिलता। वे दास, परभृत, मूर्ख और अशक्त होते हैं। यदि उनकी गणना मानियों में हो तो बताओ दीन किन्हें कहेंगे? वही सच्चा मानी, विजयी और शूर है जो मानशत्रु की विजय करने के लिए मान धारण करता है और जो उसका नाश कर लोक में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। संक्लेशों के बीच में रहकर सहस्रगुण अग्रसर होना चाहिये। जो काम आगे आवे, उसका व्यसनी हो जाय। द्यूतादि क्रीड़ा में आसक्त पुरुष उसके सुख को पाने की बार-बार इच्छा करता है। इसी प्रकार बोधिसत्व को काम से तृप्ति नहीं होती। वह बार-बार उसकी अभिलाषा करता है सुख के लिए ही कर्म किया जाता है, अन्यथा कर्म में प्रवृत्ति न हो। पर कर्म ही जिसको सुख स्वरूप है, जिसको कर्म के अतिरिक्त किसी दूसरे सुख की अभिलाषा नहीं है, वह निष्कर्म होकर कैसे सुखी रह सकता है?

बोधिसत्व को चाहिये कि एक काम के समाप्त होने पर दूसरे काम में लग जाय। पर अपनी शक्ति का क्षय जानकर काम को उस समय छोड़ देना चाहिये। यदि कार्य अच्छी तरह समाप्त हो जाय तो उत्तरोत्तर कार्य के लिए अभिलाषी होना चाहिये। क्लेशों के प्रहार से अपनी रक्षा करनी चाहिये और जिस प्रकार शस्त्र-विद्या में कुशल शत्रु के साथ खड्ग-युद्ध

करते हुए निपुणतर दृढ़ प्रहार किया जाता है; उसी प्रकार दृढ़ प्रहार करना चाहिये। अणुमात्र भी दोष को अवकाश न देना चाहिये। जैसे विष रुधिर में प्रवेशकर शरीर भर में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार दोष अवकाश पाकर चित्त में व्याप्त हो जाता है।

अतः क्लेश-प्रहार के निवारण में यत्नवान् होना चाहिये। जब निद्रा और आलस्य का प्रादुर्भाव हो, तब उनका शीघ्र प्रतीकार करे; जैसे किसी पुरुष की गोद में यदि सर्प चढ़ आता है तो, वह झट से खड़ा हो जाता है। जब-जब स्मृति-प्रमोष हो, तब-तब परिताप होना चाहिये और सोचना चाहिये कि क्या करें जिसमें फिर ऐसा न हो। बोधिसत्व को सत्संग की इच्छा करनी चाहिये। जैसे रुई वायु की गति से संचालित होती है, वैसे ही बोधिसत्व उत्साह के वश होता है और इस प्रकार अभ्यास-परायण होने से ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

ध्यान-पारमिता—वीर्य की वृद्धि कर समाधि में मन का आरोप करे अर्थात् चित्तैकाग्रता के लिए यत्नवान् हो, क्योंकि विक्षिप्त-चित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशों से कवलित होता है। जन-सम्पर्क के विवर्जन से तथा कामादि वितर्कों के विवर्जन से विक्षेप का प्रादुर्भाव नहीं होता और निरासंग होने से आलम्बन में चित्त की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए संसार का परित्याग कर रागद्वेष मोहादि विक्षेप हेतुओं का परित्याग करना चाहिये। स्नेह के वशीभूत होने से और लाभ, सत्कार, यश आदि के प्रलोभन से संसार नहीं छोड़ा जाता। विद्वान् को सोचना चाहिये कि जिसने चित्तैकाग्रता द्वारा यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की है, वही क्लेशादि दुःखों का प्रहाण कर सकता है। ऐसा विचार कर क्लेश-मुमुक्षु पहले शमथ अर्थात् चित्तैकाग्रता के उत्पादन की चेष्टा करे। जो समाहित-चित्त है और जिसको यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसकी बाह्य चेष्टा का निवर्तन होता है और शम के होने से उसका चित्त चंचल नहीं होता।

लोक-विषय में निरपेक्ष बुद्धि रखने से ही यह शमथ उत्पन्न होता है। अनित्य-पुत्रदारादिकों में अनित्य सत्व का स्नेह रखना युक्त नहीं है, जब यह विदित है कि अनेक जन्मपर्यन्त उस आत्मप्रिय का पुनः दर्शन नहीं होगा। यह जानते हुए भी दर्शन न मिलने से चित्त व्याकुल हो जाता है और किसी प्रकार सुस्थिर नहीं होता। जब उसका प्रिय दर्शन होता है, तब भी चित्त का पूर्ण रूप से संतर्पण नहीं होता और दर्शन की अभिलाषा पूर्ववत् पीड़ा देती है। उसको प्रिय समागम की आकांक्षा से मोह उत्पन्न होता है। वह गुण-दोष नहीं विचारता। अतः वह निरन्तर शोक-संतप्त रहता है। उस प्रिय की चिन्ता से तथा तल्लीनचित्तता के कारण प्रतिक्षण आयु का क्षय होता है और कोई कुशल-कर्म संपादित नहीं होता। जिस मित्र के लिए आयु का क्षय होता है वह स्थिर नहीं है। वह क्षणभंगुर है, अशाश्वत है। उसके लिए दीर्घ-कालावस्थायी शाश्वतधर्म की हानि क्यों करते हो? यदि यह सोचते हो कि उसके समागम से हित-सुख की प्राप्ति होगी तो यह भूल है; क्योंकि यदि तुम्हारा आचरण उसके सदृश हुआ तो तुम अवश्य दुर्गति को प्राप्त होगे और यदि असदृश हुआ तो वह तुमसे द्वेष करेगा। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में वह तुम्हारे हित-सुख का निमित्त नहीं हो सकता। इस समागम से क्या लाभ है? क्षण में यह मित्र है और क्षण में यह शत्रु है। जहाँ प्रसन्न होना चाहिये, वहाँ कोप करते हैं। इनका आराधन

दुष्कर है। यदि इनसे इनके हित की बात कहो तो यह कोप करते हैं, और दूसरे को भी हित-पथ से निवारण करते हैं,और यदि उनकी बात न मानी जाय तो क्रुद्ध होते हैं। संसार के मूढ़ पुरुषों से भला कहीं हित हो सकता है ? वह दूसरे का उत्कर्ष नहीं सह सकते। जो उनके बराबर के हैं, उनसे विवाद करते हैं; और जो उनसे अधम हैं, उनसे अभिमान करते हैं; जो उनका दोष कीर्तन करते हैं, उनसे वह द्वेष करते हैं। मूढ़ के संसर्ग से आत्मोत्कर्ष, परनिन्दा, संसार-रति-कथा आदि अकुशल अवश्यमेव होते हैं। दूसरे के संग से अनर्थ का समागम निश्चय जानो। यह विचार कर अकेला सुखपूर्वक रहने का निश्चय करे। मूढ़ की संगति कभी न करे। यदि दैव-योग से कभी संग हो तो प्रिय उपचारों द्वारा उसका आराधन करे और उसके प्रति उदासीन वृत्ति रखे। जिस प्रकार भृंग कुसुम से मधु-संग्रह करता है, पर परिचय नहीं पैदा करता; उसी प्रकार मूढ़ से केवल उसको ले ले, जो धर्मार्थ प्रयोजनीय हो।

इस प्रकार प्रिय-संगति का कारण स्नेह अपाकृत होता है। साम्प्रत लाभादि तृष्णा का, जिनके कारण लोक का परित्याग नहीं बन पड़ता, परिहार करना चाहिये। विद्वान् को रति की आकांक्षा न करनी चाहिये। जहाँ जहाँ मनुष्य का चित्त रमता है, वह वह वस्तु सहस्र-गुना दुःखरूप हो उपस्थित होती है। इच्छा से भय की उत्पत्ति होती है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष किसी वस्तु की इच्छा न रखे। बहुतों को विविध लाभ और यश प्राप्त हुए, पर वह लाभ-यश के साथ कहाँ गये, यह पता नहीं है। कुछ मेरी निन्दा करते हैं और कुछ मेरी प्रशंसा करते हैं, अपनी प्रशंसा सुनकर क्यों प्रसन्न होऊँ ? और आत्मनिन्दा सुनकर क्यों विषाद को प्राप्त होऊँ ? जब बुद्ध भी अनेक सत्वों का परितोष न कर सके,तो मुझ जैसे अज्ञों की क्या कथा ? मुझको लोकचिन्ता न करनी चाहिये। जो सत्व लाभ-रहित है, उसकी यह कहकर लोग निन्दा करते हैं कि यह सत्व पुण्य-रहित है, इसीलिए क्लेश उठाकर भी वह पिण्डपातादिमात्र लाभ भी नहीं पाता, और जो लाभ-सत्कार प्राप्त करते हैं, उनका यह कहकर लोग उपहास करते हैं कि इन्होंने दानपति को किसी प्रकार प्रसन्न कर यह लाभ प्राप्त किया है। उभयथा उनके चित्त को शान्ति नहीं मिलती। ऐसे लोग स्वभाव से दुःख के हेतु होते हैं। ऐसे लोगों का संवास न मालूम क्यों प्रिय होता है ? मूढ़ पुरुष किसी का मित्र नहीं है, उसकी प्रीति निःस्वार्थ नहीं होती। जो प्रीति स्वार्थ पर आश्रित है, वह अपने लिए ही होती है।

मुझको अरण्य-वास के लिए यत्नशील होना चाहिये। वृक्ष तुच्छ दृष्टि से नहीं देखते और न उनके आराधन के लिए कोई प्रयत्न करना पड़ता है। कब इन वृक्षों के सहवास का सुख मुझको मिलेगा ? कब मैं शून्य देवकुल में, वृक्षमूल में, गुहा में, सर्वनिरपेक्ष हो बिना पीछे देखे हुए निवास करूँगा ? कब मैं गृह त्यागकर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकृति के विस्तीर्ण प्रदेशों में, जहाँ किसी का स्वामित्व नहीं है, विहार करूँगा ? कब मैं मृण्मय भिक्षापात्र ले शरीर निरपेक्ष हो निर्भय विहार करूँगा ? भिक्षापात्र ही मेरा समस्त धन होगा, मेरा चीवर चोरों के लिए भी अनुपयुक्त होगा। फिर मुझको किसी प्रकार का भय न रहेगा।

मैं कब श्मशान-भूमि में जाकर दुर्गन्ध युक्त निजदेह की तुलना पूर्वमृत जीवों के अस्थि-पंजर से करूँगा? शृगाल भी अतिदुर्गन्ध के कारण समीप नहीं आवेंगे। इस शरीर के साथ उत्पन्न होनेवाले अस्थिखंड भी पृथक् हो जायँगे, फिर प्रियजनों का क्या कहना? यदि यह सोचा जाय कि पुत्र-कलत्रादि सुख-दुःख में मेरे सहायक होते हैं, इसलिए इनका अनुनय करना युक्त है; तो ऐसा नहीं है। कोई किसी का दुःख बाँट नहीं लेता। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है। सब लोग अपने अपने कर्म का फल भोगते हैं। इसलिए यह केवल अभिमान है कि पुत्र-कलत्रादि सुख-दुःख में सहायक होते हैं। वह केवल विघ्न ही करते हैं। अतः उन प्रियजनों से कोई लाभ नहीं है।

परमार्थ-दृष्टि से देखा जाय तो कौन किसकी संगति करता है। जिस प्रकार राह चलते पथिकों का एक स्थान में मिलन होता है और फिर वियोग होता है, उसी प्रकार संसाररूपी मार्ग पर चलते हुए ज्ञाति, सगोत्र आदि संबन्धों द्वारा आवास-परिग्रह होता है। मरने पर वह उनके साथ नहीं जाते। पूर्व इसके कि लोग मरणावस्था में उसका परित्याग करें और उसके लिए विलाप करें, मनुष्य को वन का आश्रय लेना चाहिये। न किसी से परिचय और न किसी से विरोध रखे। स्वजन बान्धवों के लिए प्रव्रज्या के अनन्तर वह मृत के समान है। वन में ज्ञाति, सगोत्रादि कोई उसके समीपवर्ती नहीं हैं, जो अपने शोक से व्यथा पहुँचावें या विक्षेप करें। इसलिए एकान्तवास-प्रिय होना चाहिये। एकान्तवास में आयास या क्लेश नहीं है। वह कल्याण-दायक है और सब प्रकार के विक्षेपों का शमन करता है। इस प्रकार जन-संपर्क के विवर्जन से काय-विवेक का लाभ होता है। तदनन्तर चित्त-विवेक की आवश्यकता है। चित्त के समाधान के लिए प्रयत्न-शील होना चाहिये। चित्त-समाधान का विपक्षी काम-वितर्क है। इसका निवारण करना चाहिये। रूपादि विषयों के सेवन से लोक और परलोक दोनों में अनर्थ होता है। जिसके लिए तुमने पाप और अपयश को भी न गिना, और अपने को भय में डाला, वह अब अस्थिमात्र है, और किसी के अधिकार में नहीं है। जो मुख कुछ काल पहले लज्जा से अवनत था और सदा अवगुण्ठन से आवृत्त रहता था, उसे आज गृध्र व्यक्त करते हैं, जो मुख दूसरों के दृष्टिपात से सुरक्षित था, उसे आज गृध्र खाते हैं। अब क्यों नहीं उसकी रक्षा करते? गृध्रों और शृगालों से विदारित इस मांस-पुंज को देखकर अब क्यों भागते हो? काष्ठ-लोष्ठ के समान निश्चल इस अस्थि-पंजर को देखकर अब क्यों त्रास होता है? पुरीष और श्लेष्म दोनों एक ही आहार-पान से उत्पन्न होते हैं। इनमें पुरीष को तुम अपवित्र मानते हो, पर कामिनी के अधर का मधुपान करने के लिए उसके श्लेष्म-पान में क्यों रति होती है? जो काम-सुख के अभिलाषी हैं, उनकी विशेष रति अपवित्र स्त्री कलेवर में ही होती है। यदि तुम्हारी आसक्ति अशुचि में नहीं है तो क्यों इस स्नायु-बद्ध अस्थि-पंजर और मांस के लोथड़े को आलिंगन करते हो? अपने ही इस अमेध्य शरीर पर संतोष करो। यह काय स्वभाव से ही विकृत है। यह अभिरति का युक्त स्थान नहीं है। जब शरीर का चर्म उत्पाटित होता है, तब त्रास उत्पन्न होता है। यह शरीर का स्वभाव है। पर ऐसा जानकर भी इसमें रति क्यों उत्पन्न होती है? यदि यह कहो कि यद्यपि शरीर स्वभाव से अमेध्य है, पर चन्दनादि सुरभि वस्तुओं

के उपलेप से कमनीय हो जाता है, तो यह उचित नहीं है। सहस्र संस्कार करने पर भी शरीर का स्वभाव नहीं बदल सकता। नग्न, बीभत्स और भयंकर काय की केशनखादि रचना-विशेष कर स्नान, अभ्यङ्ग और अनुलेपन द्वारा विविध संस्कार कर मनुष्य आत्मव्यामोहन करता है, जो उसके वध का कारण होता है।

बिना धन के सुख का उपभोग नहीं होता। बाल्यावस्था में धनोपार्जन की शक्ति नहीं होती। युवावस्था धनोपार्जन में ही व्यतीत होती है। जब उमर ढल जाती है, तब विषयों का कोई उपयोग नहीं रह जाता। कुछ लोग दिन भर भृति-कर्म कर सायंकाल को परिश्रान्त होकर लौटते हैं और मृत-कल्प सो जाते हैं। वह इस प्रकार केवल आयु का क्षय करते हैं, काम-सुख का आस्वाद नहीं करते।

जो दूसरों के सेवक हैं, उनको स्वामी के कार्यवश प्रवास का क्लेश भोगना पड़ता है। वे अनेक वर्षों में भी स्त्री और पुत्र को नहीं देखते। जिस सुख की लालसा से दूसरे का दासत्व स्वीकार किया, वह सुख न मिला। केवल दूसरों का काम कर व्यर्थ ही आयु का क्षय किया। लोग जीविका के लिए रण में प्रवृत्त होते हैं, जहाँ जीवन का भी संशय होता है। यह विडंबना नहीं तो क्या है? इस जन्म में भी कामासक्त पुरुष विविध दुःखों का अनुभव करते हैं। वह सुख-लिप्सा से कार्य में प्रवृत्त होते हैं, पर अनर्थ-परम्परा की प्रसूति होती है। धन का अर्जन और अर्जित धन की प्रत्यवायों से रक्षा कष्टमय है, और रक्षित धन का नाश विषाद और चित्त की मलिनता का कारण होता है। इस कारण अर्थ अनर्थ का कारण होता है। धनासक्त पुरुष का चित्त एकाग्र नहीं होता। भव-दुःख से विमुक्त होने के लिए उसको अवकाश ही नहीं मिलता। इस प्रकार कामासक्ति में अनर्थ बहुत हैं, सुखोत्पाद की वार्ता भी नहीं है। धनासक्त पुरुष की वही दशा है, जो उस बैल की होती है जिसको शकट-भार वहन करना पड़ता है, और खाने को घास मिलती है। इस थोड़े से सुखास्वाद के लिए मनुष्य अपनी दुर्लभ-संपत्ति नष्ट कर देता है। निश्चय ही मनुष्य की उलटी मति है, क्योंकि वह निकृष्ट, अनित्य और नरकगामी शरीर के सुख के लिए निरन्तर परिश्रम करता रहता है। इस परिश्रम का कोटिशत भाग भी बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। इस पर भी मन्दबुद्धिवाले लोग बुद्धत्व के लिए उत्साही नहीं होते। जो कामान्वेषी हैं, उनको बोधिसत्व की अपेक्षा कहीं अधिक दुःख उठाना पड़ता है। काम का निदान दुःख है। शस्त्र, विष, अग्नि इत्यादि मरणमात्र दुःख देते हैं, पर काम दीर्घकालिक तीव्र नरक-दुःख का हेतु है। काम का परित्याग कर चित्त-विवेक में रति उत्पन्न करनी चाहिये। और कलह-शून्य, शान्त वनभूमियों में विहार कर सुखी होना चाहिये। वह धन्य हैं, जो वन में सुखपूर्वक भ्रमण करते हैं और सत्वों को सुख देने के लिए चिन्तना करते हैं, या वन में, शून्य आलय में, वृक्ष के तले या गुफा में, अपेक्षा-विरत हो यथेष्ट विहार करते हैं। जिस सन्तोष-सुख का भोग स्वच्छन्दचारी निर्ग्रंथ ही करता है, वह संतोषसुख इन्द्र को भी दुर्लभ है। इस प्रकार काम-विवेक और चित्त-विवेक के गुणों का चिन्तन कर सत्व वितर्कों का उपशम करता है, और जब चित्त परिशुद्ध होता है, तब बोधि-चित्त की भावना में प्रकर्ष-पद की प्राप्ति होती है।

वह भावना करता है कि सब प्राणियों को समान रूप से सुख अनुग्राहक और दुःख बाधक होता है, इसलिए मुझको आत्मवत् सबका पालन करना चाहिये। वह विचारता है कि जब मुझको और दूसरों को सुख समानरूप से प्रिय और दुःख तथा भय समानरूप से अप्रिय है, तो मुझमें क्या विशेषता है कि मैं अपने ही सुख के लिए यत्नवान् होऊँ और अपनी ही रक्षा करूँ ? करुणा-परतन्त्रता से लोग दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं और सर्व दुःख के अपहरण के लिए यत्नवान् होते हैं। एक के दुःख से यदि बहुत सत्वों का दुःख दूर हो तो दयावान् को वह दुःख उत्पादित करना चाहिये। जो कृपावान् हैं, वह दूसरे के उद्धार के लिए नारक दुःख को भी सुख ही मानते हैं। जीवों के निस्तार से उनको अनन्त परितोष होता है।

प्रज्ञा-पारमिता—चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा के प्रादुर्भाव में सहायता मिलती है। जिसका चित्त समाहित है, उसी को यथाभूत परिज्ञान होता है। प्रज्ञा से सब आवरणों की अत्यन्त हानि होती है। प्रज्ञा के अनुकूलवर्त्ती होने पर ही दान आदि पाँच पारमितायें सम्यक्संबोधि की प्राप्ति कराने में समर्थ और हेतु होती हैं। दानादि गुण प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होकर अभ्यासवश प्रकर्ष की पराकाष्ठा को पहुँचते हैं और अविद्या प्रवर्त्तित सकल विकल्प का ध्वंस कर तथा क्लेश और आवरणों को निर्मूल कर परमार्थ-तत्व की प्राप्ति में हेतु होते हैं। इस प्रकार षट्-पारमिता में प्रज्ञापारमिता की प्रधानता पाई जाती है। 'आर्य-शत-साहस्री-प्रज्ञा-पारमिता' में भगवान् कहते हैं—"हे सुभूति ! जिस प्रकार सूर्य-मण्डल और चन्द्र-मण्डल चार द्वीपों को प्रकाशमान करते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारमिता का कार्य पंच-पारमिता में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार बिना सप्तरत्न से समन्वागत हुए राजा चक्रवर्त्ती का पद नहीं पाता, उसी प्रकार प्रज्ञापारमिता से रहित होने पर पंच-पारमिता 'पारमिता' के नाम से नहीं पुकारी जा सकती। प्रज्ञापारमिता अन्य पाँच पारमिताओं को अभिभूत करती है। जो जन्म से अन्धे हैं, उनकी संख्या चाहे कितनी ही क्यों न हो, बिना मार्ग-प्रदर्शक के मार्गावतरण में असमर्थ हैं। इसी प्रकार दानादि पाँच पारमिताएँ नेत्र-विकल हैं; बिना प्रज्ञा-चक्षु की सहायता के बोधि-मार्ग में अवतरण नहीं कर सकतीं। जब पंच पारमिता प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत होती है, तभी सचक्षुष्क होती हैं। जिस प्रकार क्षुद्र नदियाँ गंगा नाम की महानदी का अनुगमन कर उसके साथ महासमुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत हो और उसका अनुगमन कर सर्वाकारज्ञता को प्राप्त होती हैं"।

अतः यह पारमिता पंचात्मक पुण्य-संभार की समुत्थापक है। जब चित्त समाहित होता है, तब चित्त को सुख-शान्ति मिलती है और चित्त के शान्त होने से ही प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है। शिक्षासमुच्चय [पृ० ११६] में कहा है—

किं पुनरस्य शमथस्य माहात्म्यं यथाभूत-ज्ञानजननशक्तिः। यस्मात् समाहितो यथाभूतं जानातीत्युक्तवान् मुनिः।

अर्थात् इस 'शमथ' का क्या माहात्म्य है ? यथाभूत ज्ञानोत्पत्ति में सामर्थ्य ही इसका माहात्म्य है, क्योंकि भगवान् ने कहा है कि जो समाहित-चित्त है, वही यथाभूत का ज्ञान

रखता है। जो यथाभूतदर्शी है, उसी के हृदय में सत्वों के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है। इस महा-करुणा से प्रेरित हो शील, प्रज्ञा और समाधि इन तीनों शिक्षाओं को पूरा कर बोधिसत्व सम्यक्-संबोधि प्राप्त करता है।

सर्व धर्म के अनुपलम्भ को ही प्रज्ञा-पारमिता कहते हैं। अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता में कहा है—"योऽनुपलम्भः सर्वधर्माणां सा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते"। शून्यता में जो प्रतिष्ठित है उसी ने प्रज्ञापारमिता प्राप्त की है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है और न अहेतुतः होती है; तभी प्रज्ञा-पारमिता की प्राप्ति होती है। उस समय किसी प्रकार का व्यवहार नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ-सत्य की प्रतीति होती है कि दृश्यमान वस्तुजात माया के सदृश हैं, स्वप्न और प्रतिबिम्ब की तरह अलीक और मिथ्या हैं। केवल व्यवहारदशा में उनका सत्यत्व है। जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह सांवृत-स्वरूप है। यथाभूत-दर्शन से इस अनादि संसार-प्रवाह का यथावस्थित सांवृत-स्वरूप उद्भावित होता है। व्यवहारदशा में ही प्रतीत्य-समुत्पाद की सत्ता है; पर परमार्थ-दृष्टि से प्रतीत्य-समुत्पाद धर्म-शून्य है। क्योंकि परमार्थ में भावों का स्वकृतत्व परकृतत्व और उभयकृतत्व निषिद्ध है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है। सब धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न हैं। यह ज्ञान आर्य-ज्ञान कहलाता है। जब इस आर्य-ज्ञान का उदय होता है तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारणभूत के निरोध से उत्तरोत्तर कार्यभूत का निरोध होता है। अन्त में दुःख का निरोध होता है। इस प्रकार अविद्या, तृष्णा और उपादान रूपी क्लेश-मार्ग का, संस्कार और भवरूपी कर्म-मार्ग का और दुःख-मार्ग का व्यवच्छेद होता है। पर जो मनुष्य असत् में सत् का समारोप करता है, उसकी बुद्धि विपर्यस्त होती है और उसको रागादि क्लेश उत्पन्न होते हैं। इसी से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म ही से जन्म होता है और जन्म के कारण ही जरा, मरण, व्याधि, शोक, परिदेवनादि दुःख उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार केवल महान् दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

प्रज्ञा द्वारा सब धर्मों की निःस्वभावता सिद्ध होती है और प्रत्यवेक्षमाण जगत् स्वप्न-मायादिवत् हो जाता है। तब इस ज्ञान का स्फुरण होता है कि जो प्रत्यय के आधीन है, वह शून्य है। सब धर्म मायोपम है। बुद्ध भी मायोपम हैं। यथार्थ में बुद्धधर्म निःस्वभाव है। सम्यक्-संबुद्धत्व भी मायोपम है। निर्वाण भी मायोपम है। यदि निर्वाण से भी कोई विशिष्टतर धर्म हो तो वह भी मायोपम तथा स्वप्नवत् ही है। जब परमार्थज्ञान की प्राप्ति होती है तब वासनादि निःशेष दोषराशि की विनिवृत्ति होती है। यही प्रज्ञा सब दुःखों के उपशम की हेतु है।

सर्वधर्मशून्यता के स्वीकार करने से लोकव्यवहार असंभव हो जाता है। जब सब कुछ शून्य ही शून्य है, यहां तक कि बुद्धत्व और निर्वाण भी शून्य हैं, तब लोक-व्यवहार कहां से चल सकता है? शून्य का स्वरूप अनिर्वचनीय है, यह अनक्षर है। इसलिए इसका ज्ञान और उपदेश कैसे हो सकता है? शून्यता के संबन्ध में इतना भी कहना कि यह अनक्षर है

अर्थात् वाग्विषयातीत है, मिथ्या है। ऐसा केवल समारोप से ही होता है। जब किसी के संबन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और जब 'शून्यता' शब्द का प्रयोग भी केवल लोक-व्यवहार-सिद्ध है, परन्तु परमार्थ में अलीक और मिथ्या है, तब एक प्रकार से हमारा मुँह ही बन्द हो जाता है और लोक-व्यवहार का अत्यन्त व्यवच्छेद होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सत्यद्वय की व्यवस्था की गयी है—संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य। संवृति-सत्य व्यावहारिक-सत्य है। 'संवृति' उसे कहते हैं जिससे यथाभूत-परिज्ञान का आवरण हो। अविद्या से ही स्वभाव का आवरण होता है और यथावस्थित सांवृत-स्वरूप का उद्‌भावन होता है। अविद्या से ही असत् का सत् में आरोप होता है और वह असत् सत्यवत् प्रतिभात होता है। लोक में यह संवृति दो प्रकार की है :—तथ्य-संवृति और मिथ्या-संवृति। जिस वस्तुजात के ग्रहण में इन्द्रियों का उपघात नहीं होता अर्थात् जिसकी उपलब्धि इन्द्रियों द्वारा बिना किसी दोष के होती है, वह लोक में सत्य प्रतीयमान होता है और उसकी संज्ञा 'तथ्य-संवृति' है। पर मृगतृष्णा के समान जिस वस्तु-जात की इन्द्रियोपलब्धि दोषवती होती है, वह विकल्पित है, और लोक में उसकी संज्ञा 'मिथ्या-संवृति' है। पर दोनों प्रकार के संवृति-सत्य सम्यग्दर्शी के लिये मृषा है, क्योंकि परमार्थ-दशा में संवृति-सत्य भी अलीक और मिथ्या है। परमार्थ-सत्य वह है जिसके द्वारा वस्तु का अकृत्रिम-रूप अवभासित होता है। वस्तु-स्वभाव के अधिगम से आवृति, वासना और क्लेश की हानि होती है।

सब धर्म निःस्वभाव और शून्य हैं। तथता, भूतकोटि, धर्मधातु इत्यादि शून्य के पर्याय हैं। जो रूप दृश्यमान है, वह सत्-स्वभाव का नहीं है, क्योंकि उत्तर काल में उसकी स्थिति नहीं है। जिसका जो स्वभाव होता है, वह कदापि किंचिन्मात्र भी परिवर्तित नहीं होता। उसका स्वरूप अविचलित है; अन्यथा उसकी स्वभावता के नष्ट होने का प्रसंग उपस्थित होगा। उत्पद्यमान वस्तु का न तो कहीं से सत्-स्वरूप में आगम होता है, और न निरोध होने पर उसका कहीं लय होता है। हेतुप्रत्ययसामग्री का आश्रय लेकर ही वस्तु माया के समान उत्पन्न होती है, और हेतुप्रत्ययसामग्री की विकलता से ही सर्व वस्तु-जात का निरोध होता है। जो वस्तु हेतु-प्रत्यय-सामग्री का आश्रय लेकर उत्पन्न होती है; अर्थात् जिसकी उत्पत्ति पराधीन है, उस वस्तु की सत्स्वभावता कहाँ ? यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो हेतु-प्रत्यय-सामग्री से भी किसी पदार्थ की समुत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह सामग्री भी अपर सामग्री-जनित है और उसका आत्म-लाभ भी पराधीन होने के कारण स्वभावरहित है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व सामग्री की निःस्वभावता जाननी चाहिये। जब कार्य कारण के अनुरूप होता है, तब किस प्रकार निःस्वभाव से स्वभाव की उत्पत्ति संभव है ? जो हेतुओं से निर्मित हैं और जो माया से निर्मित हैं, उनके संबन्ध में निरूपण करने से ज्ञात होगा कि वह प्रतिबिम्ब के समान कृत्रिम हैं। जिस प्रकार मुखादि-बिम्ब आदर्श-मण्डल के संनिधान से उसमें प्रतिबिम्बित होता है और यदि उसका अभाव हो तो मुख-बिम्ब का उसमें प्रतिभास न हो, उसी प्रकार जिस वस्तु के रूप की उपलब्धि दूसरे हेतु-प्रत्यय के संनिधान से होती है, अन्यथा नहीं होती; वह वस्तु प्रतिबिम्ब के समान कृत्रिम है। इसलिए यत्किंचित् हेतु-प्रत्ययोपजनित है, वह परमार्थ में असत् है। इस प्रकार शून्य-

धर्मों से शून्य-धर्म ही उत्पन्न होते हैं। भावों की उत्पत्ति स्वतः स्वभाव से नहीं है। उत्पाद के पूर्व वह स्वभाव विद्यमान नहीं है; इसलिए कहाँ से उसकी उत्पत्ति हो ? उत्पन्न होने पर उसका स्वरूप निष्पन्न हो जाता है; फिर क्या उत्पादित किया जाय ? यदि यह कहा जाय कि जात का पुनर्जन्म होता है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि बीज और अंकुर एक नहीं हैं। रूप, रस, वीर्य और विपाक में दोनों भिन्न हैं। अपने स्वभाव से यदि जन्म होता तो किसी की उत्पत्ति ही न होती। स्वभाव और उत्पत्ति इतरेतर-आश्रित हैं। जब तक स्वभाव नहीं होता, तब तक उत्पत्ति नहीं होती; और जब तक उत्पत्ति नहीं होती तब तक स्वभाव नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि स्वतः किसी की उत्पत्ति नहीं होती, परतः भी किसी की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि ऐसा मानने में शालि-बीज से कोद्रवांकुर की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा; अथवा ऐसी अवस्था में सबका जन्म सबसे मानना पड़ेगा, जो दूषित है। यह मानना भी ठीक न होगा कि कार्यकारण का अन्योन्य जन्यजनकभाव नियामक होने से सबकी उत्पत्ति होती है। जब तक कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक यह नहीं बतलाया जा सकता कि इसकी शक्ति किसमें है। और जब कार्य की उत्पत्ति होती है, उस अवस्था में कारण का अभाव होने से यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसकी शक्ति है। कार्य-कारण का जन्यजनकभाव नहीं है, क्योंकि दोनों समान काल में नहीं रहते। कार्यकारण की एक सन्तति मानना भी युक्त नहीं है; क्योंकि कार्य-कारण के बिना सन्तति का अभाव है और कार्य-कारण का एक क्षण भी अवस्थान नहीं है। पूर्वापर क्षण-प्रवाह में सन्तति की कल्पना की गयी है। वास्तव में सन्तति-नियम नहीं है। इस प्रकार सादृश्य भी कोई नियामक नहीं है। अतः परतः भी किसी की उत्पत्ति नहीं होती और उभयतः भी उत्पत्ति नहीं होती। दोनों में से जब प्रत्येक अलग अलग संभव में असमर्थ हैं, तब फिर दोनों मिलकर किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं ? यदि सिकता के एक कण में तैल-दान की सामर्थ्य नहीं है, तो अनेक कण मिलकर भी योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते। अतः उभयतः भी किसी की उत्पत्ति का होना संभव नहीं है। यह भी युक्त नहीं है कि, अहेतुतः उत्पत्ति होती है; क्योंकि ऐसा मानने में भावों के देशकालादि नियम के अभाव का प्रसंग होगा और जो परमार्थ-सत्य की उपलब्धि चाहते हैं, उनके लिए किसी प्रतिनियत उपाय का अनुष्ठान न हो सकेगा।

इसलिए अहेतुतः भाव स्वभाव का प्रतिलाभ नहीं करते। आचार्य नागार्जुन मध्यकमूल (१,१) में कहते हैं—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

जब परिदृश्यमान रूप का सद्भाव विचार करने पर नहीं मालूम पड़ता, तब अनागत आदि की संभावना की क्या कथा ? अतः यह सिद्ध हुआ कि भाव तत्वतः निःस्वभाव हैं। निःस्वभाव ही सब भावों का पारमार्थिक रूप ठहरता है। यह परमार्थ परम प्रयोजनीय है, पर इसमें भी अभिनिवेश न होना चाहिये; क्योंकि भावाभिनिवेश और शून्यताभिनिवेश में कोई विशेषता नहीं है। दोनों ही सांवृत होने के कारण कल्पनात्मक हैं। अभाव का भी कोई

स्वरूप नहीं है, भाव-विकल्प ही सकल विकल्प का प्रधान कारण है। जब उसका निराकरण हुआ, तब सब विकल्प एक ही प्रहार में निरस्त हो जाते हैं।

वस्तुतः न किसी का समुत्पाद है और न समुच्छेद। यदि प्रतीत्य-समुत्पाद के संबन्ध में यह व्यवस्थित है कि वह अनुत्पादादिविशिष्ट है तो, फिर भगवान् ने यह क्यों कहा है कि संस्कार अनित्य हैं, उदय-व्यय उनका धर्म है; वह उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं और उनका उपशम सुखकर है। यदि सब शून्य है, तो सुगति और दुर्गति भी स्वभाव-शून्य है। यदि दुर्गति निःस्वभाव है तो निर्वाण के लिए पुरुषार्थ व्यर्थ है। पर ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। यदि हम परमार्थदृष्टि से विवेचना करें तो दुर्गति स्वभाव-शून्य है। परन्तु लोकदशा में दुर्गति सत्य है। जो यह ज्ञान रखता है कि समस्त वस्तुजात शून्य और प्रपंच-रहित हैं वह संसार में उपलिप्त नहीं होता। उसके लिए न सुगति है, न दुर्गति। वह सुख और दुःख, पाप और पुण्य, दोनों से परे है; किन्तु जिसको यथाभूत-दर्शन नहीं है, वह संसार-चक्र में भ्रमण करता है। यदि तत्वतः सब भाव उत्पाद-निरोध से रहित हैं, केवल कल्पना में जाति-जरा-मरणादि का योग होता है, तो यह महान् विरोध उपस्थित होता है कि सब आवरणों का प्रहाण कर निर्वाण में प्रतिष्ठित बुद्ध भी जन्मादि ग्रहण करें। यदि ऐसा है तो बोधिचर्या का भी कुछ प्रयोजन नहीं है। बोधिचर्या का आश्रय इसलिए लिया जाता है कि इससे सर्व सांसारिक धर्मों की निवृत्ति होती है और सर्वगुणालंकृत बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। यदि बोधिचर्या के ग्रहण से भी सांसारिक धर्म की निवृत्ति न हो, तो उससे क्या लाभ? पर यह भी शंका अयुक्त है। जबतक प्रत्यय-सामग्री है, तबतक माया है; अर्थात् जबतक कारण का विनाश नहीं होता तबतक माया का निवर्तन नहीं होता। पर जब प्रत्यय-हेतु नष्ट हो जाते हैं, तब काल्पनिक व्यवहार में भी सांसारिक धर्म नहीं रहते। प्रत्ययों का समुच्छेद तत्त्वाभ्यास द्वारा अविद्या आदि का निरोध करने से होता है।

अनेक प्रकार की प्रतीत्यता का कारण 'संवृति' है। 'संवृति' का अर्थ है 'आवरण' अर्थात् 'अविद्या का आवरण'। इस आवरण द्वारा यथाभूत-दर्शन नहीं होता किन्तु मृषा-ज्ञान होता है। यह आवरण उसी प्रकार हमको आच्छन्न करता है, जिस प्रकार जन्म होते ही आकाश प्रत्येक ओर से हमको आच्छन्न कर लेता है। संवृति स्वतः सिद्ध है। किसी अन्य प्रकार से इसका उत्पाद नहीं बतलाया जा सकता। स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं, उसका मिथ्यात्व जाग्रत अवस्था में ही अनुभूत होता है। स्वप्नावस्था में किसी प्रमाण द्वारा उसका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार संवृति को मृषा-दर्शन प्रमाणित करने के लिए उन युक्तियों का प्रयोग नहीं हो सकता जो सांवृतिक अवस्था की हैं, केवल परमार्थ-सत्य के अधिगम से ही संवृति-सत्य मृषा सिद्ध हो सकता है। जब तक परमार्थ-सत्य की उपलब्धि नहीं होती, तब तक सब युक्तियाँ संवृति को अप्रामाणिक ठहराने के लिए अपर्याप्त हैं। व्यवहार के लिए संवृति-सत्य की कल्पना की गई है। जबतक लोक है, तबतक संवृति-सत्य लोक का अवितथ रूप है। इस प्रकार सब पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का होता है—सांवृतिक और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है, वह संवृति-सत्य कहलाता है, सम्यग्दर्शी का जो विषय है, वह तत्त्व या परमार्थ-सत्य कहलाता है।

संवृति-सत्य की तो प्रतीति होती है, क्योंकि हमारी बुद्धि अविद्या के अन्धकार से आवृत है। अविद्या से उपप्लुत होने के कारण चित्त का स्वभाव अविद्यायुक्त हो जाता है; इसलिए संवृति-सत्य की प्रतीति होती है। पर यह नहीं ज्ञात है कि परमार्थ-सत्य का क्या स्वरूप और लक्षण है। परमार्थ-सत्य ज्ञान का विषय नहीं है। वह सर्वज्ञान का अतिक्रमण करता है। वह किसी प्रकार बुद्धि का विषय नहीं हो सकता, तथापि कहा जा सकता है कि परमार्थ-तत्त्व सर्व-प्रपंच-विनिर्मुक्त है, इसलिए सर्वोपाधि से शून्य है। जो सर्वोपाधि-शून्य है, वह कैसे कल्पना द्वारा जाना जा सकता है? उसका स्वरूप कल्पना के अतीत है और शब्दों का विषय नहीं है। वहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती। यद्यपि सकल विकल्प की हानि होने से परमार्थ-तत्त्व का प्रतिपादन नहीं हो सकता, तथापि संवृति का आश्रय लेकर शास्त्र में यत्किंचित् निदर्शनोपदर्शन किया जाता है। वास्तव में तत्त्व अवाच्य हैं, पर दृष्टान्त द्वारा कथंचित् शास्त्र में वर्णित हैं। बिना व्यवहार का आश्रय लिए परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता और बिना परमार्थ के अधिगत किए निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। आचार्य नागार्जुन ने कहा है—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥ [मध्यमकमूल, २४।१०]

आर्य ही परमार्थ-सत्य की उपलब्धि करते हैं। इसमें उनकी संवित् ही प्रमाण है।

सत्य-द्वय की व्यवस्था होने से तदधिकृत लोग भी दो श्रेणी के हैं—१. योगी, २. प्राकृतिक। योग समाधि को कहते हैं। सब धर्मों का अनुपलंभ अर्थात् सर्वधर्मशून्यता ही इस समाधि का लक्षण है। योगी तत्त्व को यथारूप देखता है। प्राकृतिक वह है जो प्रकृति अर्थात् अविद्या से आवृत है। वह वस्तु-तत्व को विपरीत-भाव से देखता है। प्राकृत ज्ञान भ्रान्त है। जिन रूपादिकों का स्वरूप सर्वजन-प्रतिपन्न है, वह भी योगियों की दृष्टि में स्वभाव-रहित है। यद्यपि वस्तुतत्त्व यही है कि सब भाव निःस्वभाव हैं, तथापि दानादि पारमिता का आदरपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। यद्यपि दानादि वस्तुतः स्वभाव-रहित हैं तथापि परमार्थ-तत्व के अधिगम के लिए सब सत्वों पर करुणा कर बोधिसत्व को इनका उपादान नितान्त प्रयोजनीय है। मार्गा-भ्यास करने से समलावस्था से निर्मलावस्था और सविकल्पावस्था से निर्विकल्पावस्था उत्पन्न होती है। मध्यमकावतार [६।८०] में कहा है—

उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।

अर्थात् व्यवहार-सत्य उपाय अथवा हेतुरूप है और परमार्थसत्य उपेय अथवा फलस्वरूप है। दानादिपारमिता-रूपी उपाय द्वारा परमार्थ-तत्त्व का लाभ है।

बोधिसत्व की उत्कृष्टतम साधना प्रज्ञापारमिता की है। 'प्रज्ञापारमिता' और 'धर्मधातु' पर्याय हैं। इनके आदर के लिये बौद्धग्रन्थों में प्रज्ञापारमिता तथा धर्मधातु के पूर्व भगवती और भगवान् विशेषण लगाते हैं। किन्तु तत्त्व का यह अभिधान भी संवृति-सत्य के उपादान से ही है (संवृति-सत्यमुपादायाभिधीयते; बोध० पं० पृ० ४२१)।

बोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र[1] में प्रज्ञापारमिता को सर्वधर्ममुद्रालक्षण या अक्षयामुद्रा कहा है। उनके अनुसार प्रज्ञापारमिता मुद्रालक्षण नहीं है। वह सत्य, भूत, प्रज्ञोपाय है। बोधिसत्व का चित्त इस प्रकार प्रज्ञा की भावना करने से, धर्मता के परिशुद्ध होने से शान्त हो जाता है और उसकी प्रज्ञापारमिता पूरी होती है।

इस प्रकार षट्पारमिता के अधिगत होने से बोधिसत्व की साधना फलवती होती है।

---

1. 'अपि नाम कश्चन धर्मो योऽक्षलक्षणो नामेत्युच्यते सर्वधर्ममुद्राक्षयामुद्रा। आसु मुद्रासु न मुद्रालक्षणमित्युच्यते सत्यं भूतं प्रज्ञोपायः प्रज्ञापारमिता।......बोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्य प्रज्ञां भावयतो न चित्तं चरति धर्मतायाः परिशुद्धत्वात्। एवं पूरयति प्रज्ञापारमिताम्।' [बो० चि० सू० शा० पृ० २७]

तृतीय खण्ड

बौद्ध-दर्शन के सामान्य सिद्धान्त

एकादश अध्याय

बौद्ध-दर्शन की भूमिका

भारत के जितने दर्शन हैं, उनका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इस अर्थ में सब दर्शन मोक्ष-शास्त्र हैं। विज्ञानभिक्षु सांख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका में लिखते हैं कि मोक्ष-शास्त्र चिकित्सा-शास्त्र के समान चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार रोग, आरोग्य, रोग का निदान और औषध यह चार व्यूह चिकित्सा-शास्त्र के प्रतिपाद्य हैं, उसी प्रकार हेय, हान, हेय-हेतु और हानोपाय यह चार मोक्ष-शास्त्र के प्रतिपाद्य हैं। त्रिविध दुःख 'हेय' है; उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति 'हान' है; अविद्या 'हेय-हेतु' है और तत्वज्ञान 'हानोपाय' है। यही चार व्यूह पातञ्जल योग-सूत्र में भी पाए जाते हैं। किन्तु न्याय-शास्त्र में हेय-हेतु को हेय के अन्तर्भूत माना है; 'हान' को तत्वज्ञान बताया है और 'उपाय' शास्त्र है। न्याय-शास्त्र में इनको अर्थ-पद कहा है। वाचस्पति-मिश्र (तात्पर्यटीका) के अनुसार अर्थ-पद का अर्थ पुरुषार्थ का स्थान है। वार्त्तिककार कहते हैं कि सब अध्यात्म विद्याओं में सब आचार्य इन चार अर्थ-पदों का वर्णन करते हैं। न्याय की परिभाषा में यह चार अर्थ-पद इस प्रकार हैं:—१. हेय, अर्थात् दुःख और उसका निर्वर्तक (उत्पादक) अर्थात् दुःख-हेतु; २. आत्यन्तिक-हान, अर्थात् दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष का कारण अर्थात् तत्वज्ञान; ३. उसका उपाय (शास्त्र); ४. अधिगन्तव्य, अर्थात् लभ्य मोक्ष (१,१,१ पर न्याय-भाष्य)। इसी प्रकार बौद्धदर्शन की चतुःसूत्री है। यह चार आर्य-सत्य हैं:— दुःख, दुःख-हेतु, दुःखनिरोध, और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्ति (मार्ग)।

सांख्य-शास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग द्वारा जो अविवेक होता है, वह दुःख का हेतु है और विवेक-ख्याति अर्थात् तत्वज्ञान ही दुःख-निवृत्ति का उपाय है; क्योंकि इस शास्त्र में संख्या के सम्यग्-विवेक से आत्मा का वर्णन है, इसलिए इसे सांख्य-शास्त्र कहते हैं। न्याय के अनुसार दुःख के अपाय से अर्थात् आसव-विमुक्ति से निःश्रेयस् की सिद्धि होती है। इसमें उपात्त-जन्म का त्याग और अपर-जन्म का अग्रहण होता है। इस अपर्यन्त अवस्था को अपवर्ग कहते हैं। प्रमाणादि षोडश पदार्थ का तत्वज्ञान मोक्ष का कारण बताया गया है। इन पदार्थों में से प्रमेय पदार्थ का तत्वज्ञान ही मोक्ष-लाभ का साक्षात् कारण है। शेष १५ पदार्थों का तत्वज्ञान प्रमेय-तत्वज्ञान का संपादक और रक्षक है। यह तत्वज्ञान मोक्ष-लाभ का पारम्पर्येण कारण है। संसार का बीज मिथ्याज्ञान है। इसका उच्छेद करके ही तत्वज्ञान मोक्ष का कारण होता है। अनात्म में आत्म-ग्रह मिथ्या-ज्ञान है। 'मैं हूँ' इस प्रकार का मोह, अहंकार अर्थात् अनात्मा को (देहादि को) आत्मा के रूप में देखना यह दृष्टिअहंकार है। शरीर,

इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि यह पदार्थ-समूह (अर्थ-जात) है, जिसके विषय में अहंकार होता है। जीव शरीरादि पदार्थ-समूह को 'मैं हूँ' यह निश्चित कर शरीरादि के उच्छेद को आत्मोच्छेद मानता है। वह शरीरादि की चिर-स्थिति के लिए व्याकुल होता है और बार बार उसका ग्रहण करता है। उसका ग्रहण कर जन्म-मरण के निमित्त यत्नशील होता है।

किन्तु जो दुःख को, दुःखायतन को तथा दुःखानुषक्त सुख को देखता है कि यह सब दुःख है (सर्वमिदं दुःखमिति पश्यति), वह दुःख की परिज्ञा करता है। परिज्ञात दुःख प्रहीण होता है। इस प्रकार वह दोषों को और कर्म को दुःख-हेतु के रूप में देखता है; तथा दोषों का प्रहाण करता है। दोषों के प्रहीण होने पर पुनर्जन्म के लिये प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार प्रमेयों का चतुर्विध विभाग कर अभ्यास करने से सम्यग्-दर्शन अर्थात् यथार्थभूत अवबोध या तत्वज्ञान की उत्पत्ति होती है।

वैशेषिकशास्त्र में पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस् की सिद्धि होती है। वैशेषिकशास्त्र के अनुसार [१,१,४] यह तत्वज्ञान द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान से उत्पन्न होता है। साधर्म्य, समान-धर्म; और वैधर्म्य, विरुद्ध-धर्म है; अर्थात् पदार्थों के सामान्य और विशेष लक्षण (अनुगत-धर्म, व्यावृत्त-धर्म) के ज्ञान से तत्वज्ञान होता है।

सब मोक्षशास्त्रों में तत्व-साक्षात्कार के लिए योगाभ्यास का प्रयोजन बताया गया है। न्यायदर्शन[1] में कहा है, कि योगाभ्यास के कारण तत्वबुद्धि उत्पन्न होती है। यम-नियम द्वारा तथा योगशास्त्र विहित अध्यात्मविधि और उपाय-समूह द्वारा आत्मसंस्कार करना चाहिये[2]। योगाभ्यास-जनित जो धर्म है, वह जन्मान्तर में भी अनुवर्तन करता है। तत्वज्ञान के निमित्त यह धर्म वृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है (प्रचयकाष्ठागतः), और उसकी सहायता से किसी जन्म में समाधि-प्रयत्न प्रकृष्ट होता है, तब समाधि-विशेष उत्पन्न होता है। उससे तत्व-ज्ञान का लाभ होता है। वैशेषिकशास्त्र में कहा है कि आत्म-प्रत्यक्ष योगियों को होता है तथा आत्म-कर्म से मोक्ष होता है [६,२,१६]। यह न्याय का आत्म-संस्कार है। शङ्करमिश्र ने उपस्कार में कहा है कि आत्मकर्म, श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम, और शम-दम है। योग योग-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इस कारण न्याय-वैशेषिक में संकेत मात्र किया है कि तन्त्रान्तर से इस आत्मकर्म की प्रतिपत्ति होती है। वेदान्त में कहा है कि सूक्ष्मदर्शी योगी प्रज्ञान द्वारा आत्मा को जान सकता है।

इसी प्रकार बौद्ध-धर्म में भी तत्व-ज्ञान के लिए योग का प्रयोजन बताया गया है। बौद्ध ईश्वर और आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, तथापि उनका भी यही प्रयोजन है कि दुःख से अत्यन्त निवृत्ति हो और निर्वाण का लाभ हो। योग का उपाय सबको समान रूप से स्वीकृत है।

---

१. समाधिविशेषाभ्यासात् [न्याय० ४।२।३८]।

२. तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः [न्याय० ४।२।४६]।

बौद्धों के अनुसार आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। जिस प्रकार 'रथ' नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वह शब्दमात्र है; परमार्थ में अंग-संभार है। उसी प्रकार आत्मा, सत्व, जीव, नामरूप-मात्र (स्कन्ध-पंचक) है। वह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नहीं है। बौद्ध अनीश्वरवादी और अनात्मवादी हैं। सर्वास्तिवादी सत्स्वभाववादी तथा बहुधर्मवादी हैं; किन्तु वह कोई शाश्वत पदार्थ नहीं मानते। उनके द्रव्य सत् हैं,किन्तु क्षणिक हैं। यह द्रव्य चैत्त और रूपी-धर्म हैं। बौद्ध-सिद्धान्त में किसी मूल कारण की व्यवस्था नहीं है। वह नहीं मानते कि ईश्वर महादेव या वासुदेव,पुरुष, प्रधानादिक किसी एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति होती है। यदि भावों की उत्पत्ति एक कारण से होती तो सर्व जगत् की उत्पत्ति युगपत् होती; किन्तु हम देखते हैं कि भावों का क्रम संभव है।

बौद्ध-दर्शन चार हैं:—सर्वास्तिवाद (वैभाषिक), सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद (योगाचार), और माध्यमिक (शून्यवाद)। सर्वास्तिवाद के अनुसार बाह्य-जगत् प्रत्यक्ष का विषय है। वह प्रकृति और मन की स्वतन्त्र सत्ता मानता है। प्रकृति की प्रत्यक्ष उपलब्धि मन से होती है। सौत्रान्तिक भी बाह्य-जगत् की सत्ता मानते हैं; किन्तु उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। बाह्य वस्तुओं के बिना पदार्थों का मन में अवभास नहीं होता, इसलिए हम बाह्य वस्तुओं की सत्ता का अनुमान करते हैं। यह दोनों मतवाद बहुस्वभाववादी हैं। विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान के समस्त विषय मन के विकल्प हैं। इस वाद में त्रैधातुक को चित्त-मात्र व्यवस्थापित किया है। इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध होता है। रूपादि अर्थ के बिना ही रूपादि विज्ञप्ति उत्पन्न होती है। यह विज्ञान ही है (चित्त, मनस् , विज्ञान और विज्ञप्ति पर्याय हैं), जो अर्थ के रूप में अवभासित होता है। वस्तुतः अर्थ असत् है। यह वैसे ही है जैसे तिमिर का एक रोगी असत्-कल्प केश-चन्द्रादि का दर्शन करता है। अर्थ की सत्ता नहीं है। माध्यमिक (शून्यवादी) ग्राह्य-ग्राहक दोनों की सत्ता का प्रत्याख्यान करते हैं और इनके परे शून्य तक जाते हैं, जो ज्ञानातीत है। विज्ञानवादी दोनों को अयथार्थ मतवाद मानते हैं, और दोनों से व्यावृत्त होते हैं। सर्वास्तिवादी विज्ञान और विज्ञेय दोनों को द्रव्यसत् मानते हैं। शून्यवादी विज्ञान और विज्ञेय दोनों का परमार्थतः अस्तित्व नहीं मानते, केवल संवृतितः मानते हैं। विज्ञानवादी केवल चित्त, विज्ञान को द्रव्यसत् मानते हैं, और जो विविध आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रचलित हैं, उनको वे मिथ्योपचार मानते हैं। उनके अनुसार परिकल्पित आत्मा और धर्म विज्ञान और विज्ञप्ति के परिणाममात्र हैं; चित्त-चैत्त एकमात्र वस्तु-सत् हैं।

पूर्व इसके कि हम विविध दर्शनों का विस्तार पूर्वक वर्णन करें; हम उन वादों का व्याख्यान करना चाहते हैं जो सभी बौद्ध-प्रस्थानों को मान्य है। बौद्ध-दर्शन को समझने के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद-वाद, क्षणभंग-वाद, अनीश्वर-वाद तथा अनात्म-वाद का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। अगले अध्याय में हम इनका वर्णन करेंगे और तदनन्तर कर्म-वाद एवं निर्वाण सम्बन्धी विभिन्न बौद्ध-सिद्धांतों का विवेचन करेंगे।

———

द्वादश अध्याय

प्रतीत्य-समुत्पाद-वाद

यह हेतु-प्रत्ययता का वाद है। इसके होने पर, इस हेतु, इस प्रत्यय से; वह होता है। इसके उत्पाद से, उसका उत्पाद होता है। इसके न होने पर वह नहीं होता; इसके निरोध से वह निरुद्ध होता है; यह हेतु-फल-परम्परा है। इसको प्रत्ययाकार (पच्चयाकार) निदान भी कहते हैं। इस वाद का संबन्ध अनित्यता और अनात्मता के सिद्धान्त से भी है। कोई वस्तु शाश्वत नहीं है, सब धर्म क्षणिक हैं और हेतु-प्रत्यय-जनित हैं।

स्थविर-वाद में 'हेतु' तीन दोष हैं—राग, द्वेष, मोह। ये चित्त की अवस्थाओं को अभिसंस्कृत करते हैं। अतः ये अवस्थाएँ सहेतुक कहलाती हैं। इसके विपक्षभूत प्रत्यय (पच्चय) धर्मों का विविध संबन्ध है। जो धर्म जिसकी उत्पत्ति में या निर्वृति में उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है।

सर्वास्तिवाद में हेतु प्रधान कारण है और प्रत्यय उपकारक धर्म है, यथा बीज का भूमि में आरोपण होता है। बीज हेतु है, भूमि, उदक, तथा सूर्य प्रत्यय हैं; वृक्ष, फल है। स्थविरवाद में चौबीस प्रत्यय हैं और सर्वास्तिवाद में चार प्रत्यय, छः हेतु और पाँच फल हैं।

कर्मवाद के साथ प्रतीत्य-समुत्पाद का घनिष्ठ संबन्ध है। कर्म कर्मफल को भी कहते हैं, यथा कहते हैं कि उसका शुभ या अशुभ कर्म उसकी प्रतीक्षा करता है। पुण्य-अपुण्य के विपाक के संबन्ध में कर्म से हेतु-फल-व्यवस्था अभिप्रेत है। प्राचीन काल में स्थविरवादियों में कर्म और प्रतीत्य-समुत्पाद में भेद किया जाता था। फल की अभिनिर्वृति में कर्म केवल एक प्रकार का हेतु था। कर्म के अतिरिक्त दुःख के उत्पाद में अन्य भी हेतु हैं। अभिधम्मत्थ-संगहो के अनुसार चित्त, आहार और ऋतु के अतिरिक्त कर्म भी रूप के चार प्रत्ययों में से एक है। अभिधर्मकोश में लोक-धातु के विवृत होने में सत्वों के कर्म-समुदाय को हेतु माना है। महायान के अनुसार लोक की उत्पत्ति कर्म से है।

यह हेतुप्रत्ययवाद देश, काल और विषय के प्रति सामान्य है। असंख्य लोक-धातुओं को, देवलोकों को, और नरकों को यह हेतु-फल-संबन्ध-व्यवस्था लागू है। यह व्यवस्था त्रिकाल को भी लागू है। असंस्कृत धर्मों को छोड़ कर यह सर्व संस्कृत धर्मों पर भी लागू है। अतः भव-चक्र अनादि है। यदि आदि हो तो आदि का अहेतुकत्व मानना होगा और यदि किसी एक धर्म की उत्पत्ति अहेतुक होती है तो सब धर्मों की उत्पत्ति अहेतुक होगी। किन्तु देश और काल के प्रतिनियम से यह देखा जाता है कि बीज अंकुर का उत्पाद करता है, अग्नि पाकज का उत्पाद करती है। अतः कोई प्रादुर्भाव अहेतुक नहीं है। दूसरी ओर नित्य-

कारणास्तित्ववाद भी सिद्ध नहीं होता। किन्तु हेतु-प्रत्यय का विनाश हो तो हेतु-प्रत्यय से अभिनिर्वृति या उत्पत्ति नहीं होगी; यथाः—बीज के दग्ध होने से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश, पुनः अन्य कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, इस प्रकार भव-चक्र का अनादित्व सिद्ध होता है।

यह स्कन्ध-सन्तति तीन भवों में वृद्धि को प्राप्त होती है। यह प्रतीत्य-समुत्पाद है, जिसके बारह अंग और तीन काण्ड हैं। पूर्वकाण्ड के दो, अपरान्त के दो और मध्य के आठ अंग हैं। बारह अंग ये हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण। ये तीन काण्डों में विभक्त हैं—अविद्या और संस्कार अतीत में, पूर्व-भव में; जाति, और जरा-मरण अपर-भव में; शेष आठ अंग प्रत्युत्पन्न-भव में।

हमारा यह मत नहीं है कि मध्य के आठ अंग सब सत्वों के प्रत्युत्पन्न-भव में सदा पाए जाते हैं। यह 'परिपूरिन्' सत्व के अभिप्राय से है, जो सब अंगभूत अवस्थाओं से होकर गुजरता है। जिसका अकाल-मरण होता है; यथा—जिसका मरण गर्भावस्था में होता है, वह सत्व 'परिपूरिन्' नहीं है। इसी प्रकार रूपावचर और आरूप्यावचर सत्व भी 'परिपूरिन्' नहीं है।

हम प्रतीत्य-समुत्पाद को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं : पूर्वान्त (अतीत-भव, १–२ अपने फल के साथ, ३–७) और अपरान्त (अनागत-भव के हेतु, ८–१० और अनागत-भव, ११–१२ के साथ)। प्रतीत्य-समुत्पाद की इस कल्पना में जो विविध अंग हैं, उनका हम वर्णन करते हैं।

अविद्या पूर्व-जन्म की क्लेश-दशा है। अविद्या से केवल अविद्या अभिप्रेत नहीं है, न क्लेश-समुदाय, 'सर्व-क्लेश' ही अभिप्रेत है। किन्तु पूर्व-जन्म की सन्तति (स्वपंच-स्कन्धों के सहित) अभिप्रेत है; जो क्लेशावस्था में होती है। वस्तुतः सर्व-क्लेश अविद्या के सहचारी होते हैं और अविद्या-वश उनका समुदाचार होता है; यथा—राजागमन वचन से उनके अनुयायिओं का आगमन भी सिद्ध होता है।

संस्कार पूर्व-जन्म की कर्मावस्था है। पूर्व-भव की सन्तति पुण्य अपुण्यादि कर्म करती है। यह पुण्यादि कर्मावस्था संस्कार है।

विज्ञान प्रतिसन्धि-स्कन्ध है। प्रतिसन्धि-क्षण या उपपत्ति-भव-क्षण में कुक्षि-गत ५ स्कन्ध विज्ञान है।

नाम-रूप विज्ञान-क्षण से लेकर षडायतन की उत्पत्ति तक की अवस्था है।

षडायतन स्पर्श के पूर्व के पाँच स्कन्ध हैं। इन्द्रियों के प्रादुर्भाव काल से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के संनिपात काल तक षडायतन है।

स्पर्श सुख-दुःखादि के कारण-ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है। यावत बालक सुख-दुःखादि को परिच्छिन्न करने में समर्थ नहीं होता तब तक की अवस्था स्पर्श कहलाती है।

वेदना यावत् मैथुन-राग का समुदाचार नहीं होता तब तक की अवस्था है। इस अवस्था को वेदना कहते हैं, क्योंकि वहाँ वेदना के कारणों का प्रतिसंवेदन होता है। अतः यह वेदना प्रकर्षिणी अवस्था है।

तृष्णा भोग और मैथुन की कामना करने वाले पुद्गल की अवस्था है। रूपादि काम-गुण और मैथुन के प्रति राग का समुदाचार होता है। यह तृष्णा की अवस्था है। इसका अन्त तब होता है, जब इस राग के प्रभाव से पुद्गल भोगों की पर्येष्टि आरंभ करता है।

उपादान का तृष्णा से भेद है। यह उस पुद्गल की अवस्था है जो भोगों की पर्येष्टि में दौड़ता-धूपता है। अथवा उपादान चतुर्विध क्लेश है। उस अवस्था को उपादान कहते हैं, जिसमें इस चतुर्विध क्लेश का समुदाचार हो।

इस प्रकार प्रधावित होकर वह कर्म करता है, जिनका फल अनागत-भव है। इस कर्म को **भव** कहते हैं। क्योंकि उसके कारण भव होता है (भवत्यनेन)। भोगों की पर्येष्टि में कृत और उपचित कर्म पौनर्भविक हैं। जिस अवस्था में पुद्गल कर्म करता है वह भव है।

जाति पुनः-प्रतिसन्धि है। मरण के अनन्तर प्रति-सन्धि-काल के पंच-स्कन्ध जाति हैं। प्रत्युत्पन्न-भव की समीक्षा में जिस अंग को विज्ञान का नाम देते हैं, उसे अनागत-भव की समीक्षा में जाति की संज्ञा मिलती है।

जाति से वेदना तक **जरा-मरण** है। प्रत्युत्पन्न-भव के चार अंग—नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना—अनागत-भव के संबन्ध में जरा-मरण कहलाते हैं। यह बारहवाँ अंग है।

विभिन्न दृष्टियों से प्रतीत्य-समुत्पाद चतुर्विध है। क्षणिक, प्राकर्षिक (अनेक-क्षणिक या अनेक-जन्मिक), सांबन्धिक (हेतु-फल-संबन्ध-युक्त) और आवस्थिक (पंच स्कन्धिक १२ अवस्थाएँ)।

प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणिक कैसे है ?

जिस क्षण में क्लेश-पर्यवस्थित पुद्गल प्राणातिपात करता है, उस क्षण में द्वादश अंग परिपूर्ण होते हैं। १. उसका मोह अविद्या है, २. उसकी चेतना संस्कार है, ३. उसके आलम्बन-विशेष का स्पष्ट विज्ञान है, ४. विज्ञान-सहभू चार-स्कन्ध नाम रूप हैं (मत-विशेष से तीन स्कन्ध), ५. नाम-रूप में व्यवस्थित इन्द्रिय षडायतन है, ६. षडायतन का अभिनिपात स्पर्श है (चक्षु का अभिनिपात उसकी रूप में प्रवृत्ति है।) ७. स्पर्श का अनुभव वेदना है, ८. राग तृष्णा है, ९. तृष्णा संप्रयुक्त पर्यवस्थान (अह्री आदि पर्यवस्थान हैं) उपादान है, १०. वेदना या तृष्णा से समुत्थित काय या वाक्-कर्म भव है, ११. इन सब धर्मों का उन्मज्जन, उत्पाद जाति है, १२. इनका परिपाक जरा है; इनका भंग मरण है।

पुनः कहा है कि प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणिक और सांबन्धिक है। आवस्थिक प्रतीत्य-समुत्पाद पंच-स्कन्धिक बारह अवस्थाएँ हैं। तीन निरन्तर जन्मों में संबद्ध होने से यह प्राकर्षिक भी है। अतः यह प्रश्न उठता है कि द्वादशांग-सूत्र में भगवान् का अभिप्राय इन चार में से किस प्रकार के प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना देने का है।

वैभाषिक सिद्धान्त के अनुसार आवस्थिक इष्ट है। किन्तु यदि प्रत्येक धर्म पंच-स्कन्ध का समूह है तो अविद्यादि प्रज्ञप्तियों का क्यों व्यवहार होता है? अंगों का नाम-कीर्तन उस धर्म, के नाम से होता है, जिसका वहाँ प्राधान्य है। जिस अवस्था में अविद्या का प्राधान्य है, वह अविद्या कहलाती है। अन्य अंगों की भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिये। यद्यपि सब अंगों का एक ही स्वभाव हो तथापि इस प्रकार विवेचन करने में कोई दोष नहीं है।

प्रकरण कहते हैं कि प्रतीत्य-समुत्पाद सब संस्कृत धर्म हैं। फिर सूत्र में प्रतीत्य-समुत्पाद का लक्षण बारह अङ्गों की सन्तति के रूप में क्यों है? सूत्र की देशना आभिप्रायिक है, और अभिधर्म में लक्षणों की देशना है। एक ओर प्रतीत्य-समुत्पाद आवस्थिक, प्राकर्षिक, और सत्त्वाख्य है। दूसरी ओर वह क्षणिक, सांबन्धिक, सत्त्वासत्त्वाख्य है।

सूत्र की देशना सत्त्वाख्य प्रतीत्य-समुत्पाद की ही क्यों है? पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के प्रति संमोह की विनिवृत्ति के लिए। इस हेतु से सूत्र त्रिकाण्ड में प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना देता है। जब कोई पूछता है कि—"क्या मैं अतीत अध्व में था? क्या मैं नहीं था? मैं कैसे और कब था"? यह पूर्वान्त का संमोह है। "क्या मैं अनागत अध्व में होऊँगा ··· ···" यह अपरान्त का संमोह है।" यह क्या है? यह कैसे है? हम कौन हैं? हम क्या होंगे? यह मध्य का संमोह है। यह त्रिविध संमोह अविद्या······ जरा-मरण के यथा-क्रम उपदेश से विनष्ट होता है।

यह द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद त्रिविध है:—क्लेश, कर्म और वस्तु। अविद्या, तृष्णा और उपादान ये तीन अंग क्लेश-स्वभाव हैं। संस्कार और भव कर्म-स्वभाव हैं। विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति, जरा-मरण, वस्तु हैं। इनको वस्तु इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये क्लेश और कर्म के आश्रय, अधिष्ठान हैं।

प्रतीत्य-समुत्पाद द्विविध भी है:—हेतु और फल। जो अंग वस्तु है, वह फल भी है। शेष जो वस्तु नहीं है, हेतुभूत है। क्योंकि वह कर्म-क्लेश-स्वभाव है।

विशुद्धिमार्ग [४१०] में क्लेश, कर्म और वस्तु को तीन वर्त्म (=वट्ट) कहा है:—क्लेश-वर्त्म, कर्म-वर्त्म, विपाक-वर्त्म। यहाँ तृतीय वर्त्म का लक्षण विपाक (=फल या वस्तु) है। इस भवचक्र के तीन वर्त्म हैं। इसका पुनः पुनः प्रवर्तन होता रहता है।

प्रत्युत्पन्न-भव के काण्ड में हेतु और फल का व्याख्यान विस्तार से क्यों है? क्लेश के दो अंग, कर्म के दो अंग, और वस्तु के पाँच अंग। जब कि अतीत और अनागत अध्व के लिए ऐसा व्याख्यान नहीं है। अनागत अध्व के फल को संक्षिप्त किया है। इसके दो अंग हैं।

इसका कारण यह है कि प्रत्युत्पन्न-भव के क्लेश-कर्म और वस्तु के निरूपण से अतीत और अनागत अध्व के हेतु-फल का सम्पूर्ण निर्देश ज्ञापित होता है। अतः यह वर्णन निष्प्रयोजनीय है।

किन्तु यह कहा जायगा कि यदि प्रतीत्य-समुत्पाद के केवल बारह अंग हैं तो संसरण की आदि कोटि होगी; क्योंकि अविद्या का हेतु निर्दिष्ट नहीं है। संसरण की अन्त कोटि होगी; क्योंकि जरा-मरण का फल निर्दिष्ट नहीं है। अतः नये अंग जोड़ना चाहिये। नहीं,

क्योंकि यह मालूम होता है कि भगवान् ने अविद्या के हेतु और जरा-मरण के फल को ज्ञापित किया है। क्लेश से अन्य क्लेश की उत्पत्ति होती है; यथा—तृष्णा से उपादान। क्लेश से कर्म की उत्पत्ति होती है; यथा—संस्कारों से विज्ञान, भव से जाति। वस्तु से वस्तु की उत्पत्ति होती है; यथा—विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से षडायतन इत्यादि। वस्तु से क्लेश की उत्पत्ति होती है; यथा—वेदना से तृष्णा। अंगों का यह नय है। यह स्पष्ट है कि अविद्या का हेतु क्लेश या वस्तु है। यह स्पष्ट है कि जरा-मरण (विज्ञान से वेदना पर्यन्त शेष वस्तु) का फल क्लेश है। एक सूत्र (सहेतु-सप्रत्यय-सनिदान-सूत्र) में कहा है कि अविद्या का हेतु 'अयोनिशोमनसिकार' है। एक दूसरे सूत्र में कहा है कि अयोनिशोमनसिकार का हेतु अविद्या है। अतः अविद्या निर्हेतुक नहीं है और अंगान्तर के उपसंख्यान का भी कोई स्थान नहीं है। अनवस्था-प्रसंग भी नहीं है, क्योंकि अयोनिशोमनसिकार जो अविद्या का हेतु है, स्वयं मोह-संज्ञा से प्रज्ञप्त अविद्या से उत्पन्न होता है। [1]विशुद्धिमग्गो में अविद्या की आदिकोटिता के सम्बन्ध में विचार किया है।

इस प्रकार अंगों का निर्देश परिपूर्ण है। वस्तुतः सन्देह इस पक्ष के जानने में है कि इहलोक परलोक से कैसे संबन्धित होता है, परलोक इहलोक से कैसे संबन्धित होता है? सूत्र को केवल इतना ही अर्थ विवक्षित है। इस अर्थ को पूर्व ही कहा है—"पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के संमोह की विनिर्वृति के लिए"।

---

१. विशुद्धिमग्गो, ३६८—अविद्या को आदि में क्यों कहा? क्या प्रकृतिवादियों की प्रकृति के समान अविद्या भी लोक का मूल कारण है और स्वयं अकारण है? यह अकारण नहीं है; क्योंकि सूत्र [मज्झिम० १।५४] में कहा है कि—अविद्या का कारण आस्रव है (आसवसमुदया अविज्जासमुदयो)। किन्तु एक पर्याय है। जिससे अविद्या मूल कारण हो सकती है। अविद्या वर्त्म-कथा के शीर्ष में है। भगवान् वर्त्म-कथा के कहने में दो धर्मों का शीर्षभाव बताते हैं। अविद्या और भव-तृष्णा। "हे भिक्षुओ! अविद्या की पूर्व-कोटि नहीं जानी जाती। हम यह नहीं कह सकते कि इसके पूर्व अविद्या न थी और पश्चात् हुई। हम केवल यह कह सकते हैं कि अमुक प्रत्ययवश अविद्या उत्पन्न होती है।" पुनः भगवान् कहते हैं—"भव-तृष्णा की पूर्व-कोटि नहीं जानी जाती। केवल इतना कह सकते हैं कि इस प्रत्यय के कारण भव-तृष्णा होती है।" [अं० ५।११३, ११६] इन दो धर्मों को शीर्षस्थान इसलिए देते हैं, क्योंकि यह दो सुगतिगामी और दुर्गतिगामी कर्म के विशेष हेतु हैं। दुर्गतिगामी कर्म का विशेष हेतु अविद्या है, क्योंकि अविद्या से अभिभूत पृथग्जन प्राणातिपातादि अनेक प्रकार के दुर्गतिगामी कर्म का आरंभ करता है। सुगतिगामी कर्म का विशेष हेतु भव-तृष्णा है, क्योंकि इससे अभिभूत पृथग्जन सुगति की प्राप्ति के लिए सुगतिगामी अनेक कर्म करता है। कहीं एक धर्म-मूलक देशना है, कहीं उभयमूलक है।

सूत्र में कहा है—"भिक्षुओ ! मैं तुम्हें प्रतीत्य-समुत्पाद और प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों की देशना दूँगा"।

प्रतीत्य-समुत्पाद और इन धर्मों में क्या भेद है ?

अभिधर्म के अनुसार कोई भेद नहीं है। उभय का लक्षण एक ही है। प्रकरणों में कहा है—"प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है ? सर्व संस्कृत धर्म। प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्म क्या है ? सर्व संस्कृत धर्म"। सर्व संस्कृत धर्म त्रैयध्विक हैं। अनागत धर्म और अतीत तथा प्रत्युत्पन्न संस्कृत धर्मों के एकजातीय होने से इसकी युक्तता कही जाती है। यथा अनागत रूप 'रूप' कहलाता है। क्योंकि वह रूप्यमाण रूप की जाति का है। किन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद और प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों में विशेष करने में सूत्र का क्या अभिप्राय है ? समुत्पाद हेतु है। समुत्पन्न फल है, जो अंग हेतु है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद है; क्योंकि उससे उत्पाद होता है। जो अंग फल है; वह प्रतीत्य-समुत्पन्न है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। किन्तु वह प्रतीत्य-समुत्पाद भी है, क्योंकि इससे समुत्पाद भी होता है, और सब अंगों का हेतु-फल-भाव भी है; अतः वह एक ही काल में दोनों है।

निकायान्तरीय (आर्य महीशासक, विभाषा २३) व्याख्या के अनुसार विभज्यवादिन् ('समयभेद' के अनुसार महासांघिक) का मत है कि प्रतीत्य-समुत्पाद असंस्कृत है; क्योंकि [1]सूत्र-वचन है—"तथागतों का उत्पाद हो या न हो धर्मों की यह धर्मता स्थित है"। यदि इसका यह अर्थ है कि अविद्यादि प्रत्ययवश संस्कारादि का सदा उत्पाद होता है, अन्य प्रत्ययवश नहीं; अहेतुक नहीं, और इस अर्थ में प्रतीत्य-समुत्पाद की स्थिरता है, यह नित्य है तो यह निरूपण यथार्थ है। किन्तु यदि इसका यह अर्थ लगाया जाता है, कि प्रतीत्य-समुत्पाद नाम के एक नित्य धर्म का सद्भाव है तो यह मत अग्राह्य है, क्योंकि उत्पाद संस्कृत-लक्षण है। एक धर्म नित्य और प्रतीत्य-समुत्पन्न दोनों कैसे हो सकता है ?

---

1. उप्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतानं ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता इदप्पच्चयता······इति खो भिक्खवे या तत्र तथता अवितथता अनञ्ञतथा इदप्पच्चयता, अयं वुच्चति भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादो ति [संयुत्त २।२५–२६] प्रतीत्य-समुत्पाद प्रत्यय-धर्म है। उन उन प्रत्ययों से निर्वृत्त-धर्म प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्म है [विशुद्धि० पृ० ३६२] उन उन प्रत्ययों से (न न्यून न अधिक) उस उस धर्म का संभव होने से यह नय-तथता कहलाता है। प्रत्यय सामग्री के उपगत होने पर उससे निर्वृत्त होने वाले धर्मों की अनुत्पत्ति, अभाव होने से यह अवितथता है। अन्य धर्म-प्रत्ययों से अन्य धर्मों की अनुत्पत्ति होने से यह अनन्यथात्व है। तथोक्त इन जरा-मरणादि का प्रत्यय या प्रत्यय-समूह इदंप्रत्ययता है। कोई यह अर्थ करते हैं कि प्रतीत्य-समुत्पाद उत्पादमात्र है, अर्थात् तीर्थिक-परिकल्पित प्रकृतिपुरुषादि कारण-निरपेक्ष हैं। यह युक्त नहीं है [विशुद्धि० ३६२-३६३]। प्रत्ययता से धर्म-समूह की प्रवृत्ति होती है। यह गंभीर नय है। इसलिए भगवान् संबोधि-रात्रि के प्रथम याम में प्रतीत्य-समुत्पाद की भावना अनुलोम-प्रतिलोम रूप से करते हैं। यह उत्पाद मात्र में नहीं है।

प्रतीत्य-समुत्पाद शब्द का क्या अर्थ है ?

'प्रति' का अर्थ है 'प्राप्ति', 'इण्' धातु गत्यर्थक है, किन्तु उपसर्ग धातु के अर्थ को बदलता है। इसलिए 'प्रति-इ' का अर्थ 'प्राप्ति' है और 'प्रतीत्य' का अर्थ 'प्राप्त कर' है। पद् धातु सत्तार्थक है। सम्-उत् उपसर्ग पूर्वक इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है। अतः प्रतीत्य-समुत्पाद=प्राप्त होकर प्रादुर्भाव, अर्थात् वह उत्पद्यमान है। प्रत्ययों के प्रति गमन कर उसका उत्पाद होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद शब्द का अर्थ एक सूत्र में ज्ञापित है। "इसके होने पर वह होता है; इसकी उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति है"। प्रथम वाक्य में प्रतीत्य का अवधारण है, दूसरे में समुत्पाद का। भगवान् प्रतीत्य-समुत्पाद का निर्देश पर्याय-द्वय से करते हैं। प्रथम पर्याय से यह सिद्ध होता है कि अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं। किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि केवल अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं। द्वितीय पर्याय पूर्व पर्याय का अवधारण करता है, अविद्या के ही उत्पाद से संस्कारों का उत्पाद होता है।

अंग-परम्परा दिखाने के लिए भी पर्याय-द्वय का निर्देश है। इस अंग (अविद्या) के होने पर यह (संस्कार) होता है। इस अंग (संस्कार) के उत्पाद से—दूसरे के उत्पाद से नहीं—यह अंग (विज्ञान) उत्पन्न होता है।

जन्म-परम्परा दिखाने के लिए भी पर्याय-द्वय का निर्देश किया गया है। पूर्व-भव के होने पर प्रत्युत्पन्न-भव होता है। प्रत्युत्पन्न-भव के उत्पाद से अनागत-भव उत्पन्न होता है। प्रत्यय-भाव दिखाने के लिए भी जो यथायोग भिन्न है, ऐसा होता है। अविद्यादि अंगों का प्रत्यय-भाव साक्षात् या पारंपर्येण होता है, यथाः—क्लिष्ट-संस्कार अविद्या के समनन्तर उत्पन्न होते हैं; पारंपर्य से कुशल-संस्कार उत्पन्न होते हैं। दूसरी ओर अविद्या संस्कारों का साक्षात् प्रत्यय है और विज्ञान का पारंपर्येण प्रत्यय है।

पूर्वाचार्यों का मत है कि प्रथम पर्याय अप्रहाण ज्ञापनार्थ है। "अविद्या के होने पर, अप्रहीण होने पर संस्कार होते हैं, प्रहीण नहीं होते"। द्वितीय पर्याय उत्पत्ति ज्ञापनार्थ है—"अविद्या के उत्पाद से संस्कार उत्पन्न होते हैं"।

विसुद्धिमार्ग में [पृ० ३६४–३६५] प्रतीत्य-समुत्पाद के अनेक अर्थ किए गये हैं। यथा—प्रत्ययता से प्रवृत्त यह धर्म-समूह है। इसकी प्रतीति से हित-सुख साधित होता है। अतः पंडित को उचित है कि वह इसकी प्रतीति करें। यह पटिच्च (प्रत्यययोग्य) है। एक साथ सम्यक् उत्पाद होता है, एक एक करके नहीं और न अहेतुक। जो 'पटिच्च' और 'समुप्पाद' है, वह पटिच्च-समुप्पाद है। एक दूसरा निर्वचन सहोत्पाद 'समुत्पाद' है। प्रत्यय सामग्री-वश होता है, यथा कहते हैं कि बुद्धों का उत्पाद सुख है, तब अभिप्राय यह होता है कि उत्पाद सुख का हेतु है। उसी प्रकार प्रतीत्य फलोपचार से उक्त है। अथवा यह हेतु-समूह है, जो संस्कारादि के प्रादुर्भाव के लिए अविद्यादि एक एक हेतु-शीर्ष द्वारा निर्दिष्ट है, वह साधारण फल की निष्पत्ति के लिए तथा अवैकल्य के लिए सामग्री के अंगों के अन्योन्य प्रतिमुख जाता है; अतः वह 'पटिच्च' कहलाता है। वह 'समुप्पाद' भी है; क्योंकि वह अन्योन्य का उत्पाद एक साथ करता है।

एक दूसरा नय है। यह प्रत्ययता अन्योन्य प्रत्यय-वश धर्मों का सहोत्पाद मिलकर करती है। इसलिए इसे प्रतीत्य कहते हैं। अविद्यादि शीर्ष से निर्दिष्ट प्रत्ययों में से जो प्रत्यय संस्कारादिक धर्म का उत्पाद करते हैं, वह ऐसा करने में समर्थ होते हैं, जब अन्योन्य-विकलता होती है, जब अन्योन्य-प्रत्यय का अभाव होता है। अतः एक साथ मिलकर और अन्योन्य का आश्रय लेकर वह प्रत्ययता धर्मों का उत्पाद करती हैं, पूर्वापर-भाव से या एकदेश से नहीं। 'पटिच्च' पद से शाश्वतादि वाद का अभाव द्योतित होता है। 'समुप्पाद' पद से उच्छेदादि वाद का विघात होता है। पूर्व पूर्व प्रत्ययवश पुनः पुनः उत्पद्यमान धर्मों का कहां उच्छेद है?

प्रतीत्य-समुत्पाद वचन से मध्यम-प्रतिपत्ति द्योतित होती है। "जो करता है, वह उसके फल का प्रतिसंवेदन करता है" तथा "कर्म करण एक है, भोक्ता दूसरा है" इन दोनों वादों का प्रहाण होता है; क्योंकि प्रत्यय-सामग्री की सन्तति का उपच्छेद न कर उन उन धर्मों का संभव होता है।

अविद्या-प्रत्यय-वश संस्कार कैसे होते हैं?··· ··· और जाति-प्रत्यय-वश जरा-मरण कैसे हैं?

पृथग्जन यह न जानकर कि प्रतीत्य-समुत्पाद संस्कारमात्र है, अर्थात् संस्कृत धर्म है; आत्मदृष्टि और अस्मिमान में अभिनिविष्ट होता है। वह सुख और अदुःखासुख के लिए काय-वाक्-मन से त्रिविध कर्म करता है। ऐहिक सुख के लिए अपुण्य, आयति सुख के लिए कामावचर पुण्य, प्रथम तीन ध्यानों के सुख के लिए और ऊर्ध्व भूमियों के अदुःखासुख के लिए आनिञ्ज्य कर्म। यह कर्म अविद्या,प्रत्यय-वश संस्कार है।

विज्ञान-सन्तति का अन्तराभव के साथ संबन्ध होने से कर्माक्षेप-वश यह सन्तति अतिविप्रकृष्ट गतियों में भी ज्वाला के समान पहुँच जाती है, अर्थात् निरन्तर उत्पन्न होती जाती है। संस्कार-प्रत्यय-वश यह विज्ञान है, विज्ञान का यह निर्देश उपपन्न है। हम प्रतीत्य-समुत्पाद-सूत्र के इस विज्ञानांग-निर्देश से सहमत हैं:—विज्ञान क्या है? षट् विज्ञान-काय। विज्ञान पूर्वंगम नाम-रूप की उत्पत्ति इस गति में होती है। यह पंच-स्कन्ध है। पश्चात् नाम-रूप की वृद्धि से काल पाकर षडिन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। यह षडायतन है। पश्चात् विषय-संयोग से विज्ञान की उत्पत्ति और त्रिक-संनिपात से स्पर्श होता है, जो सुखादि संवेदनीय है। इससे सुखादि वेदनात्रय होते हैं। इस वेदनात्रय से त्रिविध तृष्णा होती है। कामतृष्णा या दुःख से अर्दित सत्व की कामावचरी सुखावेदना के लिए तृष्णा; रूप-तृष्णा या प्रथम तीन ध्यान की सुखावेदना और चतुर्थ ध्यान की अदुःखासुखावेदना के लिए तृष्णा, आरूप्य-तृष्णा है। पश्चात् वेदना की तृष्णा से चतुर्विध उपादान—काम*, दृष्टि*,शीलव्रत*, आत्मवाद* होते हैं। काम पंच-काम-गुण हैं। दृष्टियां बासठ हैं। जैसा ब्रह्म-जाल-सूत्र में निर्दिष्ट है। शील दौःशील्य का प्रतिषेध है; यथा निर्ग्रन्थों का नग्नभाव, ब्राह्मणों का दण्ड-अजिन, पाशुपतों का जटा-भस्म, परिव्राजकों का त्रिदण्ड और मौण्ड्य इत्यादि। इन नियमों का समादान शील-व्रतोपादान है। आत्मवाद आत्मभाव है, जिसके लिए वाद है कि यह आत्मा है।

एक दूसरे मत के अनुसार आत्मवाद आत्मदृष्टि और अस्मिमान है। क्योंकि इन दो के कारण आत्मा का वाद होता है। यदि आगम वाद शब्द का प्रयोग करता है, तो इसका कारण यह है कि आत्मा असत् है।

काय-दृष्टि का उपादान उनके प्रति छन्द और राग है, उपादान-प्रत्यय-वश उपचित-कर्म पुनर्भव का उत्पाद करता है, यह भव है। सूत्र वचन है—हे आनन्द! पौनर्भविक-कर्म भव का स्वभाव है।

भव-प्रत्यय-वश विज्ञानावक्रान्ति के योग से अनागत जन्म जाति है। यह पंचस्कन्धिका है, क्योंकि यह नाम-रूप-स्वभाव है। जाति-प्रत्ययवश जरा-मरण होता है। इस प्रकार केवल अर्थात् आत्मरहित इस महान् दुःख-स्कन्ध का समुदय होता है। यह महान् है, क्योंकि इसका आदि अन्त नहीं है। बारह अंग पंच-स्कन्धिक बारह अवस्थाएँ हैं। यह वैभाषिकों का न्याय है।

अविद्या विद्या का अभाव नहीं है, यह विद्या का विपक्ष है, यह धर्मान्तर है; यथा—अमित्र मित्र का अभाव नहीं है, किन्तु मित्र का विपक्ष है। 'नञ्' उपसर्ग कुत्सित के अर्थ में होता है। यथा बुरे पुत्र को अपुत्र कहते हैं। क्या यह नहीं कह सकते कि अविद्या कुत्सित विद्या अर्थात् कुत्सित प्रज्ञा है? नहीं; अविद्या कुप्रज्ञा नहीं है, क्योंकि कुप्रज्ञा या क्लिष्ट-प्रज्ञा निस्सन्देह दृष्टि है। किन्तु अविद्या निश्चय ही दृष्टि नहीं है।

वैभाषिक सौत्रान्तिक के इस मत को नहीं मानते कि अविद्या एक पृथक् धर्म नहीं है किन्तु क्लिष्ट-प्रज्ञा है और इस तरह प्रज्ञा का एक प्रकार है। वैभाषिक कहते हैं कि अविद्या प्रज्ञा-स्वभाव नहीं है। वह भदन्त श्रीलाभ के इस मत का भी प्रतिषेध करते हैं कि अविद्या सर्व-क्लेश-स्वभाव है। वह कहते हैं कि यदि अविद्या सर्व-क्लेश-स्वभाव है तो संयोजनादि में इसका पृथक् वचन नहीं हो सकता। वैभाषिक के अनुसार अविद्या का लक्षण चतुःसत्य, त्रिरत्न, कर्म और फल का असंप्रख्यान (अज्ञान) है। आप पूछेंगे कि असंप्रख्यान का स्वभाव क्या है? प्रायः निर्देश स्वभाव-प्रभावित नहीं होते किन्तु कर्म-प्रभावित होते हैं। यथा चक्षु का निर्देश इस प्रकार करते हैं—"जो रूपप्रसाद चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है"। क्योंकि इस अप्रत्यक्ष रूप को केवल अनुमान से जानते हैं। इसी प्रकार अविद्या का स्वभाव उसके कर्म या कारित्र से जाना जाता है। यह कर्म विद्या का विपक्ष-स्वरूप है। अतः यह विद्या-विपक्ष धर्म है।

संयुक्त में हैः—पूर्वान्त के विषय में अज्ञान, अपरान्त के विषय में अज्ञान, मध्यान्त के विषय में अज्ञान······त्रिरत्न के विषय में······दुःख-समुदय और निरोध-मार्ग के विषय में··· कुशल-अकुशल-अव्याकृत के विषय में, आध्यात्मिक ······बाह्य के विषय में अज्ञान, यत्किंचित् उस उस विषय में अज्ञान है, वह तम आवरण है[१]।

---

१. विशुद्धि० पृ० ३७१—सूत्र के अनुसार दुःखादि चार स्थान में अज्ञान अविद्या है। अभिधर्म के अनुसार दुःखादि चतुःसत्य, पूर्वान्त, अपरान्त, पूर्वान्तापरान्त और इदंप्रत्ययता तथा प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों के विषय में अज्ञान अविद्या है [धम्मसंगणि ११५]।

नाम-रूप[1] में रूप रूप-स्कन्ध है और नाम अरूपी स्कन्ध हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार, और विज्ञान यह चार अरूपी स्कन्ध 'नाम' कहलाते हैं। क्योंकि नाम का अर्थ है 'जो झुकता है' (नमतीति नाम)। अरूपी स्कन्ध नामवश, इन्द्रियवश और अर्थवश, अर्थों में नमते हैं; अर्थात् प्रवृत्त होते हैं, उत्पन्न होते हैं। 'नामवश' इस पद में नाम शब्द का ग्रहण उस अर्थ में है, जो लोक में प्रसिद्ध है। इसका अर्थ यहाँ संज्ञा-करण है। यह समुदाय-प्रत्यायक है; यथा—गो-अश्वादि। अथवा एकार्थ-प्रत्यायक है यथा–रूपादि।

स्पर्श—छः हैं, त्रिक-संनिपात से स्पर्श उत्पन्न होता है। पहला चक्षुः-संस्पर्श है, छठा मनः संस्पर्श है। इन्द्रिय, विषय और विज्ञान इन तीनों के संनिपात से यह उत्पन्न होते हैं। सौत्रान्तिक के अनुसार स्पर्श त्रिक-संनिपात है; किन्तु सर्वास्तिवादी और बुद्धघोष के अनुसार

लोकोत्तर सत्य-द्वय को वर्जित कर शेष स्थानों में आलम्बनवश भी अविद्या उत्पन्न होती है। अविद्या के उत्पाद से दुःख-सत्य प्रतिच्छादित होता है। पुद्गल उसके लक्षणों का प्रतिवेध नहीं कर सकता। पूर्वान्त अतीत स्कन्ध-पंचक है। अपरान्त अनागत स्कन्ध-पंचक है। पूर्वान्तापरान्त उभय है। अविद्यावश यह प्रतिवेध नहीं हो सकता कि यह अविद्या है, यह संस्कार है।

विशुद्धि० (पृ० ४०७) में प्रतीत्य-समुत्पाद की सूची में शोकादि अन्त में उक्त हैं। भव-चक्र के आदि में उक्त अविद्या इनसे सिद्ध होती है। जो पुद्गल अविद्या से विमुक्त नहीं है उसको शोक-दौर्मनस्यादि होते हैं। जो मूढ़ हैं उनको परिदेवना होती है। अतः जब शोकादि सिद्ध होते हैं, तब अविद्या सिद्ध होती है। पुनः यह भी कहा है कि आस्रवों से अविद्या होती है।

[म० १।५४] शोकादि भी आस्रवों से उत्पन्न होते हैं। कैसे?

काम-वस्तु से वियोग होने पर कामास्रव से शोक उत्पन्न होता है। पुनः यह सकल शोकादि दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। यथा उक्त है कि :— जब उसको यह संज्ञा होती है कि मैं रूप हूं, मेरा रूप है, तब रूप का अन्यथाभाव होने पर शोकादि उत्पन्न होते हैं [सं० ३।३], यथा दृष्टयास्रव से, उसी प्रकार भवास्रव से। यथा पांच पूर्व निमित्त देखकर मृत्यु-भय से देव संत्रस्त होते हैं। इसी प्रकार अविद्यास्रव से शोकादि होते हैं। यथा सूत्र में उक्त है :—हे भिक्षुओ! मूढ़ इस जन्म में त्रिविध दुःख-दौर्मनस्य का प्रतिसंवेदन करता है [म० ३।१६३]। इस प्रकार आस्रवों में यह धर्म उत्पन्न होते हैं। इनके सिद्ध होने पर अविद्या के हेतुभूत आस्रव सिद्ध होते हैं। जब आस्रव सिद्ध होते हैं, तब अविद्या सिद्ध होती है, जब अविद्या सिद्ध होती है तब हेतु-फल-परंपरा का पर्यवसान नहीं होता। अतः भव-चक्र का आदि अविदित है। हेतु-फल-संबन्धवश यह चक्र सतत प्रवर्तित होता है।

1. विशुद्धि० (पृ० ३६३) में आलम्बन के अभिमुख नमने से वेदनादि तीन स्कन्ध 'नाम' कहलाते हैं। अभिधर्मकोश के अनुसार विज्ञान भी 'नाम' है।

स्पर्श त्रिक-संनिपात नहीं है, किन्तु इस संनिपात का कार्य है, और एक चैतसिक धर्म है। प्रथम पाँच संस्पर्श प्रतिघ-संस्पर्श हैं, छठा अधिवचन है। चक्षुः-संस्पर्शादि प्रथम पाँच के आश्रय सप्रतिघ इन्द्रिय हैं। अतः इनको प्रतिघ-संस्पर्श कहते हैं। मनः-संस्पर्श को अधिवचन-संस्पर्श कहते हैं। अधिवचन नाम है। किन्तु नाम मनोविज्ञान-संप्रयुक्त स्पर्श का बाहुल्येन आलम्बन होता है। वस्तुतः यह उक्त है कि चक्षुर्विज्ञान से वह नील को जानता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि यह नील है। मनोविज्ञान से वह नील को जानता है और यह भी जानता है कि 'यह नील है'। अतः मनोविज्ञान के स्पर्श को अधिवचन-संस्पर्श कहते हैं (अधिवचनसंफस्स दीघ, २।६२)। छठा संस्पर्श तीन प्रकार का है—विद्या, अविद्या और इतर-स्पर्श। यह तीन यथाक्रम अमल, क्लिष्ट, इतर हैं। यह स्पर्श अनास्रव प्रज्ञा से, क्लिष्ट अज्ञान से, नैवविद्या-नाविद्या से अर्थात् कुशल सास्रव-प्रज्ञा से अथवा अनिवृताव्याकृत-प्रज्ञा से संप्रयुक्त स्पर्श है। सर्व क्लेश-संप्रयुक्त अविद्या-संस्पर्श का प्रदेश नित्य समुदाचारी है। इसके ग्रहण से दो स्पर्श होते हैं—व्यापाद-स्पर्श और अनुनय-स्पर्श। समस्त स्पर्श त्रिविध हैं—सुख-वेदनीय, दुःख-वेदनीय असुखादुःख-वेदनीय। इन स्पर्शों की यह संज्ञा इसलिए है, क्योंकि इनका सुख, दुःख, असुखा-दुःख के लिए हितभाव है। जिस स्पर्श में वेद्य सुख होता है, वह स्पर्श सुख-वेद्य कहलाता है। वस्तुतः वहाँ एक सुखावेदना होती है।

वेदना स्पर्श से उत्पन्न होती हैं। पाँच कायिकी वेदना है, एक चैतसिकी है। पाँच वेदनाएँ जो चक्षु और अन्य रूपी इन्द्रियों के संस्पर्श से उत्पन्न होती हैं, और जिनका आश्रय रूपी इन्द्रिय है, कायिकी कहलाती हैं। छठी वेदना मनः-संस्पर्श से उत्पन्न होती है। उसका आश्रय चित्त है। अतः वह चैतसी है। वेदना और स्पर्श सहभू हैं; क्योंकि वह सहभू-हेतु हैं। यह वैभाषिक मत है। सौत्रान्तिकों के अनुसार वेदना स्पर्श के उत्तर काल में होती है।

यह चैतसी वेदना [1]मनोपविचारों के कारण अट्ठारह प्रकार की है, क्योंकि छः सौमनस्योपविचार, छः दौर्मनस्य° और छः उपेक्षा° भी हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म इन छः विषयों के भेद से छः सौमनस्योपविचार हैं। इसी प्रकार दौर्मनस्य° और उपेक्षा° भी छः छः हैं। इन अट्ठारह में कैसे विशेष करते हैं? यदि हम उनके वेदनाभाव का विचार करें, तो तीन उपविचार होंगे—सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा। यदि हम उनके संप्रयोगभाव का विचार करें, तो वह एक है; क्योंकि सबका मनोविज्ञान से संप्रयोग है। यदि हम उनके विषय का विचार करें, तो वह छः हैं। क्योंकि रूप-शब्दादि विषय-षट्क उनके आलंबन हैं।

हमको तीन प्रकार से व्यवस्थापन करना चाहिये। जो मनोविज्ञानमात्र संप्रयुक्त एक चैतसी वेदना नाम का द्रव्य है, वह सौमनस्यादि स्वभाव-त्रय के भेद से त्रिविध है और इनमें से

---

१. पालि-ग्रन्थों में छः सोमनस्सूपविचार, छः दोमनस्सूपविचार, छः उपेक्खूपविचार हैं [मज्झिम, ३।२१६–२३९; दीघ० ३, २४४; विभङ्ग, ३८ इत्यादि]। यथा—चक्षु से रूपों को देखकर सौमनस्य-स्थानीय रूपों का उपविचार करता है, इत्यादि [मज्झिम०—अट्ठादसमनोपविचारी]।

प्रत्येक रूपादि विषय-षट्क के भेद से छः प्रकार के हैं। अतः पूर्ण संख्या अट्ठारह है।

अट्ठारह उपविचार सास्रव हैं। कोई अनास्रव उपविचार नहीं है।

पुनः यही सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, गेधाश्रित (अभिषंगाश्रित) और नैष्कम्याश्रित भेद से ३६ शास्तृपद हैं[1]। यह शास्तृपद इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि इस भेद की देशना शास्ता ने की है। नैष्कम्य, संक्लेश या संसार-दुःख से निष्क्रम है। गर्ध अभिष्वंग है।

तृष्णा—रूपादि भेद से तृष्णा षड्विध है। इनमें से प्रत्येक का प्रवृत्ताकार त्रिविध है—काम°, भव°, विभव°। जब चक्षु के अपाय में रूपावलंबन आता है, और काम के आस्वाद-वश उसकी आस्वादन प्रवृत्ति होती है, तब काम-तृष्णा होती है। जब यह शाश्वत-दृष्टि-सहगत राग हो, तब भव-तृष्णा है। उच्छेद-दृष्टि-सहगत राग विभव-तृष्णा है। इस प्रकार अट्ठारह तृष्णायें हैं।

उपादान—यह अनुशय है। क्योंकि अनुशय उपग्रहण करते हैं। उपादान का अर्थ दृढ़-ग्रहण है। यह चार हैं—काम°, दृष्टि°, शीलव्रत° और आत्मवाद°। तृष्णा के प्रसंग में इनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

भव—भव द्विविध हैं; कर्म° और उपपत्ति°। कर्म भव है, क्योंकि यह भव का कारण है; यथा—'बुद्धों का उत्पाद सुख है' अर्थात् सुख का कारण है। सब कर्म जो भवगामी हैं, कर्म-भव हैं। पुण्य, अपुण्य, आनेञ्ज्य-कर्म अल्प हो या बहु कर्म-भव है। संक्षेप में कर्म चेतना और चेतना-संप्रयुक्त अभिध्यादि कर्म संख्यात-धर्म हैं। उपपत्ति-भव कर्माभिनिर्वृत्त स्कन्ध है। प्रभेद के कारण यह नवविध है :—काम°, रूप°, अरूप°, संज्ञा°, असंज्ञा°, नैवसंज्ञा°, एक-व्यवकार°, चतुर्व्यवकार°,[2] पंचव्यवकार°। जिस भव में संज्ञा होती है वह संज्ञा° है। इसका विपर्यय असंज्ञा° है। औदारिक-संज्ञा के अभाव से और सद्भाव से नैव° है। जिस भव का एक व्यवकार है, वह एक° है एक° में एक उपादान-स्कन्ध है। इत्यादि [विशुद्धि० पृ० ४०३]।

---

१. मज्झिम—[३।२१७] में ३६ शास्तृपद वर्णित हैं। यह छत्तीस 'सत्तपदा' हैं। यह 'गेहसित' और 'नेक्खम्मसित' भेद से ३६ हैं। यथा 'गेहासित-सोमनस्स' यह है—चक्षु-विज्ञेय, इष्ट, मनोरम रूपों का प्रतिलाभ देखकर या पूर्व प्रतिलब्ध अतीत रूप का स्मरण कर सौमनस्य उत्पन्न होता है। यथा—'नेक्खम्मसित-सोमनस्स' यह है—रूपों की अनित्यता जानकर सम्यक्-प्रज्ञा से यथाभूत का दर्शन कर जो सौमनस्य उत्पन्न होता है।

२. पालि—'वोकार' = व्यवकार। स्फुटार्था कहती है कि बुद्ध-काश्यप ने स्कन्ध को 'व्यवकार' की संज्ञा दी। व्यवकार = विशेषावकार = जो अपनी अनित्यतावश विसंवादिनी हो। गाथा में कहा है—रूप फेनपिण्डोपम है।

विभाषा में उक्त है—"पूर्व-तथागत स्कन्धों को व्यवकार की संज्ञा देते हैं; किन्तु शाक्यमुनि 'स्कन्ध' अधिवचन का व्यवहार करते हैं। पूर्व पांच व्यवकार का उल्लेख करते हैं; शाक्यमुनि पांच उपादान-स्कन्ध का"।

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रतीत्य° क्लेश, कर्म और वस्तु हैं।

क्लेश बीजवत्, नागवत्, मूलवत् वृक्षवत् तुषवत् हैं।

बीज से अंकुर-पत्रादि उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार क्लेश से क्लेश, कर्म और वस्तु उत्पन्न होते हैं। जिस तड़ाग में नाग होते हैं, वह शुष्क नहीं होता। इसी प्रकार भवसागर, जहाँ यह क्लेश-भूत नाग होता है, शुष्क नहीं होता। जिस वृक्ष का मूल नहीं काटा जाता उसमें अंकुर निकलते रहते हैं; यद्यपि उसके पत्तों को पुनः पुनः तोड़ते रहते हैं। इसी प्रकार जब तक इस क्लेशभूत मूल का उपच्छेद नहीं होता, तब तक गतियों की वृद्धि होती रहती है। वृक्ष भिन्न भिन्न काल में पुष्प और फल देता है। इसी प्रकार एक ही काल में यह क्लेशभूत वृक्ष क्लेश, कर्म और वस्तु नहीं प्रदान करता। बीज यदि उसका तुष निकाल लिया गया हो; तो समग्र होने पर भी नहीं उगता। इसी प्रकार पुनर्भव की उत्पत्ति के लिए कर्म का तुषभूत क्लेश से संयुक्त होना आवश्यक है।

कर्म तुष-समन्वागत तण्डुल के समान है। यह औषध के तुल्य है, जो फल-विपाक होने पर नष्ट होता है। यह पुष्पवत् है। पुष्प फलोत्पत्ति का आसन्न कारण है। इसी प्रकार यह विपाकोत्पत्ति का आसन्न कारण है।

वस्तु सिद्ध अन्न और पान के तुल्य है। सिद्ध अन्न और पान, सिद्ध अन्न और पान के रूप में पुनःउत्पन्न नहीं होते। उनका एकमात्र उपयोग अशन-पान में है। इसी प्रकार वस्तु है, जो विपाक है। विपाक से विपाकान्तर नहीं होता, क्योंकि इस विकल्प में मोक्ष असंभव हो जायगा।

स्कन्ध-सन्तान अपनी संस्कृतावस्था में चार भवों का (अन्तरा°, उपपत्ति°, पूर्वकाल°, मरण°) उत्तरोत्तर क्रम है। उपपत्ति° स्वभूमि के सर्व क्लेश से सदा क्लिष्ट होता है। यद्यपि मरणावस्था काय-चित्त से अपटु है; तथापि यदि एक पुद्गल को किसी क्लेश में अभीक्ष्ण प्रवृत्ति होती है तो पूर्वाक्षेप से यह क्लेश मरणकाल में समुदाचारी होता है। अन्य भव कुशल, क्लिष्ट और अव्याकृत होते हैं। यह चार भव सब धातुओं में नहीं होते। आरूप्यों में अन्तरा-भव को वर्जित कर शेष तीन भव होते हैं। काम-धातु और रूप-धातु में चारों भव होते हैं, यह प्रतीत्य-समुत्पाद का निर्देश है। भव-चक्र अनादि है।

विसुद्धिमग्गो (पृ० ४०७—४१०) में इस तन्त्री में अविद्या प्रधान धर्म है। यह तीनों वर्त्मों में प्रधान है। अविद्या के ग्रहण से अवशेष क्लेश-वर्त्म और कर्मादि पुद्गल को उपनद्ध करते हैं; यथाः—सर्प के शिर के ग्रहण से सर्प का शेष शरीर उसके बाहु को परिवेष्टित करता है। अविद्या के समुच्छेद से क्लेशादि से विमोक्ष होता है; यथा—सर्प के सिर को काटने से बाहु का विमोक्ष होता है। यथा उक्त है [सं० २।१] कि अविद्या के अशेष निरोध से संस्कार का निरोध होता है। अतः जिसके ग्रहण से बन्ध होता है, और जिसके मुक्त होने से मोक्ष होता है, वह प्रधान धर्म है; आदि नहीं है। यह भव-चक्र कारक-वेदक रहित है, क्योंकि अविद्यादि कारणों से संस्कारादि की प्रवृत्ति होती है। इसलिए परिकल्पित ब्रह्मादि संसार-कारक नहीं हैं, तथा सुख-दुःख का वेदक परिकल्पित आत्मा नहीं है।

यह भव-चक्र द्वादशविध शून्यता से शून्य है। अविद्या का उदय-व्यय होता है, अतः यह ध्रुवभाव से शून्य है। यह शुभभाव से शून्य है, क्योंकि यह संक्लिष्ट है और क्लेश-जनक है। यह सुखभाव से शून्य है, क्योंकि यह उदय-व्यय से पीड़ित है। यह आत्मभाव से शून्य है, क्योंकि यह वशवर्त्ती नहीं है। इसकी वृत्ति प्रत्ययों में आयत्त है। इसी प्रकार संस्कारादि अन्य अंग हैं। यह अंग न आत्मा है, न आत्मा में है, न आत्मवान् है। इसलिए यह भव-चक्र द्वादशविध शून्यता से शून्य है।

इस भव-चक्र के अविद्या और तृष्णा मूल हैं। अविद्यामूल पूर्वान्त से आहृत होता है और वेदनावसान है। तृष्णामूल अपरान्त में विस्तृत होता है और जरा-मरणावसान है। पहला दृष्टिचरित पुद्गल का मूल है, अपर तृष्णाचरित का। प्रथम मूल उच्छेद-कर्म के समुद्घात के लिए है। जरा-मरण का प्रकाश कर द्वितीय मूल शाश्वत-दृष्टि का समुद्घात करता है।

यह चक्र त्रिवर्त्म है। संस्कार,भव कर्म-वर्त्म है; अविद्या,तृष्णा उपादान-वर्त्म है। विज्ञान नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना विपाक-वर्त्म है।

भगवान् प्रतीत्य* की देशना विविध प्रकार से करते हैं :—

यथाः—वल्लिहारक आदि या मध्य से आरम्भ कर पर्यवसान तक अथवा पर्यवसान या मध्य से आरम्भ कर आदि तक वल्लि ग्रहण करता है। एक वल्लिहारक पहले वल्लि के मूल को देखता है। वह इस मूल का छेद कर सब वल्लि का आहरण करता है। इसी प्रकार भगवान् अविद्या से आरम्भ कर जरा-मरण पर्यन्त प्रतीत्य* की देशना करते हैं।

यथाः—एक वल्लिहारक पहले मध्य को देखता है। वह मध्य में वल्लि को काटता है, और ऊपर के भाग को लेता है। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं—वेदना का अभिनन्दन करने से उसमें नन्दी उत्पन्न होती है। यह उपादान है। उपादान से भव, भव से जाति होती है (मज्झिम, १।२६६)।

यथाः—एक वल्लिहारक पहले वल्लि के अग्र को देखता है। वह उसका ग्रहण कर यावत् मूल का आहरण करता है। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं--"जाति से जरा-मरण होता है"'जाति भव से होती है''संस्कार अविद्या से होता है" (म० १।२६१–२६२)।

यथाः—एक वल्लिहारक पहले मध्य देखता है। वह मध्य में काटकर मूल तक आता है। इसी प्रकार भगवान् मध्य से आरंभ कर आदि पर्यन्त देशना करते हैं। यथा भगवान् कहते हैं—"इन चार आहारों का क्या प्रभव है? तृष्णा इनका प्रभव है। तृष्णा का क्या प्रभव है? वेदना एवमादि।"

यह अनुलोम-प्रतिलोम-देशना है। अनुलोम-देशना से भगवान् उत्पत्ति-क्रम को दिखाते हैं; और वह दिखाते हैं कि अपने अपने कारण से यह प्रवृत्ति होती है। प्रतिलोम-देशना से वह कृच्छ्रापन्न लोक को दिखाकर यह बताते हैं कि तत्तत् जरा-मरणादिक दुःख का क्या कारण है। जो देशना मध्य से आदि को जाती है वह आहार के निदान को व्यवस्थापित

कर अतीत अध्व में जाती है, और अतीताध्व से आरंभ कर हेतु-फल-परिपाटी को दिखाती है। जो देशना मध्य से पर्यवसान को जाती है वह अनागत अध्व को दिखाती है, और बताती है कि प्रत्युत्पन्न अध्व में अनागत हेतु का समुत्थान होता है। यहां अनुलोम-देशना उक्त है।

प्रतीत्य-समुत्पाद का यह विवेचन प्रधानतः हीनयान के वादियों की दृष्टि से है। विज्ञानवाद तथा माध्यमिक सिद्धान्त के अध्याय में महायान के आचार्यों की प्रतीत्य संबन्धी व्याख्या प्रदर्शित करेंगे। हीनयानियों में सौत्रान्तिकों का इस संबन्ध में विशेष फलितार्थ है। वह क्षण-भङ्गवाद है, जिसका अब विवेचन करना प्रासंगिक होगा।

क्षण-भङ्ग-वाद

ऊपर प्रतीत्य-समुत्पाद का विश्लेषण स्थविरवाद और वैभाषिकवाद की दृष्टि से किया गया है। किन्तु सौत्रान्तिकों ने इसका कुछ और भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है, जिससे धर्मों का क्षण-भंग-वाद तथा क्षण-सन्तति-वाद निश्चित होता है। स्थविरवादियों का ध्यान चित्त-चैतसिकों की क्षणिकता की ओर गया था; किन्तु बाह्य-जगत् को क्षणिक मानने के पक्ष में वे नहीं थे। सर्वास्तिवादी-वैभाषिक अवश्य ही कहीं-कहीं बाह्य-वस्तु की क्षणिकता मानते हैं। जैसे अभिधर्मकोश में [४,४] "संस्कृतं क्षणिकं यतः" है। परन्तु वह वसुबन्धु पर सौत्रान्तिक प्रभाव ही है। वस्तुतः पूर्वकालीन बौद्धों की क्षणिकता अनित्यता से आगे नहीं बढ़ती। वैभाषिक-सिद्धान्त में संस्कृत-धर्म जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता इन चार अवस्थाओं में अनुवृत्त होकर सत् होता है। वैभाषिकों की यह बाह्य अक्षणिकता तब और स्पष्ट हो जाती है, जब वह इन चतुर्विध लक्षणों की सत्ता के लिए चार अनु-लक्षणों की सत्ता भी मान लेते हैं। इसलिए वैभाषिक मत में धर्मों का प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व त्रैयध्विक (अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्नवर्ती) ही हो सकता था। फलतः ये प्रतीत्य-समुत्पाद को आवस्थिक एवं प्राकर्षिक मानते हैं, परन्तु सौत्रान्तिक क्षणिक और सांबन्धिक मानते हैं। सौत्रान्तिक अतीताना-गताध्व का निषेध करते हैं, और प्रत्युत्पन्न में ही वस्तु के पूर्वोक्त चतुर्लक्षणों का विनियोग करते हैं। इस प्रकार सौत्रान्तिक अन्य हीनयानियों के समान यद्यपि बहुपदार्थवादी हैं, तथापि उनके प्रतीत्य-समुत्पाद-नय का अध्ययन उन्हें पदार्थों की क्षण-भंगता तथा क्षण-संतति-वाद के सिद्धान्त पर पहुँचाता है। इसका विस्तार से विवेचन हम सौत्रान्तिक-वाद के प्रसंग में करेंगे। यहां थोड़े में केवल परवर्ती बौद्ध नैयायिकों की तर्क पद्धति से धर्मों की क्षण-भंगता का विचार करते हैं, क्योंकि वह प्रतीत्य-समुत्पाद का ही विकास है।

क्षण-भंगता एक ओर तो अन्य तीर्थिकों के विकल्पित वादों का अनायासेन निरास करती है; जैसे सांख्यों का प्रधान-वाद, गौतमादि का ईश्वर-वाद, चार्वाकादि का भूत-चतुष्टय-वाद, जैमिनीयों का वैदिकशब्दराशिनित्यता-वाद। दूसरी ओर बहुसत्तावादी बौद्ध-दर्शनों के लिए अद्वयवाद का द्वार भी खोलती है।

किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है, उसकी क्षणिकता। सामान्यतः सत्ता और क्षणिकता में विरोध प्रतीत होता है; किन्तु वस्तु की सत्ता का निश्चय जब उसकी अर्थक्रिया-कारिता से

करते हैं, तो यह भ्रम नष्ट हो जाता है; जैसे—वर्तमान क्षण का घट जलाहरणरूप 'अर्थ-क्रिया' करता है। प्रश्न उठता है कि क्या अतीतानागत क्षणों में भी घट वर्तमान-क्षण की ही अर्थ-क्रिया करता है, या कोई दूसरी। प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं है कि इसके मानने से पूर्व-कृत का ही पुनः करण होगा, जो व्यर्थ है। दूसरे पक्ष में यह विचार करना होगा कि वस्तुतः घट जब वर्तमान क्षण का कार्य करता है तब उसी क्षण में अतीतानागत क्षण के कार्य को करने में शक्त है या नहीं? यदि शक्त है तो अतीतानागत क्षण के कार्य को भी प्रथम क्षण में ही क्यों नहीं करता? क्योंकि समर्थ का कोई प्रतिबन्धक (क्षेपक) नहीं हो सकता। अन्यथा वह घट वर्तमान क्षण के कार्य को भी नहीं कर सकेगा, क्योंकि समानरूप से वह पूर्वापर कार्य में शक्त है पर अतीतानागत कार्य नहीं कर सका। इसलिए कहना पड़ेगा कि वर्तमान-क्षण-भावी घट अतीतानागतक्षण-भावी 'अर्थ-क्रिया' करने में शक्त नहीं है; प्रत्युत, सर्वथा अशक्त है। ऐसी अवस्था में शक्तत्व-अशक्तत्वरूप उभय विरुद्ध धर्मों का एक कार्य (घट) में अध्यास मानना पड़ेगा। यह तभी संभव है, जब आप घट का क्षण-विध्वंस अवश्य मानें। इस प्रकार जब एक कार्य में ही समर्थता तथा उससे इतर स्वभाव (असमर्थता) दोनों मानने पड़े तो उससे समस्त घट-पटादि की क्षणभंगता स्वयं सिद्ध होती है।

एक प्रश्न यह उठता है कि बौद्ध सिद्धान्त में यदि वस्तु के सत्व का अर्थ उसका 'अर्थ-क्रिया-कारित्व' है, तो घटादि की सत्ता के लिए उनमें अपने अपने कार्य के प्रति प्रतिक्षण जनन-व्यवहार होना चाहिये। सिद्धान्ती कहता है, ठीक है; प्रतिक्षण जनन-व्यवहार होता है, क्योंकि घट प्रतिक्षण अपूर्व है, और प्रतिक्षण नयी-नयी अर्थक्रियायें भी करता है। यह बात एक तर्क से स्पष्ट होती है:—जब, जिस वस्तु में जनन-व्यवहार की पात्रता होती है, तब, वह वस्तु अवश्य अपनी क्रिया भी करती है,क्योंकि बिना अर्थ-क्रिया के वस्तु में जनन-व्यवहार नहीं होता। इसी लिये किसी वस्तु के उत्पादक अन्त्यकारण-सामग्री में जनन-व्यवहार-योग्यता अन्य वादियों को भी संमत है। इस न्याय से घट के अन्त्य क्षण की तरह आद्यादि पूर्वक्षणों में भी जनन-व्यवहार-योग्यता एवं अपूर्व क्रियाकारिता है।

इस तर्क के विरुद्ध पूर्वपक्षी यदि कहे कि कुशूलस्थ बीज में कार्योत्पादन-सामर्थ्य का व्यवहार किया जाता है, परन्तु वह कार्य का साक्षात् जनक नहीं है। यह ठीक नहीं; क्योंकि समर्थ व्यवहार पारमार्थिक और औपचारिक भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ पारमार्थिक जनन-व्यवहार-गोचरता ही इष्ट है, जो कार्य का साक्षात् जनक है। कुशूलस्थ बीज में औप-चारिक समर्थ-व्यवहार-गोचरता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि सत्व हेतु (सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः 'सत्वात्') से वस्तु के क्षणिकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। सत्व से क्षणिकत्व की व्याप्ति (यत् सत् तत् क्षणिकम्) कार्य-कारण के अन्वय-व्यतिरेक से ही संभव है, किन्तु क्षणभंग पक्ष में वह (व्याप्ति) प्रतिपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि कारण-बुद्धि से भावी कार्य गृहीत नहीं होगा और कार्य-बुद्धि से अतीत कारण गृहीत नहीं होगा; एवं अतिप्रसंग के भय से वर्तमानग्राही ज्ञान से ही अतीता-नागत ज्ञानों का भी ग्रहण नहीं हो सकता। अपिच, क्षणभंगवाद में कोई एक प्रतिसंधाता

भी नहीं बन सकेगा जो पूर्वापर काल के ज्ञानों का प्रतिसंधान करे। इसलिए सत्व का अर्थ-क्रिया लक्षणत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी प्रकारान्तर से भी अर्थ-क्रियाकारित्व-लक्षण सत्व को असिद्ध बनाता है। वह पूछता है:—बीजादि में कार्योत्पादन सामर्थ्य का निश्चय स्वयं बीजादि के ज्ञान से होता है या उसके कार्य अंकुरादि से? आपके मत में कार्य से ही सामर्थ्य का निश्चय होगा, परन्तु कार्यत्व-सिद्धि वस्तुत्व-सिद्धि पर निर्भर है और वस्तुत्व कार्यान्तर पर। फिर कार्यान्तर के कार्यत्व की सिद्धि के लिए भी वस्तुत्व अपेक्षित है, उसके लिए फिर कार्यान्तर की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। इस अनवस्था से बचने के लिए आपको अन्त में वस्तुत्व के लिये कार्यान्तर की अपेक्षा छोड़नी होगी। ऐसी अवस्था में हम कहेंगे कि इसी न्याय से पूर्व पूर्व वस्तुत्व की सिद्धि के लिए कार्यान्तर की अपेक्षा छूटती जायगी और उस उस का असत्व सिद्ध होता जायगा; फिर एक का भी अर्थ-क्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।

सिद्धान्ती कहता है कि वस्तु के क्षणिकत्व को स्वीकार करने पर ही सामर्थ्य-प्रतीति बनती है; इसलिए सत्व के साथ क्षणिकत्व की व्याप्ति भी बन जायगी। कार्यग्राही ज्ञान में अवश्य ही कारणज्ञानोपादेयता संस्कार-गर्भित होकर रहती है। इसलिये कार्य-सत्व से कारण-सत्व की अन्वय-व्याप्ति बनती है। ऐसे ही अभाव स्थल में कार्यापेक्षया भूतल कैवल्यग्राही ज्ञान में कारणापेक्षया भूतल कैवल्यग्राही ज्ञान की उपादेयता संस्कार-गर्भित होकर रहती है। इसलिए कार्याभाव से कारणाभाव की व्यतिरेक-व्याप्ति बनती है। इस प्रकार एक के निश्चय के समनन्तर ही उत्पन्न अन्य विज्ञान का अन्वय-निश्चय और एक के विरह-निश्चयानुभव के अनन्तर उत्पन्न अन्य विरह-बुद्धि का व्यतिरेक-निश्चय अनायास सिद्ध होता है।

सिद्धान्त में अर्थ-क्रिया-कारित्व रूप सामर्थ्य ही सत्व है। उसकी सिद्धि के लिए हमारा यह प्रयास नहीं है। क्योंकि प्रमाण-प्रतीत बीजादि धर्मी में सामर्थ्य प्रमाण-प्रतीत है। हमें तो उसमें केवल क्षण-भंगता सिद्ध करनी है। जब तक अंकुरादि-गत कार्यत्व दृष्टिगत नहीं है तब तक सामर्थ्य के विषय में सन्देह रहेगा। फिर भी उसकी सन्मात्रता अनिश्चित नहीं रहेगी। अन्यथा कहीं भी वस्तुत्व का निश्चय नहीं हो सकेगा। इसलिए सत्व के शास्त्रीय लक्षण के सन्दिग्ध रहने पर भी पटु-प्रत्यक्ष से सिद्ध अंकुरादिगत कार्यत्व बीजादि के सामर्थ्य को उपस्थापित करता है। इसलिए सत्व हेतु की असिद्धि नहीं है। पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं है कि क्षणिकवाद में सामर्थ्य नहीं बन सकती, क्योंकि कारणत्व का लक्षण नियत-प्राग्भावित्व है। उसका क्षणिकत्व के साथ कौन सा विरोध है? क्योंकि क्षणमात्रावस्थायी पदार्थ में अर्थ-क्रियाकारित्व-लक्षण सामर्थ्य बन जायगा। मेरे पक्ष में अनेक कालवर्त्ती एक वस्तु के न होने से व्याप्ति असंभव नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त में अतद्रूप-परावृत साध्य-साधन का प्रत्यक्ष-प्रमाण से व्याप्ति-ग्रह संमत है। बौद्ध सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय दो होते हैं—एक ग्राह्य दूसरा अध्यवसेय। प्रकृत में यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय ग्राह्य न हो, क्योंकि सकल अतद्रूप-परावृत्त वस्तु का साक्षात् ज्ञान संभव नहीं है तथापि एक देश के ग्रहण से साध्य-साधन मात्र का व्याप्ति-निश्चायक विकल्प उत्पन्न होगा। इस प्रकार व्याप्ति का विषय अध्यवसेय होगा, जैसे

क्षण-ग्रहण से क्षण-सन्तति का और घट-रूप के ग्रहण से घट का निश्चय होता है। अन्यथा पूर्वपक्षी के मत में भी व्याप्ति नहीं बनेगी और अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायेगा।

नैयायिक समस्त पदार्थों को कृतक-अकृतक भेद से दो राशियों में विभक्त करते हैं; और वात्सीपुत्रीय क्षणिक-अक्षणिक में विभक्त करते हैं। बौद्ध दोनों की क्षण-भङ्गता मानते हैं।

धर्मों के उपर्युक्त प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व तथा क्षण-भङ्गता के नय से अनीश्वरवाद एवं अनात्मवाद अनायास सिद्ध होता है।

अनीश्वर-वाद

समस्त कार्यकारणात्मक जगत् प्रतीत्य-समुत्पन्न है। हेतु और प्रत्ययों की अपेक्षा करके ही समस्त धर्मों की धर्मता स्थित है। इसलिए इस नय में ईश्वर ब्रह्मा आदि कल्पित कारकों का प्रतिषेध है।

ईश्वरवादी कहता है कि अभिमत वस्तु के साधन के लिए जो वस्तु स्थित्वा-प्रवृत्त होती है, वह किसी बुद्धिमत्कारण से अधिष्ठित होती है; जैसे—द्वैधीकरण के लिए कुठारादि। कुठारादि स्वयं प्रवृत्त नहीं होते, स्वयं प्रवृत्त हों तो कभी व्यापार-निवृत्त न हों। स्थित्वा-प्रवर्तन सर्वाभिमत है, इसलिए कोई प्रवर्तक भी होना आवश्यक है। घटादि वस्तुओं की अर्थक्रियाकारिता भी चेतनावत् प्रेरित होने से ही है।

सिद्धान्ती कहता है—मुझे इसमें इष्ट-सिद्धि है, क्योंकि इससे ईश्वर नहीं सिद्ध होता। सिद्धान्त में चेतनारूप कर्म स्वीकृत है और उससे समस्त पदार्थ अधिष्ठित हैं। उक्त भी है:—

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्। [अभि० ४,१]

पूर्वपक्षी कहता है कि लोक-वैचित्र्य केवल कर्म से नहीं प्रत्युत ईश्वर-प्रेरित धर्माधर्म से है, और आप लोक का ईश्वराधिष्ठितत्व नहीं मानते; अतः आपके पक्ष में इष्ट-सिद्धि नहीं है। परन्तु सिद्धान्त में जब चेतनारूप कर्म स्वीकृत है, तब चेतनान्तर का मानना व्यर्थ है। यदि अन्य चेतनावत् का कर्तृत्व मानें भी, तो घटादि ईश्वर-कारणक सिद्ध नहीं होते; क्योंकि कुलालातिरिक्त ईश्वर की कारणता मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। अन्यथा विपक्षी को ईश्वर के लिए भी ईश्वरान्तर मानना पड़ेगा। यदि अज्ञता के कारण कुलालादि की प्रवृत्ति ईश्वर-प्रेरित मानें और तज्ज ईश्वर की प्रवृत्ति स्वयम्; तो यह भी मानना पड़ेगा कि सुखदुःखोत्पाद में सर्वथा असमर्थ अज्ञ जीव को ईश्वर-प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक भोगना पड़ता है। इस प्रकार ईश्वर वैषम्य-नैर्घृण्य दोषों से ग्रस्त होगा।

पुनः ईश्वर का सर्वज्ञत्व और सर्व-कर्तृत्व अन्योन्याश्रय-बाधित है। ईश्वर में पहले सर्व-कर्तृत्व सिद्ध हो तब सर्वज्ञत्व सिद्ध होगा और सर्वज्ञत्व सिद्ध होने पर सर्व-प्रेरणा-कर्तृत्व साधित होगा। अन्यथा ईश्वर का भी प्रेरक अन्य ईश्वर मानना पड़ेगा। फिर यह भी प्रश्न होगा कि सर्वज्ञ ईश्वर अज्ञ जीवों को असद्व्यवहार में प्रवृत्त क्यों करता है। विवेकशील जन लोगों को सदुपदेश करते हैं। किन्तु ईश्वर जब विपथगामी लोगों को भी उत्पन्न करता है, तब वह प्रमाण कैसे माना जाय? फिर ईश्वर की यह कौन सी बुद्धिमत्ता है कि जीव को पहले पाप में प्रवृत्त करता है, बाद में उससे व्यावृत्त कर धर्माभिमुख करता है।

यदि ईश्वर तत्कार्याधिष्ठित होकर ही जीव को पाप में प्रवृत्त कराता है, फिर भी उसके प्रेक्षाकारित्व की हानि माननी पड़ेगी। क्योंकि प्रश्न होगा कि उसने जीव से ऐसा पाप क्यों कराया? यदि यह मानें कि वह अधर्म नहीं कराता है बल्कि अधर्मकारी को फल का अनुभव कराता है, तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर अपनी असमर्थता के कारण जीवों को पाप कर्मों से हटा नहीं पाता। और यदि वह यह नहीं कर पाता तो उसके लिए सर्व-कर्तृत्व की घोषणा करना व्यर्थ है। फिर ऐसी अवस्था में वह धर्मादि भी क्या करा सकेगा? क्या ईश्वर के बिना लोग अपने अधर्माचरण का फल नहीं भोग लेते? भोगते ही हैं; तो इस निरर्थक व्यापार में कोई प्रेक्षावान् क्यों प्रवृत्त होगा? यदि उसकी ऐसी प्रवृत्ति क्रीड़ा के लिए होती है, तब उसका यह प्रेक्षाकारित्व धन्य है कि एक की क्षणिक तृप्ति के लिए अन्य को अपने जीवन को संकटमय बनाना पड़े! आपके सिद्धान्त में समस्त शास्त्र यदि ईश्वरकृत हैं, तो दानादि के द्वारा उनके उपदेशों की सत्यासत्यता का निर्णय कैसे होगा? यदि दानादि विषयक कुछ शास्त्र उसके विरचित नहीं है,तो वह उसके समान अन्य सर्व को भी कैसे बना सकेगा? यदि ईश्वर को सत्वों के धर्माधर्म से ही प्रेरित होकर समस्त पदार्थ संभव करना पड़ता है, तो ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि धर्माधर्म की प्रेरणा से सत्व ही यह सब क्यों न कर लेगा।

पूर्वपक्षी कहे कि जीव सबका कर्ता नहीं हो सकता, तो मैं पूछता हूँ तुम्हारे अभिप्रेत सर्व के कर्तृत्व का उपयोग ही क्या है? एक जीव के द्वारा न सही,सर्व जीवों के द्वारा सर्व-कर्तृत्व मानें तो तुम्हारी क्या क्षति है? देखा भी जाता है कि कभी बहुतों के द्वारा एक क्रिया संपादित होती है, और कभी एक के द्वारा बहुत क्रियाएँ। यदि कहो कि सर्व-कारकत्व तो किसी एक में ही मानना पड़ेगा, अन्यथा उसमें सर्वज्ञत्व भी संभव नहीं हो सकेगा। इसलिए एक प्रधान कर्ता ईश्वर को मानो जो प्रार्थियों के मनोरथ सिद्ध कर सके, त्वदभिप्रेत सर्वज्ञतामात्र से कोई प्रार्थियों का सेव्य नहीं हो सकता। परन्तु मैं कहता हूँ; कोई अर्थानर्थ क्रिया में शक्त एवं सर्वज्ञ भी हो, फिर भी अपनी अनुपकारिता के कारण ही किसी का सेव्य नहीं होगा। सर्वज्ञत्व एवं सर्वशक्तित्व पहले निश्चित हो तब सर्व-कारकत्व सिद्ध होगा। परन्तु सभी दृष्टान्तों में असर्वज्ञ का ही कर्तृत्व देखा जाता है। इसलिए कर्तृत्व से सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होगा। फिर अपने कार्य के प्रति कुलालादि में अज्ञता ही कहाँ है, जिससे ईश्वर की आवश्यकता पड़े? यदि ज्ञ कुलाल में भी ईश्वर की प्रेरणा के बिना कार्य-क्षमता नहीं आती तो उसी के समान ईश्वर को भी अपने कार्य में अन्य से प्रेरित मानना पड़ेगा। यदि उसने अपने में सर्वज्ञता सिद्ध करने के लिए सर्व-प्रेरकता भी सिद्ध कर ली, तो इसे किसने देखा है?

ईश्वरवादी जगत् के विभिन्न संस्थान-विशेषों की रचना के लिए ईश्वर में उपादान-गोचरता और चिकीर्षा आदि मानता है। परन्तु वृक्षादि संस्थान अचित् बीजादि-कारण-विशेष से ही संपन्न होते हैं। इसके लिए पुरुष-पूर्वकता आवश्यक नहीं है। क्योंकि कोई भी सुशिक्षित चेतन बीज-विजातीय वृक्ष उत्पन्न नहीं कर सकता। पूर्वपक्षी यदि कहे कि मृत्पिण्ड का संस्थान कुलाल उत्पन्न नहीं कर सकता, तो हम कहते हैं; मृत्पिण्ड को उत्पन्न ही क्या करना है? तादृक् वर्ण-संस्थान-रूप ही तो मृत्पिण्ड है।

यदि वट-बीज में स्वयं वट-वृक्ष की वर्ण-संस्थान-रूपता नहीं है, तो अन्यत्र कहाँ से वह आयेगी? उसे यदि ईश्वर उत्पन्न करता है, तो वह बीजातिरिक्त से उत्पन्न क्यों नहीं करता? इसलिए स्वीकार करना पड़ेगा कि वृक्ष-बीज में निहित वृक्ष-संस्थान आविर्भूत होता है, जैसे प्रदीप से अन्धकार स्थित घालदारक। इसी प्रकार कुलाल के द्वारा मृत्पिण्ड से ही संस्थान आविर्भूत होता है। कुलाल-पुरुष केवल साक्षीरूप से ही उसका उपयोक्ता बनता है, जैसे पुरुषों की भोग-सिद्धि के लिए प्रधान की प्रवृत्ति तथा सामाजिकों के लिए नट की रंग-क्रिया। इस प्रकार सुखाद्यर्थित्वरूपेण सकल की कारणता है। इसी से कार्यपरिसमाप्ति है। ईश्वर की आवश्यकता नहीं।

अनात्म-वाद

अनात्म-वाद को पुद्गल-प्रतिषेध-वाद भी कहते हैं। बौद्ध आत्मा या पुद्गल को वस्तुसत् नहीं मानते। आत्मा नाम का कोई पदार्थ स्वभावतः नहीं है। जो आत्मा अन्य मतों को इष्ट है वह स्कन्ध-सन्तान के लिए प्रज्ञप्तिमात्र नहीं है, किन्तु वह स्कन्ध-व्यतिरिक्त वस्तुसत् है। आत्मग्राह के बल से क्लेशों की उत्पत्ति होती है। वितथ आत्मदृष्टि में अभिनिवेश होने से मतान्तर दूषित हैं, अतः बौद्ध-मत से अन्यत्र मोक्ष नहीं है। केवल बुद्ध ही नैरात्म्य का उपदेश देते हैं।

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती, न प्रत्यक्ष प्रमाण से, न अनुमान प्रमाण से। यदि अन्य भावों के समान आत्मा का पृथक् सद्भाव है, तो इसकी उपलब्धि या तो प्रत्यक्ष ज्ञान से होनी चाहिये—जिस प्रकार पंचेन्द्रिय-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के विषयों की उपलब्धि होती है, अथवा अनुमान ज्ञान से होनी चाहिये, यथाः—अदृश्य अतीन्द्रिय उपादाय-रूप की होती है।

बौद्धों में वात्सीपुत्रीय भी पुद्गल-वादी हैं। वह कहते हैं कि आत्मा न स्कन्धों से अभिन्न है, और न भिन्न है। वह ऐसा इसलिए कहते हैं, कि यह प्रकट न हो जाय कि वह तीर्थकों के सिद्धान्तों में अभिनिवेश रखते हैं। वात्सीपुत्रीय सौगतम्मन्य हैं। यथा सांख्य, वैशेषिक, निर्ग्रन्थ आदि पुद्गल में प्रतिपन्न हैं, उसी प्रकार वात्सीपुत्रीय भी इस कल्पित धर्म में प्रतिपन्न हैं। पुद्गल का कारित्र नहीं है। केवल चित्त का कारित्र है। यदि पुद्गल भाव है, तो उसे स्कन्धों से अन्य कहना चाहिये, क्योंकि उसका लक्षण भिन्न है। यदि वह हेतु-प्रत्यय से जनित है, तो उसका शाश्वतत्व और अविकारित्व नहीं है। यदि वह असंस्कृत है, तो उसमें अर्थक्रिया की योग्यता नहीं है, और उसका कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए पुद्गल को द्रव्य-विशेष मानना व्यर्थ है।

वात्सीपुत्रीय कहते हैं:—हम नहीं कहते कि यह द्रव्य है, और न यह कि यह स्कन्धों का प्रज्ञप्तिमात्र है; किन्तु पुद्गल-प्रज्ञप्ति का व्यवहार प्रत्युत्पन्न आध्यात्मिक उपात्त स्कन्धों के लिए है। लोक-विश्वास है कि अग्नि न इन्धन से अनन्य है, न अन्य। यदि अग्नि इन्धन से अन्य होती, तो प्रदीप्त अग्नि होती। हमारा मत है कि पुद्गल स्कन्धों से न अनन्य है, और

न अन्य । यदि वह स्कन्धों से अन्य होता तो यह शाश्वत और इसलिए असंस्कृत होता; यदि यह स्कन्धों से अनन्य होता तो उसके उच्छेद का प्रसंग होता।

वसुबन्धु का कहना है:—यदि आत्मा समुदायमात्र है, भावान्तर नहीं, तो वह आत्मा नहीं है; और यदि वह सांख्यों के पुरुष के सदृश है, तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है। वसुबन्धु पुनः कहते हैं कि यदि तुम्हारे पुद्गल का स्कन्धों से वही संबन्ध है, जो अग्नि का इन्धन से है, तो तुमको स्वीकार करना पड़ेगा कि वह क्षणिक है। वसुबन्धु प्रश्न करते हैं कि पुद्गल का कैसे ज्ञान होता है? वात्सीपुत्रीय कहता है कि षड्विज्ञान से उपलब्धि होती है। जब चक्षुर्विज्ञान रूपकाय को जानता है, तो तदनन्तर ही वह पुद्गल की उपलब्धि करता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान से जाना जाता है, यथा—जब चक्षुर्विज्ञान क्षीर-रूप को जानता है, तो वह प्रथम रूप, गन्ध, रसादि की उपलब्धि करता है, और द्वितीय क्षण में क्षीर का उपलक्षण करता है। वसुबन्धु इसका उत्तर देते हैं कि इसका परिणाम यह निकलता है कि समस्त स्कन्ध-समुदाय की ही प्रज्ञप्ति पुद्गल है, जैसे—रूप-गन्धादि समस्त समुदाय की प्रज्ञप्ति क्षीर है। यह संज्ञामात्र है। यह वस्तुसत् नहीं है। वात्सीपुत्रीय स्वीकार करता है कि पुद्गल विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय नहीं है। वसुबन्धु कहते हैं कि बहुत अच्छा! किन्तु उस अवस्था में यदि यह ज्ञेय नहीं है, तो इसका अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा। और यदि इसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता तो आपका सिद्धान्त गिर जाता है। वसुबन्धु कहते हैं कि वेदना, संज्ञा, विज्ञान, और चेतना यह चार अरूपी-स्कन्ध हैं और रूप रूपी-स्कन्ध है। जब हम कहते हैं कि 'पुरुष' है, तो हम इन्हीं की बात करते हैं। विविध सूक्ष्म भेदों को व्यक्त करने के लिए विविध शब्दों का व्यवहार होता है, जैसे—सत्व, नर, मनुज, जीव, जन्तु और पुद्गल। यह सब वैसे ही समुदायमात्र हैं, जैसे—सेना शब्द। यह केवल लोक-व्यवहार के वचनमात्र, प्रतिज्ञामात्र हैं। सब आर्य यथार्थ देखते हैं कि केवल धर्मों का अस्तित्व है, किसी दूसरी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। जब सूत्र आत्मा को रूपादि से समन्वागत बताता है, तो उसका अभिप्राय पुद्गल-प्रज्ञप्ति से है। जैसे लोक में 'राशि' बहु के समुदायमात्र को कहते हैं, जिसमें कोई एकत्व नहीं होता, अथवा जैसे जलधारा बहु-क्षण में समवाहित जल को कहते हैं, जिसमें नैरन्तर्य-मात्र है, नित्यता नहीं है। भगवान् कहते हैं—हे भिक्षुओ! यह जानो कि सब ब्राह्मण-श्रमण जो आत्मा को मानते हैं, केवल उपादान-स्कन्ध को मानते हैं। इसलिए विपर्यास के कारण अनात्मधर्मों में आत्मा की कल्पना होती है, और आत्म-ग्राह होता है।

कोई सत्व, कोई आत्मा नहीं है। केवल हेतु-प्रत्यय से जनित धर्म हैं; स्कन्ध, आयतन और धातु हैं। वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि फिर आप बुद्ध को सर्वज्ञ कैसे कहते हैं? केवल आत्मा, पुद्गल में सर्वज्ञता हो सकती है, क्योंकि चित्त-चैत्त सब धर्मों को नहीं जान सकते, वह विपरिणामी है, वह क्षण-क्षण पर उत्पन्न और निरुद्ध होते रहते हैं। वसुबन्धु इस आक्षेप की गुरुता का अनुभव करते हैं, और उत्तर देते हैं कि हम इस अर्थ में बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं कहते कि वह एक ही काल में सब धर्मों को जानते हैं। बुद्ध शब्द से एक सन्तान-विशेष ज्ञापित होता है। इस सन्तति का यह सामर्थ्य-विशेष है कि चित्त के आभोगमात्र से ही तत्काल उस अर्थ

का अविपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके संबन्ध में ज्ञान की इच्छा उदय हुई है। एक चित्त-क्षण सर्व ज्ञान का सामर्थ्य नहीं रखता। अतः इस सन्तति को सर्वज्ञ कहते हैं। वात्सीपुत्रीय प्रश्न करते हैं कि यदि अवक्तव्य पुद्गल नहीं है, तो भगवान् क्यों नहीं कहते कि जीव सर्वशः नहीं है, वह क्यों वत्सगोत्र (एक भिक्षु) के प्रश्न करने पर कि आत्मा है या नहीं, 'हाँ' या 'ना' में उत्तर नहीं देते। इस प्रश्न का उत्तर स्वयं भगवान् ने दिया है। भगवान् कहते हैं कि यह भिक्षु कदाचित् इस विचार से कि जीव स्कन्ध-सन्तान है, जीव के संबन्ध में प्रश्न करता है। यदि भगवान् यह उत्तर देते हैं कि जीव सर्वशः नहीं है, तो प्रश्न-कर्ता मिथ्यादृष्टि में अनुपतित होता है; और यदि भगवान् यह कहते हैं कि जीव है, तो यह धर्मता को बाधित करता है; क्योंकि कोई धर्म न आत्मा है, न आत्मीय। दृष्टि से जो क्षत होता है, उसको विचार कर और दूसरी ओर कुशल-कर्म का भ्रंश देख कर बुद्ध धर्म की देशना उसी प्रकार करते हैं, जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को दाँत से पकड़ ले जाती है। यहाँ एक श्लोक उदाहृत करते हैं—

दृष्टिदंष्ट्रावभेदं चापेक्ष्य भ्रंशं च कर्मणाम्।
देशयन्ति बुद्धा धर्मं व्याघ्रीपोतापहारवत्॥ (कुमारलात)

जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को अति निष्ठुरता से दाँतों से नहीं पकड़ती और न अति-शिथिलता से ही; उसी प्रकार बुद्ध पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं, विधेयात्मक या निषेधात्मक कोई उत्तर नहीं देते। जो आत्मा के अस्तित्व में प्रतिपन्न है, वह दृष्टि-दंष्ट्रा से विदीर्ण होता है, और जो संवृतिसत् पुद्गल को नहीं मानता, वह कुशल कर्म का भ्रंश करता है। आत्मवाद शाश्वतवाद है, और यह सोचना कि आत्मा नष्ट हो गयी है उच्छेदवाद है। तथागत इन दो अन्तों का परिहार कर मध्यमा-प्रतिपत्ति से धर्म की देशना करते हैं। इसके होने पर वह होता है······अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं, क्योंकि कोई द्रव्य-सत् जीव नहीं है; इसलिए बुद्ध नहीं कहते कि जीव अनन्य है या अन्य। वह यह भी नहीं कहते कि जीव का वास्तव में अस्तित्व नहीं है, इस भय से कि कहीं ऐसा कहने से लोग यह न समझने लगें कि प्राज्ञप्तिक जीव भी नहीं है।

एक दूसरा प्रश्नकर्ता पूछता है कि यदि पुद्गल का अस्तित्व नहीं है, तो संसार में संचरण कौन करता है? वसुबन्धु उत्तर देते हैं कि यथार्थपद बहुत सीधा है; यथा—जो अग्नि वन का दाह करती है उसके विषय में लोक में कहते हैं कि यह संचरण करती है। यद्यपि वह अग्नि के क्षण हैं तथापि ऐसा कहते हैं। क्योंकि इनकी एक सन्तान होती है। इसी प्रकार स्कन्ध-समुदाय निरन्तर नवीन होकर उपचार से सत्व की आख्या प्राप्त करता है, और तृष्णा का उपादान लेकर स्कन्ध-सन्तति संसार में संसरण करती है। वसुबन्धु एक दूसरी युक्ति देते हैं। यदि कोई आत्मा में प्रतिपन्न है तो इस आत्म-दृष्टि से उसमें आत्मीय-दृष्टि उत्पन्न होगी। इन दो दृष्टियों के होने से उसमें आत्म-स्नेह और आत्मीय-स्नेह होगा। ऐसा होने से सत्काय-दृष्टि होगी। वह आत्म-स्नेह और आत्मीय-स्नेह के बन्धनों से आबद्ध होगा और मोक्ष से अति दूर होगा।

आत्मवादी यह प्रश्न करते हैं कि यदि आत्मा का परमार्थतः अस्तित्व नहीं है तो चित्त, जो उत्पन्न होते ही निरुद्ध हो जाता है, बहुत पहले अनुभूत किए गये विषय का स्मरण

कैसे कर सकता है ? पूर्वानुभूत विषय के सदृश विषय का यह प्रत्यभिज्ञान कैसे कर सकता है ? कैसे एक चित्त देखता है, और दूसरा स्मरण करता है ? यदि आत्मा द्रव्य-सत् नहीं है तो कौन स्मरण करता है, और कौन वस्तुओं का प्रत्यभिज्ञान करता है ? प्रथम वही आत्मा अनुभव करता है, पश्चात् वही आत्मा स्मरण करता है।

वसुबन्धु उत्तर देते हैं कि निश्चय ही हम यह नहीं कह सकते कि एक चित्त एक विषय को देखता है, और दूसरा चित्त उस विषय का स्मरण करता है; क्योंकि यह दोनों चित्त एक ही सन्तान के हैं। हमारा कथन है कि एक अतीत चित्त विषय-विशेष को ग्रहण कर एक दूसरे चित्त अर्थात् प्रत्युत्पन्न चित्त का उत्पाद करता है, जो इस विषय का स्मरण करता है। दूसरे शब्दों में स्मरण-चित्त,दर्शन-चित्त (अनुभव-चित्त) से उत्पन्न होता है, जैसे—फल बीज से सन्तति-विपरिणाम की अन्तिम अवस्था के बल से उत्पन्न होता है। अन्त में स्मरण से ही प्रत्यभिज्ञान होता है।

वसुबन्धु पुनःकहते हैं कि कतिपय आचार्य कहते हैं कि भाव को भविता की अपेक्षा है, जैसे–देवदत्त का गमन देवदत्त की अपेक्षा करता है। गमन भाव है,देवदत्त भविता है। इसी प्रकार विज्ञान और यत्किंचित् भाव एक आश्रय की,विज्ञाता की; अपेक्षा करते हैं। वसुबन्धु इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं:—वास्तव में देवदत्त का गमन शरीर-सन्तान का देशान्तरों में उत्पादमात्र ही है। कोई सोत्पाद हेतु अर्थात् सन्तान का पूर्व क्षण 'गमन' कहलाता है। जैसे हम कहते हैं कि ज्वाला जाती है, उसी प्रकार देवदत्त के गमन को कहते हैं कि देवदत्त जाता है। इसका अर्थ है कि ज्वाला की सन्तान उत्पन्न होकर एक देश से दूसरे देश को जाती है। इसी प्रकार लोक में कहते हैं कि देवदत्त जानता है (विजानाति)। क्योंकि यह समुदाय जिसे देवदत्त कहते हैं, विज्ञान का हेतु है, और लोक-व्यवहार का अनुवर्तन कर स्वयं आर्य इस भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रदीप का गमन यह है : — अर्चिक्षण की अव्युच्छिन्न सन्तान में, जिसे विपर्ययवश एक करके ग्रहण करते हैं, प्रदीप का उपचार होता है। जब इन समनन्तर क्षणों में से एक, पूर्व क्षण से अन्यत्र, देशान्तर में उत्पद्यमान होता है, तो कहा जाता है कि प्रदीप जाता है। किन्तु अर्चि-सन्तान से पृथक् और अन्य कोई गन्ता नहीं है। जब एक चित्त-क्षण विषयान्तर में उत्पद्यमान होता है, तब कहते हैं कि विज्ञान इस विषय को जानता है। यदि हम यह भी मान लें कि एक नित्य आत्मा और नित्य असंचारी मन का संयोग होता है; तथापि आप विशिष्ट संयोग का होना, जो विशिष्टचित्त के लिए आवश्यक है; कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? क्या आप यह कहेंगे कि यह विशिष्टता बुद्धि-विशेष के कारण होती है, जो आत्मा का गुण है ? किन्तु बुद्धि में भी वही कठिनाई है, जो मन में है। जब आत्मा विशिष्ट है, तब बुद्धि कैसे विशिष्ट होगी ? क्या आप कहेंगे कि संस्कार-विशेष से आत्मा और मन का संयोग-विशेष होता है, और इस विशेष से बुद्धि-विशेष होता है ? इस पक्ष में आत्मा निष्प्रयोजनीय हो जाता है। आप यह क्यों नहीं कहते कि संस्कार-विशेषापेक्ष चित्त से ही चित्त-विशेष होता है। चित्तोत्पाद में आत्मा का सामर्थ्य नहीं है, और यह कहना कि आत्मा से चित्त प्रवृत्त होते हैं, एक कुहक-

वैद्य के समान आचरण करना है, जो मंत्रों से औषधि को अभिमन्त्रित करता है। फट्! स्वाहा! मन्त्रों का उच्चारण करता है, यद्यपि औषध में रोग के उपशम का सामर्थ्य है।

सांख्य का आक्षेप है कि यदि अपर-विज्ञान पूर्व-विज्ञान से उत्पन्न होता है,आत्मा से नहीं; तो अपर-विज्ञान पूर्व-विज्ञान के सदृश नित्य क्यों नहीं होता, जैसे—अंकुर-काण्ड-पत्रादि का होता है? पहले प्रश्न का उत्तर यह है:—क्योंकि जो हेतु-प्रत्यय-जनित (संस्कृत) है, उसका लक्षण 'अन्यथात्व' (स्थित्यन्यथात्व) है। 'संस्कृत' का ऐसा स्वभाव है कि उनकी सन्तान में अपर पूर्व से भिन्न होगा। यदि इसके विपरीत होता तो ध्यान समाहित योगी का स्वयं व्युत्थान नहीं होता। क्योंकि काय और चित्त की उत्पत्ति नित्य सदृश होती, और सन्तान के उत्तरोत्तर क्षण अनन्य होते। दूसरी कठिनाई के सम्बन्ध में यह कहना है कि चित्तों के उत्पाद का क्रम भी नित्य है। यदि किसी चित्त को किसी दूसरे चित्त के अनन्तर उत्पन्न होना है,तो वह उस चित्त के अनन्तर उत्पन्न होगा। दूसरी ओर कुछ चित्तों में आंशिक सादृश्य होता है, जिसके कारण वह अपने गोत्र के विशेष-लक्षणवश एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न होते हैं। जिस चित्त का इन चित्तों में से जो गोत्र अर्थात् बीज होगा, उसके अनुसार यह दूसरा चित्त होगा, अन्यथा जब सदृश गोत्र नहीं होगा तब नहीं होगा। पुनश्च; विविध हेतुवश एक चित्त के अनन्तर विविध चित्त पर्याय से उत्पन्न हो सकते हैं। इन सब चित्तों में जो 'बहुतर' हैं—जो अतीत के प्रवाह में रह चुके हैं, जो 'पटुतर' हैं—जो उत्पाद्य चित्त के 'आसन्नतर' हैं; वह पहले उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इन चित्तों से चित्त-सन्तान प्रबल रूप से वासित होती है।

वसुबन्धु पुनः कहते हैं कि यदि आपका यही मत है कि आत्मा चित्तों का आश्रय है,तो हम आप से उदाहरण देकर इस आश्रय-आश्रित संबन्ध का विवेचन करने के लिये कहते हैं। चित्त (जिसे संस्कार प्रभावित करते हैं) चित्र या बदर-फल नहीं है, जिसे आत्मा का आधार चाहिये; जैसे भित्ति चित्र का आधार है या भाजन बदर-फल का आधार है। वस्तुतः एक पक्ष में (आत्मा और चित्त-संस्कार के बीच) प्रतिघातित्व स्वीकार करना पड़ेगा और दूसरे पक्ष में चित्र और बदर-फल का, भित्ति और भाजन का पृथग्-देशत्व होगा। आप कहते हैं कि यथा पृथिवी, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श्य का आश्रय है; उसी प्रकार आत्मा चित्त-संस्कार का आश्रय है। हम इस उदाहरण पर प्रसन्न हैं, क्योंकि यह आत्मा के अभाव को सिद्ध करता है। यथा गन्धादि से अन्यत्र पृथिवी की उपलब्धि नहीं होती, जिसे लोक में 'पृथिवी' कहते हैं; वह रूपादि का समुदाय मात्र है। उसी प्रकार चित्त-संस्कारों से अन्य आत्मा नहीं है। पृथिवी गन्धादि से अन्य है यह कौन निर्धारित कर सकता है? किन्तु यदि गन्धादि से अन्य पृथिवी है तो यह व्यपदेश कैसे होता है, कि यह गन्धादि पृथिवी के हैं। विशेषण के लिए पृथिवी का गन्ध, पृथिवी का रस ऐसा कहते हैं। दूसरे शब्दों में—इससे यह सूचित किया जाता है कि अमुक गन्ध-रस आदि की पृथिवी आख्या है; यह वह गन्ध, रस आदि नहीं है, जिनकी 'अप्' आख्या है। यथा लोक में जब किसी वस्तु को काष्ठ-प्रतिमा का शरीर कहते हैं, तो इससे यह सूचित किया जाता है कि वह वस्तु काठ की है, मृण्मय नहीं है।

वसुबन्धु पूछते हैं कि यदि आत्मा संस्कार-विशेष की अपेक्षा कर चित्त का उत्पाद करता है

तो यह सब चित्तों का युगपत् उत्पाद क्यों नहीं करता ? वैशेषिक उत्तर देते हैं:—क्योंकि बलिष्ठ संस्कार-विशेष अन्य दुर्बल संस्कार-विशेषों की फलोत्पत्ति में प्रतिबन्धक है,और यदि बलिष्ठ संस्कार नित्य फल नहीं देता तो इसका कारण वही है, जो आपने चित्त से सन्तान में आहित वासना के विवेचन में दिया है। हमारा मत है कि संस्कार नित्य नहीं हैं, और उनका अन्यथात्व होता है। वसुबन्धु कहते हैं कि उस अवस्था में आत्मा निरर्थक होगा, संस्कारों के बल-विशेष से चित्त-विशेष उत्पन्न होंगे, क्योंकि आपके संस्कार और हमारी वासना के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। वैशेषिक कहता है कि स्मृति-संस्कारादि गुण पदार्थ हैं; इन गुण पदार्थों का आश्रय कोई न कोई द्रव्य होना चाहिये, और पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में ऐसा आत्मा ही हो सकता है, क्योंकि यह अग्राह्य है कि स्मृति तथा अन्य चैतसिक गुणों का आश्रय चेतन आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य हो। किन्तु द्रव्य-गुण का सिद्धान्त सिद्ध नहीं है। बौद्ध इससे सहमत नहीं हैं कि स्मृति-संस्कारादि गुण पदार्थ हैं, द्रव्य नहीं है। उनका मत है कि यत्किंचित् विद्यमान है वह सब 'द्रव्य' है। वैशेषिक पुनः कहते हैं कि यदि वास्तव में आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो कर्मफल क्या है ? बौद्ध कहते हैं कि पुद्गल का सुख दुःख का अनुभव ही कर्मफल है। वैशेषिक पूछते हैं कि आप पुद्गल से क्या समझते हैं ? बौद्ध कहते हैं कि जब हम 'अहम्' कहते हैं तब हमारा आशय 'पुद्गल' से होता है। यह 'अहम्' अहंकार का विषय है। वैशेषिक पूछते हैं कि फिर कर्म का कर्ता कौन है; फल का उपभोग करने वाला कौन है ? और उत्तर देते हैं कि कर्ता, उपभोक्ता आत्मा है। बौद्ध कहते हैं कि जिसे किसी कर्म का कर्ता कहते हैं, वह उसके सब कारणों में उस कर्म का प्रधान कारण है। काय-कर्म की उत्पत्ति का प्रधान कारण वास्तव में क्या है ? स्मृतिकर्म के लिए छन्द काम करने की अभिलाषा उत्पन्न करती है, छन्द से वितर्क उत्पन्न होता है, वितर्क से प्रयत्न प्रवृत्त होता है, इससे वायु उत्पन्न होती है, वायु से काय-कर्म होता है। इस प्रक्रिया में वैशेषिकों की आत्मा का क्या कारित्र है ? यह आत्मा काय-कर्म का कर्ता निश्चय ही नहीं है। इसी प्रकार वाचिक तथा मानसिक कर्म को भी समझना चाहिये।

यद्यपि वसुबन्धु आत्मा के वस्तु-सत् होने का प्रतिषेध करते हैं, तथापि बौद्ध-धर्म में प्रायः अनिश्चितता देखी जाती है। लोक की शाश्वतता के प्रश्न को ले लीजिए, इस प्रश्न के संबन्ध में भगवान् ने चार बातों का व्याकरण नहीं किया है। यदि प्रश्नकर्ता लोक से आत्मा का ग्रहण करता है तो, प्रश्न की चतुष्कोटि अयथार्थ हो जाती है, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व परमार्थतः नहीं है। यदि वह लोक से संसार का ग्रहण करता है,तो भी चतुष्कोटि अयथार्थ है। यदि संसार नित्य है तो मनुष्य निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता; यदि यह नित्य नहीं है तो सब आकस्मिक निरोध से—प्रयत्न से नहीं, निर्वाण का लाभ करेंगे। यदि यह नित्य और अनित्य दोनों है, तो कुछ निर्वाण प्राप्त नहीं करेंगे और अन्य अकस्मात् प्राप्त करेंगे। यह कहना कि लोक संसार के अर्थ में न शाश्वत है, न अशाश्वत; यह कहने के बराबर है कि जीव निर्वाण की प्राप्ति नहीं करते हैं और करते भी हैं। यह विरोधोक्ति है। वस्तुतः निर्वाण मार्ग द्वारा पाया जा सकता है। इसलिए कोई निश्चित उत्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अन्त में वसुबन्धु परीक्षा करते हैं कि बीज से फल की उत्पत्ति कैसे होती है। लोक में कहते हैं कि फल बीज से उत्पन्न होता है, किन्तु इस उक्ति का यह अर्थ नहीं होता कि फल निरुद्ध-बीज से उत्पन्न होता है, या फल बीज के अनन्तर अर्थात् विनश्यमान-बीज से उत्पन्न होता है। वास्तव में बीज-सन्तान के परिणाम के अतिप्रकृष्ट-क्षण से फल की उत्पत्ति है। बीज उत्तरोत्तर अंकुर, कांड, पत्र का उत्पादन करता है, और अन्त में पुष्प का; जिससे फल का प्रादुर्भाव होता है। यदि कोई यह कहता है कि बीज से फल की उत्पत्ति होती है, तो इसका कारण यह है कि बीज (मध्यवर्तियों की) परंपरा से पुष्प में फलोत्पादन का सामर्थ्य आहित करता है। यदि बीज फलोत्पादन के सामर्थ्य का—जो पुष्प में पाया जाता है, पूर्व हेतु न होता तो पुष्प बीज के सदृश फल उत्पन्न न करता। इसी प्रकार कहा जाता है कि फल कर्म-जनित है, किन्तु यह विनष्ट कर्म से उत्पन्न नहीं होता, यह कर्म के अनन्तर उत्पन्न नहीं होता; यह कर्म-समुत्थित सन्तान के परिणाम के अतिप्रकृष्ट क्षण से उत्पन्न होता है। सन्तान से हमारा अभिप्राय रूपी और अरूपी स्कन्धों से है, जो अविच्छिन्न रूप से एक सन्तान में उत्तरोत्तर प्रवर्तमान होते हैं, और जिस सन्तान का पूर्व हेतु कर्म है। इस सन्तान के निरन्तर क्षण हैं; इसलिए सन्तान का परिणाम, अन्यथात्व होता है। इस परिणाम का अन्त्य क्षण एक विशेष या प्रकृष्ट सामर्थ्य रखता है। यह सामर्थ्य फल का तत्काल उत्पादन करता है। इस कारण यह क्षण अन्य क्षणों से विशिष्ट है। इसलिए इसे 'विशेष' अर्थात् परिणाम का प्रकर्षपर्यन्त प्राप्त क्षण कहते हैं।

———

त्रयोदश अध्याय

कर्म-वाद

जीवलोक और भाजनलोक (विश्व) की विचित्रता ईश्वर कृत नहीं है। कोई ईश्वर नहीं है, जिसने बुद्धिपूर्वक इसकी रचना की हो। लोक-वैचित्र्य कर्मज है। यह सत्वों के कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म दो प्रकार के हैं—चेतना और चेतयित्वा। चेतना मानस कर्म है। चेतना से जो उत्पन्न होता है, अर्थात् चेतयित्वा-कर्म चेतनाकृत है। चेतयित्वा कर्म दो हैं—कायिक और वाचिक। इन तीन प्रकार के कर्मों की सिद्धि आश्रय, स्वभाव और समुत्थान इन तीन कारणों से होती है। यदि हम आश्रय का विचार करते हैं, तो एक ही कर्म ठहरता है, क्योंकि सब कर्म काय पर आश्रित हैं। यदि हम स्वभाव का विचार करते हैं, तो वाक्-कर्म ही एक कर्म है, अन्य दो का कर्मत्व नहीं है, क्योंकि काय, वाक् और मन इन तीन में से केवल वाक् स्वभावतः कर्म है। यदि हम समुत्थान का विचार करते हैं, तो केवल मनस् कर्म है, क्योंकि सब कर्मों का समुत्थान (आरम्भ) मन से है।

सब कर्म 'उपचित' (संचितकर्म, क्रियमाणानि कर्माणि, आरब्धफलानि कर्माणि) नहीं होते, अर्थात् फल देना आरंभ नहीं करते। 'कृत' कर्म और 'उपचित' कर्म में भेद है। 'उपचित' कर्म की व्याख्या अभिधर्मकोश [४,१२०] में दी है। वही कर्म उपचित होता है, जो स्वेच्छा से या बुद्धिपूर्वक (संचिन्त्य) किया जाता है। अबुद्धिपूर्वक कर्म, बुद्धिपूर्वक सहसाकृत कर्म, या वह कर्म जो भ्रान्तिवश किया जाता है, उपचित नहीं होता। भाष्याक्षेप से अभ्यासवश जो मृषावाद का अनुष्ठान होता है, वह अकुशल-कर्म है, किन्तु वह उपचित नहीं होता। जो भ्रान्तिवश अपने पिता का वध करता है, वह उपचित कर्म नहीं करता। जो कर्म असमाप्त रहता है, वह उपचित नहीं होता। कोई एक दुश्चरित से दुर्गति को प्राप्त होता है, कोई दो से, कोई तीन से; कोई एक कर्मपथ से, कोई दो से,.........कोई दश से। यदि जिस प्रमाण से दुर्गति की प्राप्ति होती है, वह प्रमाण असमाप्त रहता है, तो 'कृत' कर्म 'उपचित' नहीं होता; समाप्त होने पर ही उपचित होता है। कर्म करने के उपरान्त यदि अनुताप होता है, तो कृत कर्म 'उपचित' नहीं होता। पाप के आविष्कृत करने से पाप की मात्रा का तनुत्व या परिक्षय होता है। पाप कर्म का प्रतिपक्ष होने से कृत कर्म 'उपचित' नहीं होता। पाप-विरति का व्रत लेने से, शुभ का अभ्यास करने से, आश्रय-बल से, अर्थात् बुद्धादि की शरण में जाने से, पाप कर्म 'उपचित' नहीं होता।

जब कर्म अशुभ है, और उसका अकुशल परिवार है, तभी कर्म 'उपचित' होता है। जो कर्म विपाक-दान में नियत है, वह उपचित होता है; जो अनियत है, वह 'उपचित' नहीं

होता। वस्तुतः 'पृष्ठ' से ही कर्म की परिसमाप्ति होती है। कर्म की गुरुता प्रयोग, मौलकर्म और पृष्ठ की गुरुता पर निर्भर करती है।

शुद्ध मानसिक-कर्म

हम ऊपर कह चुके हैं कि कर्म दो प्रकार का है:—चेतना और चेतयित्वा कर्म। चेतना मानस कर्म है। कायिक-वाचिक कर्म के बिना ही मानस कर्म अपने अभीष्ट की प्राप्ति कर सकता है। दण्डकारण्यादि की कथा है, कि ऋषियों के मनःप्रदोष से वह निर्जन हो गये, उनके कोप से दण्डकादि शून्य हो गये, और महावन का व्यापाद हुआ। यह मानस कर्म की गुरुता को सिद्ध करता है। अतः भगवान् कहते हैं कि तीन दण्डों (कायदण्ड, वाग्दण्ड, मनोदण्ड; दण्ड=कर्म) में मनोदण्ड महासावद्य है, और सर्व सावद्यों में (पापों में) मिथ्यादृष्टि सर्व पापिष्ठ है। ऋद्धिमान् श्रमण या ब्राह्मण की चेतना का बड़ा सामर्थ्य है।

मैत्री-भावना भी एक चेतना है या चेतना-सन्तति है। मैत्री-भावना में कोई प्रतिग्राहक नहीं है। परानुग्रह नहीं होता, तथापि मैत्री-चित्त के बल से ही उसके लिए पुण्य का उत्पाद होता है। मैत्री-चित्त में रुचि का होना ही मानस-कर्म है।

इसी प्रकार भगवद्देशना को श्रवण कर, कि सर्व दुःख है, मैं उसमें श्रद्धा उत्पन्न करता हूं, मैं उसमें अभिनिविष्ट होता हूँ। अन्त में मेरी इस देशना में रुचि होती है, और मैं इस दुःख-सत्य का साक्षात्कार करता हूँ। यह सब चेतनाख्य कर्म हैं।

काय-कर्म वाक्-कर्म

ऋषियों की शुद्ध चेतना से ही फल होता है। किन्तु सामान्यतः फल प्राप्ति के लिए चेतन को काय और वाक् का समुत्थान करना होता है।

शत्रु के प्राणातिपात की चेतना और शत्रु का प्राणातिपात एक नहीं है। प्राणातिपात एक चेष्टा-विशेष है, काय-सन्निवेश विशेष है; जिससे जीव के जीवन का अपहरण होता है। यदि मैं शत्रु का वध करता हूँ, तो मैं उसका अधिक अपकार करता हूँ; यदि मैं केवल उसका उपघात करता हूँ, तो कम अपकार करता हूं। मेरे द्वेष का भाव प्राणातिपात से दृढ़ और सबल होता है। मानसिक पूजा और भक्ति से मेरी चित्त-सन्तति वासित होती है। किन्तु यदि मेरी भक्ति सक्रिय हो तो मेरा पुण्य अधिक हो। जो अप्रतिष्ठित देश में बुद्ध का शारीर स्तूप प्रतिष्ठित करता है, जो चातुर्दिश भिक्षु-संघ को आराम-विहार प्रदान करता है, जो भिन्न संघ का प्रतिसंधान करता है, वह ब्राह्म-पुण्य का प्रसव करता है। अतः काय-विज्ञप्ति और वाग्-विज्ञप्ति का सामर्थ्य चेतना से पृथक् है।

कर्म की परिपूर्णता, समाप्तता (परिपूरि)

चेतना क्षणिक है। किन्तु पौनःपुन्येन अभ्यासवश कायवाग्विज्ञप्ति का समुत्थान करने से इसकी गुरुता होती है। अन्य शब्दों में बहु-चेतना-वश कर्म की गुरुता होती है। अतः परिसमाप्त और असमाप्त कर्म में विशेष करना चाहिये।

कर्म की परिपूर्णता के लिये निम्नलिखित चार बातों की आवश्यकता है:—

प्रयोग—अर्थात् यह आशय कि मैं इस इस कर्म को करूँगा (यह शुद्ध चेतना है। सूत्र इसे चेतना-कर्म कहता है। यहाँ चेतना ही कर्म है)।

मौल प्रयोग—तदनन्तर पूर्व कृत संकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है। काय के संचालन या वाग्-ध्वनि के निःसरण के लिए यह चेतना होती है। इस चेतनावश वह प्रयोग करता है। यथा—एक पुरुष पशु के मारने की इच्छा से अपने शयन से उठता है, रजत लेता है, आपण को जाता है, पशु की परीक्षा करता है, पशु का क्रय करता है, उसे ले जाता है, घसीटता है, उसे अपने स्थान पर लाता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करता है। वह शस्त्र लेकर पशु पर एक बार, दो बार प्रहार करता है। जब तक कि वह उसको मार नहीं डालता तब तक वध (प्राणातिपात) का प्रयोग रहता है।

मौल कर्मपथ—जिस प्रहार में यह पशु का वध करता है, अर्थात् जिस क्षण में पशु मृत होता है, उस क्षण की जो विज्ञप्ति (काय-कर्म), और उस विज्ञप्ति के साथ उत्पन्न जो अविज्ञप्ति होती है, वह 'मौल कर्मपथ' है। विज्ञप्ति से संभूत शुभ-अशुभ रूप 'अविज्ञप्ति' है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि जब वध के लिए नियुक्त पुरुष वध करता है, तब यह न्याय है कि प्रयोक्ता की चित्त-सन्तति में एक सूक्ष्म परिणाम-विशेष होता है, जिसके प्रभाव से यह सन्तति भविष्य में फल की अभिनिष्पत्ति करती है। दो कारणों से वह प्राणातिपात के पाप से स्पृष्ट होता है—प्रयोगतः और प्रयोग के फलपरिपूरितः।

पृष्ठ—वध से उत्पन्न अनन्तर के अविज्ञप्ति-क्षण 'पृष्ठ' होते हैं; विज्ञप्ति-क्षण की सन्तति भी 'पृष्ठ' होती है। यथा पशु के चर्म का अपनयन करना, उसे धोना, तौलना, बेचना, पकाना, खाना, अपना अनुकीर्तन करना।

'प्रयोग' पूर्व कृत संकल्प और उसके अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद है। यह स्वयं दूसरों का अपकारक है। वधिक पशु का वध करने के पूर्व उसको पीड़ा पहुँचाता है। 'प्रयोग' प्रायः गरिष्ठ अवद्य से परिपूर्ण होता है। यथा—एक पुरुष काम-मिथ्याचार की दृष्टि से स्तेय (अदत्तादान) या वध करता है।

'पृष्ठ' मौल कर्मपथ का अनुवर्तन करता है। इसका महत्त्व है। यदि मैं हत शत्रु के विरुद्ध भी द्वेष करूँ तो मैं द्वेषभाव की वृद्धि करता हूँ। जब 'पृष्ठ' का सर्वथा अभाव रहता है, तब मौल कर्म का स्वभाव बदलता है। यदि मैं दान देकर पश्चात्ताप करूँ, तो मेरे दान के पुण्य-परिमाण में कमी होती है।

प्रयोग और मौल कर्म

प्राणातिपात कर्मपथ के लिए मृत्यु होना आवश्यक है। यदि मैं वध की इच्छा से किसी पशु का उपघात करता हूँ किन्तु वह मृत नहीं होता, तो प्राणातिपात नहीं है। जिस प्रहार से तत्काल या पश्चात् मृत्यु होती है, वह प्रहार प्राणातिपात के प्रयोग में संमिलित है। जिस क्षण में पशु मृत होता है, उस क्षण की जो विज्ञप्ति और उस विज्ञप्ति के साथ उत्पन्न जो अविज्ञप्ति होता है, वह मौल कर्म-पथ है। अतः यदि मैं इस प्रकार प्रहार करूँ, जिसमें

पशु की मृत्यु हो जाय, और यदि उसकी मृत्यु तत्काल न हो, और मैं उस पशु की मृत्यु के पहले ही मृत हो जाऊँ, तो मैं प्राणातिपात के प्रयोग से 'स्पृष्ट' होकर मृत होता हूँ, किन्तु प्राणातिपात के मौल कर्म-पथ से 'स्पृष्ट' नहीं होता। क्योंकि जिस क्षण में मौल-कर्म सम्पन्न होता है, उस क्षण में मैं अन्य होता हूँ। मैं अब वह आश्रय नहीं हूँ, जिसने प्रयोग संपन्न किया है।

प्राणातिपात की आज्ञापन-विज्ञप्ति

प्राणातिपात की आज्ञा प्राणातिपात नहीं है। प्राणातिपात तभी है, जब आज्ञा का अनुसरण हो, और वह उसी क्षण में है, जिस क्षण में आज्ञा के अनुसार कार्य होता है। एक भिक्षु दूसरे भिक्षु से अमुक का वध करने के लिए कहता है। वह अपराध करता है, दूसरा भिक्षु अमुक का वध करता है। उस समय दोनों भिक्षु एक गुरु पाप के दोषी होते हैं। इससे उनकी भिक्षुता नष्ट होती है। यदि द्वितीय भिक्षु को संज्ञा-विभ्रम होता है, और वह अन्य का वध करता है तो उस अवस्था में प्रथम का एक अपूर्व अपराध होता है, द्वितीय का गुरु पाप होता है। यदि द्वितीय भिक्षु दूसरे का वध यह जान कर करता है, कि यह अन्य है, तो प्रथम का उत्तरदायित्व नहीं है।

पुण्य-क्षेत्र

उपकार और गुण के कारण क्षेत्र विशिष्ट होता है, यथा—माता को दिया दान विशिष्ट होता है; यथा—शीलवान् को दान देकर शतसहस्र विपाक होता है। सब दानों में मुक्त का मुक्त को दिया दान श्रेष्ठ है। इस प्रकार कर्मों की लघुता और गुरुता जानने के लिए क्षेत्र का भी विचार रखना होता है। पितृ-मातृ-वध आनन्तर्य कर्म है। आनन्तर्य का दोषी इस जन्म के अनन्तर ही नरक में जन्म लेता है। यह 'आनन्तर्य' इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि इनका फल अनन्तर ही उत्पन्न होता है। किसी भिक्षु को दान देना पुण्य है पर किसी अर्हत् को दिया गया दान महत्-पुण्य का प्रसव करता है। अर्हत्-वध आनन्तर्य कर्म है।

गुण के कारण विशिष्ट आर्य पुण्य-अपुण्य के क्षेत्र हैं। इनके प्रति किया हुआ शुभ या अशुभ महत्पुण्य या महत् अपुण्य का प्रसव करता है।

यदि मैं यज्ञदत्त (जो आर्य नहीं है) का वध करने की इच्छा से आर्य देवदत्त की हत्या करता हूँ तो मैं आर्य के वध का आपन्न नहीं हूँ, क्योंकि आश्रय के विषय में संज्ञा-विभ्रम है। किन्तु यदि मैं बुद्धिपूर्वक, बिना भ्रम के, आर्य देवदत्त का वध करूँ, तो मैं आर्य के प्राणातिपात का आपन्न हूँ; यद्यपि मुझको आर्यता का ज्ञान न हो।

यदि मैं एक भिक्षु को, जो वस्तुतः आर्य है, सामान्य भिक्षु समझ कर दान दूँ तो मैं अमित पुण्य का भागी हूँगा। इसके विपरीत जो भिक्षु अपने से छोटे भिक्षु का, जिसके अर्हत्-गुण की वह उपेक्षा करता है; पराभव करता है, वह पाँच सौ बार दास होकर जन्म लेता है।

इसीलिए आर्य अरणा-समाधि (कोश, ७,३६) का अभ्यास करते हैं। जिनमें उसके दर्शन से किसी में क्लेश की उत्पत्ति न हो, जिसमें उनके लिए किसी में राग-द्वेष-

मानादि उत्पन्न न हों। वह जानते हैं कि वह अनुत्तर पुण्य-क्षेत्र हैं। उनको भय है कि कहीं दूसरे उनको देखकर उनके विषय में क्लेश न उत्पन्न करें (जो विशेष कर उनको हानि पहुँचावे)। उनकी अरणा-समाधि का यह सामर्थ्य है कि दूसरों में क्लेश उत्पन्न नहीं होता।

अविज्ञप्ति-कर्म

ऊपर हम कह चुके हैं कि विज्ञप्ति से संभूत कुशल-अकुशल रूप 'अविज्ञप्ति' है। यहाँ हम अविज्ञप्ति की व्याख्या करेंगे।

'विज्ञप्ति' वह है जो काय द्वारा या वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति को 'ज्ञापित' करती है। प्राणातिपात-विरति का समादान (ग्रहण) जिस वाक्य से होता है, वह वाग्विज्ञप्ति है। प्राणातिपात की आज्ञा, अर्थात् 'अमुक का वध करो' वाग्विज्ञप्ति है। काय का प्रत्येक कर्म काय-विज्ञप्ति है।

जो प्राणातिपात की आज्ञा देता है, वह वाग्विज्ञप्ति का आपन्न है। जिस क्षण में वधिक वध करता है, वह काय-विज्ञप्ति का आपन्न होता है। किन्तु हम कह चुके हैं कि प्राणातिपात की आज्ञा देनेवाला उस क्षण में वध नामक कायिक-विज्ञप्ति का आपन्न होता है, जिस क्षण में उसकी आज्ञा का अनुवर्तन कर वध होता है। उस क्षण में वह किस प्रकार का कर्म करता है? उस समय वह अन्य कार्य में व्यापृत होता है। कदाचित् वह अपनी आज्ञा को भी भूल गया है। वह उस समय पाप-चित्त से संप्रयुक्त नहीं है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वध के क्षण में आज्ञा देने वाले में अविज्ञप्ति कर्म की उत्पत्ति होती है। यह कर्म कुछ 'ज्ञापित' नहीं करता, तथापि यह विज्ञप्ति के समान वस्तुसत् है। यह अविज्ञप्ति कायिक-अविज्ञप्ति कहलाती है। यद्यपि यह वाग्विज्ञप्ति (प्राणातिपात की आज्ञापन-विज्ञप्ति) से संभूत होती है, क्योंकि यह काय-विज्ञप्ति (वध-कर्म) के क्षण में उत्पन्न होती है।

जिस सत्व ने प्रातिमोक्ष-संवर[1] का समादान किया है, वह निःसन्देह अन्य से भिन्न है। जिस भिक्षु ने प्राणातिपात-विरति का समादान किया है, वह उससे कहीं श्रेष्ठ है, जो सुअवसर न पाने के कारण प्राणातिपात से विरत है, किन्तु जो अवसर पाने पर वध करेगा। निद्रा की अवस्था में भी भिक्षु, भिक्षु ही रहता है। अतः हमको स्वीकार करना पड़ता है कि—"मैं प्राणातिपात से विरत होता हूँ" यह वाग्विज्ञप्ति एक अविज्ञप्ति का उत्पाद करती है। यह विज्ञप्ति के सदृश दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करती। इसका अनुबन्ध है। निद्रा में, असंज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में, यहाँ तक विक्षिप्त-चित्त में भी, इसकी वृद्धि होती रहती है। यह एक सेतु है जो दौःशील्य का प्रति-

1. 'संवर' 'विरति' को कहते हैं। संवर वह है, जो दौःशील्य-प्रबन्ध का संवरण करता है। प्रातिमोक्ष-संवर इस लोक के सत्वों के शील को कहते हैं। यह आठ प्रकार का है—भिक्षु, भिक्षुणी, श्रामणेर, श्रामणेरिका, उपासक, उपासिका, शिक्षमाणा और उपवसथ का संवर।

बन्धक है। इसी प्रकार जिसका व्यवसाय वध करना है, वह सदा प्राणातिपात का अविज्ञप्ति-कर्म करता रहता है।

भिक्षु की अविज्ञप्ति 'संवर' है, वधिक की अविज्ञप्ति 'असंवर' है। व्रत-समादान से 'संवर' का ग्रहण होता है। प्राणातिपात की जीविका होने से असंवर का ग्रहण होता है। अथवा यदि कोई 'असंवरस्थ' के कुल में जन्म लेता है, या यदि प्रथम बार पापकर्म करता है तब असंवर का ग्रहण होता है। इसके लिए कोई विधिपूर्वक असंवर का ग्रहण नहीं करता। सदा पाप-क्रिया के अभिप्राय से कर्म करने से असंवर का लाभ होता है।

क्या कोई बिना कायिक या वाचिक कर्म के, बिना किसी प्रकार का विज्ञापन किये, मृषावादावद्य से स्पृष्ट हो सकता है? हाँ; भिक्षु भिक्षु-पोषध (उपवास) में तूष्णींभाव से मृषावादी होता है। वस्तुतः भिक्षु-पोषध में विनयधर प्रश्न करता है—"क्या आप परि-शुद्ध हैं?" यदि भिक्षु की कोई आपत्ति (दोष) है, और वह उसे आविष्कृत नहीं करता, और तूष्णींभाव से अधिवासना (अनुमोदन) करता है, तो वह मृषावादी होता है। किन्तु भिक्षु काय-वाक् से पराक्रम (आक्रमण, मारण) नहीं करता, इसलिए विज्ञप्ति नहीं है, और कायावचरी अविज्ञप्ति वहाँ नहीं हो सकती जहाँ विज्ञप्ति का अभाव है। इसका समाधान होना चाहिए।

संघभद्र समाधान करते हैं। वह कहते हैं कि अपरिशुद्ध भिक्षुसंघ में प्रवेश करता है, बैठता है, अपना ईर्यापथ कल्पित करता है। यह उसकी पूर्व विज्ञप्ति है। यह कायिक-विज्ञप्ति मृषावाद की वाक्-अविज्ञप्ति का उत्पाद उस क्षण में करती है, जिस क्षण में वह उस स्थान पर खड़ा होता है।

केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नहीं हैं। कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा। इससे एक अपूर्व कर्म, एक अविज्ञप्ति होती है।

अतः दान का पुण्य दो प्रकार का है:—वह पुण्य जो त्यागमात्र से ही प्रसूत होता है (त्यागान्वय-पुण्य), और वह पुण्य जो प्रतिग्रहीता द्वारा दान-वस्तु के परिभोग से संभूत होता है (परिभोगान्वय-पुण्य)। एक सत्व भिक्षु को दान देता है। चाहे वह भिक्षु उस दान-वस्तु का परिभोग न करे, चाहे वह दिए अन्न को न खाये; तथापि सत्व का त्याग—जो विज्ञप्ति है, पुण्य का प्रसव करता है। चैत्य को दिया दान त्यागान्वय-पुण्य है। इसी प्रकार मैत्री ब्रह्मविहार में किसी की प्रीति नहीं होती, और न किसी पर अनुग्रह होता है, तथापि मैत्री-चित्त के बल से त्यागान्वय-पुण्य प्रसूत होता है। किन्तु यदि भिक्षु दान-वस्तु का परिभोग करता है, और उससे उपकृत हो उसमें समापत्ति में प्रवेश करने की शक्ति उत्पन्न होती है, तो इससे एक अविज्ञप्ति का उत्पाद होता है, जिसका पुण्य दानकृत अनुग्रह की मात्रा के अनुसार होता है।

दैव और पुरातन कर्म

कर्म चेतना तथा चेतनाकृत शरीर-चेष्टा और वाग्-ध्वनि है। इससे कर्म-स्वातन्त्र्य का स्वभाव प्रकट होता है। कर्म मानस, कायिक और वाचिक है। कर्म के यह प्राचीन भेद हैं, यह भी यही सिद्ध करते हैं।

किन्तु सब इस स्वातन्त्र्य को नहीं मानते। ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वर सत्वों के कर्मों का विधायक है। नियतिवादी कहते हैं कि दैव जीव को कर्म में नियोजित करता है, जैसे वह सुख-दुःख का देनेवाला है। दैव क्या है? या तो यह यदृच्छा है, अर्थात् हमारे कर्म अकारण होते हैं, या यह पुरातन कर्म है 'दैवं पुरातनं कर्म' (बोधिचर्यावतार ८,८१)। इस जन्म के हमारे कर्म पूर्व-जन्म-कृत कर्मों के फल हैं।

किन्तु यदि हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तो हम पाप-क्रिया नहीं कर सकते और यदि यदृच्छावश, ईश्वरेच्छावश, पुरातन कर्मवश हमारे कर्म होते हैं, तो हम स्वतन्त्र नहीं हैं। जातकमाला (२३) में निम्न पांच वादों का निराकरण है। सब अहेतुक हैं, सब ईश्वराधीन हैं, सब पुरातन कर्म के आयत्त हैं, पुनर्जन्म नहीं है, वर्ण-धर्म का सबको पालन करना चाहिये।

किन्तु अपने प्रतिवेशी के स्वातन्त्र्य में विश्वास नहीं करना चाहिये। अंगुत्तर (३,८६) के अनुसार "जब एक भिक्षु किसी सब्रह्मचारी को अपने प्रति अपराध करते देखता है, तो वह विचारता है कि यह 'आयुष्मान्' जो मेरा आक्रोश करता है, पुरातन कर्म का दायाद है।"

बुद्धि और चेतना

हमने कहा है कि कर्म मुख्यतः चेतना है। सर्वास्तिवादियों के अनुसार छन्द (=कर्तु-काम्यता या अनागत की प्रार्थना), मनसिकार (चित्त का आभोग, आलंबन में चित्त का आवर्जन, अवधारण) और अधिमोक्ष (आलंबन का गुणावधारण) चेतना के सहभू हैं। इनमें व्यायाम, निश्चय और अध्यवसाय जोड़िये। इनमें वितर्क जोड़िये जो छन्द के अनन्तर उत्पन्न होता है और जो कभी चेतना का प्रकार-विशेष है, और कभी प्रज्ञा का प्रकार-विशेष है।

सर्वास्तिवादियों के अनुसार चेतना एक चैत्त है, अर्थात् चित्त-सहगत धर्म है। किन्तु पञ्चेन्द्रियविज्ञान (चक्षुर्विज्ञान.........कायविज्ञान) में चेतना अत्यधिक दुर्बल होती है, और मनोविज्ञान में पटु होती है। मनोविज्ञान, आलंबन और आलंबन का नाम, दोनों जानता है। यह मनोविज्ञान है जो चक्षुर्विज्ञान से अभिसंस्कृत हो वर्णों की ओर प्रवृत्त होता है, और इन्द्रियविज्ञान से पृथक् स्मृति-विषय की ओर प्रवृत्त होता है। यह चेतना है। यह सर्वचित्तगत है।

किन्तु सब मनोविज्ञान चेतना नहीं है। जिस चेतना को भगवान् 'मानस कर्म' कहते हैं, वह विशेष प्रकार का मनोविज्ञान है। यह एक मनसिकार है, जो चित्त और कर्म का अभिसंस्कार करता है। चेतना चित्त को आकार-विशेष प्रदान

करती है, और प्रतिसन्धि-(= उपपत्ति) विशेष के योग्य बनाती है। क्लेश का विपाक तभी होता है, जब यह चेतना का समुत्थापक होता है। चेतना कर्म का अभिसंस्कार करती है। इसी के कारण शरीर-चेष्टा शुभ या अशुभ होती है। जब प्राणातिपात चेतना, संचेतना या अभिसंचेतना से उत्पादित होता है, तब इसका विपाक नरकोपपत्ति होती है। बुद्धिपूर्वक होने से ही कर्म अभिसंस्कृत होता है। यदि कोई यह समझकर कि वह धान्य दे रहा है, सुवर्ण देता है, तो सुवर्ण का दान तो हुआ; किन्तु यह सुवर्ण-दान के कर्म में अभिसंस्कृत नहीं होता, क्योंकि सुवर्ण-दान की चेतना का अभाव है।

प्रत्येक कर्म के लिए एक मनसिकार चाहिये। एक इष्ट विषय दृष्टिगोचर होता है। मैं वीतराग नहीं हूँ। रागानुशय का समुदाचार होता है। मैं उस वस्तु के लिए प्रार्थना करता हूँ। यदि मैं सहसा बिना विचार किए उसको ग्रहण करता हूँ, तो यह कर्म नहीं है; क्योंकि कोई चेतना नहीं है। आलंबन में मेरे चित्त का आवर्जन होता है। मैं उपनिध्यान करता हूँ। यह दो प्रकार के हैं:—१. योनिशो मनसिकार, २. अयोनिशो मनसिकार।

योनिशो मनसिकार—अनित्य को अनित्य, अनात्म को अनात्म, अशुभ को अशुभ, इस सत्यानुलोमिक नय से चित्त का समन्वाहार, आवर्जन 'योनिशो मनसिकार' है (योनि = पथ)।

अयोनिशो मनसिकार—अनित्य को नित्य इत्यादि नय से चित्त का उत्पथ आवर्जन है। पहले इष्ट विषय के यथार्थ स्वभाव का संतीरण (सम्यक् विचार-विमर्श) होता है। तदनन्तर जो कर्म होता है, वह कुशल है। दूसरे पक्ष में मनसिकार उत्पथ है, कर्म भी अकुशल है।

कुशल-अकुशल मूल

कुशल (शुभ)-कर्म क्षेम है, क्योंकि इसका इष्ट-विपाक है; इसलिए यह एक काल के लिए दुःख से परित्राण करता है (कुशल सास्रव)। अथवा यह निर्वाण-प्रापक है, और इसलिए दुःख से अत्यन्त परित्राण करता है (अनास्रव कुशल)। अकुशल (अशुभ)-कर्म अक्षेम है, इनका अनिष्ट विपाक है।

लौकिक शुभ-कर्म का पुण्य-विपाक होता है। उसका विपाक सुख, अभ्युदय और सुगति है।

लोकोत्तर-कर्म अनास्रव है। अतः यह पुण्य-अपुण्य से रहित है, अर्थात् अविपाक है। यह हित, परम पुरुषार्थ, अर्थात् दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का उत्पाद करता है। यह निर्वाण परम शुभ है, क्योंकि यह रोग के अभाव के समान सर्वथा शान्त है।

अतः जिसका दुःख-विपाक है, वह अकुशल है; जिसका सुख-विपाक है, या जिसका विपाक निःश्रेयस् है (स्वर्ग, ध्यान-लोक, निर्वाण), वह कुशल है। सम्यक्-दृष्टि, जो निर्वाण-प्रापक है, शुभ है; यह निर्वाण का आवाहन करती है, क्योंकि यह सत्य है। वैराग्य जो ध्यानोपपत्ति का उत्पाद करता है, शुभ है; क्योंकि जिन वस्तुओं से योगी विरक्त होता है, वह औदा-

रिक (=स्थूल), पृथग्जनोचित और दुःख-पूर्ण है। पुण्य-कर्म, जो स्वर्ग का उत्पाद करता है, इसलिए शुभ नहीं है कि वह स्वर्ग का उत्पाद करता है; किन्तु इसलिए कि वह धर्मता के (धर्मों की अनादिकालिक शक्ति) यथार्थ-ज्ञान की अपेक्षा करता है, क्योंकि यह द्वेष तथा परस्वहरण की इच्छा से रहित है। पुनः दुःख का उत्पाद करना अकुशल-कर्म का स्वभाव ही है।

कुशल-मूल आत्मतः कुशल हैं, इनसे संप्रयुक्त चेतना और चित्त संप्रयोगतः कुशल हैं। आत्मतः कुशल या संप्रयोगतः कुशल धर्मों से जिनका समुत्थान होता है, ऐसे काय-कर्म, वाक्-कर्मादि उत्थानतः कुशल हैं। लोभ, द्वेष, मोह अकुशल-मूल हैं। अलोभ, अद्वेष, अमोह कुशल-मूल हैं।

मोह, विपर्यास, मिथ्याज्ञान, दृष्टि है। अमोह इसका विपर्यय है। यह सम्यक्-दृष्टि, विद्या, ज्ञान, प्रज्ञा है। अलोभ लोभ का अभाव नहीं है, अद्वेष द्वेष का अभाव नहीं है; यथा अमित्र 'शत्रु' को कहते हैं, अनृत 'असत्य' को कहते हैं। इसी प्रकार अलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है, अद्वेष द्वेष का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार अविद्या विद्या का प्रतिपक्ष है, विद्या का अभाव नहीं है।

मूलत्रय का संबन्ध—लोभ और द्वेष का हेतु मोह है। हम राग-द्वेष केवल इसलिए करते हैं, कि इष्ट-अनिष्ट के स्वभाव के विषय में हमारा विपर्यास है। किन्तु पर्याय से राग-द्वेष भी मोह के हेतु हैं। जो पुद्गल राग-द्वेषवश पाप-कर्म करता है, उसका विश्वास होता है कि पुनर्जन्म में पाप का दुःखविपाक नहीं होता। मोह से कर्म का आरंभ नहीं होता, किन्तु जो पुद्गल पाप-कर्म के विपाक में प्रतिपन्न नहीं है, वह राग या द्वेषवश अवश्य करेगा।

मूलों का समुच्छेद—सब पुद्गल पुद्गल-भाव के कारण कुशल-अकुशल के भव्य हैं, क्योंकि उनमें कुशल-अकुशल मूल की प्राप्ति है। यह बात नहीं है कि इन सब मूलों का सदा समुदाचार होता रहता है, किन्तु बाह्य प्रत्ययवश (यथा इष्ट या अनिष्ट वस्तु का दर्शन) इनका समुदाचार नित्य हो सकता है। हम उन पुद्गलों का वर्णन करते हैं, जिनके कुशल-अकुशल मूल का समुच्छेद हुआ है।

कतिपय कर्म या लौकिक ध्यान से योगी अकुशल मूलों का तात्कालिक समुच्छेद करता है। निर्वाण-मार्ग से वह इनका आत्यन्तिक समुच्छेद करता है।

मिथ्यादृष्टिवश कुशल-मूल का समुच्छेद होता है, किन्तु समुच्छिन्न कुशल-मूल का पुनरुत्पाद हो सकता है। इसलिए कुशल अकुशल से बलवत्तर है।

द्वेष-अद्वेष–द्वेष सदा अकुशल है। द्वेष-कर्मों का विपाक दुःखमय होता है। द्वेष तथा ईर्ष्या, क्रोध और तज्जनित सब क्लेश, प्राणातिपात, उपघात, पारुष्य, पैशुन्य का मूल है। अतः इससे पर का विघात, दुःख होता है। अवद्य वह है, जो दूसरे का अपकारक है।

द्वेष अकुशल है, क्योंकि यह उसका अपकारक है जो द्वेष करता है। यह चित्त का दूषक है। द्वेष दोष है। जो द्वेष या ईर्ष्या करता है, वह स्वयं दुःखी होता है। वह स्वभावतः

दौर्मनस्य से संप्रयुक्त है, अतः द्वेष उस समय भी अकुशल है, जब वह परापकार नहीं करता। क्रोध सत्व (जीव) असत्व के विरुद्ध आघात (चित्त-प्रकोप) है।

अद्वेष प्राणातिपादि से विरति है; यह क्षान्ति है। इसके अन्तर्गत दान, सूनृता वाक्, लोक-संग्रह के कार्य, संघ-सामग्री (संघ को समग्र रखना, उसमें भेद न होने देना) मैत्री-भावनादि (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, यह चार ब्रह्मविहार) हैं। सामान्य आर्यों की मैत्री अद्वेष है। बुद्ध की मैत्री लोकोत्तर-प्रज्ञा है और अमोह-स्वभाव है।

लोभ-अलोभ—लोभ अकुशल-मूल है। अलोभ, निर्वेद, विराग, कुशल-मूल है।

लोभ वह छन्द है, जो दूसरे के दुःख का हेतु होता है। अभिध्या, अदत्तादान, और काममिथ्याचार लोभज हैं। ईर्ष्या, पैशुन्य, प्राणातिपात और द्वेष-हेतुक सर्व अवद्य अप्रत्यक्ष रूप से लोभ से प्रवृत्त होते हैं।

अतः लोभ राग से अन्य है। राग तभी अकुशल होता है, और दुःख-विपाक का उत्पाद करता है, जब वह सावद्य होता है। या तो वह दूसरे का अपकार करता है, यथा—परस्त्रीगमन, मांसाहार के लिए पशुवध, या अपना ही अपकार करता है; यथा—मद्यपान करने वाला जो शिक्षापदों (अदत्तादानादि) की रक्षा नहीं करता। अथवा वह ह्री के नियमों का भंग (अपनी स्त्री के साथ, अयोनिमार्ग से, अयुक्त स्थान में, अकाल में संभोग) करता है। वस्तुतः यदि सब अकुशल-कर्म ऐहिक सुख के निमित्त किया जाता है, तो इसका विपर्यय ठीक नहीं है। कुछ काम-सुख उचित हैं। इनका परिभोग ह्री और अपत्राप्य की हानि के बिना हो सकता है। आत्मगौरव को देखकर जो लज्जा होती है, वह ह्री है, और परगर्हा के भय से जो लज्जा होती है, वह अपत्राप्य है।

यदि कतिपय कामावचर काम-सुख में राग मना नहीं है, तो अनागत जन्म के सुख में, स्वर्ग के सुख में, अनुरक्त होना और भी मना नहीं है। यह राग शुभ है, क्योंकि यह पुण्य-कर्म का हेतु है। किन्तु यह काम-राग है, इसलिए यह समाधि, ध्यान तथा सत्य-दर्शन द्वारा निर्वाण-मार्ग के प्रवेश में प्रतिबन्ध है।

समापत्ति-राग और ध्यान-लोकोपपत्ति-सुख में राग कामसुख नहीं है, किन्तु भवराग है। दो ऊर्ध्व धातुओं के प्रति जो राग होता है, उसके लिए ही भवराग संज्ञा है। इसे भवराग इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसकी अन्तर्मुखी वृत्ति है, और इस संज्ञा की व्यावृत्ति के लिए भी कि यह दो धातु मोक्ष हैं, इसे भवराग कहते हैं। यह राग शुभ है। इसे लोभ नहीं कहना चाहिये, यद्यपि वह तृष्णा है। यह कुशल-धर्मच्छन्द है, क्योंकि काम सुख से यह विरक्त है।

अलोभ, विराग, आत्यन्तिकरूप से सदा कुशल-मूल है। यह काम-सुख-समापत्ति तथा निर्वाण-मार्ग से भी वीतराग होता है।

निर्वाण का प्रतिलाभ लोभ के निरोध से होता है। निर्वाण की इच्छा करना क्या लोभ नहीं है? आगम कहता है, निर्वाण-मार्ग का भी प्रहाण करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि जो वैराग्य निर्वाण का आवाहन करता है, उसमें राग नहीं होना चाहिये।

मार्ग कोलोपम (कोल = रैफ्ट, तमेड़) है। उसका अवश्य त्याग होना चाहिये, किन्तु निर्वाण का त्याग नहीं होना चाहिये। वस्तुतः निर्वाण की इच्छा अन्य इच्छाओं से भिन्न है। इसे 'लोभ या तृष्णा' नहीं कहना चाहिये। अन्य इच्छाएँ स्वार्थपर होती हैं। उनमें ममत्व होता है। निर्वाण की इच्छा ऐसी नहीं है। न यह भव-तृष्णा है, न विभव-तृष्णा; क्योंकि यद्यपि निर्वाण वस्तुसत् है, तथापि परिनिर्वृत (जिसका परिनिर्वाण हो गया है) के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व नहीं है। निर्वाण अनिमित्त है। यह वस्तु निरभिलाप्य, अनिर्वचनीय स्वभाव है।

मोह और सम्यग्-दृष्टि—तृतीय अकुशल-मूल मोह है। अमोह, सम्यग्-दृष्टि, धर्म-प्रविचय, प्रज्ञा का यह प्रतिपक्ष है। मोह और अज्ञान में विशेष करना चाहिये। मोह क्लिष्ट अज्ञान है। यह द्वेष और राग का हेतु है, किन्तु अज्ञान अक्लिष्ट हो सकता है; यथा—आर्यों का अज्ञान। केवल बुद्ध ने ही अक्लिष्ट अज्ञान का सर्वथा अत्यन्त विनाश किया है, अन्य बुद्ध धर्मों को, अतिविप्रकृष्ट देश और काल के अर्थों को तथा अर्थों के अनेक प्रभेदों को नहीं जानते। आर्य वस्तुओं के सामान्य लक्षणों (उनकी अनित्यता आदि) को जानते हैं। इसी अर्थ में बुद्ध ने कहा है कि—"मैं कहता हूँ कि यदि एक धर्म का भी अभिसमय (सम्यग्-ज्ञान) न हो तो निर्वाण का प्रतिलाभ नहीं हो सकता।" किन्तु बहुत कम वस्तुओं के स्वलक्षण का उनको ज्ञान होता है। कुछ तीर्थिकों का मत है कि बुद्ध की सर्वज्ञता का केवल इतना अर्थ है कि यह सर्वज्ञता मोक्षविषयक ही है।

सर्व मोह क्लिष्ट है, किन्तु सर्व मोह अकुशल, पाप दृष्टि नहीं है। मोह अकुशल है, जब उसका स्वभाव अपुण्य-कर्म का उत्पाद करना है।

इसी प्रकार सम्यग्-दृष्टि, जो मोह का प्रतिपक्ष है, कई प्रकार की है। सामान्य जन की सम्यग्-दृष्टि आंशिक होती है। वे प्रधानतः पुनर्जन्म और कर्म-विपाक में विश्वास करते हैं। विविध आर्यों को अधिक या कम सत्य-दर्शन की प्राप्ति होती है। लौकिक-दृष्टि के चार प्रकार हैं। उनके अनुरूप सम्यग्-दृष्टि के भी चार प्रकार हैं।

अकुशल-मोह जो अपाय-गति (नरक, प्रेत, तिर्यक् और असुर का उत्पाद करता) है, वह इस प्रकार है :—१. मिथ्यादृष्टि, २. शीलव्रतपरामर्श।

एक मोह है जो अकुशल नहीं है :—आत्मप्रतिपत्ति।

अकुशल-मोह में सबसे प्रथम स्थान मिथ्यादृष्टि का है। सब दृष्टियाँ जो मिथ्याप्रवृत्त हैं, मिथ्यादृष्टि हैं; किन्तु मिथ्यादृष्टि को ही यह संज्ञा प्राप्त है, क्योंकि यह सबकी अपेक्षा अधिक मिथ्या है; यथाः—अत्यन्त दुर्गन्ध को 'दुर्गन्ध' कहते हैं। यह नास्ति-दृष्टि है, यह अपवा-

दिका-दृष्टि है, जो दुःखादि सत्य वस्तुसत् का अपवाद करती है। अन्य दृष्टियाँ समारोपिका हैं। बौद्ध उसको नास्तिक कहते हैं, जो कहते हैं कि "न दान है,न इष्टि; न हुत, न शुभ कर्म, न अशुभ कर्म; न माता, न पिता; न यह लोक है, न परलोक है; औपपादुक सत्व (जिसकी उत्पत्ति रज-वीर्य से नहीं होती) नहीं है, अर्हत् नहीं है।" किन्तु अपवादों में सबसे बुरा हेतु-फल का अपवाद है। 'न कुशल-कर्म है, न अकुशल-कर्म है।' यह हेतु का अपवाद है। 'कुशल-कर्म का विपाक-फल नहीं है।' यह फल का अपवाद है। मिथ्यादृष्टि अकुशल क्यों है? वस्तुतः अकुशल वह है, जो नरक-यातना का उत्पाद करता है, जो परापकार करता है। कारण यह है कि जो पुद्गल पाप के फल में विश्वास नहीं करता, वह सर्व अवद्य के करने को प्रस्तुत रहता है। उसकी ही और अपत्राप्य की हानि होती है।

मिथ्या-दृष्टि कुशल-मूल का समुच्छेद करती है। अधिमात्राधिमात्र कुशल-मूल-प्रकार मृदु-मृदु मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न होता है। और इसी प्रकार मृदु-मृदु कुशल-मूल-प्रकार अधि-मात्राधिमात्र-मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न होता है। कुशल-मूलों का अस्तित्व तब तक रहता है, जब तक उनका समुच्छेद नहीं होता। नारकीय सत्व जन्म से पूर्वजन्म की स्मृति रखते हैं। पश्चात् वह दुःख-वेदना से अभ्याहत होते हैं। अतः उनमें कर्तव्य-अकर्तव्य की बुद्धि नहीं होती। उनकी मिथ्यादृष्टि भी नहीं होती, जो कुशल-मूल का समुच्छेद करती है; क्योंकि आपा-यिकों (दुर्गति को प्राप्त होने वालों) की प्रज्ञा चाहे क्लिष्ट हो या अक्लिष्ट, दृढ़ नहीं होती। कुछ का ऐसा मत है कि स्त्रियाँ भी मूलच्छेद नहीं करतीं, क्योंकि उनके छन्द और प्रयोग मन्द होते हैं। पुरुषों में केवल दृष्टिचरित छेद करता है, तृष्णाचरित नहीं, क्योंकि दृष्टिचरित का आशय, पाप, गूढ़ और दृढ़ होता है, और तृष्णाचरित का आशय चल है। इसी प्रकार पण्डादि कुशल-मूल का समुच्छेद नहीं करते, क्योंकि वह तृष्णाचरित पक्ष के हैं; क्योंकि उनकी प्रज्ञा आपायिकों के तुल्य दृढ़ नहीं होती। देव भी समुच्छेद नहीं करते; क्योंकि उनको कर्म-फल का प्रत्यक्ष होता है। अचिरोपपन्न देवपुत्र विचारता है कि "मैं कहाँ से च्युत हुआ? कहाँ उपपन्न हुआ हूँ और किस कर्म से"? वह मिथ्यादृष्टि में पतित नहीं होता, जिसने कुशल-मूल का समुच्छेद किया है, वह कुशल के अभव्य है। वह द्वेष और अकुशल छन्द में अभिनिविष्ट होता है। किन्तु उसमें इस विचिकित्सा या विमति का उत्पाद होता है कि—कदाचित् अवद्य है, कदाचित् कर्म का विपाक है, अथवा उसको यह निश्चय होता है कि अवद्य है और हेतु-फल अवश्य होते हैं, तब कुशल-मूल प्रतिसंहित होते हैं।

किन्तु जिस आनन्तर्यकारी ने कुशल-मूल का समुच्छेद किया है, वह दृष्टधर्म (इस जन्म) में कुशल-मूल का ग्रहण करने के लिए अभव्य है। किन्तु वह नरक से च्यवमान हो, या नरक में उपपद्यमान हो, अवश्य ही उससे पुनः समन्वागत होगा। दो प्रकार हैं: १. जिसने स्वतः मिथ्यादृष्टि का संमुखीभाव किया है; २. जिसने अयथार्थ शास्ता का अनु-सरणमात्र किया है।

शील-व्रत-परामर्श

अहेतु में हेतु-दृष्टि, अमार्ग में मार्ग-दृष्टि, शील-व्रत-परामर्श है। अर्थात् महेश्वर, प्रजापति या किसी अन्य को, जो लोक का हेतु नहीं है, लोक का हेतु मानना; अग्नि-प्रवेश या जलप्रवेश इन आत्महत्या के अनुष्ठानों के फल को स्वर्गोपपत्ति मानना; शीलव्रतमात्रक को जो मोक्षमार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग अवधारित करना; तथा योगी और सांख्यों के ज्ञान को, जो मोक्षमार्ग नहीं है, मोक्षमार्ग मानना; एवमादि। जो दृष्टि शीलव्रत मात्रक में बहुमान प्रदर्शित करती है, वह दृष्टि शील-व्रत-परामर्श कहलाती है।

यह दृष्टि दूसरे का अपकार करती है; यथा—पशु यज्ञ में; अपना अपकार करती है यथा—गोशील, श्वानशील के समादान के कष्ट, आत्महत्या का कष्ट। किन्तु इसका सब से अधिक दोष यह है कि यह स्वर्ग और निर्वाण के द्वार को पिनद्ध करती है, क्योंकि यह अमार्ग को मार्ग अवधारित करती है।

यह समझना कि प्रार्थना और तीर्थयात्रा से पुत्र-लाभ होता है, मूर्खता है। यदि प्रार्थना पर्याप्त होती तो प्रत्येक के चक्रवर्ती राजा के तुल्य सहस्र पुत्र होते। तीन हेतु हों तो गर्भावक्रान्ति होती है; माता नीरोग और ऋतुमती हो, माता-पिता मैथुन-धर्म करें और गंधर्व प्रत्युपस्थित हों।

यह समझना कि मृतक-संस्कार, स्तोत्र-पाठ और मंत्र-जप से मृत को स्वर्ग का लाभ होता है, घोर मूर्खता है।

स्नान से पाप का अपकर्षण नहीं होता। यदि जल से पाप-क्षालन होता तो मकरों की स्वर्ग में उत्पत्ति होती (थेरगाथा, २३६)। "जल से शुद्धि नहीं होती। वही शुद्ध, यथार्थ ब्राह्मण है, जो सत्यवादी है।" (उदान १, ६)। किसी ने बुद्ध से पूछाः—क्या आप बाहुका नदी में स्नान करते हैं? बुद्धः— बाहुका में स्नान करने से क्या होगा? प्रश्नकर्त्ताः— यह पुण्य और मोक्ष की देने वाली नदी है, बहुजन उसमें स्नान करके अपने पापों का प्रक्षालन करते हैं। किन्तु बुद्ध कहते हैं कि पवित्र नदियों में स्नान करने से किल्बिष करने वाला मनुष्य शुद्ध नहीं होता। जो शुद्ध है, उसका उपोसथ है, उसका व्रत सदा सम्पन्न होता है। हे ब्राह्मण! गया जाकर क्या होगा? तुम्हारे लिए कूप ही गया है। यहीं स्नान करो। सर्व भूतों का क्षेम करो। मृषावाद न करो, प्राणी की हिंसा न करो, श्रद्धायुक्त और मात्सर्य रहित हो (मज्झिम १।३६)।

मोक्ष और विशुद्धि के उपाय हैं—जिनका प्रयोग श्रमण और प्रव्रजित करते हैं। अन्य तीर्थिक, बाह्यक, गोशील श्वानशील आदि का समादान करते हैं। वह तृण चरते हैं, विष्ठा खाते हैं, इत्यादि। अन्य अंगच्छेद, जलाग्नि-प्रवेश पर्वत-निपात, अनशन-मरण आदि कष्टप्रद अनुष्ठान करते हैं। इनसे स्वर्गोपपत्ति या मोक्ष का लाभ नहीं होता। इनसे नारक दुःख हो

होता है। संघाटि के धारणमात्र से श्रमण नहीं होता, अचेलकमात्र से श्रमण नहीं होता (मज्झिमनिकाय, १।२८१)

किन्तु शुभ मंगल, व्रत, अनुष्ठान का कुछ उपयोग है। कतिपय विद्याओं से ऋद्धि का प्रतिलाभ होता है। इनसे परचित्त का ज्ञान होता है, ऋद्धिप्रातिहार्य होता है; अभिज्ञाओं की सिद्धि होती है; किन्तु यह अकुशल है। बुद्ध ने कुछ अनुष्ठानों को गर्हित बताया है, यथा—अचेलक रहना, श्वानशील का समादान करना। यदि शील-व्रत को मोक्ष का साधन समझें तो सब प्रकार के शील-व्रत निंद्य है, किन्तु चित्त-संशोधन के लिए तथा निर्वाण के लिए कई अनुष्ठान आवश्यक हैं। वह भिक्षु प्रशंसा का पात्र है, जो कहता है कि—"मैं इस पर्यंक आसन को भिन्न नहीं करूँगा, जबतक मैं आस्रवों से चित्त को विमुक्त न कर लूँगा" (मज्झिम-निकाय १।२१६)। बौद्ध-धर्म में जल-प्रवेश, अग्नि-प्रवेश, अनशन-मरण मना है।

हम यहाँ अनेक मिथ्यादृष्टियों को गिनाते हैं, जो शील-व्रत-परामर्श और दृष्टि-परामर्श के अन्तर्गत हैं। वसुबन्धु विभाषा के अनुसार मोहज प्राणातिपात, अदत्तादानादि का उल्लेख करते हैं—यथा पशुयज्ञ को एक धार्मिक अनुष्ठान समझकर पशु-वध करना, यथा धर्मपाठकों के अधिकार से राजा दुष्टों के स्व का अपहरण करता है, यथा बहुत से लोग विश्वास करते हैं कि सर्प-वृश्चिकादि के वध की आज्ञा है, क्योंकि यह पशु अपकारक हैं। वह समझते हैं कि आहार के लिए वन्य-पशु, गो-वृषभ, पक्षी, महिष को मारने में पाप नहीं है। कुछ जातियों में यह विश्वास है कि वृद्ध और व्याधित माता-पिता के वध से पाप नहीं होता, किन्तु पुण्य होता है; क्योंकि मरण से उनको अभिनव और तीक्ष्ण इन्द्रियों का लाभ होगा। ब्राह्मण यज्ञ के लिए पशु का वध करते हैं, और विश्वास करते हैं कि पशु की स्वर्ग में उपपत्ति होती है। उनके धर्मपाठक कहते हैं कि दुष्टों को दण्ड देना राजा का मुख्य पुण्य-कर्म है। यह स्तेय और मृषावाद को युक्त सिद्ध करते हैं। वह कहते हैं कि—"उपहास में, स्त्रियों से, विवाह में, भय में, मृषावाद अवद्य नहीं है।" यह सब अज्ञानवश पापाचरण करते हैं। अतः शील के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है।

तो क्या वह पाप का भागी नहीं होता, जो यह न जानकर कि वह पाप कर रहा है, पाप कर्म करता है? नहीं। माता-पिता का वध, चाहे पुण्य बुद्धि से किया जाय या द्वेषादि से, पाप है। वसुबन्धु राजा, धर्मपाठक, सैनिक, डाकू सबको एक ही श्रेणी में रखते हैं।

ऐसा मोह मिथ्यादृष्टि है, जो 'अकुशल' नहीं है। सत्कायदृष्टि और शाश्वत-दृष्टि शुभ कर्म में हेतु हो सकते हैं। मैं शुभ कर्म करता हूँ, क्योंकि मैं फल की आशा करता हूँ। मैं दूसरे पर करुणा करता हूँ, क्योंकि उसकी आत्मा भी मेरे समान दुःख भोगती है। लौकिक करुणा के अभ्यास के बिना यथार्थ करुणा का उत्पाद नहीं होता। प्रथम लौकिक करुणा की साधना होनी चाहिये। इसमें दुःखी 'आत्मा' का अवधारण होता है। पश्चात् दुःखी सत्त्व से पृथक् दुःख का अवधारण होता है। बुद्ध और आर्य लौकिक चित्त का प्रत्याख्यान नहीं करते।

किन्तु आत्माभिनिवेश सर्व अकुशल में हेतु है। "जो आत्मा में प्रतिपन्न है, वह उसमें अभिनिविष्ट होता है। आत्मा में अभिनिविष्ट काम-सुख के लिए सतृष्ण होता है, तृष्णावश वह सुख-संप्रयुक्त दुःख को नहीं देखता।" "जबतक मन अहंकार सहित होता है, तबतक जन्म-प्रबंध शान्त नहीं होता। जबतक आत्मदृष्टि होती है, तबतक हृदय से अहंकार नहीं जाता। हे बुद्ध ! आपके अतिरिक्त दूसरा नैरात्म्यवादी नहीं है। अतः आपके मत को छोड़कर मोक्षमार्ग नहीं है" (बोधिचर्यावतार पृ० २३०)।

आत्मा नित्य है, ध्रुव है, वस्तुसत् है, इस दृष्टि का परित्याग करना चाहिये; किन्तु प्रज्ञप्ति-सत् आत्मा का प्रतिषेध उच्छेद-दृष्टि है, अर्थात् जो चित्त-संतति कर्म का उत्पाद करती है, और कर्मफल का परिभोग करती है, उस प्रज्ञप्ति-सत् आत्मा का प्रतिषेध नहीं करना चाहिये।

कर्म-फल

सत्व सचेतन है; असत्व अचेतन है। एक ओर नित्य चित्त-सन्तान है, जो कभी शुद्ध चित्त-चैत्त होता है (आरूप्य-धातु), और कभी जिसका रूपी आश्रय होता है, दूसरी ओर विविध रूप अर्थात् महाभूत और भौतिक रूप हैं; यथा—पर्वत, देवविमानादि। एक ओर सत्व-लोक है, दूसरी ओर भाजन-लोक। सत्वों के उपभोग के लिए रूप है। रूप चित्त-सन्तान को सेन्द्रिय शरीर (आश्रय), विज्ञान-विषय, वेदना-विषय, आहार और निवास-स्थान प्रदान करता है। रूपी सत्वों की चित्त-सन्तति का निश्रय रूप है, और इस प्रकार इनकी प्रवृत्ति होती है। रूप का ऐसा उपयोग है, वह सत्वों के लिए ही है।

जैसी मनुष्य की चेतना, चित्त और कर्म होते हैं, वैसा वह होता है। सत्वों की अवस्था में जो वैचित्र्य पाया जाता है, वह सत्वों की गति का कर्मज है। प्रत्येक के कर्म के अतिरिक्त, कोई दूसरा प्रमुख कारण नहीं है।

सर्वास्तिवादी पुनः कहते हैं कि लोक-वैचित्र्य भी सत्वों के कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म-फल पंचविध है। इनमें अधिपति-फल कारण-हेतु से निर्वृत्त फल है। कारण-हेतु से अधिपति का प्रादुर्भाव होता है। सब धर्म स्वतः से अन्य सब के कारण-हेतु हैं। कोई धर्म अपना कारण-हेतु नहीं है। इस अपवाद के साथ सब धर्म, सब संस्कृत धर्मों के कारण-हेतु हैं, क्योंकि उत्पत्तिमान् धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्न-भाव से अवस्थान होता है। सत्वों के कर्म का प्रभाव भाजन-लोक पर पड़ता है। सत्वों के पाप से औषध, भूमि-आदि बाह्य-भाव अल्पवीर्य होते हैं; ऋतु-परिणाम विषम होते हैं; यह शिलावृष्टि, धूलि-वृष्टि, या क्षार-वृष्टि से अभिभूत होते हैं। यह अधिपति-फल है।

दूसरी ओर विपाक-फल और निष्यन्द-फल है। विपाक एक अव्याकृत धर्म है, अर्थात् कुशल और अकुशल से इसका व्याकरण नहीं होता। यह सत्वाख्य है। यह व्याकृत से उत्तर काल में उत्पन्न होता है। विपाक अकुशल या कुशल सास्रव धर्मों से उत्पादित होता है। हेतु कुशल या अकुशल है, किन्तु फल सदा अव्याकृत है। क्योंकि यह फल स्वहेतु से

भिन्न है, और 'पाक' है। इसलिए इसे 'विपाक' (= विसदृश पाक) कहते हैं। पर्वत-नदी-आदि असत्वाख्य धर्मों को विपाक-फल नहीं मानते; यद्यपि वह कुशल-अकुशल कर्मों से उत्पन्न होते हैं। असत्वाख्य धर्म स्वभाववश सामान्य हैं। सब लोग उनका परिभोग कर सकते हैं। किन्तु विपाक-फल स्वभावतः स्वकीय है। जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है, उसके विपाक-फल का भोग दूसरा नहीं कर सकता। विपाक-फल के अतिरिक्त कर्म अधिपति-फल का उत्पाद करता है। सब इस फल का समान परिभोग करते हैं, क्योंकि कर्म-समुदाय इसकी अभिनिर्वृति में सहयोग करता है। अतः भाजन-लोक सत्व-समुदाय के कुशल-अकुशल कर्मों से जनित होता है। यह अव्याकृत है, किन्तु यह विपाक नहीं है; क्योंकि विपाक एक सत्व-संख्यात धर्म है। अतः यह कारणहेतु-भूत कर्मों का अधिपति-फल है। हेतु-सदृश फल निष्यन्द कहलाता है। सभाग-हेतु और सर्वत्रग-हेतु यह हेतु-द्वय निष्यन्द-फल प्रदान करते हैं, क्योंकि इन दो हेतु का फल स्वहेतु के सदृश है, यथा—कुशलोत्पन्न कुशल और अकुशलोत्पन्न अकुशल।

अधिपति-फल और लोक-धातु

कर्म के अधिपति-फल से लोक-धातु की सृष्टि और स्थिति होती है। लोक-धातु सत्वों के लिए बाह्य-भाव प्रदान करता है।

लोक-धातु अनन्त हैं। किसी की संवर्तनी (विनाश) होती है, तो किसी की निवर्तनी (उत्पत्ति) होती है। किसी अन्य की स्थिति होती है।

एक महाकल्प में ८० अन्तःकल्प होते हैं। इनमें विवर्त, विवृत्त की स्थिति, संवृत्त की स्थिति और संवर्त का समप्रमाण है। एक बार विवृत्त होने पर यह लोक २० अन्तःकल्प तक अवस्थान करता है। लोक-संवर्तनी के अनन्तर दीर्घकाल तक लोक विनष्ट रहता है; २० अन्तर-कल्प तक विनष्ट रहता है। जहाँ पहले लोक था वहाँ अब आकाश है। जब आक्षेपक कर्मवश अनागत भाजन-लोक के प्रथम निमित्त प्रादुर्भूत होते हैं, जब आकाश में मन्द मन्द वायु का स्पन्दन होता है, उस समय से २० अन्तरकल्प की परिसमाप्ति कहनी चाहिये। जिसमें लोक संवृत्त था और उसे २० अन्तरकल्प का आरंभ करना चाहिये, जिस काल में लोक की विवर्तमान अवस्था होती है। वायु की वृद्धि होती जाती है, और अन्त में उसका वायुमण्डल बन जाता है। पश्चात् इस क्रम और विधान से भाजन की उत्पत्ति होती है:—वायुमण्डल, अब्मण्डल, कांचनमयी पृथिवी, सुमेरु आदि। विवर्त कल्प का प्रथम अन्तरकल्प भाजन, ब्राह्म-विमानादि की निर्वृति में अतिक्रांत होता है। इस कल्प के अवशिष्ट १९ अन्तरकल्पों में नरक-सत्व के प्रादुर्भाव तक मनुष्यों की आयु अपरिमित होती है। जब विवर्तन की परिसमाप्ति होती है, तब उनकी आयु का ह्रास होने लगता है, यहाँ तक कि १० वर्ष से अधिक आयु का सत्व नहीं होता। जिस काल में यह ह्रास होता है, वह विवृत्त अवस्था का पहला अन्तरकल्प है।

पश्चात् १८ अन्तरकल्प उत्कर्ष और अपकर्ष के होते हैं। १० वर्ष की आयु से वृद्धि होते होते ८०००० वर्ष की आयु होती है। पश्चात् आयु का ह्रास होता है, और यह घट कर १० वर्ष की हो जाती है। जिस काल में यह उत्कर्ष और अपकर्ष होता है, वह दूसरा अन्तर-कल्प है। इस कल्प के अनन्तर ऐसे १७ अन्य कल्प होते हैं। बीसवां अन्तरकल्प केवल उत्कर्ष का है। मनुष्यों की आयु की वृद्धि १० वर्ष से ८०००० वर्ष तक होती है। १८ कल्पों के उत्कर्ष और अपकर्ष के लिए जो काल चाहिये, वह प्रथम कल्प के अपकर्ष काल और अन्त्य कल्प के उत्कर्ष काल के बराबर है। इस प्रकार लोक २० कल्प तक निर्वृत्त रहता है। भाजन-लोक की निर्वृत्ति एक अन्तरकल्प में होती है। यह उन्नीस में व्याप्त होता है, यह उन्नीस में शून्य होता है, यह एक अन्तरकल्प में विनष्ट होता है। जब आयु १० वर्ष की होती है, तब अन्तरकल्प का निर्याण होता है। तब शस्त्र, रोग और दुर्भिक्ष से जो यथाक्रम सात दिन सात मास, सात दिन सात मास, और सात वर्ष अवस्थान करते हैं; कल्प का निर्याण होता है।

कल्प के अन्त में तीन ईतियाँ होती हैं। कल्प के निर्याण-काल में देव नहीं बरसता। इससे तीन दुर्भिक्षः—चंचु, श्वेतास्थि, शलाकावृत्ति होते हैं। चंचु कोष का दुर्भिक्ष है; श्वेतास्थि, श्वेत अस्थियों का दुर्भिक्ष है; शलाकावृत्ति वह दुर्भिक्ष है, जिसमें जीवन-यापन शलाका पर होता है। इसमें गृह के प्राणी शलाका की सूचना के अनुसार भोजन करते हैं; आज गृहपति की पारी है; कल गृहपत्नी की पारी है। अब संवर्तनी का समय उपस्थित होता है। सत्व अधर-भाजनों से अन्तर्हित होते हैं, और किसी ध्यानलोक में संनिपतित होते हैं। अग्नि-संवर्तनी सप्त सूर्यों से, जल-संवर्तनी वर्षावश और वायु संवर्तनी वायु-धातु के क्षोभ से होती है। इन संवर्तनियों का यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजन का एक भी परमाणु अवशिष्ट नहीं रहता। चतुर्थ ध्यान अनिञ्जित (स्पन्दन-हीन) है। इससे उसमें संवर्तनी नहीं है। द्वितीय ध्यान अग्नि-संवर्तनी की सीमा है। इसके नीचे जो कुछ है, वह सब दग्ध हो जाता है। तृतीय ध्यान जल-संवर्तनी की सीमा है। इसके जो अधः है, वह सब विलीन हो जाता है। चतुर्थ ध्यान वायु-संवर्तनी की सीमा है। इसके जो अधः है, वह सब विकीर्ण हो जाता है।

मनुष्य-जन्म में जो कर्म-बल से आक्षिप्त होता है, सदा अकुशल कर्मों का विपाक होता रहता है, जो दुःखवेदना आदि के जनक हैं। यह अकुशल-कर्म मूल में दो प्रकार के होते हैं:—१. यह गुरु हैं, जिन्होंने पूर्व अपाय-जन्म—नारक, तिर्यक्, प्रेत—का उत्पाद किया है, और जो अब अवशिष्ट बल का क्षय मनुष्य जन्म का परिपूरक हो करते हैं। २. यह लघु हैं, जो जन्म के आक्षेपक नहीं हो सकते, और जिनका सारा बल परिपूरक है। यदि कोई पुद्गल निर्धन है, तो इसका यह कारण है कि उसने कोई शुभ कर्म किया है, जिसके सामर्थ्य से वह मनुष्य-जन्म ग्रहण करता है; किन्तु उसने अदत्तादान का अवद्य किया है, जिसका विपाक पूर्व नरक में हुआ और अब उसका दण्ड दारिद्र्य के रूप में मिला है। अथवा इसका कारण यह है कि मनुष्य-जन्म में, जो अन्यथा शुभ है, उसने दान नहीं दिया है।

विपाक-फल

कर्म नियत या अनियत हैं। जिसका प्रतिसंवेदन आवश्यक नहीं है, वह अनियत है। नियत कर्म तीन प्रकार का है :—

१. **दृष्टधर्म-वेदनीय**—अर्थात् इसी जन्म में वेदनीय।

२. **उपपद्य-वेदनीय**—अर्थात् उपपन्न होकर वेदनीय, जिसका प्रतिसंवेदन समनन्तर जन्म में होगा।

३. **अपरपर्याय-वेदनीय**—अर्थात् देर से वेदनीय।

अनियत कर्म को संगृहीत कर विपाक की अवस्था की दृष्टि से चार प्रकार होते हैं। एक मत के अनुसार कर्म पाँच प्रकार का है। ये अनियत कर्मों को दो प्रकारों में विभक्त करते हैं–

१. **नियत-विपाक**-वह जिसका विपाक-काल अनियत है,किन्तु जिसका विपाक नियत है।

२. **अनियत विपाक**—वह जिसका विपाक अनियत है, जो विपच्यमान नहीं हो सकता।

दृष्टधर्म-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जो उसी जन्म में विपच्यमान होता है, या विपाक-फल देता है, जहाँ वह संपन्न हुआ है। यह दुर्बल कर्म है। यह जन्म का आक्षेप नहीं करता। यह परिपूरक है। यह स्पष्ट है कि जो पाप दृष्टधर्म-वेदनीय है, वह उस पाप की अपेक्षा लघु है, जिसका विपाक नरक में होता है।

सौत्रान्तिकों का कहना है कि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक बलिष्ठ कर्म का विपाक दुर्बल हो। इसलिए दृष्टधर्म-वेदनीय कर्म के विपाक का अनुबन्ध अन्य जन्मों में हो सकता है, किन्तु क्योंकि इस विपाक का आरंभ इस दृष्ट जन्म में होता है, इसलिए इस कर्म का 'दृष्टधर्म-वेदनीय' यह नाम व्यवस्थित करते हैं।

वैभाषिक इस दृष्टि को नहीं स्वीकार करते। वह कहते हैं कि एक कर्म वे हैं, जिनका संनिकृष्ट फल होता है। दूसरे वे हैं, जिनका विप्रकृष्ट फल होता है। नियत-विपाक कर्म के विपाक का स्वभाव बदल सकता है। संनिकृष्ट जन्म में नरक में वेदनीय अमुक कर्म दृष्टधर्म में विपाक देगा।

किन लक्षणों के कारण एक कर्म दृष्टधर्म-वेदनीय होता है ?

क्षेत्र-विशेष और आशय-विशेष के कारण कर्म दृष्टधर्म में फल देता है। क्षेत्र के उत्कर्ष से यद्यपि आशय दुर्बल हो, यथा—वह भिक्षु जिसका पुरुष-व्यञ्जन अन्तर्हित होता है, और स्त्री-व्यञ्जन प्रादुर्भूत होता है, क्योंकि उसने संघ का अनादर यह कहकर किया कि—'तुम स्त्री हो।' आशय-विशेष से, यथा—वह षंढ जिसने वृषभों को अपुंस्त्व के भय से प्रतिमोक्षित किया और अपना पुरुषेन्द्रिय फिर प्राप्त किया।

यदि किसी भूमि से किसी का अत्यन्त वैराग्य होता है, तो वह उस भूमि में पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए इस भूमि में, किन्तु दूसरे जन्म में, विपच्यमान-कर्म अपने स्वभाव को बदलता है, और दृष्टधर्म में विपच्यमान होता है, चाहे वह कुशल हो या अकुशल।

जो कर्म विपाक में नियत है, किन्तु जो विपाक की अवस्था (काल) में अनियत है, वह कर्म दृष्टधर्म-वेदनीय होता है। जो कर्म विपाक की अवस्था में नियत है, उसका उसी

अवस्थान्तर में विपाक होता है। अवस्थान्तर की जिस भूमि में उसके कर्म का नियत विपाक है, उस भूमि से उस पुद्गल का अत्यन्त वैराग्य असंभव है। जो कर्म अनियत-विपाक है, वह विपाक नहीं देगा, यदि पुद्गल का उस भूमि से वैराग्य है, वहाँ वह विपच्यमान होगा।

निरोध, मैत्री, अरणा, समाधि, सत्यदर्शन, अर्हत्फल से व्युत्थित पुद्गल के प्रति किया गया उपकार और अपकार सहसा फल देता है।

उपपद्य-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जिसका प्रतिसंवेदन समनन्तर जन्म में होगा। वह आनन्तर्य-कर्म है। कोई कर्म, कोई अनुताप, इनके समनन्तर विपाक में आवरण नहीं है। गुरुता के क्रम से यह इस प्रकार है :—मातृवध, पितृवध, अर्हत्-वध, संघभेद, दुष्टचित्त से तथागत का लोहितोत्पाद।

आनन्तर्य-समाग (उपानन्तर्य) सावद्य से भी पुद्गल नरक में अवश्यमेव उपपन्न होता है। माता का दूषण, अर्हन्ती का दूषण, नियतिस्थ बोधिसत्व का मारण, शैक्ष का मारण, संघ के आयद्वार का हरण, स्तूपभेदन, यह पाँच आनन्तर्य-समाग सावद्य हैं।

अपरपर्याय-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जो तृतीय जन्म के ऊर्ध्व अपर-जन्म में विपच्यमान होता है।

अनियत-विपाक कर्म—कुछ कर्मों के विपाक का उल्लंघन हो सकता है।

कुछ आचार्यों के अनुसार कर्म अष्टविध है :—

१. दृष्टधर्म-वेदनीय और नियत-विपाक कर्म; २. दृष्टधर्म-वेदनीय और अनियत-विपाक कर्म; ३. उपपद्य-वेदनीय और नियत-विपाक कर्म; ४. उपपद्य-वेदनीय और अनियत-विपाक कर्म; ५. अपरपर्याय-वेदनीय और नियत-विपाक कर्म ६. अपरपर्याय-वेदनीय और अनियत-विपाक कर्म; ७. अनियत या अनियत-वेदनीय किन्तु नियत-विपाक कर्म; ८. अनियत-वेदनीय और अनियत-विपाक कर्म।

किस कर्म का विपाक प्रथम होता है ?

उपपद्य-वेदनीय कर्म का विपाक-काल नियत है। किन्तु सब लोग आनन्तर्य कर्म नहीं करते। अपरपर्याय-वेदनीय प्रकार के बहुकर्मों का समुदाचार हो सकता है। प्रश्न है कि वह कौन कर्म है, जो मृत व्यक्ति के समनन्तर जन्म का अवधारण करता है ?

समनन्तर जन्म का निश्चय म्रियमाण के चैतसिक धर्मों के अनुसार होता है। मरण-चित्त उपपत्ति-चित्त का आसन्न हेतु है। मज्झिम [३।९९] में है कि मरणकाल में पुद्गल जिस लोक की उपपत्ति में चित्त को अधिष्ठित करता है, जिसकी भावना करता है, उसके वह संस्कार इस प्रकार भावित हो उस लोक में उपपत्ति देते हैं। किन्तु म्रियमाण अपने अन्त्य चित्त का स्वामी नहीं होता। यह चित्त उस कर्म से अभिसंस्कृत होता है, जिसका विपाक समनन्तर जन्म में होता है। यदि किसी पाप कर्म का विपाक अपाय गति में होता है तो उसका मरण-चित्त नारक होगा।

विविध कर्मों के विपाक का यह क्रम है :—

१० गुरु, २० आसन्न, ३० अभ्यस्त। जब मरण-चित्त स-उपादान होता है, तब उसमें नवीन भाव के उत्पादन का सामर्थ्य होता है। इस चित्त के पूर्ववर्ती सर्व प्रकार के अनेक कर्म

होते हैं, तथापि वह गुरु कर्म से आहित सामर्थ्य है, जो अन्तिम चित्त को विशिष्ट करता है। गुरु कर्म के अभाव में आसन्न कर्म से आहित सामर्थ्य, उसके अभाव में अभ्यस्त कर्म से आहित सामर्थ्य, उसके अभाव में पूर्वजन्म-कृत कर्म से आहित सामर्थ्य, अन्तिम चित्त को विशिष्ट करता है। राहुल का एक श्लोक यहाँ उदाहृत करते हैं :—गुरु, आसन्न, अभ्यस्त, पूर्वकृत—यह चार इस सन्तान में विपच्यमान होते हैं। इसीलिए बौद्धों में मरण-काल में विविध अनुष्ठान करते हैं, और उपदेश आदि देते हैं। वस्तुतः जैसा बुद्ध ने कहा है—कर्म-विपाक दुर्ज्ञेय है।

निष्यन्द-फल

हेतु सदृश धर्म निष्यन्द-फल है। कोई धर्म शाश्वत नहीं है। वर्ण केवल वर्ण-क्षण का सन्तान है; विज्ञान केवल चित्तसंतति है। प्रत्येक धर्म के अस्तित्व का प्रत्येक क्षण जो पूर्व-क्षण के सदृश या कुछ तुल्य है, इस क्षण का निष्यन्द है। इस प्रकार स्मृति का व्याख्यान करते हैं—चित्त-संतति में आहित एक भाव अपना पुनरुत्पाद करता है। प्रायः एक कुशल-चित्त एक दूसरे कुशल-चित्त का निष्यन्द-फल होता है। यह साथ ही साथ कुशल मनसिकार-कर्म का पुरुषकार-फल भी है।

सूत्र में उक्त है :—अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि; भावित, सेवित, बहुलीकृत होने से नारक, तिर्यक्, प्रेत उपपत्ति का उत्पाद करते हैं। (यह अभिध्या-कर्म, व्यापाद-कर्म और उस मानस-कर्म के, जिससे तीर्थिक मिथ्यादृष्टि में अभिनिविष्ट होता है, विपाक-फल हैं)। यदि लोभी, हिंसक और मिथ्यादृष्टि-चरित पुद्गल पूर्व-शुभ-कर्म के विपाक के लिए अपरपर्याय में मनुष्य जन्म प्राप्त करता है, तो वह सतृष्ण, दुष्ट और मूढ़ होगा। लोभ°, द्वेष°, मोह-चरित पुद्गल लोभ, द्वेष, मिथ्यादृष्टि का निष्यन्द-फल है।

वस्तुतः यह कहना दुष्कर है कि कर्म का निष्यन्द-फल होता है। कर्म कर्म का उत्पाद नहीं करता। कोई कर्म ऐसे फल का उत्पाद नहीं करता, जो उसके सर्वथा सदृश हो। अभिध्या एक अवद्य है, चित्त का एक अकुशल-कर्म है, जो स्वीकृत होता है। यह कर्म नहीं है, तथापि मनोदुश्चरित है। दार्ष्टान्तिक (एक प्रकार के सौत्रान्तिक) इसे मनस्कर्म मानते हैं, किन्तु वैभाषिक कहते हैं कि इस पक्ष में क्लेश और कर्म का ऐक्य होगा। दुश्चरित होने से परस्व के स्वीकरण की विषम स्पृहा नारकादि विपाक प्रदान करती है। अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि सामान्यतः काय-वाक्-कर्म के समुत्थापक हैं। अभिध्या के स्वीकृत होने से वह अपने बल की वृद्धि करती है, और चित्त-सन्तान में दृढ़ स्थान का लाभ करती है। इससे जब यह वाक्-काय-कर्म में व्यक्त होती है, तब चित्त-सन्तान को वासित करती है। अतः अभिध्या का निष्यन्द-फल अभिध्या है, अभिध्याचरितत्व है।

इसी प्रकार व्यापाद और मिथ्यादृष्टि को समझना चाहिये।

सर्व क्लेश—राग-द्वेष और मिथ्यादृष्टि—के दो आकार होते हैं। कदाचित् यह सुप्तावस्था में होता है। तब इसका प्रचार सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है। यह क्लेश के समुदाचार के पूर्व

की अवस्था है। तब इसकी 'अनुशय' आख्या होती है। अनुशय अणु होते हैं; यह छिद्रान्वेषी शत्रु के सदृश प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं। राग, प्रतिघ आदि अनुशय हैं। कदाचित् क्लेश पर्यवस्थित होता है, अर्थात् सत्व क्लेश से परेत होता है। यह क्लेश का दूसरा आकार है। यह क्लेश की तीव्रावस्था है। क्लेशानुशय पर्यवस्थित-क्लेश का निष्यन्द-फल है; पर्यवस्थान की अवस्था में जो क्लेशानुशय तथा बाह्य-विषय इष्ट विषय-राग के पर्यवस्थान का समुत्थान करता है, और अयोनिशो-मनसिकार की अपेक्षा करता है। विपाक-फल विपाक के बल को क्षीण करता है, किन्तु निष्यन्द-फल का स्वभाव ऐसा है कि इसका स्वतः अन्त नहीं होता। अकुशल चित्तों के निष्यन्द-फल का समुच्छेद आर्य-मार्ग की भावना और स्रोतापत्ति-फल के प्रतिलाभ से होता है। कुशल चित्तों के निष्यन्द-फल का निरोध केवल निर्वाण में होता है।

प्रत्येक सत्व जो यत्किंचित् गति में उत्पन्न होता है (प्रतिसन्धि, उपपत्ति) जन्म क्षण में स्वभूमि के अनुकूल सर्व क्लेश से–राग, द्वेष, मोह से–क्लिष्ट होता है, इसका कारण यह है कि अपने पूर्वजन्म के अन्तकाल में उसका चित्त इन क्लेशों से क्लिष्ट था।

जो कामधातु में उत्पन्न होता है, उसका चित्त द्वेष, गन्ध-रस के लोभ और मैथुन-राग से समन्वागत होता है। इसी कारण इस चित्त का निश्चय वह सेन्द्रिय शरीर होता है, जो इन विविध तृष्णाओं और द्वेष-समुत्थित दुःख का वहन कर सकता है। किन्तु कुशल-मूल से समन्वागत होने के कारण वह स्वभूमिक क्लेश का नाश कर सकता है। मान लीजिये कि एक भिक्षु है, जो मरण-काल में द्वेष और सर्व प्रकार के औदारिक राग से मुक्त है। ऐसा भिक्षु केवल ऐसे ही धातु में उत्पन्न हो सकता है, जहाँ घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का अभाव है। यदि इस भिक्षु का राग प्रथम ध्यान के सुख में है, तो मरण-काल में उसका चित्त इन सुखों से क्लिष्ट होगा, और वह प्रथम ध्यान-लोक में उपपन्न होगा।

महामालुंक्य-सुत्त [मज्झिमनिकाय १।४३२] में है कि—हे मालुंक्यपुत्त! दहर-कुमार के सत्काय भी नहीं होता तो फिर उसके सत्काय-दृष्टि कैसे उत्पन्न होती है; उसके धर्म भी नहीं होते तो फिर धर्म में उसकी विचिकित्सा कैसे होती है; उसके शील भी नहीं होते तो फिर शीलों में शीलव्रत-परामर्श कैसे होता है; उसके काम भी नहीं होते तो फिर कामच्छन्द कैसे होता है? भगवान् कहते हैं कि इसका कारण यह है कि उसमें क्लेशानुशय है।

हम उन विपाक-फलों का विचार करते हैं, जिनका कि मनुष्य परिभोग करते हैं। नारक दुःखी होते हैं, देव केवल सुख का भोग करते हैं। मनुष्य वर्ण, संपत्ति, सौन्दर्य, आयुष्य, सुख-दुःख में विविध होते हैं। वह सुख से सर्वथा विरहित नहीं होते, किन्तु रोग और जरा के अधीन हैं।

देव शुक्र-कर्म के फल का भोग करते हैं, नारक कृष्ण-कर्म के फल का भोग करते हैं, और मनुष्य शुक्र-कृष्ण-कर्म का भोग करते हैं। मनुष्य-जन्म का आक्षेपक शुक्र-कर्म होता है,

किन्तु प्रत्येक मनुष्य-जन्म के परिपूरक विविध शुक्ल-कृष्ण-कर्म होते हैं। उसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव कुशल अकुशल दोनों है।

प्रत्येक मनुष्य काम, क्रोध, क्लेश तथा मोह से समन्वागत होता है। इसमें दो अपवाद हैं—१. शैक्ष मनुष्य-जन्म लेते हैं, क्योंकि वह राग-द्वेष से विनिर्मुक्त नहीं हैं, किन्तु मोह से विनिर्मुक्त हैं २. चरम-भविक बोधिसत्व क्लेश से विनिर्मुक्त हैं, किन्तु बोधि की रात्रि को ही वह मोह से मुक्त होते हैं।

क्योंकि सर्व मनुष्य-जन्म शुभ कर्म से आक्षिप्त होता है, अतः सब मनुष्य तीन कुशल-मूल से समन्वागत होते हैं। वह अद्वेष, अलोभ, सम्यग्-दृष्टि के भव्य हैं। अवस्थावश कुशल-मूल का समुदाचार होता है। सदुपदेश और सत्संगवश ऐसा होता है।

एक पुद्गल प्रकृति से तीव्र राग-द्वेष-मोहजातिक होता है। वह रागज, द्वेषज, मोहज दुःख-दौर्मनस्य का अभीक्ष्ण प्रतिसंवेदन करता है। वह दुःख-दौर्मनस्य के साथ रुदन करता हुआ परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करता है। वह मरणानन्तर स्वर्ग में उत्पन्न होता है। धर्म-समादान से उसका आयति में सुख-विपाक होता है। एक पुद्गल प्रकृति से तीव्र राग-द्वेष-मोहजातिक नहीं होता। वह रागज, द्वेषज, मोहज दुःख-दौर्मनस्य का अभीक्ष्ण प्रतिसंवेदन नहीं करता। वह ध्यान में सुगमता से समापन्न होता है, और स्वर्ग में उपपन्न होता है। वह वर्तमान में भी सुखी है, और भविष्य में भी उसका सुख-विपाक है।

संसार में पर्याप्त दुःख है, जिससे मनुष्य सरलता से 'सर्वं दुःखम्' इस सत्य को तथा वैराग्य और निर्वाण को समझते हैं। देव अत्यन्त सुखी होते हैं। दूसरी ओर नारकों के समान मनुष्य का अविच्छिन्न दुःख नहीं है। किन्तु मनुष्यों में भेद है। कुछ अनेक जन्मों में मनुष्यत्व में नियत हैं। उन्होंने कुशल-मूल का आरोपण किया है। कोई स्रोत-आपन्न हैं और उनके सात भव और हैं, किन्तु कभी अकस्मात् मनुष्यत्व का लाभ होता है। कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय है। नारक और तिर्यग् योनि से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। इसका कारण कोई पूर्वजन्म कृत दुर्बल शुभ कर्म होता है। मनुष्य-जन्म आश्चर्यकर घटना है।

नरक में दो प्रकार के भिन्न-प्रलाप, पारुष्य, व्यापाद होते हैं। **भिन्न-प्रलाप :**—क्योंकि नारकीय सत्व परिदेव, विलाप करते हैं। **पारुष्य :**—क्योंकि नारकीय सत्व अन्योन्य निग्रह करते हैं; **व्यापाद :**—क्योंकि चित्त-सन्तान के पारुष्य से वह एक दूसरे से द्वेष करते हैं। नारकीय सत्वों में अभिध्या और मिथ्यादृष्टि होती है, किन्तु नरक में यह संमुखीभावतः नहीं होती। क्योंकि वहाँ सर्व रंजनीय वस्तु का अभाव होता है, और कर्मफल प्रत्यक्ष होता है। नरक में प्राणा-तिपात का अभाव होता है, क्योंकि नारकीय सत्व कर्मक्षय से च्युत होते हैं। वहाँ अदत्तादान और काम-मिथ्याचार का भी अभाव होता है, क्योंकि नारकीय सत्वों में द्रव्य और स्त्री-परिग्रह का अभाव होता है। प्रयोजन के अभाव से मृषावाद और पैशुन्य नहीं होता।

तिर्यक् का चित्त दुर्बल होता है, किन्तु उसका दुष्ट स्वभाव प्रकट होता है। यह आनन्तर्य से स्पृष्ट नहीं होते। किन्तु जिन पशुओं की बुद्धि पटु होती है; यथा—आजानेय

अश्व, वह सदा आनन्तर्य से स्पृष्ट होते हैं। अतः जो सत्व पूर्वकृत शुभ कर्मवश नरक और तिर्यक् योनि के अनन्तर मनुष्य-जन्म लेते हैं, वह मनुष्य-जन्म में अपने पूर्वक्लेश से समन्वागत होते हैं, और यह क्लेश नरकवास या तिर्यक्योनि में वास के कारण बहुलीकृत होते हैं।

कल्प के निर्याण-काल में पुद्गल अधर्मरागरक्त, विषयलोभाभिभूत और मिथ्याधर्मपरीत हो जाते हैं। शस्त्र, रोग और दुर्भिक्ष से कल्प का निर्गम होता है। उस समय कषाय अत्यधिक होते हैं। इसलिए मनुष्यों में बहुत ऐसे होते हैं, जिनमें अभीक्ष्ण क्लेश होता है। यह निर्वाण में आवरण है। क्लेशावरण सर्वपापिष्ठ है। मिथ्यादृष्टि से समन्वागत मनुष्यों की संख्या और भी अधिक है।

विसंयोग-फल

हमने अबतक सास्रव कर्मों के फल की परीक्षा की है। यह कर्म कुशल या अकुशल हैं, और राग (सुख की इच्छा या ध्यान-लोक की इच्छा) तथा मोह (आत्मदृष्टि) से क्लिष्ट हैं। तृष्णा से अभिष्यन्दित यह कर्म विपाक-फल देते हैं, किन्तु अनास्रव कर्म का विपाक नहीं होता। क्योंकि यह अन्य तीन कर्मों का क्षय करता है। यह अशुक्ल है। यह धातुपतित नहीं है। यह प्रवृत्ति का निरोध करता है। अनास्रव कर्म के फल को विसंयोग-फल कहते हैं। ये कर्म मोह और क्लेश के मूल का समुच्छेद करते हैं, अर्थात् क्लेश-प्राप्ति का समुच्छेद करते हैं। जो आर्य इन अनास्रव कर्मों को संपादित करता है, उसका क्लेश समुदाचार नहीं करता। वह क्लेशों के निष्यन्द-फल का समुच्छेद करता है।

कुछ सास्रव कर्म, जो वैराग्य के लौकिक मार्ग में संगृहीत हैं, अपने प्रतिपक्षी क्लेशों से विसंयोग-फल अनैकान्तिक रूप से प्रदान करते हैं। जो योगी वीत-कामराग है, वह काम-भूमिक क्लेशों की प्राप्ति का छेद करता है। पुनः वह पूर्वकृत कर्म और काम की प्राप्ति का छेद करता है। वह इन कर्मों के विपाक का उल्लंन करता है।

पुरुषकार-फल

पुरुषकार (पौरुष)-फल सहभू-हेतु और संप्रयुक्तक-हेतु का फल है। पुरुषकार पुरुषभाव से व्यतिरिक्त नहीं है, क्योंकि कर्म कर्मवान् से अन्य नहीं हैं। जिस धर्म का जो कारित्र है, वह उसका पुरुषकार कहलाता है, क्योंकि वह पुरुषकार के सदृश है। एक मत के अनुसार विपाक-हेतु को छोड़कर अन्य हेतुओं का भी यही फल होता है। वस्तुतः यह फल सहोत्पन्न है, या समनन्तरोत्पन्न है; किन्तु विपाक-फल ऐसा नहीं है। अन्य आचार्यों के अनुसार विपाक-हेतु का एक विप्रकृष्ट पुरुषकार-फल भी होता है।

कर्म-विपाक

कर्म बीज के सदृश स्वकीय सामर्थ्य से अपने फल का उत्पाद करता है। अतः कर्मों की धर्मता नियत है। किन्तु बौद्ध-धर्म यह स्वीकार करता है कि कर्म-फल का उल्लंघन संभव है, और वह पुण्य-परिणामना भी मानता है।

आर्य ऋषि आदि का महान् सामर्थ्य होता है। उनके मनःप्रदोष से दण्डकादि निर्जन हो गये। सत्य-क्रिया (सच्चकिरिया) में विश्वास बड़ा प्राचीन है। विशुद्ध पुरुष अपनी विशुद्धि का प्रख्यापन कर धर्मता से ऊपर उठ जाता है। अशोक का पुत्र कुणाल ज्ञापित करता है कि अपनी माता के प्रति उसका कभी दुष्टचित्त नहीं हुआ। इस सत्यक्रिया से वह अपनी आँखों से देखने लगता है।

पुण्य-अपुण्य आशय पर आश्रित है, किन्तु क्षेत्र के अनुसार पुण्य-अपुण्य अल्प या महान् होता है।

कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय है। कर्म बीज के समान है, जो अपना फल प्रदान करता है। यह सुखा° या दुःखावेदना है। कर्म का विप्रणाश नहीं है। जब समय आता है, और प्रत्यय-सामग्री उपस्थित होती है, तब कर्मों का विपाक होता है।

यमराज के निरयपाल सत्व को ले जाते हैं, और यम से दण्ड-प्रणयन के लिए प्रार्थना करते हैं। यमराज उससे पूछते हैं कि तुमने देवदूत को नहीं देखा ? वह कहता है कि देव ! मैंने नहीं देखा है। यम :—तुमने क्या जरा-जीर्ण, रोगी, अवद्यकारी को नहीं देखा है ? तुमने यह क्यों नहीं जाना कि तुम भी जाति, जरा, मृत्यु के अधीन हो ? तुमने यह क्यों नहीं सोचा कि मैं कल्याण कर्म करूँ ? यह पापकर्म न तुम्हारी माता ने किया है, न तुम्हारे पिता ने, न तुम्हारे भाई-बहन ने, न तुम्हारे मित्र-अमात्य ने, न ज्ञातृ-संबन्धियों ने, न श्रमण-ब्राह्मण ने, न देवताओं ने। तुमने ही यह पापकर्म किया है। इसके विपाक का प्रतिसंवेदन तुम्हीं करोगे।

यह कथा लोक-विश्वास पर आश्रित है। यम केवल नारकों के दण्ड का प्रणयन करता है। पुनः यम के निरयपाल नारकों को दण्ड नहीं देते हैं। उनकी यातना उनके स्वकीय कर्मों के कारण है। यथार्थ में कर्म बीज के तुल्य हैं। यह अपनी जाति के अनुसार, जल्दी या देर से, अल्प या महान् फल देते हैं।

किन्तु ईश्वरवादी कहते हैं कि यद्यपि समग्र बीज का वपन उर्वरा भूमि में हो, तथापि वर्षा के अभाव में बीज में अंकुर नहीं निकलते। अतः उनका कहना है कि यह ईश्वर की शक्ति है, जो कर्मों को विपाक-प्रदान का सामर्थ्य देती है। बौद्ध कहते हैं कि तृष्णा से अभिष्यन्दित हो कर्म विपाक देते हैं। आर्य तृष्णारहित हो कर्म करता है, इसलिए वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

कर्म-विपाक के संबन्ध में विभिन्न मत

सर्वास्तिवादी (वैभाषिक)—के मत में विपाक-फल समनन्तर नहीं होता। कर्म का विपाक सुखा°दुःखावेदना है। यह विपाक-कर्म के संपादन के बहुत काल पश्चात् होता है। कहते हैं कि कर्म अपने विपाक-फल को क्रिया-काल में आक्षिप्त करता है, और कर्म के अतीत होने पर विपाक का दान करता है। एक कठिनाई है। सर्वास्तिवादी का मत है कि अतीत और अनागत का अस्तित्व है। हेतु-प्रत्यय अनागत को प्रत्युत्पन्न में उपनीत करते हैं। अनित्यता प्रत्युत्पन्न को अतीत में ले जाती है।

प्रश्न—मान लीजिए कि मेरे अतीत कर्म का अस्तित्व है। यह भी मान लीजिये कि इसमें फल-प्रदान का सामर्थ्य है। क्योंकि मैं उन क्षणिक धर्मों की सन्तति हूँ, जो नित्य उत्पद्यमान होते रहते हैं। इसलिए वह क्या है, जो इस कर्म को मुझसे संबद्ध करता है?

उत्तर—स्व-सन्तान-पतित अरूपी संस्कृत धर्म होते हैं (किन्तु यह चित्त-विप्रयुक्त हैं) जिन्हें 'प्राप्ति' कहते हैं। सर्व कर्म कर्ता में इस कर्म की 'प्राप्ति' का उत्पाद करते हैं। इसी प्रकार सर्व चित्त, सर्व राग उस चित्त, उस राग की 'प्राप्ति' का उत्पाद करते हैं। इस 'प्राप्ति' का निरोध होता है, किन्तु यह स्वसदृश एक 'प्राप्ति' का उत्पाद करती है। जबतक हम इन कर्मों की 'प्राप्ति' का 'छेद' नहीं करते, तबतक हम अपने कर्मों की 'प्राप्ति' से समन्वागत होते हैं। जब हम इस 'प्राप्ति' के निरन्तर उत्पाद का निरोध करते हैं, तब इस 'प्राप्ति' का छेद होता है। इस प्रकार कर्म कर्ता को फल-प्रदान करते हैं।

मध्यमकवृत्ति [१७।१३] और मध्यमकावतार [६।३९] में चन्द्रकीर्त्ति ने इस वाद का निराकरण किया है :—कर्म क्रिया-काल में निरुद्ध होता है, किन्तु यह कर्ता के चित्त-सन्तान में एक 'अविप्रणाश' नामक द्रव्य का उत्पाद करता है। यह अरूपी धर्म है, किन्तु चित्त से विप्रयुक्त है। यह 'अविप्रणाश' न कुशल है, न अकुशल। निरुद्ध कर्म 'अविप्रणाश' द्रव्य में अंकित हो जाता है। यह फल को कर्ता से संबद्ध करता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक अतीत और 'प्राप्ति' नामक धर्मों के अस्तित्व को नहीं मानते।

यदि अतीत, अनागत द्रव्यसत् हैं तो वह प्रत्युत्पन्न हैं। यदि अतीत कर्म फल-प्रदान करता है, तो उसका प्राप्त कारित्र है; अतः वह प्रत्युत्पन्न है। यदि बुद्ध अतीत कर्म के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं, तो उनका अभिप्राय केवल इतना है कि अतीत कर्म का विपाक होगा। बुद्ध प्राप्तियों का उल्लेख नहीं करते।

सौत्रान्तिकों के अनुसार कर्म चित्त-सन्तान को (चित्त-चैत्त, सेन्द्रियकाय) जिसे तीर्थिक 'आत्मा' कहते हैं, विपरिणत करता है। कर्म संतान के परिणाम-विशेष को निश्चित करता है। इसका प्रकर्ष वह अवस्था है, जो कर्म का विपाक है। दुःखावेदना का उत्पाद होता है, यदि अकुशल-चित्त से संतान का परिणाम-विशेष होता है। चित्त-संतान का कर्म-बल से एक सूक्ष्म परिणाम होता है, और कर्म के अनुसार चित्त-संतति का निश्चय, दुःख-सुख होता है। सौत्रान्तिक बाह्यभाव और सेन्द्रियकाय का प्रतिषेध नहीं करते, किन्तु कर्म और कर्म-विपाक को वह केवल चित्त में आहित करते प्रतीत होते हैं।

विज्ञानवादी—एक ओर वह रूप के अस्तित्व का प्रतिषेध करता है।

हम इसके बीज वैभाषिक-सिद्धान्त में पाते हैं। 'आत्मा' को चित्त और वेदना की सन्तान अवधारित करना, जो पूर्ववर्ती चित्त-वेदना से निगृहीत होता है, यह कहना कि चित्त

रूप का उत्पाद करता है, वेदना और सेन्द्रियकाय के 'विपाक-फल' मानना और बाह्यभाव को अधिपति-फल अवधारित करना विज्ञान-वाद की ओर झुकना है ।

दूसरी ओर वह सौत्रान्तिकों का 'संतान' और 'सूक्ष्म परिणाम' नहीं मानता। 'आत्मा' प्रवृत्ति-विज्ञान के संतान से अन्य होगा। हम यह कैसे मान सकते हैं कि ऐसा संतान अनागत चित्त के बीजभूत पूर्व चित्त के चिह्न धारण करता है, और इसका 'सूक्ष्म परिणाम' होता है ? वस्तुतः प्रवृत्ति-विज्ञान का आश्रय एक आलय-विज्ञान होता है, जो बीजों का संग्रह करता है।

कर्म-फल का अतिक्रमण

यद्यपि कर्म का विप्रणाश नहीं है, तथापि फल का समतिक्रम हो सकता है, यदि अनुतापपूर्वक पाप-विरति हो। मैत्री-भावना द्वारा यदि अवद्यकारी अपने चित्त को विमुक्त करता है, तो जो कर्म उसने किया है, उसका महत्त्व कम हो जाता है। प्रवारणा (वर्षावास के अंत में भिक्षुओं का एक अनुष्ठान) के समय संघ के संमुख पाप स्वीकार करने से कर्म से शुद्धि होती है। एक प्रश्न है कि क्या परिसमाप्त पाप कर्म को पाप-स्वीकरण, पाप-विरति क्षीण कर सकते हैं ? नहीं। किन्तु यदि मौल-कर्म की परिसमाप्ति के समनन्तर अनुताप होता है, तो पृष्ठ के अभाव में कर्म की परिसमाप्ति नहीं होती; यथा—जब प्रयोग का अभाव होता है, या वह दुर्बल होता है, तो अवद्य पूरा नहीं होता। उसी प्रकार जब पापी अपने अवद्य को अवद्य मानता है, और पाप-विरति का समादान करता है, तो अवद्य पूरा नहीं है। यह उसका प्रतिपक्ष है।

नियत-अनियत विपाक

यह कर्म नियत-विपाक (नियतवेदनीय) है, जो केवल कृत नहीं है, किन्तु उपचित भी है। उपचित-कर्म वह है, जिसकी परिसमाप्ति हुई है, और जिसका विपाक-दान नियत है।

कोई एक दुश्चरितवश दुर्गति को प्राप्त होता है, कोई दो के कारण, कोई तीन के कारण (काय॰, वाक्॰, मनोदुश्चरित)। कोई एक कर्मपथ के कारण, कोई दो के कारण,··· कोई दश के कारण दुर्गति को प्राप्त होता है। जो जिस प्रमाण के कर्म से दुर्गति को प्राप्त होता है, यदि उस कर्म का प्रमाण असमाप्त रहे तो कर्म 'कृत' है, 'उपचित' नहीं। प्रमाण के समाप्त होने से कर्म 'उपचित' होता है। अंगुत्तरनिकाय [१।२५०] में है कि थोड़े जल को थोड़े लवण से नमकीन कर सकते हैं, किन्तु यदि बहुमात्रा में भी लवण हो तो वह गङ्गा के जल को नमकीन नहीं कर सकता।

तीव्र क्लेश, तीव्र प्रसाद (श्रद्धा) से किया हुआ कर्म और निरंतर कृत कर्म नियत है। वस्तुतः तीव्र श्रद्धा और तीव्र राग सन्तान को अत्यन्त वासित करते हैं। निरन्तर कृत-कर्म चित्त-स्वभाव को बनाता है। यह लक्षण पूर्व लक्षण के विरुद्ध नहीं है। केवल उसी को तीव्र प्रसाद या तीव्र राग हो सकता है, जिसने बहुकुशल या अकुशल कर्म किए हैं।

गुणक्षेत्र में किया हुआ कर्म भी नियत-विपाक है, यथा—पितृवध नियत-विपाक है। जो कम बुद्ध, संघ, आर्य, माता-पिता के प्रति किया जाता है, वह नियत-विपाक है।

तीन प्रकार के कर्म हैं :—

१. जिसका विपाक नियत है, और जिसका विपाक-काल नियत है, जिसने आनन्तर्य-कर्म किया है, वह उसका फल अगले जन्म में अवश्य भोगेगा। उसका नरक में विनिपात होगा।

२. वह कर्म जिसका विपाक नियत है, किन्तु काल नियत नहीं है। एक मनुष्य ने एक कर्म उपचित किया है, जिसका विपाक नियत है, और स्वभाव ऐसा है कि वह केवल काम-धातु में ही विपच्यमान हो सकता है; या ऐसा है, जो स्वर्ग या नरक में फल दे सकता है, किन्तु वह ऐसा नहीं है कि समनन्तर जन्म में ही इसकी उपपत्ति हो। यह कर्म दूसरे कर्म से पिहित हो सकता है। यदि यह पुद्गल आर्य-मार्ग में प्रवेश करता है; काम से वीतराग होता है, अनागामी होता है, तो वह इसी जन्म में उस कर्म के फल का प्रतिसंवेदन करेगा। यह अपर-पर्याय-वेदनीय कर्म था, यह दृष्टधर्म-वेदनीय हो जाता। यहाँ अंगुलिमाल का दृष्टान्त द्रष्टव्य है [मज्झिमनिकाय, २।९७]—

अंगुलिमाल एक डाकू था। उसने गांवों को, निगमों को, जनपदों को नष्ट कर दिया। वह मनुष्यों को मारकर उनकी अंगुलियों की माला बनाकर पहनता था। एक समय भगवान् श्रावस्ती में चारिका करते थे। वह उस स्थान की ओर चले, जहाँ अंगुलिमाल रहता था। अंगुलिमाल ने दूर से भगवान् को देखकर विचारा :—आश्चर्य है कि इस मार्ग से कोई नहीं आता; यह श्रमण एकाकी आ रहा है। वह भगवान् के पीछे हो लिया। भगवान् ने ऐसा ऋद्धि-संस्कार किया कि डाकू उनको न पा सका। डाकू को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह दौड़ते हाथी को भी मारकर गिरा देता था। उसने भगवान् से रुकने को कहा—भगवान् ने कहा—मैं ठहरा हूँ। तुम रुको। डाकू ने इसका अर्थ पूछा। भगवान् ने कहा—मैं सब जीवों में दण्ड से विरत हूँ। तुम असंयत हो। इसलिए तुम अस्थित हो, मैं स्थित हूँ। यह सुनकर अंगुलिमाल को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने प्रव्रज्या ली और भिक्षु हो गया। अंगुलिमाल प्रातःकाल पात्र-चीवर लेकर श्रावस्ती में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ। किसी ने उस पर ढेला फेंका, किसी ने दण्ड का प्रहार किया। उसका सिर फट गया, पांव टूट गया, और संघाटी फट गई। भगवान् ने उससे कहा :—हे अंगुलिमाल! जिस कर्म के विपाक से तुमको निरय में सहस्रों वर्ष निवास करना पड़ता, उस कर्म के विपाक-संवेदन तुम इसी जन्म में कर रहे हो।

३. वह कर्म जिसका विपाक अनियत है। स्रोत-आपन्न की संतति का, अपायगामिक पूर्वोपचित कर्म के विपाक-दान में वैगुण्य है। क्योंकि प्रयोगशुद्धि और त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, और संघ) के प्रति आशय-शुद्धि के कारण उसकी संतति बलवान् कुशल-मूलों से अधिवासित है। अबुध अल्प पाप भी करके अधोगति को प्राप्त होता है, बुध महापाप भी करके अपाय का त्याग करता है। थोड़ा भी लोहा पिण्ड के रूप में जल में डूब जाता है, और वही लोहा प्रभूत भी क्यों न हो, पात्र के रूप में तैरता रहता है।

पुण्य-परिणामना

सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है। जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है; किन्तु पालि-निकाय में भी पुण्य-परिणामना (पत्तिदान=प्राप्तिदान) है। वह यह भी मानता है कि मृत की सहायता हो सकती है। स्थविरवादी प्रेत और देवों को दक्षिणा देते हैं, अर्थात् भिक्षु को दिए हुए दान से जो पुण्य (दक्षिणा) संचित होता है, उसको देते हैं। हम अपने पुण्य में दूसरे को संमिलित कर सकते हैं, पाप में नहीं।

निष्कर्ष यह है कि क्लिष्ट-धर्म सावद्य, क्लेशाच्छन्न और हीन हैं। शुभ और अशुभ धर्म ही प्रणीत हैं। जो धर्म न हीन हैं, न प्रणीत; वह मध्य हैं। अतः संस्कृत शुभ-धर्म ही सेव्य हैं। इन्हीं का अध्यारोपण सन्तान में होना चाहिये। वस्तुतः असंस्कृत-धर्म अनुत्पाद्य हैं। उनका अभ्यास नहीं हो सकता। असंस्कृत का कोई फल नहीं है, और फल की दृष्टि से ही भावना होती है।

चतुर्दश अध्याय

निर्वाण

बुद्ध की शिक्षा का एक मात्र रस निर्वाण है। सब बौद्ध-दर्शनों का लक्ष्य निर्वाण है, किन्तु निर्वाण के स्वरूप के संबन्ध में अवश्य मतभेद है। इस अध्याय में हम इस विषय के विविध आकारों पर विस्तार से विचार करेंगे।

निर्वाण का स्वरूप चाहे जो हो, सब बौद्धों को यह समान रूप से इष्ट है कि निर्वाण संसार-दुःख का अत्यन्त निरोध है, संसार से निःसरण है, और अतएव उपादेय है। विद्वानों का कहना है कि आत्म-प्रतिषेध ईश्वर-प्रतिषेध, सहेतुक और क्षणिक सत्ता के सिद्धान्तों के होते हुए निर्वाण निरोधमात्र, अभावमात्र ही हो सकता है।

पाश्चात्त्य विद्वानों के मत

बर्थलेमो, सेन्ट-हिलेरी, चाइल्डर्स, रीज़ डेविड्स और पिशल का कहना है कि बुद्ध तथा उनके अनुयाइयों ने अपने सिद्धान्तों के इस अनिवार्य निष्कर्ष को विचार-कोटि में लिया है, और वह निर्वाण का स्वरूप अभावमात्र ठहराते हैं। किन्तु रीज़ डेविड्स साथ साथ यह भी कहते हैं कि बुद्ध-वचन के अनुसार निर्वाण 'श्रामण्य' भी है। बर्थ और ओल्डनबर्ग का मत है कि यद्यपि बौद्ध जानते हैं कि उनके सिद्धान्तों का झुकाव किस ओर है, तथापि उनको स्पष्ट शब्दों में इस विनिश्चय के कहने में विचिकित्सा होती है। इनके अनुसार उन्होंने निर्वाण के स्वरूप का वर्णन या तो कवि की आलंकारिक भाषा में किया है, और उसे 'द्वीप', 'शरण', 'अमृत' की आख्याएं प्रदान की हैं; या उन्होंने यह स्वीकार किया है कि निर्वाण के स्वरूप का व्याकरण बुद्ध ने नहीं किया है। पूछे जाने पर बुद्ध ने इसे 'स्थापनीय' प्रश्न कहकर इसका व्याकरण नहीं किया है। बुद्ध ने अपने श्रावकों को चेतावनी दी है कि, यह प्रश्न कि निर्वाण के अनन्तर तथागत कहां जाते हैं, अर्थोपसंहित नहीं है; और इसका विसर्जन विराग, दुःख-निरोध और निर्वाण के अधिगम में सहायक नहीं है। अतः इन प्रश्नों की उलझन में पड़ना निरर्थक और निष्प्रयोजनीय है। किन्तु यह सब विद्वान् समानरूप से मानते हैं कि बौद्ध उपासकों की दृष्टि में निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग है।

पालि-अभिधम्म में चित्त और रूप दोनों के नैरात्म्य की प्रतिज्ञा है। वह आत्मा का सर्वथा प्रतिषेध करते हैं, और निर्वाण का लक्षण 'दुःख का नाश' और 'विराग' तथा 'राग-क्षय' बताते हैं। इस विचार-सरणी के अनुसार हम निर्वाण को ऐहिक सुख मान सकते हैं, किन्तु यह परम लक्ष्य नहीं हो सकता। सूत्रान्त इसे स्थापनीय प्रश्न बताते हैं, और कुछ सूत्रान्त

ऐसे हैं, जो निर्वाण को अजात, अमृत, अनन्त कहते हैं। इससे कठिनाई उपस्थित होती है। यूरोपीय विद्वान्, बर्नूफ़ के समय से, बार-बार यही मत प्रकट करते आए हैं कि निर्वाण अभावमात्र ही हो सकता है। पुसें का मत है कि बौद्ध योगी थे और अवाच्य की अभिज्ञता रखते थे, जो न भाव है, और न अभाव। यह प्रपंचातीत है। वह कहते हैं कि यह समझना कठिन है कि बौद्ध निर्वाण को अमृत, योग-क्षेम और अच्युत क्यों कहते हैं। यह अभाव के समानार्थक शब्द नहीं है। रीज़ डेविड्स 'अमृत' का यह निरूपण करते हैं कि यह आर्यों का आहार है, और 'निर्वाण' का अर्थ वीतराग पुरुष की सम्यक् प्रज्ञा करते हैं। जब बौद्ध कहते हैं कि बुद्ध ने मार (मृत्यु) पर विजय प्राप्त की है, और अमृत का द्वार उद्घाटित किया है; तो कर्न इसका यह अर्थ करते हैं कि बुद्ध पर मृत्यु का कोई अधिकार नहीं है, और उन्होंने उस अमृत-पद का आविष्कार किया है, जिसके द्वारा उस परम-सत्यका अधिगम होता है, जो मनुष्य को मृत्यु पर आधिपत्य प्रदान करता है, उसको निर्भय बनाता है।

रीज़ डेविड्स कहते हैं कि बुद्ध का आदर्श आध्यात्मिक था, और उनके निर्वाण का अर्थ इस लोक में प्रज्ञा और सम्यक्-शान्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना था। किन्तु श्रावक शास्ता के विचारों को सम्यक् रीति से समझने में असमर्थ थे, और उन्होंने इस आदर्श को अमृत, अनन्त, द्वीपादि की आख्याएँ दीं। इससे शास्ता के सिद्धान्त को क्षति पहुँची।

पुसें के अनुसार इन विद्वानों की भूल इसमें है कि वह बौद्ध-धर्म को एक वैज्ञानिक मतवाद समझते हैं। वे यह भूल गए कि बौद्ध-धर्म एक वैराग्य-प्रधान धार्मिक संस्था है। सेनार्त ने इस विचार का विरोध किया है कि बौद्ध-धर्म एक वैज्ञानिक मतवाद है। सेनार्त के अनुसार निर्वाण का अर्थ भारतवर्ष में सदा से परम-क्षेम और मोक्ष रहा है, जो अभाव की संज्ञा से सर्वथा परे है। सेनार्त ने बौद्ध-धर्म के प्रभाव की परीक्षा की है। उनका कहना है कि बौद्ध-धर्म का उद्गम-स्थान योग है। योग भारत की पुरातन शिक्षा है। इसमें यम-नियम, ध्यान, धारणा, समाधि और ऋद्धि-सिद्धि का समावेश है। योगी लोकोत्तर-शक्ति की प्राप्ति तथा मोक्ष-लाभ के लिए समान रूप से यत्नवान् होता है।

यह साधारण विश्वास है कि बुद्ध की शिक्षा का आधार वेदान्त (उपनिषद्) अथवा सांख्य है। उन्होंने केवल वेदान्त के परमात्मा और सांख्य के पुरुष का प्रतिषेध किया है। यह भी सामान्य विचार है कि बुद्ध शील-व्रत, पौरोहित्य और वर्ण-धर्म के विरोधी थे तथा आरंभ से ही बौद्ध-धर्म निरोधवादी था। किन्तु सेनार्त के मत में यह विचार अयथार्थ है। उनका कहना है कि बौद्ध-धर्म का उद्गम एक प्रकार के योग से हुआ है, जिसका स्वरूप अभी पूर्णरूप से स्थिर नहीं हुआ था, और जो निःसन्देह निरोधवादी न था। वे यह भी कहते है कि बुद्ध के पश्चात् कई शताब्दियों में इस धर्म में परिवर्तन हुए, और यह ठीक नहीं है कि आरंभ से ही उसका स्वरूप निश्चित था।

पुसें कहते हैं कि मैं निश्चितरूप से यह नहीं कह सकता कि निम्न वाक्य बुद्ध-वचन है:—"मैं वेदना का अस्तित्व मानता हूँ, किन्तु मैं यह नहीं कहता कि कोई वेदक है।" किन्तु निम्न वाक्य बुद्ध का हो सकता है:—"जाति, जरा, रोग, मरण से अभिभूत मैंने अजात, अजरण, अजीर्ण

अमृत का अन्वेषण किया है······। एक अजात, अजीर्ण, अमृत, अकृत है। यदि अजात न होता तो जात के लिए शरण न होता······।"

बर्थ ने (फोर्टी ईयर्स आफ इंडियनिज्म, भा० १, पृ० ३०३) लिखा है कि यदि हम यह चाहते हैं कि निर्वाण अभाव नहीं है, तो हमको उस धर्म की संज्ञा बतानी चाहिये जिसका लक्षण बौद्धों के अनुसार शाश्वतत्व है। किन्तु प्रश्न है कि क्या यह शाश्वत-धर्म निर्वाण नहीं है, जिसे पालि में 'अमता धातु' कहा है।

पुसें कहते हैं कि आरंभ में बौद्धों का लक्ष्य संसार के निःसरण (पार), नैश्रेयस-सुख, अनिर्वाच्य अवस्था की प्राप्ति था। कई वचनों से स्पष्ट है कि निर्वाण से उनका अर्थ एक परमार्थ-सत् से था। अभाव एक निकाय-विशेष का ही मत रहा है। कई वचनों से हम यह सिद्ध कर सकते हैं। इसके समर्थन में कई हेतु भी दिए जा सकते हैं। पुसें का मत है कि आरंभ की अवस्था में बौद्ध-धर्म निर्वाण को एक अनिर्वचनीय वस्तु-सत् मानता था। वह इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि कई प्रसिद्ध निकाय 'अजात' को वस्तु-सत् मानते हैं।

पुसें का मत

पुसें ने 'निर्वाण' नाम की पुस्तक में इस विषय की आलोचना की है। हम उनके मत का विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे और अन्त में अपना वक्तव्य भी देंगे।

पुसें कहते हैं कि बौद्ध-धर्म के दो रूप हैं, इनमें भेद करना चाहिये। एक उपासकों का धर्म है, दूसरा भिक्षुओं का। उपासक स्वर्ग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं, और भिक्षु निर्वाण-मार्ग का पथिक है। उपासक स्तूप-चैत्य की पूजा करते हैं, और बौद्ध-तीर्थों की यात्रा करते हैं। वह पंचशील का समादान करते हैं, पाप से विरत रहते हैं, उपवास-व्रत रखते हैं, भिक्षुओं को दान देते हैं, और धर्म-श्रवण करते हैं। शील की रक्षा और दान-पूजा से वह पुण्य-संचय करते हैं, और अभ्युदय आसादित करते हैं। उनके धर्म में निर्वाण का कोई बड़ा स्थान नहीं है। यह ठीक है कि प्रत्येक बौद्ध एक दिन निर्वाण के अधिगम की आशा करता है [अभिधर्मकोश ४।४६], किन्तु सामान्यतः निर्वाण-मार्ग में प्रवेश करके के लिए भिक्षु-भाव का होना आवश्यक समझा जाता है। अभिधर्मकोश का विचार है कि उपासक अर्हत् हो सकता है। जिस क्षण में वह अर्हत् होता है, उसी क्षण में वह भिक्षु होता है, उसी दिन वह संघ में प्रवेश करता है। मिलिन्दप्रश्न का भी यही मत है। कुछ के अनुसार वह अनागामि-फल का लाभ कर सकता है, किन्तु किसी अवस्था में भी वह अर्हत् नहीं होता। केवल भिक्षु ही अर्हत् होता है। भिक्षु के लिए ही निर्वाण का मार्ग है।

आर्य-मार्ग की चर्या निर्वाण की चर्या है। संघभद्र कहते हैं कि निर्वाण के विचार-विमर्श में विचिकित्सा का उत्पाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि निर्वाण के अधिगम के लिए ही श्रमण संसार का परित्याग करते हैं, और संघ में प्रवेश करते हैं। निर्वाण स्वर्ग का विपर्यय सा है। जीव के दीर्घकालीन संसरण में स्वर्ग एक स्थान है, किन्तु निर्वाण संसार का अन्त है। स्वर्ग पुण्य का विपाक है, किन्तु निर्वाण पाप-पुण्य दोनों से परे है। इसका एकमात्र

लक्ष्य क्लेश-राग का विनाश है। निर्वाण का अधिगम प्रत्येक को स्वयं करना पड़ता है। उपाध्याय द्वारा मार्ग के भावित होने से शिष्य के क्लेशों का प्रहाण नहीं होता। प्रत्येक को स्वयं इसका साक्षात्कार करना होता है। बुद्ध की विशेषता केवल इसमें है कि उन्होंने सर्वप्रथम मोक्ष-मार्ग का आविष्कार किया और दूसरों का मार्ग-संदर्शन किया। इसी अर्थ में वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वह दूसरों का त्राण वर-प्रदान कर या अपनी ऋद्धि के बल से अथवा प्रभाव से नहीं करते, किन्तु सद्धर्म की देशना से करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपासक और भिक्षु के उद्देश्य, चर्या और मार्ग में भेद है, और एक दृष्टि से इनका परस्पर विरोध भी है।

निर्वाण क्या है? इसमें सन्देह नहीं कि यह परम-क्षेम है, दुःख और संसार का अन्त है, मृत्यु पर विजय है। निर्वाण के यह लक्षण क्या इसलिए हैं कि यह अभावमात्र है? अथवा यह अमृत है? भिक्षु के लिए मार्ग में उत्तरोत्तर उन्नति करना प्रधान बात है। कई कहेंगे कि निर्वाण का अनुसन्धान करना अनावश्यक है। दूसरे कहते हैं कि यह अमृत-पद है, या यह सर्व-राग, दुःख, पुनर्जन्म का निरोधमात्र है। यह अभिधर्म का प्रश्न है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि एक दूसरे की अपेक्षा अधिक अच्छा है। जिस काल में पिटक का संग्रह हुआ, उस काल में अनेक निर्वाण में प्रविष्ट हो चुके थे। थेर (स्थविर) और थेरियों के 'उदानों' का संग्रह है, और इनमें निर्वाणाधिगम के सुख का वर्णन पाया जाता है।

कई वचन ऐसे हैं जिनसे यह व्यवस्थापित होता है कि भिक्षु और उपासक में बड़ा भेद रखा गया है। जब आनन्द बुद्ध से पूछते हैं कि सुगत के धातु-गर्भ के प्रति भिक्षुओं का क्या भाव होना चाहिये, तब बुद्ध उनसे कहते हैं कि—"हे आनन्द! मेरे धातुओं की पूजा की फिक्र न करो। सुश्रुत और श्रद्धालु क्षत्रिय, ब्राह्मण और नैगम मेरे धातुओं की पूजा करेंगे। तुम भिक्षुओं को मोक्ष की साधना में संलग्न होना चाहिये।" [दीघनिकाय, २।१४१]। कभी कभी ऐसी प्रतीति होती है कि भिक्षु-संघ से भक्ति, पूजा और लोकोत्तर बुद्धवाद से कोई संबन्ध नहीं है। किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध कौतुक-मंगल तिथि-नक्षत्रादि के विरुद्ध थे। उनमें तर्कवादी भी थे। किन्तु यह एक ही दिक् है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि आनन्द को इस बात से बड़ा सन्तोष था कि बुद्ध अपने सामर्थ्य से त्रिसाहस्र-लोक-धातु को अवभासित कर सकते थे, और अपनी अनुशासनी की वहाँ प्रतिष्ठा कर सकते थे। उदायी आनन्द से कहते हैं कि :—हे आनन्द! आप यह कैसे कहते हैं कि शास्ता का यह सामर्थ्य है? इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध के ऋद्धि-बल का उनकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं है; तथापि बुद्ध उदायी से कहते हैं कि तुमको ऐसा नहीं करना चाहिये। इसका प्रमाण है कि बुद्ध ने भिक्षुओं को तीर्थाटन का आदेश दिया था, और भिक्षु स्तूप-पूजा करते थे। संघ में ध्यायियों की संख्या बहुत न थी। [कथावत्थु, १७।१] से पता चलता है कि अर्हत् स्तूपों को माल्य-गन्ध-विलेपन चढ़ाते थे। हम निर्वाण की चर्या को धर्म से पृथक नहीं कर सकते। मार्ग में प्रवेश वही कर सकता है, जिसने पूर्वजन्म में कुशल-मूल का आरोपण किया है [अभिधर्मकोश ४।१२५; ६।२४; ७।३०,३४]।

हीनयान का पुराना आम्नाय जो पिटक में उपनिबद्ध है, स्पष्ट नहीं है। उसके वादों में परस्पर विरोध पाया जाता है। पुनः हम सब निकायों के विचारों से भली भाँति परिचित भी नहीं हैं। इस कारण प्राचीन मत के जानने में कठिनाई है; तथापि पूसें इसके जानने का प्रयत्न करते हैं।

योग और बौद्ध-धर्म

पुसें का कहना है कि एक बात जो बड़े महत्त्व की है, असन्दिग्ध है। वह यह है कि बौद्ध-धर्म योग की एक शाखा है। योग में ब्रह्मचर्य, यम-नियम, ध्यान-धारणा-समाधि, नासाग्र-भ्रू-मध्यादि का दर्शन, काय-स्थैर्य, मंत्र-जप, प्राणायाम, तालु में जिह्वा का धारण, महाभूतों का ध्यान, भूत-जय, अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति और लोकोत्तर ज्ञान संगृहीत हैं। योग की इस प्रक्रिया का धार्मिक जीवन और शील से कोई संबन्ध नहीं है। किन्तु इसका उनसे योग हो सकता है।

बौद्ध-धर्म का केन्द्र भिक्षु-संघ है। बुद्ध के पहले से भारत में श्रमणों के अनेक संघ थे। बुद्ध का भिक्षु-संघ भी इसी प्रकार का एक संघ था। अन्य संघों के समान इसके भी शील-समाधि के नियम थे। इसकी मौलिकता इसमें है कि इसको बुद्ध ऐसा शास्ता मिला, जिसकी शिक्षा से प्रभावित होकर योग की चर्या और उसके सिद्धान्तों ने एक विशेष रूप धारण किया।

आरंभ में बौद्ध-धर्म अस्थिर अवस्था में था। वह युग स्थिर और निश्चित मतवाद का न था, और न धर्म-विनय में अभी स्थिरता आई थी। प्रायः सब योगी समान मार्गों से एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उद्योग करते थे, किन्तु वह शास्ता और संघ को समय समय पर बदला करते थे, और कभी वे 'थेरवाद' से (स्थविरवाद) और कभी ज्ञानवाद (आणवाद) को स्वीकार करते थे [मज्झिम १।१६४]। उस युग में वाद-विवाद बहुत होता था। श्रमण कहते सुनाई पड़ते थे कि जो मैं कहता हूँ वह सत्य है, अन्य सब मिथ्या है।......मैं जानता हूँ, मैं बुद्ध हूँ। उनका विश्वास था कि आलोक का ध्यान करने से ज्ञान-दर्शन होता है [दीघ ३।२२३]। वह कहते थे कि ध्यान में प्रवेश कर मैंने देखा है कि लोक शाश्वत है.........। बौद्ध-धर्म में ज्ञान का विशेष महत्त्व है, यद्यपि वह तर्क का आश्रय लेता है। वस्तुओं का यथाभूत-दर्शन समाधि में होता है, [मज्झिम १।७१]। निम्न प्रश्नों पर उस समय विवाद होता था :—लोक का आदि है, या नहीं ? दुःख का समुदय क्या है ? क्या आत्मा और काय एक हैं ? क्या मरणानन्तर सत्व का सर्वथा विनाश होता है ? किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह निम्न प्रश्नों में इनसे भी अधिक रस लेते थे :—क्या निर्वाण के अनन्तर आर्य की उत्पत्ति हो सकती है ? कौन से तपों की अनुज्ञा है ? दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र और परिचित ज्ञान कैसे होता है ?

ऐसी परिस्थिति में बौद्ध-संघ का जन्म हुआ था। विनय के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि विविध संप्रदायों में आचार की विविधता थी। उनमें दो प्रकार के श्रमणों की तुलना की गयी है—आरण्यक और विहार में निवास करने वाले भिक्षु। कई बातों से ऐसा सूचित

होता है कि सब प्रकार के भिक्षु बुद्ध को शास्ता मानते थे, और कर्म-फल को स्वीकार करते थे, तथा ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते थे। वह संघ में प्रवेश कर सकते थे, यद्यपि उनके अपने वाद और आचार थे। केवल एक शर्त थी कि वह अचेलक नहीं रह सकते थे। बहुत काल तक स्थिर रूप न हो सका। विनय के नियमों के साथ साथ 'मार्ग' का भी बड़ा महत्त्व था। आगम से मालूम होता है कि आजीव प्रातिमोक्ष और अभिधर्म के संबन्ध में संघ में विवाद होता था। किन्तु चार स्मृत्युपस्थान, चार सम्यक्-प्रधान, चार ऋद्धिपाद, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यङ्ग और आर्य-अष्टांगिक-मार्ग के विषय में मतभेद न था। भगवान् आनन्द से कहते हैं कि जो विवाद आजीव और प्रातिमोक्ष के विषय में होता है, वह अल्पमात्र है, किन्तु यदि मार्ग के विषय में विवाद उत्पन्न हो, तो वह बहुजन का अहित और अनर्थ करेगा [मज्झिम २।२४५]। किन्तु शीतीभूत, विरक्त, वीतराग, आर्य बौद्ध-धर्म की देन नहीं है। यह योग की देन है। यह ठीक है कि बौद्ध-धर्म ने आर्यत्व का विशोध किया और आर्य को पूजार्ह बना दिया। बुद्ध को देव की पदवी देने में बौद्ध-धर्म को संकोच होता था, किन्तु यह समाधि का मार्ग था, जिसका लक्ष्य निर्वाण-लाभ था। यह स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म का आधार योग की क्रियाएं थीं, किन्तु बौद्ध-धर्म ने इनका उपयोग शील और प्रज्ञा के लिए किया था और आर्यत्व को प्रथम स्थान दिया था। बौद्ध-धर्म के अनुसार क्लेश-क्षय और 'अभिसमय' श्रामण्य-फल है। किन्तु यह पाँच अभिज्ञाओं में संगृहीत है। बौद्धों का विश्वास है कि आर्य अभिज्ञाओं से समन्वागत होता है, किन्तु वह यह भी मानते हैं कि आर्येतर भी इनसे समन्वागत होते हैं। उनका यह मत नहीं है कि ध्यान-लाभ मोक्ष है, किन्तु समाधि में ही योगी सत्यों की यथार्थ भावना करता है। वह आत्महत्या का प्रतिषेध करते हैं, और जो योगी तालु में जिह्वा-धारण इत्यादि करता है, उसकी किसी सूत्रान्त में प्रशंसा है और किसी में निन्दा है [मज्झिम १।४५५, ३।२८; अंगुत्तर ४।४२६; अभिधर्मकोश ६।४३]।

संघ में विविध सिद्धान्तों का व्यवस्थापन आरंभ में इतना न था। उसके अन्तर्गत जो निकाय थे उनका प्रवचन एक ही था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सबको समानरूप से एक ही वचन मान्य है। हम जानते हैं कि पुद्गलवादी कुछ वचनों की प्रामाणिकता नहीं मानते; अन्तराभाव के अपवादक कुछ अन्य वचनों को प्रामाणिक नहीं मानते। यह साधारण रूप से माना जाता है कि मूल संगीति का भ्रंस हुआ है, किन्तु सामान्यतः विविध निकाय एक ही वचन का अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से करते हैं। इस संबन्ध में हम संघभद्र के न्यायानुसार दो वाक्य उद्धृत करते हैं।

१. संघभद्र एक सूत्र उदाहृत करते हैं, जिसमें 'स्प्रष्टव्य' का लक्षण दिया गया है; और कहते हैं :—हमारे प्रतिपक्षी 'स्थविर' इस सूत्र का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। उनका कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि यह सूत्र संगीति में संगृहीत है; क्योंकि इसका अन्य सूत्रों से विरोध नहीं है, और यह युक्तिसंमत भी है। अतः यह प्रामाणिक है। हमारे प्रतिपक्षी उत्तर देते हैं कि यह संगीति में संगृहीत नहीं है, क्योंकि यह सामान्यरूप से पठित नहीं है, क्योंकि यह कल्पित है, किन्तु इस प्रकार वादी किसी भी सूत्र का प्रत्याख्यान कर सकता है।

२. यह लोग व्यर्थ ही कहते हैं कि अभिधर्म-शास्त्र बुद्ध-वचन नहीं है, क्योंकि विविध निकायों के अलग-अलग अभिधर्म हैं। विविध निकायों के सूत्र भी व्यंजन और अर्थ में भिन्न हैं।

प्रवचन में परस्पर विरोधी वाद हैं। अनेक निकायों के सहयोग से यह संग्रह प्रस्तुत हुआ है। "बुद्ध ने जो कुछ कहा है वह सब सुभाषित है।" इसका परिपूरक यह वाक्य है कि "यत्किंचित् सुभाषित है, वह बुद्ध-वचन है।" ऐतिहासिक काल में निकाय और सिद्धान्तों का विरोध बौद्धों की एकता को नष्ट नहीं करता। इस विरोध के होते हुए भी एक सामान्य विश्वास पाया जाता है। यह विश्वास योग से भिन्न नहीं है। इस योग के तीन या चार प्रधान विचार हैं :—पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक की कल्पना, पुण्य-अपुण्य, मोक्ष, परम और आत्यन्तिक क्षेम तथा मार्ग। दूसरों के समान बौद्धों ने भी इन विचारों को योग से लिया, और इनके मूल अर्थ को सुरक्षित रखते हुए उनको एक नवीन आकार प्रदान किया।

विश्वास और सिद्धान्त में विशेष करना अच्छा है। बौद्धों का विश्वास है कि सत्व अनेक जन्मों में संसरण कर अपने कर्मों के फल का भोग करता है, और वह अभिसमय द्वारा मुक्त होता है। बौद्ध विश्वास की यह मूल भित्ति है। इसमें दार्शनिक विश्वास जोड़े गये हैं। इनमें से कुछ इस विश्वास को विनष्ट करनेवाले हैं, किन्तु विश्वास अडिग होता है।

पुनर्जन्म—विश्वास और वाद

योग से बौद्ध-धर्म ने पुनर्जन्म और कर्म-फल के वाद को लिया है। बौद्ध-धर्म में कुशल-अकुशल-स्वभाव और बुद्धिपूर्वक किए हुए कर्म की गुरुता पर जोर दिया गया है; तथा मौन, व्रत, स्नानादि को निरर्थक समझा गया है।

कर्म गतियों का आक्षेपक है। प्रत्येक जीव अपने मन-कर्म, चेतना और काय-वाक् का परिणाम है। प्राणियों का सामुदायिक कर्म संवर्त-कल्पों के अनन्तर लोक का विवर्तन करता है। कर्म ही 'गृहकारक' है। कर्म और उसके फल का निषेध करना मिथ्या-दृष्टि है। परलोक का अपवाद करना और उपपादुक सत्वों के अस्तित्व का प्रतिषेध करना मिथ्या-दृष्टि है। प्रत्येक सत्व अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है, संसरण के संबन्ध में बौद्धों का यह सिद्धान्त है।

इस विश्वास में सिद्धान्त जोड़ दिए गए हैं। बौद्ध-धर्म ने विवेचनात्मक मनोविज्ञान का आश्रय लिया। उसके अनुसार आत्मा सेन्द्रिय शरीर-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञानात्मक है। यह नित्य धर्म नहीं है। आत्म-बुद्धि और विपरिणाम-बुद्धि में वह विरोध देखता है। वह आत्मा के धर्मों का नैरात्म्य और उनकी शून्यता मानता है। 'मन' 'आत्मा' नहीं है, 'मन' 'आत्मा' का नहीं है, ऐसा मानने का यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि आत्मा का अस्तित्व नहीं है। यह केवल इस बात की प्रतिज्ञा है कि आत्मा मन के परे है। हे भिक्षुओ! जो तुम्हारा नहीं है, उसका प्रहाण करो······। तुम्हारा क्या नहीं है? चक्षु, अर्थ, चक्षुर्विज्ञान······मनो-धर्म (मनोविज्ञान के विषय), मनोविज्ञान [संयुत्त ३।३३; ४।८२]। उपनिषद् के अनुसार

आत्मा नित्य और लोकोत्तर है। बौद्ध-धर्म आत्मा का प्रतिषेध करता है। यह अपवादिका बुद्धि कर्म, कर्म-फल, और प्रतिसंधि की बुद्धि का विनाश करती है। इस समस्या के दो समाधान हैं :—

१. पहला पुद्गलवादियों का समाधान है। दुर्भाग्यवश उनके शास्त्र नष्ट हो गये हैं, और यह 'तीर्थिक' समझे जाते हैं। प्रायः पाँच या सात निकाय इस वाद के मानने वाले थे।

'पुद्गल' का निर्वचन स्पष्ट नहीं है। जैनागम में 'पुद्गलास्तिकाय' नाम की संज्ञा है। इसका अर्थ 'अजीव' है। बौद्धों में आत्मा के लिए पुरुष, जीव, सत्व, पोष, जन्तु, यक्ष और पुद्गल [सुत्तनिपात, ८७४] यह आख्याएँ मिलती हैं। पुद्गल का चीनी अनुवाद 'पुरुष' है। तिब्बती निर्वचन इस प्रकार है—पूरते, गलति चेति पुद्गलः। 'अष्ट पुद्गल' आठ आर्य हैं। इतिवुत्तक, २४ में कहा है कि यदि किसी एक पुद्गल के विविध भवों की सब अस्थियाँ एकत्र की जायं तो उनका एक पर्वत हो जायगा।

भारहारसूत्र में इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ इस प्रकार है—पाँच स्कन्ध भार हैं··· पुद्गल भारहारक है, यथा—अमुक गोत्र का, अमुक नाम का यह आयुष्मान् भिक्षु। भार का आदान तृष्णा है, जो पुनर्भव का उत्पाद करती है; उसका निक्षेप इस तृष्णा का सर्वथा क्षय है, [संयुत्त ३।२५; संयुक्त २२।२२; उद्योतकर कृत न्यायवार्त्तिक, ३४२]।

जिस काल में पुद्गलवादियों ने अपने वाद को सुपल्लवित किया, उस समय नैरात्म्यवाद सब निकायों को मान्य था। अतः पुद्गलवादियों ने यह निश्चय किया कि कम से कम पुद्गल के स्वभाव का लक्षण नहीं बताया जा सकता। "पुद्गल न स्कन्धों से भिन्न है, न अभिन्न। इस दृष्टि का समर्थन भगवान् के इस वचन से होता था—जीवितेन्द्रिय शरीर से अभिन्न नहीं है; जीवितेन्द्रिय शरीर से भिन्न नहीं है।" इस प्रकार वह भी दूसरों के समक्ष आत्मा का प्रतिषेध करते हैं। इनको बोधिचर्यावतार में 'सौगतंमन्य', 'अन्तश्चर तीर्थिक' कहा है। पुद्गल की उपलब्धि पंच विज्ञान-काय और मनोविज्ञान से होती है, किन्तु स्कन्ध-व्यतिरिक्त अर्थात् शरीर-वेदना-विज्ञान के अतिरिक्त उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः यह स्कन्धों से अन्य नहीं है, यथा—अग्नि इन्धन से अन्य नहीं है। विपक्ष में पुद्गल स्कन्ध-स्वभाव नहीं है, क्योंकि उस विकल्प में वह जनन-मरण-शील होगा। पुनः पुद्गल कर्म का संपादन करता है, संसरण करता है, अपने कर्मों के फल को भोगता है, और निर्वाण का लाभी होता है। बुद्ध कहते हैं कि इतने कल्प व्यतीत हुए कि मैं सुनेत्र नामक ऋषि था। अतः पुद्गल एक वस्तु-सत् है, एक द्रव्य है, किन्तु इसका स्कन्धों से संबन्ध अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार यह न नित्य है, न अनित्य।

२. दूसरा समाधान यह है कि जिसे लोक में आत्मा आदि कहते हैं, वह एक सन्तान (सन्तति) है, जिसके अंगों का हेतु-फल-संबन्ध है। यह आत्मा का अपवाद है, किन्तु आत्मा जीवित है, यद्यपि वह एक नित्य द्रव्य नहीं है। आत्मा का यह समाधान प्रायः मान्य है, किन्तु सन्तति का निर्देश भिन्न प्रकार से किया जाता है। यह बौद्ध-धर्म की विचित्रता है कि

आगम कर्म और कर्म-फल को स्वीकार करता है, किन्तु कारक का प्रतिषेध करता है। कोई सत्व नहीं है, जिसका संचार (= संक्रान्ति) हो। किन्तु यह सन्तति जीवित है। मृत्यु से इसका उपच्छेद नहीं होता। मृत्यु केवल उस क्षण को सूचित करती है, जब नई परिस्थितियों में नवीन कर्म-समूह का विपाक प्रारंभ होता है।

यह कहना अयथार्थ न होगा कि संतति स्वतंत्र है। अपने कर्म और अपनी इच्छाओं के वश इसकी प्रवृत्ति होती है। यह सेन्द्रियकाय और स्व-वेदना के विषयों का उत्पाद अन्य संतानों के सहयोग से करती है।

सत्य तो यह है कि कोई स्कन्ध एक भव से दूसरे भव में संक्रान्त नहीं होते। वस्तुतः सत्व का विनाश प्रतिक्षण होता है। वृद्ध शिशु नहीं है, किन्तु उससे भिन्न भी नहीं है। नारक मनुष्य नहीं है, किन्तु अन्य भी नहीं है। यह नैरात्म्य है। यह स्पष्ट है कि यह अपवादिका दृष्टि एक विशेष प्रकार की है। यह अवयवों को देखती है, अवयवी को नहीं। यह केवल धर्मों की सत्ता स्वीकार करती है, धर्मी की नहीं। कोई नित्य आत्मा नहीं है। शरीर को 'आत्मा' अवधारित करना मूढ़ता नहीं है, क्योंकि उसका दीर्घकालीन अवस्थान होता है; किन्तु जो प्रतिक्षण विसदृश होता रहता है, कैसे आत्मा हो सकता है?

नैरात्म्यवाद से पुनर्जन्म और कर्म के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को क्षति नहीं पहुँचती। आत्मा की प्रतिज्ञा करना भूल है; सन्तति का उल्लेख करना चाहिये। संक्रान्ति का उल्लेख करना भूल है; कहना चाहिये कि मरण-चित्त प्रतिसंधि-चित्त का उत्पाद करता है। "विज्ञान का अस्तित्व है, किन्तु विज्ञान नहीं जानता।"

इसमें वाक्-चातुरी है, किन्तु यह एक पहेली है। एक सूत्रान्त में कहा है कि बुद्ध सर्वज्ञ है, क्योंकि जिस संतति की संज्ञा 'बुद्ध' है, उसका यह सामर्थ्य है कि चित्त के आभोगमात्र से इस संतति में प्रत्येक विषय की यथाभूत प्रज्ञा उपस्थित होती है। जिस संतति की कल्पना बौद्ध करते हैं, उसमें आत्मा के सब सामर्थ्य पाए जाते हैं।

निर्वाण की कल्पना

निर्वाण का वाद भी योग से लिया गया है। सामान्य जन, चाहे गृही हों अथवा श्रमण, स्वर्ग की कामना से संतुष्ट होते हैं। कोई स्वर्ग में अप्सराओं के साथ संभोग करने की कामना से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। कोई अलौकिक सिद्धियों के लाभ के लिए ध्यान में समापन्न होते हैं। बुद्ध अभिज्ञाओं के बिना आर्यत्व को संभव नहीं मानते, किन्तु यथार्थ भिक्षु अध्रुव में ध्रुव का अन्वेषण करता है। मोक्ष की एक अतिप्राचीन और लाक्षणिक संज्ञा 'अमृत' है।

मोक्ष-संज्ञा निश्चित थी। यह चेतो-विमुक्ति है। मृत्यु पर विजय प्राप्त करके ही बुद्ध 'बुद्ध' हुए है। बुद्धत्व प्राप्त करने के अनन्तर शाक्यमुनि का जो पहला उद्गार था, वह यह था कि उन्होंने 'अमृत' का लाभ किया है [मज्झिमनिकाय १।१७२; महावग्ग १।६,१२]। हमको संजय के अनुयायी शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के संघ में प्रविष्ट होने की कथा विदित

है। इन्होंने आपस में यह समय किया था कि हममें से जो प्रथम अमृत का आविष्कार करेगा वह उसे अपने सब्रह्मचारी को बता देगा [महावग्ग, १।२३]। उपनिषदों में अमृत का निर्देश है, और वह उसे 'ब्रह्म' के नाम से संकीर्तित करते हैं। बौद्ध-धर्म में ब्रह्म की उपेक्षा की गयी है, किन्तु उसकी प्रतिज्ञा है कि 'अमृत' है। इस अमृत को निर्वाण, निरोध, परम-क्षेम, विराग कहते हैं।

बौद्ध-धर्म में श्रामण्य की आख्या ब्रह्मचर्य है, और आर्य-समापत्ति को 'ब्रह्मविहार' कहते हैं। भिक्षु के लिए सबसे बड़ा दण्ड 'ब्रह्मदण्ड' है। 'श्रामण्य' 'ब्राह्मण्य' है। आर्य की संज्ञाएं ब्राह्मण, वेदगू, श्रोत्रिय और स्नातक हैं। किन्तु बौद्ध उपनिषदों के 'आत्मा' और 'ब्रह्म' की उपेक्षा करते हैं। वह वेदान्तवर्णित योग का उल्लेख नहीं करते, जो ईश्वर में जीवात्मा के लीन होने की प्रक्रिया है।

इसका कोई प्रमाण नहीं है कि बौद्धों के निर्वाण की कल्पना ब्राह्मणों की किसी कल्पना का प्रतिपक्ष थी। निर्वाण एक अदृश्य स्थान है, जहाँ आर्य तिरोहित हो जाते हैं। उदान ८।१० में [उदानवर्ग, ३०।३६ में 'अचलं पदं' कहा है; अभिधर्मकोश ४।२२६] बुद्ध कहते हैं कि जैसे हम यह नहीं जानते कि निर्वापित अग्नि कहाँ जाती है, उसी प्रकार हम नहीं कह सकते कि वह विमुक्त आर्य कहां जाते हैं, जिन्होंने तृष्णारूपी ओघ का समतिक्रम किया है, और जिन्होंने अकोप्य क्षेम का लाभ किया है। निर्वापित होने पर अग्नि अदृश्य हो जाती है, अर्थात् अग्नि नहीं रहती। इसी प्रकार परिनिर्वृत आर्य, जीव, पुद्गल, चित्त नहीं रह जाता। भव के जितने परिचित आकार हैं, या जिनकी कल्पना हो सकती है, उनका अतिक्रमण करना ही मोक्ष है। यह अभाव नहीं है।

अर्हत् का यह पुराना वाक्य विचारणीय है—मेरे लिए जाति (= जन्म) नहीं है। मैंने अपना कर्तव्य संपन्न किया है; अब मेरे लिए और करणीय नहीं है। यहाँ मेरे पुनः आगमन का कोई कारण नहीं है। निर्वाण सर्वश्रेष्ठ सुख है।

किन्तु उदायी पूछता है कि निर्वाण में सुख कैसे है? क्योंकि वहाँ वेदना का अभाव है। शारिपुत्र उत्तर देते हैं कि निर्वाण सुखवेदना का अभाव ही है [अंगुत्तर, ४।४१४]। इससे कोई कोई यह अनुमान करते हैं कि निर्वाण अचेतन अवस्था है, जहां वेदना का अभाव है, और विमुक्त पाषाण के तुल्य सुखी होता है। किन्तु भारतीयों की दृष्टि में पुद्गल और सुख क्या है, यह समझना कठिन है। अवाच्य का लक्षण नहीं बताया जा सकता। कहा जाता है कि संज्ञावेदित-निरोध निर्वाण सदृश है। यह समापत्ति अचेतन अवस्थामात्र नहीं है।

अब हमको यह देखना है कि निर्वाण का पीछे क्या स्वरूप हो गया। जो निकाय 'आत्मा' या 'प्रभास्वर-चित्त' स्वीकार करते हैं, वह उसे चैतसिक धर्मों का आश्रय मानते हैं, और अमृत तथा विनश्वर की संज्ञाओं को परस्पर संबद्ध करते हैं।

पुद्गलवादी मानते हैं कि आत्मा एक भव से भवान्तर में संक्रमण करता है, और निर्वाण प्राप्त कर धर्मों के रूप में विद्यमान रह सकता है।

'कथावत्थु' की अर्थकथा के अनुसार यह कहना कि पुद्गल का निर्वाण में अस्तित्व है, नित्यता की प्रतिज्ञा करना है, और इसका प्रत्याख्यान करना पुद्गल के निरोध को स्वीकार करना है। भव्य के अनुसार वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि—हम न यही कह सकते हैं कि निर्वाण धर्म है, और न यही कह सकते हैं कि यह उनसे अन्य है। विज्ञानवाद ग्राह्य-ग्राहक की कल्पना से क्लिष्ट विशिष्ट चित्तों से भिन्न एक विशुद्ध 'प्रभास्वर-चित्त' मानता है। हीनयान में इस मत का पूर्वरूप है [अंगुत्तर १।१०; अभिधर्मकोश, ६।७७; दीघनिकाय १।७६; बुद्धघोष–अत्यसालिनी, पृ० १४०]। अतः पाँच या आठ पुद्गलवादी निकाय, चार महासांघिक निकाय, (महासांघिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवादी, कुक्कुटिक) और विभज्यवादी निर्वाण की इस कल्पना को मानते हैं। किन्तु जिन निकायों को हम सबसे अधिक जानते हैं, वह नैरात्म्यवादी हैं। नैरात्म्य को मानते हुए भी सन्तति के नैरन्तर्य में विश्वास किया जा सकता है। आर्य दग्ध-बीज के सदृश अक्लिष्ट और वन्ध्य-चित्त का उत्पाद करके सन्तति का उच्छेद करता है। यथा प्रशस्तपादभाष्य में कहा है :—"अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वाद् दीपसन्ततिवत्।" वह कहते हैं कि यदि आत्मा सन्ततिमात्र है, तो निर्वाण अभावमात्र है। मज्झिमनिकाय में कहा है :—"न कत्थचि उप्पज्जति न कुहिंचि उप्पज्जति" [मज्झिम ३।१०२]।

किन्तु बौद्धों की दृष्टि में निर्वाण और आत्मा के प्रश्न एक दूसरे से संबद्ध नहीं है। सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव मानते हैं। किन्तु वैभाषिक उसे द्रव्य-सत् मानते हैं। सौत्रान्तिकों का मत है कि निर्वाण हेतु-फल-परंपरा का उच्छेद है। वैभाषिकों के मत में इस उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रतिलाभ है। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण में प्रतिसंधि और मृत्यु का सर्वथा निरोध है; निर्वाण अजात और अविपरिणामी है; यह क्लेश दुःख और भव का निरोध करने वाला सेतु है। यहाँ तक समझने में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु प्रश्न है कि मरणानन्तर आर्य का निर्वाण से क्या संबन्ध होगा। हम जानना चाहते हैं कि यह निकाय निर्वाण-प्रवेश का क्या अर्थ करता है, उस निर्वाण का जिसका अवस्थान आर्य के चरम चित्त के अनन्तर होता है। (बुद्धघोष)।

हमको इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता। चित्त-निरोध और स्कन्धों का अत्यय होने से ही निर्वाण में प्रवेश होता है। यही मोक्ष है। किन्तु जो स्वीकार करता है कि मोक्ष है, वह यह भी मानता है कि मोक्ष नित्य और शान्त है। अन्यथा मोक्ष में किसी को भी रुचि न होगी [संघभद्र, अभिधर्मकोश ५।८]। आभिधार्मिक कहता है कि यह वस्तु-सत् है, और उसका एक आकार दुःख-विमोक्ष है, किन्तु उसके संबन्ध में न यह कह सकते हैं कि इसका अस्तित्व है, और न यह कह सकते हैं कि नहीं है।

दृष्टधर्म-निर्वाण

इस जन्म में अमृत का सुख होता है, यह भाव भी योग से लिया गया है। अंगुत्तर २।२०६; मज्झिम १।३४१; अभिधर्मकोश ३।१२; इत्यादि में कहा है कि वह विमुक्त है, निर्वृत है, विगत-तृष्ण है। योगी समापत्ति में प्रवेश करता है। जिस क्षण में

प्रज्ञा का उत्पाद होता है, उस क्षण में वह निर्वाण का साक्षात्कार करता है। [मज्झिम १।५।१०; अंगुत्तर १।१४६; निब्बानं पच्चत्तं वेदितब्बं विञ्ञूहि]।

आभिधार्मिक कहते हैं कि आज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत आर्य ही निर्वाण का दर्शन करता है, यह इन्द्रिय 'अरियचक्खु' (=आर्यचक्षु) कहलाती है। यह मन का वेदना-विशेष और श्रद्धादि पंचेन्द्रिय से संप्रयोग है। इस इन्द्रिय के द्वारा निर्वाण का 'उपभोग' होता है। क्योंकि आर्य सौमनस्य और सुख का अनुभव करता है, जो निर्वाण को स्पृष्ट करके ही होता है। [अभिधर्मकोश १।१०१; २।११०, ११२, ११६]।

ध्यान और आरूप्यों के अभ्यास से निर्वाण में सहायता मिलती है, किन्तु बुद्ध को यह समापत्तियाँ अपर्याप्त प्रतीत हुई। उन्होंने इस कमी को पूरा किया। उनकी शिक्षा है कि निर्वाण 'संदिट्ठिक' (दिट्ठधम्म-निब्बान) है। बुद्ध कहते हैं कि राग के प्रहाण से अमृतत्व का साक्षात्कार होता है [संयुत्त ५।१८१]। अन्यत्र दृष्टधर्म-निर्वाण को क्षय-ज्ञान से संज्ञावेदित-निरोध कहा गया है [अंगुत्तर ४।४५४]। यह दो परस्पर विरोधी संज्ञाएं हैं। उदायी आनन्द से पूछते हैं—दृष्टधर्म-निर्वाण क्या है ? आनन्द उत्तर देते हैं—काम-सुख से वीतराग भिक्षु ध्यान और आरूप्यों में समापन्न होता है। इन अवस्थाओं में से प्रत्येक के लिए भगवान् ने पर्याय से कहा है कि यह दृष्टधर्म-निर्वाण है। किन्तु जब भिक्षु चतुर्थ आरूप्य का समतिक्रमण कर संज्ञावेदित-निरोध का साक्षात्कार करता है, और वहाँ अवस्थान करता है, और ज्ञान द्वारा उसके क्लेश क्षीण होते हैं, तब भगवान् इस अवस्था को निष्पर्यायेण दृष्टधर्म-निर्वाण कहते हैं [अंगुत्तर ४।४५४]।

एक दूसरा वाक्य है—'दृष्टधर्म-सुख-विहार'। आभिधार्मिक इस वाक्य का व्यवहार केवल अर्हत् के लिए करते मालूम होते हैं। निर्वाण की प्राप्ति एक बात है; निर्वाण का सुख दूसरी बात है। आर्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। उसके क्लेश क्षीण होते हैं, क्योंकि उसके और निर्वाण के बीच एक संबन्ध-विशेष होता है। आर्यत्व निर्वाण नहीं है, किन्तु निर्वाण की प्राप्ति है।

आभिधार्मिक विशेष करते हैं—१. आत्यन्तिक निर्वाण और क्लेश क्षय, २. निर्वाण की प्राप्ति, जो सर्व क्लेश और अपूर्व भव को अनुत्पत्तिधर्मा बनाती है। यह सोपधिशेष निर्वाण है। ३. निर्वाण-प्राप्ति का ज्ञान। इस ज्ञान का लाभ ध्यान में होता है। यह सुख है। यह इस लोक का अग्र-निर्वाण है। ४. संज्ञावेदितनिरोध की प्राप्ति। इसका संवेदन काय से होता है। ५. चरम-चित्त में निर्वाण-प्रवेश। यह निरुपधिशेष निर्वाण है। ६. अमुक अमुक क्लेश के प्रति निर्वाण की प्राप्ति। यह आंशिक आर्यत्व है।

निर्वाण का स्वरूप—परम्परा के अनुसार

कुछ प्रश्न स्थापनीय हैं, जिनका विसर्जन भगवान् ने नहीं किया है। त्रिपिटिक में यह स्थापनीय प्रश्न पाये जाते हैं। बुद्ध इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि तथागत हैं, या नहीं। वह इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं देते कि जीवितेन्द्रिय शरीर से भिन्न है या अभिन्न। परमार्थ-

दृष्टि से सत्व की सत्ता नहीं है। सत्व संवृति-सत् है, वह प्रज्ञप्तिमात्र है। वसुबन्धु [अभिधर्म-कोश, ६] इस संबन्ध में नागसेन की एक कथा का उल्लेख करते हैं। वसुबन्धु कहते हैं कि भगवान् प्रश्नकर्ता के आशय को ध्यान में रखकर उत्तर देते हैं। जीवितेन्द्रिय संबन्धी स्थापनीय प्रश्न का अर्थ पुद्गलवादी अन्य प्रकार से करते हैं। यदि बुद्ध तत्त्व या अन्यत्व का प्रतिषेध करते हैं, तो इसका कारण यह है कि पुद्गल यथार्थ में स्कन्धों से अभिन्न नहीं है, और न उनसे भिन्न है। स्कन्धों के प्रति पुद्गल अवाच्य है। "स्कन्धों से पृथक् पुद्गल की उपलब्धि नहीं होती। अतः यह उनसे भिन्न नहीं है। यह तत्त्वभाव नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में यह जन्म-मरण के अधीन होगा। पुद्गल द्रव्य है; यह कर्म का कारक और फल का भोक्ता है।"

निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय नहीं है, किन्तु निर्वृत आर्य का प्रश्न स्थापनीय है। निर्वाण है, किन्तु यह क्या है? इसका उत्तर नहीं है।

सौत्रान्तिक आकाश के तुल्य निर्वाण का प्रतिषेध करते हैं। वह कहते हैं कि यह अभावमात्र है। सर्वास्तिवादियों का मत है कि निर्वाण परमार्थ-सत्, द्रव्य, 'अत्थिधम्म' (बुद्धघोष) है। बुद्ध ने निर्वाण का व्याकरण किया है, क्योंकि यह तृतीय आर्य-सत्य है। यह 'लक्षण-धर्म' (लक्खण-धम्म) है। दुःख का निरोध है, और दुःख-निरोध का अर्थ, विषय, (वत्थुसच्च = वस्तु-सत्य) भी है, अर्थात् उसका विषय असन्मात्र, विरोधमात्र नहीं है; किन्तु द्रव्य-सत् है [कथावत्थु]।

प्रारंभिक काल के बौद्धों के लिए एक दूसरा प्रश्न है। निर्वाण है, किन्तु उसका स्वरूप हम क्या समझते हैं? क्या हम यह कह सकते हैं कि मुक्तावस्था का अस्तित्व कहाँ है? क्या यह कहना अधिक ठीक होगा कि इसका अस्तित्व नहीं है? अथवा क्या हम यह कह सकते हैं कि यह है भी, और नहीं भी है; या इनमें से हम कुछ भी नहीं कह सकते? इन प्रश्नों का उत्तर बुद्ध ने नहीं दिया है। निर्वाण है, किन्तु वह अनाख्यात है।

इसका प्रमाण है कि निकायों ने इन दो प्रश्नों में विशेष किया है। वैभाषिक निर्वाण के प्रश्न को स्थापनीय नहीं समझते। निर्वाण है,किन्तु तथागत का मरणानन्तर अस्तित्व रहता है या नहीं, यह प्रश्न स्थापनीय है; क्योंकि तथागत प्रज्ञप्तिमात्र है।

स्थविरों के लिए निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय है, क्योंकि निर्वाण प्रज्ञप्तिमात्र है। उनका यह मत उस सूत्र के आधार पर नहीं है, जिसमें तथागत के अस्तित्व के प्रश्न का उल्लेख है, किन्तु यह शारिपुत्र के एक दूसरे सूत्र पर आश्रित है, जिसमें वह निर्वाण के प्रश्न का व्याकरण नहीं करते [अंगुत्तर २।१६१]। परिनिर्वृत चक्षुरादि से जाना नहीं जाता, यह कई स्थलों में निर्दिष्ट है :—

"जब आर्य का तिरोभाव होता है, तो क्या यह कहना चाहिये कि वह नहीं है (नत्थि), वह सदा के लिए अरोग (सस्सतिया अरोगो) है? जिसका तिरोभाव हुआ है, उसका कोई प्रमाण नहीं है। उसके संबन्ध में सर्व बुद्धि की, सर्व वचन की, हानि होती है" [सुत्त-निपात १०७४]।

"तथागत के संबन्ध में यह प्रज्ञप्ति नहीं हो सकती कि वह रूपादि है। इन प्रज्ञप्तियों से वह विनिर्मुक्त है। वह महोदधि के सदृश गंभीर और अप्रमेय है। उसके लिए हम नहीं कह सकते कि वह है, वह नहीं है, इत्यादि"। [संयुत्त ४।३७४]।

"वह गंभीर, अप्रमेय, असंख्य है। उसे 'निर्वृत' कहते हैं; क्योंकि उसके राग, द्वेष और मोह क्षीण हो चुके हैं" (नेत्तिप्पकरण)।

इन वचनों की सहायता से हम समझते हैं कि बुद्ध ने भव और विभव की तृष्णा की क्यों निन्दा की है [अभिधर्मकोश ५।१६]। इनमें से एक भी निर्वाण नहीं है। इसी कारण से बुद्ध दो अन्तों का अपवाद किया करते हैं। यह कहना कि जो भिक्षु क्लेश-क्षय करके मृत्यु को प्राप्त होता है, वह निरुद्ध हो जाता है, उसका अस्तित्व और नहीं होता (न होति), पापिका दृष्टि है [संयुत्त ३।१०६]। दूसरी ओर यह कहना कि आर्य दुःख से विनिर्मुक्त हो नित्य आरोग्यावस्था में अवस्थान करता है, उचित नहीं है। (किन्तु निर्वाण का लक्षण 'आरोग्य' कहा गया है)।

पुसें का विचार है कि इनमें से कई निरूपण कृत्रिम हैं। उनका विश्वास है कि एक समय था जब बौद्ध-धर्म इन वादों से विनिर्मुक्त था और निर्वाण-लाभ के लिए सर्व ज्ञेय के सर्वथा ज्ञान को आवश्यक नहीं समझा जाता था। निर्वाण अभावमात्र है, इस विचार से भी वह परिचित नहीं था। वह अभी किसी पद्धति में गठित नहीं हुआ था, किन्तु वह बुद्ध में, प्रतिसंधि में, निर्वाण में, और परम-क्षेम में विश्वास करता था। हमको ऐसी गाथाएँ मिलती हैं, जहाँ 'सन्तान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। निर्वाण के संबन्ध में वह गाथाएँ अपने को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करती हैं। यह सन्तान ऐसी है, यहाँ कोई लज्जा नहीं है। स्कन्धों का इस प्रकार संप्रधारण कर वीर्यवान् भिक्षु राग का प्रहाण करता है; शरण का अन्वेषण करता है; यह समझ कर कि उसका शिर अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है, वह अचल, भुन को लक्ष्य मानकर अग्रसर होता है [संयुत्त ३।१४३]। किन्तु वह परिनिर्वृत आर्य की अवस्था के संबन्ध में किसी प्रकार की कल्पना करने का प्रतिषेध करता है। क्योंकि वह वाणी और मन से अतीत हो गया है। जिस प्रकार वह काम-सुख और कष्ट-तप दोनों अन्तों का परिहार करता है, उसी प्रकार वह शाश्वतत्व, विभव, लोक-प्रभव आदि की निन्दा करता है। वह दृष्टियों को विपर्यास और मोह का कारण समझता है। जो कहते हैं कि तर्क मेरी ओर है, आपका वाद मिथ्या है, जो मैं कहता हूँ वह सत्य है, अन्य सब मूर्खता है, उनका प्रलाप शान्ति, वैराग्य और मोक्ष के अनुकूल नहीं है।

पुसें के अनुसार हीनयान एक विद्या नहीं है। योग की अन्य शाखाएँ हैं, जिनमें मोक्ष किसी विद्या पर आश्रित है। इनमें आत्मा और ईश्वर के तादात्म्य-ज्ञान पर, अथवा प्रकृति और पुरुष के विवेचनात्मक ज्ञान पर मोक्ष निर्भर करता है। किन्तु यह ज्ञान आध्यात्मिक नहीं है। यह मानना कि शरीर अमेध्य है, जीवन क्षणिक है, वेदना दुःखात्मक है, वस्तु सारहीन है; 'ज्ञान' नहीं है। यह एक दृढ़ विश्वास है, जो राग का क्षय करता है।

आभिधार्मिक कहते हैं कि अपने श्रोताओं के चरित के अनुसार बुद्ध विविध पर्याय से देशना करते थे, और इसीलिए कुछ सूत्रान्त 'नीतार्थ' हैं, और कुछ 'नेयार्थ'। आगम के अनुसार बुद्ध एक चिकित्सक हैं। आभिधार्मिकों के अनुसार वह किसी को पुद्गल की देशना देते हैं, और किसी को नैरात्म्य की।

जो दृष्टि से क्षत होता है, वह आत्मा के अस्तित्व में प्रतिपन्न है। जो संवृति-सत् (प्राज्ञप्तिक) पुद्गल को नहीं मानता, वह कुशल-कर्म का भ्रंश करता है। इसलिए बुद्ध यह नहीं कहते कि जीव अनन्य है या अन्य, और इस भय से कि कहीं ऐसा कहने से लोग यह न समझने लगें कि प्राज्ञप्तिक जीव भी नहीं है, वह यह भी नहीं कहते कि जीव का वास्तव में अस्तित्व नहीं है। अतः उनकी देशना उसी प्रकार होती है, जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को दाँत से पकड़ कर ले जाती है।

सेनार्त अपनी पुस्तक में कहते हैं कि बौद्धों का नास्ति-वाद योग के शील संबन्धी विचारों से प्रभावित हुआ है। इन्द्रिय-विषय के महत्त्व को न मानने से, और इस पर जोर देने से कि विषयों को इस प्रकार अवधारित करना चाहिये, मानों उनका अस्तित्व ही नहीं है; हम बिना किसी कठिनाई के इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि इन्द्रियार्थ का अस्तित्व ही नहीं है।

'धम्मपद' की एक गाथा और 'संयुत्त' के एक सूत्रान्त [३।१४२] की परस्पर तुलना करने से इसकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। "जो सत्व लोक को जल-बुद्बुद, मरीचिका आदि अवधारित करता है, वह मृत्यु-राज के अधीन नहीं होता।" जिस सूत्रान्त में प्रज्ञा-पारमिताओं का दर्शन बीजरूप में पाया जाता है, वह पुद्गल के स्कन्धों को द्रव्य-सत् नहीं मानता, उसको असद्भूत मानता है। बुद्ध ने कहा है कि शरीर फेनोपम है। वेदना जल-बुद्बुद के समान है, संज्ञा मरीचिका के तुल्य है, संस्कार कदली-स्तम्भवत् निःसार है, विज्ञान मायावत् प्रतिभास है। आर्य-मार्ग के सिद्धान्त और उसके अभ्यास का झुकाव पुद्गल-नैरात्म्य की ओर था; पश्चात् वह धर्म-नैरात्म्य की ओर हो गया।

राग का प्रतिपक्ष यथार्थ-ज्ञान है। एक निमित्त का निवारण प्रतिपक्ष नियम से होता है [मज्झिम १।११६]। जब इष्ट संज्ञा का एकान्ततः प्रहाण होता है, तब राग का निरोध होता है। अतः जरा, रोग और मरण का चिन्तन करना आवश्यक है, और यह जानना आवश्यक है कि महान् कष्ट उठाकर जो काम-सुख लब्ध होता है, वह क्षणिक है, और उसके लिए नरक का दुःख सहन करना होता है। यह तत्त्व-मनस्कार है, किन्तु यह अपर्याप्त है। राग-रोग अधिमुक्ति-मनस्कार [अभिधर्मकोश २।३२५] का उत्पाद करता है। इसलिए अशुचि और अशुभ की भावना करने से स्त्री-संज्ञा की व्यावृत्ति होती है। इस रीति से योगी यह अवधारित करने लगता है कि सब दुःख है 'सर्वं दुःखम्' यह एक दृष्टि-विशेष से ही सत्य है। बौद्धों का यह विश्वास नहीं है कि संसार केवल दुःख ही दुःख है। इसके प्रतिकूल वह मानते हैं कि इष्ट वस्तु मनोज्ञ है, और इसी-लिए आर्य उनको अमनोज्ञ के आकार में देखने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह ठीक है कि सौत्रान्तिक और महासांघिक मानते हैं कि सर्व वेदना दुःख-स्वभाव है। [अभिधर्मकोश ६।३];

किन्तु इन्हीं बौद्धों का यह भी कहना है कि जो बुद्ध को एक पुष्प दान में देता है, वह इस दान के कारण कल्प भर स्वर्ग-सुख का भोग करता है; किन्तु वह कहते हैं कि यह सुखवेदना आर्यों को प्रतिकूल प्रतीत होती है। वह कहेंगे कि सांसारिक सुख यथार्थ सुख नहीं है, क्योंकि यह अनित्य है। इसी प्रकार वह कहेंगे कि 'आत्मा' मायोपम है। क्योंकि वह अहंकार और ममकार का प्रहाण करना चाहते हैं।

अहंकार और ममत्व के विनष्ट होने पर योगी शान्त होता है। उसकी रुचि निर्वाण में भी नहीं होती। "मैं विमुक्त और वीतराग हूँ। मैं विशुद्ध हूँ, किन्तु इस विशुद्धि में, इस विमुक्ति में, चाहे वह निर्वाण ही क्यों न हो, मेरा अधिमोक्ष न होना चाहिये।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत

पुसें के अनुसार आरंभ में बौद्ध-धर्म आत्मा, पुनर्जन्म और निर्वाण में विश्वास करता था। वह दर्शन न था। पीछे से धर्म-नैरात्म्य की भावना और मद-निर्मर्दन के लिए नैरात्म्य-वाद का प्रारंभ हुआ। इसके दो रूप हुए :—पुद्गलवाद और सन्ततिवाद; किन्तु पुनर्जन्म में जो विश्वास था वह नष्ट न हो सका। जो सन्ततिवाद के मानने वाले हैं, उनमें कोई निर्वाण को वस्तु-सत् मानते हैं, कोई निर्वाण को क्लेश और पुनर्भव का अभावमात्र मानते हैं। यह दूसरे सौत्रान्तिक और 'पुब्बसेलिय' हैं। इनमें हम स्थविरों को भी संमिलित कर सकते हैं। पहली कोटि में विभज्यवादी, सर्वास्तिवादी और वैभाषिक हैं; अर्थात् आभिधार्मिक प्रायः पहले मत के हैं। 'पुब्बसेलिय' निर्वाण को वस्तु-सत् नहीं मानते (बुद्धघोष के अनुसार)। स्थविरों का भी मत है कि निर्वाण का अस्तित्व नहीं है।

सौत्रान्तिकों का कहना है कि जो कुछ है, वह हेतु-प्रत्यय-जनित है; अर्थात् वह संस्कृत, प्रतीत्य-समुत्पन्न, हेतु-प्रभव है। संस्कृत संस्कार भी है। यह अन्य संस्कृतों का उत्पाद करता है। हेतु-फल-परंपरा के बाहर कुछ भी नहीं है। यह परंपरा प्रवृत्ति, संसार है। निर्वाण केवल क्लेश-जन्म का अभाव है; क्लेश-कर्म-जन्मरूपी प्रवृत्ति की निवृत्तिमात्र है। एक शब्द में केवल संस्कृत का अस्तित्व है। वे असंस्कृत का प्रत्याख्यान नहीं करते, किन्तु वह कहते हैं कि यह कोई लोकोत्तर वस्तु-सत् नहीं है; यह अवद्भूत है, यथा—लोक में कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व या निष्पत्ति के पश्चात् शब्द का अस्तित्व नहीं होता। वे एक सूत्र उद्धृत करते हैं, जिसे उनके प्रतिपक्षी प्रामाणिक नहीं मानते:—अतीत और अनागत वस्तु, आकाश, पुद्गल और निर्वाण प्रज्ञप्तिमात्र हैं [अभिधर्मकोश, ४।२]। निर्वाण अभावमात्र, अप्रवृत्तिमात्र (अप्पवट्ट) है। सूत्र में निर्दिष्ट लक्षण इस प्रकार है :—सर्वथा प्रहाण, वैराग्य, विशुद्धि, क्षय, निरोध, दुःख का अत्यन्त अत्यय, अनुत्पाद, अनुपादान, अप्रादुर्भाव। यह शान्त, प्रणीत है, अर्थात् सर्वोपधि का प्रत्याख्यान, तृष्णा-क्षय, निर्वाण है [संयुत्त १३।५; अभिधर्मकोश २, पृ० २८४]।

आगम के अनुसार निर्वाण तृतीय सत्य है। यह दुःख का निरोध, अर्थात् तृष्णा का क्षय, तृष्णा से वैराग्य, तृष्णा का प्रत्याख्यान, तृष्णा से विमुक्ति है। इसको अक्षरशः नहीं लेना चाहिये, क्योंकि ऐसे अनेक वचन हैं, जिनमें कहा है कि दुःख का निरोध जन्म, भव, स्कन्धों का निरोध है, क्योंकि दुःख का लक्षण तृष्णा नहीं है, क्योंकि तृष्णा दुःख का समुदय

है। निर्वाण का लक्षण कुछ भी क्यों न हो, यह 'अनुत्पाद' है। स्थविर निर्वाण को परमार्थ-सत् नहीं मानते [अभिधर्मकोश ६।४]। स्थविर के अनुसार निर्वाण का प्रश्न १४ स्थापनीय प्रश्नों में से है। [अंगुत्तर २।१६४; संघभद्र की आलोचना के लिए कोश ६।४ देखिये]।

सौत्रान्तिक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सूत्र का यह दृष्टान्त प्रणीत है। यथा—अग्नि का निर्वाण है, तथा चेतोविमुक्ति है। अग्नि का निर्वाण, अग्नि का अत्ययमात्र है। यह द्रव्य नहीं है [कोश २।५५]। पर संदर्भ से मालूम होता है कि अग्नि का निर्वाण अग्नि का अभाव नहीं है [उदान ८।१०, मज्झिम १।४८७, थेरीगाथा ११५, सुत्तनिपात १०७४]। संघभद्र का निरूपण है कि अग्नि की उपमा से हमको यह कहने का अधिकार नहीं है कि निर्वाण 'अभाव' है। यह निर्वाण का दृशान्त नहीं है, किन्तु यह निरुपधिशेष निर्वाण-प्रवेश के क्षण में जिसका अत्यय होता है, उसकी उपमा है [कोश ६।६६]। राग और चित्त के निरोध होने पर ही प्रवेश हो सकता है।

असंस्कृत के संबन्ध में वचन

ऐसे भी वचन हैं जो असंस्कृत को अभाव बताते हैं, किन्तु अनेक वचन ऐसे भी हैं जो असंस्कृत का लक्षण अमृत, अकोप्य, अवाच्य, और द्रव्य बताते हैं। प्राचीन साहित्य में अनेक वाक्य हैं, जो इसका समर्थन करते हैं कि यह 'भाव' है। अमृत और असंस्कृत यह दो संज्ञाएं एक ही समय की नहीं हैं। निर्वाण अमृत है, यह पुरातन विचार है। निर्वाण अकृत, असंस्कृत है, यह आख्याएं उतनी पुरानी नहीं हैं, और ये पारिभाषिक शब्द हैं। जब लोक-धातु की कल्पना हुई, तब निर्वाण को प्रतीत्य-समुत्पाद की तंत्री से बहिर्गत किया, और असंस्कृत की संज्ञा दी।

१. धम्मपद में इसे 'अमतं पदं' कहा है। थेरीगाथा [५११–५१३] में कहा है—

अजरं हि विज्जमाने किन्तव कामेहि ये सुजरा।
मरणब्याधिगहिता सब्बा सब्बत्थ जातियो॥
इदमजरमिदममरं इदमजरामरणपदमसोकं।
असपत्तमसंबाधं अखलितमभयं निरुपतापं॥
अधिगतमिदं बहूहि अमतं अज्जापि च लभनीयमिदं।
यो योनिसो पयुञ्जति न च सक्का अघटमानेन॥

मज्झिम [१।१६७] में निर्वाण को अनुत्तर-योगक्खेम, 'अनुप्पन्न' कहा है।

२. असंस्कृत को उदान [८।३] में, तथा इतिवुत्तक [४३] में अनुप्पन्न (= अनुत्पन्न), अकत (= अकृत) कहा है। अंगुत्तर [२।३४], संयुत्त [३१।१२] में कहा है कि सब संस्कृत और असंस्कृत वस्तुओं में वर्त्म-च्छेद, तृष्णा-क्षय, विराग, निर्वाण अग्र है। निर्वाण अग्र-धर्म, द्वितीय रत्न, अग्र-प्रसाद, शरण है। संयुत्त के असंखतवग्ग [४।३५७] में अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। वह राग, द्वेष, और मोह का क्षय है। मैं तुमको अन्त, अनास्रव, सत्य, पार, निपुण, सुदुर्दर्श,

अजर, ध्रुव, अनिदर्शन, निष्प्रपंच, सत्, अमृत, प्रणीत, शिव, क्षेम, आश्चर्य, अद्भुत, निर्वाण, विराग, शुद्धि, मुक्ति, अनालय, द्वीप, लेण, त्राण, परायण का निर्देश करूँगा।

३. निर्वाण, असंस्कृत, अमृत, निरोध—इन शब्दों के आगे धातु शब्द जोड़ते हैं। सर्वास्तिवादी के लिए विराग-धातु, प्रहाण-धातु, निरोध-धातु, निर्वाण को प्रज्ञप्त करता है। यह आख्याएँ आर्य की अवस्था को प्रज्ञप्त नहीं करतीं। जब हम कहते हैं कि यह अभिसमय तथा निर्वाण-प्रवण नहीं है, तब निर्वाण का अर्थ चित्त की शान्ति होता है। 'निर्वाण-धातु' केवल शाश्वत निर्वाण है। बौद्धों के अनुसार केवल तीन धातु हैं—कामधातु, रूप°, आरूप्य°। किन्तु इतिवुत्तक [५१] में भगवान् की शिक्षा है कि तीन धातु रूप°, अरूप°, और निरोध-धातु हैं। निर्वाण को प्रायः-पद, शरण, पुर अवधारित करते हैं। आर्य निर्वाण में प्रवेश करता है (प्रविशति)। निर्वाण-धातु जहाँ आर्य का ह्रास या वृद्धि नहीं होती [अंगुत्तर ४।२०२] निर्वाण नामक भवन है। अभिसमयालंकारालोक के अनुसार निर्वाण को धातु कहते हैं, क्योंकि यह आर्य-चित्त का आलंबन है। आर्य विनश्वर अर्थों से अपने चित्त को व्यावृत्त करता है, और अमृता-धातु की भावना करता है। [अंगुत्तर ४।४२३]।

निर्वाण का मुख्य आकार

निर्वाण का सबसे मुख्य आकार 'क्षय' का है। वस्तुतः निर्वाण निरोध है। निर्वाण अप्रादुर्भाव है। यह तृष्णा-क्षय और दुःख-निरोध है। सर्वास्तिवादी उसे प्रतिसंख्या-निरोध कहते हैं। आर्य समाधि में इसका दर्शन करते हैं, किन्तु यदि तत्त्व का साक्षात्कार केवल समाधि की अवस्था में होता है, तो यह वाणी का विषय नहीं हो सकता। शास्ता ने इसे मुख्यतः 'निरोध' व्याकृत किया है। यह द्रव्य है, कुशल है, नित्य है। इसे निरोध, विसंयोग कहते हैं।

निरोध वस्तु-सत् है। इसी प्रकार मंडनमिश्र का कहना है कि अविद्या-निवृत्ति जो 'अभाव' है, विमुक्त आर्य में नित्य अवस्थान करती है। न्याय-वैशेषिक इन विचारों से परिचित हैं। निरोध केवल एक आकार है। निर्वाण में अन्य आकार शान्त, प्रणीत, निःसरण हैं। निरोध द्रव्य है, अभाव नहीं है। इसमें नीचे दिए हुए हेतु बताए जाते हैं:—

१. यदि यह अभावमात्र होता तो यह आर्य-सत्य कैसे होता? जिसकी सत्ता नहीं है, वह मन का विषय नहीं हो सकता।

२. अभाव को तृतीय-सत्य कैसे अवधारित करते?

३. अभाव संस्कृत-असंस्कृत में अग्र कैसे होता?

४. यदि तृतीय आर्य-सत्य का विषय द्रव्य-सत् नहीं है, तो उसके उपदेश से क्या लाभ है?

५. यदि निरोध निवृत्तिमात्र है, तो उच्छेद-दृष्टि सम्यक्-दृष्टि होगी।

यद्यपि रोग का अभाव अभावमात्र है, तथापि यह सद्भूत है; और इसे आरोग्य कहते हैं। दुःख का अभाव सुख कहलाता है।

संस्कृत के लक्षणों से विनिर्मुक्त पदार्थ 'असंस्कृत' है, किन्तु आर्यत्व राग का अभाव है, और मार्ग-जनित है। यह 'संस्कृत' है, अतः दो में विशेष करना चाहिये :—

१. निर्वाण राग-क्षय है, उस क्लेश से भिन्न एक धर्म है, जिसका यह क्षय करता है, उस मार्ग से अन्य है, जो निर्वाण का प्रतिपादन करता है।

२. अर्हत्व निर्वाण नहीं है, किन्तु निर्वाण का लाभ है।

निर्वाण का त्रिविध आकार है :—विराग-धातु, प्रहाण-धातु, निरोध-धातु, [कोश ६।७६,७८]। आर्य निर्वाण का उत्पाद नहीं करता (उत्पादयति), वह उसका साक्षात्कार करता है (साक्षीकरोति); वह उसका प्रतिलाभ करता है (प्राप्नोति)। मार्ग निर्वाण का उत्पाद नहीं करता; यह उसकी प्राप्ति का उत्पाद करता है।

निर्वाण के अन्य प्रकार

निर्वाण सुख है, शान्त है, प्रणीत है। जो उसे दुःखवत् देखता है, उसके लिए मोक्ष संभव नहीं है [अंगुत्तर ४।४४२]। अभिधर्मकोश [७।१३] में इन आकारों का वर्णन है। मिलिन्दप्रश्न में है कि निर्वाण-धातु 'अत्थिधम्म' (=अस्तिधर्म), एकान्तसुख, अप्रतिभाग है। मिलिन्द पुनः कहते हैं कि उसका लक्षण 'स्वरूपतः' नहीं बताया जा सकता, किन्तु 'गुणतः' दृष्टान्त के रूप में कुछ कहा जा सकता है, यथा जल पिपासा को शान्त (निब्बापन) करता है, उसी प्रकार निर्वाण त्रिविध तृष्णा का निरोध करता है।

तदंग-निर्वाण

निर्वाण एक, नित्य, अविपरिणामी है; किन्तु कोई एक क्लेश के क्षय का लाभ करते हैं, अर्थात् उस क्लेश के प्रति निर्वाण का अधिगम करते हैं। यह 'तदंग-निब्बान' है। अंगुत्तर [४।४१०] में इसका व्याख्यान है। सर्वास्तिवादी निर्वाण का लक्षण निरोध, विसंयोग बताते हैं। यह एक द्रव्य है, जिसकी प्राप्ति योगी को होती है। जितने क्लेश हैं, उतने विसंयोग हैं। विसंयोग की प्राप्ति केवल आर्यों के लिए नहीं है। जो एक क्लेश से विरक्त है, वह इस क्लेश के प्रति निर्वाण का लाभ करता है।

दो निर्वाण-धातु

दो निर्वाणों में विशेष करते हैं। यह इस प्रकार है :—स-उपादिसेस, अनुपादिसेस या सोपधिसेस, निरुपधिसेस। उपादि (=उपादान) प्रायः उपादान-स्कन्ध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पहला स्कन्ध-सहगत निर्वाण है, दूसरा स्कन्ध-विनिर्मुक्त है। पहले में राग क्षीण हो चुका है, किन्तु स्कन्ध है। इसे 'स-उपादि' कहते हैं। जब अर्हत् का मरण होता है, तब वह द्वितीय निर्वाण में प्रवेश करता है। यह निश्चित नहीं है कि यह निरूपण सबसे प्राचीन है।

शरवात्स्की का मत

पुसें के मत का हमने विस्तार से वर्णन किया है। शरवात्स्की ने 'कन्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण' में इस मत का खण्डन किया है। पुसें ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि

आरंभ में निर्वाण आत्मा के अमृतत्व में विश्वासमात्र था। उन्होंने मान लिया है कि बौद्ध-धर्म का एक पूर्वरूप था, जो त्रिपिटक के विचारों से सर्वथा भिन्न, कदाचित् उसके प्रतिकूल था। नास्तित्व, आत्म-प्रतिषेध, स्कन्धमात्र, निरोध, निराशावादिता आदि कदाचित् उसके लक्षण न थे। ऋद्धि-अभिज्ञा के अभ्यास से यह विश्वास उत्पन्न होता था कि आत्मा अमर है।

किन्तु यदि सबसे प्राचीन साहित्य पीछे का है और कल्पित है, तो वह क्या है जिसका उपदेश बुद्ध ने किया था, और जिसका स्थान पश्चात् एक दूसरे बौद्ध-धर्म ने लिया? इसका उत्तर पुसें यह देते हैं कि बुद्ध ने योग की शिक्षा दी थी, और वह योग इन्द्रजाल और लौकिक ऋद्धि-प्रातिहार्य था। इस योग में ध्यान की क्रिया भी संमिलित थी। इसका यह अर्थ हुआ कि बुद्ध पातंजल-योग के सदृश किसी दार्शनिक पद्धति के अनुयायी न थे। वे केवल एक सामान्य चिकित्सक थे। पुसें कहते हैं कि जिस योग से बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति हुई, उसमें आध्यात्मिक प्रश्नों के विषय में विचार-विमर्श न था। वह एक प्रतिक्रियामात्र था, और उससे किसी नैतिक, धार्मिक या दार्शनिक दृष्टि से सरोकार न था।

शरवात्स्की कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि बौद्ध-योग ऋद्धि-प्रातिहार्य और इन्द्रजाल की विद्या है। इसके प्रतिकूल वह निश्चित ही एक दार्शनिक पद्धति है। योग समाधि या चित्त की एकाग्रता और पुनः पुनः निवेषण है। ध्यान और समापत्ति का भी यही अर्थ है। इन सब व्याख्याओं का प्रयोग कर्म-साधन, करण-साधन, अधिकरण-साधन है। इस प्रकार योग और समाधि चित्त-विशेष की अवस्था के अर्थ में एकाग्र-चित्त है, या उस प्रकार के अर्थ में एकाग्र-चित्त है, जिससे यह अवस्था उत्पन्न हुई है; या उस स्थान के अर्थ में एकाग्र-चित्त है, जहाँ इस अवस्था का उत्पाद हुआ है। इस अन्तिम अर्थ में 'समापत्ति' शब्द का प्रयोग ध्यान-लोकों के लिए होता है, जहाँ के सत्व नित्य ध्यानावस्थित होते हैं। यह शब्द आठों भूमियों के लिए प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में समापत्ति का विपक्ष काम-धातु है, जहाँ के सत्वों के चित्त असमाहित, विक्षिप्त होते हैं। समापत्ति का यह सामान्य अर्थ है। एक विशेष अर्थ में 'समापत्ति' अरूप-धातु की चार भूमियों के लिए प्रयुक्त होता है। उस अवस्था में यह चार ऊर्ध्व भूमि हैं। चार अधर भूमि चार ध्यान कहलाती हैं। 'समाधि' शब्द का भी सामान्य और विशेष अर्थ है। यह एक चैतसिक धर्म है, जिसके बल से चित्त समाहित होता है; या इसका अर्थ भावित, विपुलीकृत एकाग्रता है। इस अवस्था में इसमें एक सामर्थ्य-विशेष उत्पन्न होता है, जो ध्यायी को ऊर्ध्व भूमियों में ले जाता है, और उसमें इन्द्रिय-संचार करता है। 'योग' सामान्यतः इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। अलौकिक और अद्‌भुत शक्तियों को ऋद्धि कहते हैं, किन्तु जब योग से ऋद्धियों का उत्पाद इष्ट होता है, तब उपचार से योग शब्द का प्रयोग ऋद्धियों के लिए करते हैं। बौद्ध-योग का मौलिक विचार यह है कि समाधि से शमावस्था का उत्पाद होता है।

ध्यायी पुद्‌गल क्रियाशील पुद्‌गल का विपक्ष है। जीवन का संस्कारों में विभजन इस दृष्टि से करते हैं, जिसमें उनका एक-एक करके उपशम और निरोध हो।

पुद्गल वस्तुतः संस्कार-समूह और सन्तान है। आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। यह अनात्मा है। इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार शरीर परमाणु संचितरूप है उसी प्रकार पुद्गल का अरूपी अंश धर्ममय है। ये धर्म एक दूसरे से पृथक् हैं। तथापि हेतु-प्रत्यय-वश ये धर्म अन्योन्य संबद्ध हैं। इनमें से कुछ सदा सहोत्पन्न (सहभू) हैं, या ये उत्तरोत्तर क्षण में एक दूसरे के अनुगत हैं। तब ये निष्यन्द-फल हैं, क्षण सन्तान हैं। हेतु-प्रत्यय का नियम प्रतीत्य-समुत्पाद कहलाता है। किसी पुद्गल-सन्तान के शरीर-क्षण में अरूपी धर्मों की संख्या क्षण-क्षण पर बदलती रहती है। इनकी बहुसंख्या हो सकती है; क्योंकि प्रसुप्त धर्मों को भी वर्तमान अवधारित करते हैं। सौत्रान्तिक उपहास करते हैं, और कहते हैं कि एक क्षण में इतने पृथक् धर्मों का सहभाव कैसे हो सकता है? किन्तु इनमें से कुछ प्रतिक्षण रहते हैं, और कुछ अवस्था-विशेष में ही प्रादुर्भूत होते हैं। दस प्रकार के धर्म सदा रहते हैं। इन्हें चित्त-महाभूमिक कहते हैं। इनमें से समाधि या योग भी है। इनके अतिरिक्त कुछ कुशल-धर्म या अकुशल-धर्म भी होते हैं। एक क्षण के धर्मों की संख्या ही भिन्न नहीं होती, इनका उत्कर्ष-भेद भी होता है। किसी पुद्गल में क्षण-विशेष में एक धर्म का उत्कर्ष होता है। किसी में किसी दूसरे धर्म का।

इन दस महाभूमिकों में दो का विशेष माहात्म्य है। जब इनका प्रकर्ष होता है, तो यह उत्कृष्ट होते हैं। यह प्रज्ञा या समाधि है। ऐसा भी है कि इन धर्मों का विकास और उत्कर्ष न हो। तब 'प्रज्ञा' को 'मति' कहते हैं, किन्तु धर्म वही है। जब इसका पूर्ण विकास होता है, तब यह अमला-प्रज्ञा होती है। पृथग्जन अविद्या से प्रभावित होता है। अविद्या प्रज्ञा का विपर्यय है, अभावमात्र नहीं है। यह एक पृथग्धर्म है, किन्तु इसका नित्य अवस्थान नहीं है। यह प्रहीण हो सकता है, और चित्त-सन्तान से अपगत हो सकता है।

सन्तान में कुशल और अकुशल धर्मों के बीच जो संघर्ष होता है, वह नैतिक उन्नति है। धर्म पृथग्भूत और क्षणिक हैं। इसलिए वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। तथापि अविद्यादि धर्मों के विद्यमान होने से सकल सन्तान दूषित होता है। उस अवस्था में सर्व धर्म सास्रव होते हैं; विज्ञान भी क्लिष्ट हो जाता है। इसको समझाने के लिए एक सर्वत्रग हेतु की कल्पना की जाती है।

बौद्धों का कहना है कि अन्त में कुशल धर्मों की विजय होगी। क्लेश दो प्रकार के हैं—दर्शनहेय और भावनाहेय। यदि समाधि की विपुल भावना हो तो इसका विशेष सामर्थ्य होता है। तब समाधि का संस्कार-समूह में प्राधान्य होता है। तब यह जीवन की गति को रोक सकता है। आर्य-मार्ग में यह अन्तिम कदम है। यह पुद्गल की ऊर्ध्वोपपत्ति भी कर सकता है। वह तब अच्छे, भास्वर लोक में, रूप-धातु में अथवा अरूप-धातु में उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से भव त्रैधातुक है। एक दूसरी दृष्टि से दो भेद हैं :—समापत्ति और काम-धातु। काम-धातु में नरक, पृथ्वी-लोक और अवर देव-लोक संगृहीत हैं। काम-धातु के देवों में १८ धातु हैं। इनमें से एक भी योग द्वारा निरुद्ध नहीं हुआ है। यह कामभुक् है। इनमें सबसे ऊर्ध्व पर-निर्मित-वशवर्ती हैं।

समापत्ति-लोक के दो विभाग करते हैं—१. रूप-लोक, जहाँ के सत्वों के शरीर अच्छे होते हैं; २. अरूप-लोक, जहाँ रूप का अभाव होता है। यहाँ समाधीन्द्रिय का प्राधान्य होता है, अन्य धर्म अनुचर होते हैं। इन लोकों की कल्पना समापत्ति के अनुसार होती है। अरूप-धातु चार हैं। इनके सत्व किसी एक भावविशेष में समापन्न होते हैं,यथा—अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान, आकिंचन्य, नैवसंज्ञानासंज्ञा। इस अवस्था में विज्ञान का सर्वथा निरोध होता है। ध्यान-लोक भी चार हैं। यह चार ध्यानों के अनुरूप हैं।

ध्यान-लोक में चार धातु—गन्ध-रस-घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान नहीं होते। इन सत्वों को कवड़ीकार आहार की आवश्यकता नहीं है। किन्तु घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का अभाव नहीं होता, क्योंकि उनके अभाव से शरीर की कुरूपता होती है। सब सकलेन्द्रिय, अविही-नेन्द्रिय होते हैं। वह दिव्य चक्षु और दिव्य श्रोत्र से समन्वागत होते हैं। उनकी काय-प्रश्रब्धि होती है। उनको वस्त्र की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वह सवस्त्र उपपन्न होते हैं। उनके लिए विमान बने बनाये होते हैं। वे पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत नहीं होते। सब देव उपपादुक हैं। मातृकुक्षि से इनका जन्म नहीं होता। इनमें प्रतिघ नहीं होता। क्लेश का अभाव होने से चेतना का अभाव होता है।

प्रश्न है कि क्या इन अलौकिक शक्तियों से वही योगी संपन्न हो सकता है, जो इन ऊर्ध्व लोकों में उपपन्न होता है; अथवा भूलोक में भी इनकी प्राप्ति हो सकती है।

योग की यह प्रक्रिया हीनयान के अनुसार है। एकाग्र-चित्त करने के लिए जो साधन बताये गए हैं, वह सब दर्शनों में सामान्य हैं। पातंजल-दर्शन में सांख्य के सिद्धान्तों के अनुसार इनका निरूपण किया गया है। हीनयान में बहुधर्मवाद के अनुसार निरूपण किया गया है। निर्वाण के लाभ के लिए इन विविध धर्मों का प्रविचय होता है। निर्वाण सबसे परे है। यह जीवन का पर्यन्त है, जहाँ विज्ञान का सर्वथा निरोध है।

आर्य-मार्ग के अन्तर्गत दृष्टि-मार्ग है। यह चतुःसत्य-दर्शन है। चार सत्यों का विनि-श्चय पहले प्रमाण से कर पश्चात् उनका साक्षात्कार करते हैं। यह योगी-प्रत्यक्ष है। हीनयान के अनुसार सोलह क्षण में यह सत्याभिसमय होता है। अभिसमय का क्रम द्विविध है :—पहले धर्म-क्षान्ति (रुचि) होती है; पीछे धर्मों का प्रत्यक्ष-ज्ञान (धर्म-ज्ञान) होता है। यह ज्ञान काम-धातु के धर्मों के संबन्ध में होता है। पश्चात् यह ऊर्ध्व ध्यान-लोकों के संबन्ध में होता है। यह अन्वयज्ञान कहलाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि बौद्ध-योग इन्द्रजाल की विद्या नहीं है। वस्तुतः बुद्ध ने इन्द्रजाल तथा योग के उन अभ्यासों का, जो निर्वाण-प्रवण नहीं हैं, प्रतिषेध किया है।

योग बौद्ध-धर्म की कोई विशेषता नहीं है। लोकायत और मीमांसकों को छोड़कर अन्य सब योग की शिक्षा देते हैं। जैन और नैयायिक भी योगाभ्यास की नितान्त आवश्यकता मानते हैं।

पुसें अन्य कारणों से भी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पूर्वकालीन बौद्ध-धर्म दार्शनिक न था। पालि-साहित्य में निर्वाण के लिए 'अमृत' की आख्या का व्यवहार किया गया है। इसके आधार पर पुसें अपना मत पुष्ट करते हैं। किन्तु यह अमृतत्व क्या है? यह अमिताभ का स्वर्ग नहीं है। यह वैदिकों का अमृतत्व नहीं है, जिसका अर्थ है पितृलोक का निवास। यह निरोध है। बौद्ध-धर्म में देवलोकों की कमी नहीं है। किन्तु निर्वाण उन सब लोकों के परे है, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं। 'अमृत' का केवल इतना ही अर्थ है कि यह अचर, अचैतन्य, अमृत्यु अवस्था है। क्योंकि यह वह स्थान है, जहां जन्म (पुनर्भव)-मरण (पुनःमरण)-प्रबन्ध का उच्छेद होता है। न्यायभाष्य में भी 'अमृत' शब्द का व्यवहार पाया जाता है, और न्याय का निर्वाण भी अचैतन्य है।

पुसें का दूसरा तर्क यह है कि जब बुद्ध से निर्वाण के विषय में प्रश्न किया गया, तब उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। इस संबन्ध में वह दो सूत्रों के वाक्य उद्धृत करते हैं। यह स्थापनीय प्रश्न है। पुसें यह समझते हैं कि बुद्ध के तूष्णींभाव का कारण यह है कि वे दर्शन-शास्त्र में व्युत्पन्न न थे। वे नहीं जानते थे कि इन प्रश्नों का क्या उत्तर होना चाहिए, और इसलिये वे चुप थे। वस्तुतः वे इसलिए चुप थे कि वे बताना चाहते थे कि निर्वाण अवाच्य है। वसुबन्धु [अभिधर्मकोश ५।२२] कहते हैं कि जो प्रश्न ठीक तरह से पूछा नहीं गया है, वह स्थापनीय है। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या स्कन्धों से सत्व अन्य है या अनन्य, तो इसका स्थापनीय व्याकरण करना चाहिये। क्योंकि सत्व नाम का कोई द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार यह प्रश्न भी स्थापनीय है कि बन्ध्या-पुत्र श्याम है या गौर?

हीनयान के परवर्ती निकाय

पुसें का विचार है कि निर्वाण के संबन्ध में पीछे के निकायों का मत, यथा वैभाषिकों का मत, आगम से बहुत कुछ भिन्न है। शरबात्स्की का कहना है कि वैभाषिक केवल सर्वास्तिवाद के मत का समर्थन करते हैं। वे वैभाषिक इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि वे विभाषा-शास्त्र को प्रामाणिक मानते हैं। विभाषा आगम की व्याख्या है। वैभाषिक मत सर्वास्तिवाद का साधारणतः अनुसरण करता है। सौत्रान्तिकों का निकाय अवश्य भिन्न है। बौद्ध-शासन में जो भेद हुआ, और जिसके कारण महायान की उत्पत्ति हुई, उसका यह निकाय सूचक है। हम यह कह सकते हैं कि सौत्रान्तिक पूर्व-हीनयान और महायान के बीच का है।

शरबात्स्की स्वीकार करते हैं कि बौद्ध-धर्म की आरंभिक अवस्था में ही आभिधार्मिक साहित्य की वृद्धि हुई है। किन्तु यह ठीक नहीं है कि यह पूर्वरूप से व्यावृत्त हुआ है। बौद्ध-धर्म का आरंभ ही बहुधर्मवाद से हुआ है। उसने आत्मा का प्रतिषेध किया है, और धर्मों की प्रतिष्ठा की है। इनमें से कुछ धर्म केवल प्रज्ञप्ति-सत् हैं। सौत्रान्तिकों ने इनको धर्मों की सूची से बहिष्कृत किया, अतः धर्मों की तालिका में केवल वही रह गये, जो इन्द्रिय तथा मन के विषय हैं। सौत्रान्तिक बुद्ध-वचन को ही प्रमाण मानते हैं; वे अभिधर्म की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं

करते। पीछे चलकर सौत्रान्तिक महायानवादियों से मिल गये, और उन्होंने योगाचार-सौत्रान्तिक निकाय की प्रतिष्ठा की। सौत्रान्तिकों ने निर्वाण (निरोध) को प्रज्ञप्ति-सत् माना।

वैभाषिक और सौत्रान्तिकों में निर्वाण के स्वभाव के संबन्ध में बहुत पहले से वाद-विवाद होता था। वैभाषिक निर्वाण को वस्तु मानते थे, किन्तु सौत्रान्तिकों का कहना था कि निर्वाण अभावमात्र है। जहाँ वैभाषिकों का साहित्य उपलब्ध है, और इसलिए हम वस्तु के पक्ष में उनकी युक्तियाँ जानते हैं; वहाँ सौत्रान्तिकों के आचार्य कुमारलाभ, श्रीलाभ, महाभदन्त, वसुमित्र आदि के ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

जब वैभाषिक कहते हैं कि निर्वाण वस्तु-सत् है, तब उनका यह अर्थ कदापि नहीं है कि निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग है। 'वस्तु' कहने से उनका आशय इतना ही है कि यह अचैतन्य की सद्वस्था है। दूसरी ओर सौत्रान्तिक निर्वाण को एक पृथक् धर्म अवधारित नहीं करते; वे इसका प्रतिषेध करते हैं कि निर्वाण वस्तु-सत् है। सौत्रान्तिक महायानवादियों की तरह बुद्ध का धर्मकाय मानते हैं।

दर्शन दो प्रकार के हैं—बहुधर्मवादी (प्ल्यूरलिस्टिक) और विज्ञानवादी (आइडियलिस्टिक)। यह दो प्रकार सब दर्शनों में पाए जाते हैं। सर्वास्तिवादी, वैभाषिक तथा न्याय-वैशेषिक निर्वाण या मोक्ष को अचेतन वस्तु-सत् मानते हैं। (यस्मिन् सति चेतसो विमोक्षः)। यह जड़ावस्था है। वैभाषिक अनात्मवादी हैं, और उनकी दृष्टि में बुद्ध मनुष्य-लोक के थे। सौत्रान्तिक और महायानवादी इस अचेतन वस्तु को नहीं मानते। सौत्रान्तिक-मतवाद और महायान में बुद्ध का धर्मकाय माना गया है, और वह लोकोत्तर है।

वैभाषिक तथा पूर्वनिकाय संसार और निर्वाण दोनों को वस्तु-सत् मानते हैं। माध्यमिकों के अनुसार संसार और निर्वाण पृथक् पृथक् अवस्तु हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार संसार वस्तु-सत् है, और निर्वाण एक पृथक् धर्म नहीं है। योगाचार या विज्ञानवाद के अनुसार संसार अवस्तु है, और निर्वाण वस्तु-सत् है।

वैभाषिक—वैभाषिक दो प्रकार के धर्म मानते हैं—संस्कृत और असंस्कृत। रूप, मन, और संस्कार संस्कृत हैं। आकाश और निर्वाण असंस्कृत हैं। संस्कृत-धर्म अतीत, वर्तमान और भविष्य अर्थात् त्रैयध्विक हैं। ये सब वस्तु-सत् हैं। अतीत और भविष्य उसी प्रकार वस्तु-सत् हैं, जैसे वर्तमान। इस प्रकार धर्म दो प्रकार के हैं—धर्म-स्वभाव और धर्म-लक्षण। जब संस्कार शान्त हो जाते हैं, जब सर्व प्रादुर्भाव निरुद्ध हो जाते हैं, तब अचेतन वस्तु रह जाती है। यह एक पृथक् धर्म, एक वस्तु है। यह अचेतन है। यह सांख्यों के अव्यक्त, प्रधान के तुल्य है। यह अवाच्य है—निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तमलिङ्गं प्रधानम् [योगसूत्र २।१९ पर व्यासभाष्य]। चन्द्रकीर्ति वैभाषिक मत के संबन्ध में कहते हैं कि—"यदि निर्वाण भाव है, तो यह निरोधमात्र नहीं हो सकता। वस्तुतः यह कहा गया है कि निर्वाण में चेतस् का विमोक्ष है, यथा—इन्धन के न होने पर अग्नि का निर्वापन होता है। किन्तु हमारे मत में चित्त-विमोक्ष या निरोध भाव नहीं है।" वैभाषिक उत्तर देते हैं:—निर्वाण से क्लेश-जन्म का निरोध, निवृत्ति न समझना चाहिये, किन्तु यों कहना चाहिये कि निर्वाण नाम का धर्म एक वस्तु है,

जिसमें क्लेश-जन्म का निरोध होता है। अग्नि का निरोध दृष्टान्तमात्र है, और इसकी व्याख्या यह होनी चाहिये कि यह उस अचेतन वस्तु को निर्दिष्ट करता है, जो अवशिष्ट रह जाता है, जब कि चित्त का विक्षोभ होता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक अतीत और अनागत को भाव नहीं मानते। वे दो प्रकार के धर्म नहीं मानते। वे केवल धर्म-लक्षण मानते हैं। निर्वाण क्लेश-जन्म का क्षय है। कोई अचेतन धर्म अवशिष्ट नहीं रहता। सौत्रान्तिक आलय-विज्ञान के सिद्धान्त को नहीं मानते, और न शून्यवाद मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य जगत् को मायावत् नहीं मानते। वे बुद्ध का धर्मकाय मानते हैं, और यह नहीं मानते कि भगवान् के परिनिर्वाण का अर्थ अचेतन निर्वाण में सर्वथा निरोध है।

योगाचार—अश्वघोष, आर्यासंग और दिङ्नाग इस वाद के आचार्य हैं। ये सब महायानवादी हैं, और बुद्ध के धर्मकाय में विश्वास रखते हैं। ये चित्त-विज्ञान के अतिरिक्त एक अलाय-विज्ञान मानते हैं; और बाह्य जगत् को आभासमात्र मानते हैं; उसे वस्तु-सत् नहीं मानते। हीनयान के विविध धर्मों के स्थान में यह विज्ञानमात्र मानते हैं। अश्वघोष एक आलय-विज्ञान मानते हैं। योगाचार के दो निकाय हैं—१. आर्यासंग का; २. दिङ्नाग का। आलय-विज्ञान बीजों का संग्रह करता है। यह बीजों से उपचित होता है। ये बीज विविध धर्मों को, अर्थात् सात विज्ञानों को अंकित करते हैं। आलय-विज्ञान ज्ञेय का आश्रय है। शुभ और अशुभ कर्मों का विपाक-फल जो संसार का क्षेप करता है, आलय-विज्ञान से संगृहीत होता है। आलय-विज्ञान को मूल-विज्ञान, भवांग-विज्ञान भी कहते हैं। आलय-विज्ञान का स्वभाव सूक्ष्म है, और वह केवल अपने समुदाचार, अपने परिणाम से जाना जाता है। जितने प्रवृत्ति-विज्ञान हैं, वे आलय के 'परिणाम' हैं; क्योंकि आलय-विज्ञान सब धर्मों का समाश्रय है। यह अनादिकालिक है। इस विज्ञान के होने पर सब गतियों का, और निर्वाण का अधिगम होता है। प्रत्ययों से क्षुब्ध होकर यह तरंगों के समान प्रवृत्ति-विज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु नदी के समान स्वयं सदा अविच्छिन्न रहता है। सांख्यों का प्रधान जो महत् आदि में परिणत होता है, आलय-विज्ञान के सदृश प्रतीत होता है। विज्ञानवादी इसको स्वीकार नहीं करते। शरवात्स्की कहते हैं कि यह प्रच्छन्न रूप से चित्त-प्रवाह के वाद के स्थान में आत्मवाद को प्रतिष्ठित करना है। चित्त-प्रवाह में पूर्वचित्त-क्षण परिचित्त-क्षण का समनन्तर प्रत्यय है। इस संबन्ध का स्थान आलय और उसके परिणाम लेते हैं।

सांख्य की प्रक्रिया में प्रधान और उसके परिणाम वस्तु-सत् हैं। योगाचार दोनों को अवस्तु समझता है। अपने पूर्ववर्ती माध्यमिकों से उन्होंने सर्व धर्म की शून्यता, निःस्वभावता ली। पृथक्-पृथक् धर्म शून्य थे, क्योंकि वे परिकल्पित थे। यह उनकी लक्षण-निःस्वभावता कहलाती थी; क्योंकि वे प्रतीत्य-समुत्पाद के अधीन थे, इसलिए वे परतंत्र थे और इस अर्थ में वह वस्तु-सत् थे। यह उनकी उत्पत्ति-निःस्वभावता कहलाती थी। जहाँ तक वे तथता-धर्मता (एब्सोल्यूट) में परिनिष्पन्न थे, वहाँ तक उनकी परमार्थ-निःस्वभावता थी। इस प्रकार

तथता त्रैधातुक से न अन्य है, न अनन्य। पृथक् पृथक् धर्मों के समुदाय के रूप में यह अन्य है, किन्तु सर्व की इकाई के रूप में यह अनन्य है। यह ग्राह्य-ग्राहक रहित चित्त-धर्मता है। यह धर्म-धातु है, और इसलिए यह बुद्ध के धर्मकाय से अभिन्न है। योगी को समाधि में इस अद्वय-लक्षण के विज्ञप्तिमात्र का प्रत्यक्ष होता है। असंग का मत था कि सर्व विज्ञप्ति-मात्रक है। 'सर्व' से अभिप्राय त्रैधातुक और असंस्कृत दोनों से है [त्रिंशिका, १७ पर स्थिर-मति]। इस दृष्टि के कारण निर्वाण का वाद बिलकुल बदल गया। हीनयान में, जहाँ संसार और निर्वाण दोनों वस्तु-सत् हैं, योग द्वारा भव की प्रवृत्ति का निरोध, और निर्वाण में प्रवेश होता है। महायान की दृष्टि में तथता में संसार परिनिष्पन्न है, अतः संस्कृत धर्मों को असंस्कृत धर्मों में परिवर्तित नहीं करना पड़ता। योगी को समाधि में तथता का प्रत्यक्ष करना पड़ता है। योगी के लिए संसार का आकार ही बदल जाता है। प्रत्येक धर्म पृथक् पृथक् असत्-कल्प है, किन्तु तथता में वस्तु-सत् है। उसके लिए सर्व धर्म नित्य शान्त हैं। उनको नित्य बनना नहीं है। हीनयान के अनुसार यह धर्म निर्वाण में ही शान्त और निरुद्ध होते हैं। योगाचार का कहना है कि यदि ये धर्म वस्तु-सत् हैं, तो वे सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकते। अतः वे आदि-शान्त हैं। नागार्जुन कहते हैं कि जो प्रत्ययवश होता है, वह स्वभाव से ही शान्त है।

माध्यमिक—हीनयान बहुधर्मवादी है। कोई आत्मा नहीं है, पंच-स्कन्ध-मात्र है। धर्म वस्तु-सत् है। किन्तु सत्व, जीव, पुद्गल, प्रज्ञप्ति-सत् हैं। आत्मा के स्थान में विज्ञान-क्षणों का अविच्छिन्न प्रवाह है। वेदना, संज्ञा और संस्कार के क्षण इसके सहगत हैं। इसी प्रकार रूप भी है। द्रव्य, गुण और क्रिया को यह पदार्थ नहीं मानते। इनके धर्म प्रतीत्य-समुत्पाद के नय के अनुसार प्रादुर्भूत और तिरोहित होते हैं। एक से दूसरे की उत्पत्ति नहीं होती। इसके होने पर वह होता है। इन क्षणिक संस्कृत धर्मों के अतिरिक्त हीनयान में आकाश और निर्वाण असंस्कृत धर्म भी हैं। जो संस्कार संसार में प्रवृत्त थे, वह निर्वाण में निरुद्ध होते हैं; अतः संसार और निर्वाण दोनों वस्तु-सत् हैं। दोनों मिलकर 'सर्व' हैं, किन्तु 'सर्व' प्रज्ञप्ति-सत् है। माध्यमिक-नय में वस्तु-सत् की भिन्न कल्पना है। जो अकृतक (= असंस्कृत) है, जो परत्र निरपेक्ष है, जिसका अपना स्वभाव है, वह वस्तु-सत् है।

हीनयान में संस्कृत धर्म वस्तु-सत् हैं। महायान में धर्म संस्कृत होने के कारण, परापेक्ष होने के कारण, शून्य, स्वभाव-शून्य हैं। हीनयान में राशि, अवयवी, प्रज्ञप्तिसत् है; और केवल धर्म वस्तु है। महायान में धर्म शून्य है, और केवल धर्मता (=धर्मकाय) वस्तुसत् है। यह धर्मता राशियों का सर्व है।

'तत्त्व' का व्याख्यान इस प्रकार है—यह अशान्त, अद्वय, अवाच्य, विकल्पातीत, निष्प्रपंच है। जो परतंत्र है, वह वस्तु नहीं है। हीनयान में पुद्गल, आत्मा स्कन्ध-आयतन-धातुमात्र है। पुद्गल-नैरात्म्य है। केवल संस्कार-समूह है। महायान में इसके विपरीत, धर्मों का नैरात्म्य है, और धर्मकाय है। हीनयान में बहुधर्मवाद है। महायान अद्वयवाद है।

महायान में प्रतीत्य-समुत्पाद का एक नया अर्थ है। जो निरपेक्ष है वही वस्तु है, जो परापेक्ष है वह वस्तु नहीं है। हीनयान में धर्मों को संस्कृत-असंस्कृत में विभक्त किया है। और दोनों वस्तु-सत् हैं। किन्तु महायान में इनमें कोई भी वस्तु-सत् नहीं है, और दोनों शून्यता के अधीन हैं। हीनयान का मुख्य विचार बहुधर्मवाद है; महायान का मुख्य विचार धर्मों की शून्यता है। 'शून्यता' का अर्थ स्वभाव-शून्य है। जब एक धर्म का दूसरे से संबन्ध बताया जाता है, तभी वह जाना जाता है। अन्यथा वह निरर्थक हो जाता है। इसलिए 'शून्यता' प्रतीत्य-समुत्पाद का समानार्थवाची है। केवल सर्व वस्तु-सत् है, किन्तु यह सर्व निष्प्रपंच है। 'शून्यता' अभावमात्र नहीं है। जो ऐसा समझते हैं, वह शून्यता के प्रयोजन को नहीं जानते। माध्यमिक प्रतीत्य-समुत्पाद-वादी हैं, नास्तिक नहीं हैं। जो प्रत्यय के अधीन है, वह 'शून्य' कहलाता है। 'अशून्य' अप्रतीत्य-समुत्पन्न है। निरवशेष प्रपंच के उपशम के लिए 'शून्यता' का उपदेश है।

नागार्जुन हीनयान के परिनिर्वृत तथागत का प्रतिषेध करते हैं, जो नित्य अचेतन वस्तु है। स्वभावतः तथागत नहीं है। तथागत अपने या स्कन्धों के अस्तित्व को प्रज्ञप्त नहीं करते। किन्तु इस प्रतिषेध का यह अर्थ नहीं है कि मोक्ष की कोई आशा नहीं है। क्योंकि निष्प्रपंच तथागत का प्रतिषेध नहीं है। बुद्ध के लिए कोई आरोपित व्यवहार नहीं है। यदि अविपरीतार्थ कहना हो तो हम कुछ नहीं कह सकते। शून्य भी व्यवहार के लिए कहते हैं। बुद्ध का साक्षात्कार योगी को प्रातिभ ज्ञान द्वारा होता है। बुद्ध को धर्मतः देखना चाहिये। धर्मता उनकी काय है। धर्मता का स्वभाव अवाच्य है। धर्मता से व्यतिरिक्त संसार नहीं है, सब धर्म प्रज्ञा-पारमिता से परिशुद्ध हो प्रभास्वर होते हैं। बुद्ध-काय भूतकोटि में आविर्भूत होता है।

निर्वाण का नया स्वरूप

सर्वास्तिवाद और वैभाषिक-नय में आकाश और निर्वाण धर्म थे, क्योंकि वह वस्तु, भाव थे; उनका स्वलक्षण था। सौत्रान्तिक उनको धर्म नहीं मानते थे, क्योंकि उनके मत में इनका कोई पृथक् स्वभाव नहीं था। माध्यमिक भी इनको धर्म नहीं मानते थे, क्योंकि उनके मत में जो दूसरे की अपेक्षा नहीं करता वही स्वभाव है (अनपेक्षः स्वभावः)। शून्यता के अन्तर्गत वैभाषिकों के सब संस्कृत और असंस्कृत धर्म हैं। उस नवीन सिद्धान्त को स्वीकार करने से बौद्ध-धर्म में मौलिक परिवर्तन हुआ, और उसका आधार ही बदल गया। हीनयानवादियों के निर्वाण की कल्पना, उनका बुद्ध, उनकी नैतिकता, वस्तु-सत् और प्रतीत्य-समुत्पाद संबन्धी उनके विचार, रूप, चित्त-चैत्त तथा संस्कार के बहुत्व का सिद्धान्त सब असिद्ध हो जाते हैं।

नागार्जुन बहुधर्म को असिद्ध ठहराते हैं, और शून्यता की प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार वह अनिर्वचनीय, अद्वय, 'धर्माणां धर्मता' की प्रतिष्ठा करते हैं। इसे इदन्ता, इदंप्रत्यता, तथता, भूत-तथता, तथागत-गर्भ और धर्मकाय कहते हैं। तथागत और निर्वाण एक ही हैं। यदि संसार वस्तु-सत् नहीं है, यदि सर्व शून्य है, किसी का उदय-व्यय नहीं होता; तो किसका निर्वाण इष्ट है? यह समझना कि निर्वाण के पूर्व संसार विद्यमान था, और उसके परिक्षय से निर्वाण पश्चात्

होगा, मूढ़ग्राह है। निर्वाण के पूर्व जो स्वभाव से विद्यमान थे, उनका अभाव करना शक्य नहीं है। अतः इस कल्पना का परित्याग करना चाहिये। चाहे हम वैभाषिक-मत लें (जिसके अनुसार निर्वाण-धर्म में सदा के लिए विज्ञान का निरोध होता है), अथवा सौत्रान्तिक-मत लें (जिसके अनुसार निर्वाण क्लेश-जन्म का अभावमात्र है); दोनों अवस्थाओं में यह कल्पना है कि निर्वाण के पूर्व कोई वस्तु-सत् विद्यमान है, जो पश्चात् निरुद्ध होता है। इससे निर्वाण केवल शून्य ही नहीं है, किन्तु संस्कृत है। माध्यमिकों के अनुसार निर्वाण और संसार में सूक्ष्म-मात्र अन्तर नहीं है। हेतु-प्रत्यय-सामग्री का आश्रय लेकर जो जन्म-मरण-प्रबन्ध व्यवस्थापित होता है, वही, जब हेतु-प्रत्यय की उपेक्षा होती है, निर्वाण व्यवस्थापित होता है।

अन्त में शून्यता के संबन्ध में नागार्जुन कहते हैं कि यदि कोई अशून्य हो तभी कोई शून्य हो सकता है। किन्तु कोई अशून्य नहीं है, तब शून्य कैसे होगा? इसका यह अर्थ नहीं है कि शून्यता का प्रतिषेध होना चाहिये। सर्व दृष्टियों की शून्यता से ही उनका निःसरण होता है, सकल कल्पना की व्यावृत्ति होती है। किन्तु यदि शून्यता में भावाभिनिवेश हो, तो किस प्रकार इस अभिनिवेश का निषेध हो? तथागत कहते हैं कि जिसकी दृष्टि शून्यता की है वह अचिकित्स्य है।

न्याय-वैशेषिक मत—केवल हीनयान में ही निर्वाण को अचैतन्य नहीं माना है, न्याय-वैशेषिक मत में भी मोक्ष (अपवर्ग, निःश्रेयस्) अचैतन्य, सर्व सुखोच्छेद है [१।१।२ पर वात्स्यायनभाष्य]। वात्स्यायन प्रश्न करते हैं कि कौन बुद्धिमान् इस अपवर्ग को पसन्द करेगा जिसमें सर्व सुख का उच्छेद है, जो अचैतन्य है, जिसमें सबसे विप्रयोग है, और सर्व कार्य का उपरम है। वह स्वयं उत्तर देते हैं :—यह अपवर्ग शान्त है, यहाँ सर्व दुःख का उच्छेद है, सर्व दुःख की असंविति है। कौन ऐसा बुद्धिमान् है, जो इसके लिये रुचि न उत्पन्न करे? जिस प्रकार विष-संपृक्त अन्न अनादेय है, उसी प्रकार दुःखानुषक्त सुख अनादेय है। जयन्त न्यायमंजरी में प्रश्न करते हैं :—क्या यह संभव है कि बुद्धिमान् पाषाण-निर्विशेष की अवस्था के अधिगम के लिए पुरुषार्थ करे? और वे भी वही उत्तर देते हैं जो वात्स्यायन का है। वैशेषिक में भी मोक्ष सर्वोपरम है। न्यायकंदली में प्रश्नकर्त्ता कहता है कि यदि यह अवस्था शिला-शकल के तुल्य है, जड़ है, तो मोक्ष (निर्वाण) के लिये कोई बुद्धिमान् पुरुष यत्नशील न होगा। ग्रन्थकार उत्तर देता है कि बुद्धिमान् केवल सुख के लिए यत्नवान् नहीं होता। अनुभव बताता है कि वह दुःख-निवृत्ति के लिए भी पुरुषार्थ करता है। न्याय-वैशेषिक में संसार को दुःख कहा है। वात्स्यायन कहते हैं कि दुःख जन्म है। यह केवल मुख्य दुःख नहीं है, किन्तु उसका साधन भी दुःख है। यही पंच उपादान-स्कन्ध है। यही सास्रव-धर्म हैं। इनके प्रतिपक्ष प्रज्ञा और समाधि हैं। वात्स्यायनभाष्य में प्रज्ञा को 'धर्म-प्रविवेक' (=धर्म-प्रविचय) कहा है। मोक्ष को न्याय में 'अमृत्यु-पद' कहा है। वैशेषिक के अनुसार स्वरूपावस्था में आत्मा में न चैतन्य है, न वेदना।

शरवात्स्की का निष्कर्ष—इस विस्तृत विवेचन के अनन्तर शरवात्स्की निम्न निष्कर्ष निकालते हैं:—

१. छठी शताब्दी (ईसा से पूर्व) में दार्शनिक विचार-विमर्श की प्रचुरता थी, और क्लेश-कर्म-जन्म के निरोध के मार्ग उत्सुकता से ढूँढ़े जाते थे। इनमें से अनेक मोक्ष (निर्वाण)

को अचैतन्यावस्था मानते थे, और उसको अमृत्यु-पद कहते थे। बुद्ध ने नित्य आत्मा का प्रतिषेध किया था, और 'सर्व' को संस्कृत-असंस्कृत धर्मों में विभक्त किया था। इन संस्कृत-धर्मों का निर्वाण में नियत-विरोध होता था।

२. कई निकाय इस मत के थे। किन्तु धीरे-धीरे बुद्ध को लोकोत्तर बना दिया, और इस कारण शासन में भेद हुआ।

३. पहली शताब्दी में अद्वयवाद की प्रतिष्ठा हुई और बुद्ध की पूजा धर्म-काय के रूप में होने लगी।

४. महासांघिक, वात्सीपुत्रीय तथा कतिपय अन्य निकायों में यह मतवाद प्रचलित था कि निर्वाण की अवस्था में एक प्रकार का चैतन्य रह जाता है।

५. इनके अनन्तर सौत्रान्तिक आये, जिन्होंने धर्मों की संख्या को घटाया, कई धर्मों को प्रज्ञप्तिमात्र ठहराया। यहाँ तक कि निर्वाण को भी अभावमात्र माना, और उसको एक पृथक्-धर्म नहीं अवधारित किया। सौत्रान्तिक बुद्ध का धर्मकाय मानते थे।

६. नया दर्शन अद्वयवादी हो गया। इसने बहुधर्मवाद का प्रतिषेध किया।

७. तब इसके दो रूप हो गए। एक ने आलय-विज्ञान नामक आठवें विज्ञान की कल्पना की, जिसके अन्य विज्ञान परिणाम हैं। ये बाह्य-जगत् को मिथ्या और केवल विज्ञान को वस्तु-सत् मानते थे। इनको चित्तमात्रवादी कहते थे। दूसरे बहुधर्म की सत्ता नहीं मानते थे। वह केवल 'सर्व' को वस्तु-सत् मानते थे, जिसका साक्षात्कार योगी को ही होता था। इनके अनुसार तत्त्व का साक्षात्कार तर्क और युक्ति से नहीं होता।

८. पाँचवीं शताब्दी में सौत्रान्तिक योगाचार से मिल गए। इनके अनुसार निर्वाण में ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं है।

शरबात्स्की का ग्रन्थ सन् १९२७ में प्रकाशित हुआ था। इधर कई विद्वानों ने इस विषय पर विचार किया है, और इनमें से कुछ पुसें के इस विचार से सहमत हैं कि बौद्ध-धर्म का एक पूर्वरूप था, जो निर्वाण को सर्वास्तिवाद की तरह अचेतन अवस्था नहीं मानता था, किन्तु उसके अनुसार यह अमृत-पद चैतन्य की शाश्वत अवस्था थी।

हम शरबात्स्की के मत से सहमत हैं, क्योंकि हमारी समझ में नहीं आता कि जब बौद्ध-धर्म अपने इतने लंबे इतिहास में निरन्तर पुद्गल-नैरात्म्य और अनात्मवाद की शिक्षा देता रहा, तो यह कैसे माना जा सकता है कि भगवान् बुद्ध ने निर्वाण की अवस्था को चैतन्य की शाश्वत अवस्था बताया था। हम ऊपर देख चुके हैं कि सौत्रान्तिक, जो सूत्रान्तों को ही प्रमाण मानते हैं, निर्वाण को वस्तु-सत् नहीं मानते, किन्तु उसे अभावमात्र ठहराते हैं। यह सत्य है कि सूत्रान्तों में कुछ ऐसे वाक्य आये हैं, जिनमें निर्वाण के लिए अजर, अमृत आदि आख्याओं का प्रयोग किया गया है; मुख्यतः इन्हीं वाक्यों के आधार पर ये विद्वान् ऐसी कल्पना करते हैं। किन्तु जैसा कि शरबात्स्की ने न्याय-वैशेषिक शास्त्रों से उद्धरण देकर

सिद्ध किया है, ये आख्याएं अपवर्ग, निःश्रेयस् के लिए इन शास्त्रों में भी प्रयुक्त हुई हैं, किन्तु इन आख्याओं का व्याख्यान चैतन्यावस्था न करके अचेतनावस्था ही किया गया है। जब न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थ इस अवस्था को जड़ावस्था मानते हैं, और उसे पाषाण-निर्विशेष बताते हैं, तो अमृत आदि व्याख्याओं का सूत्रान्तों में एक भिन्न अर्थ लगाना उचित नहीं प्रतीत होता। निर्वाण बौद्ध-धर्म का लक्ष्य है। भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार समुद्र का रस एकमात्र लवणरस है, उसी प्रकार मेरी शिक्षा का एकमात्र रस निर्वाण है। भगवान् की समस्त शिक्षा निर्वाण-प्रापक है। अतः निर्वाण के संबन्ध में किसी प्रकार का भ्रम श्रावकों में नहीं रहा होगा। इस विषय में हम क्रमागत आम्नाय को अधिक प्रामाणिक मानते हैं।

निर्वाण के भेद

हीनयान दो प्रकार का निर्वाण मानता है—सोपधिशेष-निर्वाण और निरुपधिशेष निर्वाण। पहली जीवन्मुक्त की अवस्था है। इस अवस्था में अर्हत् को शारीरिक दुःख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है, जिसमें मृत्यु के पश्चात् अर्हत् का अवसान होता है। किन्तु महायान में एक अवस्था अधिक है, यह अप्रतिष्ठित-निर्वाण की अवस्था है, क्योंकि यद्यपि बुद्ध परिनिर्वृत हो चुके हैं, और विशुद्ध तथा परम शान्ति को प्राप्त हैं, तथापि वह शून्यता में विलीन होने के स्थान में संसरण करने वाले जीवों की रक्षा के निमित्त संसार के तट पर स्थित रहना चाहते हैं, किन्तु इससे उनको इसका भय नहीं रहता कि उनका विशुद्ध ज्ञान समल हो जायगा। इस अप्रतिष्ठित-निर्वाण की कल्पना इस कारण हुई कि बोधिसत्त्व महाकरुणा से प्रेरित है, क्योंकि उसने अपने ऊपर सत्वों का भार लिया है, क्योंकि वह अपने से पराये को श्रेष्ठतर मानता है। इसीलिए अपने को संतप्त करके भी वह पराये को साधित करता है। इसीलिए वह शून्यता में प्रवेश नहीं करता, और जीवों की अर्थचर्या और निःश्रेयस् के लिए सतत उद्योग करता है। इस अप्रतिष्ठित-निर्वाण का उल्लेख असंग के महायानसूत्रालंकार में मिलता है।

महायान के अनुसार श्रावक-यान और प्रत्येक-बुद्धयान का लक्ष्य चरम निर्वाण नहीं है। इनके द्वारा महाश्रावक सोपधि-निरुपधि-संज्ञक बोधिरूप का लाभ करता है, और भव से उत्त्रस्त हो आयु के क्षीण होने पर निर्वाण प्राप्त करता है। किन्तु वस्तुतः इनका निर्वाण प्रदीप-निर्वाण के तुल्य है। अभिसमयालंकारालोक [पृ० ११६–२०,] में कहा है कि श्रावक और प्रत्येक-बुद्ध के लिए केवल त्रैधातुक जन्म का उपरम होता है, किन्तु वह अनास्रव-धातु में, अर्थात् परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्रों में कमलपत्रों में उत्पन्न होते हैं, और समाधि की अवस्था में वहीं अवस्थान करते हैं। तदनन्तर अमिताभ आदि बुद्ध अक्लिष्ट ज्ञान की हानि के लिए उनका प्रबोध करते हैं, और वह बोधिचित्त का ग्रहण कर लोकनायक बनते हैं। लंकावतार में कहा है कि श्रावकयान से विमोक्ष नहीं होता, अन्त में उनका उद्योग महायान में पर्यवसित होता है। नागार्जुन एकयानवादी हैं; क्योंकि उनके मत में सब यानों का समवसरण एक महायान में होता है। इसका कारण यह है कि इनके विचार से मार्ग का

आधार सब जीवों में पाया जाता है। यह आधार बुद्ध-धातु है। इसे तथागत-गर्भ, बुद्ध-बीज या बुद्ध-गोत्र भी कहते हैं। इस बीज का धर्म-धातु से तादात्म्य है। अभिसमयालंकार के अनुसार धर्म-धातु में कोई भेद नहीं है, अतः गोत्र-भेद भी युक्त नहीं है। इसके अनुसार हीनयान केवल संवृतितः है; वस्तुतः अन्त में सबका पर्यवसान महायान में होता है। सब जीवों के लिए बुद्धत्व संभव है। क्योंकि सब बुद्ध-गोत्र से व्याप्त हैं। इस साधना में योगी धर्म-धातु का प्रत्यात्म में संवेदन करता है। यह विचार वेदान्त से मिलता है, जिसके अनुसार जीवात्मा परमात्मा का अंश है, और मोक्ष की अवस्था में वह परमात्मा में लीन हो जाता है। अन्य हैं जो एकयानवाद को नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार गोत्र के तीन भेद वस्तुतः हैं। श्रावक क्लेशावरण का अपगम करता है, अर्थात् वह बाह्यार्थ के वस्तुत्व का प्रतिषेध करता है; किन्तु बोधिसत्व ग्राह्य-ग्राहक लक्षण से भी विमुक्त होता है, क्योंकि उसने धर्म-धातु का प्रत्यक्ष किया है, उसने धर्मों के अद्वय-तत्त्व को देखा है। इनका कहना है कि प्रत्येक का गोत्र नियत है, और बुद्ध भी चाहें तो गोत्र नहीं बदल सकते।

इस प्रकार हमने निर्वाण के स्वरूप के संबन्ध में विविध विद्वानों के विचारों का वर्णन किया और यह दिखाने की चेष्टा की है कि बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत विविध दर्शनों ने निर्वाण का क्या स्वरूप माना है।

चतुर्थ खण्ड

बौद्ध-दर्शन के चार प्रस्थान :: विषय-परिचय और तुलना

पंचदश अध्याय

सर्वास्तिवाद (वैभाषिक-नय)

अब हम एक एक करके प्रत्येक दर्शन का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। हम प्रत्येक दर्शन के एक-दो प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को संक्षेप में देंगे। हमको यह प्रकार समीचीन मालूम होता है कि मूलग्रन्थों के द्वारा ही किसी दर्शन का ज्ञान कराया जाय। सबसे पहले हम सर्वास्तिवाद का विचार करेंगे। इस वाद का बहुत कुछ साहित्य नष्ट हो गया है। सर्वास्तिवाद का अपना आगम था और यह संस्कृत में था। इसके भी विनयधर और आभिधार्मिक थे। अभिधर्मकोश की व्याख्या में आभिधार्मिकों को 'षट्पादाभिधर्ममात्रपाठिनः' कहा है। ये सर्वास्तिवादी हैं, किन्तु यह विभाषा को प्रमाण नहीं मानते। इनको केवल ज्ञानप्रस्थान और अन्य छः ग्रन्थ, जो ज्ञानप्रस्थान के छः पाद कहलाते हैं, मान्य हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं :— प्रकरण, विज्ञानकाय, धर्मस्कन्ध, प्रज्ञप्तिशास्त्र, धातुकाय और संगीतिपर्याय। ज्ञानप्रस्थान के रचयिता आर्य कात्यायनी-पुत्र हैं। ज्ञानप्रस्थान पर एक प्रसिद्ध व्याख्यान है, इसे 'विभाषा' कहते हैं। इसको जो प्रमाण मानते हैं, वे वैभाषिक कहलाते हैं। सब सर्वास्तिवादी विभाषा को प्रमाण नहीं मानते। वैभाषिकों का मुख्य केन्द्र काश्मीर था। इनको 'काश्मीर-वैभाषिक' कहते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि काश्मीर के सब सर्वास्तिवादी वैभाषिक थे। सर्वास्तिवादी और वैभाषिक दोनों मानते हैं कि अभिधर्म बुद्ध-वचन है। काश्मीर के बाहर जो सर्वास्तिवादी थे, उन्हें 'बहिर्देशक', 'पाश्चात्त्य' (काश्मीर से पश्चिम के निवासी) और 'अपरान्तक' कहा है। विभाषा के कुछ आचार्यों के नाम ये हैं :—वसुमित्र, घोषक, बुद्धदेव, धर्मत्रात और भदन्त।

सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ वसुबन्धु-रचित अभिधर्मकोश है, इसका विशेष परिचय हम आठवें अध्याय में दे चुके हैं। इस ग्रन्थ में काश्मीर के वैभाषिकों के नय से अभिधर्म का व्याख्यान है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वसुबन्धु वैभाषिक हैं। वे सर्वास्तिवादी भी नहीं हैं। उनका झुकाव सौत्रान्तिकवाद की ओर है, जो अभिधर्म के स्थान में सूत्र को प्रमाण मानता है। यह ग्रन्थ लगभग ६०० कारिकाओं का है। वसुबन्धु ने इन कारिकाओं पर अपना भाष्य लिखा है। इस भाष्य में वसुबन्धु ने जगह जगह पर विभिन्न आचार्यों का मत तथा अपना मत भी दिया है। यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है, और बौद्ध संसार पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसकी अनेक व्याख्याएं हैं, तथा इसका अनुवाद तिब्बती और चीनी भाषा में भी हुआ है।

वसुबन्धु बाद में महायानवादी हो गए थे, और उन्होंने विज्ञानवाद पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। वसुबन्धु से हीनयान का उज्ज्वल काल आरंभ होता है। बौद्ध-संसार में इनके सब ग्रन्थों का बड़ा आदर है। युआन-च्वांग ने इनके ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद[1] किया, और अपनी भाषा में वह सामर्थ्य उत्पन्न किया, जिसके कारण बिना मूल ग्रन्थों की सहायता के ही भारतीय-दर्शन के जटिल और दुरूह भाव चीनी भाषा के ज्ञाताओं की समझ में आ सकें। युआन-च्वांग के दो प्रधान शिष्य थे—'कुइ-ची' (जापानी 'किकी') और 'फुकुआंग' (जापानी 'फुको')। इन्होंने युवान-च्वांग के अनुवाद-ग्रन्थों पर व्याख्याएँ की हैं। 'किकी' वसुबन्धु के महायान-दर्शन और न्याय के प्रचारक हुए, और फुकुआंग ने हीनयान का प्रचार किया।

संघभद्र ने न्यायानुसार में वैभाषिक-मत का समर्थन किया है, और सौत्रान्तिकों के आक्षेपों का उत्तर दिया है। किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः हम वसुबन्धु के ग्रन्थों के आधार पर सर्वास्तिवाद का वर्णन देंगे।

सर्वास्तिवाद की आख्या पर विचार

इस प्रश्न पर बौद्धों में विवाद होता था कि अतीत और अनागत धर्म द्रव्य-सत् हैं या नहीं। सर्वास्तिवादियों का मत है कि अतीत और अनागत धर्म द्रव्य-सत् हैं, क्योंकि ये त्रैयध्विक धर्मों के अस्तित्व को मानते हैं। इसलिए इन्हें सर्वास्तिवादी कहते हैं (तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः)। परमार्थ कहते हैं कि यदि कोई कहता है कि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रतिसंख्या-निरोध इन सब का अस्तित्व है, तो उसे सर्वास्तिवादी निकाय का कहते हैं। इसके विपरीत जो वादी अध्व-त्रय के अस्तित्व को तो मानते हैं, किन्तु यह विभाग करते हैं कि प्रत्युत्पन्न धर्मों का, और अतीत कर्मों का अस्तित्व है, यदि उन्होंने अभी फल-प्रदान नहीं किया है। जब वे विपाक-दान कर चुके होते हैं, तब उनका और अनागत धर्मों का—जो अतीत या वर्तमान कर्म के फल नहीं हैं—अस्तित्व नहीं होता। इन्हें विभज्यवादी कहते हैं। अभिधर्मकोश [५।२५–२७] में इन दोनों वादों के भेद पर विचार किया गया है। वसुबन्धु कहते हैं कि जो प्रत्युत्पन्न और अतीत के एक प्रदेश के, अर्थात् उस कर्म के, जिसने विपाक-दान नहीं किया है, अस्तित्व की प्रतिज्ञा करता है, और अनागत तथा अतीत के उस प्रदेश के अस्तित्व को नहीं मानता, जो दत्त-विपाक कर्मात्मक है; वह विभज्यवादी माना जाता है। पुनः जिसका यह वाद है कि अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत सबका अस्तित्व है, वह सर्वास्तिवादी माना जाता है। सर्वास्तिवादी आगम और युक्ति से अतीत और अनागत

1. युआन-च्वांग के इस चीनी अनुवाद के आधार पर फ्रेंच विद्वान् पुसें ने अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ अभिधर्मकोश का फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने इस संस्करण का अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी अनुवाद 'हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग' से प्रकाशित हो रहा है।

के अस्तित्व को सिद्ध करता है। संयुक्तागम [३।१४] में है—रूपमनित्यमतीतमनागतम्। सर्वास्तिवादी आगम-वचन को उद्धृत कर युक्ति देता है। आलंबन के होने पर विज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि आलंबन नहीं है, विज्ञान उत्पन्न नहीं होता। यदि अतीत और अनागत वस्तु न होती तो आलंबन के बिना विज्ञान होता। अतः आलंबन के अभाव में विज्ञान न होगा। यदि अतीत नहीं है, तो शुभ-कर्म और अशुभ-कर्म अनागत में फल कैसे देता है ? वास्तव में विपक्ति-काल में विपाक-हेतु अतीत होता है।

सर्वास्तिवादी निकाय के भेद

सर्वास्तिवादी निकाय में चार नय हैं—भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, अवस्थान्यथिक और अन्यथान्यथिक।

१. भदन्त धर्मत्रात का पक्ष भावान्यथात्व है, अर्थात् उनकी प्रतिज्ञा है कि तीन अध्व का अन्यथात्व भाव के अन्यत्ववश होता है। जब एक धर्म अध्व से दूसरे अध्व में गमन करता है, तब उसके द्रव्य का अन्यथात्व नहीं होता, किन्तु भाव का अन्यथात्व होता है। यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं, जो आकृति के अन्यथात्व को प्रदर्शित करता है :—सुवर्ण के भाण्ड को तोड़ कर उसका रूपान्तर करते हैं। संस्थान का अन्यथात्व होता है, वर्ण का नहीं। गुण के अन्यथात्व का दृष्टान्त :—क्षीर से दधि होता है; रस, ओज और पाक-क्रिया प्रहीण होते हैं, किन्तु वर्ण नहीं प्रहीण होता। इसी प्रकार जब अनागत धर्म अनागत से वर्तमान अध्व में प्रतिपद्यमान होता है, तो वह अनागत भाव का परित्याग करता है, और वर्तमान भाव का प्रतिलाभ करता है, किन्तु द्रव्य का अनन्यत्व रहता है। जब यह वर्तमान से अतीत में प्रतिपद्यमान हो तो वर्तमान भाव का त्याग और अतीत भाव का प्रतिलाभ होता है, किन्तु द्रव्य अनन्य रहता है।

२. भदन्त घोषक का पक्ष लक्षणान्यथात्व है। धर्म अध्वों में प्रवर्तन करता है। जब यह अतीत होता है, तब यह अतीत के लक्षण से युक्त होता है; किन्तु यह अनागत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से अवियुक्त रहता है। यदि यह अनागत होता है, तो यह अनागत के लक्षण से युक्त होता है, किन्तु अतीत और प्रत्युत्पन्न लक्षणों से अवियुक्त रहता है; यथा—एक स्त्री में रक्त पुरुष, शेष में अविरक्त रहता है।

३. भदन्त वसुमित्र का पक्ष अवस्थान्यथात्व है। अवस्था के अन्यथात्व से अध्वों का अन्यथात्व होता है। धर्म अध्वों में प्रवर्तमान होकर, अवस्था-अवस्था को प्राप्त होकर (प्राप्य), अवस्थान्तर से, द्रव्यान्तर से नहीं, अन्य अन्य निर्दिष्ट होता है; यथा—एकांक में निक्षिप्त एक गुलिका एक कहलाती है, दशांक में निक्षिप्त दश,··· इत्यादि कहलाती है।

४. भदन्त बुद्धदेव का पक्ष अन्योऽन्यथात्व है। अध्व अपेक्षावश व्यवस्थित होते हैं। धर्म अध्व में प्रवर्तमान हो, अपेक्षावश संज्ञान्तर ग्रहण करता है; अर्थात् यह पूर्व और अपर की अपेक्षावश अतीत, अनागत, वर्तमान कहलाता है; यथा—एक ही स्त्री दुहिता भी है, माता भी है।

इस प्रकार यह चारों वादी सर्वास्तिवाद का निरूपण करते हैं। वसुबन्धु कहते हैं कि प्रथम को, जो परिणाम का वाद है, सांख्य-पक्ष में निक्षिप्त करना चाहिये। जो सांख्य-पक्ष में प्रतिषेध है, वही इस पक्ष का प्रतिषेध है। द्वितीय पक्ष में अध्व-संकर होता है, क्योंकि तीन लक्षणों का योग होता है। पुनः यहाँ साम्य क्या है? क्योंकि इस पुरुष में एक स्त्री के प्रति राग-समुदाचार होता है, और शेष स्त्रियों के लिए केवल राग-प्राप्ति होती है। चतुर्थ पक्ष में तीन अध्व एक ही अध्व में प्राप्त होते हैं। एक ही अतीत अध्व में पूर्वापर क्षण की व्यवस्था है; यथा—पूर्व क्षण अतीत है, पश्चिम अनागत है, मध्यम प्रतिपन्न है। अतः इन सब में तृतीय मत वसुमित्र का शोभन है, जिसके अनुसार कारित्रवश अध्व और अवस्था व्यवस्थापित होते हैं। जब धर्म अपने कारित्र को नहीं करता, तब वह अनागत है। जब वह अपना कारित्र करता है, वह प्रत्युत्पन्न है। जब कारित्र से उपरत हो जाता है, तब वह अतीत है।

धर्म-प्रविचय

प्रविचय का प्रयोजन—'धर्म' वह है जो स्वलक्षण धारण करता है। धर्म पुष्पों के समान व्यवकीर्ण है। उन्हें चुनते हैं (प्रविचीयन्ते), और उनका विभाग करते हैं कि ये अनास्रव हैं, ये सास्रव हैं, इत्यादि। इस प्रक्रिया को धर्म-प्रविचय कहते हैं। धर्म-प्रविचय-काल में प्रज्ञा नामक एक चैत्त धर्मविशेष का प्राधान्य होता है। अतः प्रज्ञा का लक्षण धर्म-प्रविचय है; यथा—वैशेषिक-शास्त्र में पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की सिद्धि होती है, उसी प्रकार सब धर्मों में अग्र-निर्वाण की प्राप्ति धर्म-प्रविचय से होती है। यही परम ज्ञान का अर्थ है। वैशेषिक-शास्त्र के अनुसार यह तत्त्वज्ञान द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य से उत्पन्न होता है। तदनन्तर निदिध्यासन से आत्म-साक्षात्कार होता है। तदनन्तर मिथ्याज्ञानादि के नाश से मोक्ष होता है। यहाँ 'साधर्म्य' समानधर्म, और 'वैधर्म्य' विरुद्धधर्म है। ये पदार्थों के सामान्य और विशेष लक्षण हैं। यथा अनुगत-धर्म और व्यावृत्त-धर्म के ज्ञान से तत्त्वज्ञान होता है, उसी प्रकार अभिधर्म धर्मों के स्वलक्षण और सामान्य-लक्षण के अभिमुख है। धर्म-प्रविचय-काल में प्रज्ञा इस कृत्य को संपादित करती है। धर्म सास्रव और अनास्रव हैं। आर्य-मार्ग को वर्जित कर अन्य संस्कृत-धर्म सास्रव हैं। वह सास्रव हैं, क्योंकि आस्रव वहाँ प्रतिष्ठालाभ करते हैं; अथवा पुष्टि-लाभ करते हैं। आस्रव 'मल' को कहते हैं। अनुशय आस्रव हैं, क्योंकि यह छः आयतन-व्रण से क्षरित होते हैं [आस्रव, ५।४०]। सास्रव धर्मों में पुष्टि और प्रतिष्ठा का लाभ कर अनुशय की बहुलता होती है।

धर्मों का एक दूसरा विभाग भी है। धर्म संस्कृत और असंस्कृत हैं। रूपादि स्कन्ध-पंचक संस्कृत-धर्म हैं। 'संस्कृत' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जिसे प्रत्ययों ने अन्योन्य-समागम से, एक दूसरे की अपेक्षा कर (समेत्य=संभूय) किया है (कृतम्)। कोई भी एक ऐसा धर्म नहीं है, जो एक प्रत्ययजनित हो, [२।६४]। संस्कृत को अध्व, कथावस्तु, सनिःसार और सवस्तुक भी कहते हैं। 'संस्कृत' अध्व अर्थात् अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत काल हैं; क्योंकि उनका गत-गच्छत्-गमिष्यत् भाव है। 'संस्कृत' कथा के विषय हैं, अतः कथावस्तु हैं। यह सनिःसार

हैं, क्योंकि संस्कृत से निःसरण, सर्व संस्कृत का निर्वाण आवश्यक है। संस्कृत सवस्तुक हैं, क्योंकि यह सहेतुक हैं। सास्रव संस्कृत 'उपादान स्कन्ध' कहलाते हैं। उपादान क्लेश है। उपादान स्कन्ध-संज्ञा इसलिए हैं, क्योंकि यह क्लेशों से संभूत हैं। अथवा यह क्लेश विधेय हैं। इन्हें 'संरण' भी कहते हैं, क्योंकि क्लेश वहाँ प्रतिष्ठालाभ करते हैं। यह 'दुःख', 'समुदय', 'लोक', 'दृष्टिस्थान', 'भव' भी हैं। आर्यों के प्रतिकूल होने के कारण यह दुःख हैं। 'दुःख' शब्द लोक में अनुभूत दुःख-वेदनामात्र नहीं है। दुःख उपादान-स्कन्ध है। न्यायभाष्य में दुःख का अर्थ 'जन्म' है [तेन दुःखेन जन्मना अत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः—वात्स्यायनभाष्य, १।१।२२]। वाचस्पतिमिश्र टीका में कहते हैं—"दुःखशब्देन सर्वे शरीरादय उच्यन्ते", अर्थात् 'दुःख' शब्द से सर्व शरीरादि उक्त हैं। वे पुनः कहते हैं कि यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि यह मुख्य दुःख है (मुख्यमेव दुःखमिति भ्रमो मा भूत्)। उसी प्रकार जयन्त कहते हैं—"न च मुख्यमेव दुःखं बाधनस्वभावमभिमृश्यते, किन्तु तत्साधनं तदनुषक्तं च सर्वमेव [जयन्त की न्यायमंजरी, पृ० ५०७]। इसी प्रकार अभिधर्मकोश [६।३] में कहा है कि पंच उपादान-स्कन्ध दुःख कहलाते हैं। वेदना एक देश ही दुःख-स्वभाव नहीं है। त्रिदुःखता के कारण सब सास्रव संस्कृत-धर्म अविशेषतः दुःख हैं। 'सास्रव-संस्कृत' को समुदय भी कहते हैं, क्योंकि दुःख के यह हेतुभूत हैं। ये लोक हैं, क्योंकि विनाश-प्रवृत्त हैं। ये 'दृष्टिस्थान' हैं, क्योंकि दृष्टियां यहाँ अवस्थान और प्रतिष्ठालाभ करता हैं।

संस्कृत-धर्म

स्कन्ध—हमने कहा है कि संस्कृत-धर्म रूपादि स्कन्ध-पंचक हैं। 'स्कन्ध' का अर्थ 'राशि' है। स्कन्धों में असंस्कृत संगृहीत नहीं हैं। स्कन्ध ये हैं:—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान। रूप-स्कन्ध में पाँच इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ या विषय, और अविज्ञप्ति संगृहीत हैं। पाँच इन्द्रियाँ ये हैं:—चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय। पाँच अर्थ जो इन्द्रिय के विषय हैं, इस प्रकार हैं:—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य। चक्षुरादि इन्द्रिय इन अर्थों के विज्ञान के आश्रय हैं। ये रूप-प्रसाद और अतीन्द्रिय हैं।

अब हम रूपायतन से आरंभ कर पाँच अर्थों का विचार करते हैं। रूप एक प्रकार से द्विविध हैं, दूसरे प्रकार से बीस प्रकार के हैं। रूप वर्ण और संस्थान है। वर्ण चतुर्विध हैः—नील, लोहित, पीत, अवदात। अन्य वर्ण वर्ण-चतुष्टय के भेद हैं। संस्थान अष्टविध हैं:—दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, परिमण्डल, उन्नत, अवनत, शात (सम) और विशात (विषम)। इस प्रकार रूप के बीस प्रकार हैं—मूल जाति के चार वर्ण; आठ संस्थान; आठ अन्य वर्ण—अभ्र, धूम, रज, महिका, छाया, आतप, आलोक, अन्धकार। तम-संस्थान के बिना वर्ण रूप हो सकता है, यथा नीलादि। वर्ण के बिना संस्थान रूप हो सकता है, यथा दीर्घ ह्रस्वादि का वह प्रदेश जो काय-विज्ञप्ति-स्वभाव है। वर्ण-संस्थान उभयात्मक रूप है।

अन्य आचार्यों का मत है कि केवल आतप और आलोक वर्णमात्र हैं; क्योंकि नीलादि का परिच्छेद दीर्घ ह्रस्वादि के आकार में दिखाई देता है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि एक द्रव्य

उभयथा कैसे विद्यमान हो सकता है ? कैसे वर्ण संस्थानात्मक हो सकता है ? वैभाषिक कहते हैं कि वर्ण और संस्थान, उभय का एक द्रव्य में वेदन-ग्रहण होता है। यहां 'विद्' धातु ज्ञानार्थक है, सत्तार्थक नहीं। किन्तु सौत्रान्तिक उत्तर देते हैं कि तब काय-विज्ञप्ति के भी वर्ण-संस्थानात्मक होने का प्रसंग होगा। सौत्रान्तिक का मत है कि संस्थान एक पृथक् वस्तु, एक अन्य द्रव्य नहीं है। यह प्रज्ञप्तिमात्र है। जब एक दिशा में वर्ण-रूप का बहुतर संहात उत्पन्न होता है, तो इस संहात को 'दीर्घ' की संज्ञा देते हैं। जब अपेक्षाकृत वर्ण-रूप संहात अल्प होता है, तो उसे ह्रस्व कहते हैं। दीर्घत्व रूप नहीं है, तथासंनिविष्ट वर्ण-रूप या स्प्रष्टव्य (श्लक्ष्णादि) को दीर्घ की प्रज्ञप्ति दी जाती है। वैभाषिक संस्थान और वर्ण को द्रव्यान्तर मानते हैं।

शब्द अष्टविध हैं। प्रथम यह चतुर्विध है। उपात्त-महाभूत-हेतुक, अनुपात्त-महाभूत-हेतुक, सत्वाख्य, असत्वाख्य। यह चतुर्विध शब्द मनोज्ञ-अमनोज्ञ भेद से पुनः अष्टविध होता है। 'उपात्त' उसे कहते हैं, जिसे चित्त-चैत्त अधिष्ठानभाव से उपगृहीत और स्वीकृत करते हैं। इस प्रकार पंच ज्ञानेन्द्रिय भूत रूप, यह रूप, जो इन्द्रियाविनिर्भागी है, चित्त से उपात्त है, स्वीकृत है। अनुग्रह उपघात की अवस्था में चित्त और इस रूप के बीच जो अन्योन्य अनुविधान होता है, उसका यह फल है। जिस रूप को अभिधर्म में 'उपात्त' कहा है, उसे लोक में सचेतन, सजीव कहते हैं।

हस्त-शब्द वाक्-शब्द, प्रथम प्रकार का है। वायु, वनस्पति, नदी शब्द दूसरे प्रकार का है। वाग्विज्ञप्ति-शब्द तीसरे प्रकार का है; क्योंकि यह सत्व को सूचित करता है (सत्वमाचष्टे)। अन्य शब्द चतुर्थ प्रकार का है।

रस छः प्रकार का है:—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त। गन्ध चतुर्विध है; क्योंकि सुगन्ध और दुर्गन्ध अनुत्कृष्ट और उत्कृष्ट हैं। प्रकरणशास्त्र में गन्ध त्रिविध है—सुगन्ध दुर्गन्ध, और समगन्ध।

स्प्रष्टव्य ग्यारह प्रकार का है। ग्यारह द्रव्य स्प्रष्टव्य द्रव्य हैं। महाभूतक-चतुष्क, श्लक्ष्णत्व कर्कशत्व, गुरुत्व, लघुत्व, शीतता, जिघत्सा और पिपासा। भूत, चार महाभूत—पृथ्वी-धातु, अब्धातु, तेजो-धातु, और वायु हैं। ये चार धातु-चतुष्टय हैं। ये धातु इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि ये अपने स्वलक्षण और उपादाय रूप या भौतिक रूप का धारण करते हैं। धृत्यादि कर्म से इनकी सिद्धि होती है। ये खर, स्नेह, उष्णता, ईरण हैं। इनकी सिद्धि यथाक्रम धृति-कर्म, संग्रह-कर्म, पक्ति-कर्म, व्यूहन-कर्म से होती है। व्यूहन से वृद्धि और प्रसर्पण समझना चाहिये। यह इनके कर्म हैं।

पृथिवी-धातु और पृथिवी में विशेष है। लोक-व्यवहार में जिसे पृथिवी शब्द से प्रज्ञप्त करते हैं, वह वर्ण और संस्थान है। इसी प्रकार जल और तेज हैं।

श्लक्ष्णत्व स्निग्धता है। कर्कशत्व कठोरता है। गुरुत्व वह है, जिसके योग से काय तोलनार्ह होते हैं; लघुत्व इसका विपर्यय है। शीत वह धर्म है, जो ऊष्म की अभिलाषा पैदा करता है। जिघत्सा वह धर्म है, जो आहार की इच्छा उत्पन्न करता है। पिपासा वह धर्म है, जो पान की इच्छा उत्पन्न करता है। वास्तव में जिघत्सा और पिपासा शब्द से वह स्प्रष्टव्य प्रज्ञप्त होता है, जो जिघत्सा और पिपासा का उत्पाद करता है।

अब हम अविज्ञप्ति का निर्देश करते हैं।

जिसका चित्त विक्षिप्त है, अथवा जो अचित्तक है, उसका महाभूतहेतुक कुशल और अकुशल-प्रवाह अविज्ञप्ति कहलाता है।

असंज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में समापन्न पुद्गल अचित्तक है। अविज्ञप्ति पुद्गल में, और सचित्तक पुद्गल में भी, जिसका चित्त दो समापत्तियों में निरुद्ध नहीं हुआ है, अविज्ञप्ति होती है। समासतः विज्ञप्ति और समाधि से संभूत कुशल-अकुशल-रूप अविज्ञप्ति है। यद्यपि यह अनुबन्ध काय-विज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति के सदृश रूप-स्वभाव और क्रिया-स्वभाव है, तथापि यह विज्ञप्ति के सदृश दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता। अतः इसे अविज्ञप्ति कहते हैं। यह रूप-स्कन्ध में गिनाया गया है।

'रूप-उपादान-स्कन्ध' उसे कहते हैं जो निरन्तर भिन्न, विभक्त होता है (रूप्यते)। क्षुद्रकागम में पठित अर्थवर्गीय-सूत्रों के एक श्लोक से सिद्ध होता है कि 'रूप्यते' का अर्थ 'बाध्यते' है। किन्तु रूप कैसे बाधित होता है? विपरिणाम के उत्पादन से, विक्रिया से। अन्य आचार्यों के अनुसार रूपमात्र विपरिणाम नहीं है, किन्तु संप्रतिघत्व या प्रतिघात है, यह स्वदेश में पर-रूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध है। हम अविज्ञप्ति के रूप को युक्त, सिद्ध कह सकते हैं। कायिक या वाचिक विज्ञप्ति जिससे अविज्ञप्ति समुत्थापित होती है, रूप है। इसलिए अविज्ञप्ति रूप है। यथा—जब वृक्ष प्रचलित होता है, तब छाया प्रचलित होती है। दूसरा निरूपण यह है कि अविज्ञप्ति रूप है, क्योंकि महाभूत जो उसके आश्रयभूत हैं, रूप हैं। सौत्रान्तिक कहते हैं कि अविज्ञप्ति द्रव्यतः नहीं है; क्योंकि किसी कर्म से विरति का अभ्युपाय करके उस कर्म का न करना मात्र ही अविज्ञप्ति है। उसके अनुसार यह रूप नहीं है; क्योंकि उसमें रूप का लक्षण (रूप्यते) नहीं है। वैभाषिक उत्तर में कहते हैं कि रूप-संग्रह-सूत्र में उक्त है कि एक रूप अविज्ञप्ति, अप्रतिघ है। यह रूप केवल अविज्ञप्ति हो सकता है। एक दूसरे सूत्र का वचन है कि एक अनास्रव रूप है। यह अनास्रव रूप अविज्ञप्ति है। वैभाषिक कहते हैं कि यदि अविज्ञप्ति नहीं है, तो स्वयं कर्म नहीं करता, किन्तु दूसरे को आज्ञा देता है। वह कर्म-पथ से समन्वागत नहीं होगा। वे यह भी कहते हैं कि यदि अविज्ञप्ति नहीं है, तो मार्ग अष्टाङ्गिक नहीं है। क्योंकि तीन अंग—सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यगाजीव का समाधि से योग नहीं है। यदि समाधि की अवस्था में योगी इन तीन अङ्गों से समन्वागत होता है, तो उसका कारण यह है कि ये तीन अंग स्वभाववश अविज्ञप्ति हैं। सौत्रान्तिक अविज्ञप्ति न मानकर 'सन्तति-परिणाम-विशेष' मानते हैं। उनके अनुसार जब वध के लिए

नियुक्त पुरुष वध करता है, तो यह न्याय है कि प्रयोक्ता की चित्त-सन्तति में एक सूक्ष्म परिणाम-विशेष होता है, जिसके प्रभाव से यह सन्तति आयति में फल की अभिनिष्पत्ति करेगी। इस परिणाम-विशेष को कायिक कहते हैं, यदि वह काय-क्रिया का फल होता है; और वाचिक कहते हैं, यदि वह वाक्-क्रिया का फल होता है। वे यह भी कहते हैं कि ध्यानों में समाधि-बल से एक रूप उत्पन्न होता है, जो समाधि का विषय है; अर्थात् जिसका ग्रहण समाहित आश्रय करता है। यथा—अशुभ भावना में अस्थि-संकल। यह रूप चक्षुरिन्द्रिय से देखा नहीं जाता। इसलिए यह अनिदर्शन है। यह देश को आवृत नहीं करता, इसलिए यह अप्रतिघ है। यह रूप अनास्रव है यदि समाधि अनास्रव है। किन्तु सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि यह द्वेष क्यों है कि आप अविज्ञप्ति के भाव का तो प्रतिषेध करते हैं, किन्तु सन्तति-परिणाम-विशेष को स्वीकार करते हैं। आचार्य वसुबन्धु कहते हैं कि दोनों 'वाद' दुःख-बोध हैं। इसलिए प्रथम मत से मुझे कोई द्वेष नहीं है, किन्तु इससे परितोष नहीं होता। रूप-निर्देश समाप्त होता है। यहाँ इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ आयतन की व्यवस्था में दश आयतन (चित्त-चैत्त का आय-द्वार) और धातु (आकार) की व्यवस्था में दश धातु हैं।

अब अन्य स्कन्धों का निरूपण करना है। वेदना दुःखादि अनुभव है। वेदना-स्कन्ध त्रिविध अनुभूति है :—सुख, दुःख, अदुःखासुख। वेदना के छः प्रकार हैं, जो चक्षुरादि पाँच रूपी इन्द्रियों के स्वविषय के साथ संस्पर्श होने से उत्पन्न होता है, जो मन इन्द्रिय के साथ संस्पर्श होने से उत्पन्न होता है। संज्ञा निमित्त का उद्ग्रहण है। नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व आदि विविध स्वभावों का उद्ग्रहण संज्ञा-स्कन्ध है। वेदना के तुल्य संज्ञा-काय के भी इन्द्रिय के अनुसार छः प्रकार हैं। अन्य चार स्कन्धों से भिन्न जो संस्कार हैं, वे संस्कार-स्कन्ध हैं। सर्व-संस्कृत संस्कार हैं, किन्तु संस्कार-स्कन्ध उन्हीं संस्कृतों के लिए प्रयुक्त होता है, जो अन्य चार स्कन्धों में संग्रहीत नहीं हैं। यह सत्य है कि सूत्र में कहा है कि संस्कार-स्कन्ध छः चेतना-काय हैं, और इस लक्षण के अनुसार संस्कार-स्कन्ध में सब विप्रयुक्त संस्कार और चेतनावर्जित संप्रयुक्त संस्कार का असंग्रह है, किन्तु अभिसंस्करण में चेतना का प्राधान्य होने से सूत्र का ऐसा निर्देश है। चेतना कर्मस्वभाव है। लक्षणतः यह वह हेतु है, जो उपपत्ति का अभिसंस्करण करता है। अन्यथा सूत्र-निर्देश का अक्षरार्थ लेने से यह परिणाम होगा कि चेतना व्यतिरिक्त शेष चैतसिक (संप्रयुक्त) धर्म और सब विप्रयुक्त धर्म किसी स्कन्ध में संग्रहीत न होंगे, इसलिए इनका दुःख-समुदयत्व सत्य न होगा; न परिज्ञा होगी, न प्रहाण; किन्तु भगवान् का वचन है कि यदि एक धर्म भी अनभिज्ञात, अपरिज्ञात हो, तो मैं कहता हूँ कि दुःख का अन्त नहीं किया जा सकता। अतः चैत्त और विप्रयुक्त का कलाप संस्कार-स्कन्ध में संग्रहीत है।

वेदना-स्कन्ध, संज्ञा*, संस्कार*, अविज्ञप्ति और तीन असंस्कृत—यह सात द्रव्य धर्मायतन, धर्म-धातु कहलाते हैं। विज्ञान प्रत्येक विषय की उपलब्धि है। विज्ञान-स्कन्ध छः विज्ञान-काय हैं :—चक्षुर्विज्ञान·········मनोविज्ञान। आयतन देशना में यह मन-आयतन है, और धातु-देशना में वह सप्त चित्त-धातु; अर्थात् छः विज्ञान और मन हैं।

आयतन, धातु—स्कन्ध-देशना के अतिरिक्त, आयतन और धातु व्यवस्था है। आयतन बारह हैं, धातु अठारह हैं। रूप-स्कन्ध दश आयतन, चक्षुरादि पाँच, रूपादि पाँच, दश धातु तथा अविज्ञप्ति हैं।

वेदना*, संज्ञा*, संस्कार*, तथा अविज्ञप्ति और तीन असंस्कृत—यह सात वस्तु धर्म-धातु हैं विज्ञान*, मन-आयतन है। यह सप्त धातु अर्थात् छः विज्ञान-काय (विज्ञान-धातु) और मनोधातु या मन हैं। धातुओं में २२ इन्द्रिय परिगणित हैं, इनका वर्णन हम आगे करेंगे।

प्रश्न है कि छः विज्ञान-काय, अर्थात् पाँच इन्द्रिय-विज्ञान और मनोविज्ञान से भिन्न मन या मनोधातु क्या हो सकता है? उत्तर है कि विज्ञान से भिन्न मन नहीं है। इन छः विज्ञानों में से, जो विज्ञान अन्तरातीत है, वह मन है। जो जो विज्ञान समनन्तर निरुद्ध होता है, वह वह मनोधातुओं की आख्या प्राप्त करता है; यथा वही पुत्र दूसरे के पिता की आख्या का लाभ करता है। षष्ठ विज्ञान-धातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए भी अठारह धातु गिनाते हैं। प्रथम पाँच विज्ञान-धातुओं के चक्षुरादि पाँच रूपीन्द्रिय आश्रय हैं। षष्ठ विज्ञान, मनोविज्ञान धातु का ऐसा कोई आश्रय नहीं है। अतएव इस विज्ञान-धातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए मनोधातु व्यवस्थापित करते हैं, जो इसका आश्रय होता है। अर्थात् छः विज्ञान-धातुओं में से अन्यतम वह मन या मनोधातु अथवा मन-आयतन, मन-इन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार छः आश्रय या इन्द्रिय, आश्रय-षट्क पर आश्रित छः विज्ञान और छः आलंबन विषय के व्यवस्थान से अठारह धातु होते हैं।

सर्व संस्कृत-धर्म स्कन्ध-संग्रह में संगृहीत हैं। सर्व सास्रव-धर्म उपादान-स्कन्ध के संग्रह में संगृहीत हैं। सर्व धर्म आयतन और धातु-संग्रह में संगृहीत हैं। चक्षु, श्रोत्र और घ्राणेन्द्रियों का यद्यपि द्वित्व है, तथापि यह एक एक धातु माने जाते हैं; क्योंकि जाति, गोचर और विज्ञान में ये सामान्य हैं। शोभा के निमित्त इनका द्वित्वभाव है।

स्कन्ध, धातु, आयतन का अर्थ—स्कन्ध, धातु और आयतन इन आख्याओं का क्या अर्थ है? 'स्कन्ध' राशि को कहते हैं। आयतन का अर्थ आय-द्वार, उत्पत्ति-द्वार है। धातु से आशय गोत्र का है। वसुबन्धु के अनुसार स्कन्ध द्रव्य नहीं है, यह प्रज्ञप्ति-सत् है; क्योंकि संचित द्रव्य-सत् नहीं है। यथा—धान्यराशि, पुद्गल। वैभाषिक इससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार परमाणु भी स्कन्ध है। वैभाषिक संघभद्र कहते हैं कि—स्कंध का अर्थ राशि नहीं है; किन्तु—"वह जो 'राशिकृत', 'संचित' हो सकता है।" वसुबन्धु उत्तर देते हैं कि इस विकल्प में जब कि परमाणु का राशित्व नहीं है, यह न कहिए कि स्कन्ध का अर्थ राशि है। 'आयतन' उन्हें कहते हैं, जो चित्त-चैत्त के आय को फैलाते हैं। 'धातु' का अर्थ गोत्र है। यथा—वह स्थान जहां लौह, ताम्र, रजत, सुवर्ण धातुओं के बहुगोत्र पाए जाते हैं, 'बहुधातुक' कहलाते हैं। उसी प्रकार एक आश्रय या सन्तान में अठारह प्रकार के गोत्र पाए जाते हैं, जो अठारह धातु कहलाते हैं। धातु स्वजाति के आकर हैं। पूर्वोत्पन्न चक्षु चक्षु के पश्चिम क्षणों का सभाग-हेतु है। इसलिए यह चक्षु का आकर-धातु है।

वैभाषिक स्कन्ध, आयतन और धातु इन तीनों को द्रव्य-सत् मानते हैं। सौत्रान्तिक धातुओं को द्रव्य-सत् और स्कन्ध तथा आयतनों को प्रज्ञप्ति-सत् मानते हैं। वसुबन्धु स्कन्धों को प्रज्ञप्ति-सत् और आयतन तथा धातुओं को द्रव्य-सत् मानते हैं। स्कन्धादित्रय की देशना इसलिए है, क्योंकि श्रावकों के मोह, इन्द्रिय और रुचि के तीन तीन प्रकार हैं।

मोह त्रिविध हैं—एक चित्तों का पिण्डतः ग्रहण कर उन्हीं को आत्मतः ग्रहण करते हैं, और इस प्रकार संमूढ़ होते हैं। एक रूप-पिण्ड को ही आत्मतः गृहीत कर संमूढ़ होते हैं। एक रूप और चित्त का पिंडात्मतः ग्रहण कर संमूढ़ होते हैं।

श्रद्धादि इन्द्रिय त्रिविध हैं—तीक्ष्ण, मध्य, मृदु।

रुचि भी त्रिविध है—एक की संक्षिप्त रुचि होती है, एक की मध्य, एक की विस्तीर्ण।

स्कन्ध-देशना पहले प्रकार के श्रावकों के लिए है, जो चैत्तों के विषय में संमूढ़ होते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ तीक्ष्ण हैं, और जिनकी रुचि संक्षिप्त देशना में होती हैं। आयतन-देशना दूसरे प्रकार के लिए है, और धातु-देशना तीसरे प्रकार के लिए है।

वेदना, संज्ञा की विवाद-मूलता—प्रश्न है कि इसका क्या कारण है कि वेदना और संज्ञा पृथक् पृथक् है, और अन्य सब चैत्त-धर्म संस्कार में संगृहीत हैं? क्योंकि यह विवादमूल हेतु हू। संसार कारण है। इसलिए और स्कन्धों के क्रम के कारण यह दो चैत्त—वेदना और संज्ञा—पृथक् स्कन्ध व्यवस्थित होते हैं। कामाध्यवसाय और दृष्टि-अभिष्वंग विवादमूल हैं। वेदना और संज्ञा इन दो मूलों के प्रधान हैं। वेदनास्वादवश कामाभिष्वंग होता है, और विपरीतसंज्ञावश दृष्टियों में अभिष्वंग होता है। जो वेदना-गृध्र है, और जिसकी संज्ञा विपर्यस्त है, वह संसार में जन्म-परंपरा करता है।

स्कन्ध-देशना का क्रम—जो कारण स्कन्धों के अनुक्रम को युक्त सिद्ध करते हैं उनका निर्देश करते हैं।

औदारिक-भाव, संक्लेश-भाव, भाजनत्वादि से तथा अर्थधातुओं की दृष्टि से भी स्कन्धों का क्रम युक्त है। सप्रतिघ होने से रूप स्कन्धों में सबसे औदारिक है। अन्तिम दो स्कन्धों से संज्ञा औदारिक है। विज्ञान सर्वसूक्ष्म है। अतः स्कन्धों का अनुक्रम हीयमाण औदारिकता के क्रम के अनुसार है।

अनादि संसार में स्त्री-पुरुष अन्योन्य रूपाभिराम होते हैं; क्योंकि यह वेदनास्वाद में आसक्त हैं। यह आसक्ति संज्ञा-विपर्यास से प्रवृत्त होती है। संज्ञा-विपर्यास संस्कारभूत क्लेशों के कारण होता है। और यह चित्त है जो क्लेशों से संक्लिष्ट होता है। अतः संक्लेश की प्रवृत्ति के अनुसार क्लेशों का क्रम है।

रूप भाजन है, वेदना भोजन है, संज्ञा व्यंजन है, और संस्कार पक्ता है; विज्ञान या चित्त भोक्ता है।

धातुतः विचार करने पर हम देखते हैं कि काम-धातु रूप से; अर्थात् पंच काम-गुणों से प्रभावित, प्रकर्षित है। रूप-धातु अर्थात् चार ध्यान, वेदना से प्रभावित है। प्रथम तीन आरूप्य-

संज्ञा से तथा चतुर्थ आरूप्य, अर्थात् भवाग्र-संस्कारमात्र (चेतना) से प्रभावित होते हैं। स्कन्धों का अनुक्रम क्षेत्र-बीज संदर्शनार्थ है। पहले चार स्कन्ध क्षेत्र हैं। पाँचवाँ बीज है।

असंस्कृत-धर्म

हम सास्रव संस्कृत-धर्मों का निर्देश कर चुके हैं। मार्ग-सत्य, और तीन असंस्कृत अनास्रव हैं। आकाश, प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध असंस्कृत हैं।

आकाश—आकाश वह है, जो आवृत नहीं करता, और यह रूप से आवृत भी नहीं होता। यहाँ रूप की अबाध गति है। आकाश को सौत्रान्तिक वस्तु-सत् नहीं मानते। उनके अनुसार रूपाभाव मात्र के लिए, सप्रतिघ द्रव्य के अभाव के लिए आकाश का व्यवहार होता है। आकाश आकाश-धातु से भिन्न है। छिद्र को आकाश-धातु की आख्या देते हैं। द्वार गवाक्षादि का छिद्र बाह्य आकाश-धातु है। मुख नासिकादि का छिद्र आध्यात्मिक आकाश-धातु है। वैभाषिक के अनुसार छिद्र या आकाश-धातु आलोक और तम है, अर्थात् वर्ण का, रूप का, एक प्रकार है। छिद्र की उपलब्धि आलोक और तम से पृथक् नहीं है।

प्रतिसंख्या-निरोध—सास्रव धर्मों से विसंयोग, प्रतिसंख्या या निर्वाण है। प्रतिसंख्या या प्रतिसंख्यान से एक प्रज्ञा-विशेष का, अनास्रव प्रज्ञा का, दुःखादि आर्य-सत्यों के अभिसमय का ग्रहण होता है। इस प्रज्ञाविशेष से जिस निरोध की प्राप्ति होती है, वह प्रतिसंख्या-निरोध कहलाता है। सब सास्रव-धर्मों के लिए एक प्रतिसंख्या नहीं होती। प्रत्येक विसंयोग पृथक्-पृथक् प्रतिसंख्या है। जितने संयोग-द्रव्य होते हैं, उतने ही विसंयोग-द्रव्य होते हैं। यदि अन्यथा होता, तो जिस पुद्गल ने दुःख-सत्य-दर्शन से प्रहातव्य क्लेशों के निरोध का लाभ किया है, उसके लिए शेष क्लेशों के प्रतिपक्षभूत मार्ग की भावना व्यर्थ होगी।

अप्रतिसंख्या-निरोध—एक अन्य निरोध है, जो उत्पाद में अत्यन्त विघ्नभूत है, अप्रतिसंख्या कहलाता है। इस निरोध की प्राप्ति सत्याभिसमय से नहीं होती, किन्तु प्रत्यय-वैकल्य से होती है। प्रत्यय-वैकल्य, यथा जब चक्षुरिन्द्रिय और मन-इन्द्रिय एक रूप में व्यासक्त होते हैं, तब रूपान्तर, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य प्रत्युत्पन्न अध्व का अतिक्रमण कर अतीत अध्व में प्रतिपन्न होते हैं।

ये तीन असंस्कृत अध्व-विनिर्मुक्त हैं।

निरोध पर सौत्रान्तिक मत—सौत्रान्तिक कहते हैं कि दो निरोध भी अभाव हैं। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि यदि निर्वाण अभाव है, तो यह तृतीय सत्य कैसे है? और उस विज्ञान का आलंबन, जिसका आलंबन आकाश और दो निरोध हैं, अवस्तु होगा। पुनः यदि निर्वाण अभाव है, तो अभाव की प्राप्ति कैसे होती है? सौत्रान्तिक सूत्रों का प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहते हैं कि निर्वाण अभावमात्र है। सूत्र वचन है :—"इस दुःख का अशेष प्रहाण, शान्तिभाव, क्षय, विराग, निरोध, उपशम, अस्तंगम, अन्य दुःख की अप्रतिसन्धि, अनुपादान, अप्रादुर्भाव; यह शान्त प्रणीत है, अर्थात् सर्वोपधि का प्रतिनिःसर्ग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है।" अतः निर्वाण 'अवस्तुक' है; अर्थात् अद्रव्य, निःस्वभाव है। वैभाषिक इस अर्थ को

स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि इस संदर्भ में 'वस्तु' 'हेतु' के अर्थ में है। यद्यपि असंस्कृत द्रव्य है, तथापि वह नित्य निष्क्रिय है। अतः कोई हेतु नहीं है, जो उनका उत्पाद करता है; और कोई फल नहीं है, जिसका यह उत्पाद करते हैं।

आत्मा और ईश्वर का प्रतिषेध

धर्मों के इस विभाग में आत्मा, पुरुष, प्रकृति को स्थान नहीं है। आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। जिस प्रकार 'रथ' नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, वह शब्दमात्र है; परमार्थ में अंग-संभार है। उसी प्रकार आत्मा, सत्व, जीव, पुद्गल, नामरूपमात्र (स्कन्धपंचक) है। यह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नहीं है। रूप भी केवल विज्ञान का विषय है। वैशेषिकों के परमाणु के तुल्य द्रव्य नहीं है।

वैभाषिक सस्वभाववादी हैं,बहुधर्मवादी हैं; किन्तु कोई शाश्वत पदार्थ नहीं मानते। उनके द्रव्य सत् हैं, किन्तु क्षणिक हैं। वे चैत्त और रूपी धर्म हैं। वे किसी मूल कारण की व्यवस्था नहीं करते। वे नहीं मानते कि ईश्वर, महादेव या वासुदेव, पुरुष, प्रधानादिक एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति होती है। यदि भावों की उत्पत्ति एक कारण से होती तो सर्व जगत् की उत्पत्ति युगपत् होती; किन्तु हम देखते हैं कि भावों का क्रम संभव है। ईश्वरवादी कहता है कि यह क्रम-भेद ईश्वर की इच्छावश है—"यह इस समय उत्पन्न हो, यह इस समय निरुद्ध हो; यह पश्चात् उत्पन्न और निरुद्ध हो।" वैभाषिक उत्तर देता है कि यदि ऐसा है, तो भावों की उत्पत्ति एक कारण से नहीं होती; क्योंकि छन्द-भेद है।

ईश्वरवादी पुनः कहता है कि ईश्वर स्वप्रीति के लिए जगत् की उत्पत्ति करता है।

यदि ईश्वर नरकादि में प्रजा की सृष्टि कर बहु ईतियों से उन्हें उपद्रुत होते देख कर प्रसन्न होता है, तो उसको नमस्कार है। सत्य ही यह लौकिक श्लोक सुगीत है:—"उसे रुद्र कहते हैं, क्योंकि वह दहन करता है, वह उग्र, तीक्ष्ण, प्रतापवान् है। वह मांस, शोणित, मज्जा, खाने वाला है।"

कदाचित् प्रत्यक्ष हेतुओं के निषेध के परिहार के लिए, और ईश्वर की अप्रत्यक्ष वर्तमान क्रिया की प्रतिज्ञा के परिहार के लिए ईश्वरवादी कहेगा कि आदिसर्ग ईश्वर-हेतुक है; किन्तु आदिसर्ग का केवल ईश्वर एक कारण है, वह अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं करता। अतः ईश्वरवत् उनके भी अनादित्व का प्रसंग होगा। ईश्वरवादी इसका प्रतिषेध करता है, अतः कोई धर्म एक कारण से उत्पन्न नहीं होता। आत्मा का प्रतिषेध, अभिधर्मकोश के नवें कोशस्थान में किया गया है। उसका सारांश हम १२ वें अध्याय में दे चुके हैं। यहाँ परमाणुवाद का विचार करना आवश्यक है।

परमाणुवाद

स्थविरवाद—स्थविरवाद में परमाणु का उल्लेख नहीं है। ज्ञात होता है कि सर्वास्तिवादियों ने सबसे पहले परमाणुवाद का उल्लेख किया है। बुद्धघोष के 'विशुद्धिमग्गो' और अत्थ-

मालिनी में तथा अनिरुद्धाचार्य के 'अभिधम्मत्थसंगहो' में रूप-कलाप योजना का वर्णन है। यह योजना सर्वास्तिवादियों के संघात-परमाणु से मिलती-जुलती है। पश्चात् यह कलाप-योजना स्थविरवाद के दर्शन का एक अविभाज्य अंग बन गई।

सर्वास्तिवाद—सर्वास्तिवादियों के अनुसार परमाणु चौदह प्रकार के हैं—पाँच विज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय, तथा चार महाभूत। ये संघातरूप में भाजन-लोक में पाए जाते हैं। इन्हें संघात-परमाणु कहते हैं। इन्हीं को स्थविरवादी 'कलाप' कहते हैं, जिसमें केवल आठ अविनिर्भाग रूप होते हैं, वह 'शुद्धाष्टक' है। आकाश-धातु कलापों का परिच्छेदमात्र है। उपचय, संतति, जरता, और अनित्यता, ये चार लक्षण रूप-कलापों के लक्षणमात्र हैं। ये कलापों के अंग नहीं हैं।

वसुबन्धु—वसुबन्धु परमाणु का विचार रूपी धर्मों के सहोत्पाद-नियम के संबन्ध में करते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि यहाँ परमाणु से द्रव्य-परमाणु इष्ट नहीं है, किन्तु संघात-परमाणु, अर्थात् सर्व सूक्ष्म रूप-संघात इष्ट है; क्योंकि रूप-संघातों में इससे सूक्ष्मतर नहीं हैं। वसुबन्धु द्रव्य-परमाणु मानते हैं, जो रूपण से मुक्त हैं, किन्तु वे कहते हैं कि एक परमाणु-रूप पृथग्भूत नहीं होता,और संघातस्थ (संचित) होने के कारण संघात की अवस्था में इसका बाधनरूपण और प्रतिघातरूपण हो सकता है। सप्रतिघ रूपों का सर्वसूक्ष्म भाग, जिसका पुनः विभाग नहीं हो सकता, परमाणु कहलाता है। इसे सर्वसूक्ष्म रूप कहते हैं, यथा—सर्वसूक्ष्म काल को क्षण कहते हैं। यह अर्ध-क्षणों में विभक्त नहीं हो सकता। कम से कम आठ द्रव्यों का सहोत्पाद होता है, और इनका अशब्द, अनिन्द्रिय संघाताणु होता है। ये आठ द्रव्य इस प्रकार हैं—चार महाभूत, चार भौतिक—रूप, रस, गन्ध, और स्प्रष्टव्य। जब परमाणु में शब्द उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कायेन्द्रिय (कायायतन) होता है तो इसमें एक नवाँ द्रव्य कायेन्द्रिय होता है। जब परमाणु में शब्द उत्पन्न नहीं होता, किन्तु कायेन्द्रिय को वर्जितकर अन्य इन्द्रिय (चक्षुरादि) होता है, तो इसमें एक दशवाँ द्रव्य अपरेन्द्रिय (चक्षुरादि) होता है, क्योंकि चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रिय, कायेन्द्रिय-प्रतिबद्ध हैं, और पृथक्वर्ती आयतन हैं। जब पूर्वोक्त संघात-परमाणु सशब्द होते हैं, तब यथाक्रम नव-दश-एकादश द्रव्य उत्पन्न होते हैं। वास्तव में जो शब्दायतन उपात्त महाभूतों से उत्पादित होता है, वह इन्द्रियाविनिर्भागी होता है।

यदि पृथिवी-धातु आदि चार महाभूतों का अविनिर्भाग है, यदि वे संघात-परमाणु में सहवर्तमान होते हैं, तो यह कैसे है कि एक संघात में कठिन, द्रव, उष्ण या समुदीरणा का ग्रहण होता है, और उसमें इन चार द्रव्यों या स्वभावों का युगपत् ग्रहण नहीं होता ?

हम एक संघात में द्रव्यों में से उस द्रव्य की उपलब्धि करते हैं, जो वहाँ पटुतम (स्फुटतम) होता है, जो प्रसवतः उद्भूत होता है; अन्य द्रव्यों की नहीं। यथा—जब हम सूची-तूली-कलाप का स्पर्श करते हैं, तो हम सूची की उपलब्धि करते हैं, यथा—जब हम लवणयुक्त सक्तु-चूर्ण खाते हैं, तो लवण रस की उपलब्धि करते हैं।

प्रश्न है कि आप यह कैसे जानते हैं कि एक संघात में महाभूत होते हैं, जिनके सद्भाव की उपलब्धि नहीं होती। सब महाभूतों का अस्तित्व उनके कार्यविशेष से गमित होता है। तेजोधातु का अस्तित्व जल में है, क्योंकि जल में शैत्य का अतिशय है। यह तेज के अन्यतर-तमोत्पत्ति से ज्ञात होता है। यह मत भदन्त श्रीलाभ का है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिकों के अनुसार संघात में जिन महाभूतों की उपलब्धि नहीं होती, वे बीजतः (शक्तितः, सामर्थ्यतः) वहाँ होते हैं, कार्यतः, स्वरूपतः नहीं होते। सौत्रान्तिक एक दूसरा आक्षेप करते हैं—वायु में वर्ण के सद्भाव को कैसे व्यवस्थित करते हैं ? वैभाषिक उत्तर देते हैं कि यह अर्थ श्रद्धनीय है, अनुमानसाध्य नहीं है। अथवा वायु वर्णवान् है, क्योंकि वायु का गन्धवान् द्रव्य से संसर्ग होने से गन्ध का ग्रहण होता है; किन्तु यह गन्ध वर्ण के साथ व्यभिचार नहीं करता। सौत्रान्तिकों के अनुसार परमाणु चतुर्द्रव्यक है—रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य।

वैशेषिक—वैशेषिकों का परमाणु नित्य है, अर्थात् सत् और अकारणवत् है [४।२।२]। यह भावरूप, अजन्य, विनाशाप्रतियोगी वस्तु है। यह अवयवियों का मूलकारण है। ये परमाण्वादि क्रम से जगत् का आरंभ मानते हैं। ये उस मत का निराकरण करते हैं, जो अभाव से भावोत्पत्ति मानता है।

कार्य इसका अनुमापक है। त्रसरेणु आदि कार्य द्रव्य इसका लिङ्ग है। परमाणु की सत्ता यदि न मानी जाय, तो अवयव-अवयवी-धारा अनन्त, निरवधि होगी और उस अवस्था में मेरु-सर्षप का परिमाणभेद नहीं होगा, उनके साम्य का प्रसङ्ग होगा; क्योंकि दोनों का आरंभ अनन्त अवयवों से होगा। इसलिए कहीं न कहीं विश्राम करना चाहिये। त्रसरेणु पर विश्राम नहीं कर सकते, क्योंकि त्रसरेणु सावयव है; वह चाक्षुष द्रव्य है, क्योंकि वह महान् और अनेक-द्रव्यवान् है। महत्त्व उसके चाक्षुष-प्रत्यक्षत्व में कारण है, और महत्त्व अनेक द्रव्यवत्त्व के कारण होता है। त्रसरेणु के अवयव भी परमाणु नहीं है, क्योंकि वे भी महत् द्रव्य के आरंभक होने से तन्तु के समान सावयव हैं। अतः जो कार्यद्रव्य है, वह सावयव है; जो सावयव है, वह कार्यद्रव्य है। जिस अवयव से कार्यत्व की निवृत्ति होती है, उससे सावयवत्व की भी निवृत्ति होती है। इस प्रकार निरवयव परमाणु की सिद्धि होती है। परमाणु का रूपादि होता है; क्योंकि कार्य में उसका सद्भाव, कारण में सद्भाव से होता है। कार्य-गुण, कारण-गुण-पूर्वक होते हैं। [कारणभावात् कार्यभावः, ४।१।३।]

यह आक्षेप होता है कि परमाणु अनित्य हैं, क्योंकि वे मूर्त हैं, क्योंकि उनका रूप-रसवत्व है, क्योंकि छः परमाणुओं के साथ युगपत् योग होने से परमाणु की षडंशता है। पुनः यदि परमाणु के मध्य में आकाश है, तो सच्छिद्र होने से उसका सावयवत्व होगा। यदि आकाश नहीं है, तो आकाश के असर्वगत होने का प्रसंग होगा। पुनः—क्योंकि जो सत् है, वह क्षणिक है, अतः इस क्षणिकत्व-साधक अनुमान से परमाणु की अनित्यता सिद्ध होती है। इस आक्षेप के उत्तर में वैशेषिक कहते हैं कि यह भ्रम है कि परमाणु का अस्तित्व कारणावस्था में नहीं हो सकता; क्योंकि परमाणु कार्यरूप में ही पाए

जाते हैं। प्रश्न है कि यदि परमाणु का अस्तित्व है, तो उसका ग्रहण इन्द्रियों से क्यों नहीं होता? आपने ही उपपादित किया है कि रूपवत्त्व, स्पर्शवत्त्व आदि ऐन्द्रियकत्व के प्रयोजक हैं। इसका उत्तर यह है कि उद्भूत-रूप महत् की ही उपलब्धि होती है। उसका ही चाक्षुष, स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है;क्योंकि वह अनेक द्रव्यवान् है। परमाणु में महत्त्व (परिमाण) का अभाव है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। सूक्ष्म की उपलब्धि नहीं होती। वायु का महत् परिमाण है, किन्तु उसमें रूप संस्कार का अभाव है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं है। उसमें रूप का उद्भव नहीं है। एक परमाणु में संस्कृत रूप नहीं होता, अतः उसकी उपलब्धि नहीं होती।

परमाणुरूप मूल कारण-द्रव्य की परीक्षा कर वैशेषिक कार्यद्रव्य की परीक्षा करता है। उसके अनुसार शरीर पंचात्मक, चातुर्भौतिक या त्र्यात्मक नहीं है। एक एक द्रव्य का आरंभ एक एक से होता है, अतः शरीर पार्थिव है; क्योंकि पृथ्वी का विशेष गुण (गन्ध) मानुष शरीर में विनाश पर्यन्त देखा जाता है। पाकादि की उपलब्धि शुष्क शरीर में नहीं होती, अतः गन्ध स्वाभाविक है, अन्य औपाधिक हैं।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पाँच भूतों का मिथःसंयोग नहीं होता। यह एक दूसरे के उपष्टंभक होते हैं; किन्तु दो विजातीय अणुओं का ऐसा संयोग इष्ट नहीं है, जो द्रव्य के प्रति असमवायिकारण हो। उपष्टंभवश शरीर में पाकादि की उपलब्धि होती है।

परमाणु के परिमाण की वैशेषिक संज्ञा 'परिमण्डल' है। प्राचीन यूनान में भी पारिमाण्डल्यवादी परमाणुवादी थे, किन्तु उनके परमाणु गुणविरहित और विविध आकार के थे। उनका संयोग याहच्छिक था। वैशेषिक अदृष्ट नामक एक धर्म-विशेष मानते हैं। जिसके कारित्र से अणुओं का आद्यकर्म, परमाणु-संयोग होता है। कोई टीकाकार ईश्वर के छन्द-विशेष या कालक्रिया के कारण अणुओं का आद्यकर्म मानते हैं।

तुलना—वैभाषिक का परमाणु अविनाशी नहीं है। धातुसंवर्तनी के समय रूपादि के विनाश से परमाणु का विनाश सिद्ध है। वैशेषिक इसके विपरीत मानते हैं कि प्रलयकाल में भी परमाणु-द्रव्य का विनाश नहीं होता। वे कहते हैं कि लोक-धातु का नाश होने पर भी परमाणुओं के नित्य होने से ये अवशिष्ट रहते हैं। अवयव का विभाग विनाश है, इसी से द्रव्य का नाश होता है। यह निरवयव का नाश नहीं है।

वैभाषिक के अनुसार परमाणु रूप का पर्यन्त है; इसकी उपलब्धि नहीं होती, यह अनिदर्शन है। सात परमाणुओं का एक अणु होता है। सात अणुओं का एक लोहरज, सात लोहरज का एक अब्रज, सात अब्रज का एक शशरज, सात शशरज का एक अविरज, सात अविरज का एक गोरज, सात गोरज का एक छिद्ररज (वैशेषिकों का त्रसरेणु) होता है। वैशेषिकों का परमाणु त्रसरेणु का षष्ठांश है। दो अणुओं का एक द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों का एक त्र्यणुक होता है, इत्यादि।

वसुबन्धु एक प्रश्न उत्थापित करते हैं :—परमाणु स्पर्श करते हैं या नहीं ?

काश्मीर-वैभाषिक कहते हैं कि परमाणु स्पर्श नहीं करते। यदि परमाणु साकल्येन स्पर्श करते, तो द्रव्य अर्थात् विभिन्न परमाणु मिश्रीभूत होते; अर्थात् एकदेशीय होते। यदि परमाणु एक देश में स्पर्श करते, तो उनके अवयव होते; किन्तु परमाणु के अवयव नहीं होते। किन्तु यदि परमाणु में स्पर्श नहीं होता, तो शब्द की अभिनिष्पत्ति कैसे होती है ?

इसी कारण शब्द संभव है, क्योंकि स्पर्श नहीं होता। यदि परमाणुओं का स्पर्श होता, तो हाथ से अभ्याहत होने पर हाथ उसमें सक्त हो जाता, पत्थर से अभ्याहत होने पर पत्थर उसमें मिल जाता, यथा लाक्षा लाक्षा में घुल मिल-जाती है; और शब्द की अभिनिष्पत्ति न होती। किन्तु यदि परमाणु स्पर्श नहीं करते,तो संचित या परमाणुओं का संहात प्रत्याहत होने पर विशीर्ण क्यों नहीं होता ? क्योंकि वायु-धातु संघात को संचित करता है, या उसका संधारण करता है।

चक्षुरादि विज्ञान के विषय और आश्रय

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है :—चक्षु रूप देखता है या चक्षुर्विज्ञान देखता है।

वैभाषिक तथा विज्ञानवादी—वैभाषिक-मत के अनुसार चक्षु देखता है। विज्ञानवादी का मत है कि चक्षु नहीं देखता। उसका कहना है कि यदि चक्षु देखता है, तो श्रोत्र या काय-विज्ञान में आसक्त पुद्गल का चक्षु भी देखेगा। वैभाषिक उत्तर देते हैं कि हमारा यह कहना नहीं है कि सब चक्षु देखते हैं। चक्षु देखता है, जब यह सभाग है; अर्थात् जब यह चक्षु-र्विज्ञान-समंगी है, चक्षुर्विज्ञान को संमुख करता है।

किन्तु उस अवस्था में जो देखता है, वह चक्षुराश्रित विज्ञान है ? नहीं; क्योंकि कुड्य या अन्य किसी व्यवधान से आवृत रूप दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु विज्ञान अमूर्त है, अप्रतिघ है; अतः यदि चक्षुर्विज्ञान देखता होता, तो वह व्यवधान से आवृत रूप भी देखता।

विज्ञानवादी उत्तर देता है :—आवृत रूप के प्रति चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नहीं होता; उनके प्रति उत्पन्न न होने से यह उनको नहीं देखता। किन्तु इन रूपों के प्रति यह उत्पन्न क्यों नहीं होता ? हम वैभाषिकों के लिए जिनका पक्ष है कि चक्षु देखता है, और जो मानते हैं कि चक्षु के सप्रतिघ होने से व्यवहित रूप में चक्षु की वृत्ति का अभाव है; यह बताना सुगम है कि चक्षुर्विज्ञान की अन्तरित रूप के प्रति उत्पत्ति क्यों नहीं होती। वास्तव में विज्ञान की प्रवृत्ति उसी एक विषय में होती है, जिसमें उसके आश्रय की होती है।

किन्तु यदि आपका मत है कि विज्ञान देखता है, तो आप इसका कैसे व्याख्यान करते हैं कि व्यवहित रूप में विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती।

वसुबन्धु—यहाँ आचार्य वसुबन्धु विज्ञानवादियों के पक्ष में हैं। वैभाषिकों से उनका कहना है कि यदि आपका मत है कि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्त विषय को देखता है, जैसे कायेन्द्रिय; तब मैं मानूंगा कि चक्षुरिन्द्रिय के सप्रतिघ होने के कारण वह व्यवहित रूप का ग्रहण नहीं करता, किन्तु आपका तो मत है कि चक्षुरिन्द्रिय दूर से देखता है। अतः आपको यह कहने का अधिकार नहीं है कि सप्रतिघ होने के कारण यह व्यवहित रूप नहीं देखता।

काश्मीर-वैभाषिक—काश्मीर-वैभाषिकों के अनुसार चक्षु देखता है, श्रोत्र सुनता है, घ्राण सूंघता है, जिह्वा रस लेती है, काय स्पर्श करता है, मन जानता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक-मत है कि चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, न कोई इन्द्रिय है जो देखती है; और न कोई रूप है, जो देखा जाता है; न कोई दर्शन किया है, न कोई कर्ता है, जो देखता है; हेतु-फल मात्र है। अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार के लिए उपचार करते हैं—चक्षु देखता है, विज्ञान जानता है। किन्तु इन उपचारों में अभि-निविष्ट नहीं होना चाहिये।

इन्द्रियों का प्राप्तविषयत्व-अप्राप्तविषयत्व—क्या ये इन्द्रियां अपने विषय-देश को प्राप्त होती हैं? चक्षु, श्रोत्र, मन अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते हैं। अन्य तीन इन्द्रियों के लिए अन्यथा है।

तीन इन्द्रियों के लिए कहा जाता है कि यह प्राप्त विषय हैं, क्योंकि विषय का इनके साथ निरन्तरत्व रहता है। निरन्तरत्व क्या है? निरन्तरत्व इसमें है कि इसके मध्य में कुछ नहीं है। यही 'प्राप्त' का भी अर्थ है। पुनः क्योंकि संघात के अवयव होते हैं, इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है कि संघात स्पर्श करते हैं।

पहले पाँच विज्ञानों के विषय उनके सहभू हैं। षष्ठ विज्ञान का विषय उसके पूर्व का, सहोत्पन्न, या अपर है। दूसरे शब्दों में यह अतीत, प्रत्युत्पन्न या अनागत है। षष्ठ विज्ञान का एकमात्र आश्रय अतीत विज्ञान है। प्रथम पाँच का आश्रय सहज भी है, अर्थात् यह विज्ञान के पूर्व का और सहज दोनों है। वास्तव में पांच विज्ञानकायों का आश्रय द्विविध है:—१. चक्षुरादि इन्द्रिय जो विज्ञान का सहभू है, २. मन-इन्द्रिय जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण में अतीत होता है।

जब चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप पर आश्रित है, तो विषय को वर्जित कर इन्द्रिय को भी विज्ञान का आश्रय अवधारित करते हैं। विज्ञान का आश्रय इन्द्रिय है, क्योंकि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है। जब चक्षु का अनुग्रह होता है (अंजनादि-प्रयोग), जब चक्षु का रेणु आदि से उपघात होता है, जब वह पटु होता है, जब वह मन्द होता है; तब विज्ञान में उस विकार का अनुविधान होता है। वह सुख-दुःखोत्पाद से सहगत होता है। वह यथाक्रम पटु या मन्द होता है। इसके विपरीत विज्ञान की अवस्था पर विषय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इन्द्रिय, न कि विषय, विज्ञान का आश्रय है।

सिद्धान्त में स्थिर हुआ है कि चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, प्रत्येक अपने अपने विषय का ग्रहण करते हैं, और मन जानता है। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या ये इन्द्रियाँ अपने विषय को प्राप्त होती हैं?

चक्षु, श्रोत्र, मन, अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते हैं। घ्राण, जिह्वा, काय, प्राप्त विषय का ग्रहण करते हैं। यदि चक्षु और श्रोत्र का प्राप्त-विषयत्व हो, तो मनुष्यों में ध्यायियों के दिव्य-चक्षु और श्रोत्र न हों, जैसे उनके दिव्य घ्राण नहीं होता। घ्राण के लिए प्राप्त-विषयत्व इसलिए आवश्यक है, क्योंकि गन्ध-ग्रहण के लिए उच्छ्वास आवश्यक है।

विषय परिमाण—प्रश्न है कि क्या यह मानना चाहिये कि इन्द्रिय आत्म-परिमाण-तुल्य विषय का ही ग्रहण करते हैं, अथवा ये इन्द्रिय निरपेक्ष भाव से आत्म-परिमाण तुल्य एवं अतुल्य अर्थ का ग्रहण करते हैं ?

घ्राणादि तीन इन्द्रिय तुल्य परिमाण के विषय का ग्रहण करते हैं। घ्राण, जिह्वा, और काय-इन्द्रिय नियतसंख्यक परमाणु-विषय के समानसंख्यक परमाणुओं को प्राप्त कर विज्ञान का उत्पाद करते हैं। किन्तु चक्षु-श्रोत्र के लिए कोई नियम नहीं है। कभी विषय इन्द्रिय से स्वल्प होता है, जब बालाग्र को देखते हैं; कभी कभी इन्द्रियतुल्य होता है, जब द्राक्षाफल का दर्शन करते हैं, कभी इन्द्रिय से बड़ा होता है, जब उन्मिषितमात्र चक्षु से पर्वत को देखते हैं। शब्द के लिए भी यही नियम है।

षष्ठ विज्ञान का आश्रय अतीत होता है, और प्रथम पाँच का आश्रय सहज भी है। मनोविज्ञान का एकमात्र आश्रय मनोधातु है, अर्थात् अतीत विज्ञान है। पाँच विज्ञान कायों का आश्रय सहज भी है, अर्थात् यह विज्ञान के पूर्व का और सहज दोनों है। वास्तव में पांच विज्ञान-कायों का आश्रय द्विविध है—१. चक्षुरादि-इन्द्रिय जो विज्ञान का सहभू है; २. मन-इन्द्रिय जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण में अतीत होता है।

चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप पर आश्रित है। विज्ञान का आश्रय इन्द्रिय है, क्योंकि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है। इसलिए भी कि इन्द्रिय 'असाधारण' है। एक पुद्गल का चक्षु केवल उस पुद्गल के चक्षुर्विज्ञानमात्र का आश्रय है। इसके विपरीत रूप साधारण है, क्योंकि रूप का ग्रहण चक्षुर्विज्ञान और मनोविज्ञान से होता है; एक पुद्गल और अन्य पुद्गल से होता है। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, कायेन्द्रिय तथा शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य इन विषयों के लिए भी यही योजना होनी चाहिये।

हम निष्कर्ष निकालते हैं कि विज्ञान का नाम इन्द्रिय से निर्दिष्ट होता है, क्योंकि उसका आश्रय इन्द्रिय है; क्योंकि इन्द्रिय असाधारण है। विषय के लिए ऐसा नहीं है। लोक में भेरी-शब्द, दण्ड-शब्द नहीं कहते, 'यवांकुर' कहते हैं, 'क्षेत्रांकुर' नहीं कहते।

इन्द्रिय

२२ इन्द्रियाँ—सूत्र में २२ इन्द्रियां उक्त हैं:—१. चक्षुरिन्द्रिय, २. श्रोत्रेन्द्रिय, ३. घ्राणेन्द्रिय, ४. जिह्वेन्द्रिय, ५. कायेन्द्रिय, ५. मन-इन्द्रिय, ७. पुरुषेन्द्रिय, ८. स्त्री-इन्द्रिय, ९. जीवितेन्द्रिय, १०. सुखेन्द्रिय, ११. दुःखेन्द्रिय, १२. सौमनस्येन्द्रिय, १३. दौर्मनस्येन्द्रिय, १४. उपेक्षेन्द्रिय, १५. श्रद्धेन्द्रिय, १६. वीर्येन्द्रिय, १७. स्मृतीन्द्रिय, १८. समाधीन्द्रिय, १९. प्रज्ञेन्द्रिय, २०. अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, २१. आज्ञेन्द्रिय, २२. आज्ञातावीन्द्रिय।

लक्षण और उपपत्ति—इस सूची में षडिन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य भी संगृहीत हैं। जिसकी परमैश्वर्य की प्रवृत्ति होती है, वह इन्द्रिय कहलाता है। अतः सामान्यतः इन्द्रिय का अर्थ 'अधिपति' है। प्रत्येक इन्द्रिय के आधिपत्य का विषय है।

पाँच विज्ञानेन्द्रिय—चक्षुरिन्द्रियादि पाँच इन्द्रियों में से प्रत्येक का आधिपत्य—१. आत्म-भाव-शोभा, २. आत्मभाव-परिरक्षण, ३. विज्ञान और तद्विज्ञान-संप्रयुक्त-चैतसिकों का उत्पाद और ४. असाधारण-कारणत्व, इन विषयों में है।

पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, और मन-इन्द्रिय—इनमें से प्रत्येक का आधिपत्य सत्व-भेद और सत्व-विकल्प-भेद में है। इन दो इन्द्रियों के कारण सत्वों में स्त्री-पुरुष-भेद, और स्त्री-पुरुषों में संस्थान, स्वर और आचार का अन्यथात्व होता है। जीवितेन्द्रिय का आधिपत्य निकाय-सभाग की उत्पत्ति और उसके संधारण में है। मन-इन्द्रिय का आधिपत्य पुनर्भव-संबन्ध में है। इसका आधिपत्य वशीभावानुवर्तन में भी है। यथा गाथा में उक्त है—चित्त से लोक उपनीत होता है। चित्त से परिक्लिष्ट होता है। सब धर्म इस एक धर्म-चित्त के वशानुवर्ती हैं।

वेदनेन्द्रिय—वेदनेन्द्रिय पाँच हैं :—सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा। इनका संक्लेश में आधिपत्य है, क्योंकि रागादि अनुशय वेदनाओं में व्यासक्त होते हैं। श्रद्धादि पंचेन्द्रिय और अन्तिम तीन इन्द्रिय—अनाज्ञात*, आज्ञा*, आज्ञातावी*—व्यवधान में अधि-पति हैं, क्योंकि इनके कारण विशुद्धि का लाभ होता है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के बल से क्लेश का विष्कंभन और आर्यमार्ग का आवाहन होता है। अन्तिम तीन इन्द्रिय अनास्रव हैं। निर्वाणादि के उत्तरोत्तर प्रतिलंभ में इनका आधिपत्य है।

कर्मेन्द्रिय का खण्डन—प्रश्न है कि केवल २२ इन्द्रियाँ क्यों परिगणित हैं। अविद्या और प्रतीत्य-समुत्पाद के अन्य अंग इन्द्रिय क्यों नहीं हैं? हेतु का आधिपत्य कार्य पर होता है। अविद्यादि का संस्कारादि पर आधिपत्य है। इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ का भी; जिन्हें सांख्य और वेदान्तवादी कर्मेन्द्रिय कहते हैं, इन्द्रियत्व होगा; क्योंकि वचन, आदान, विहरणादि पर इनका आधिपत्य है। वैभाषिक उत्तर देता है कि जिस अर्थ से भगवान् ने २२ इन्द्रियाँ कहीं हैं, उस अर्थ से इस सूची में अविद्यादि का अयोग है। इन्द्रियों की संख्या नियत करने में भगवान् ने निम्न बातों का विचार किया है :—

१. चित्त का आश्रय, अर्थात्—छः विज्ञानेन्द्रिय। ये छः आध्यात्मिक आयतन हैं, जो मौल सत्व-द्रव्य हैं।

२. चित्त के आश्रय का विकल्प—यह षड्विध आश्रय पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय के कारण विशिष्ट होता है।

३. स्थिति—पाँच जीवितेन्द्रियवश यह एक काल के लिए अवस्थान करता है।

४. उपभोग—वेदनाओं से यह संक्लिष्ट होता है।

५. श्रद्धादिपंचक से इसका व्यवदान-संभरण होता है।

सत्व और द्रव्य-सत्व के विकल्पादि के विषय में जिन धर्मों का अधिपतिभाव होता है, वे इन्द्रिय माने जाते हैं। वाक् आदि अन्य धर्मों में इस लक्षण का अभाव होता है, अतः वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ का इन्द्रियत्व नहीं है। वचन पर वाक् का आधिपत्य नहीं है, क्योंकि वचन शिक्षाविशेष की अपेक्षा करता है। पाणि-पाद का आदान और विहरण में

आधिपत्य नहीं है, क्योंकि जिसे आदान और विहरण कहते हैं, वह पाणि-पाद से अन्य नहीं है। इसके अतिरिक्त उरग प्रभृति का आदान-विहरण बिना पाणि-पाद के होता है। पुरीषोत्सर्ग में पायु का आधिपत्य नहीं है, क्योंकि गुरु-द्रव्य का सर्वत्र आकाश-छिद्र में पतन होता है। पुनः वायु-धातु इस अशुचि द्रव्य का प्रेरण करता है, और उसका उत्सर्ग करता है। उपस्थ का भी आनन्द में आधिपत्य नहीं है, क्योंकि आनन्द स्त्री-पुरुषेन्द्रिय कृत है। पुनः यदि आप पाणि-पादादि को इन्द्रिय मानते हैं, तो आपको कंठ, दन्त, अक्षिवर्त्म, अंगुलिपर्व का भी अभ्यवहरण, चर्वण, उन्मेष-निमेष, संकोच-विकास क्रिया के प्रति इन्द्रियत्व मानना पड़ेगा।

न्याय-वैशेषिक भी पाँच कर्मेन्द्रियों के लिए 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग नहीं करते। सांख्य, वेदान्त, और मनुस्मृति [२।८६–९२] में अवश्य इनको इन्द्रिय माना है, और कहा है कि यह प्राचीन मत है। वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—"शास्त्र में इन्द्रिय शब्द का यह गौण प्रयोग है। गौतम इन्द्रिय के पंचत्व-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। गौतम के अनुसार जो प्रत्यक्ष का साधन है, वही इन्द्रिय है। वाक्-पाणि प्रभृति प्रत्यक्ष के साधन नहीं हैं। इनमें इन्द्रिय का लक्षण नहीं है। यदि यह कहकर कि यह असाधारण कार्यविशेष का साधन है, इसलिए हम इनका इन्द्रियत्व स्थापित करें, तो कण्ठ, हृदय, आमाशय प्रभृति को भी कर्मेन्द्रिय कहना होगा; किन्तु ऐसा कोई नहीं कहता" [तात्पर्यटीका]।

पाँच श्रद्धादि इन्द्रिय—श्रद्धादि पंचक का उल्लेख केवल योगसूत्र [समाधिपाद, सू० २०] में है, किन्तु इनको वहाँ इन्द्रिय नहीं कहा है। जीवितेन्द्रिय का निर्देश चित्त-विप्रयुक्तों के साथ होगा। श्रद्धादि पंचक चैत्त हैं, अतः चैत्तों में उनका निर्देश होगा। वेदनेन्द्रिय और अनास्रवेन्द्रिय का निर्देश हम यहाँ करते हैं।

कायिकी उपघातिका वेदना, जो चक्षुर्विज्ञानादि से संप्रयुक्त है, दुःखेन्द्रिय है। अनुग्राहिका कायिकी वेदना सुखेन्द्रिय है। तृतीय ध्यान में चैतसी अनुग्राहिका वेदना भी सुखेन्द्रिय है। चैतसी वेदना मनोविज्ञान-संप्रयुक्त वेदना है। तृतीय ध्यान से ऊर्ध्व चैतसी अनुग्राहिका वेदना का अभाव है। चैतसी उपघातिका वेदना दौर्मनस्य है।

कायिकी और चैतसी की मध्या वेदना उपेक्षा है, किन्तु यह एक ही इन्द्रिय है; क्योंकि यहाँ कोई विकल्पन नहीं है। प्रायेण उपघातिका और अनुग्राहिका चैतसिकी वेदना प्रिय-अप्रियादि विकल्प से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत कायिकी वेदना की उत्पत्ति, चित्त की अवस्था से स्वतंत्र विषयवश होती है। अर्हत् राग-द्वेष से विनिर्मुक्त हैं, उन्होंने प्रिय-अप्रिय विकल्प का प्रहाण किया है; तथापि उनमें कायिक सुख-दुःख का उत्पाद होता है, किन्तु उपेक्षा वेदना कायिकी हो या चैतसिकी, कायिनी वेदना के तुल्य स्वरसेन उत्पन्न होती है। अतः कायिकी चैतसिकी इन दो उपेक्षा-वेदनाओं के लिए एक ही इन्द्रिय मानते हैं।

तीन अनास्रवेन्द्रिय—अब हम तीन अनास्रव इन्द्रियों का विचार करते हैं। मन, सुख, सौमनस्य, उपेक्षा, श्रद्धादि-पंचक ये नव द्रव्य दर्शनमार्गस्थ आर्य में अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय; भावनामार्गस्थ आर्य में आज्ञेन्द्रिय और अशैक्ष(=अर्हत्)-मार्गस्थ आर्य में आज्ञातावीन्द्रिय व्यवस्थापित होते हैं।

दर्शनमार्गस्थ आर्य अनाज्ञात अर्थात् सत्य-चतुष्टय के जानने में प्रवृत्त होता है (अनाज्ञातमाज्ञातुं प्रवृत्तः)। 'मैं जानूँगा' ऐसा वह विचार करता है, अतः उसकी इन्द्रिय 'अनाज्ञात°' कहलाती है।

भावनामार्गस्थ आर्य के लिए कोई अपूर्व नहीं है, जिसे उसे जानना हो। वह आज्ञ है। किन्तु शेष अनुशयों के प्रहाण के लिए वह अज्ञात सत्यों को पौनःपुन्येन जानता है। उसकी इन्द्रिय आज्ञेन्द्रिय कहलाती है। अशैक्षमार्गस्थ योगी को यह अवगम होता है कि वह जानता है। इसको इसका अवगम (= आव) होता है कि सत्य आज्ञात है। जिसको आज्ञाताव है, वह आज्ञातावी है।

इन्द्रिय-स्वभाव—हमने इन्द्रियों के विशेष लक्षणों का निर्देश किया है। अब हम उनके भिन्न स्वभाव को बताते हैं। अन्तिम तीन इन्द्रिय एकान्त अमल हैं। सात रूपी इन्द्रिय (चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय और स्त्री-पुरुषेन्द्रिय), जीवितेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय एकान्त सास्रव हैं। मन, सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय तथा श्रद्धादि पंचक सास्रव अनास्रव दोनों हो सकते हैं। कुछ आचार्य श्रद्धादि पंचक को एकान्त अनास्रव मानते हैं।

विपाक-अविपाक—इन्द्रियों में कितने विपाक हैं ? कितने विपाक नहीं हैं ? जीवितेन्द्रिय सदा विपाक है। श्रद्धादि पंचक, तीन अनास्रव इन्द्रिय और दौर्मनस्य° अविपाक हैं। शेष बारह कभी विपाक हैं, और कभी अविपाक हैं। यह सात रूपी इन्द्रिय, मन-इन्द्रिय और दौर्मनस्य° से अन्यत्र चार वेदनेन्द्रिय हैं। सात रूपी इन्द्रिय विपाक नहीं है, क्योंकि वे औपचारिक हैं। अन्य अविपाक हैं। मन-इन्द्रिय और चार वेदनेन्द्रिय अविपाक हैं, यदि वे कुशलक्लिष्ट होते हैं, क्योंकि विपाक अव्याकृत है, यदि वे यथायोग्य ऐर्यापथिकादि होते हैं; शेष विपाक हैं।

कुशल-अकुशल—२२ इन्द्रियों में कितने कुशल, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत हैं ?

आठ कुशल हैं। ये श्रद्धादि-पंचक और तीन अनास्रव हैं। दौर्मनस्य° कुशल-अकुशल है। जब कुशल न करके संताप होता है, जब अकुशल करके संताप होता है; तब यह कुशल है। मन-इन्द्रिय और चार वेदना कुशल, अकुशल, अव्याकृत हैं। चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय अव्याकृत हैं।

इन्द्रियों का धातु-विभाग—२२ इन्द्रियों में से कौन-कौन किस धातु के हैं ?

काम-धातु में अमल इन्द्रियों का अभाव है। रूप-धातु में इनके अतिरिक्त स्त्री-पुरुषेन्द्रिय और दो दुःखावेदना (दुःख-दौर्मनस्य) का भी अभाव है। आरूप्य-धातु में इनके अतिरिक्त रूपी-इन्द्रिय और दो सुखावेदना (सुख-सौमनस्य) का भी अभाव है। तीन अनास्रव इन्द्रियों को वर्जित कर शेष सब इन्द्रिय कामाप्त हैं। यह तीन अधातु-पतित हैं।

हेय-अहेय विभाग—२२ इन्द्रियों में कितने दर्शन-हेय हैं ? कितने भावना-हेय हैं ? कितने अहेय हैं ?

मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य, और उपेक्षा त्रिविध हैं। दौर्मनस्य दर्शन-हेय और भावना-हेय है। पाँच विज्ञानेन्द्रिय, स्त्री-पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और दुःखेन्द्रिय केवल भावना-हेय हैं।'

श्रद्धादि पंचक अनास्रव हो सकते हैं। अतः अहेय हो सकते हैं। अन्य तीन अहेय हैं, क्योंकि आदीनव से विमुक्त धर्म प्रहातव्य नहीं है।

श्रामण्योपयोगी इन्द्रियां—श्रामण्य-फल के लाभ में कितनी इन्द्रियां आवश्यक हैं?

दो अन्त्य फलों की प्राप्ति नौ इन्द्रियों से होती है। मध्य के दो फलों की प्राप्ति सात, आठ या नौ से होती है। अन्त्य फल स्रोतापत्ति और अर्हत्फल हैं, क्योंकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम हैं। मध्य में सकृदागामी और अनागामी फल होते हैं, क्योंकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम के मध्य में होते हैं। मन-इन्द्रिय, श्रद्धादिपंचक, प्रथम दो अनास्रव इन्द्रिय—अनज्ञात°, आज्ञा°, से प्रथम फल की प्राप्ति होती है। अनाज्ञात° आनन्तर्य-मार्ग है। आज्ञ° विमुक्ति-मार्ग है। इन दो से भी स्रोतापत्ति फल की प्राप्ति होती है, क्योंकि प्रथम क्लेश-विसंयोग की प्राप्ति का आवाहक है, और द्वितीय इस प्राप्ति का संनिश्रय, आधार है।

अर्हत्फल का लाभ मन-इन्द्रिय, सौमनस्य या सुख या उपेक्षा, श्रद्धादि आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय से होता है। सकृदागामि-फल की प्राप्ति या तो आनुपूर्वक सात इन्द्रियों से—(मन, उपेक्षा, श्रद्धादि पाँच) करता है, या तो भूयो वीतराग आठ इन्द्रियों से (पूर्वोक्त सात, आज्ञ°) प्राप्त करता है। आनुपूर्वक अनागामी-फल की प्राप्ति सात या आठ इन्द्रियों से करता है, और वीतराग नौ इन्द्रियों से करता है।

इन्द्रियों का सह समन्वागम—किस किस इन्द्रिय से समन्वागत पुद्गल कितने अन्य इन्द्रियों से समन्वागत होता है?

जो मन-इन्द्रिय या जीवितेन्द्रिय या उपेक्षेन्द्रिय से युक्त होता है, वह अवश्य अन्य दो से युक्त होता है। जब इनमें से एक का अभाव होता है, तो अन्य दो का भी अभाव होता है। इनका, एक दूसरे के बिना, समन्वागम नहीं होता। अन्य इन्द्रियों का समन्वागम नियत नहीं है। जो इन तीन इन्द्रियों से अन्वित होता है, वह अन्य से युक्त या अयुक्त हो सकता है।

जो सुखेन्द्रिय या कायेन्द्रिय से समन्वागत है, वह जीवित°, मन°, उपेक्षा° से भी समन्वागत होता है। जो चक्षुरादि इन्द्रियों में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह अवश्य-मेव जीवित°, मन°, उपेक्षा°, काय° से समन्वागत होता है।

जो सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह जीवितेन्द्रिय, मन°, या सुख° से भी समन्वागत होता है। जो दुःखेन्द्रिय से समन्वागत है, वह अवश्य सात इन्द्रियों से समन्वागत होता है:—जीवित°, मन°, काय° और वेदनेन्द्रिय। जो स्त्रीन्द्रियादि, अर्थात् स्त्री°, पुरुष°, दौर्मनस्य°, श्रद्धादि में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह अवश्य आठ इन्द्रियों से समन्वागत होता है।

जो श्रद्धादिपंचक में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह त्रैधातुक सत्व है। इसका अविनाभाव है, अतः श्रद्धादि पंचेन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह जीवित°, मन°, उपेक्षा° से भी समन्वागत होता है। जो आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह ग्यारह इन्द्रियों से अर्थात् जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, सुख°, सौमनस्य°, उपेक्षा°, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय और ग्यारहवीं आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय से अन्वित होता है। जो आज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह अवश्य तेरह इन्द्रियों से युक्त होता है।

वस्तुतः काम-धातु में ही दर्शन-मार्ग का आसेवन होता है। अतः इस इन्द्रिय से समन्वागत सत्व कामावचर सत्व है। वह अवश्य जीवित°, मन°, काय°, चार वेदनेन्द्रिय, श्रद्धादि पंचेन्द्रिय और आज्ञास्यामीन्द्रिय से युक्त होता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह दौर्मनस्य, चक्षुरादि से समन्वागत हो। वह वीतराग हो सकता है। उस अवस्था में दौर्मनस्य का उसमें अभाव होता है। वह अन्धादि हो सकता है।

चित्त

चित्त, मन और विज्ञान—शास्त्र में चित्त और चैत्त के भिन्न नाम हैं। चित्त (माइंड) मन (रीजन), विज्ञान (कान्शसनेस) ये नाम एक अर्थ के वाचक हैं। न्याय-वैशेषिक में केवल 'मन' शब्द का प्रयोग है। जो संचय करता है, यह चित्त है (चिनोति)। इसका अर्थ यह है कि यह कुशल-अकुशल का संचय करता है। यही मन है, क्योंकि यह मनन करता है (मनुते)। यही विज्ञान है, क्योंकि यह अपने आलंबन को जानता है। कुछ का कहना है कि 'चित्त' नाम इसलिए है, क्योंकि यह शुभ-अशुभ धातुओं से चित्रित है। यह 'मन' है, क्योंकि यह अपर-चित्त का आश्रयभूत है। यह विज्ञान है, क्योंकि यह इन्द्रिय और आलंबन पर आश्रित है। अतः इन तीन नामों के निर्वचन में भेद है, किन्तु ये एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं।

इन तीन आख्याओं में विज्ञान सब से प्राचीन है। सूत्रान्तों में जहाँ प्रतिसन्धि का वर्णन आता है, वहाँ 'विज्ञान' शब्द ही प्रयुक्त होता है। पश्चात् यह आख्या प्रायः एकान्ततः विजानन के विविध आकारों के लिए ही प्रयुक्त होने लगी। विज्ञान प्रतिविषय की उपलब्धि है। यह मन-आयतन है। धातु की देशना में ये सात धातु हैं—अर्थात् छः विज्ञान और मन। विज्ञान-स्कन्ध छः विज्ञान-काय हैं। यह पांच प्रसाद-रूप और मन को प्रत्यय बना उत्पन्न होते हैं। विज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्षतः विषय और प्रसाद-रूप के संघट्टन से होती है।

स्थविरवाद—स्थविरवादी षड्विज्ञान के अतिरिक्त भी एक दूसरा विभाग ८९ विज्ञान का करते हैं। यह संग्रह अन्य निकायों में नहीं पाया जाता। स्थविरवादियों के चित्त-संग्रह विभाग में चित्त की जितनी भूमियाँ (अवस्थाएँ) संभव हैं, वे सब संगृहीत हैं। जातिभेद से यह तीन प्रकार के हैं:—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। अवचरभेद से यह चार प्रकार के हैं:—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर, लोकोत्तर। साधारणतः चित्त (विज्ञान) के छः विभाग आश्रय के अनुसार किये जाते हैं।

चैत्त या चैतसिक-धर्म

चैत्त षड्विज्ञान के तुल्य चित्त के विभाग नहीं हैं। ये पृथक्-पृथक् धर्म हैं, यद्यपि चित्त और चैत्त एक दूसरे के बिना उत्पन्न नहीं होते। सर्वास्तिवाद के अनुसार चैत्त महाभूमिकादि भेद से पंचविध हैं :—

१. जो चित्त सर्व-चित्त-सहगत है; वह **महाभूमिक** है।

२. जो सर्व-कुशल-चित्त-सहगत है, वह **कुशल-महाभूमिक** है।

३. जो सर्व-क्लिष्ट-चित्त-सहगत है, वह **क्लेश-महाभूमिक** है।

४. जो सर्व-अकुशल-चित्त-सहगत है, वह **अकुशल-महाभूमिक** है।

५. जिनकी भूमि परीत्त-क्लेश है, वे **परीत्त-क्लेश-भूमिक** हैं।

'भूमि' का अर्थ उत्पत्ति-विषय है। किसी धर्म का उत्पत्ति-स्थान उस धर्म की भूमि है।

दश महाभूमिक

महाभूमिक दश हैं :—वेदना, चेतना, संज्ञा, छन्द, स्पर्श, मति, स्मृति, मनस्कार, अधिमोक्ष और समाधि। ये सर्व चित्त में सह वर्तमान होते हैं। वैभाषिक सिद्धान्तों के अनुसार ये दश धर्म सर्व-चित्त-क्षण में होते हैं। 'महाभूमि' नाम इसलिए है कि यह महान् धर्मों की भूमि है, उत्पत्ति-विषय है।

स्थविरवाद-विज्ञानवाद—स्थविरवाद के अनुसार सर्व-साधारण चित्त सात हैं :—स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय और मनसिकार।

जीवितेन्द्रिय को वर्जित कर शेष छः दश-महाभूमिक में संगृहीत हैं। जीवितेन्द्रिय को सर्वास्तिवादी-विज्ञानवादी चित्त-विप्रयुक्त धर्म मानते हैं। यह जीवितेन्द्रिय रूप-जीवित से भिन्न है, किन्तु इसके लक्षण उसके समान हैं। रूप-जीवित रूप-धर्मों का जीवित है। वह सहजात रूप-धर्मों का अनुपालन करता है। यह जीवित सहजात अरूप-धर्मों का अनुपालन करता है। इतना ही दोनों में भेद है। इनके अतिरिक्त निम्न छः प्रकीर्णक हैं। वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति, छन्द, [अभिधम्मत्थसंगहो, २।३]। ये तेरह चैतसिक धर्म अन्यसमान कहलाते हैं, क्योंकि यह कुशल-अकुशल-अव्याकृत चित्तों से समानभाव से संप्रयुक्त होते हैं। छः प्रकीर्णक में से अधिमोक्ष और छन्द दश-महाभूमिक में परिगणित हैं। सर्वास्तिवादियों और विज्ञानवादियों के अनुसार वितर्क, विचार, अव्याकृत चैतसिक हैं।

'प्रीति' सौमनस्य का प्रकार है, और इसलिए वेदना का एक आकार है। 'मति' प्रज्ञा है। स्थविरवादी प्रज्ञा को शोभन-चैतसिक में परिगणित करते हैं। 'वीर्य' के स्थान में सर्वास्तिवादी की गणना में 'स्मृति' है। सर्वास्तिवादी वीर्य को कुशल-महाभूमिक मानते हैं। स्थविरवादी 'स्मृति' को शोभन-चैतसिक मानते हैं। विसुद्धिमग्गो के विभाग भिन्न हैं। इसमें सर्वसाधारण, प्रकीर्णक, अन्यसमान और शोभन चैतसिकों के विभाग का अन्य क्रम है। इस क्रम में सर्व-साधारण और कुशल चैतसिकों में विशेष नहीं किया गया है। बीस नियत स्वरूप से आगत हैं; पांच अनियत हैं, और चार येवापनक हैं।

विज्ञानवादी दश महाभूमिकों को दो भागों में विभक्त करते हैं। मनस्कार, स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना सर्वग हैं; क्योंकि जब चित्त उत्पन्न होता है, तब मनस्कारादि पाँच धर्मों का होना आवश्यक है। अतः यह सर्वग है। शेष पाँच विनियत हैं। इनका साधारण विषय है। इनका आलंबन, विषयवस्तु नियत है।

१. वेदना—त्रिविध अनुभव है:—सुखा*, दुःखा*, अदुःखासुखा*।

२. चेतना—वह है, जो चित्त का अभिसंस्कार करती है।

३. संज्ञा—विषय के निमित्त (पुरुष, स्त्री आदि) का ग्रहण करती है।

४. छन्द—कार्य की इच्छा है (कर्तुकाम्यता)। अभिप्रेत वस्तु के प्रति अभिलाष, कार्यारंभ का सन्निश्रय इसका कर्म है।

५. स्पर्श—इन्द्रिय-विषय-विज्ञान के सन्निपात से संजात स्पृष्टि है। अन्य शब्दों में यह वह धर्म है, जिसके योग से मानों इन्द्रिय, विषय और विज्ञान अन्योन्य का स्पर्श करते हैं।

६. मति (प्रज्ञा)—धर्मों का प्रविचय है।

७. स्मृति—आलंबन का असंप्रमोष है। यह वह धर्म है, जिसके योग से मन आलंबन को विस्मृत नहीं करता।

८. मनस्कार—चित्त का आभोग है। यह आलंबन में चित्त का आवर्जन, अवधारण है।

९. अधिमोक्ष—आलंबन में गुणों का अवधारण है।

विज्ञानवादी—यथानिश्चय धारणा।

स्थविरवादी—आलंबन में निश्चल भाव से स्थिति।

१०. समाधि—चित्त की एकाग्रता है।

विज्ञानवादियों के अनुसार अन्तिम पाँच सर्वग नहीं हैं। छन्द सर्वग नहीं है, क्योंकि यदि हेतु या आलंबन की दुर्बलता से जिज्ञासा का अभाव हो, तो छन्द के बिना ही संज्ञा सहज रूप से होती है।

किन्तु संघभद्र उत्तर में कहते हैं कि चित्त-चैत्त अभिलाष के बल से आलंबन का ग्रहण करते हैं; क्योंकि सूत्र कहता है कि सब धर्मों का मूल छन्द है। विज्ञानवादी कहता है कि यह मत असमीचीन है, क्योंकि मनस्कार के बल से चित्त आलंबन का ग्रहण करता है। आगम कहता है कि मनस्कार के संमुख होने से विज्ञान उत्पन्न होता है। कहीं यह नहीं कहा है कि केवल छन्द में यह सामर्थ्य होता है। सूत्र यह भी कहता है कि सब धर्म तृष्णा से उत्पन्न होते हैं। क्या सर्वास्तिवादी यह मानते हैं कि चित्त-चैत्त की उत्पत्ति तृष्णा के बल से होती है?

विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि किसी निश्चित वस्तु के विषय में चित्त व्यवसित नहीं है, तो अधिमोक्ष नहीं है। इसलिए अधिमोक्ष सर्वग नहीं है। संघभद्र उत्तर देते हैं कि जब चित्त-चैत्त अपने आलंबन को ग्रहण करते हैं, तो अविघ्नभाव के कारण सब अधिमोक्ष से सहगत होते हैं। विज्ञानवादी उत्तर देता है कि यदि आप अधिमोक्ष उसे कहते हैं, जो चित्त-चैत्तों के लिए विघ्न उपस्थित नहीं करता, तो हम कहेंगे कि चित्त-चैत्तों को छोड़कर सब धर्म विघ्नकारी

नहीं हैं। यदि प्रश्न उनका है, जिनके लिए विघ्न उपस्थित नहीं किया जाता, तो चित्त-चैत्त स्वयं ही अधिमोक्ष होंगे।

विज्ञानवादी कहते हैं कि जो वस्तु अनुभूत नहीं है, उसकी स्मृति नहीं हो सकती। अनुभूत वस्तु की भी स्मृति नहीं होती, यदि अभिलपन न हो। इसलिए स्मृति सर्वग नहीं है।

किन्तु सर्वास्तिवादियों के अनुसार चित्त का प्रत्येक उत्पाद स्मृति-सहगत है। यह स्मृति अनागत-काल में स्मरण में हेतु है।

समाधि भी सर्वग नहीं है, क्योंकि विक्षेप की अवस्था होती है। संघभद्र कहते हैं कि विक्षेप की अवस्था में भी समाधि उत्पन्न होती है। किन्तु तब यह सूक्ष्म और प्रच्छन्न होती है। विज्ञानवादी का उत्तर है कि यदि समाधि से आशय उससे है, जो चित्त-चैत्तों को एक साथ केवल एक आलंबन की ओर प्रवृत्त करता है, तो यह अयथार्थ है, क्योंकि यह स्पर्श की क्रिया है। यदि वह यह सोचते हों कि समाधिवश चित्त आलंबन को ग्रहण करता है, और इसलिए वह सर्वग है, तो हमारा उत्तर निषेधात्मक होगा, क्योंकि मनस्कारवश चित्त आलंबन ग्रहण करता है। प्रज्ञा भी सर्वग नहीं है, क्योंकि जब उपपरीक्ष्य विषय का अभाव होता है, जब चित्त मूढ़ और मन्द होता है, तब प्रविचय नहीं होता। संघभद्र का मत है कि उस समय भी प्रज्ञा होती है, किन्तु यह सूक्ष्म और प्रच्छन्न होती है।

विज्ञानवादी कहते हैं कि सर्वत्रग दश हैं—सूत्र-संमत सिद्धान्त नहीं है। केवल स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग हैं। दश महाभूमिक-चैत्त भिन्न भिन्न लक्षण के हैं। चित्त-चैत्त का विशेष निश्चय ही सूक्ष्म है। चित्त-चैत्तों का यह विशेष उनके प्रबन्धों में भी दुर्लक्ष्य है। फिर क्षणों का क्या कहना जिनमें उन सबका अस्तित्व होता है।

दश कुशल-महाभूमिक

जो चैत्त कुशल-महाभूमि से उत्पन्न होते हैं, वे कुशल-महाभूमिक कहलाते हैं। ये वे धर्म हैं, जो सर्व कुशल-चित्त में पाए जाते हैं। ये इस प्रकार हैं :—श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, मूलद्वय, अविहिंसा और वीर्य।

१. श्रद्धा—चित्त-प्रसाद है। एक मत के अनुसार यह कर्मफल, त्रिरत्न और चतुः-सत्य में अभिसंप्रत्यय है।

२. अप्रमाद—कुशल-धर्मों का प्रतिलंभ और निषेवण भावना है। वस्तुतः यह भावना-हेतु है। एक दूसरे निकाय के अनुसार अप्रमाद चित्त की आरक्षा है।

३. प्रश्रब्धि—वह धर्म है, जिसके योग से चित्त की कर्मण्यता, चित्त का लाघव होता है। वसुबन्धु और सौत्रान्तिकों के अनुसार प्रश्रब्धि काय और चित्त की कर्मण्यता है। यह दौष्ठुल्य का प्रतिपक्ष है।

४. उपेक्षा—चित्त-समता है। यह वह धर्म है, जिसके योग से चित्त समभाग में अनाभोग में वर्तमान होता है। यह संस्कारोपेक्षा है। (तत्र मज्झत्तता)।

५-६. ह्री-अपत्रपा—इनका लक्षण सगौरवता और सप्रतीशता, सभयवशवर्तिता, और भयदर्शिता है। यह एक कल्प है। दूसरे कल्प के अनुसार इनका लक्षण आत्मापेक्षया लज्जा,

परापेक्षया लज्जा है। आत्मगौरव को देखकर जो लज्जा होती है, वह ह्री है। पर-गर्हा के भय से जो लज्जा होती है, वह अपत्राप्य है।

७–८. अलोभ और अद्वेष—विज्ञानवाद के अनुसार भवत्रय और भवोपकरण के लिए अनासक्ति (विराग) अलोभ का स्वभाव है। दुःखत्रय और दुःखोपकरण के लिए अनाघात अद्वेष का स्वभाव है। वसुबन्धु के अनुसार अलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है। यह उद्वेग (=निर्वेद) और अनासक्ति है, अद्वेष मैत्री है।

९. अविहिंसा—अविहेठना है।

वसुबन्धु पंच-स्कन्ध में कहते हैं कि अविहिंसा 'करुणा' है।

१०. वीर्य—चित्त का अभ्युत्साह है। यह कुशल में चित्त का उत्साह है, क्लिष्ट में नहीं। क्लिष्ट में उत्साह कौसीद्य है, क्योंकि विज्ञानवादी कुशल-महाभूमिकों में अमोह को भी गिनाते हैं। उनके अनुसार सत्य और वस्तु का अवबोध इसका स्वभाव है। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि अमोह प्रज्ञात्मक है, अतः यह महाभूमिकों में 'मति' की आख्या से पूर्व ही निर्दिष्ट हो चुका है, यह कुशल-महाभूमिक नहीं कहलाता।

विज्ञानवादी कहते हैं कि यद्यपि अमोह का स्वभाव प्रज्ञा हो, तथापि यह दिखलाने के लिए कि कुशल-पक्ष में प्रज्ञा का अधिक सामर्थ्य है, हम उसे पुनः कुशल धर्म कहते हैं। इसी प्रकार दृष्टि जो प्रज्ञा-स्वभाव है, क्लिष्ट धर्म कहलाती है। धर्मपाल के अनुसार अमोह प्रज्ञा नहीं है। वे कहते हैं कि अमोह का अपना स्वतंत्र स्वभाव है, यदि अमोह का स्वभाव प्रज्ञा होता, तो महाकरुणा 'आज्ञास्यामि' आदि प्रज्ञेन्द्रियों में परिगणित होती, और अद्वेष-अमोह के अन्तर्गत न होती।

शोभन चैतसिक—स्थविरवाद के अनुसार शोभन चैतसिक २५ हैं। इनके चार विभाग हैं—१. प्रज्ञेन्द्रिय, २. शोभन-साधारण, ३. अप्रमाण, और ४. विरति।

अप्रमाण के दो भेद हैं—करुणा और मुदिता। विरति तीन प्रकार की है—सम्यक्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव। ये पाँच अनियत हैं। ये कदाचित् उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने पर भी ये एक साथ नहीं उत्पन्न होते हैं।

शोभन-साधारण १९ हैं—श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अपत्राप्य, अलोभ, अद्वेष, तत्रमध्यस्थता (उपेक्षा), काय-प्रश्रब्धि ('दरथ' का व्युपशम), चित्त-प्रश्रब्धि, काय-लघुता (अगुरु-भाव), चित्त-लघुता, काय-मृदुता, चित्त-मृदुता, काय-कर्मण्यता, चित्त-कर्मण्यता, काय-प्रागुण्यता, (=अग्लानि), चित्त-प्रागुण्यता, काय-ऋजुकता (अकुटिलता), चित्त-ऋजुकता।

काय-प्रश्रब्धि आदि में 'काय' शब्द समूहवाची है। वेदनादि स्कन्ध-त्रय से अभिप्राय है। काय-चित्त-प्रश्रब्धि काय-चित्त को अशान्त करनेवाले औद्धत्यादि क्लेश के प्रतिपक्ष हैं। काय-चित्त-लघुता स्त्यान-मिद्धादि के प्रतिपक्ष हैं। स्त्यान-मिद्धादि काय-चित्त का गुरुभाव उत्पन्न करते हैं। काय-चित्त-मृदुता दृष्टि-मानादि क्लेशों के प्रतिपक्ष हैं, जो काय-चित्त

को स्तब्ध करते हैं। काय-चित्त कर्मण्यता अवशेष नीवरणादि के प्रतिपक्ष हैं, जो काय-चित्त को अकर्मण्य बनाते हैं। काय-चित्त-प्रगुणता काय-चित्त की अग्लानि है। यह आश्रद्ध्यादि की प्रतिपक्ष है। काय-चित्त-ऋजुकता, माया-शाठ्यादि की प्रतिपक्ष है।

इन दो तीन सूचियों की तुलना करने से पता चलता है कि स्थविरवादियों की सूची में करुणा-मुदिता अविहिंसा का स्थान लेते हैं। काय-चित्त की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, प्रगुणता, ऋजुकता सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद की सूचियों में नहीं हैं। पुनः स्थविरवाद की सूची में अप्रमाद नहीं है। अभिधम्मत्थसंगहो की सूची में प्रज्ञेन्द्रिय है। विशुद्धिमग्गो में अमोह है। दोनों एक हैं।

छः क्लेश-महाभूमिक

स्थविरवादियों के अनुसार चौदह अकुशल चैतसिक हैं—मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य (चित्त का उद्धतभाव), लोभ, दृष्टि (या मिथ्या-दृष्टि , विसुद्धिमग्गो का पाठ), मान (=अहंकार-ममकार), द्वेष (प्रतिघ), ईर्ष्या (असूया), मात्सर्य (अपनी सम्पत्ति का निगूहन), कौकृत्य (कृताकृतानुशोचन), स्त्यान (=अनुत्साह), मिद्ध (= अकर्मण्यता) और विचिकित्सा।

विसुद्धिमग्गो के अनुसार नियत तेरह हैं। येवापनक चार हैं। तेरह नियत-चैतसिकों में स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि भी हैं। ये कुशल-चैतसिक में भी हैं। विशुद्धिमग्गो में वेदना और संज्ञा, पृथक् स्कन्ध गिनाये जाने के कारण, संस्कार-स्कन्ध में पुनः संगृहीत नहीं हैं।

अकुशल के चार येवापनक ये हैं—छन्द, अधिमोक्ष, औद्धत्य, मनसिकार। इस सूची में कुशल येवापनक के तत्रमध्यस्थता के स्थान में औद्धत्य है। तदनन्तर स्त्यान-मिद्ध आदि भी हैं।

सर्वास्तिवाद के अनुसार महाक्लेश-भूमिक चैत्त, जो सर्व क्लिष्ट-चित्त में पाए जाते हैं, छः हैं—मोह, प्रमाद, कौसीद्य, आश्रद्ध्य, स्त्यान और औद्धत्य। ये एकान्ततः क्लिष्ट-चित्त में होते हैं।

मोह, अविद्या अज्ञान है। प्रमाद कुशल धर्मों का अप्रतिलम्भ और अनिषेवण है। कौसीद्य वीर्य का विपक्ष है। आश्रद्ध्य श्रद्धा का विपक्ष है। स्त्यान कर्मण्यता का विपक्ष है। औद्धत्य चित्त का अव्युपशम है।

मूल अभिधर्म में है कि क्लेश-महाभूमिक दश हैं। किन्तु उसमें स्त्यान पठित नहीं है। यह दश इस प्रकार हैं :—आश्रद्ध्य, कौसीद्य, मुषितस्मृतिता, विक्षेप, अविद्या, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनसिकार, मिथ्याधिमोक्ष अर्थात् क्लिष्ट-अधिमोक्ष, औद्धत्य और प्रमाद।

वस्तुतः क्लिष्ट स्मृति ही मुषितस्मृतिता है। क्लिष्ट समाधि ही विक्षेप है। क्लिष्ट प्रज्ञा ही असंप्रजन्य है। क्लिष्ट मनसिकार ही अयोनिशोमनसिकार है। क्लिष्ट अधिमोक्ष ही मिथ्याधिमोक्ष है। ये पाँच महाभूमिकों की सूची में पूर्व निर्दिष्ट हो चुके हैं। उनको पुनः क्लेश-महाभूमिकों

की सूची में परिगणित करने का स्थान नहीं है। यथा—कुशल-मूल अमोह यद्यपि कुशल-महाभूमिक है, तथापि प्रज्ञा-स्वभाव होने से यह महाभूमिक व्यवस्थापित होता है। कुशल-महाभूमिक के रूप में उसका अवधारण नहीं होता।

यहाँ प्रश्न है कि क्या महाभूमिक क्लेश-महाभूमिक भी हैं? चार कोटि हैं:—

१. वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श और छन्द केवल महाभूमिक हैं।

२. आश्रद्ध्य, कौसीद्य, अविद्या, औद्धत्य और प्रमाद केवल क्लेश-महाभूमिक हैं।

३. स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, मनसिकार और अधिमोक्ष महाभूमिक और क्लेश-महाभूमिक दोनों हैं।

४. इन आकारों को स्थापित कर अन्य धर्म (कुशल-महाभूमिकादि) न महाभूमिक हैं, न क्लेश-महाभूमिक हैं।

आभिधार्मिक कहते हैं कि स्त्यान का उल्लेख होना चाहिये था, किन्तु वह इसलिए पठित नहीं है, क्योंकि यह समाधि के अनुगुण है। वस्तुतः उनका कहना है कि स्त्यान-चरित पुद्गल औद्धत्य-चरित पुद्गल की अपेक्षा समाधि का संमुखीभाव क्षिप्रतर करता है। आचार्य वसुबन्धु का कहना है कि स्त्यान और औद्धत्य जो क्लिष्ट धर्म हैं, समाधि नामक शुक्र धर्म के परिपन्थी हैं।

दो अकुशल-महाभूमिक

आह्रीक्य और अनपत्राप्य सदा एकान्ततः अकुशल चित्त में पाए जाते हैं।

परीत्त-क्लेश-भूमिक

क्रोध, उपनाह, शाठ्य, ईर्ष्या, प्रदाश, म्रक्ष, मत्सर, माया, मद, विहिंसा आदि परीत्त हैं। परीत्त (=अल्पक) क्लेश रागादि से असंप्रयुक्त अविद्यामात्र हैं। ये भावनाहेय मनोभूमिक अविद्यामात्र से ही संप्रयुक्त होते हैं। अनुशय-कोशस्थान में इनका निर्देश उपक्लेशों में किया गया है। ये उपक्लेश भावनाहेय हैं, दर्शनहेय नहीं हैं। ये मनोभूमिक हैं। पंच विज्ञान-काय से इनका संप्रयोग नहीं होता। ये सब अविद्या से संप्रयुक्त होते हैं। इनकी पृथक् पृथक् उत्पत्ति हो सकती है।

विज्ञानवाद से तुलना—विज्ञानवाद के अनुसार चैत्तों के अवस्था-प्रकार-विशेष मूल क्लेश और उपक्लेशों की सूची भिन्न है।

मूल क्लेश ये हैं :—राग, द्वेष, मोह, मान, विचिकित्सा, कुदृष्टि। यह सूची सर्वास्तिवाद की सूची से सर्वथा भिन्न है। दोनों में केवल 'मोह' सामान्य है। शेष पांच सर्वास्तिवादी 'क्लेश' विज्ञानवाद के उपक्लेश की सूची में संगृहीत हैं।

उपक्लेश ये हैं :—क्रोध, उपनाह म्रक्ष, प्रदाश, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, अह्री, अत्रपा, स्त्यान, औद्धत्य, आश्रद्ध्य, कौसीद्य, प्रमाद, मुषिता-स्मृति, विक्षेप, असंप्रजन्य।

उपक्लेश क्लेशों के अवस्थाविशेष हैं, या क्लेश-निष्यन्द हैं। १–१०, १८, २०, १७ अवस्था-विशेष हैं, शेष क्लेश-निष्यन्द हैं। क्लेश उपक्लेश के समीपवर्ती हैं। इन बीस को तीन प्रकार में विभक्त कर सकते हैं:—

१. परीत्तोपक्लेश—क्रोधादि १–१०; २. मध्योपक्लेश—आह्रीक्य और अनपत्राप्य। ये सर्व अकुशल चित्त में पाए जाते हैं। ३. महोपक्लेश—शेष आठ जो सर्व क्लिष्ट चित्त में पाए जाते हैं। सर्वास्तिवाद के दश परीत्त-क्लेशभूमिक भी यही हैं।

दो अकुशल यहाँ मध्योपक्लेश हैं। छः क्लेश-महाभूमिकों में से स्त्यान, औद्धत्य, आश्रद्धय, कौसीद्य, प्रमाद, महोपक्लेश हैं; और मोह मूल क्लेश हैं। विज्ञानवाद की महोपक्लेशों की सूची में मुषिता-स्मृति, विक्षेप और असंप्रजन्य विशेष है। ये तीन मूल अभिधर्म की क्लेश-महाभूमिक सूची में पठित हैं।

इन सूचियों की तुलना से प्रकट होता है कि सर्वास्तिवादियों के विभाग में 'मूल' क्लेश नहीं हैं, और जिसे वह क्लेश कहते हैं, वे मोह को वर्जितकर विज्ञानवाद के महोपक्लेश हैं।

१. **क्रोध**—व्यापाद-विहिंसा से अन्य सत्व-असत्व का आघात है। यथा—कंटकादि में प्रकोप, शिक्षा-काम भिक्षु का चित्त-प्रकोप [कोश ५, पृ० ६०]।

२. **उपनाह**—वैरानुबन्ध है।

३. **म्रक्ष**—लाभ-सत्कार के खोने के भय से अपने कृत्य को छिपाना, चोदक से पूछे जाने पर पापकर्म को आविष्कृत न करना।

४. **प्रदाश**—चण्ड-पारुष्य है, जो मर्म का घात करता है।

५. **ईर्ष्या**—पर सम्पत्ति का असहन है।

६. **मात्सर्य**—धर्म-दान आमिष-दान का विरोधी है।

७. **शाठ्य**—चित्त की कुटिलता है, जो स्वदोष का प्रच्छादन करती है। शाठ्य म्रक्ष से भिन्न है। शाठ्य में प्रच्छादन परिस्फुट नहीं होता।

८. **माया**—कुटिलता है।

९. **विहिंसा**—विहेठना है।

१०. **मद**—राग-निष्यन्द है। वह अपने रूपादि में रक्त का दर्प है।

११. **स्त्यान**—चित्त की अकर्मण्यता है। इसके योग से चित्त जड़ीभूत होता है।

१२. **कौसीद्य**—आलस्य है।

१३. **मुषितस्मृतिता**—क्लिष्ट स्मृति है।

१४. **असंप्रजन्य**—उपपरीक्ष्य वस्तु में विपरीत बुद्धि है। यह क्लेश-संप्रयुक्त प्रज्ञा है।

अनियत चैतसिक

चैत्तों के पाँच प्रकार हमने वर्णित किए हैं। अन्य भी चैत्त हैं, जो अनियत हैं, जो कभी कुशल, कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते हैं। ये कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार आदि हैं। यशोमित्र की व्याख्या में कहा है कि रागादि क्लेश भी अनियत हैं, क्योंकि

ये पांच प्रकार में से किसी में भी नियत नहीं है। ये महाभूमिक नहीं है, क्योंकि ये सर्व चित्त में नहीं पाए जाते। ये कुशल-महाभूमिक नहीं है; क्योंकि इनका कुशलत्व से अयोग है। यह क्लेश-महाभूमिक नहीं है, क्योंकि सर्व क्लिष्टों में इनका अभाव है, क्योंकि सप्रतिघ चित्त में राग नहीं होता। आचार्य वसुमित्र का एक संग्रह-श्लोक है:—

स्मृत है कि आठ अनियत हैं: वितर्क, विचार, कौकृत्य, मिद्ध, प्रतिघ, राग, मान, विचिकित्सा। विज्ञानवाद में पहले चार ही अनियत बतलाए गए हैं। शेष चार को वह मूल क्लेशों में संगृहीत करते हैं। स्थविरवादी वितर्क और विचार को प्रकीर्णकों में या नियत चैतसिकों में गिनाते हैं। शेष अकुशल चैतसिक हैं।

कौकृत्य का शब्दार्थ कुकृतभाव है। किन्तु यहाँ कौकृत्य से एक चैतसिक धर्म का बोध होता है, जिसका आलंबन कौकृत्य अर्थात् कुकृतसंबन्धी चित्त का विप्रतिसार है। कौकृत्य विप्रतिसार का स्थानभूत है। विप्रतिसार के लिए कौकृत्य का निर्देश युक्त है। जिस विप्रतिसार का आलंबन अकृत कर्म है, उसको भी कौकृत्य कहते हैं। कौकृत्य कुशल भी होता है:—जब कुशल न करके सन्ताप होता है, जब अकुशल करके सन्ताप होता है। यह अकुशल है:—जब अकुशल न करके सन्ताप होता है, जब कुशल से सन्ताप होता है। इस उभय कौकृत्य का उभय अधिष्ठान होता है।

मिद्ध—चित्त का अभिसंक्षेप है। इससे काय संधारण में असमर्थ होता है। यह कुशल, अकुशल या अव्याकृत है। केवल क्लिष्ट-मिद्ध 'पर्यवस्थान' है।

वितर्क-विचार—चित्त का स्थूलभाव वितर्क है। चित्त का सूक्ष्मभाव विचार है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार वितर्क, और विचार वाक्-संस्कार हैं। जो औदारिक वाक्-संस्कार होते हैं, उन्हें वितर्क, और जो सूक्ष्म होते हैं, उन्हें विचार कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार वितर्क और विचार दो पृथग्भूत धर्म नहीं हैं, किन्तु समुदायरूप हैं, चित्त-चैत्त के कलाप हैं, जो वाक् समुत्थापक हैं, और जो पर्याय से औदारिक तथा सूक्ष्म होते हैं। वसुबन्धु के अनुसार वितर्क और विचार चित्त में एकत्र नहीं होते। ये पर्यायवर्ती हैं। वैभाषिक इन्हें दो पृथग्भूत धर्म मानते हैं।

चित्त-चैत्त का सामान्य विचार

चित्त से आलंबन की सामान्यरूपेण उपलब्धि होती है। चैत्त विशेषरूपेण इसकी उपलब्धि करते हैं। चित्त और चैत्त, साश्रय, सालंबन, साकार, और संप्रयुक्त हैं। साश्रयादि चार भिन्न नाम एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं, चित्त और चैत्त 'साश्रय' कहलाते हैं; क्योंकि ये इन्द्रिय पर आश्रित हैं। वे सालंबन हैं, क्योंकि वे स्वविषय का ग्रहण करते हैं। वे 'साकार' हैं, क्योंकि वे आलंबन के प्रकार से आकार ग्रहण करते हैं। वे संप्रयुक्त हैं, क्योंकि वे अन्योन्य सम और अविप्रयुक्त हैं। वे पाँच प्रकार से संप्रयुक्त हैं। चित्त और चैत्त आश्रय, आलंबन, आकार, काल, द्रव्य इन पांच समताओं से संप्रयुक्त हैं, अर्थात् वेदनादि चैत्त और चित्त संप्रयुक्त हैं, क्योंकि उनके आश्रय, आलंबन और आकार एक ही हैं, क्योंकि वे सहभू हैं,

क्योंकि इस संप्रयोग में प्रत्येक जाति का एक ही द्रव्य होता है, यथा—एक काल में एक ही चित्त-द्रव्य उत्पन्न होता है, तथा इस एक चित्त-द्रव्य के साथ एक वेदना-द्रव्य एक संज्ञा-द्रव्य, और प्रत्येक जाति का एक एक चैत्त संप्रयुक्त होता है।

चित्त से चैत्तों का सहावश्यंभाव—प्रत्येक प्रकार के चित्त के साथ कितने चैत्त अवश्य उत्पन्न होते हैं? कामावचर चित्त पंचविध हैं—१. कुशल चित्त एक है, २-३. अकुशल द्विविध है—यह आवेणिक है, अर्थात् अविद्यामात्र से संप्रयुक्त है, और रागादि अन्य क्लेश-संप्रयुक्त है। ४-५. अव्याकृत चित्त भी द्विविध है—निवृताव्याकृत, अर्थात् सत्काय-दृष्टि, और अन्तग्राह-दृष्टि से संप्रयुक्त; और अनिवृताव्याकृत अर्थात् विपाकजादि।

१. कामावचर चित्त सदा सवितर्क सविचार होता है। इस चित्त में जब यह कुशल होता है, २२ चैत होते हैं—दश महाभूमिक, दश कुशल और दो अनियत, अर्थात् वितर्क और विचार। जब कुशल चित्त में कौकृत्य होता है, तब पूर्ण संख्या २३ होती है।

२. आवेणिक और दृष्टियुक्त अकुशल चित्त में २० चैत्त होते हैं। आवेणिक चित्त अविद्यामात्र से संप्रयुक्त और रागादि से पृथग्भूत चित्त है। दृष्टियुक्त अकुशल-चित्त मिथ्या-दृष्टि, दृष्टिपरामर्श, शीलव्रतपरामर्श से संप्रयुक्त चित्त है।

दृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त चित्त अकुशल नहीं है, किन्तु निवृता-व्याकृत है।

इन दो अवस्थाओं में अकुशल चित्त में दश महाभूमिक, छः क्लेश, दो अकुशल और दो अनियत अर्थात् वितर्क और विचार होते हैं। वसुबन्धु कहते हैं कि दृष्टि की कोई पृथक् संख्या नहीं है, क्योंकि दृष्टि प्रज्ञा-विशेष है, प्रज्ञा महाभूमिक है।

जब यह क्रोधादि चार क्लेशों में से किसी एक से या कौकृत्य से संप्रयुक्त होता है, तब २१ होते हैं।

द्वितीय प्रकार का अकुशल चित्त जो रागादि से संप्रयुक्त है:—

३. राग, प्रतिघ, मान, विचिकित्सा से संप्रयुक्त अकुशल चित्त में २१ चैत्त होते हैं। पूर्वोक्त २० और राग या प्रतिघ, या मान या विचिकित्सा।

क्रोधादि पूर्व वर्णित उपक्लेशों में से किसी एक से संप्रयुक्त।

४. निवृताव्याकृत चित्त में १८ चैतसिक होते हैं। कामधातु का अव्याकृत चित्त निवृत, अर्थात् क्लेशाच्छादित होता है; जब वह सत्कायदृष्टि या अन्तग्राहदृष्टि से संप्रयुक्त होता है। इस चित्त में दश महाभूमिक, छः क्लेश और वितर्क-विचार होते हैं।

५. अनिवृताव्याकृत चित्त में बारह चैत्त होते हैं, दश महाभूमिक, वितर्क, विचार।

'बहिर्देशकों' को यह इष्ट है कि कौकृत्य भी अव्याकृत है, यथा—स्वप्न में। अव्याकृत कौकृत्य से संप्रयुक्त अनिवृताव्याकृत चित्त में तेरह चैत्त होंगे।

मिद्ध सर्व अविरुद्ध है। जहां यह होता है, वहां संख्या अधिक हो जाती है। मिद्ध कुशल, अकुशल, अव्याकृत है। जिस चित्त से यह संप्रयुक्त होता है, उसमें २२ के स्थान में

२३ चैत्त होते हैं, जब यह कुशल और कौकृत्य विमुक्त होता है। २३ के स्थान में २४ चित्त होते हैं, जब यह कुशल और कौकृत्य सहगत होता है·········इत्यादि।

रूपधातु—प्रथम ध्यान में—१. प्रतिघ, २. शाठ्य, माया मद को वर्जित कर क्रोधादि, ३. आह्रीक्य और अनपत्राप्य यह दो अकुशल महाभूमिक, ४. कौकृत्य, क्योंकि दौर्मनस्य का वहां अभाव होता है, तथा ५. मिद्ध, क्योंकि कवडीकार आहार का वहां अभाव होता है, नहीं होते। कामधातु के अन्य सर्व चैत्त प्रथम ध्यान में होते हैं।

ध्यानान्तर में वितर्क भी नहीं होता। द्वितीय ध्यान में और उससे ऊर्ध्व, यावत् आरूप्य-धातु में विचार, शाठ्य, और माया भी नहीं होते। मद त्रैधातुक है। सूत्र के अनुसार शाठ्य और माया ब्रह्मलोकपर्यन्त होते हैं, और उन लोकों से ऊर्ध्व नहीं होते, वहां के सत्वों का पर्षत्-संबन्ध होता है।

विज्ञानवाद—चित्त का आश्रय लेकर चैत्त उत्पन्न होते हैं। ये चित्त से संप्रयुक्त होते हैं, चित्त से प्रतिबद्ध होते हैं। यथा—जो आत्मा पर आश्रित होता है, उसे आत्मीय कहते हैं। चित्त आलंबन के केवल सामान्य लक्षणों का ग्रहण करता है। चैत्त आलंबन के विशेष लक्षणों को भी ग्रहण करते हैं। चित्त अर्थमात्रग्राही है, और चैत्त विशेषावस्था का ग्रहण करते हैं।

चैत्त चित्त के सहकारी होते हैं। विज्ञान सकल आलंबन को एक साथ ग्रहण करता है। प्रत्येक चैत्त उसको ग्रहण करता है, जिसे विज्ञान ग्रहण करता है; और साथ साथ एक विशेष लक्षण भी ग्रहण करता है, जिसकी उपलब्धि उसका विशेष है। यथा—विज्ञान वस्तु का सामान्य लक्षण जानता है (विजानाति), मनस्कार इस लक्षण को जानता है, और उस लक्षण को जानता है, जो विज्ञान से (या चित्त-अधिपति से) विज्ञात नहीं है।

स्पर्श—आलंबन के मनोज्ञादि लक्षणों को जानता है। वेदना, आह्लादकादि लक्षणों को जानती है।

संज्ञा—उन लक्षणों को जानती है, जो प्रज्ञप्ति-हेतु हैं।

चेतना—सम्यग्-हेतु, मिथ्या-हेतु, उभय विरुद्ध (जो कर्म-हेतु हैं) लक्षणों को जानती है। इसीलिए मनस्कार-स्पर्शादि चैत्त धर्म कहलाते हैं। मध्यान्तविभाग में कहा है:—छन्द अभिप्रेत वस्तु का भी लक्षण जानता है, अधिमोक्ष निश्चित वस्तु का, स्मृति अनुभूत वस्तु का। समाधि और प्रज्ञा गुण-दोष जानते हैं।

छः प्रकार के चैत्त छः अवस्था-प्रकार-विशेष हैं। इन प्रकार-विशेषों का भेद 'सर्व' चतु-ष्टयवश बताते हैं। कुछ सर्व चित्त स्वभाव के साथ पाए जाते हैं, कुछ सर्व भूमियों में, कुछ सर्व सब समय पाए जाते हैं, कुछ सर्व एक साथ होते हैं।

सर्वत्रग चैत्तों में चारों 'सर्व' पाए जाते हैं। वे कुशल, अकुशल, अव्याकृत चित्त से संप्रयुक्त होते हैं। वे प्रत्येक भूमि में पाए जाते हैं। वे सदा रहते हैं। जब एक होता है, तो दूसरे होते हैं। प्रतिनियत विषय में पहले दो सर्व होते हैं। कुशल में एक सर्व होता है (वे सकल भूमि में पाए जाते हैं), क्लिष्ट में कोई सर्व नहीं होता है। यह लक्षण बाहुलिक

है। अनियत में एक (पहला) सर्व होता है। कुशलादि चित्तों में पाए जाते हैं।

मूल क्लेशों के विभाग नहीं हैं। उपक्लेशों को दो में विभक्त करते हैं—१. द्रव्य-सत्, २. प्रज्ञप्ति-सत्। २० उपक्लेशों में दश परीत्त और तीन महोपक्लेश, अर्थात् मुषितास्मृतिता, प्रमाद और असंप्रजन्य प्रज्ञप्ति-सत् हैं। शेष सात द्रव्य-सत् हैं। ये आह्रीक्य, अनपत्राप्य, आश्रद्धय, कौसीद्य, औद्धत्य, स्त्यान और विक्षेप हैं।

एक दूसरा विभाग ऊपर वर्णित हो चुका है:—परीत्तोपक्लेश, मध्योपक्लेश, और महोपक्लेश।

चैतसिकों का एक और विभाग आठ विज्ञानों के अनुसार है।

आठवाँ विज्ञान आलय-विज्ञान केवल पाँच सर्वत्रगों से संप्रयुक्त होता है। यद्यपि आलय-विज्ञान अन्य चित्त-चैत्तों के बीच का आलय है, तथापि इसका संप्रयोग प्रत्यक्षतः किसी अन्य चैतसिक से नहीं होता।

सातवाँ विज्ञान (मन) पाँच सर्वत्रगों के अतिरिक्त मोह, लोभ, मान और दृष्टि इन चार क्लिष्ट चैतसिकों से भी संप्रयुक्त होता है। ये चैतसिक आत्ममोह, आत्मदृष्टि, आत्ममान और आत्मस्नेह हैं। इसका कारण यह है कि मन मननात्मक है। अपरावृत्तावस्था में यह कल्पित आत्मा की मन्यना करता है। मन केवल इन नौ चैतसिकों से संप्रयुक्त है। यह एक मत है। एक दूसरे मत के अनुसार मन का संप्रयोग कुछ उपक्लेशों से भी होता है।

षड्विज्ञान—इनका संप्रयोग सब चैतसिकों से होता है।

स्थविरवाद—हम पूर्व कह चुके हैं कि इस वाद में चित्त के ८९ विभाग हैं। यह इस वाद का विशेष है। ये ५२ चैतसिक भी मानते हैं। ये दिखाते हैं कि कौन चैतसिक धर्म कितने चित्तों से संप्रयुक्त होता है।

चित्त-विप्रयुक्त धर्म

अब हम चित्त-विप्रयुक्त धर्मों का विचार करेंगे। चित्त-विप्रयुक्त ये हैं:—प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक, दो समापत्तियां, जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नाम-कायादि तथा एवं-जातीयक धर्म। ये धर्म-चित्त से संप्रयुक्त नहीं होते। ये रूप-स्वभाव नहीं है। ये संस्कार-स्कन्ध में संगृहीत हैं, इन्हें चित्त-विप्रयुक्त संस्कार कहते हैं। क्योंकि ये चित्त से विप्रयुक्त हैं, और अरूपी होने के कारण चित्त के समानजातीय हैं। स्थविरवाद में इस विभाग का उल्लेख नहीं है। उनके उपादाय रूपों की सूची में चार लक्षण और जीवितेन्द्रिय पाए जाते हैं।

सर्वास्तिवादी इन्हें चित्त-विप्रयुक्त संस्कार मानते हैं। जात्यादि लक्षण इन्द्रियों के विकार हैं। ये भौतिकों में क्यों संगृहीत हैं, यह स्पष्ट नहीं है। सौत्रान्तिक चित्त-विप्रयुक्त संस्कार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। 'प्राप्ति' शब्द न्यायभाष्य [४।२।१२] में 'संबन्ध' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—एकस्यानेकत्राश्रयाश्रितसंबन्धलक्षणा प्राप्तिः।

अवयव-अवयवी के विचार में यह वाक्य आया है। अवयव समूह आश्रय है, अवयवी आश्रित है। इनका संयोग संबन्ध नहीं है, क्योंकि इनका कभी एक दूसरे से विभाग संभव नहीं

है। उभय का तादात्म्य या अभेद संबन्ध भी नहीं है, क्योंकि दोनों अभिन्न नहीं हैं। यह समवाय संबन्ध है। गुण, कर्म और जाति विषयक जो विशिष्ट ज्ञान होता है, उसका विषय समवाय नामक संबन्ध है। वैभाषिकों के अनुसार प्राप्ति वह हेतु है, जो सत्वों का भाव व्यवस्थापित करता है। अवयवों में अवयवी की वर्तमानता आश्रयाश्रितभाव है। यह समवायाख्य संबन्ध है। यह इस प्रकार है:—प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक, दो समापत्ति (निरोध-समापत्ति, असंज्ञि-समापत्ति), जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नाम-कायादि और एवंजातीयक धर्म। सर्वास्तिवादी इनको द्रव्य-सत् मानते हैं।

प्राप्ति-अप्राप्ति

१. प्राप्ति द्विविध है:—अप्राप्त और विहीन का लाभ (प्रतिलम्भ), प्रतिलब्ध और अविहीन का समन्वागम (समन्वय)।

२. अप्राप्ति—इसका विपर्यय है।

स्वसन्तान-पतित संस्कृत धर्मों की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है, पर-सत्व-सन्तति-पतित धर्मों की नहीं होती; क्योंकि कोई परकीय धर्मों से समन्वागत नहीं होता। असन्तति-पतित धर्मों की भी प्राप्ति-अप्राप्ति नहीं होती, क्योंकि कोई असत्व संख्यात-धर्मों से समन्वागत नहीं होता।

असंस्कृत धर्मों में प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध की प्राप्ति होती है। सब सत्व उन धर्मों के अप्रति° से समन्वागत होते हैं, जिनकी उत्पत्ति प्रत्यय-वैकल्य से नहीं होगी। सकल बन्धनादिलक्षण आर्य और सकल-बन्धन-बद्ध पृथग्जन को छोड़ कर अन्य आर्य और पृथग्जन प्रतिसंख्या° से समन्वागत होते हैं। आकाश से कोई समन्वागत नहीं होता, अतः आकाश की प्राप्ति नहीं होती। वैभाषिकों के अनुसार प्राप्ति और अप्राप्ति एक दूसरे के विपक्ष हैं। जिसकी प्राप्ति होती है, उसकी अप्राप्ति भी होती है।

सौत्रान्तिक का मतभेद—सौत्रान्तिक प्राप्ति नामक धर्म के अस्तित्व को नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्राप्ति की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, यथा रूप-शब्दादि की होती है, यथा राग-द्वेषादि की होती है। उसके कृत्य से प्राप्ति का अस्तित्व अनुमित नहीं होता, यथा चक्षुरादि इन्द्रिय अनुमान ग्राह्य हैं। सर्वास्तिवादी कहता है कि प्राप्ति का कृत्य है। यह धर्मों का उत्पत्ति-हेतु है। लोभ-चित्त के उत्पादक हेतु इस अनागत लोभ चित्त की 'प्राप्ति' है। सौत्रान्तिक कहता है कि आप जानते हैं कि दो निरोधों की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु ये असंस्कृत हैं, और असंस्कृत अनुत्पाद्य हैं। केवल 'संस्कृत' हेतु होते हैं। संस्कृत धर्मों के संबन्ध में हमें यह कहना है कि अप्राप्त धर्मों की प्राप्ति नहीं होती। और उन धर्मों की भी प्राप्ति नहीं होती, जो भूमि-संस्कार या वैराग्य के कारण त्यक्त हो चुके हैं। प्रथम की प्राप्ति अनुत्पन्न है। द्वितीय की प्राप्ति निरुद्ध हुई है। अतः इन धर्मों की कैसे उत्पत्ति हो सकती है, यदि इनकी उत्पत्ति का हेतु प्राप्ति है?

सर्वास्तिवादी—इन धर्मों की उत्पत्ति में सहज-प्राप्ति हेतु है।

सौत्रान्तिक—यदि धर्मों की उत्पत्ति प्राप्ति के योग से होती है, तो जाति और जाति-जाति क्या करते हैं। असत्वाख्य धर्मों की उत्पत्ति न होगी। सकल बन्धन पुद्गलों में मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेशों का प्रकार-भेद कैसे युक्त होगा, क्योंकि प्राप्ति का अभेद है। कामावचर क्लेश

की उन्हीं प्राप्तियों से सब समन्वागत हैं। क्या आप कहते हैं कि यह भेद प्राप्ति के भिन्न हेतुओं के कारण होता है? हमारा उत्तर है कि यह हेतु ही मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेश की उत्पत्ति में एकमात्र हेतु है। जिस कारण से यह भेद होता है, उसी कारण से उनकी उत्पत्ति भी हो सकती है। इसलिए प्राप्ति उत्पत्ति-हेतु नहीं है।

सर्वास्तिवादी—कौन कहता है कि प्राप्ति धर्मों की उत्पत्ति का हेतु है? हम उसका यह कारित्र नहीं बताते। हमारे अनुसार प्राप्ति वह हेतु है, जो सत्वों के भाव की व्यवस्था करता है। हम इसका व्याख्यान करते हैं:—मान लीजिए कि प्राप्ति का अस्तित्व नहीं है तो लौकिकमानस-आर्य और पृथग्जन का क्या व्यवस्थान होगा? भेद केवल इसमें है कि आर्य में कतिपय अनास्रव धर्मों की प्राप्ति तब भी होती है, जब उनका लौकिक मानस होता है।

सौत्रान्तिकः—हमारे मत से यह व्यवस्थान हो सकता है कि पहला प्रहीण क्लेश है, और दूसरा अप्रहीण क्लेश है।

सर्वास्तिवादी—निःसन्देह; किन्तु प्राप्ति के अस्तित्व को न मानकर यह कैसे कह सकते हैं कि इनका क्लेश प्रहीण है, इनका अप्रहीण है। प्राप्ति के होने पर यह व्यवस्थान सिद्ध होता है। क्लेश प्रहीण तभी होते हैं, जब क्लेश-प्राप्ति का विगम होता है। जब तब उसकी प्राप्ति रहती है, तब तक क्लेश प्रहीण नहीं होता।

वैभाषिक कहते हैं कि 'प्राप्ति' और 'अप्राप्ति' द्रव्य-सत् है। वैभाषिक नय से त्रैयध्विक धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है। अतीत धर्मों की प्राप्ति अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत होती है। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्मों को समझना चाहिये। प्रत्येक धर्म की यह त्रिविध प्राप्ति नहीं होती, यथा—विपाकज धर्मों की प्राप्ति केवल इन धर्मों की सहज होती है। इनके उत्पन्न होने के पूर्व और निरुद्ध होने के पश्चात् इन धर्मों की प्राप्ति नहीं होती।

कुशल, अकुशल, अव्याकृत धर्मों की प्राप्ति यथाक्रम कुशल, अकुशल, अव्याकृत होती है। धात्वाप्त धर्मों की प्राप्ति स्वधातुक होती है। अधातु-पतित अनास्रव धर्मों की प्राप्ति चतुर्विध है। यह त्रैधातुक है। यह अनास्रव है।

१. अप्रतिसंख्या-निरोध की प्राप्ति उस धातु की होती है, जिसमें वह पुद्गल उत्पन्न होता है, जो उसकी प्राप्ति करता है।

२. प्रतिसंख्या-निरोध की प्राप्ति रूपावचरी, अरूपावचरी और अनास्रव होती है।

३. मार्ग-सत्य की प्राप्ति अनास्रव ही होती है।

४. शैक्ष धर्मों की प्राप्ति शैक्षी है, अशैक्ष धर्मों की प्राप्ति अशैक्षी है। नशैक्षाशैक्ष धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है। ये धर्म सास्रव और असंस्कृत हैं। इनकी संज्ञा इसलिए है, क्योंकि यह शैक्ष और अशैक्ष धर्मों से भिन्न है।

१. सास्रव धर्मों की प्राप्ति नैवशैक्षीनाशैक्षी है।

२. इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त अप्रति° की प्राप्ति और प्रति° की प्राप्ति।

३. प्रति° की प्राप्ति शैक्षी है, यदि निरोध शैक्षमार्ग से प्राप्त होता है। अशैक्षी है, यदि वह निरोध अशैक्ष मार्ग से प्राप्त होता है।

अहेय धर्मों का प्राप्ति-भेद है। अहेय धर्मों की प्राप्ति द्विविध है। अप्रति॰ की प्राप्ति भावनाहेय है। इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त प्रति॰ की प्राप्ति अनास्रव, अहेय है। इसी प्रकार मार्ग-सत्य की प्राप्ति को जानना चाहिये। अव्याकृत की प्राप्ति सहज है।

अप्राप्ति अनिवृताव्याकृत है। क्लेशों की अप्राप्ति क्लिष्ट नहीं है, क्योंकि इस विकल्प में क्लेश-विनिर्मुक्त पुद्गल में इसका अभाव होता है। यह कुशल नहीं है, क्योंकि कुशलमूल-समुच्छिन्न पुद्गल में इसका अभाव होगा। अप्राप्ति की विहानि प्राप्ति और भूमि-संचार से होती है। यथा आर्य मार्ग के लाभ से और भूमिसंचार से पृथग्जनत्व विहीन होता है।

अनुप्राप्ति, अनुअप्राप्ति—प्राप्ति और अप्राप्ति की भी प्राप्ति और अप्राप्ति होती है। इन्हें अनुप्राप्ति, अनुअप्राप्ति कहते हैं। अतः दो प्राप्ति हैं:—मूल प्राप्ति और अनुप्राप्ति या प्राप्ति-प्राप्ति।

क्या इस वाद में प्राप्तियों का अनवस्थाप्रसंग नहीं होगा?

नहीं, क्योंकि परस्पर समन्वागम होता है। प्राप्ति–प्राप्ति के योग से प्राप्ति से समन्वागम होता है, और प्राप्ति के योग से प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागम होता है। जब एक सन्तति में एक धर्मविशेष का उत्पाद होता है, तो तीन धर्मों का सहोत्पाद होता है। अर्थात् १. वही धर्म जिसे मूल धर्म कहते हैं, २. मूल धर्म की प्राप्ति, ३. इस प्राप्ति की प्राप्ति। प्राप्ति-उत्पाद-वश वह सत्व मूल धर्म से और प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागत होता है। अतः अनवस्थाप्रसंग नहीं होता। जब कुशल या क्लिष्ट धर्मों की उत्पत्ति होती है, तो उसी क्षण में तीन धर्मों का सहोत्पाद होता है। इनमें यह कुशल या क्लिष्ट धर्म संगृहीत है। तीन धर्म ये हैं:—मूल धर्म, उसकी प्राप्ति, इस प्राप्ति की प्राप्ति। द्वितीय क्षण में छः धर्मों का सहोत्पाद होता है, अर्थात् मूल धर्म की प्राप्ति, प्रथम क्षण की प्राप्ति, प्राप्ति की प्राप्ति, तथा तीन अनुप्राप्ति, जिनके योग से पूर्वोक्त तीन प्राप्तियों से वह समन्वागत होता है। तृतीय क्षण में अठारह धर्मों का सहोत्पाद होता है। इस प्रकार प्राप्तियों का उत्तरोत्तर वृद्धि-प्रसंग होता है। अनादि अनन्त संसार में यह अनन्त संख्या में उत्पन्न होती हैं।

वसुबन्धु कहते हैं कि यह प्राप्तियों का अति उत्सव है, कि ये अरूपिणी हैं अतः ये अवकाश का लाभ करती हैं। यदि ये प्रतिघातिनी होतीं, तो एक प्राणी की प्राप्तियों को नीलाकाश में स्थान न मिलता।

निकाय-सभाग (सभागता)

यह एक द्रव्य है, एक धर्म है; जिसके योग से सत्व तथा सत्व-संख्यात धर्मों का परस्पर सादृश्य (=सभाग) होता है। शास्त्र में इस द्रव्य की निकाय-सभाग संज्ञा है। यह सत्वों की स्वभाव-समता है। सभागता दो प्रकार की है। अभिन्न और भिन्न। प्रथम सभागता सर्व-सत्ववर्तिनी है। उसके योग से प्रत्येक सत्व का सब सत्वों के साथ सादृश्य होता है। उसे सत्व-सभागता कहते हैं। द्वितीय में अनेक अवान्तर भेद हैं। सत्व, धातु, भूमि, गति, योनि जाति, व्यंजनादि के अनुसार भिन्न होते हैं। इतनी ही सभागता होती है। इनके योग से एक विशेष प्रकार का प्रत्येक सत्व उस प्रकार के सत्वों के सदृश होता है।

पुनः सत्त्व-संख्यात धर्मों के लिए एक समागता है:—धर्म-समागता। यह स्कन्ध-आयतन-धातुतः है।

सत्त्व-समागता नामक अविशिष्ट द्रव्य के अभाव में अन्योन्य विशेष भिन्न सत्त्वों के लिए सत्त्वादि अभेद बुद्धि और प्रज्ञप्तियाँ कैसे होंगी? इसी प्रकार धर्म-समागता के योग से ही स्कन्ध-धातु आदि बुद्धि और प्रज्ञप्ति युक्त हैं।

विभिन्न वादियों की आलोचना—सौत्रान्तिक समागता नामक धर्म को स्वीकार नहीं करते, और इस वाद में अनेक दोष दिखलाते हैं। वे कहते हैं कि लोक समागता को प्रत्यक्ष नहीं देखता, वह प्रज्ञा से समागता का परिच्छेद नहीं करता, क्योंकि समागता का कोई व्यापार नहीं है, जिससे उसका ज्ञान हो। यद्यपि लोक सत्त्व-समागता को नहीं जानता, तथापि उसमें सत्त्वों के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है। अतः समागता के होने पर भी उसका क्या व्यापार होगा? पुनः निकाय को शालि-यवादि की असत्त्व-समागता भी क्यों नहीं इष्ट है? इनके लिए सामान्य प्रज्ञप्ति का उपयोग होता है।

पुनः जिन विविध समागताओं की प्रतिपत्ति निकाय को इष्ट है, वे अन्योन्य भिन्न हैं। किन्तु सब के लिए सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति होती है:—सब समागता हैं।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि यह वैशेषिकों का 'सामान्य' पदार्थ है, किन्तु ये 'विशेष' नामक एक दूसरा द्रव्य भी मानते हैं, जिससे जाति के लिए विशेष बुद्धि और प्रज्ञप्ति होती है।

वैभाषिक कहते हैं कि उनका वाद वैशेषिकों के वाद से भिन्न है। वैशेषिक मानते हैं कि सामान्य एक पदार्थ है, जो एक होते हुए भी अनेक में वर्तमान है। वैशेषिक सामान्य और विशेष को षट् पदार्थों में संगृहीत करते हैं। उनका सामान्य नित्य और व्यापक है, बुद्ध्यपेक्ष है। [वैशेषिक सूत्र, १।२।३] समानों का भाव सामान्य है। यह तुल्यार्थता है, इसका विपर्यय विशेष है। भिन्नों में जो अभिन्न बुद्धि होती है, उसका सामान्य व्यपदेश होता है। वस्तुभूत निमित्त के बिना अभिन्न बुद्धि नहीं होती। यह निमित्त सामान्य है। सामान्य द्विविध है:—पर, अपर,। पर-सामान्य सत्ता है। अपर-सामान्य सत्ताव्यापि द्रव्यत्वादि है। सामान्य की अनुवृत्त-बुद्धि होती है। विशेष की व्यावृत्त-बुद्धि होती है। यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, इस प्रकार का अनुवृत्त प्रत्यय होने पर भी यह गुण नहीं है, यह कर्म नहीं है, ऐसा विशेष प्रत्यय होता है।

नैयायिक सामान्य का अस्तित्व मानते हैं। जाति-जातिमान् में समवाय संबन्ध है। यथा—अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् का संबन्ध समवाय है। सामान्य एक और नित्य है। सामान्य की सत्ता व्यक्ति से पृथक् है। व्यक्तियों का उत्पाद और विनाश होता है, किन्तु सामान्य (जाति) नित्य है।

वैभाषिक कहते हैं कि प्रत्येक सत्त्व में सत्त्व-समागता अन्य-अन्य होते हुए भी अभिन्न कहलाती है, क्योंकि सादृश्य है। यह एक द्रव्य है, किन्तु इसको एक और नित्य मानना वैभाषिकों की भूल है।

सौत्रान्तिक समागता का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति का मत है—"प्रत्यक्ष अपने अपने विषय के स्वलक्षण का ग्रहण है। यह निर्विकल्पक है, अतः जाति, सामान्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि यह सविकल्पक प्रत्यक्ष है, अर्थात् बुद्धयपेक्ष है, तो यह अलीक है।" इनके लिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वस्तु-सत् है, क्योंकि यह कल्पनापोढ़ है, नाम-जात्यादि से असंयुत है।

पार्थसारथि-कृत शास्त्रदीपिका में कहा है [पृ० ३८१-३८२] विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्, अलीकं वा। स्वलक्षण ही वस्तु-सत् है। सामान्य विकल्पाकारमात्र है, अतः अलीक है। सामान्य अनुमान सिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अनुमान का आलंबन विकल्प होता है।

आसंज्ञिक, दो समापत्तियाँ

आसंज्ञिक और असंज्ञि-समापत्ति—जो सत्व, असंज्ञि या असंज्ञि-देवों में उपपन्न होते हैं, उनमें एक धर्म होता है, जो चित्त-चैत्तों का निरोध करता है; और जिसे 'आसंज्ञिक' कहते हैं। इस धर्म से अनागत अध्व के चित्त-चैत्त कालान्तर के लिए संनिरुद्ध होते हैं, और उत्पत्ति का लाभ नहीं करते। यह धर्म उस धर्म के सदृश है, जो नदी-तोय का निरोध करता है, अर्थात् सेतु के सदृश है। यह धर्म एकान्ततः असंज्ञि-समापत्ति का विपाक है।

इस समापत्ति के अभ्यास के लिए योगी को चतुर्थ ध्यान में समापन्न होना चाहिये। मोक्ष की इच्छा से वह इसका अभ्यास करता है। योगी की यह मिथ्या कल्पना होती है कि आसंज्ञिक यथार्थ मोक्ष है। जो योगी इस समापत्ति का लाभी होता है, वह वैभाषिकों के अनुसार उसका पुनः उत्पादन कर असंज्ञि सत्वों में उत्पन्न होता है। केवल पृथग्जन इस समापत्ति का अभ्यास करते हैं, आर्य नहीं।

असंज्ञिदेव उपपत्ति-काल और च्युति-काल में संज्ञी होते हैं। असंज्ञि-सत्वों के लोक से च्युत हो वह अवश्य कामधातु में पुनः उपपन्न होते हैं, अन्यत्र नहीं। वस्तुतः जिसके योग से ये सत्व असंज्ञियों में उपपन्न होते हैं, उस असंज्ञि-समापत्ति के संस्कार का परिक्षय होता है। उनकी च्युति होती है, यथा—क्षीण-वेग बाण पृथ्वी पर पतित होते हैं।

निरोध-समापत्ति—यह समापत्ति असंज्ञि-समापत्ति के सदृश है। यह एक धर्म है, जो चित्त-चैत्तों का निरोध करता है। केवल आर्य इस समापत्ति की भावना करते हैं, क्योंकि वह शान्त-विहार-संज्ञा-पूर्वक मनसिकार से उसका ग्रहण करते हैं। असंज्ञि-समापत्ति की भावना मोक्ष-संज्ञा-पूर्वक मनसिकार से असंज्ञा का ग्रहण करने से सिद्ध होती है; यह भवाग्र है। असंज्ञि-समापत्ति चतुर्थ-ध्यान-भूमिक है। उसका उत्पाद दो धातुओं में से किसी में होता है।

निरोध शुभ है। इसके दो प्रकार के विपाक हैं—उपपद्य-वेदनीय या अपर-पर्याय-वेदनीय। यह 'अनियत' भी है, क्योंकि जिस योगी ने इस समापत्ति का उत्पाद किया है, वह दृष्टधर्म में निर्वाण का लाभ कर सकता है। यह समापत्ति भवाग्र के चार स्कन्ध का उत्पाद करती है। इसका लाभ वैराग्यमात्र से नहीं होता, यह प्रयोग-लभ्य है।

केवल मनुष्यों में इसका उत्पाद होता है। इसको संज्ञावेदित भी कहते हैं। इसका प्रयोग संज्ञा और वेदना के प्रतिकूल है।

विभाषा कहती है कि जो निरोध में समापन्न होता है, उसे अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, उसे जल क्लिन्न नहीं कर सकता, क्षुर उसे छिन्न नहीं कर सकता, कोई उसका घात नहीं कर सकता।

स्थविर वसुमित्र के अनुसार ये दो समापत्तियाँ और आसंज्ञिक अपरिस्फुट मनोविज्ञानवश सचित्तक हैं।

सौत्रान्तिक इनको द्रव्यतः अवधारण नहीं करते। उनका कहना है कि यह समापत्ति-चित्त है :— वह चित्त जो समापत्ति अवस्था के पूर्व का है, जो चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है। यह चित्त चित्तान्तर के विरुद्ध है। इसके कारण कालान्तर के लिए अन्य चित्तों का उत्पाद नहीं होता। समापत्ति-चित्त के कारण चित्त-निरुद्ध आश्रय या सन्तान का आपादन होता है। जिसे समापत्ति कहते हैं, वह कालान्तरके लिए चित्त की अप्रवृत्तिमात्र है। यह दो समापत्ति और आसंज्ञिक चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध नहीं है। वह द्रव्य-धर्म नहीं है, किन्तु एक प्रज्ञप्ति-धर्म है। जीवितेन्द्रिय के पूर्व संस्कृत-धर्म के लक्षण को बताते हैं।

संस्कृतधर्म के लक्षण

चार मूल लक्षण—जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता। ये चार धर्म के लक्षण हैं। जिस धर्म में ये लक्षण पाए जाते हैं, वे संस्कृत हैं। जिनमें यह नहीं पाए जाते, वे असंस्कृत हैं। जाति संस्कृतों का उत्पादन करती है। स्थिति उनकी स्थापना करती है। जरा उनका ह्रास करती है। अनित्यता उनका विनाश करती है। किन्तु सूत्र में उक्त है कि संस्कृत के तीन संस्कृत लक्षण हैं। संस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है। व्यय भी प्रज्ञात होता है। उसका स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञप्त होता है। जो लक्षण सूत्र में उक्त नहीं है, वह 'स्थिति' है। स्थित्यन्यथात्व समासान्त पद में 'स्थिति' शब्द है, किन्तु यह पद जरा का पर्याय है। यदि सूत्र केवल तीन ही लक्षणों का निर्देश करता है, तो इसका कारण यह है कि विनेयों में उद्वेग उत्पन्न करने के लिए यह उन्हीं धर्मों को संस्कृत का लक्षण निर्दिष्ट करता है, जिनके कारण संस्कृत का त्रैयध्विक संचार होता है। इसके विपरीत 'स्थिति' संस्कृत की स्थापना करती है, और उसके अवस्थान में हेतु है। इसीलिए सूत्र लक्षणों में उसकी गणना नहीं करता। पुनः असंस्कृत का भी स्वलक्षण में स्थितिभाव होता है। स्थितिलक्षण असंस्कृत की इस स्थिति के सदृश है। असंस्कृत का भी संस्कृतत्व प्रसंग न हो, इसलिए सूत्र 'स्थिति' को संस्कृत का लक्षण नहीं निर्दिष्ट करता।

सौत्रान्तिकों की यह कल्पना है कि सूत्र में स्थिति का निर्देश है। स्थिति और जरा को यह एक साथ निर्दिष्ट करता है। स्थित्यन्यथात्व = स्थिति और अन्यथात्व। इनसे लक्षणों को एक लक्षण के रूप में कहने का प्रयोजन है—यह स्थिति संगास्पद है। स्थिति में आसंग न हो, इसलिए सूत्र उसको जरा के साथ निर्दिष्ट करता है। अतः संस्कृत लक्षण चार ही हैं।

किसी धर्म की जाति, स्थिति, आदि भी संस्कृत हैं। अतः इनका उत्पाद, स्थिति, अन्यथात्व, व्यय होता है। अतः पर्याय से इनके चार लक्षण जाति-जाति, स्थिति-स्थिति आदि होते हैं, जो मूल धर्म के अनुलक्षण हैं। ये अनुलक्षण भी संस्कृत हैं। अतः इनमें से एक एक करके चार चार लक्षण होंगे।

यहाँ अपर्यवसान दोष नहीं है। जब एक मूल धर्म की उत्पत्ति होती है, तो नौ धर्मों का सहोत्पाद होता है—मूलधर्म, चार मूललक्षण चार अनुलक्षण। पूर्वोक्त चार मूललक्षण तथा चार अनुलक्षण–जाति-जाति, स्थिति-स्थिति जरा-जरा, अनित्यता-अनित्यता। मूल जाति से आठ धर्म जनित होते हैं, किन्तु जाति-जाति से केवल एक धर्म, अर्थात् मूल जाति जनित होती है। इसी प्रकार अन्य मूल लक्षण और अनुलक्षणों की यथायोग्य योजना करनी चाहिये।

चार अनुलक्षण—लक्षणों के स्वयं लक्षण होते हैं, जिन्हें अनुलक्षण कहते हैं। इनकी संख्या चार होती है, सोलह नहीं; और अनिष्ठा दोष नहीं है।

सौत्रान्तिक का मतभेद—सौत्रान्तिक लक्षणों को पृथक् पृथक् द्रव्य नहीं मानते। वे कहते हैं कि भगवान् प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्रवाह संस्कृत है। वे प्रवाह-क्षण के तीन लक्षण नहीं बताते, क्योंकि वे कहते हैं कि यह तीन लक्षण प्रज्ञप्त होते हैं। वस्तुतः अप्रज्ञायमान है। क्षण का उत्पाद या जाति का अर्थ है—प्रवाह का आरंभ। व्यय या अनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरति है। स्थिति आदि से निवृत्ति तक अनुवर्तमान प्रवाह है। स्थित्यन्यथात्व या जरा अनुवर्तमान का पूर्वापरविशेष है। पुनः उत्पाद अभूत्वा-भाव है, स्थिति प्रबन्ध है, अनित्यता प्रबन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वापर विशिष्टता है। संक्षेप में—संस्कृत धर्म का अभूत्वा-भाव होता है, भूत्वा-अभाव होता है। इन धर्मों का प्रवाह इनकी स्थिति है, प्रवाह का विसदृशत्व उनका स्थित्यन्यथात्व है। उत्पादादि द्रव्य नहीं हैं।

सर्वास्तिवादी कहते हैं कि जन्य धर्म की जनक जाति है, किन्तु हेतु-प्रत्यय के बिना नहीं; अर्थात् हेतु-प्रत्यय के सामग्र्य के बिना केवल जाति जन्य धर्म के उत्पाद का सामर्थ्य नहीं रखती। सौत्रान्तिक कहते हैं कि यदि ऐसा है, तो हेतु उत्पाद करते हैं, जाति नहीं। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि रूप में रूप-बुद्धि स्वलक्षणापेक्षा होती है। किन्तु 'रूप जात है', यह जात-बुद्धि रूपापेक्षा नहीं होती, क्योंकि 'वेदना जात है' इस वेदना का जब प्रश्न होता है, तब भी मेरी यही जात-बुद्धि होती है। अतः जाति-बुद्धि रूप-वेदना से अर्थान्तरभूत जाति-द्रव्य की अपेक्षा करती है।

सौत्रान्तिक का उत्तर है कि यह वाद आपको बहुत दूर ले जायगा। शून्यता, अनात्मत्व को युक्त सिद्ध करने के लिए आप 'शून्यम्', 'अनात्मम्' का द्रव्यतः अस्तित्व मानेंगे। पुनः एक दो महत्, अणु, पृथक्, संयुक्त, विभक्त, पर, अपर, सद्रूपादि बुद्धि की सिद्धि के लिए आप वैशेषिकों के तुल्य एक द्रव्य-परम्परा मानेंगे:—संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सत्ता आदि। आपको घट-बुद्धि सिद्ध करने के लिए एक 'घटत्व' परिकल्पित करना होगा।

जीवितेन्द्रिय

जीवित त्रैधातुक आयु है। यह एक पृथक् धर्म है। यह उष्म और विज्ञान का आधार है। यह सन्तान की स्थिति का हेतु है।

सौत्रान्तिक आयु को द्रव्य नहीं मानते। उनका कहना है कि यह एक आवेध सामर्थ्य-विशेष है जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धि-क्षण में सत्व में आहित करता है। इस सामर्थ्य-वश एक नियत काल के लिए निकाय-सभाग के स्कन्ध-प्रबन्ध का अवस्थान होता है।

नाम, पद, व्यंजन-काय

'नाम' (नाम या शब्द) से 'संज्ञाकरण' समझना चाहिये। यथा रूप, शब्द, गन्धादि शब्द।

'पद' से वाक्य का अर्थ लेते हैं, जितने से अर्थ की परिसमाप्ति होती है, यथा यह वाक्य :—संस्कार अनित्य हैं, एवमादि। अथवा पद वह है, जिससे क्रिया, गुण, काल के संबन्ध-विशेष भासित होते हैं, यथा—वह पकाता है, वह पढ़ता है, वह जाता है, वह कृष्ण है, गौर है, रक्त है; वह पकाता है, वह पकावेगा, उसने पकाया।

'व्यंजन' का अर्थ अक्षर, वर्ण, स्वर-व्यंजन है। यथा अ आ इ ई आदि।

'काय' का अर्थ समुदाय है।

सौत्रान्तिक का मतभेद—सौत्रान्तिक दोष दिखाते हैं कि यह वाग्स्वभाव हैं, और इसलिए 'शब्द' हैं। अतः यह रूप-स्कन्ध में संगृहीत हैं। चित्त-विप्रयुक्त संस्कार नहीं है।

सर्वास्तिवादी के मत में यह वाग्स्वभाव नहीं है। वाक् घोष है। और घोषमात्र से यथा क्रन्दन से अर्थ अवगत नहीं होता। किन्तु वाक् नाम में प्रवृत्त होता है। यह नाम अर्थ को द्योतित करता है, प्रतीति उत्पन्न करता है।

सौत्रान्तिक—जिसे मैं वाक् कहता हूँ, वह घोषमात्र नहीं है। किन्तु यह वह घोष है, जिसके संबन्ध में वक्ताओं में संकेत है कि यह अमुक अर्थ की प्रतीति करेगा।

जो सिद्धान्त यह मानता है कि नाम पदार्थ का द्योतक है, उसे यह मानना पड़ेगा कि 'गो' शब्द के ये भिन्न अर्थ संवृति से हैं। अतः यदि अमुक नाम से श्रोता को अमुक अर्थ द्योतित होता है, तो यह घोषमात्र है, जो उसकी प्रतीति कराता है। 'नाम' द्रव्य की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है।

सौत्रान्तिक व्यवस्थित करते हैं कि 'नाम' एक शब्द है, जिसके संबन्ध में मनुष्यों में संकेत है कि यह एक अर्थ विशेष की प्रतीति करता है।

वैभाषिक इन्हें द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सब धर्म तर्कगम्य नहीं हैं।

न्याय-वैशेषिक से तुलना

वैशेषिक-शास्त्र में 'गुण' एक पदार्थ है। यह कई प्रकार का है। यह द्रव्याश्रयी है, स्वयं गुणविशिष्ट नहीं है, और दूसरे की अपेक्षा के बिना संयोग और विभाग के उत्पादन में असमर्थ है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, संस्कारादि गुण हैं।

परिमाण—मान-व्यवहार का असाधारण कारण है। यह चार प्रकार है :—महत्, अणु, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व।

नित्य पदार्थ का परिमाण नित्य है, और अनित्य पदार्थ का अनित्य है।

संख्या—द्वित्वादि संख्या अपेक्षा-बुद्धि से प्रसूत है। यह गणना-व्यवहार का निष्पादक गुण है।

पृथक्त्व द्वारा एक वस्तु से अपर के पार्थक्य की प्रतीति होती है।

संस्कार नामक एक गुण है। वह तीन प्रकार का है :—स्थितिस्थापक, भावना और वेग। यदि हम एक वृक्ष की शाखा का आकर्षण कर छोड़ दें, तो यह स्थितिस्थापकसंस्कार गुण के योग से यथास्थान होती है। किसी विषय का आभास होने से वह मन में अवस्थान करता है, यह भावनाख्य संस्कार का फल है। एक बाण का निक्षेप करने से वह बहुत दूर जाता है, यह वेगाख्य संस्कार है।

स्थविरवादियों की २४ उपादाय रूपों की सूची में रूप लघुता, मृदुता, कर्मण्यता है। 'स्थितिस्थापक' चित्त-विप्रयुक्त संस्कार भी इन गुणों के तुल्य विशेष धर्म है, यद्यपि बौद्ध गुण-गुणी के वाद को नहीं मानते, इनमें एक प्रकार का सादृश्य है, यथा—वैशेषिकों का सामान्य और निकाय-सभागता प्रायः एक है। अन्तर इतना ही है कि वैशेषिकों का सामान्य एक और नित्य है, किन्तु वैभाषिकों का निकाय-सभाग एक और नित्य नहीं है।

न्याय-वैशेषिक जहाँ किसी का कारण नहीं बता सकते, वहाँ अदृष्ट की कल्पना करते हैं। सर्ग के आदि में जो परमाणु में कर्म होता है, वह अदृष्ट के कारण होता है। अग्नि का ऊर्ध्व-ज्वलन, वायु का तिर्यग्-गमन, सूची का अयस्कान्त के अभिमुख होना, यह सर्व अदृष्ट-विशेष के अधीन है [वैशेषिकसूत्र, ५।१।१५; ५।२।१३]। देह से मन का उत्क्रमण (अपसर्पण), देहान्तर में मन का प्रवेश (उपसर्पण), अशित-पीत का संयोग (उपचय), इन्द्रिय और प्राण का देह से संयोग अदृष्टकारित है [वैशेषिकसूत्र, ५।२।१७]। इस सूत्र पर चन्द्रकान्तकृत भाष्य कहता है कि एक दूसरा भी अदृष्ट है, जिससे पुरुष का जीवन, उत्पत्ति और मरण होता है। शरीरादि का इस प्रकार का निर्माण हो है कि उस अवस्था में ऐसा होता है। यह अदृष्ट इसलिए कहलाता है कि कारण दृष्ट नहीं है (न तत्र दृष्टं कारणमस्तीति), वस्तु-शक्ति ही इस प्रकार की है (वस्तुशक्तिरेवैतादृशी)। यह पूर्वकृत कर्म का फल है। यह अदृष्ट उसका है, जिसका इस गमन से हित या अहित होता है। न्यायसूत्र [३।२।६८] के अनुसार भी अदृष्ट कर्म-फल है। इस कर्म-फल का योग, अर्थात् अदृष्ट-जन्य सुख-दुःख का मानस प्रत्यक्ष ही दर्शन है। दर्शनार्थ शरीर की सृष्टि होती है। जब हम किसी का कारण नहीं जानते हैं, तो हम उसे स्वाभाविक कहते हैं [न्यायमंजरी में जयन्त]। इसी प्रकार सर्वास्तिवादी इसे 'धर्मता' कहते हैं, अर्थात् वस्तुओं का ऐसा ही धर्म है, स्वभाव है, शक्ति है। वे कहते हैं कि धर्मों की शक्ति अचिन्त्य है। यह नियत भी है।

न्यायभाष्य [३।२।६८] में किसी दर्शनकार के मत से 'अदृष्ट' परमाणुओं का गुण-विशेष है। यह अदृष्ट परमाणु-क्रिया का हेतु है। इस अदृष्ट से प्रेरित परमाणु-समूह परस्पर संयुक्त हो शरीर का उत्पादन करता है। इसी अदृष्ट से मन की क्रिया उत्पन्न होती है। मन अपने अदृष्ट से प्रेरित हो उस शरीर में प्रवेश करता है। तब समनस्क शरीर में द्रष्टा सुख-दुःख की उपलब्धि करता है।

हेतु-फल-प्रत्ययता का वाद

सर्व धर्म जो उत्पन्न होते हैं, पाँच हेतुओं से और चार प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर, पुरुष, प्रधानादिक एक कारण से जगत् की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्य धर्मों को जनित करने के लिए जाति, हेतु और प्रत्ययों के सामग्र्य की अपेक्षा रहती है।

यह हेतु-प्रत्यय क्या हैं? प्रत्यय चार हैं:—हेतु-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, आलंबन-प्रत्यय, अधिपति-प्रत्यय। हेतु षड्विध है:—कारण-हेतु, सहभू-हेतु, सभाग-हेतु, संप्रयुक्तक-हेतु, सर्वत्रग-हेतु, विपाक-हेतु।

पहले हम प्रत्ययता का विचार करेंगे।

प्रत्यय

स्थविरवाद में छः हेतु, पाँच फल का उल्लेख नहीं है। विभाषा [१६।८] में उक्त है कि यह सत्य है कि ये छः हेतु सूत्र में उक्त नहीं हैं। सूत्र में केवल इतना उक्त है कि चार प्रत्ययता (प्रत्यय-प्रकार) हैं। जो धर्म जिस धर्म की उत्पत्ति या स्थिति में उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, संभव, प्रभव आदि का एक ही अर्थ है।

१. हेतु-प्रत्यय—मूल का अधिवचन है। जो हेतुभाव से उपकारक धर्म है, वह हेतु-प्रत्यय है, जब एक धर्म दूसरे का प्रत्यक्ष-हेतु होता है, तो वह हेतु-प्रत्यय होता है। कारण-हेतु को वर्जित कर शेष पांच हेतु हेतु-प्रत्यय हैं। यथा—शालि-बीज शालि का हेतु-प्रत्यय है, कुशलादि भाव साधक कुशलादि का। हेतु और प्रत्यय के परस्पर के संबन्ध में विभाषा के प्रथम आचार्य कहते हैं—१. हेतु-प्रत्यय में कारण-हेतु को वर्जित कर पाँच हेतु संगृहीत हैं। २. कारण-हेतु में अन्य तीन प्रत्यय संगृहीत हैं। द्वितीय आचार्य कहते हैं—१. हेतु-प्रत्यय में पाँच हेतु संगृहीत हैं। २. कारण-हेतु केवल अधिपति-प्रत्यय के अनुरूप है। इस सिद्धान्त को वसुबन्धु स्वीकार करते हैं। महायान के आचार्यों के लिए सभाग-हेतु हेतु-प्रत्यय और अधिपति दोनों है, अन्य पाँच हेतु अधिपति-प्रत्यय हैं।

२. समनन्तर-प्रत्यय—अर्हत् के निर्वाण काल के चरम चित्त और चैत्त को वर्जित कर अन्य सब उत्पन्न चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं। यह प्रत्यय समनन्तर कहलाता है, क्योंकि यह सम और अनन्तर धर्मों का उत्पाद करता है। केवल चित्त-चैत्त समनन्तर हैं, क्योंकि अन्य धर्मों के लिए, यथा—रूपी धर्मों के लिए, हेतु और फल में समता नहीं है। चित्त-नियम पूर्व-पूर्व चित्त के कारण समृद्ध होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए एक दूसरे के अनन्तर अनुरूप चित्तों-

त्पाद के उत्पादन में समर्थ धर्म समनन्तर-प्रत्यय है। प्रत्येक चैतसिक कलाप की स्थिति एक क्षण की होती। जब यह कलाप निरुद्ध होता है, तब अन्य उसके स्थान में उत्पन्न होता है। पूर्व कलाप उत्तर कलाप के कारित्र को अभिसंस्कृत करता है, अर्थात् उसके आकार को निश्चित करता है। किन्तु यह उसका हेतु-प्रत्यय नहीं है, क्योंकि उत्तर कलाप का समुत्थान क्लेश-कर्मवश होता है। अतः नये कलाप का हेतु-प्रत्यय कर्म या अनुशय है, और पूर्ववर्ती कलाप उसका समनन्तर-प्रत्यय है। चित्त-प्रवाह के उत्तरोत्तर चित्तों में अधिक समानता और आनन्तर्य होता है, रूपी धर्मों में नहीं। अतः रूपी धर्म समनन्तर-प्रत्यय नहीं होते। वस्तुतः कामावचर-रूप के अनन्तर कदाचित् दो रूप कामावचर-रूप, और रूपावचर-रूप उत्पन्न होते हैं। कदाचित् कामावचर और अनास्रव ये दो रूप उत्पन्न होते हैं, किन्तु कामावचर-चित्त के अनन्तर कामावचर और रूपावचर चित्त कभी युगपत् नहीं उत्पन्न होते। रूपों का संमुखीभाव आकुल है, किन्तु समनन्तर-प्रत्यय आकुल-फल नहीं प्रदान करता। अतः रूपी धर्म समनन्तर-प्रत्यय नहीं है।

सामान्यतः पूर्व चैत्त केवल स्वजाति के चैत्तों के नहीं, किन्तु अपर चैत्तों के भी समनन्तर-प्रत्यय हैं; किन्तु स्वजाति में अल्प से बहुतर की, और विपर्यय से बहुतर से अल्प की उत्पत्ति नहीं होती। यह 'समनन्तर' सम और अनन्तर इस शब्द को युक्त सिद्ध करता है।

रूपी धर्मों के समान चित्त-विप्रयुक्त-संस्कारों का व्याकुल संमुखीभाव है, अतः वह समनन्तर प्रत्यय नहीं है। वस्तुतः कामावचर प्राप्ति के अनन्तर त्रैधातुक और अप्रतिसंयुक्त (अनास्रवादि) धर्मों की प्राप्तियों का युगपत् संमुखीभाव होता है। अनागत धर्मों के समनन्तर-प्रत्ययत्व का प्रतिषेध करते हैं। अनागत धर्म व्याकुल हैं। अनागत अध्व में पूर्वोत्तर का अभाव है, अतः भगवान् कैसे जानते हैं कि अमुक अनागत धर्म की पूर्वोत्पत्ति होगी, अमुक की पश्चात् होगी ?

यत्किंचित् यावत् अपरान्त उत्पन्न होता है, उन सबके उत्पत्ति के क्रम को वह जानते हैं। बुद्ध-गुण और बुद्ध-गोचर अज्ञेय है। सौत्रान्तिकों के अनुसार भगवान् सर्व वस्तु को अपनी इच्छा के अनुसार प्रत्यक्षतः—न कि अनुमानतः, या निमित्ततः—जानते हैं। दूसरे कहते हैं कि अतीत और साम्प्रत के अनुमान से उनका ज्ञान होता है। अन्य आचार्यों के अनुसार सत्वों की सन्तान में अनागत में उत्पन्न होने वाले फलों का एक चिह्न-भूत (लिंग) धर्म होता है, वह चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार विशेष है। भगवान् उसका ध्यान करते हैं, और अनागत-फल को जानते हैं।

३. आलंबन-प्रत्यय—आलंबन भाव से उपकारक धर्म आलंबन-प्रत्यय है। सब धर्म, संस्कृत और असंस्कृत, चित्त-चैत्त के आलंबन-प्रत्यय हैं, किन्तु अनियत रूप से नहीं। यथा—सब रूप चक्षुर्विज्ञान और तत्संप्रयुक्त वेदनादि चैत्त के आलंबन हैं। शब्द श्रोत्र-विज्ञान का आलंबन है। सब धर्म मनोविज्ञान और तत्संप्रयुक्त चैत्त के आलंबन हैं।

जब एक धर्म एक चित्त का आलंबन होता है, तो ऐसा नहीं होता कि यह धर्म किसी क्षण में इस चित्त का आलंबन न हो। अर्थात्—यद्यपि चक्षुर्विज्ञान रूप को आलंबन रूप में

ग्रहण नहीं करता, तथापि यह आलंबन है; क्योंकि—चाहे इसका ग्रहण आलंबन रूप में हो या न हो, इसका स्वभाव वही रहता है, यथा—इन्धन इन्धन है, यद्यपि वह प्रदीप्त न हो।

४. अधिपति-प्रत्यय—प्रत्येक धर्म अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे धर्म को प्रभावित करता है। कारण-हेतु अधिपति-प्रत्यय कहलाता है। दो दृष्टियों से 'अधिपति-प्रत्यय' संज्ञा युक्त है। अधिपति-प्रत्यय वह प्रत्यय है, जो बहुधर्मों का है, और जो बहुधर्मों का पति है (अधिकोऽयं प्रत्ययः, अधिकत्व वा प्रत्ययः)। सर्व धर्म मनोविज्ञान के आलंबन-प्रत्यय हैं। किसी चित्त के सहभू-धर्म उस चित्त के सदा आलंबन नहीं होते, किन्तु वह उसके कारण-हेतु होते हैं। अतः कारण-हेतु होने से, न कि आलंबन-प्रत्यय होने से, सब धर्म अधिपति-प्रत्यय हैं। स्वभाव को वर्जित कर सब संस्कृत-धर्म सब धर्म के कारण-हेतु हैं। कोई भी धर्म किसी भी नाम से स्वभाव का प्रत्यय नहीं होता। स्थविरवाद के अनुसार अधिपति 'ज्येष्ठ' के अर्थ में है। जिस जिस धर्म के गुरुभाव से जिन जिन अरूप धर्मों की प्रवृत्ति होती है, वह वह धर्म उन उन धर्मों के अधिपति-प्रत्यय हैं। जब छन्द को आगे करके चित्त प्रवृत्त होता है, तब छन्द अधिपति होता है, अन्य चैतसिक नहीं। छन्द, वीर्य, चित्त, मीमांसा संख्यात चार धर्म, अधिपति-प्रत्यय हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि इन दो अर्थों में बड़ा अन्तर है।

प्रत्ययों का अध्वगत एवं धर्मगत कारित्र

अध्वगत—प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत इनमें से किस अवस्था में वे धर्म अवस्थान करते हैं, जिनके प्रति विविध प्रत्यय अपना कारित्र करते हैं?

हम पहले हेतु-प्रत्यय की समीक्षा करते हैं। प्रत्युत्पन्न धर्म में दो हेतु कारित्र करते हैं। यह सहभू-हेतु और संप्रयुक्त-हेतु हैं। ये सहोत्पन्न धर्म में अपना कारित्र करते हैं। अनागत धर्म में तीन हेतु—सभाग*, सर्वत्रग*, विपाक* कारित्र करते हैं।

समनन्तर* अनागत धर्म में अपना कारित्र करता है, यथा—अनागत धर्म में तीन हेतु अपना कारित्र करते हैं। एक क्षण के चित्त-चैत्त उत्पन्न चित्त-चैत्तों को अवकाश देते हैं।

आलंबन-प्रत्यय प्रत्युत्पन्न धर्म में अपना कारित्र करता है, यथा—प्रत्युत्पन्न धर्म में दो हेतु कारित्र करते हैं। ये प्रत्युत्पन्न धर्म चित्त-चैत्त हैं। ये आलंबक हैं, जो वर्तमान हो वर्तमान आलंबन का ग्रहण करते हैं। अधिपति-प्रत्यय का कारित्र केवल इतना है कि यह अनावरणभाव से अवस्थान करता है। यह वर्तमान, अतीत, अनागत धर्म में आवरण नहीं करता।

धर्मगत—विविध प्रकार के धर्म कितने प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं?

चित्त और चैत्त चार प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। इसमें एक अपवाद है। असंज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में आलंबन का ज्ञान नहीं होता। अतः इन इन समापत्तियों में आलंबन-प्रत्यय को वर्जित करना चाहिये। इन दो समापत्तियों की उत्पत्ति चित्ताभिसंस्कार से होती है, अतः इनका समनन्तर-प्रत्यय है। यह समापत्ति चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है। अतः ये व्युत्थान-चित्त के समनन्तर-प्रत्यय नहीं हैं, यद्यपि ये उसके निरन्तर हैं।

अन्य चित्त-विप्रयुक्त संस्कार और रूपी धर्म हेतु-प्रत्यय और अधिपति* के कारण उत्पन्न होते हैं।

रूपी धर्मों के संबन्ध में इतना विशेष कहना है कि महाभूत और भौतिक कैसे परस्पर हेतु-प्रत्यय होते हैं। पृथ्वी-धातु आदि चार भूत, भूत-चतुष्क के सभाग-हेतु और सहभू-हेतु हैं। भूत-चतुष्ट्य रूप, रसादि भौतिकों के पाँच प्रकार से हेतु हैं—जनन-हेतु, निश्रय-हेतु, उपस्तम्भ-हेतु, उपबृंहण-हेतु। भौतिक भतों से उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर भूत का अनुविधान करते हैं। भूतों का आधार लेते हैं। पुनः भूत भौतिकों के अनुच्छेद और वृद्धि में हेतु हैं। अतः भूत भौतिकों के जन्म-हेतु, विकार-हेतु, आधार-हेतु, स्थिति-हेतु, और वृद्धि-हेतु हैं।

भौतिक भौतिकों के तीन प्रकार से हेतु हैं—सहभू*, सभाग* और विपाक-हेतु। हम कारण-हेतु का उल्लेख नहीं करते, क्योंकि सब धर्म सब धर्मों के कारण-हेतु हैं।

१. चित्तानुपरिवर्त्ति काय-वाक् कर्म जो भौतिक हैं, और संवर प्रकार के हैं (ध्यान-संवर और अनास्रव*) सहभू-हेतु हैं।

२. सब उत्पन्न भौतिक सभाग-भौतिकों के सभाग-हेतु हैं।

३. काय-वाक्-कर्म विपाक-हेतु हैं। चक्षु-कर्म विपाकादि से उत्पादित होता है।

भौतिक एक प्रकार से भूतों के हेतु हैं। काय-वाक् कर्म भूतों का विपाक-फल के रूप में उत्पाद करते हैं।

स्थविरवाद के अनुसार प्रत्यय

स्थविरवाद के अनुसार २४ प्रत्यय हैं।

१. हेतु-प्रत्यय—वह धर्म है, जो मूलभाव से उपकारक है। यह धर्मों को सुप्रतिष्ठित करता है, यथा—शालि का शालि-बीज।

२. आलंबन*—वह धर्म है, जो आलंबनभाव से उपकारक है, यथा—रूपायतन चक्षु-विज्ञान-धातु का आलंबन* है।

३. अधिपति*—वह धर्म है, जो गुरुभाव से उपकारक है। जब छन्द, अग्र और ज्येष्ठ होकर चित्त प्रवृत्त होता है, तब छन्द अधिपति* होता है। दूसरा चैतसिक नहीं।

४. अनन्तर*—वह धर्म है, जो अनन्तर भाव से उपकारक है।

५. समनन्तर*—वह धर्म है, जो समनन्तरभाव से उपकारक है। ये दोनों एक हैं, नाम का भेद है, अर्थ में भेद नहीं है। यथा—चक्षुर्विज्ञान-धातु मनोधातु का अनन्तर* है। चक्षुर्विज्ञान-धातु के अनन्तर मनोधातु, मनोधातु के अनन्तर मनोविज्ञान-धातु, यह चित्त-नियम है। यह नियम पूर्व-पूर्व चित्त के कारण समृद्ध होता है, अन्यथा नहीं। अतः अपने अपने अनन्तर अनुरूप चित्तोत्पाद के उत्पादन में समर्थ धर्म अनन्तर* है।

६. सहजात*—वह धर्म है, जो सहोत्पादभाव से उपकारक है। यथा—प्रकाश का प्रदीप सहजात* है। चार अरूपी स्कन्ध एक दूसरे के सहजात-प्रत्यय हैं, इसी प्रकार चार

महाभूत हैं। चित्त-चैतसिक धर्म चित्त-समुत्थान रूप के सहजात-प्रत्यय हैं, महाभूत उपादाय रूप के हैं। रूपी धर्म अरूपी धर्मों के कभी सहजात* होते हैं, कभी नहीं।

७. **अन्योन्य***—वह धर्म है, जो उत्पाद उपष्टम्भभाव से उपकारक है, यथा—त्रिदण्ड, जो एक दूसरे का उपष्टम्भक है। चार अरूपी स्कन्ध अन्योन्य-प्रत्यय है। चार महाभूत अन्योन्य-प्रत्यय हैं।

८. **निश्रय***—वह धर्म है, जो अधिष्ठान के आकार में उपकार है, यथा—वृक्ष का निश्रय-प्रत्यय पृथ्वी है, चित्र का पट है, चक्षुरायतन चक्षुर्विज्ञान-धातु का निश्रय-प्रत्यय है।

६. **उपनिश्रय***—वह धर्म है, जो बलवत्कारणभाव से उपकारक है। 'उप' का अर्थ 'भृशम्' है। यह तीन प्रकार का है :—आलंबनोपनिश्रय, अनन्त-रूप-निश्रय, प्रकृत्युपनिश्रय।

१. जिस आलंबन को गुरु कर चित्त-चैतसिक की उत्पत्ति होती है, वह आलंबन बलवत् होता है। यथा—दान देकर, शील का समादान कर, उपोसथ कर्म कर, उसको गुरु समझता है। यह आलंबनोपनिश्रय है।

२. पश्चिम चित्त के उत्पादन में पूर्व चित्त की अनन्तरूपनिश्रयता है। पूर्व पूर्व कुशल-स्कन्ध पश्चिम-पश्चिम कुशल स्कन्धों के अनन्तरूपनिश्रय हैं। यह बलवत्-प्रत्यय है।

३. प्रकृत्युपनिश्रय वह धर्म है, जो प्रकृतिभाव से उपनिश्रय है। अपनी सन्तान में निष्पादित श्रद्धा-शीलादि या उपसेवित ऋतु-भोजनादि प्रकृति है, यथा—श्रद्धा के निश्रय लेकर दान देना, शील का समादान करना'''इत्यादि।

१०. **पूर्वजात***—वह धर्म है, जो प्रथमतर उत्पन्न होकर वर्तमानभाव से उपकारक है, यथा—चक्षुरायतन चक्षुर्विज्ञान* का पुरेजात-प्रत्यय है।

११. **पश्चात्-जात***—वह अरूप धर्म है, जो पूर्वजात रूप धर्मों का उपस्तम्भकभाव से उपकारक है। पश्चाजात चित्त-चैतसिक धर्म पूर्वजात काय के पश्चाज्जात-प्रत्यय हैं।

१२. **आसेवन***—वह धर्म है, जो अनन्तरों का प्रगुणभाव से उपकारक धर्म है।

१३. **कर्म***—चित्त-प्रयोग संख्यात क्रियाभाव से उपकारक धर्म है। चेतना-संप्रयुक्त धर्मों का और तत्समुत्पन्न रूपों का कर्म-प्रत्यय है।

१४ **विपाक***—निरुत्साह शान्तभाव का उपकारक धर्म है। चार विपाक स्कन्ध अरूपी के विपाक-प्रत्यय हैं।

१५. **आहार***—इस काय का कवड़ीकार आहार, आहार-प्रत्यय है। अरूपी-आहार संप्रयुक्त-धर्मों के आहार-प्रत्यय हैं।

१६. **इन्द्रिय***—स्त्री-पुरुषेन्द्रिय को वर्जित कर शेष २० इन्द्रिय अधिपति रूप से उपकारक हैं।

१७. **ध्यान***—वह ध्यानवश उपकारक धर्म है।

१८. **मार्ग***—मार्गाङ्ग निर्याण के लिए उपकारक है।

१६. संप्रयुक्त°—संप्रयुक्तभाव से उपकारक धर्म।

२०. विप्रयुक्त°—विप्रयुक्तभाव से उपकारक धर्म।

२१. अस्ति°—प्रत्युत्पन्न लक्षणवश अस्तिभाव से तादृश धर्म का उपष्टम्भन करता है।

२२. नास्ति°—यह समनन्तर निरुद्ध अरूप धर्म है, जो अनन्तर उत्पद्यमान अरूप धर्मों को प्रवृत्ति का अवकाश देता है।

२३. विगत°—यह विगतभाव से उपकारक है। समनन्तर विगत चित्त-चैतसिक प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिकों का विगत-प्रत्यय हैं।

२४. अविगत°—अस्ति-प्रत्यय धर्म ही अविगतभाव से उपकारक है।

इन चौबीस प्रत्ययों को छः प्रकार से संगृहीत करते हैं—

१. नाम (अरूपी धर्म) का नाम से संबन्ध।

२. नाम का नाम-रूप से संबन्ध।

३. नाम का रूप से संबन्ध।

४. रूप का नाम से संबन्ध।

५. प्रज्ञप्ति का नाम से संबन्ध।

६. नाम-रूप का नाम से संबन्ध।

अन्तिम दो केवल अभिधम्मत्थसंगहो में है।

१. अनन्तर-निरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्मों के अनन्तर°, समनन्तर°, नास्ति°, विगत°, प्रत्ययवश प्रत्यय हैं। पूर्व चित्त-चैतसिक धर्म पश्चिम चित्त-चैतसिक के आसेवनवश प्रत्यय हैं। सहजातधर्म संप्रयुक्तवश अन्योन्य-प्रत्यय हैं।

२. तीन अकुशल-हेतु और तीन कुशल-हेतु में से कोई सहजात चित्त-चैतसिक और रूप के प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार सात ध्यान के अंग, बारह मार्गाङ्ग नाम-रूप के प्रत्यय होते हैं। सहजात चेतना सहजात नामरूप का प्रत्यय होती है। नानाक्षणिका चेतना कर्मवश कर्म से अभिनिर्वृत्त नाम-रूप का प्रत्यय होती है। विपाक-स्कन्ध विपाकवश सहजात रूप के अन्योन्य-प्रत्यय हैं।

३. पूर्वजात काय का पश्चाज्जात चित्त-चैतसिक धर्म पश्चाज्जात-प्रत्यय हैं।

४. पूर्वजात°वश रूप नाम का प्रत्यय होता है। यथा—चक्षुवस्तु चक्षुर्विज्ञान-धातु का।

५. आलंबन° और उपनिश्रय° वश प्रज्ञप्ति-नामरूप नाम के प्रत्यय होते हैं।

६. अधिपति°, सहजात°, अन्योन्य°, निश्रय°, आहार°, इन्द्रिय°, विप्रयुक्त°, अस्ति°, अविगत°, वश नाम-रूप नाम के प्रत्यय होते हैं।

हेतु

१. कारण-हेतु—कोई धर्म अपना कारण-हेतु नहीं है। सब धर्म स्वतः से अन्य सब संस्कृत धर्मों के कारण-हेतु हैं, क्योंकि उत्पत्तिमान् धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्नभाव से अवस्थान होता है। यह नहीं है कि उन सबका कारकभाव है। इस लक्षण से

यह परिणाम निकलता है कि सहभू-हेतु आदि धर्म भी कारण-हेतु हैं। अन्य हेतु कारण-हेतु के अन्तर्गत हैं। जिस हेतु का कोई विशेष नाम नहीं है, जो बिना किसी विशेषण के कारणमात्र है, वह कारण-हेतु है। एक विशेष नाम के योग से यह वह नाम पाता है, जो सब हेतुओं के उपयुक्त है।

कारण-हेतु का निर्देश हमने किया है। वह सामान्य निर्देश है, और उसमें प्रधान कारण-हेतु तथा अप्रधान कारण-हेतु दोनों संगृहीत हैं। प्रधान कारण-हेतु जनक है। इस अर्थ में चक्षु और रूप चक्षुर्विज्ञान के कारण-हेतु हैं, यथा—आहार शरीर का कारण-हेतु है, बीजादि अंकुरादि के कारण-हेतु हैं।

निर्वाण भी कारण-हेतु हो सकता है। एक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, निर्वाण उसका आलंबन है, पश्चात् इस मनोविज्ञान से एक चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, अतः चक्षुर्विज्ञान के प्रति निर्वाण का परम्परया सामर्थ्य है।

२. सहभू-हेतु—जो धर्म परस्पर पुरुषकार-फल [२।५८] हैं, वे सहभू-हेतु कहलाते हैं। यह नहीं कहते कि सब सहभू धर्म सहभू-हेतु हैं। यथा—नीलादि भौतिक रूप महाभूतों का सहभू है, किन्तु यह उनका सहभू-हेतु नहीं है।

यथा—महाभूत अन्योन्य के सहभू-हेतु हैं, यथा—चित्त और चित्तानुवर्ती, यथा—जाति आदि लक्षण और वह धर्म जो उनका लक्ष्य है।

सब संस्कृत धर्म यथायोग सहभू-हेतु हैं। जिन धर्मों का अन्योन्यफलत्व है, उन्हीं का सहभू-हेतुत्व है। सब संस्कृत धर्म और उसके लक्षण एक दूसरे के सहभू-हेतु हैं, किन्तु एक धर्म अन्य धर्म के लक्षणों का सहभू-हेतु नहीं है।

पूर्व लक्षण सावशेष है। एक धर्म अपने अनुलक्षणों का सहभू-हेतु है, किन्तु इसका उनके साथ अन्योन्य-फल-संबन्ध नहीं है, क्योंकि अनुलक्षण अपने धर्म के सहभू-हेतु नहीं हैं।

चित्तानुपरिवर्ती कौन हैं? सब चित्त-संप्रयुक्त धर्म, ध्यान-संवर और अनास्रव-संवर, इन सबके और चित्त के जात्यादिलक्षण चित्तानुपरिवर्ती हैं।

अनुवर्ती चित्त से कालतः संप्रयुक्त हैं, चित्त के साथ इनका एकोत्पाद, एक स्थिति, एक निरोध है, यह और चित्त एक अध्व में पतित हैं। अनुवर्ती के उत्पाद, स्थिति, और निरोध का काल वही है, जो चित्त का है। किन्तु उनकी उत्पत्ति पृथक् है।

अनुवर्ती चित्त से फलादितः संप्रयुक्त हैं। यहाँ फल पुरुषकार-फल और विसंयोग-फल है। 'आदि' से विपाक-फल और निष्यन्द-फल का ग्रहण होता है। एक फल, एक विपाक, एक निष्यन्द से वह चित्त का अनुपरिवर्तन करते हैं।

अनुवर्ती चित्त से शुभादितः संप्रयुक्त है। जिस चित्त का वह अनुपरिवर्तन करते हैं, उसी के सदृश कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं।

सर्वाल्पचित्त ५८ धर्मों का सहभू-हेतु है, अर्थात्—१. दश महाभूमिक और प्रत्येक के चार चार लक्षण, २. चार स्वलक्षण और चार अनुलक्षण।

यदि इन ५८ धर्मों में से चित्त के चार अनुलक्षणों को वर्जित कर दें, जिनका इस चित्त में कोई व्यापार नहीं है, तो ५४ धर्म शेष रहते हैं, जो उक्त चित्त के सहभू-हेतु होते हैं।

प्रत्येक धर्म जो सहभू-हेतु से हेतु है, सहभू है। किन्तु ऐसे सहभू हैं, जो सहभू-हेतु नहीं हैं।

१. मूल धर्म के अनुलक्षण इस धर्म के सहभू-हेतु नहीं हैं।

२, यह अनुलक्षण अन्योन्य के सहभू-हेतु नहीं हैं।

३. चित्तानुपरिवर्ती के अनुलक्षण चित्त के सहभू-हेतु नहीं हैं।

४. यह अन्योन्य के सहभू-हेतु नहीं हैं।

५. नीलादि भौतिक रूप जो सप्रतिघ और सहज हैं, अन्योन्य के सहभू-हेतु नहीं हैं।

६. अप्रतिघ और सहज उपादाय रूप का एक भाग परस्पर सहभू-हेतु नहीं है। दो संवरों को वर्जित करना चाहिये।

७. सर्व उपादाय-रूप यद्यपि भूतों के साथ उत्पन्न हुआ हो, भूतों का सहभू-हेतु नहीं है।

८. प्राप्तिमान् धर्म के साथ सहोत्पाद होने पर भी सहज प्राप्ति उसका सहभू-हेतु नहीं होती।

यह आठ प्रकार के धर्म सहभू हैं, किन्तु सहभू-हेतु नहीं हैं।

सहभू-हेतुत्व पर सौत्रान्तिक मत-भेद—सौत्रान्तिक सहभू-हेतुत्व की आलोचना करते हैं। वह कहते हैं कि लोक में कुछ का हेतु-फल-भाव सदा सुव्यवस्थापित है, हेतु फल का पूर्ववर्ती है, इसलिए बीज अंकुर का हेतु है, अंकुर काण्ड का हेतु है,···इत्यादि। किन्तु सहोत्पन्न अर्थों में यह न्याय नहीं देखा जाता। अतः आप को सिद्ध करना होगा कि सहभू धर्मों का हेतु-फल-भाव होता है। सर्वास्तिवादी अपने मत के समर्थन में दो दृष्टान्त देते हैं। प्रदीप सप्रभ उत्पन्न होता है, आतप में उत्पद्यमान अंकुर सच्छाय उत्पन्न होता है। किन्तु प्रदीप सहोत्पन्न-प्रभा का हेतु है, अंकुर छाया का हेतु है। अतः हेतु-फल सहोत्पन्न हैं।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि यह दृष्टान्त असिद्ध है। इसका संप्रधारण होना चाहिये कि प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है, अथवा जैसा कि हमारा मत है, वर्तिस्नेहादिक पूर्वोत्पन्न हेतु-प्रत्यय-सामग्री सप्रभ प्रदीप की उत्पत्ति में हेतु है, यथा—पूर्वोत्पन्न हेतु-सामग्री (बीज आतपादि) अंकुर और छाया की उत्पत्ति में, सच्छाय अंकुर की उत्पत्ति में हेतु है।

सर्वास्तिवादी—हेतु-फल-भाव इस प्रकार व्यवस्थापित होता है। हेतु का भाव होने पर फल का भाव होता है। हेतु का अभाव होने पर फल का अभाव होता है। हेतुविद् का लक्षण सुष्ठु है। जब 'क' के भाव-अभाव से 'ख' का भाव-अभाव नियमतः होता है, तब 'क' हेतु है, 'ख' हेतुमान् है। इस प्रकार यदि हम सहभू-धर्म और सहभेतु-धर्म का संप्रधारण

करते हैं, तो हम देखते हैं कि एक का भाव होने पर सबका भाव होता है, और एक का अभाव होने पर सबका अभाव होता है। अतः उनका परस्पर हेतु-फल-भाव युक्त है।

सौत्रान्तिक—हम मानते हैं कि सहोत्पन्न धर्मों में एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु हो सकता है। चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है, किन्तु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु और फल कैसे होंगे?

सर्वास्तिवादी—हमने जो हेतु-फल-भाव का निर्देश किया है, उससे अन्योन्य हेतु-फल-भाव व्यवस्थापित होता है। जब चित्त का भाव होता है, तब चैत्तों का भाव होता है और अन्योन्य।

सौत्रान्तिक—किन्तु उस अवस्था में सर्वास्तिवादी को अपने सिद्धान्त को बदलना होगा। वास्तव में उन्होंने उपादाय-रूप के अन्योन्य हेतु-फल-भाव का निषेध किया है, यद्यपि रूप का रस के बिना अस्तित्व नहीं होता। उन्होंने उपादाय-रूप और महाभूतों के अनुलक्षण और चित्त के अन्योन्य हेतु-फल-भाव का प्रतिषेध किया है।

सर्वास्तिवादी—यथा त्रिदण्ड का अन्योन्य-बल से अवस्थान होता है, उसी प्रकार सहभू चित्त-चैत्तादि का हेतु-फल-भाव सिद्ध है।

सौत्रान्तिक—इस नये दृष्टान्त की मीमांसा होनी चाहिये। प्रश्न है कि क्या त्रिदण्ड का अवस्थान सहोत्पन्न तीन दण्डों के बल से होता है, अथवा क्या जिस प्रकार पूर्व सामग्रीवश उनका सहभाव होता है, उसी प्रकार पश्चात् अन्योन्याश्रित का उत्पाद नहीं होता? पुनः अन्योन्य-बल के अतिरिक्त अन्य किंचित् भी यहाँ होता है—सूत्रक, शंकुक, धारिका पृथिवी।

किन्तु सर्वास्तिवाद का कहना है कि सहभू के हेतु से अन्य हेतु भी होते हैं, अर्थात् सभाग-हेतु, सर्वत्रग-हेतु, विपाक-हेतु जो सूत्रकादि स्थानीय हैं। अतः सहभू-हेतु सिद्ध है।

३. सभाग-हेतु—सदृश धर्म सभाग-हेतु है। सभाग सभाग के सभाग-हेतु हैं। पाँच कुशल-स्कन्ध पाँच कुशल-स्कन्ध के सभाग-हेतु हैं।

एक निकाय-सभाग में प्रथम गर्भावस्था दश अवस्थाओं का सभाग-हेतु है। प्रत्येक अवस्था का पूर्व क्षण इस अवस्था के अपर क्षणों का सभाग-हेतु है। समानजातीय अनन्तर निकाय-सभाग में पूर्वजन्म की प्रत्येक दश अवस्थाओं का सभाग-हेतु है। यव, व्रीहि, आदि बाह्य अर्थों का भी ऐसा ही है। सभाग-हेतुत्व स्वसन्तान में ही होता है। यव का सभाग-हेतु है, शालि का नहीं।

सब सभाग-धर्म सभाग-धर्मों के सभाग-हेतु नहीं हैं। वे सभाग-धर्म सभाग-हेतु हैं, जो स्वनिकाय और स्वभूमि के हैं। स्वभूमि का नियम केवल सास्रव धर्मों के लिए है, अनास्रव-धर्मों के लिए नहीं है। धर्म पाँच निकायों में विभक्त हैं; यथा—वह चार सत्यों में से एक एक के दर्शन से हेय हैं, या भावना-हेय हैं। धर्मों की नौ भूमियां हैं, वे काम-धातु के हैं। चार ध्यानों में से किसी एक के हैं, या चार आरूप्यों में से किसी एक के हैं। दुःख-दर्शन-

द्वेष-धर्म दुःख धर्म का सभाग-हेतु है। अन्य चार निकायों के धर्मों का नहीं है। दुःख धर्मों में जो काम-धातु का है, वह काम-धातु के धर्म का सभाग-हेतु है···एवमादि।

वस्तुतः केवल वह धर्म सभाग-हेतु हैं, जो अग्रज हैं। पूर्वोत्पन्न (अग्रज) अतीत पश्चात् उत्पन्न अतीत सभाग-धर्म का सभाग-हेतु है। पूर्वोत्पन्न, प्रत्युत्पन्न, पश्चात् उत्पन्न, सभाग-धर्म सभाग-हेतु है। अग्रज अतीत-प्रत्युत्पन्न, पश्चात्-उत्पन्न अनागत सभाग-धर्मों का सभाग-हेतु है। किन्तु अनागत-धर्म सभाग-हेतु नहीं है। इस विषय में ऐकमत्य नहीं है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वभूमि का नियम अनास्रवधर्मों के लिए नहीं है। नव-भूमिक मार्ग अन्योन्य का सभाग-हेतु है। मार्ग इस अर्थ में नवभूमिक हैं कि योगी समापत्ति की इन नौ अवस्थाओं में—अनागम्य, ध्यानान्तर, चार मूल ध्यान, प्रथम तीन अधर आरूप्य में विहार कर मार्ग की भावना कर सकता है। तुल्य-भूमि-भेद में मार्ग-धर्म मार्ग-धर्म में सभाग-हेतु हैं। वस्तुतः इन भूमियों में मार्ग आगन्तुक सा है, यह भूमियों के धातुओं में पतित नहीं है।

कामावचर, रूपावचर, आरूप्यावचर तृष्णा मार्ग को स्वीकृत नहीं करती। चाहे जिस भूमि का संनिश्रय लेकर योगी मार्ग की भावना करता हो, मार्ग समानजातीय रहता है, अतः मार्ग मार्ग का सभाग-हेतु है।

सर्व मार्ग सर्व मार्ग का सभाग-हेतु नहीं होता। जिस भूमि में इसकी भावना होती है, उसका संप्रधारण नहीं करना है किन्तु मार्ग के स्वलक्षणों का विचार करना है। मार्ग सम या विशिष्ट मार्ग का सभाग-हेतु है, न्यून मार्ग का नहीं, क्योंकि मार्ग सदा प्रयोगज है।

अतीत या प्रत्युत्पन्न दुःखे-धर्म उसी (प्रथम क्षण) प्रकार की अनागत क्षान्ति का सभाग-हेतु होता है, तब कार्यमार्ग कारणमार्ग के सम होता है। यह क्षान्ति द्वितीय क्षण का सभाग-हेतु होती है, तब कार्यमार्ग कारणमार्ग से विशिष्ट होता है, एवमादि यावत् अनुत्पाद-ज्ञान, जो अपना विशिष्ट न होने से केवल सम मार्ग का सभाग-हेतु हो सकता है। प्रयोगज लौकिक धर्म सम या विशिष्ट धर्मों के सभाग-हेतु हैं, हीन धर्मों के नहीं। प्रायोगिक धर्म श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय हैं। ये उपपत्तिप्रति-लंभिक धर्मों के प्रतिपक्ष हैं। प्रायोगिक होने से ये हीन के सभाग-हेतु नहीं होते। कामावचर श्रुतमय धर्म कामावचर श्रुतमय और चिन्तामय धर्मों के सभाग-हेतु हैं, भावनामय धर्मों के नहीं, क्योंकि काम-धातु में भावनामय का अभाव होता है, क्योंकि कोई भी धर्म स्वधातु के धर्मों का ही सभाग-हेतु होता है। रूपावचर-श्रुतमयधर्म रूपावचर-श्रुतमय और भावनामय धर्मों के सभाग-हेतु हैं, चिन्तामय धर्मों के नहीं; क्योंकि इस धातु में जब चिन्तन आरंभ करते हैं, तब समाधि उपस्थित होती है। रूपावचर-भावनामय धर्म रूपावचर भावनामय धर्मों के सभाग-हेतु हैं, रूपावचर श्रुतमय धर्मों के नहीं; क्योंकि यह हीन है, एवमादि।

४. संप्रयुक्तक-हेतु—केवल चित्त और चैत्त जिनका अभिन्न आश्रय है, संप्रयुक्तक-हेतु हैं। भिन्न कालज, भिन्न सन्तानज चित्त-चैत्त संप्रयुक्तक-हेतु नहीं हैं। यथा—चक्षुरिन्द्रिय का एक

चक्षु एक चक्षुर्विज्ञान तथा विज्ञान-संप्रयुक्त वेदना और अन्य चैत्तों का आश्रय है। जो संप्रयुक्तक-हेतु हैं, वह सहभू-हेतु भी है। इन दो हेतुओं में क्या भेद है? धर्म सहभू-हेतु कहलाते हैं, क्योंकि वे अन्योन्य-फल हैं। यथा—सहसार्थिकों का मार्ग-प्रयाण परस्पर बल से होता है; इसी प्रकार चित्त चैत्त का फल है, चैत्त चित्त का फल है। धर्म संप्रयुक्तक-हेतु कहलाते हैं, क्योंकि उनकी सम-प्रवृत्ति होती है; अर्थात् उनमें पूर्वनिर्दिष्ट पाँच समता—आश्रय, आलंबन, आकार, काल, द्रव्य-समता—होती हैं। सहसार्थिकों की यात्रा अन्योन्य बल से होती है, पुनः उनकी सम-अन्नपानादिपरिभोग-क्रिया होती है। इसी प्रकार चित्त और चैत्त के अभिन्न आश्रय, अभिन्न आकारादि होते हैं। यदि पाँच समताओं में से किसी एक का भी अभाव हो, तो उनकी समप्रवृत्ति नहीं होती और वह संप्रयुक्त नहीं होते।

५. सर्वत्रग-हेतु—ग्यारह अनुशय 'सर्वत्रग' कहे गए हैं, क्योंकि ये अपने धातु को साकल्यतः आलंबन बनाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्वत्रग युगपत् सकल स्वधातु को आलंबन बनाते हैं, किन्तु पंच-प्रकार (निकाय) का धातु इनका आलंबन होता है। ये ग्यारह अनुशय इस प्रकार हैं:—दुःखदर्शनप्रहेय पांच दृष्टियां, समुदयदर्शन-प्रहेय मिथ्या° दृष्टि°, दुःख-समुदयप्रहेय अविद्या-द्वय।

पूर्व सर्वत्रग स्वभूमिक पश्चिम क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रग-हेतु हैं। सर्वग क्लिष्ट धर्म के ही सामान्य कारण हैं। ये निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मों के भी हेतु हैं। इनके प्रभाव से अन्य निकायों में उत्पन्न क्लेश सपरिवार उत्पन्न होते हैं। अतः सभाग-हेतु से पृथक् इनकी व्यवस्था होती है। सर्वत्रग सर्व-क्लेश निकायों को प्राप्त होते हैं, सर्वभाक् होते हैं, सबको आलंबन बनाते हैं।

यह हेतु सभाग-हेतु से अधिक व्यापक है, क्योंकि यह स्वनिकाय में सीमित नहीं है।

६. विपाक-हेतु—अकुशल-धर्म और कुशलसास्रव-धर्म विपाक-हेतु हैं। ये केवल विपाक-हेतु हैं, क्योंकि इनकी विपक्ति की प्रकृति है। अव्याकृत धर्मों में स्वशक्ति का अभाव होता है। वे दुर्बल हैं, अतः वे विपाक-हेतु नहीं हैं। अनास्रव धर्मों में सहकारि-कारण नहीं होता। वह तृष्णा से अभिष्यन्दित नहीं है, अतः वह विपाक-हेतु नहीं है, यथा—सारबीज बल से अभिष्यन्दित न होने पर अंकुर की अभिनिर्वृत्ति नहीं करते। पुनः अनास्रव धर्म किसी धातु में प्रतिसंयुक्त नहीं है। जो धर्म अव्याकृत और अनास्रव नहीं हैं, वे उभय प्रकार से अर्थात् स्वबल अर्थात् तृष्णाभिष्यन्द से अन्वित होते हैं, और विपाक को निर्वृत्त करते हैं, यथा—अभिष्यन्दित सार-बीज।

'विपाक' का अर्थ है 'विसदृश पाक'। केवल विपाक-हेतु एक विसदृश पाक ही प्रदान करता है। सहभ, संप्रयुक्तक, सभाग, सर्वत्रग हेतु के पाक सदृश ही होते हैं। कारण-हेतु का फल सदृश या विसदृश होता है। केवल विपाक-हेतु नित्य विसदृश-फल देता है, क्योंकि विपाक-हेतु कभी अव्याकृत नहीं होता, और उसका फल सदा अव्याकृत होता है।

वस्तुतः कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक जिनका फल विचित्र है, दूसरे जिनका फल अविचित्र है, बाह्य बीजवत्।

एकाध्विक कर्म का विपाक त्रैयध्विक होता है, किन्तु विपर्यय नहीं होता; क्योंकि फल हेतु से अति न्यून नहीं होता। एकक्षणिक-कर्म का विपाक बहुक्षणिक हो सकता है, किन्तु उसी कारण से विपर्यय ठीक नहीं है। कर्म के साथ विपाक विपच्यमान नहीं होता, क्योंकि जिस क्षण में कर्म का अनुष्ठान होता है, उस क्षण में विपाक-फल का आस्वादन नहीं होता। कर्म के अनन्तर भी विपाक नहीं होता, क्योंकि समनन्तर क्षण समनन्तर-प्रत्यय से आकृष्ट होता है। वस्तुतः विपाक-हेतु अपने फल के लिए प्रवाहापेक्ष है।

सर्वत्रग-हेतु और सभाग-हेतु दो अध्व के होते हैं। शेष तीन हेतु त्र्यध्वक हैं। अतीत प्रत्युत्पन्न धर्म सर्वत्रग सभाग-हेतु हो सकते हैं। अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्म संप्रयुक्तक, सहभू और विपाक-हेतु हो सकते हैं। सर्वाध्वग संस्कृत-धर्म कारण-हेतु हैं। असंस्कृत-धर्म अध्व-विनिर्मुक्त हैं।

फल

वह कौन फल हैं, जिनके ये पूर्वोक्त हेतु हैं ? किन फलों के कारण ये हेतु अवधारित होते हैं ?

संस्कृत और विसंयोग फल हैं। विसंयोग-फल निर्वाण है। यह एक असंस्कृत है। यह अहेतुक है। इसका फल नहीं है, किन्तु यह कारण-हेतु है, और फल है। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि केवल संस्कृत के हेतु-फल होते हैं, असंस्कृत के हेतु और फल नहीं होते; क्योंकि षड्विध हेतु और पंचविध फल असंस्कृत के लिए असंभव है। यदि ऐसा है तो विसंयोग फल कैसे है ? यह किसका फल है ? यह मार्ग का फल है, क्योंकि इसकी प्राप्ति मार्ग-बल से होती है। दूसरे शब्दों में योगी मार्ग से विसंयोग की प्राप्ति का प्रतिलाभ करते हैं, अतः विसंयोग का प्रतिलाभ, उसकी प्राप्ति मार्ग का फल है। विसंयोग स्वयं फल नहीं है, क्योंकि मार्ग का सामर्थ्य विसंयोग की प्राप्ति के प्रति है। विसंयोग के प्रति उसका असामर्थ्य है।

हेतु के आधार पर फल-निर्वृति की व्यवस्था—अब हम बताते हैं कि किस प्रकार के हेतु से किस प्रकार का फल निर्वृत होता है।

विपाक विपाक-हेतु का फल है। विपाक कुशल या अकुशल सास्रव धर्मों से उत्पादित होता है। हेतु कुशल या अकुशल है, किन्तु फल सदा अव्याकृत है, क्योंकि यह फल स्वहेतु से भिन्न है, और 'पाक' है, इसलिए इसे 'विपाक' कहते हैं।

भाजन-लोक सत्व-समुदाय के कुशल-अकुशल कर्मों से जनित है। यह अव्याकृत है, किन्तु यह विपाक नहीं है, क्योंकि विपाक एक सत्व-संख्यात धर्म है। अतः यह कारणहेतुभूत कर्मों का **अधिपति-फल** है। कारण-हेतु से अधिपति-फल निर्वृत होता है।

किन्तु यह कहा जायगा कि अनावरण-भावमात्रावस्थान ही कारण-हेतु है। इसको 'अधिपति' कैसे मान सकते हैं ? कारण-हेतु या तो 'उपेक्षक' है, उस अवस्था में इसे अधिपति अवधारण करते हैं; क्योंकि इसका अनावरणभाव है। अथवा यह 'कारक' है, और

इसे अधिपति मानते हैं, क्योंकि इसका प्रधानभाव, जनकभाव और अंगीभाव है, यथा—दश आयतन (रूपादि और चक्षुरादि) पंच विज्ञानकाय की उत्पत्ति में अधिपति है, और सत्वों के समुदित कर्म का भाजन-लोक के प्रति अंगीभाव है। श्रोत्र का चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में पारंपर्येण आधिपत्य है, क्योंकि सुनकर द्रष्टुकामता की उत्पत्ति होती है,···एवमादि।

निष्यन्द° सभाग और सर्वत्रग-हेतु का फल है, क्योंकि इन दो हेतुओं का फल स्वहेतु के सदृश है। अतः इन दो हेतुओं से निष्यन्द-फल निर्वृत होता है।

पुरुषकार° (पौरुष-फल) सहभू-हेतु और संप्रयुक्तक-हेतु का फल है। पुरुषकार पुरुषभाव से व्यतिरिक्त नहीं है, क्योंकि कर्म कर्मवान् से अन्य नहीं है।

जिस धर्म का जो कारित्र है, वह उसका पुरुषकार कहलाता है, क्योंकि वह पुरुषकार के सदृश है। एक मत के अनुसार विपाक-हेतु को छोड़कर अन्य हेतुओं का भी यही फल होता है। वस्तुतः यह फल सहोत्पन्न है, या समनन्तरोत्पन्न है; किन्तु विपाक-फल ऐसा नहीं है। अन्य आचार्यों के अनुसार विपाक-हेतु का एक विप्रकृष्ट पुरुषकार-फल भी होता है।

अब भिन्न फलों के लक्षण का विचार करते हैं।

विपाक एक अव्याकृत धर्म है। यह सत्वाख्य है। यह उत्तरकाल में व्याकृत से उत्पन्न होता है। अकुशल और कुशल सास्रव कर्म से उत्तरकाल में युगपत् या अनन्तर नहीं। जो होता है, वह विपाक-फल है। विपाक-फल स्वकीय है, जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है, उसके विपाक-फल का भोग दूसरा नहीं करता।

हेतुसदृश-फल निष्यन्द कहलाता है। सभाग-हेतु और सर्वत्रग-हेतु यह हेतु-द्वय निष्यन्द-फल प्रदान करते हैं। सर्वत्रग-हेतु का फल १. भूमितः सदा हेतु 'सदृश है, २. क्लिष्टतया हेतु-सदृश है, किन्तु प्रकारतः उसका हेतु से सादृश्य नहीं है। प्रकार (निकाय) से अभिप्राय प्रहाण-प्रकार से है :—दुःखादिसत्यदर्शन प्रहातव्य। किन्तु जिसका प्रकारतः भी सादृश्य होता है, वह सर्वत्रग-हेतु सभाग-हेतु भी अभ्युपगत होता है। अतएव चार कोटि हैं :—

१. असर्वत्रग सभाग-हेतु—यथा रागादिक स्वनैकायिक क्लेश का सभाग-हेतु है। सर्वत्रग-हेतु नहीं है।

२. अन्य नैकायिक सर्वत्रग-हेतु—सर्वत्रग क्लेश अन्य नैकायिक क्लेश का सर्वत्रग-हेतु है, सभाग-हेतु नहीं है।

३. एक नैकायिक सर्वत्रग-हेतु—सर्वत्रग क्लेश एक नैकायिक क्लेश का सभाग-हेतु और सर्वत्रग-हेतु है।

४. इन आकारों को वर्जितकर अन्य धर्म न सभाग-हेतु हैं और न सर्वत्रग-हेतु।

विसंयोग° या विसंयोग-फल क्षय (निरोध) है, जो प्रज्ञा से प्रतिलब्ध होता है। अतः विसंयोग प्रतिसंख्या-निरोध है।

जिस धर्म के बल से जो उत्पन्न होता है, वह धर्म उसका पुरुषकार-फल है। यह धर्म संस्कृत है। दृष्टान्त—उपरिभूमिक समाधि अधर-भूमिक तत्प्रयोग चित्त का पुरुषकार-फल है।

प्रतिसंख्या को पुरुषकार-फल अवधारित करते हैं, किन्तु इस फल के लक्षण निरोध में नहीं घटते, क्योंकि नित्य होने से वह उत्पन्न नहीं होता। अतः हम कहते हैं कि यह उस धर्म का पुरुषकार-फल है, जिसके बल से प्रतिसंख्या प्राप्त होती है।

पूर्वोत्पन्न से अन्य सर्व संस्कृत धर्म संस्कृत धर्मों का अधिपति-फल है।

कर्ता का पुरुषकार-फल है। अधिपति-फल कर्ता और अकर्ता दोनों का है। यह दोनों में विशेष है। यथा—शिल्पकारक शिल्पी का पुरुषकार और अधिपति है। अशिल्पी का यह केवल अधिपति-फल है।

पाँच हेतु वर्तमान अवस्था में फल-ग्रहण करते हैं। दो वर्तमान अवस्था में फल-प्रदान करते हैं। दो वर्तमान और अतीत प्रदान करते हैं। एक अतीत प्रदान करता है। एक धर्म फल का प्रतिग्रहण करता है, जब यह बीजभाव को उपगत होता है। एक धर्म फल का दान उस काल में करता है, जब वह इस फल को उत्पन्न होने का सामर्थ्य प्रदान करता है, अर्थात् जिस क्षण में उत्पादाभिमुख अनागत फल को यह धर्म वह बल देता है, जिससे वह वर्तमानावस्था में प्रवेश करता है।

पाँच हेतु वर्तमान होकर अपने फल का प्रतिग्रहण करते हैं। कारण-हेतु का उल्लेख नहीं है, क्योंकि यह हेतु अवश्यमेव सफल नहीं है। दो हेतु वर्तमान होकर अपना फल प्रदान करते हैं। वर्तमान सहभू-हेतु और संप्रयुक्तक ही फल प्रदान करते हैं। वस्तुतः यह दो हेतु एक काल में फल का प्रतिग्रहण और दान करते हैं।

दो हेतु—सभाग और सर्वत्रग—वर्तमान और अतीत अवस्था में फल-प्रदान करते हैं। वर्तमानावस्था में वह कैसे निष्यन्द-फल प्रदान करते हैं? हम ऊपर कह चुके हैं कि यह हेतु अपने फल से पूर्व होते हैं। ऐसा इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह फल का समनन्तर निर्वर्तन करते हैं। जब उनके फल की निर्वृत्ति होती है, तब वह अभ्यतीत होते हैं। वह पूर्व ही फल-प्रदान कर चुके हैं। वह पुनः उसी फल को नहीं देते। हम पाँच फलों का विचार कर चुके हैं।

पाश्चात्य आचार्यों के अन्य चार फल—पाश्चात्य आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त पांच फलों से भिन्न चार फल हैं।

१. प्रतिष्ठा-फल—जलमण्डल वायुमण्डल का प्रतिष्ठा-फल है। और एवमादि यावत् औषधिप्रभृति महा पृथिवी का प्रतिष्ठा-फल है।

२. प्रयोग-फल—अनुत्पादज्ञानादि अशुभादि का प्रयोग-फल है।

३. सामग्री-फल—चक्षुर्विज्ञान चक्षु, रूप, आलोक और मनस्कार का सामग्री-फल है।

४. भावना-फल—निर्माण चित्त ध्यान का भावना-फल है। सर्वास्तिवादी के अनुसार इन चारों फलों में से प्रथम अधिपति-फल में अन्तर्भूत है। अन्य तीन पुरुषकार-फल में संगृहीत हैं।

लोक-धातु

लोक-धातु तीन हैं—कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु।

कामधातु का अर्थ काम-संप्रयुक्त-धातु है। कामधातु के अन्तर्गत चार गति साकल्येन है, देवगति का एक प्रदेश है, और भाजनलोक है। भाजनलोक में सत्व निवास करते हैं।

चार गति ये हैं—नरक, प्रेत, तिर्यक् और मनुष्य। बुद्धघोष के अनुसार असुर-काय भी एक गति है। नरक (निरय), प्रेत, और तिर्यक् अपाय-भूमि है। कामधातु में छः देव-निकाय हैं। मनुष्य और छः देवनिकाय काम-सुगति-भूमि हैं।

छः देवनिकाय इस प्रकार हैं :—चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, और परनिर्मितवशवर्ती नरक-द्वीप भेद से कामधातु में बीस स्थान हैं :-आठ नरक, चार द्वीप, छः देवनिकाय, प्रेत, और तिर्यक्।

आठ नरक ये हैं :—संजीव, काल-सूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन, अवीचि।

चार द्वीप ये हैं :—जम्बु, पूर्व-विदेह, अवरगोदानीय, और उत्तरकुरु। अतः अवीचि से परनिर्मितवशवर्ती तक बीस स्थान होते हैं। बुद्धघोष की सूची में नरक-भेद परिगणित न कर केवल ग्यारह प्रदेश हैं।

कामधातु से ऊर्ध्व रूपधातु के सोलह स्थान हैं। इस धातु में चार ध्यान हैं। स्थविर-वादियों के अनुसार चार या पाँच ध्यान होते हैं। चतुर्थ से अन्यत्र प्रत्येक ध्यानलोक त्रिभूमिक है। चतुर्थ ध्यान अष्टभूमिक है। रूपधातु में रूप है, किन्तु यह धातुकाय से वियुक्त है। आरूप्यधातु में स्थान नहीं है। वस्तुतः अरूपी धर्म अदेशस्थ हैं, किन्तु उपपत्तिवश यह चतुर्विध है :—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (भवाग्र)। उपपत्ति से कर्म-निर्वृत्त जन्मान्तर की स्कन्ध-प्रवृत्ति समझना चाहिये। एक ही क्रम से इन विविध आयतनों का लाभ नहीं होता। यह आयतन एक दूसरे से ऊर्ध्व हैं, किन्तु इनमें देशकृत उत्तर और अधर भाव नहीं है। जिस स्थान में समापत्ति से समन्वागत आश्रय का मरण होता है, उस स्थान में उक्त उपपत्ति की प्रवृत्ति होती है।

अभिधर्मकोश में इन विविध भूमियों का सविस्तर वर्णन है। हम यह वर्णन न देंगे, किन्तु हमको यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रतीत्य-समुत्पाद का सब लोकों पर प्रभाव है। सब गतियाँ कर्मवश होती हैं। जिस प्रकार बीज से अंकुर और पत्र होते हैं, उसी प्रकार क्लेशवश कर्म और वस्तु होते हैं। भवचक्र अनादि है। लोकों का विवर्तन-संवर्तन होता रहता है। जब सत्वों के सामुदायिक कर्म क्षीण होते हैं, तब भाजनलोक का क्षय होता है। पुनः जब आक्षेपक कर्मवश अनागत भाजनलोक के प्रथम निमित्त प्रादुर्भूत होते हैं, तब वायु की वृद्धि होती है, और पीछे सर्व भाजन की उत्पत्ति होती है।

प्रत्येक कल्प में बुद्ध का प्रादुर्भाव होता है। उनका उत्पाद सत्वों का निर्वाण में प्रवेश कराने के लिए होता है। एक ही समय में दो बुद्ध नहीं उत्पन्न होते। सूत्रवचन है कि यह स्थान है कि लोक में दो तथागत युगपत् हों। एक भगवत् सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं। जहाँ एक

भगवत् सत्वों को विनीत करने में प्रयुक्त नहीं है, वहाँ अन्य भगवत् प्रयुक्त नहीं होते। कुछ निकायों के अनुसार बुद्ध युगपत् होते हैं, किन्तु एकत्र नहीं होते, भिन्न लोकधातुओं में होते हैं। लोक-धातु अनन्त हैं। सर्व लोक-धातु में विचरना कठिन है। अतः अपना कार्य करने के लिए भिन्न लोक-धातुओं में कई तथागत एक साथ हो सकते हैं।

यहाँ प्रश्न यह है कि संवर्त और विवर्त के बीच के काल में क्या होता है? संवर्तनी का यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजन का एक भी परमाणु अवशिष्ट नहीं रहता। किन्तु वैशेषिक कहते हैं कि परमाणु नित्य हैं, और इसलिए जब लोक-धातु का नाश होता है, तब यह अवशिष्ट रहते हैं। वास्तव में इनका कहना है कि यदि अन्यथा होता तो स्थूल शरीर की उत्पत्ति अहेतुक होती। वसुबन्धु का उत्तर है कि अपूर्व लोक-धातु का बीज वायु है। यह वायु आधिपत्य विशेष से युक्त होता है। इन विशेषों का प्रभव सत्वों के कर्म से होता है, और इस वायु का निमित्त अविनष्ट रूपावचर वायु है। वैशेषिक कहते हैं कि बीज केवल निमित्त-कारण हैं, समवायिकारण नहीं हैं। उनके अनुसार अंकुर के जनन में इसके अन्यत्र कि यह अंकुर के परमाणुओं का उपसर्पण करता है, बीज का कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। इसके प्रतिकूल बौद्ध मानते हैं कि बीज में ऐसी शक्ति है, जो अंकुर-काण्डादि के स्थूल भावों को उत्पन्न करती है।

अनुशय

कर्म अनुशय वश उपचित होते हैं। अनुशयों के बिना कर्म पुनर्भव के अभिनिवर्तन में समर्थ नहीं होते। भव का मूल अर्थात् पुनर्भव या कर्मभव का मूल अनुशय है। अनुशय अणु हैं। यह अनुसक्त होते हैं। क्लेशों के समुदाचार के पूर्व इनका प्रचार दुर्विज्ञेय है। अतः यह अणु हैं। यह आलंबनतः और संप्रयोगतः अनुशयन करते हैं, अर्थात् प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं, या पुष्टि-लाभ करते हैं। इनका निरन्तर अनुबन्ध होता है, क्योंकि बिना प्रयोग के और प्रतिनिवारित होने पर भी इनका पुनः संमुखीभाव होता है। अनुशय हरण करते हैं, अतः इन्हें ओघ कहते हैं। अनुशय आश्लिष्ट करते हैं, अतः इन्हें योग कहते हैं। अनुशय उप-ग्रहण करते हैं, अतः इन्हें उपादान कहते हैं। अनुशयों से चित्त-सन्तति विषयों में क्षरित होती है, अतः अनुशय आस्रव हैं। ये बन्धन हैं, संयोजन हैं। अनुशय छः हैं:—राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि और विमति। यह छः राग-भेद से सात होते हैं। राग दो प्रकार के हैं:—काम-राग और भव-राग। पाँच रूपी इन्द्रियों के रूपशब्दादि आलंबनों में राग 'काम-राग' है। रूपधातु और आरूप्यधातु के प्रति जो राग होता है, वह भव-राग कहलाता है, क्योंकि इनकी अन्तर्मुखी वृत्ति है। और इस संज्ञा की व्यावृत्ति के लिए भी कि यह दो धातु मोक्ष हैं, इसे भव-राग कहते हैं। इन अनुशयों में से कुछ दर्शन-हेय हैं और कुछ भावना-हेय।

क्षान्ति, ज्ञान तथा दर्शन-दृष्टि

'क्षान्ति' का अर्थ क्षमण, रुचि है। यह 'क्षान्ति' क्षान्ति-पारमिता से भिन्न है। यह सत्य-दर्शन-मार्ग में संगृहीत अनास्रव क्षान्तियों से संबन्ध रखती है, किन्तु यह सास्रव, लौकिक है।

'क्षान्ति' संज्ञा इसलिए है, क्योंकि इस अवस्था में अधिमात्र सत्य रुचते हैं। क्षान्तियों का वर्धन धर्मस्मृत्युपस्थान से ही होता है, अन्य स्मृत्युपस्थानों से नहीं होता। अधिमात्रक्षान्ति का श्लेष अग्रधर्मों से होता है, अतः इसका विषय केवल कामाप्त-दुःख है। लौकिक अग्रधर्मों से एक अनास्रव धर्म क्षान्ति की उत्पत्ति होती है। यथार्थ में एक धर्म-ज्ञान-क्षान्ति लौकिकाग्रधर्मों के अनन्तर होती है। इसका आलंबन काम-दुःख है। अतः उसे 'दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति' कहते हैं। यह वह क्षान्ति है, जो धर्म-ज्ञान का उत्पाद करती है, जिसका उद्देश्य और फल धर्म-ज्ञान है, यह क्षान्ति नियाम में अवक्रमण है, क्योंकि यह सम्यक्त्व अर्थात् निर्वाण के नियम में अवक्रमण है। 'नियाम' का अर्थ एकान्तीभाव है। इसका लाभ 'अवक्रमण' कहलाता है। इस प्राप्ति के एक बार उत्पन्न होने पर योगी आर्य-पुद्गल होता है। उत्पद्यमान अवस्था में यह क्षान्ति पृथग्जनत्व का व्यावर्तन करती है। 'दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति' के अनन्तर ही एक धर्म-ज्ञान की उत्पत्ति होती है, जिसका आलंबन कामाप्त-दुःख है। उसे 'दुःखे धर्मज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान अनास्रव है। यथा—कामधातु के दुःख के लिए एक धर्म-ज्ञान-क्षान्ति और एक धर्म-ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शेष दुःख के लिए एक अन्वय-क्षान्ति और एक अन्वय-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। धर्म-ज्ञान नाम का व्यवहार इसलिए है कि प्रथमतः दुःखादि धर्मतत्त्व का ज्ञान योगी को होता है। अन्वय-ज्ञान का व्यवहार इसलिए है कि धर्म-ज्ञान इसका हेतु है (तदन्वय-तद्धेतुक)। ज्ञान दश हैं। किन्तु संक्षेप में ज्ञान दो प्रकार का है—सास्रव और अनास्रव। सब ज्ञान ज्ञान के इन दो प्रकारों के अन्तर्गत हैं। इन दो ज्ञानों में से पहला 'संवृत' कहलाता है। सास्रव-ज्ञान 'लोक-संवृति-ज्ञान' कहलाता है, क्योंकि प्रायेण यह ज्ञान संवृति-सद्-वस्तु का आलंबन ग्रहण करता है। अनास्रव ज्ञान दो प्रकार का है—धर्म-ज्ञान और अन्वय-ज्ञान। इन दो ज्ञानों को और पूर्वोक्त ज्ञान को संगृहीत कर तीन ज्ञान होते हैं—लोक-संवृति-ज्ञान, धर्म-ज्ञान, और अन्वय-ज्ञान। इनमें सांवृत का गोचर सब धर्म है, अर्थात् सब संस्कृत एवं असंस्कृत धर्म संवृति-ज्ञान के विषय हैं। जो ज्ञान 'धर्म' कहलाता है, उसके विषय कामधातु के दुःखादि हैं। धर्म-ज्ञान का गोचर कामधातु का दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्ति है। अन्वय-ज्ञान का गोचर ऊर्ध्व भूमियों का दुःखादि है, अर्थात् रूपधातु और अरूपधातु के दुःखादि अन्वय-ज्ञान के विषय हैं। यह दो ज्ञान सत्यभेद से चतुर्विध हैं, अर्थात् दुःख-ज्ञान, समुदय-ज्ञान, निरोध-ज्ञान, मार्ग-ज्ञान। यह दो ज्ञान जो चतुर्विध हैं, क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान कहलाते हैं। जब योगी अपने से कहता है कि मैंने दुःख को भली प्रकार परिज्ञात किया है, समुदय का प्रहाण किया है, निरोध का संमुखीभाव किया है, मार्ग की भावना की है, तब इससे जो ज्ञान, जो दर्शन, जो विद्या, जो बोधि, जो प्रज्ञा, जो आलोक, जो विपश्यना उत्पन्न होती है, वह क्षय-ज्ञान कहलाता है। जब योगी अपने से कहता है कि मैंने दुःख को भली भाँति परिज्ञात किया है, और अब फिर परिज्ञेय नहीं है, इत्यादि, तो जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुत्पाद-ज्ञान कहलाता है (मूलशास्त्र)। इन ज्ञानों के अतिरिक्त परचित्त-ज्ञान भी है। इस प्रकार दश ज्ञान ये हैं—लोक-संवृति-ज्ञान, धर्म-ज्ञान, अन्वय-ज्ञान, परचित्त-ज्ञान, दुःख-ज्ञान, समुदय-ज्ञान, निरोध-ज्ञान, मार्ग-ज्ञान,

क्षय-ज्ञान, अनुत्पाद-ज्ञान। स्वभावतः संवृति-ज्ञान है, क्योंकि वह परमार्थ-ज्ञान नहीं है। प्रतिपक्षतः धर्म और अन्वय-ज्ञान है। पहला कामधातु का प्रतिपक्ष है, दूसरा ऊर्ध्व धातुओं का प्रतिपक्ष है। आकारतः दुःख-ज्ञान और समुदय-ज्ञान हैं। इन दो ज्ञानों का आलंबन एक ही (पंचोपादान-स्कन्ध) है, किन्तु आकार भिन्न हैं। आकार गोचरतः निरोध-ज्ञान और मार्ग-ज्ञान हैं। यह दो ज्ञान आकार और आलंबनवश व्यवस्थित होते हैं। इनके आकार और आलंबन दोनों भिन्न हैं। प्रयोगतः परचित्त-ज्ञान है। कृतकृत्यतः क्षय-ज्ञान है। कृतकृत्य के सन्तान में यह ज्ञान पहले उत्पन्न होता है, हेतु विस्तरतः अनुत्पाद-ज्ञान है, क्योंकि सब अनास्रव-ज्ञान जो क्षय-ज्ञान में संगृहीत हैं, इसके हेतु हैं।

ज्ञानमय गुणों में पहले बुद्ध के आवेणिक धर्मों का निर्देश है। ये बुद्ध के विशेष धर्म हैं। दूसरे अर्हत् होकर भी उनकी प्राप्ति नहीं करते। ये अट्ठारह हैं:—दश बल, चार वैशारद्य, तीन स्मृत्युपस्थान और महाकरुणा। बुद्ध के अन्य धर्म शैक्ष या पृथग्जन को सामान्य हैं। ये अरणा, प्रणिधि-ज्ञान, प्रति-संवित्, अभिज्ञा आदि हैं।

———

षोडश अध्याय

सौत्रान्तिक नय

सौत्रान्तिक आख्या पर विचार

सौत्रान्तिक वे हैं, जो केवल बुद्धवचन को, अर्थात् सूत्रान्तों को प्रमाण मानते हैं। ये कात्यायनीपुत्रादि शास्त्रकारों द्वारा रचित अभिधर्म के ग्रन्थों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। ये अभिधर्मशास्त्र को बुद्धोक्त नहीं मानते। अभिधर्मकोश की व्याख्या में कहा है [पृ० ११, पंक्ति ३०]—"ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकाः", अर्थात् सौत्रान्तिक सूत्र को प्रमाण मानते हैं, शास्त्र को नहीं। आभिधार्मिक कहते हैं कि शास्ता बुद्ध ने धर्म-प्रविचय के लिए अभिधर्म का उपदेश किया है। वे प्रश्न करते हैं कि यदि शास्त्र प्रमाण नहीं है, तो त्रिपिटक की व्यवस्था कैसे होगी। सूत्र में त्रिपिटक का पाठ है। अभिधर्म का व्याख्यान भगवान् द्वारा प्रकीर्ण है—(स तु प्रकीर्ण उक्तो भगवता)। और जिस प्रकार स्थविर धर्मत्रात ने भिन्न भिन्न सूत्रों में उक्त उदानों का वर्गीकरण उदानवर्ग में किया है, उसी प्रकार स्थविर कात्यायनीपुत्रादि ने ज्ञानप्रस्थानादि शास्त्रों में भगवान् द्वारा उपदिष्ट अभिधर्म को एकत्र किया है।

सौत्रान्तिकों को सूत्रनिकायाचार्य भी कहते हैं [अभिधर्मकोश, २।२२६]। इस वाद के प्रतिष्ठापक तक्षशिला के कुमारलात कहे जाते हैं। तथा इसके अन्य प्रसिद्ध आचार्य भदन्त, राम, श्रीलात, वसुवर्मा आदि हैं। भदन्त का उल्लेख विभाषा में है। यह भदन्त कौन हैं, इस संबन्ध में मतभेद पाया जाता है। भगवद्विशेष का कहना है कि यह स्थविर धर्मत्रात हैं, किन्तु अभिधर्मकोश की व्याख्या में इस मत का खण्डन किया गया है। व्याख्याकार यशोमित्र कहते हैं कि भदन्त एक स्थविर का नाम है, जो सौत्रान्तिक हैं। व्याख्याकार का कहना है कि विभाषा के अनुसार भदन्त सौत्रान्तिक-दर्शनावलम्बी हैं, जब कि धर्मत्रात अतीत-अनागत के अस्तित्व को मानते हैं, और सर्वास्तिवाद के चार मतों में से 'भावान्यथात्व' के वाद को स्वीकार करते हैं। पुनः विभाषा में भदन्त धर्मत्रात अपने नाम से उल्लिखित हैं [व्याख्या, पृ० ४४, पंक्ति १५–२२]। व्याख्या [पृ० २३२, पंक्ति २८४; पृ० ६७३, पंक्ति १०; पृ० ६६४, पंक्ति ६] में बार-बार भदन्त को सौत्रान्तिक बताया गया है। विभाषा में कुमारलात और श्रीलात का कोई उल्लेख नहीं है। ताकाकुसू का कहना है कि विभाषा में सौत्रान्तिकों का उल्लेख केवल एक बार आया है। विभाषा 'दार्ष्टान्तिकों' से अवश्य परिचित है। विभाषा के अनुसार इनके प्रायः वही सिद्धान्त हैं, जो अभिधर्मकोश के अनुसार सौत्रान्तिकों के हैं। अभि-

धर्मकोश की व्याख्या के अनुसार दार्ष्टान्तिक सौत्रान्तिक हैं, या सौत्रान्तिक-विशेष हैं [व्याख्या पृ० ३६२, पंक्ति २१–दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिकाः; पृ० ४०० पंक्ति १७–दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिक-विशेषाः]। तिब्बती पंडितों के अनुसार दोनों एक हैं। इस वाद का नाम दार्ष्टान्तिक क्यों पड़ा, यह ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग इनका संबन्ध कुमारलात के ग्रन्थ 'दृष्टान्तपंक्ति' से जोड़ते हैं। कुछ का कहना है कि दृष्टान्तों का प्रयोग करना इसकी विशेषता है, इस कारण इसका नाम 'दार्ष्टान्तिक' पड़ा। प्रजुलुस्की का विचार है कि दृष्टान्त विनयसूत्र और अभिधर्म के विरुद्ध भी हो सकते हैं। विभाषा इनके संबन्ध में कहती है कि यह सत्य भी हो सकते हैं, नहीं भी हो सकते।

सौत्रान्तिक मतवाद का साहित्य नष्ट हो गया है। अतः इसके संबन्ध में हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है, तथापि जो सूचनाएं अभिधर्मकोश तथा उसकी व्याख्या में मिलती हैं, उनके आधार पर हम सौत्रान्तिक मत का व्याख्यान पिछले अध्याय में वैभाषिक से तुलना के प्रसंग में कर चुके हैं, अवशिष्ट मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को यहां देते हैं।

विज्ञानवाद स्वीकार करने के पूर्व वसुबन्धु का झुकाव सौत्रान्तिक मतवाद की ओर था। अतः यद्यपि अभिधर्मकोश वैभाषिक-मत का प्रतिपादन करता है, तथापि वह जहाँ सौत्रान्तिक-मत के विरुद्ध है, वहाँ वसुबन्धु सौत्रान्तिक दृष्टि से उनकी आलोचना करते हैं।

वैभाषिकों के समान सौत्रान्तिक भी स्वभाववादी हैं। इनकी गणना हीनयान में की जाती है, यद्यपि ये महायान के धर्मकाय को स्वीकार करते हैं, और एक प्रकार से महायान के आरंभक कहे जा सकते हैं। ये वैभाषिकों के सब धर्मों के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। ये वैभाषिकों के तुल्य बाह्य जगत् के अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु इनके अनुसार इसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमान द्वारा होता है।

वैभाषिक से सौत्रान्तिक का भेद

रूप—वैभाषिकों के अनुसार रूप द्विविध है, अर्थात् वर्ण-संस्थान भेद से दो प्रकार का है। किन्तु सौत्रान्तिक का कहना है कि संस्थान का ग्रहण चाक्षुष नहीं है; यह परिकल्प मानस है। संस्थान वर्ण-सन्निवेश-विशेष ही है। संस्थान नाम का कोई द्रव्य नहीं है। यदि वर्ण का ग्रहण न हो तो संस्थान के ग्रहण का अभाव हो। उनका प्रश्न है कि एक द्रव्य उभयथा कैसे विद्यमान हो सकता है [अभिधर्मकोश, १।१०; व्याख्या, पृ० २६, पंक्ति १५]।

वैभाषिकों के अनुसार बुद्धवचन वाक्-स्वभाव और नाम-स्वभाव दोनों हैं, किन्तु सौत्रान्तिकों के अनुसार वह वाग्-विज्ञप्ति-स्वभावमात्र है [अभिधर्मकोश, १।२५; व्याख्या, पृ० ५२ पंक्ति १०]।

असंस्कृत—सौत्रान्तिक तीन असंस्कृतों को—आकाश, अप्रतिसंख्या-निरोध और प्रतिसंख्या-निरोध को द्रव्य-सत् नहीं मानते। उनका कथन है कि यह रूप-वेदनादि के समान द्रव्यान्तर, भावान्तर नहीं है। जिसे 'आकाश' कहते हैं, वह स्प्रष्टव्य का अभावमात्र, अर्थात् सप्रतिघ द्रव्य का अभावमात्र है। जिस को न पाकर (अविन्दन्तः) अज्ञानवश लोग कहते

है कि यह आकाश है। जिसे प्रतिसंख्या-निरोध या निर्वाण कहते हैं, वह प्रतिसंख्या (=प्रज्ञा) के बल से अन्य अनुशय, अन्य जन्म का अनुत्पाद है; जब उत्पन्न अनुशय और उत्पन्न जन्म का निरोध होता है। निर्वाण वस्तु-सत् नहीं है, यह अभावमात्र है। सर्वास्तिवाद के अनुसार निर्वाण विसंयोग-फल है, यह अहेतुक है। इसका फल नहीं है, किन्तु यह कारण-हेतु है।

सौत्रान्तिक आक्षेप करते हैं कि यदि असंस्कृत फल है, तो इसका एक हेतु होना चाहिये, जिस हेतु के लिए कह सकें कि इस हेतु का यह फल है। पुनः जब सर्वास्तिवादी इसे कारण-हेतु मानते हैं, तो इसका फल होना चाहिये, जिस फल के लिए कह सकें कि इस फल का यह हेतु है।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि केवल संस्कृत के हेतु-फल होते हैं, असंस्कृत के हेतु-फल नहीं होते; क्योंकि षड्विध हेतु और पंचविध फल असंस्कृत के लिए असंभव हैं।

यह विवाद अतिविस्तृत है। संघभद्र ने न्यायानुसार में 'असंस्कृत' के प्रतिषेध का खण्डन किया है। इस विस्तृत व्याख्यान के लिए यहां स्थान नहीं है। सर्वास्तिवादी अन्त में कहता है कि निर्वाण धर्म-स्वभाव-वश द्रव्य है। यह अवाच्य है। केवल आर्य इसका साक्षात्कार करते हैं। इसका प्रत्यात्म-संवेदन होता है। इसके सामान्य लक्षणों का यह कह कर निर्देशमात्र हो सकता है कि यह दूसरों से भिन्न एक कुशल, नित्य द्रव्य है; जिसकी संज्ञा निर्वाण है।

अप्रतिसंख्या-निरोध भी अभावमात्र है, वस्तु-सत् नहीं है। जब प्रतिसंख्या-बल के बिना प्रत्यय-वैकल्य-मात्र से धर्मों का अनुत्पाद होता है, तब इसे अप्रतिसंख्या-निरोध कहते हैं।

चित्त-विप्रयुक्त-धर्म—सौत्रान्तिक चित्त-विप्रयुक्त धर्मों का अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनुसार यह प्रज्ञप्तिमात्र है, वस्तु-सत् नहीं है। अभिधर्मकोश के द्वितीय कोशस्थान में सौत्रान्तिक का व्याख्यान विस्तारपूर्वक दिया गया है। जिसमें वह इन धर्मों के द्रव्यतः अस्तित्व का प्रतिषेध करते हैं। ये चित्त-विप्रयुक्त-धर्म संस्कार-स्कन्ध में संगृहीत हैं। प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक, दो समापत्ति, जीवितेन्द्रिय, लक्षण नामकायादि और एवंजातीयक धर्म चित्त-विप्रयुक्त हैं। यहां उदाहरणमात्र के लिए हम दो तीन चित्त-विप्रयुक्त-संस्कारों के संबन्ध में सौत्रान्तिक विचार उद्धृत करते हैं।

प्राप्ति—नामक धर्म के अस्तित्व को वे नहीं मानते। वे कहते हैं कि प्राप्ति की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, यथा—रूप-शब्दादि की होती है, यथा—राग-द्वेषादि की होती है। उसके कृत्य से प्राप्ति का अस्तित्व अनुमित नहीं होता, यथा—चक्षुरादि इन्द्रिय अनुमान से ग्राह्य हैं।

सभागता (निकाय-सभाग) को सौत्रान्तिक द्रव्य-सत् नहीं मानते। सर्वास्तिवाद के अनुसार यह एक द्रव्य है, एक धर्म है; जिसके योग से सत्व तथा सत्व-संख्यात धर्मों का परस्पर सादृश्य (= सभाग) होता है। शास्त्र में इस द्रव्य को निकाय-सभाग संज्ञा है। यह सत्वों की

स्वभाव-समता है। सौत्रान्तिक इस वाद में अनेक दोष दिखाते हैं कि लोक समागता को प्रत्यक्ष नहीं देखता। वह प्रज्ञा से समागता का परिच्छेद नहीं करता, क्योंकि समागता का कोई व्यापार नहीं है, जिससे उसका ज्ञान हो। यद्यपि लोक सत्व-समागता को नहीं जानता, तथापि उसमें सत्वों के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है। अतः समागता के होने पर भी उसका क्या व्यापार होगा? पुनः निकाय को शालि-यवादि की असत्व-समागता भी क्यों नहीं इष्ट है? इनके लिए सामान्य प्रज्ञप्ति का उपयोग होता है।

आयु—इसी प्रकार सौत्रान्तिक आयु को द्रव्य नहीं मानते। उनका कहना है कि यह एक आवेध, सामर्थ्यविशेष है, जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धि-क्षण में सत्व में आहित करता है। इस सामर्थ्य के कारण एक नियत काल के लिए निकाय-सभाग के स्कन्ध-प्रबन्ध का अवस्थान होता है।

संस्कृत-धर्म के लक्षण—सौत्रान्तिक संस्कृत-धर्म के लक्षणों को भी पृथक् पृथक् द्रव्य नहीं मानते। संस्कृत-धर्म के लक्षण जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता हैं। 'स्थिति' उनकी स्थापना करती है, 'जरा' उनका ह्रास करती है, अनित्यता उनका विनाश करती है। यह सर्वास्तिवाद का मत है। किन्तु सौत्रान्तिक कहते हैं कि भगवान् प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्रवाह संस्कृत है। ये प्रवाह-क्षण के तीन-लक्षण नहीं बताते, क्योंकि वे कहते हैं कि यह तीन लक्षण प्रज्ञात होते हैं। वस्तुतः क्षण का उत्पाद, जरा और व्यय अप्रज्ञायमान है। जो अप्रज्ञायमान है, वह लक्षण होने की योग्यता नहीं रखता। सौत्रान्तिकों के अनुसार उत्पाद या जाति का यह अर्थ है कि प्रवाह का आरंभ है, व्यय या अनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरति है। स्थिति आदि से निवृत्ति तक अनुवर्तमान प्रवाह है। स्थित्यन्यथात्व या जरा अनुवर्तमान का पूर्वापरविशेष है। पुनः उत्पाद अभूत्वा-भाव है, स्थिति प्रबन्ध है, अनित्यता प्रबन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वापर विशिष्टता है। संक्षेप में संस्कृत-धर्म का अभूत्वा-भाव होता है, भूत्वा-अभाव होता है; इन धर्मों का प्रवाह इनकी स्थिति है। प्रवाह का विसदृशत्व उनका स्थित्यन्यथात्व है। उत्पादादि द्रव्य नहीं है।

अतीतानागतप्रत्युत्पन्न का अवस्तुत्व—सौत्रान्तिक अतीत, अनागत को वस्तु-सत् नहीं मानते।

यदि अतीत और अनागत द्रव्य-सत् हैं, तो वह प्रत्युत्पन्न हैं। उनको अतीत और अनागत क्यों विशेषित करते हैं?

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि यह अप्राप्त-कारित्र, प्राप्तानुपरत-कारित्र तथा उपरत-कारित्र है, जो धर्म का अध्व विनिश्चत करता है।

सौत्रान्तिक पूछता है कि धर्म के कारित्र में क्या विघ्न है? धर्म नित्य होते हुए अपना कारित्र सदा क्यों नहीं करता? क्या विघ्न उपस्थित होता है, जो कभी यह अपना कारित्र करता है, और कभी नहीं करता? आपकी यह कल्पना भी युक्त नहीं है कि उसके कारित्र का अभाव प्रत्ययों के असामग्र्य से होता है, क्योंकि आपके लिए इन प्रत्ययों का भी नित्य अस्तित्व है। पुनः कारित्र अतीतादि कैसे है? क्या कारित्र का भी दूसरा कारित्र होता है? इससे अनवस्थादोष होगा। किन्तु यदि कारित्र का स्वरूप सत्तापेक्षया अतीतादित्व है, तो भावों का भी अतीतादित्व

होगा। फिर इस कल्पना से क्या लाभ कि अध्व अतीतादि कारित्र पर आश्रित है? क्या आप यह कहेंगे कि कारित्र न अतीत है, न अनागत, न प्रत्युत्पन्न? उस अवस्था में असंस्कृत होने से यह नित्य है। अतः यह न कहिए कि जब धर्म कारित्र नहीं करता, तब यह अनागत है; और जब इसका कारित्र उपरत हो जाता है, तब यह अतीत है।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि यदि कारित्र धर्म से अन्य होता तो यह दोष होता।

सौत्रान्तिक—किन्तु यदि यह धर्म से अन्य नहीं है, तो अध्वयुक्त नहीं है। यदि कारित्र धर्म का स्वभाव ही है, तो धर्म के नित्य होने से कारित्र भी नित्य होगा। क्यों और कैसे कभी कहते हैं कि अनागत है? अध्व-भेद युक्त नहीं है।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है :—किसमें इसकी अयुक्तता है? वास्तव में अनुत्पन्न संस्कृत धर्म अनागत कहलाता है; जो उत्पद्यमान हो निरुद्ध नहीं हुआ, वह प्रत्युत्पन्न कहलाता है; जो निरुद्ध होता है, वह अतीत कहलाता है।

सौत्रान्तिक—प्रत्युत्पन्न का जो स्वभाव है, यदि उसी स्वभाव के साथ (तेनैवात्मना) अतीत और अनागत धर्म का सद्भाव होता है, तो वैसे ही होते हुए यह कैसे अनुत्पन्न या नष्ट होता है? जब इस धर्म का स्वभाव वैसा ही रहता है, तो यह धर्म अनुत्पन्न या नष्ट कैसे होगा? पूर्व इसके क्या न था, जिसके अभाव में इसे अनुत्पन्न कहेंगे? पश्चात् इसके क्या नहीं है, जिसके अभाव में इसे निरुद्ध कहेंगे? अतः यदि 'अभूत्वा भाव' इष्ट नहीं है, यदि 'भूत्वा अभाव' भी इष्ट नहीं है, तो अध्व-त्रय सिद्ध नहीं होता।

इसके बाद सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी की युक्तियों की परीक्षा करते हैं।

यह युक्ति कि संस्कृत लक्षण के योग से संस्कृतों का शाश्वतत्व प्रसंग नहीं होता, यद्यपि उनका अतीत और अनागत दोनों में सद्भाव है—वाङ्मात्र है; क्योंकि धर्म का सर्वकालास्तित्व होने से धर्म के उत्पाद और विनाश का योग नहीं है। "धर्म नित्य है और धर्म नित्य नहीं है।" यह वचन पूर्वापरविरुद्ध है।

इस युक्ति के संबन्ध में कि भगवान् ने अतीत और अनागत के अस्तित्व का उपदेश दिया है, क्योंकि भगवान् का वचन है कि—"अतीत कर्म है, अनागत विपाक है"। हमारा कहना है कि हम भी मानते हैं कि अतीत है, अनागत है (अस्तीति)। जो भूतपूर्व है (यद् भूतपूर्वम्) वह अतीत है; जो हेतु होने पर होगा (यद् भविष्यति), वह अनागत है। इस अर्थ में हम कहते हैं कि अतीत है, अनागत है। किन्तु प्रत्युत्पन्न के समान वह द्रव्यतः नहीं है।

सर्वास्तिवादी विरोध करता है:—कौन कहता है कि प्रत्युत्पन्न के सदृश उनका सद्भाव है?

सौत्रान्तिक—यदि उनका सद्भाव प्रत्युत्पन्न के सदृश नहीं है, तो उनका सद्भाव कैसे है?

सर्वास्तिवादी—वह अतीत और अनागत के स्वभाव के साथ होते हैं।

सौत्रान्तिक—किन्तु यदि उनका अस्तित्व है, तो उनका स्वभाव अतीत और अनागत का कैसे बताते हैं ? वस्तुतः सर्वास्तिवादी द्वारा उद्धृत वचन में भगवान् का अभिप्राय हेतु-फलापवाद-दृष्टि का प्रतिषेध करना है। 'अतीत था' के अर्थ में वह 'अतीत है' कहते हैं। 'अनागत होगा' के अर्थ में वह 'अनागत है' कहते हैं। 'अस्ति' शब्द निपात है। यथा लोक में कहते हैं कि—'दीप का प्राक् अभाव है' (अस्ति), 'दीप का पश्चात् अभाव है, यह प्रदीप निरुद्ध है (अस्ति), किन्तु यह प्रदीप मुझसे निरोधित नहीं है। इसी अर्थ में सूत्र में उक्त है :—'अतीत है, अनागत है'। अन्यथा यदि उसी लक्षण के साथ विद्यमान हो, तो अतीत-अनागत की सिद्धि न हो।

सर्वास्तिवादी—हम देखते हैं कि भगवान् लगुड-शिखीयक-परिव्राजकों को उद्दिष्ट कर ऐसा कहते हैं कि—"अतीत कर्म निरुद्ध, विनष्ट, अस्तंगत कर्म है।" प्रस्तावित निर्देश के अनुसार इसका अर्थ होगा कि 'यह कर्म था'। किन्तु क्या परिव्राजकों को उस अतीत कर्म का भूतपूर्वत्व इष्ट नहीं है ?

सौत्रान्तिक—यदि भगवान् कहते हैं कि अतीत कर्म है, तो उनकी अभिसन्धि फलदान सामर्थ्य से है, जिसे भूतपूर्व कर्म ने कारक की सन्तति में आहित की है। अन्यथा यदि अतीत-कर्म स्वभाव से विद्यमान है (स्वेन भावेन विद्यमानम्), तो विद्यमान अतीत की सिद्धि कैसे होगी ? पुनः आगम की उक्ति स्पष्ट है। भगवान् ने परमार्थ-शून्यता-सूत्र में कहा है कि—"हे भिक्षुओ ! चक्षु उत्पद्यमान होकर कहीं से आता नहीं है; निरुध्यमान होकर कहीं संचित नहीं होता। इस प्रकार हे भिक्षुओ ! चक्षु का अभूत्वा-भाव होता है, और भूत्वा-अभाव होता है। यदि अनागत चक्षु होता, तो भगवान् नहीं कहते कि चक्षु का अभूत्वा-भाव है।

सर्वास्तिवादी कदाचित् कहेगा—'अभूत्वा भाव' का अर्थ है—वर्तमान अर्थ में न होकर होता है (वर्तमानेऽध्वनि अभूत्वा); अर्थात् वर्तमान-भाव में न होकर होता है (वर्तमानभावे न अभूत्वा)। यह अयुक्त है, क्योंकि अध्व चक्षुसंज्ञक भाव में अर्थान्तर नहीं है। क्या इसका यह अर्थ आप करेंगे—'स्वलक्षणतः न होकर' ? इससे यह सिद्ध होता है कि अनागत चक्षु नहीं है।

अतीत और अनागत है, क्योंकि विज्ञान की उत्पत्ति दो वस्तुओं के कारण होती है। मनोविज्ञान की उत्पत्ति मन-इन्द्रिय तथा अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न धर्मों के कारण होती है। इस युक्ति के संबन्ध में क्या यह समझना चाहिये कि ये धर्म मन-इन्द्रिय की तरह मनोविज्ञान के जनक-प्रत्यय हैं ? अथवा ये आलंबनमात्र हैं ? यह व्यक्त है कि अनागत धर्म, जो सहस्रों वर्ष में होंगे, या जो कभी न होंगे, प्रत्युत्पन्न मनोविज्ञान के जनक-प्रत्यय नहीं हैं। यह व्यक्त है कि निर्वाण जो सर्वोत्पत्ति के विरुद्ध है, जनक-प्रत्यय नहीं हो सकता। अब यह शेष रह जाता है कि धर्म विज्ञान के आलंबन-प्रत्यय हों। हमको यह इष्ट है कि अनागत और अतीत धर्म आलंबन-प्रत्यय हैं।

सर्वास्तिवादी का प्रश्न है कि यदि अतीत और अनागत धर्म का अस्तित्व नहीं है, तो वह विज्ञान का आलंबन कैसे हैं ?

सौत्रान्तिक—उनका अस्तित्व उसी प्रकार है, जिस प्रकार वे आलंबन के रूप में गृहीत होते हैं। वे अतीत और अनागत के चिह्न के साथ भूतपूर्व-भविष्यत् की तरह आलंबन के रूप में गृहीत होते हैं। वास्तव में कोई अतीत रूप या वेदना का स्मरण कर यह नहीं देखता कि—'यह है', किन्तु वह स्मरण करता है कि 'यह था'। जो पुरुष अनागत का प्राग् अदर्शन करता है, वह सत् अनागत को नहीं देखता। किन्तु एक दूसरी भविष्यत् वस्तु अनागत को देखता है। स्मृति यथादृष्ट रूप का ग्रहण करती है, यथानुभूत वेदना का ग्रहण करती है; अर्थात् वर्तमान रूप और वेदना के समान ग्रहण करती है। यदि धर्म जिसका पुद्गल को स्मरण है, ऐसा है कि उसका ग्रहण पुद्गल स्मृति से करता है, तो वह प्रत्यक्ष ही वर्तमान है। यदि वह ऐसा नहीं है, यदि इसका ग्रहण स्मृति से नहीं है, तो असत् भी स्मृति-विज्ञान का अवश्य आलंबन होता है। क्या आप यह कहेंगे कि अतीत और अनागत रूप का अस्तित्व बिना वर्तमान हुए है, क्योंकि अतीत और अनागत रूप विप्रकीर्ण परमाणु से अन्य वस्तु नहीं है। किन्तु हम कहेंगे कि जब विज्ञान स्मृति या प्राग् दर्शन से अतीत और अनागत रूप को आलंबन के रूप में ग्रहण करता है, तब यह विप्रकीर्णावस्था में उसको आलंबनवत् ग्रहण नहीं करता; किन्तु इसके विपर्यय संचितावस्था में करता है। यदि अतीत और अनागत रूप वर्तमान रूप ही है, किन्तु परमाणुशः विभक्त है, तो परमाणु नित्य होंगे। न कोई उत्पाद है, और न कोई निरोध। परमाणुसंचय और विभागमात्र है। ऐसे वाद के ग्रहण से आजीविक-वाद का परिग्रह होता है, और बुद्ध का यह सूत्र अपास्त होता है कि चक्षु उत्पद्यमान होकर कहीं से आता नहीं। वेदनादि अमूर्त धर्मों में यह युक्ति नहीं लगती। परमाणु संचित न होने से इनका अतीत और अनागत अवस्था में पुनः विप्रकीर्णत्व कैसे है?

सर्वास्तिवादी कर्म-फल से भी तर्क आहृत करते हैं। सौत्रान्तिक यह नहीं स्वीकार करते कि अतीत कर्म से फल की प्रत्यक्ष उत्पत्ति होती है। उनके अनुसार कर्म-पूर्वक चित्त-संतान-विशेष से फल की उत्पत्ति होती है।

किन्तु जो वादी अतीत और अनागत को द्रव्यतः मानते हैं, उनको फल की नित्यता इष्ट होनी चाहिये। अतएव उन सर्वास्तिवादियों का सर्वास्तिवाद, जो अतीत और अनागत की द्रव्य-सत्ता को मानते हैं, साधु नहीं है। इस अर्थ में सर्वास्तिवाद को नहीं लेना चाहिये। साधु सर्वास्तिवाद वह है, जिसकी सर्वास्तित्व की प्रतिज्ञा में 'सर्व' का वही अर्थ है, जो आगम में उक्त है। सूत्र की यह प्रतिज्ञा कैसे है कि सर्व का अस्तित्व है? "हे ब्राह्मण! जब कोई कहता है कि 'सर्वमस्ति', तब उसका अभिप्राय बारह आयतनों से होता है। यह समानवाची है। अथवा सर्व जिसका अस्तित्व है, अध्व-त्रय है।" और इनका अस्तित्व कैसे होता है, यह भी भी बताया है—"जो भूतपूर्व है, वह अतीत है········किन्तु यदि अतीत अनागत का अस्तित्व नहीं है, तो अतीत अनागत क्लेश से अतीत अनागत वस्तु में कोई संयुक्त कैसे होता है? संतान में अतीत क्लेश-जात अनुशय के सद्भाववश अतीत क्लेश से पुद्गल संयुक्त होता है। अतीत और अनागत वस्तु से संयोग तदालंबन-क्लेश के अनुशय से सद्भाववश होता है।

वैभाषिक कहता है कि 'अतीत' और अनागत का वर्तमान के सदृश अस्तित्व है। वस्तुतः धर्मों का निश्चय ही गंभीर है।

काय-विज्ञप्ति—सौत्रान्तिक के मत में कर्म चेतना है। 'काय-कर्म' से अभिप्राय 'काय द्वारा विज्ञापन' से नहीं है, किन्तु एक काय-संचेतना से है। यह संचेतना काय से संबन्ध रखती है, और काय को इंगित करती है।

सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि वह क्या वस्तु है, जिसे आप के अनुसार 'काय-विज्ञप्ति' संज्ञा से ज्ञापित किया जाता है? सौत्रान्तिक उत्तर देते हैं कि काय-विज्ञप्ति संस्थान है, किन्तु संस्थान द्रव्य नहीं है। काय-कर्म वह चेतना है, जो विविध प्रकार से काय की प्रयोत्री है। यह काय-द्वार को आलंबन बना प्रवृत्त होती है, और इसलिए काय-कर्म कहलाती है। दो प्रकार की चेतना है। पहले प्रयोग की अवस्था है। इसमें एक चेतना का उत्पाद होता है, जो शुद्ध चेतना है—"यह आवश्यक है कि मैं इस-इस कर्म को करूँ।" इसे सूत्र चेतना-कर्म की संज्ञा देता है। यहाँ चेतना ही कर्म है। पीछे शुद्ध चेतना की इस अवस्था के अनन्तर पूर्वकृत संकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है। काय के संचालन या वाग्ध्वनि के निःसरण के लिए यह चेतना होती है। इसे सूत्र 'चेतयित्वा कर्म' कहता है [अभिधर्मकोश, ४। पृष्ठ १२-१३]।

अविज्ञप्ति—सौत्रान्तिक 'अविज्ञप्ति' का भी अभाव मानते हैं। वैभाषिक कई युक्तियाँ देकर 'अविज्ञप्ति' का अस्तित्व व्यवस्थापित करता है। सौत्रान्तिक इनका खंडन करता है। अभिधर्मकोश [४। पृष्ठ १४–२५] में यह विस्तृत व्याख्यान पाया जाता है।

क्षणिकवाद—सौत्रान्तिक सन्ततिवादी और क्षणिकवादी है। सर्व संस्कृत क्षणिक हैं। 'क्षण' शब्द का अभिधान आत्मलाभ के अनन्तर विनष्ट होना है। क्षणिक वह धर्म है; जिसका क्षण है। जैसे दण्डिक वह है, जो दण्ड का वहन करता है। आत्म-लाभ के अनन्तर संस्कृत का अस्तित्व नहीं होता। यह उस प्रदेश में विनष्ट होता है, जहाँ इसकी उत्पत्ति होती है। यह उस प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जा सकता। यह विनाश अकस्मात् होता है। वह अहेतुक है। जो 'सहेतुक' है, वह कार्य है। विनाश अभाव है। अभाव कैसे कार्य होगा? इसलिए विनाश अहेतुक है। इसलिए संस्कृत उत्पत्ति के अनन्तर ही विनष्ट होता है। यदि यह उत्पन्नमात्र न हो तो यह पीछे विनष्ट न होगा, क्योंकि यह अपरिवर्तित अवस्था में रहता है [अभिधर्मकोश, पृष्ठ ४]।

असंग महायानसूत्रालंकार [१८ वाँ अध्याय, बोधिपक्षाधिकार, पृ० १४९–१५४] में क्षणिकवाद की परीक्षा करते हैं। वह कहते हैं कि सर्व संस्कृत क्षणिक हैं। इसकी सिद्धि कैसे होती है? असंग कहते हैं कि क्षणिकत्व के बिना संस्कारों की प्रवृत्ति का योग नहीं है। 'प्रवृत्ति' प्रबन्धवश 'वृत्ति' को कहते हैं। प्रतिक्षण उत्पाद और निरोध के बिना यह प्रवृत्ति अयुक्त है। यदि कालान्तर स्थित रहकर पूर्व के निरोध और उत्तर के उत्पाद से प्रबन्धेन वृत्ति इष्ट है, तो प्रबन्ध के अभाव में उसके अनन्तर प्रवृत्ति न होगी। पुनः प्रबन्ध के बिना उत्पन्न

का कालान्तर-भाव युक्त नहीं है। क्यों? क्योंकि उत्पत्ति हेतुतः होती है। हेतुवश ही सब संस्कृत उत्पन्न होते हैं। यदि होकर (भूत्वा) उत्तर काल में पुनः भाव होता है, तो यह अवश्य हेतुवश ही होगा। हेतु के बिना आदि से ही अभाव होगा, और वह उसी हेतु से नहीं हो सकता; क्योंकि उसने उस हेतु का उपभोग कर लिया है। अन्य हेतु की उपलब्धि भी नहीं है, अतः प्रतिक्षण पूर्व-हेतुक अन्य अवश्य होता है। इस प्रकार बिना प्रबन्ध के उत्पन्न का कालान्तर-भाव युक्त नहीं है।

अथवा यदि कोई यह कहे कि हमको यह इष्ट नहीं है कि उत्पन्न का पुनः उत्पाद होता है, तो उसके लिए हेतु का होना आवश्यक है। उत्पन्न कालान्तर में पश्चात् निरुद्ध होता है, उत्पन्नमात्र ही निरुद्ध नहीं होता। तब किस कारण से पश्चात् निरोध होता है? यदि यह कहा जाय कि उत्पाद-हेतु से यह निरुद्ध होता है, तो वह अयुक्त होगा; क्योंकि उत्पाद और निरोध का विरोध है। दो विरोधों का तुल्य-हेतु उपलब्ध नहीं होता, यथा—छाया-आतप, या शीत-उष्ण का।

पुनः कालान्तर-निरोध का ही आगम से विरोध है। भगवत्-वचन है—"हे भिक्षुओ! संस्कार मायोपम हैं। यह आपायिक और तावत्कालिक हैं। यह क्षणमात्र भी अवस्थान नहीं करते।" योगियों के मनस्कार से भी विरोध है। वस्तुतः जब योगी संस्कारों के उदय-व्यय का चिन्तन करते हैं, तब वे उनका निरोध प्रतिक्षण देखते हैं। अन्यथा उनको भी वह विराम उत्पन्न न हो, जो दूसरों को मरण-काल में निरोध देखकर होता है।

यदि उत्पन्न संस्कार का कालान्तर के लिए अवस्थान हो, तो वह या तो स्वयमेव अवस्थान करेगा, अर्थात् अवस्थान में स्वयं समर्थ होगा, अथवा किसी स्थिति-कारण से अवस्थान करेगा। किन्तु उसका स्वयं तावत् काल के लिए अवस्थान अयुक्त है, क्योंकि उसका अभाव है। वह किंचिन्मात्र भी उपलब्ध नहीं होता। कदाचित् यह कहा जायगा कि स्थिति—कारक के बिना भी विनाश—कारण के अभाव से अवस्थान होता है। किन्तु यदि विनाश कारण लाभ होता है, तो उसका पीछे विनाश होता है। जैसे श्यामता का अग्नि से। यह अयुक्त है, क्योंकि उसका अभाव है। वस्तुतः पीछे भी कोई विनाश कारण नहीं है। अग्नि से श्यामता का नाश होता है, यह सुप्रसिद्ध है। किन्तु विसदृश की उत्पत्ति में उसका सामर्थ्य प्रसिद्ध है। वस्तुतः अग्नि के संबन्ध में श्यामता की सन्तति विसदृशी गृहीत होती है, किन्तु सर्वथा अप्रवृत्ति नहीं होती। जल का भी क्राथ होने से अग्नि के संबन्ध से उसकी उत्पत्ति अल्पतर-अल्पतम होती है, और अन्त में अतिमान्द्य के कारण पुनरुत्पत्ति का ग्रहण नहीं होता। किन्तु अग्नि के संबन्ध से सकृत् ही उसका अभाव नहीं होता। पुनः यह युक्त नहीं है कि उत्पन्न का अवस्थान हो, क्योंकि लक्षण ऐकान्तिक है। भगवान् ने कहा है कि संस्कृत की अनित्यता संस्कृत का ऐकान्तिक लक्षण है। यदि यह उत्पन्नमात्र होकर विनष्ट न हो, तो कुछ काल के लिए इसकी अनित्यता न होगी। कदाचित् यह कहा जायगा कि यदि प्रतिक्षण अपूर्व उत्पत्ति होती, तो यह प्रत्यभिज्ञान न होता कि यह वही है। यह प्रत्यभिज्ञान अर्चि के समान सादृश्य की अनुवृत्ति से होता है। सादृश्य से ऐसी बुद्धि होती है, उसके भाव से नहीं। इसका ज्ञान

कैसे होता है ? निरोध से । यदि उसका वैसे ही अवस्थान होता, तो अन्त में निरोध न होता, क्योंकि आदि क्षण से विशेष नहीं होता । इसलिए यह अवधारित नहीं होता कि यह वही है । परिणाम की उपलब्धि से भी परिणाम का अन्यथात्व है । यदि वह आदि से ही आरब्ध न होता, तो आध्यात्मिक और बाह्य भावों के अन्त में परिणाम की उपलब्धि नहीं होती । अतः आदि से ही अन्यथात्व का आरंभ हो जाता है, और यह क्रम से वृद्धि को प्राप्त हो अन्त में व्यक्त होता है । जैसे क्षीर दधि की अवस्था में व्यय होता है, किन्तु क्योंकि सूक्ष्म होने से इस अन्यथात्व का परिच्छेद नहीं होता । इसलिए सादृश्य की अनुवृत्ति से ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही है, और क्योंकि प्रतिक्षण अन्यथात्व होता है, इसलिए क्षणिकत्व सिद्ध है । यह कैसे ? हेतुत्व और फलत्व से, अर्थात् क्योंकि हेतु क्षणिक है, और फल क्षणिक है । यह सिद्ध है कि चित्त क्षणिक है । अन्य संस्कार, चक्षु-रूपादि उसके हेतु हैं । अतः वह भी क्षणिक सिद्ध हुए । अक्षणिक से क्षणिक नहीं हो सकता, जैसे नित्य से अनित्य नहीं होता । दूसरी ओर सब संस्कार चित्त के फल भी हैं । वस्तुतः चित्त का आधिपत्य संस्कारों पर है । भगवान् ने कहा है—"चित्त से यह लोक नीत होता है, चित्त से परिकृष्ट होता है ।" यह भी कहा है कि नाम-रूप विज्ञान-प्रत्यय है । अतः वह चित्त का फल है । अतः संस्कार चित्त के समान क्षणिक हैं ।

यह सिद्ध करके कि सब संस्कार क्षणिक हैं, असंग सिद्ध करते हैं कि आध्यात्मिक संस्कार क्षणिक हैं । जितने बौद्धनिकाय हैं, वे सब मन को अविच्छिन्न हेतु-फल-परंपरा मानते हैं, और यह भी मानते हैं कि हेतु-फल का उत्पाद-निरोध प्रतिक्षण होता है । इसके साधन में असंग वही हेतु देते हैं, जिन्हें पूर्व आचार्यों ने दिया है । इसी प्रकार वह बाह्य संस्कारों के, अर्थात् चार महाभूतों के और षड्विध अर्थादि के क्षणिकत्व को सिद्ध करते हैं । असंग दार्शनिक युक्तियों के अतिरिक्त एक और युक्ति देते हैं । वस्तुतः बुद्ध ने संस्कारों की अनित्यता देशित की है । असंग कहते हैं कि अक्षणिकवादी से पूछना चाहिये कि आपको अनित्यत्व तो इष्ट है, फिर क्षणिकत्व क्यों नहीं इष्ट है ? यदि वे यह कहें कि अन्यत्व का ग्रहण प्रतिक्षण नहीं होता, तो उनसे यह कहना चाहिये कि प्रदीपादि का क्षणिकभाव आपको क्यों इष्ट है, जब निश्चलावस्था में अन्यत्व का ग्रहण नहीं होता । यदि उनका यह उत्तर हो कि पूर्ववत् पश्चात् का अग्रहण है, तो उनसे कहना चाहिये कि संस्कारों का भी ऐसा ही क्यों नहीं मानते । यदि वे यह कहें कि प्रदीपादि के लक्षण अन्य हैं, और संस्कार के उनसे अन्य हैं, तो यह उत्तर होना चाहिये कि वैलक्षण्य दो प्रकार का है—स्वभाव-वैलक्षण्य और वृत्ति-वैलक्षण्य । यदि जो वैलक्षण्य आपको अभिप्रेत है, वह स्वभाव है, तो दृष्टान्त युक्त है, क्योंकि किसी का स्वभाव उसका दृष्टान्त नहीं होता । यथा—प्रदीप प्रदीप का दृष्टान्त नहीं होता । और यदि वृत्ति-वैलक्षण्य है,तो प्रदीप का दृष्टान्त युक्त है, क्योंकि लोक में प्रसिद्ध है कि यह क्षणिकत्व की अनुवृत्ति करता है । पुनः उनसे पूछना चाहिये कि क्या आप मानते हैं कि यान के खड़े रहने पर जो यानारूढ़ है, वह जाता है ? यदि वे कहें कि 'नहीं', तो उनसे कहना चाहिये कि चक्षुरादि के

अवस्थान करने पर तदाश्रित विज्ञान प्रबन्धेन गमन करता है, यह कहना अयुक्त है। यदि उनका यह उत्तर हो कि क्या हम नहीं देखते कि वर्ति का अवस्थान होता है, और वर्ति-संनिश्रित प्रदीप का प्रबन्धेन गमन होता है, तो उनसे कहना चाहिये कि 'नहीं', प्रबन्धेन गमन नहीं देखा जाता, क्योंकि वर्ति में प्रतिक्षण विकार उत्पन्न होता है। यदि वे यह उत्तर दें कि यदि संस्कार क्षणिक हैं, तो जिस प्रकार प्रदीप का क्षणिकत्व सिद्ध है, उसी प्रकार संस्कारों का क्षणिकत्व क्यों नहीं सिद्ध है? हमारा उनको यह उत्तर होगा कि संस्कारों का विपर्यास-वस्तुत्व है, क्योंकि इनकी वृत्ति सदृश सन्तति-प्रबन्ध में होती है, इसलिए इनका क्षणिकत्व जाना नहीं जाता। क्योंकि उनका अपरापरत्व है, इसलिए यह विपर्यास होता है कि यह वही है। अन्यथा अनित्य में नित्य का विपर्यास नहीं होगा। इस विपर्यास के अभाव में संक्लेश न होगा, फिर व्यवदान कहाँ से होगा? इस विचार-विमर्श से सिद्ध होता है कि सब संस्कारों का क्षणिकत्व है।

तृतीय ध्यान (सुख)—वैभाषिकों के अनुसार तृतीय ध्यान का 'सुख' प्रथम और द्वितीय ध्यान के 'सुख' से द्रव्यान्तर है, और इसलिए एक नया अंग है। सौत्रान्तिक प्रश्न करते हैं कि ऐसा क्यों है? वैभाषिक का उत्तर है कि प्रथम दो ध्यानों में 'सुख' से 'प्रश्रब्धि' अभिप्रेत है। यह सुख प्रश्रब्धिमय है ('प्रश्रब्धि' कर्मण्यता है)। तृतीय में सुखावेदना है। वास्तव में पहले दो ध्यानों में सुखेन्द्रिय की संभावना नहीं है, क्योंकि इन ध्यानों का सुख कायिक-सुख नहीं हो सकता। उस सत्व में जो ध्यान-समापन्न होता है, पंच इन्द्रिय-विज्ञानों का अभाव होता है। इन ध्यानों का सुख चैतसिक सुख नहीं हो सकता, क्योंकि इन ध्यानों में 'प्रीति' होती है। किन्तु 'प्रीति' सौमनस्य है, और यह माना नहीं जा सकता कि प्रीति और सुख का सहभाव है। पुनः वे कहते हैं कि हम यह भी नहीं मान सकते कि एक के अनन्तर दूसरा होता है, क्योंकि प्रथम ध्यान के पाँच अंग हैं, और दूसरे के चार। शास्त्र में केवल सुखावेदना को ही सुख का अधिवचन नहीं दिया गया है, अन्य धर्म भी इस नाम से जाने जाते हैं। सूत्रों में 'सुख' शब्द सब प्रकार के धर्मों के लिए व्यवहृत होता है। दार्ष्टान्तिक सौत्रान्तिक के अनुसार पहले तीन ध्यानों में चैतसिक सुखेन्द्रिय नहीं होती, किन्तु केवल कायिक सुखेन्द्रिय होती है। यही इन ध्यानों का सुख नामक अंग व्यवस्थापित है, अतः इनके अनुसार तृतीय ध्यान का सुख द्रव्यान्तर नहीं है। पुनः वैभाषिकों के अनुसार द्वितीय ध्यान का संप्रसाद (आध्यात्म-संप्रसाद) एक द्रव्य-सत् है। यह श्रद्धा है। योगी द्वितीय ध्यान का लाभ कर गंभीर श्रद्धा उत्पन्न करता है। उसकी इसमें प्रतिपत्ति होती है कि समापत्ति की भूमियों का भी प्रहाण हो सकता है। इस श्रद्धा को अध्यात्म-संप्रसाद कहते हैं। प्रसाद-लक्षणा श्रद्धा प्रसाद कहलाती है। बाह्य का प्रहाण कर यह समरूप से प्रवाहित होती है। इसलिए यह वह प्रसाद है, जो अध्यात्म और सम है। इसलिए यह अध्यात्म-संप्रसाद है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार वितर्क, विचार, समाधि और अध्यात्म-संप्रसाद एक दूसरे से भिन्न द्रव्य नहीं है।

यदि यह द्रव्यान्तर नहीं हैं, तो आप यह कैसे कहते हैं कि ये चैतसिक धर्म हैं। चित्त के अवस्था-विशेष चैतसिक कहलाते हैं, क्योंकि वे चित्त में होते हैं। सौत्रान्तिक कहते हैं कि जब वितर्क और विचार का विक्षेप समाप्त हो जाता है, तब चित्त-सन्तति प्रशान्त, प्रसन्न नहीं होती [अभिधर्मकोश, ८। पृ० १५१-१५६]। दार्ष्टान्तिकों के अनुसार सामन्तक केवल शुभ होते हैं, किन्तु वैभाषिकों के अनुसार वे शुभ, क्लिष्ट और अव्याकृत होते हैं [अभिधर्मकोश, ८। पृ० १८०]।

वैभाषिक-नय से पर्यवस्थान ही अनुशय है; वात्सीपुत्रीय-नय से 'प्राप्ति' अनुशय है; सौत्रान्तिक-नय से बीज अनुशय है [व्याख्या, पृ० ४४२, पंक्ति २८-२९]।

विज्ञान का आश्रय और विषय—वैभाषिक का मत है कि चक्षु रूप देखता है, जब वह सभाग है। यह तदाश्रित विज्ञान नहीं है, जो देखता है [अभिधर्मकोश, १। पृष्ठ २२]। विज्ञानवादी के अनुसार चक्षु नहीं देखता, चक्षुर्विज्ञान देखता है। सौत्रान्तिक का मत है कि न कोई इन्द्रिय है, जो देखती है; न कोई रूप है, जो देखा जाता है; न कोई दर्शन-क्रिया है, न कोई कर्ता है, जो देखता है; हेतु-फल-मात्र है [अभिधर्मकोश, १। पृ० ८६]।

महायान के उदय की ओर—सौत्रान्तिकों का यह विचार महायान दर्शन के विचार से मिलता-जुलता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि सर्वास्तिवाद के कई धर्म सौत्रान्तिक के लिए वस्तु-सत् नहीं हैं, वे प्रज्ञप्तिमात्र हैं। यहाँ तक कि निर्वाण भी वस्तु-सत् नहीं है। पुनः सौत्रान्तिक का क्षणिकवाद सर्वास्तिवाद के क्षणिकवाद से भिन्न है। सौत्रान्तिक के लिए आत्मा संस्कार-प्रबन्ध अथवा विज्ञान-सन्तान है। यह सन्तान सन्तानी के बिना है। यह सन्तान पिपीलिका-पंक्ति के तुल्य है। यह हेतु-फल-परंपरा है। धर्मों के उत्पाद और निरोध को हम एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते; कोई स्थिति नहीं है। सर्वास्तिवाद के अनुसार धर्मों का उत्पाद, स्थिति, अनित्यता और निरोध है। सर्वास्तिवादी भी क्षणिकवादी है, किन्तु उसका क्षणकाल का अल्पतम विभाग है। किन्तु सौत्रान्तिक के अनुसार धर्मों का विनाश, उत्पाद के समनन्तर ही होता है, धर्मों की कोई स्थिति नहीं है। पुनः सौत्रान्तिक के अनुसार बाह्य अर्थ-जात का प्रत्यक्ष नहीं है, वह केवल अनुमित होता है। सौत्रान्तिक धर्म-काय को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार हीनयान के गर्भ से महायान-धर्म और दर्शन के विचारों का उदय होता है।

हमने इस अध्याय में सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवाद के मुख्य मुख्य भेदों का वर्णन किया है। आगे महायान के अन्तर्गत दर्शनों का विचार आरंभ करेंगे।

सप्तदश अध्याय

आर्य असंग का विज्ञानवाद

विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य असंग हैं। उनके गुरु मैत्रेयनाथ इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं। महायानसूत्रालंकार इन गुरु-शिष्यों की संमिलित कृति है। मूलभाग मैत्रेयनाथ का और टीकाभाग आर्य असंग का कहा जाता है। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञानवाद का सबसे प्रधान ग्रन्थ महायानसूत्रालङ्कार है। हम देखेंगे कि असंग का दर्शन समन्वयात्मक है। इसमें सौत्रान्तिकों का क्षणिकवाद, सर्वास्तिवादियों का पुद्गल-नैरात्म्य, और नागार्जुन की शून्यता का प्रतिपादन है। किन्तु असंग इस समन्वय को पारमार्थिक विज्ञानवाद की परिधि में संपादित करना चाहते हैं। वस्तुतः असंग का दर्शन विज्ञानवादी अद्वयवाद है, जिसमें द्रव्य का अभाव है। मानना होगा कि यह एक नवीन मतवाद है। हम यहां पर महायानसूत्राङ्कार के आधार पर असंग के दर्शन का विवेचन कर रहे हैं।

महायान का बुद्ध-वचनत्व—प्रथम अध्याय में महायान की सत्यता सिद्ध की गयी है। विप्रतिपन्न कहेंगे कि महायान बुद्धवचन नहीं है। यदि महायान सद्धर्म में अन्तराय होता, और महायानसूत्रों की रचना पीछे से किसी ने की होती, तो जिस प्रकार भगवान् ने अन्य अनागतभयों का पहले ही व्याकरण कर दिया था तद्वत् इस अनागत भय का भी व्याकरण किया होता। पुनः श्रावकयान और महायान की प्रवृत्ति आरंभ से ही एक साथ हुई है। महायान की प्रवृत्ति पश्चात् नहीं हुई है। यह एक उदार और गंभीर धर्म है। अतः यह तार्किकों का गोचर नहीं है। तीर्थिक शास्त्रों में यह प्रकार नहीं पाया जाता। अतः यह कहना युक्त नहीं है कि तीर्थिकों ने इस धर्म का व्याख्यान किया है। पुनः यदि इस धर्म का व्याख्याता कोई अन्य है, जो सम्यक्-संबोधि को प्राप्त है, तो यह निःसन्देह बुद्धवचन है, क्योंकि वही बुद्ध है जो संबोधि की प्राप्ति कर देशना देता है।

पुनः यदि कोई महायान है, तो इसका बुद्धवचनत्व सिद्ध है, क्योंकि किसी दूसरे महायान का अभाव है। अथवा यदि कोई महायान नहीं है, तो उसके अभाव में श्रावकयान का भी अभाव होगा। यह कहना युक्त न होगा कि श्रावकयान तो बुद्धवचन है, और महायान नहीं है। क्योंकि बुद्धयान के बिना बुद्धों का उत्पाद नहीं होता।

महायान की भावना से क्लेश प्रतिपक्षित होते हैं, क्योंकि यह सर्व निर्विकल्प ज्ञान का आश्रय है। यह भी इसके बुद्धवचन होने का प्रमाण है।

महायान का अर्थ गंभीर है। यह रुतार्थ से भिन्न है, अतः रुतार्थ का अनुसरण करने से इसका अभिप्राय विदित नहीं होता; किन्तु इसलिए यह कहना कि यह बुद्धवचन नहीं है, अयुक्त है।

यदि कोई यह कहे कि भगवान् ने इस अनागत भय को उपेक्षा के कारण व्याकृत नहीं किया, तो यह अयुक्त है। बुद्ध प्रत्यक्षदर्शी हैं। उनके ज्ञान की प्रवृत्ति अयत्नतः होती है। वह शासन के रक्षक हैं। उनमें अनागत ज्ञान का सामर्थ्य भी है, क्योंकि सर्वकाल में उनका ज्ञान अव्याहत होता है। अतः शासन में होने वाले किसी अनागत उपद्रव की वह उपेक्षा नहीं कर सकते।

इन विविध कारणों से महायान का बुद्धवचनत्व सिद्ध होता है।

महायान की उत्कृष्टता—यदि कोई यह कहे कि श्रावकयान महायान है, और इसी से महाबोधि की प्राप्ति होती है, तो हम इसका विरोध करते हैं।

श्रावकयान में वैकल्य है, क्योंकि इसमें श्रावकों के लिए अपनी विमुक्तिमात्र के उपाय का ही उपदेश किया गया है, और परार्थ कोई भी आदेश नहीं है। स्वार्थ परार्थ नहीं हो सकता। पुनः यह विरुद्ध है कि जो अपने ही परिनिर्वाण का अर्थी है, और उसी के लिए प्रयोग करता है, वह अनुत्तर सम्यक्-संबोधि का लाभ करेगा। चाहे कोई बोधि के लिए चिर-काल तक श्रावकयान का अनुसरण करे वह बुद्ध नहीं हो सकता। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए श्रावकयान उपाय नहीं है, और अनुपाय द्वारा प्रार्थित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती; चाहे आप चिर-काल तक प्रयोग क्यों न करें। पुनः श्रावकयान में महायान का सा उपदेश नहीं उपलब्ध होता, अतः यह सिद्ध होता है कि श्रावकयान महायान होने की पात्रता नहीं रखता।

श्रावकयान से विरोध—इतना ही नहीं। श्रावकयान और महायान का अन्योन्य-विरोध है। पाँच प्रकार से इनका विरोध है:—आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तंभ, काल। श्रावकयान में आत्म-परिनिर्वाण के लिए ही आशय होता है। इसी के लिए इसका आदेश और प्रयोग है। इसका उपस्तम्भ (आधार) परीत्त है, और पुण्य-ज्ञान-संभार में संगृहीत है। इसके अर्थ की प्राप्ति भी अल्पकाल में ही होती है, यहाँ तक कि तीन जन्म में भी हो जाती है। किन्तु महायान में इसका सब विपर्यय है। इस अन्योन्य विरोध के कारण जो यान हीन है, वह वस्तुतः हीन है; वह महायान होने की योग्यता नहीं रखता।

कदाचित् यह कहा जायगा कि बुद्धवचन का लक्षण यह है कि इसका सूत्र में अवतरण और विनय में संदर्शन होता है, और यह धर्मता का विरोध नहीं करता (बुद्धवचनस्येदं लक्षणं यत् सूत्रेऽवतरति, विनये संदृश्यते, धर्मतां च न विलोमयति)[1]। किन्तु महायान का यह

---

१. महापरिनिब्बानसुत्त [दीघनिकाय, १५।४।८] तानि चे सुत्ते ओतरियमानानि विनये सन्दिस्सयमानानि सुत्ते चेव ओतरन्ति, विनये च सन्दिस्सन्ति, निट्ठमेत्थ गन्तब्बं : अद्धा इदं तस्स भगवतो वचनं ......ति। इसमें 'धर्मता के अविलोमन' का लक्षण नहीं है, किन्तु नुत्ति-सद्-नीति में यह वाक्य पाया जाता है:—भगवा पन धम्मसभावं अविलोमेन्तो तथा तथा धम्मदेसनं नियमेति।

लक्षण नहीं है, क्योंकि सर्व धर्म निःस्वभाव हैं, यह उसका उपदेश है, अतः यह बुद्धवचन नहीं है।

यह आक्षेप अयथार्थ है। लक्षणों का कोई विरोध नहीं है। स्वकीय महायानसूत्र में महायान का अवतरण है। महायान में बोधिसत्वों का जो क्लेश उक्त है, उसके विनय में महायान का संदर्शन होता है। वस्तुतः विकल्प ही बोधिसत्वों का क्लेश है। श्रावकयान के विनय में भिक्षुओं के नियमों का उल्लेख है। महायान का विनय बोधिचर्या और शील का उपदेश देता है। पुनः महायान धर्मता के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह उदार और गंभीर है। धर्मता से ही महाबोधि की प्राप्ति होती है। फिर महायान धर्मता के विरुद्ध क्यों हो?

महायान से त्रस्त होने का कोई कारण नहीं है। इसमें केवल शून्यता का ही आख्यान नहीं है। इसमें संभारमार्ग का भी आख्यान है। इस आख्यान का यथारुत अर्थ नहीं है, और बुद्धों का भाव अतिगहन है। इस कारण महायान से त्रास करने का कोई स्थान नहीं है। मुझे बोध न होगा, बुद्ध भी गम्भीर पदार्थ का बोध नहीं रखते, फिर वह क्या इसका उपदेश देंगे? गम्भीर अतर्कगम्य क्यों है? गम्भीर पदार्थ के अर्थवेत्ताओं का ही मोक्ष क्यों है, तार्किकों का क्यों नहीं है? इत्यादि त्रास के हेतु अयुक्त हैं।

महायान उत्कृष्ट है। उसकी देशना उदार और गम्भीर है। इसलिए उसमें अधिमुक्ति (=श्रद्धा) होनी चाहिये।

इस प्रकार महायान की सत्यता को सिद्ध कर असंग शरणगमन को बोधिसत्व की अधिमुक्ति का मूल आधार बताते हैं।

शरण-गमन—यह यथार्थ है कि शरण (=त्रिरत्न) गमन शासन के आदि से ही सब बौद्धों को समान रूप से मान्य है। किन्तु असंग का कहना है कि महायान में जो त्रिरत्न की शरण में जाता है, वही शरणागतों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें चार हेतु हैं:—सर्वत्रगार्थ, अभ्युपगमार्थ अधिगमार्थ, अभिभवार्थ। यह अग्रयान है, क्योंकि इसमें जो सिद्धि प्राप्त करता है, वह सत्वहित का साधन करता है। इसका प्रणिधान और इसकी प्रतिपत्ति विशिष्ट है, अतः इन यान का शरण भी अग्र है।

इस यान में शरणप्रगत सर्वत्रग है। उसने सब सत्वों के समुद्धरण का भार अपने ऊपर लिया है। वह सब यानों में (श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, बोधिसत्व) कुशल है। वह सर्वगत ज्ञान में कुशल है, अर्थात् पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। उसमें निर्वाण का सर्वत्रगार्थ है, क्योंकि वह निर्वाण और संसार में एक रस है, और उसके लिए निर्वाण और संसार में गुण अथवा दोष की दृष्टि से विशेष नहीं है (यो निर्वाणे संसरणेऽप्येकरसोऽसौ ज्ञेयो धीमानेष हि सर्वत्रग एवम् २।३)।

इस विचार में नागार्जुन की शिक्षा की प्रतिध्वनि मिलती है। आरम्भ से ही हमको माध्यमिक विचार-सरणी के चिह्न मिलते हैं।

शरणगमन के अन्य लक्षण जैसा कि महायान में उपदिष्ट है, बोधिसत्व की पारमिताओं का अभ्युपगम और अधिगम है। पारमिताओं के अभ्युपगम से वह बुद्धपुत्र हो जाता है।

उसका प्रणिधान और प्रयोग विशिष्ट है। वह सत्वों के समुद्धरण के आशय से बोधिचित्त का समादान करता है, और अत्यन्त उत्साह के साथ बोधि के लिए प्रयोग करता है।

इस बुद्धपुत्र का बीज बोधिचित्त का उत्पाद है। प्रज्ञापारमिता इसकी माता है, और प्रज्ञापारमिता से संप्रयुक्त पुण्य-ज्ञान-संभार गर्भ है, और करुणा अप्रतिम धात्री है।

उसका अधिगम भी विशिष्ट है। उसको महापुण्य-स्कन्ध का लाभ होता है, उसके सर्व दुःख का उपशम होता है; सम्यक्-संबोधि के क्षण में उसको बुद्ध के धर्मकाय की प्राप्ति होती है; उसको बलवैशारद्यादि कुशल-संभार की प्राप्ति होती है, और वह भव तथा निरोध दोनों से विमुक्त होता है।

इसी प्रकार बोधिसत्व अपने विपुल, उदग्र और अक्षय कुशल-मूल से श्रावकों को अभिभूत करता है। निर्वाण में यह उसका विशिष्ट अभिभवार्थ है। उसके कुशल-मूल क्षीण नहीं होते। उसके गुणों की अप्रमेय वृद्धि होती है, और वह अपने कृपाशय से इस जगत् का प्रतिवेध करता है, और महायान धर्म को प्रसिद्ध करता है।

बोधिसत्व के गोत्र

शरण-गमन से बोधिसत्व के गोत्र[1] में प्रवेश होता है। गोत्र का अस्तित्व धातु-भेद, अधिमुक्ति-भेद प्रतिपत्ति-भेद और फलभेद से निरूपित होता है। सत्वों के अपरिमाण धातु-भेद हैं। इसीलिए तीन यानों में गोत्र-भेद है। सत्वों में अधिमुक्ति-भेद (= श्रद्धाभेद) भी पाया जाता है। किसी की किसी यान में पहले से ही अधिमुक्ति होती है। यह गोत्र-भेद के बिना नहीं हो सकता। प्रत्ययवश अधिमुक्ति के उत्पादित होने पर भी प्रतिपत्ति-भेद होता है। कोई निर्वोढा होता है, कोई नहीं। यह गोत्र-प्रभेद के बिना संभव नहीं है। फल-भेद भी देखा जाता है, जैसे किसी को बोधि हीन, किसी को मध्य और किसी को विशिष्ट होती है। क्योंकि बीज के अनुरूप फल होता है। इसलिए यह प्रभेद भी गोत्र-भेद के बिना नहीं हो सकता।

निमित्त—चार निमित्तों से बोधिसत्वों के गोत्र का अग्रत्व प्रदर्शित होता है। श्रावकों के इस प्रकार के उदग्र कुशल-मूल नहीं होते। उनमें सब कुशल-मूल भी नहीं होते, क्योंकि उनमें बलवैशारद्यादि का अभाव है। श्रावकों में परार्थ भी नहीं होता और उनके कुशल-मूल अक्षय भी नहीं हैं, क्योंकि निरुपधिशेष-निर्वाण में उनका अवसान होता है।

---

1. अंगुत्तर ४।३७३ और ५।२३ में 'गोत्रभू' शब्द आता है। नौ या दश आर्य पुद्गलों की सूची में इसका निम्नतम स्थान है। एक में स्रोतापत्ति फल प्रतिपन्नक के पश्चात्, दूसरी सूची में श्रद्धानुसारी के पश्चात्। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' में 'पुथुज्जन' (= पृथग्जन) से इसका ऊँचा स्थान है। इसके अनुसार 'गोत्रभू' वह पुद्गल है, जो आर्य धर्म में प्रवेश करने के लिए आवश्यक धर्म से युक्त है। महाव्युत्पत्ति (६४) में पाँच गोत्र गिनाए गए हैं; श्रावकयानाभिसमय, प्रत्येकबुद्ध, तथागत, अनियत और अगोत्रक।

बोधिसत्व-गोत्र में चार लिङ्ग होते हैं—१. सत्वों के प्रति कारुण्य, २. महायान धर्म में अधिमुक्ति, ३. क्षान्ति अर्थात् दुष्करचर्या की सहिष्णुता, ४. पारमितामय कुशल का समाचार (निष्पत्ति)। संक्षेप में गोत्रों के चार भेद हैं :—१. नियत, २. अनियत, ३. प्रत्ययवश अहार्य, ४. प्रत्ययवश हार्य।

असंग बोधिसत्व-गोत्र की उपमा महासुवर्णगोत्र से देते हैं, और इसके माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह अप्रमेय कुशल-मूल और ज्ञान का आश्रय है, तथा इससे बहुसत्व का परिपाक होता है। यह बोधिवृक्ष का प्रशस्त मूल है। इससे सुख-दुःख का उपशम होता है, और अपने तथा पराए हित-सुख के फल का अधिगम होता है। (अधिकार ३)

बोधिचित्तोत्पाद

बोधिसत्वचर्या का आरम्भ बोधिचित्त के उत्पाद से होता है। इस चेतना के दो आलंबन हैं :—महाबोधि और सत्वार्थ-क्रिया। इसके तीन गुण हैं :—इसमें पुरुषकार-गुण है, क्योंकि इसमें महान् उत्साह और दुष्कर प्रयोग होते हैं। इसमें अर्थक्रिया-गुण और फलपरिग्रह-गुण हैं, क्योंकि यह आत्म-पर-हित का साधन करता है, और इससे बोधि का समुदागम होता है।

इस चित्तोत्पाद का मूल करुणा है। सदा सत्वों का हित संपादित करना इसका आशय है; महायानधर्म अधिमोक्ष है; इसका ज्ञान इस चेतना का आलंबन है; इसका यान उत्तरोत्तर छन्द है; इसकी प्रतिष्ठा बोधिसत्व के शीलसंवर में है; इसका आदीनव अन्य यान में चित्त की उत्पादना या अधिवासना है; इसका अनुशंस पुण्यज्ञानमय कुशलधर्म की वृद्धि है; इसका निर्याण पारमिताओं का सतत अभ्यास है; इसका भूमिपर्यवसान उस भूमि में प्रयोग से होता है। जिस भूमि में जिस चेतना का प्रयोग होता है, उसका उस भूमि में पर्यवसान होता है।

एक समादान सांकेतिक चित्तोत्पाद होता है, और एक पारमार्थिक। समादान परविज्ञापन से होता है; यथा कल्याणमित्र के अनुरोध से, गोत्रसामर्थ्य से, कुशलमूल के बल से, श्रुतबल से अथवा शुभाभ्यास से। पारमार्थिक चित्तोत्पाद उपदेश-विशेष, प्रतिपत्ति-विशेष और अधिगम-विशेष से होता है। प्रमुदिता भूमि में इस चित्त का उत्पाद होता है। उसकी धर्मों में समचित्तता होती है, क्योंकि वह धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। उसकी सत्वों में समचित्तता होती है, क्योंकि वह आत्म-पर-समता से उपगत है। उसकी सत्वकृत्यों में समचित्तता होती है, क्योंकि अपनी ही तरह वह सत्वों के दुःखक्षय की आकांक्षा करता है। उसकी बुद्धत्व में समचित्तता होती है, क्योंकि वह अपने में धर्म-धातु का अभेद जानता है।

जो सत्व इस चित्तोत्पाद से वंचित होते हैं, वे उन चार सुखों को नहीं प्राप्त कर सकते जिनका लाभ बोधिसत्वों को होता है। जो सुख परार्थ-चिन्तन से, परार्थ के उपायलाभ से, महायान के गंभीर सूत्रों के आभिप्रायिक अर्थ के जानने से और परम तत्त्व के संदर्शन से

बोधिसत्व को होता है, उससे वह विरहित होता है। वह इस सुख को त्याग कर शम का लाभ करता है।[1]

जो सत्व बोधिचित्त का उत्पाद करता है, उसका चित्त अनन्त दुष्कृतों से सुसंवृत होता है, और इसलिए उसको दुर्गति से भय नहीं होता। वह शुभ कर्म और कृपा की वृद्धि करता है। वह सदा सुख-दुःख में प्रसन्न रहता है।

उसको आत्मा की अपेक्षा पर प्रियतर है। वह पराए के लिए अपने शरीर और जीवन की उपेक्षा करता है। वह कैसे अपने लिए दूसरे का उपघात कर दुष्कृत में प्रवृत्त होगा?

संपदावस्था तथा विपदावस्था में वह क्लेश और दुःख से भयभीत नहीं होता। वह पराए के लिए उद्योग करता है। अवीचि भी उसके लिए रम्य है। फिर वह कैसे दूसरे के कल्याण के निमित्त दुःखोत्पाद से त्रस्त होगा?

वह सत्वों की उपेक्षा कभी नहीं कर सकता। उसके चित्त में महाकारुणिक भगवान् नित्य निवास करते हैं। उसका चित्त दूसरे के दुःख से दुःखी होता है। पर-कल्याण के लिए कुछ करने का अवसर प्राप्त होने पर यदि उसके कल्याण-मित्र समादापना करें, तो उसको अति लज्जा होती है। बोधिसत्व ने अपने ऊपर सत्वों का महान् भार लिया है। वह सत्वों में अग्र है, अतः शिथिल गति उसको शोभा नहीं देती। उसको श्रावकों की अपेक्षा सौगुना वीर्य करना चाहिये। [शिरसि विनिहितोच्चसत्वभारः शिथिलगतिर्नहि शोभतेऽग्रसत्वः ४।२८]

बोधिसत्व का संभार

असंग बताते हैं [५वाँ अधिकार] कि यह सुगतात्मज है। जिसने बोधिचित्त का ग्रहण किया है, कैसे महाकरुणा से प्रेरित हो महाबोधि के लिए प्रस्थान कर संभार में प्रवृत्त होता है। वह अपने और पराए में विशेष नहीं करता। उसको समानचित्तता प्राप्त है। वह अपने से पराए को श्रेष्ठतर भी मानता है। उसका कौन स्वार्थ है, कौन परार्थ? उसके लिए दोनों एक समान हैं। इसीलिए अपने को सन्तप्त करके भी वह परार्थ को साधित करता है। संसार में शत्रु के प्रति भी लोग इतने निर्दय न होंगे, जितना कि अपने प्रति बोधिसत्व निर्दय होता है, जब वह दूसरों के लिए अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। विमूढ़ जन अपने सुख के लिए सचेष्ट होता है, और उसके न प्राप्त होने पर दुःखी होता है। किन्तु जो परार्थ के लिए उद्यत है, वह स्वार्थ और परार्थ का संपादन कर निर्वृति-सुख को प्राप्त होता है। अनेक प्रकार से बोधिसत्व हीन, मध्य, विशिष्ट गोत्रस्थों का हित संपादित करता है। वह उसको देशना देता है; ऋद्धि-प्रातिहार्य से उनका आवर्जन करता है; उनको शासन में अवतीर्ण करता है; अनेक संशयों का निराकरण करता है; कुशल में उनका परिपाक करता है; अववाद-चित्त-

---

1. परार्थचित्तात्तदुपायलाभतो महाभिसंध्यर्थसुतत्त्वदर्शनात् ।
महार्हचित्तोदयवर्जिता जनाः शमं गमिष्यन्ति विहाय तत्सुखम् ॥ [४।२१]

स्थिति, प्रज्ञाविमुक्ति में सहायक होती है; उनको अभिज्ञादि विशेष गुणों से विभूषित करता है, तथागत-कुल में जन्म, आठवीं भूमि में व्याकरण, दशवीं भूमि में अभिषेक और साथ ही साथ तथागत-ज्ञान का लाभ उनको कराता है।

प्रजुलुस्की के शब्दों में महायान बार बार इस वाक्य को दुहराता है कि—"स्वर्ग जाना छोटी सी बात है। मेरी तो प्रतिज्ञा है कि मैं तुमको भी वहाँ ले चलूँगा।"

असंग के दार्शनिक विचार

अद्वयवाद—इसके पश्चात् असंग दार्शनिक प्रश्नों को लेते हैं। छठे अधिकार के आरम्भ के विचार माध्यमिक हैं। "परमार्थ न सत् है, न असत्; न तथा है, न अन्यथा; न इसका उदय होता है, न व्यय; न इसकी हानि होती है, न वृद्धि; यह विशुद्ध नहीं होता है, पुनः विशुद्ध होता है। यह परमार्थ का लक्षण है।"

परमार्थ अद्वयार्थ है। परिकल्पित और परतन्त्र लक्षणवश यह सत् नहीं है, और परिनिष्पन्न लक्षणवश यह असत् नहीं है। परिनिष्पन्न का परिकल्पित और परतन्त्र से एकत्व का अभाव है। इसलिए यह 'तथा' नहीं है। यह अन्यथा भी नहीं है, क्योंकि परिनिष्पन्न का उनसे अन्यत्व भी नहीं है। परमार्थ का उदय-व्यय नहीं होता, क्योंकि धर्म-धातु अनभिसंस्कृत है। इसकी हानि-वृद्धि नहीं होती, क्योंकि संक्लेश-पक्ष के निरोध और व्यवदान-पक्ष के उत्पाद पर यह तदवस्थ रहता है। यह विशुद्ध नहीं होता, क्योंकि प्रकृति से यह असंक्लिष्ट है, और विशुद्ध भी होता है, क्योंकि आगन्तुक उपक्लेश का विगम होता है।

अनात्मदृष्टि—सब बौद्धवादों के समान असंग भी आत्मदृष्टि-विपर्यास का प्रतिषेध करते हैं। आत्मदृष्टि का लक्षण आत्मा नहीं है, दुःसंस्थितता भी आत्मलक्षण नहीं है; आत्मदृष्टि परिकल्पित आत्मलक्षण से विलक्षण है, क्योंकि पञ्च स्कन्ध दुःखमय हैं, और दुःसंस्थितता पुनः पञ्चोपादान-स्कन्ध है। इन दो से,अर्थात् आत्मदृष्टि और पञ्चोपादान-स्कन्ध से अन्य किसी आत्मलक्षण की उपपत्ति नहीं होती, अतः आत्मा का अस्तित्व नहीं है। यह आत्मदृष्टि भ्रममात्र है, अतः आत्मा का अभाव है। मोक्ष भी भ्रममात्र का संक्षय ही है। कोई मुक्त नहीं है।

असंग पूछते हैं कि यह क्यों है कि लोग विभ्रममात्र आत्मदर्शन पर आश्रित हो यह नहीं समझते कि दुःख की प्रकृति संस्कारों में सतत अनुबद्ध है। जो दुःख का संवेदन नहीं करता, वह उस दुःख-स्वभाव के ज्ञान से दुःखी होता है। जो वेदक है, वह दुःख के अनुभव से दुःखी है। यदि वह दुःखी है, तो इसलिए कि दुःख अप्रहीण है। यदि वह दुःखी नहीं है, तो इसलिए कि दुःखयुक्त आत्मा का अभाव है। जब लोग भावों का प्रतीत्य-समुत्पाद प्रत्यक्ष देखते हैं, जब वे देखते हैं कि उस उस प्रत्ययवश वह वह भाव उत्पन्न होता है, तो उनकी यह दृष्टि क्यों होती है कि दर्शनादिक अन्यकारित हैं, प्रतीत्य-समुत्पन्न नहीं हैं? यह कौन सा अज्ञान-प्रकार है, जिसके कारण लोग विद्यमान प्रतीत्य-समुत्पाद को नहीं देखते, और अविद्यमान आत्मा

को देखते हैं ? यह हो सकता है कि तम के कारण विद्यमान न देखा जा सके, किन्तु अविद्यमान का देखा जाना शक्य नहीं है। [९।२–४]

असंग एक आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि आत्मा के बिना भी (पुद्गल का) शम और जन्म का योग है। परमार्थ-दृष्टि से संसार और निर्वाण में किञ्चिन्मात्र अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का समान नैरात्म्य है। तथापि यह विधान है कि जो शुभ कर्म के करने वाले हैं, जो मोक्षमार्ग की भावना करते हैं, उनको जन्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] नागार्जुन की भी यही शिक्षा है। विज्ञानवाद और माध्यमिक दोनों का परमार्थ-सत्य एक ही है।

परमार्थ-ज्ञान—आत्मदृष्टि-विपर्यास को निरस्त कर असंग कहते हैं कि इस विपर्यास का प्रतिपक्ष पारमार्थिक ज्ञान है। इस ज्ञान में प्रवेश पुण्यज्ञानसंभार और चिन्ता द्वारा धर्मों के विनिश्चय से होता है। उस समय बोधिसत्व अर्थ की गति को जान जाता है। उसको यह अवगत हो जाता है कि अर्थ जल्पमात्र हैं, और वह अर्थाभास चित्तमात्र में अवस्थान करता है। यह बोधिसत्व की निर्वेधभागीय अवस्था है। पुनः उसको धर्मधातु का प्रत्यक्ष होता है, और इससे वह ग्राह्यग्राहकलक्षण से विमुक्त होता है। यह दर्शनमार्ग की अवस्था है [९।७]। बुद्धि द्वारा यह अवगत कर कि चित्त से अन्य आलंबन (ग्राह्य) नहीं है, उसको यह भी अवगत होता है कि चित्तमात्र भी नहीं है, क्योंकि जब ग्राह्य का अभाव है, तब ग्राहक का भी अभाव है।

द्वय में इसके नास्तित्व को जान कर वह धर्मधातु में अवस्थान करता है। भावनामार्ग की अवस्था में आश्रय-परिवर्तन से पारमार्थिक ज्ञान में प्रवेश होता है। समतानुगत अविकल्पक ज्ञान के बल से वह दोष-संचय का निरसन करता है, और बुद्धत्व को प्राप्त होता है।

बोधिचर्या

बोधिचर्या में प्रथम चरण विज्ञप्तिमात्रता है, अर्थात् यह ज्ञान कि ग्राह्य और ग्राहक चित्तमात्र हैं। दूसरे चरण में यह विज्ञानवाद अद्वयवाद में परिवर्तित हो जाता है—"धर्म-धातु का प्रत्यक्ष होने से वह द्वयलक्षण से विमुक्त हो जाता है।" तृतीय चरण—नागार्जुन का यह मत है कि जब बुद्धि से यह अवगत हो गया कि चित्त के अतिरिक्त कोई दूसरा आलंबन नहीं है, तो यह जाना जाता है कि चित्तमात्र का भी अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जहाँ ग्राह्य नहीं है, वहाँ ग्राहक भी नहीं है। वह किसी नास्तित्व में पतित नहीं होता, क्योंकि जब बोधिसत्व द्वय में चित्त के नास्तित्व को जान जाता है, तब ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण से रहित हो वह धर्म-धातु में अवस्थान करता है। यह मूल चित्त है, जो संपिंडित धर्म को आलंबन बनाता है। चतुर्थ चरण में इस परमार्थ-ज्ञान का प्रयोग बोधिचर्या के लिए होता है [९।७–१०]।

---

1. न चान्तरं किञ्चन विद्यतेऽनयोः सदर्थवृत्त्या शमजन्मनोरिह।
तथापि जन्मक्षयतो विधीयते शमस्य लाभः शुभकर्मकारिणाम् [९।५]

छः अभिज्ञाएं—छः अभिज्ञा ही बोधिसत्वों के प्रभाव हैं। असंग दिखाते हैं कि किस निश्रय, किस ज्ञान, किस मनसिकार से इस प्रभाव का समुदागम होता है। इस प्रभाव का त्रिविध फल है। वह आर्य और दिव्य ब्राह्म-विहारों में नित्य विहार करता है, तथा जिस लोक-धातु में वह जाता है, वहाँ बुद्धों का पूजन और सत्वों का विशोधन करता है।

वस्तुतः जब सविकल्पक ज्ञान का स्थान प्रज्ञा-पारमिता लेती है, अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह होता है, तब यह ज्ञान धर्म-समूह पर अपना कारित्र कर प्रभाव-सिद्धि निष्पन्न करता है। तब कोई भी कार्य चित्त को व्याघात नहीं पहुँचाता, और योगी अर्थवशित्व प्राप्त करता है। असंग इन अभिज्ञाओं का सविस्तार वर्णन करते हैं, और इस प्रकार विज्ञानवाद का दूसरा नाम योगाचार सार्थक होता है।

यह मत माध्यमिक और एक प्रकार के अद्वय-विज्ञानवाद के बीच की वस्तु है। यह मत आत्मप्रतिषेध को वर्जित कर उपनिषदों का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार महायानसूत्रालङ्कार दो दृष्टियों का सन्तुलन करने की चेष्टा करता है, किन्तु दोनों एक बिन्दु पर मिलते हैं। लोक भ्रान्तिमात्र है, यह समान बिन्दु है। यह बिन्दु नागार्जुन और विज्ञानवादी अद्वयवाद दोनों में पाया जाता है (रेने ग्रूसे)। निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह कर चतुर्थ ध्यान में समापन्न हो योगी सब लोकधातुओं को उनके सत्वों के सहित तथा उनके विवर्त-संवर्त के सहित माया के सदृश देखता है, और वह विचित्र प्रकारों से उनका यथेष्ट संदर्शन कराता है; क्योंकि उसको वशिता का लाभ है।

ज्ञानवशित्व से वह शुद्धि को प्राप्त होता है, और अपनी इच्छा के अनुसार बुद्धक्षेत्र को विनेयजनों को दिखाता है और वह सत्वों का परिशोधन भी करता है। जो सत्व ऐसे लोक-धातुओं में उपपन्न हैं, जो बुद्धनाम से विरहित हैं, उनको वह बुद्धनाम सुना कर बुद्ध में प्रतिपन्न करता है, और वह बुद्धनाम से अविरहित लोकधातुओं में उत्पन्न होता है। उसमें सत्वों के परिपाचन की शक्ति होती है। वह क्लेशपरवश जगत् को अपने वश में स्थापित करता है। वह सदा परहित-क्रिया में सुख का अनुभव करता है, और भव का भय नहीं करता।

आत्म-परिपाक व पारमिताओं के प्रयोग—उक्त प्रभाव के कारण बोधिसत्व आत्म-परिपाक करता है, तदनन्तर सत्वों के परिपाक की योग्यता को प्राप्त होता है, और सत्वों का प्रतिशरण होने के कारण जगत् का अग्रबन्धु होता है।

महायान देशना में रुचि, देशिक में प्रसाद (= श्रद्धा), क्लेशों का प्रशम, सत्वों पर अनुकम्पा, दुष्करचर्या में सहिष्णुता, ग्रहण-धारण-प्रतिवेध की मेधा, अधिगम की प्रबलता, मारादि से अहार्यता और प्राहाणिक (= प्रधान) अंगों से समन्वागम आत्म-परिपाक के लक्षण हैं।

अपना परिपाचन कर बोधिसत्व दूसरों का परिपाक करता है। वह सत्वों का प्रतिशरण होता है। वह सतत धर्मकाय की वृद्धि करता है।

जिस आशय से बोधिसत्व सत्वों का परिपाक करता है, वह आशय माता-पिता-बान्धवादि के आशय से विशिष्ट है, और आत्म-वात्सल्य से भी विशिष्ट है। आत्म-वत्सल पुरुष अपना हित-सुख संपादित करता है, किन्तु यह कृपात्मा पर-सत्व-वत्सल है, क्योंकि यह उनको हित-सुख से समन्वित करता है [८।१४–१५]।

जिस प्रयोग से बोधिसत्व सत्वों का परिपाक करता है, वह पारमिताओं का प्रयोग है। वह त्रिविध दान से उनका परिपाक करता है। उसके लिए कुछ भी अदेय नहीं है। वह अपना सर्वस्व शरीर, भोगादि दान में देता है। उसका दान विषम नहीं होता, और उससे उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। वह सत्वों पर दो प्रकार का अनुग्रह करता है—दृष्ट-धर्म में वह उनकी इच्छाओं को पूर्ण करता है, और उनकी कुशल में प्रतिष्ठा करता है।

वह स्वभाव से स्वयं शीलवान् है, और वह दूसरों को शील में सन्निविष्ट करता है। वह क्षान्ति द्वारा सत्वों का परिपाक करता है। यदि कोई उसका अपकार करता है, तो भी वह प्रति-उपकार की ही बुद्धि रखता है। वह उग्र व्यतिक्रम को भी सह लेता है। वह उपायज्ञ है, और वह ऐसे सत्वों का भी आवंजन करता है, और उनको कुशल में संनिविष्ट करता है। वह अनन्त सत्वों के परिपाक के लिए कुशल कर्म करते हुए भी नहीं थकता। इसी प्रकार ध्यान और प्रज्ञा से वह परिपाचन-क्रिया करता है। वह विविध प्रकार से सत्वों का परिपाचन करता है। किसी का विनयन सुगति गति के लिए, किसी का यानत्रय के लिए होता है।

बुद्धत्व (बोधि) का लक्षण

इस प्रकार आत्म-परिपाक कर बोधिसत्व बोधि का लाभ करता है। नवें अधिकार में बोधि का सविस्तर वर्णन है। सर्वगत ज्ञान होने के कारण बोधि लोकधातु से अनन्य है, क्योंकि सर्व ज्ञान अपने अर्थ से अभिन्न है; अतः सर्व धर्म बुद्धत्व है। बुद्धत्व तथता से अभिन्न है, और तथता की विशुद्धि से प्रभावित है। बुद्धत्व स्वयं कोई धर्म नहीं है, क्योंकि धर्मस्वभाव परिकल्पित है। बुद्धत्व शुक्र धर्ममय है, क्योंकि पारमितादि कुशल की प्रवृत्ति उसके अस्तित्व से होती है। शुक्र धर्मों से यह निरूपित नहीं होता, क्योंकि पारमितादि पारमितादिभाव से परिनिष्पन्न नहीं हैं। यह अद्वय लक्षण है।

यद्यपि यह तथता है, तथापि यह अपर तथताओं का समुदाय नहीं है। इसमें वह है, किन्तु यह उनके अन्तर्गत नहीं है। आश्रय-परावृत्ति से ही चित्त इस अवस्था को प्राप्त होता है। यह परावृत्ति चित्त का विपरिणाम करती है, और उसको उत्कृष्ट बनाती है, यहाँ तक कि चित्त आकाश संज्ञा को प्राप्त होता है, जो अत्यन्त विशुद्ध और अत्यन्त सर्वगत है, और जिससे सब विकल्प अपगत हो गए हैं। अनास्रव-धातु (वह धातु जो धर्मों के प्रवाह से रहित है) में बोधि का एक प्रकार का द्रव्य होता है। यहाँ बोधिसत्व निवास करते हैं, और यह धर्मतथता से अन्य नहीं है। किन्तु जब एक बार बोधि विविध भूमियों से होकर अपने स्थान को पहुँचाती है, तब इसका क्या कारण है कि यह विपरीतभाव से धर्मों की ओर पुनः प्रवृत्त होती है?

महायान मानता है कि बुद्धों का उपकारक कारित्र नित्य होता है, और इसीसे यह कठिनता उत्पन्न होती है; किन्तु उसने त्रिकायवाद से इस कठिनता को दूर किया है। धर्मकाय स्वाभाविक काय है। संभोगकाय वह काय है, जिससे पर्षन्मण्डल में वह धर्मसंभोग करते हैं। निर्माणकाय वह काय है, जिसको निर्मित कर बुद्ध सत्वों का उपकार करते हैं। किन्तु इन विशेषों के मूल में केवल भ्रान्ति की लीला है, जिससे सविकल्प परिकल्पित-चित्त की मौलिक शान्ति को क्षुब्ध करता है। बुद्ध न एक है, न अनेक। केवल बोधिमात्र है, जिसकी वृत्ति एक समान और सतत है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २४)।

लक्षण—बोधि पर जो अध्याय है, वह वस्तुतः विज्ञानवाद का एक प्रधान ग्रन्थ है। ६।१-२ में बुद्धत्व का लक्षण यही दिया है कि यह सर्वावरण से निर्मल सर्वाकारज्ञता है। ६।४-५ में कहा है कि बुद्धत्व का लक्षण अद्वय है। बुद्धत्व का अर्थों के साथ अतिसूक्ष्म संबन्ध है। सब धर्म (अर्थात् सब अर्थ) बुद्धत्व है, किन्तु यह स्वयं धर्म नहीं है।

यह शुक्लधर्ममय है, किन्तु यह शुक्लधर्मों से निरूपित नहीं होता। ६।५ में कहा है कि सब धर्म बुद्धत्व हैं, क्योंकि यह तथता से अभिन्न हैं, और तथता की विशुद्धि से प्रभावित हैं। किन्तु बुद्धत्व कोई धर्म नहीं है, क्योंकि धर्मों का स्वभाव परिकल्पित होता है, और बुद्धत्व परमार्थ है। पुनः बुद्धत्व सब धर्मों का समुदाय है, अथवा सब धर्मों से व्यपेत है (६।६)।

बुद्धानुभाव—यह बुद्धत्व सर्वक्लेश से सदा परित्राण करता है; जन्म, मरण तथा दुश्चरित से भी परित्राण करता है। बुद्धानुभाव से सब उपद्रव शान्त होते हैं। अन्धे आँख पाते हैं, बधिर श्रोत्र; विक्षिप्त-चित्त स्वस्थ होते हैं; ईतियां शान्त होती हैं। बुद्ध की प्रभा अपाय से परित्राण करती है। बुद्धत्व तीर्थिक-दृष्टि और सत्काय-दृष्टि से परित्राण करता है। यह अनुपम शरण है। जब तक लोक का अवस्थान है, तब तक बुद्धत्व सब सत्वों का सबसे बड़ा शरण है (६।११)।

आश्रय परिवृत्ति—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के बीज जो अनादिकाल से सतत अनुगत हैं, बुद्धत्व में अस्त होते हैं। बुद्धत्व ही आश्रय-परिवृत्ति है। बुद्धत्व से ही विपक्ष बीज का वियोग और प्रतिपक्ष-संपत्ति का योग होता है, और बुद्धत्व की प्राप्ति निर्विकल्प ज्ञान-मार्ग से होती है। इस प्रकार सुविशुद्ध लोकोत्तर ज्ञान का लाभ कर तथागत नीचे लोक को देखते हैं; जैसे कोई महान् पर्वत के शिखर पर से देखता हो। उनमें श्रावक-प्रत्येकबुद्ध के लिए भी जो शमाभिराम हैं, और अपना ही निर्वाण चाहते हैं, करुणा उत्पन्न होती है। फिर दूसरों की क्या कथा, जिनकी रुचि भव में है (अघाभिराम)? (६।१३)।

सर्वगतत्व—तथागतों की परिवृत्ति परार्थ-वृत्ति है। यह अद्वय है, और सर्वगत वृत्ति है। यह संस्कृत और असंस्कृत है, क्योंकि यह न संसार और न निर्वाण में प्रतिष्ठित है (६।१४)।

असंग नागार्जुन के दिए एक दृष्टान्त को देखकर बुद्धत्व के सर्वगतत्व को दिखाते हैं; जैसे आकाश सदा सर्वगत है, उसी प्रकार बुद्धत्व का स्वभाव सर्वगतत्व है। जैसे विविध रूपों में आकाश सर्वग है, उसी प्रकार सत्वों में बुद्धत्व का सर्वगतत्व है। बुद्धत्व सब सत्वों में असन्दिग्ध

रूप से व्यवस्थापित है, क्योंकि यह सब सत्वों को परिनिष्पत्तितः अपने से अंगीकृत करता है (६।१५)।

फिर ऐसा क्यों है कि बुद्धत्व का यह सर्वगतत्व नाम-रूप के जगत् में नहीं प्रकट होता ? असंग उत्तर देते हैं :—यथा भिन्न (भग्न) जल-पात्र में चन्द्रबिम्ब नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार दुष्ट सत्वों में जो अपात्र हैं, बुद्धबिम्ब का दर्शन नहीं होता (६।१६); यथा अग्नि अन्यत्र जलती है, अन्यत्र शान्त होती है, उसी प्रकार जहाँ बुद्ध-विनय होते हैं, वहाँ बुद्ध का दर्शन होता है, और जब विनीत हो जाते हैं तब उनका अदर्शन होता है। शांकर वेदान्त में हम इन्हीं दृष्टान्तों को पाते हैं। वहाँ पूर्ण ब्रह्म को सर्व-विशुद्ध और सर्व-परिपूर्ण माना है और उसके आगन्तुक आवरण और उपाधियां इस स्वाभाविक परिपूर्णता को, कम से कम देखने में, अविच्छिन्न रूप से आच्छादित करती हैं।

अर्थचर्या का अभिप्राय—पुनः हम किस प्रकार इसका समन्वय करते हैं कि बोधिसत्व सत्वों की अर्थचर्या करते हैं, और उनका बुद्धकार्य अनाभोग से ही सिद्ध होता है, और साथ ही साथ अनास्रव धातु निश्चल और निष्क्रिय है ? असंग इसके उत्तर में कहते हैं—आभोग के बिना बुद्ध में देशना का समुद्भव उसी प्रकार होता है, जैसे अघट्टित तूर्यों में शब्द की उत्पत्ति होती है। पुनः जैसे बिना यत्न के मणि अपने प्रभाव का निदर्शन करती है, उसी प्रकार आभोग के बिना बुद्धों में भी कृत्य का निदर्शन होता है (६।१८-१९)। जैसे आकाश में लोक-क्रिया अविच्छिन्न देखी जाती है, उसी प्रकार अनास्रव-धातु में बुद्ध की क्रिया अविच्छिन्न होती है, और जैसे आकाश में लोक-क्रियाओं का अविच्छेद होने पर भी अन्यान्य क्रिया का उदय-व्यय होता है, उसी प्रकार अनास्रव-धातु में बुद्धकार्य का उदय-व्यय होता है। (६।२०-२१)।

बुद्धत्व का परमात्म-भाव

बुद्धत्व और लोक का क्या संबन्ध है ? असंग कहते हैं—यद्यपि तथता पौर्वापर्य से विशिष्ट है, और इसलिए शुद्ध नहीं है; तथापि जब वह सर्व आवरण से निर्मल हो जाती है, तब वह मलापगम के कारण शुद्ध हो जाती है, और बुद्धत्व से अभिन्न हो जाती है (६।२२)।

बुद्ध, जिन्होंने नैरात्म्य द्वारा मार्ग का लाभ किया है, विशुद्धि शून्यता में आत्मा की शुद्धता का लाभ करते हैं, और आत्म-महात्मता को प्राप्त होते हैं। (६।२३)।[1]

यह अनास्रव धातु में बुद्धों के परम आत्मा का निर्देश है। यह 'परमात्मा' शब्द आश्चर्यजनक है। असंग यह भी कहते हैं कि इसका कारण यह है कि बुद्धों का परमात्मा अग्र नैरात्म्यात्मक है। अग्र नैरात्म्य विशुद्ध तथता है। यही बुद्धों की आत्मा है, अर्थात् स्वभाव है। इसके विशुद्ध होने पर अग्र नैरात्म्य की प्राप्ति होती है और यह शुद्ध आत्मा है। अतः शुद्धात्मा के लाभी होने से बुद्ध आत्म-माहात्म्य को प्राप्त होते हैं, और इसी अभिसन्धि में बुद्धों की परम आत्मा अनास्रव-धातु में व्यवस्थापित होती है (६।२३)।

1. शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान्मार्गलाभतः।
बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वाद् गता आत्ममहात्मताम् [६।२३]

शंकर के आत्मवाद से तुलना—यहाँ हम यह कह सकते हैं कि यह विचार कतिपय उपनिषदों के वाक्यों का स्मरण दिलाते हैं। जो आत्मा नैरात्म्यस्वभाव है, अथवा यों कहिये कि जो आत्मा अपने मूल में, नैरात्म्य में, विलीन है, वह बृहदारण्यक के निर्गुण आत्मा के समीप है। इस प्रकार नागार्जुन की दृष्टि से प्रस्थान कर एक अनजान मोड़ हमको शंकर के अद्वैतवाद की चौखट पर ले आई है। इसमें सन्देह नहीं कि शंकर का अद्वैतवाद आत्मवाद कहलायेगा, जब कि असंग का अद्वैतवाद विज्ञानवाद है; किन्तु यह विज्ञानवाद ऐसा है कि स्वयं से ही विलुप्त होने लगता है। आत्मसंज्ञा का (जिसका स्वभाव नैरात्म्य का है) व्यवहार कर असंग के वाद की भाषा वेदान्त की भाषा के अत्यन्त समीप आ जाती है, और इसी प्रकार यदि हम उपनिषद् और शंकर के निर्गुण, निर्विशेष आत्मा को लें, जो शून्यता से इतना मिलता जुलता है, तो हमको ज्ञात होगा कि शंकर के आत्मा और असंग के आत्म-नैरात्म्य के बीच कितना कम अन्तर है (रेने ग्रूसे)।

किन्तु इसके आगे के श्लोक में (६।२४) असंग कहते हैं—इसी कारण कहा गया है कि बुद्धत्व न भाव है, न अभाव है। बुद्ध के भावाभाव के प्रश्न में (मरणानन्तर तथागत होते हैं या नहीं इत्यादि) हमारा अव्याकृत नय है। हम नहीं कह सकते कि बुद्धत्व भाव है, क्योंकि पुद्गल और धर्म का अभाव इसका लक्षण है, और यह तदात्मक है। पुनः हम यह भी नहीं कह सकते कि यह अभाव है, क्योंकि तथता इसका लक्षण है, और इस लिए यह भाव है (६।२४)।

असंग अपने बुद्धत्व को भाव और अभाव के बीच रखने के लिए कुछ और भी हेतु देते हैं। लोहे की दाह-शान्ति और दर्शन की तिमिर-शान्ति भाव नहीं हैं, क्योंकि दाह और तिमिर का अभाव इसका लक्षण है। यह अभाव भी नहीं है, क्योंकि इसका लक्षण शान्ति भाव है। इसी प्रकार बुद्धों के चित्त-ज्ञान में राग और अविद्या की शान्ति को भाव नहीं कहा गया है, क्योंकि राग और अविद्या के अभाव से इसका उत्पाद होता है, तथा इसे अभाव भी नहीं कहा गया है, क्योंकि उस उस विमुक्ति लक्षण के कारण यह भाव है (६।२५)।

असंग का अद्वैतवाद

यह एक प्रकार के अद्वैतवाद के समीप है। बुद्धों के अनास्रव-धातु में न एकता है, न बहुता। एकता नहीं है, क्योंकि बुद्धों के पूर्व देह थे; और बहुता नहीं है, क्योंकि आकाश के तुल्य बुद्ध का देह नहीं है (६।२६)। पुनः—जैसे सूर्य के मण्डल में अप्रमेय रश्मियाँ व्यामिश्र हैं, जो सदा एक ही कार्य में संलग्न रहती हैं; और लोक में प्रकाश करती हैं, उसी प्रकार अनास्रव-धातु में अप्रमेय बुद्ध होते हैं जो एक ही मिश्र कार्य में संलग्न होते हैं, और ज्ञान का आलोक करते हैं। जैसे एक सूर्य-रश्मि के निःसरण से सब रश्मियों की विनिःसृति होती है, उसी प्रकार बुद्धों की ज्ञान-प्रवृत्ति एक काल में होती है। जैसे सूर्य-रश्मियों की वृत्ति में ममत्व का अभाव है, उसी प्रकार बुद्ध के ज्ञान की वृत्ति में ममत्व नहीं है। जैसे सूर्य की रश्मियों से जगत् सकृत् अवभासित होता है, उसी प्रकार बुद्ध-ज्ञान से सर्व सकृत्

प्रभासित होता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें मेघादि से आवृत होती हैं, उसी प्रकार सत्वों की दुष्टता बुद्ध-ज्ञान का आवरण है। यथा पांशुवश वस्त्र कहीं रंगों से विचित्रित और कहीं अविचित्रित होता है, तथैव आवेधवश अर्थात् पूर्व प्रणिधानचर्या के बलाधान से बुद्धों की विमुक्ति में ज्ञान की विचित्रता होती है; किन्तु श्रावक-प्रत्येकबुद्ध की विमुक्ति में अविचित्रता होती है (६।२६–३५)।

ये उपमाएं हमको अद्वैतवाद के दरवाजे पर ले जाती हैं। द्रव्य और स्वभाव के स्थान में असंग तथता और बुद्धत्व का प्रयोग करते हैं। सब की तथता निर्विशिष्ट है, किन्तु यही तथता जब विशुद्धिस्वभाव की हो जाती है, तब तथागतत्व हो जाती है। इसीलिए सब सत्व तथागत-गर्भ हैं (६।३७)।

पुनः लौकिक से बुद्धत्व में परिणत होने में सब धर्मों की जो परावृत्ति होती है, उसका वर्णन असंग करते हैं। बुद्धों का विभुत्व अप्रमेय और अचिन्त्य होता है। विभुत्व के साथ साथ निर्विकल्पक सुविशुद्ध ज्ञान होता है। उनके अर्थ विज्ञान और विकल्प की परावृत्ति होती है। इससे वह यथाकाम भोग-संदर्शन करते हैं, और उनके सब ज्ञान और कर्मों को कभी व्याघात नहीं पहुँचता। प्रतिष्ठा की परावृत्ति से बुद्धों के अनास्रव धातु में (अचलपद या अमलपद) अप्रतिष्ठित-निर्वाण होता है (६।४५)[1]। तथागत न संस्कृत धातु में प्रतिष्ठित हैं, और न असंस्कृत धातु में; और न वहां से व्युत्थित हैं।

निर्वाण

हीनयान दो प्रकार के निर्वाण से अभिज्ञ है—सोपधिशेष और निरुपधिशेष। पहली जीवन्मुक्त की अवस्था है। इस अवस्था में अर्हत् को शारीरिक दुःख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है जिसमें अर्हत् का, मृत्यु के पश्चात्, अवस्थान होता है।

अप्रतिष्ठित निर्वाण—महायान में एक अवस्था अधिक है। यह अप्रतिष्ठित निर्वाण की अवस्था है, क्योंकि बुद्ध यद्यपि परिनिर्वृत हो चुके हैं और विशुद्ध तथा परम शान्ति को प्राप्त हैं, तथापि वह शून्यता में विलीन होने के स्थान में संसार के तट पर संसरण करने वाले जीवों की रक्षा के निमित्त स्थित रहना चाहते हैं; किन्तु इससे उनको इसका भय नहीं रहता कि उनका विशुद्ध ज्ञान समल हो जायगा (सिलवां लेवी की भूमिका, पृ० २७ टिप्पणी ४)।

बोधिसत्व का परिपाक—विज्ञानवाद की दृष्टि में सकल लोकधातु शुभ में वृद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् कुशलमूल का उपचय करता है, और विशुद्ध विमुक्ति में परमता को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह परिपाक नित्य होता है, क्योंकि लोक अनन्त हैं (६।४६)। असंग कहते हैं कि बोधिसत्वों के परिपाक का यह लक्षण आश्चर्यमय है, क्योंकि यह धीर सदा सब समय नित्य और ध्रुव महाबोधि का लाभ करते हैं, जो अशरणों का शरण है। इसमें आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि वह तदनुरूप मार्ग की चर्या करते हैं (६।५०)।

---

1. प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं बुद्धानामचले पदे ॥ [६।४५]

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया गया है बुद्ध का कार्य बिना आभोग के निरन्तर होता है, और वह हितसुखात्मक निश्चलता का कभी त्याग नहीं करते। वह अनेक उपायों का प्रयोग करते हैं। कभी अनेक प्रकार से धर्मचक्र का दर्शन कराते हैं, कभी जातकभेद से विचित्र जन्मचर्या, कभी कृत्स्न बोधि, और कभी निर्वाण का दर्शन कराते हैं। किन्तु वह अपने स्थान से ही सत्वों का विनयन करते हैं। वह अनास्रवधातु से विचलित नहीं होते, किन्तु यह सब वही करते हैं। बुद्ध नहीं कहते कि इसका मेरे लिए परिपाक हो गया है, इसका मुझको परिपाक करना है, या इसका परिपाक अब होने वाला है। बिना किसी संस्कार के जनता का परिपाक शुभ धर्मों से सब दिशाओं में नित्य होता है। जिस प्रकार सूर्य बिना किसी यत्न के अपनी प्रतत शुभ्र किरणों से सर्वत्र सस्य का पाक करता है, उसी प्रकार धर्म का सूर्य अपनी शान्त धर्म-किरणों को समन्तात् विस्तीर्ण कर सत्वों का पाक करता है (६।५२-५३)।

रेनेग्रूसे की आलोचना—असंग की यह चेष्टा निरन्तर रहती है कि वह नागार्जुन के मतवाद के विरुद्ध न जांय, किन्तु कभी कभी वह हमको उनसे बहुत दूर जाते प्रतीत होते हैं। इस वाक्य को लीजिए (६।५५):—यथा महासागर की कभी जल से तृप्ति नहीं होती और न प्रतत जल के प्रवेश से उसकी वृद्धि ही होती है, तथैव विमुक्ति में परिपक्वों के प्रवेश से न धर्मधातु की तृप्ति होती है, और न उसकी वृद्धि होती है; क्योंकि उससे कोई अधिक नहीं है। क्या असंग, जान में हो या अनजान में, बुद्धत्व का निदर्शन इस प्रकार नहीं कर रहे हैं कि मानों वह एक प्रकार का आध्यात्मिक आकाश है, जहाँ सर्व धर्म की तथता विलीन होकर सुविशुद्ध और अद्वय हो जाती है?

सर्व परतन्त्र और सर्व विशेष की 'विशुद्धि' का भाव, उपशम द्वारा एकता और विशुद्धि प्राप्त करने का भाव असंग में निरन्तर विद्यमान है। वह दुहराते है कि बुद्धत्व का लक्षण सर्व धर्म की तथता की क्लेशावरण और ज्ञेयावरण से विशुद्धि है (६।५६)। इसका अर्थ यह है कि 'बुद्धत्व में तथता सर्व धर्मों से विशुद्ध हो जाती है'।

त्रिकायवाद

असंग बुद्धत्व की भिन्न वृत्तियों का आरम्भ कर त्रिकायवाद का निरूपण करते हैं। त्रिकाय की कल्पना से वह विज्ञानवाद की कठिनाइयों को दूर करते हैं। बुद्धकाय के तीन विभाग हैं:—स्वाभाविक, सांभोगिक, नैर्माणिक। स्वाभाविक काय धर्मकाय है। आश्रय-परावृत्ति इसका लक्षण है। सांभोगिक काय वह काय है, जिससे पर्षन्मण्डल में बुद्ध धर्म-संभोग करते हैं। नैर्माणिक काय वह काय है, जिसका निर्माण कर वह सत्वार्थ करते हैं।

धर्मकाय—धर्मकाय सब बुद्धों में समान और निर्विशिष्ट है। यह सूक्ष्म है क्योंकि यह दुर्ज्ञेय है। यह सांभोगिक काय से संबद्ध है, और संभोग के विभुत्व में हेतु है (६।६२)। सांभोगिक काय धातुत्रय के ऊपर अवस्थित है। यह बुद्धों का अचिन्त्य आविर्भाव है। कम से कम हमारे लिए यह अगोचर है। बोधिसत्व ही अपनी प्रज्ञा से इनका चिन्तन कर सकते हैं। यह काय नित्य है, किन्तु यह एक आविर्भाव है। पर्षन्मण्डल, बुद्ध-क्षेत्र, नाम, शरीर

और धर्म-संभोग-क्रिया की दृष्टि से भिन्न भिन्न लोकधातु की यह काय भिन्न है। नैर्माणिक काय अप्रमेय है। इसका लक्षण परार्थ-संपत्ति है जब कि सांभोगिक काय का लक्षण स्वार्थ-संपत्ति है। इसी काय का दर्शन विनेयजन करते हैं। विनेयजनों के विमोचन का यह महान् उपाय है।

अन्य ग्रन्थों में धर्मकाय के संबन्ध में अन्य विचार मिलेंगे। धर्मकाय को प्रपञ्चातीत, एकता अनेकता से विगत, भावाभावरहित, नित्य, अलक्षण अर्थात् निर्विकल्पक और निर्विशेष और परमार्थ से अभिन्न मानते हैं। बोधिचर्यावतारपञ्जिका में प्रज्ञाकरमति इसी अर्थ में कहते हैं कि बुद्धत्व को, जो प्रपञ्चातीत, आकाशसम है, धर्मकाय कहते हैं। यही परमार्थ सत्य है, और इसी अर्थ में महायानसूत्रालंकार का यह वाक्य है—"आकाश विभु है (सर्वगत है); विभुत्व भी बुद्धस्वभाव है" [बोधिचर्यावतारपंजिका, ६।१५]।

आल्टरमरी का निष्कर्ष—कदाचित् इस धर्मकाय को एक प्रकार का गुणात्मक और नैतिक आकाश कह सकते हैं। इन विविध उद्धरणों को एकत्र कर आल्टलमरी धर्मकाय पर लिखते हैं कि यह विभु है, और इसलिए सब सत्व इससे समवेत हैं। किन्तु केवल बुद्ध में यह विशुद्ध है। अन्य सत्वों में यह बीजरूप से विद्यमान है। किन्तु उनके लिए यह आवश्यक है कि वह उस मल को अपगत करें जिससे वह संसार में उपलिप्त होते हैं।

यह कहकर अपनी व्याख्या को समाप्त करते हैं:—जब धर्मकाय धर्मधातु का समानार्थक हो गया, तो इस शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिए करना उचित न था। कदाचित् इसीलिए त्रिकाय के वाक्य में इसके स्थान में स्वाभाविक काय का प्रायः प्रयोग होता है।

धर्मधातु और धर्मकाय समानरूप से भाव के मूलाश्रय को प्रशस्त करते हैं, और स्वाभाविकादि काय केवल इस सर्वगत आश्रय की वृत्तियाँ हैं।

कदाचित् यहाँ यह दुहराना अनुचित न होगा कि नागार्जुन के वाद से प्रस्थान कर असंग का वाद अद्वयवाद और विश्वदेवैक्यवाद की सीमा पर है।

असंग इस अद्वयवाद और इस विश्वदेवैक्यवाद का समर्थन करते हैं, और बहुदेववाद से इनको सुरक्षित रखते हैं। वह कहते हैं कि सब बुद्धों के त्रिकाय में कोई भेद नहीं है। सब बुद्धों के तीनों काय यथाक्रम आश्रय, आशय और कर्म की दृष्टि से समान हैं। धर्मकाय आश्रयवश समान हैं, क्योंकि धर्मधातु अभिन्न है। सांभोगिक काय आशयवश समान हैं, क्योंकि बुद्ध का कोई पृथक् आशय नहीं है। निर्माण कर्मवश समान हैं, क्योंकि सबका कर्म साधारण है (६।६६)।

पुनः इन तीनों कायों में यथाक्रम त्रिविध नित्यता है। इसीलिए तथागत 'नित्यकाय' कहलाते हैं। स्वाभाविक की नित्यता प्रकृति से है। वह स्वभाव से ही नित्य है। सांभोगिक की नित्यता धर्मसंभोग के अविच्छेद से है। नैर्माणिक की नित्यता प्रबन्धवश है, क्योंकि नैर्माणिक के अन्तर्हित होने पर पुनः पुनः निर्माण का दर्शन होता है।

बुद्ध का चतुर्विध ज्ञान

अन्त में असंग बुद्ध के चतुर्विध ज्ञान का उल्लेख करते हैं। यदि हमको यह मान्य है कि असंग का सिद्धान्त शुद्ध विज्ञानवाद का है तो यह विषय मुख्य हो

जाता है। आदर्श ज्ञान सर्वोच्च है। यह अचल है, और शेष तीन ज्ञानों का (समता°, प्रत्यवेक्षा°, और कृत्यानुष्ठान°—यह चल हैं) आश्रय है। आदर्श ज्ञान ममत्व से रहित, देशतः अपरिच्छिन्न और कालतः सदानुग है। यह सर्व ज्ञेय के विषय में असंमूढ है, क्योंकि आवरण विगत हो गये हैं। यह कभी ज्ञेयों के संमुख नहीं होता, क्योंकि इसका कोई आकार नहीं है (६।६८)।

आदर्श ज्ञान समतादि ज्ञान का हेतु है। इस लिए यह एक प्रकार से सब ज्ञानों का आकर है। इसे आदर्श ज्ञान इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें संभोग, बुद्धत्व और तज्ज्ञान का उदय प्रतिबिम्ब के रूप में होता है। (६।६९)। सत्वों के प्रति समता ज्ञान वह है, जो अप्रतिष्ठित निर्वाण में निविष्ट है। यह सब समय महामैत्री और करुणा से अनुगत होता है। यह सत्वों को उनकी श्रद्धा (अधिमोक्ष) के अनुसार बुद्ध के बिम्ब का निदर्शक है।

प्रत्यवेक्षा ज्ञान वह है, जो ज्ञेयविषय में सदा अव्याहत है। परिषन्मण्डल में यह सब विभूतियों का निदर्शक है। यह सब संशय का विच्छेद करता है। यह महाधर्म का प्रवर्षक है।

कृत्यानुष्ठान ज्ञान सर्व लोकधातु में निर्माणों द्वारा नाना प्रकार के अप्रमेय और अचिन्त्य कृत्यों का ज्ञान है (६।७४-७५)।

बुद्ध की एकता-अनेकता

इस अधिकार को समाप्त करने के पूर्व असंग बुद्ध की एकता-अनेकता के प्रश्न का विचार करते हैं। यदि कोई कहता है कि केवल एक बुद्ध है, तो यह इष्ट नहीं है; क्योंकि बुद्धगोत्र के अनन्त सत्व हैं। तो क्या इनमें से एक ही अभिसंबुद्ध होगा, और अन्य न होंगे? ऐसा कैसे हो सकता है? इस प्रकार दूसरों के पुण्यज्ञानसंभार व्यर्थ होंगे, क्योंकि उनकी अभिसंबोधि न होगी। किन्तु यह व्यर्थता अयुक्त है। इस हेतु से भी बुद्ध एक नहीं हैं। पुनः कोई आदिबुद्ध नहीं है, क्योंकि संभार के बिना बुद्ध होना असंभव है, और बिना दूसरे बुद्ध के संभार का योग नहीं है, अतः एक बुद्ध नहीं है। बुद्ध की अनेकता भी इष्ट नहीं है, क्योंकि अनास्रवधातु में बुद्धों के धर्मकाय का अभेद है (६।७७)।

जो अविद्यमानता है वही परम विद्यमानता है; अर्थात् जो परिकल्पित स्वभाववश अविद्यमानता है, वही परिनिष्पन्न स्वभाववश परम विद्यमानता है। भावना का जो अनुपलम्भ है, वही परम भावना है। जो बोधिसत्व इन सबको कल्पनामात्र देखते हैं, उनको बोधि की प्राप्ति होती है।

उपनिषदों के आत्मवाद से तुलना—हम उपनिषदों के अद्वयवाद के इतने समीप हैं कि असंग भी उपनिषदों का प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं:—जब तक नदियों के आश्रय अलग अलग हैं, उनका जल भिन्न भिन्न है, उनका कृत्य अलग अलग होता है; जब तक उनका जल स्वल्प होता है, थोड़े ही जलाश्रित प्राणी उनका उपभोग करते हैं। किन्तु जब यह सब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं, और उनका एक आश्रय हो जाता है, उनका एक महाजल हो जाता है, उनके कृत्य मिश्र होकर एक हो जाते हैं, तब वह बृहत्समुद्र की उपभोग्य हो जाती हैं, और

यह क्रम नित्य चलता रहता है। इसी प्रकार बोधिसत्वों का आश्रय जब तक पृथक् पृथक् होता है, उनके मत भिन्न भिन्न होते हैं, उनके कृत्य पृथक् पृथक् होते हैं, और उनका अवबोध स्वल्प होता है, तब तक वह स्वल्प का ही उपकार करते हैं। बुद्धत्व में उनका प्रवेश नहीं हुआ; किन्तु जब वह बुद्धत्व में प्रविष्ट हो जाते हैं तब सबका आश्रय एक हो जाता है, उनका एक महान् अवबोध हो जाता है, और उनका कार्य मिश्र होकर एक हो जाता है, तब वह सब सत्वों के उपभोग्य हो जाते हैं (६।८२-८५)।

धर्म-पर्येषणा—ग्यारहवें अधिकार में धर्म (आलम्बन) का पर्येषण किया गया है। 'धर्म' शब्द के दो अर्थ हैं। बुद्ध की शिक्षा, उपदेश, सिद्धान्त धर्म है। दूसरे अर्थ में धर्म अध्यात्म-आलम्बन, बाह्य-आलम्बन और दोनों है। कायादिक आध्यात्मिक और बाह्य दोनों हैं। ग्राहकभूत कायादिक आध्यात्मिक है, ग्राह्यभूत बाह्य है, द्वय इन्हीं दो की तथता है। द्वयार्थ से दो आलम्बनों का लाभ होता है। यदि वह देखता है कि ग्राह्यार्थ से ग्राहकार्थ अभिन्न है और ग्राहकार्थ से ग्राह्यार्थ अभिन्न है तो समस्त आध्यात्मिक और बाह्य आलम्बन की तथता का लाभ होता है क्योंकि उन दो के द्वयभाव का अनुपलम्भ है। (१२।५)। असंग कहते हैं कि यदि मनोजल्पवश अर्थख्यान का प्रचारण (प्रविचय) होता है और यदि चित्त नाम पर स्थित होता है तो धर्मालम्बन का लाभ होता है। मनोजल्प के अतिरिक्त कुछ नहीं है और द्वय का अनुपलम्भ है। (११।६-७)

इस विषय पर सिलवाँ लेवी अपनी भूमिका में कहते हैं कि जब चित्त समाहित होता है तब निश्चित यथोक्त अर्थ का मनोजल्प से प्रचारण होता है। चिन्तामय ज्ञान अर्थ (और उसके आलंबन) का मनोजल्प से अभेद सिद्ध करता है। अन्त में भावनामय ज्ञान से चित्त अर्थ विरहित नाम पर ही स्थित होता है। अष्टादशविध मनस्कार इस कार्य में योग देते हैं। तब धर्मतत्व का लाभ होता है।

धर्म के तीन स्वभाव—धर्मतत्व में तीन स्वभाव संगृहीत हैं। ये इस प्रकार हैं:—
१. परिकल्पित, २. परतन्त्र, ३. परिनिष्पन्न।

परिकल्पित ग्राह्यग्राहक लक्षणात्मक है। अतः द्वयात्मक है। परतन्त्र द्वय का संनिश्रय है। परिनिष्पन्न अनभिलाप्य और अप्रपञ्चात्मक है। किन्तु धर्म स्वयं भ्रान्तिमात्र है, माया है। चित्त में ही द्वयभ्रान्ति है। चित्त स्वयं धर्मों का निर्माण करता है, और ग्राह्यग्राहकभाव में द्विधा विभक्त हो जाता है; तथापि वह धर्मों को सत् मानता है। द्वय को अद्वय करने के लिए इनके बुद्धि-संबन्ध का जानना आवश्यक है। चित्त अपना विवेचन कर या तो अपना लक्षण परिकल्पित बताता है जो जल्प और तदर्थ (या आलंबन) है; अथवा परतन्त्र बताता है, जो नाम, रूप, चित्त, विज्ञानादि है; अथवा परिनिष्पन्न बताता है, तथता है। वस्तुतः इन अप्रत्यक्ष लक्षणों से यह अवगत होता है कि कोई धर्मों की परिचित विज्ञप्ति है, जिससे ही चित्त और उसके लक्षणों के बीच का संबन्ध युक्त हो सकता है। जो मनस्कार इस संबन्ध को स्थापित और निरूपित करता है, वह लौकिक नहीं है, यह मनस्कार योगियों का है। यह पाँच पाद में द्वय से अद्वय को जाता है:—यह धर्मदेशना का निग्रह करता है; यह योनिशोमनस्कार का लाभ

कराता है; यह समाधि की अवस्था में चित्त का स्वधातु में अवस्थान कराता है; यह भाव-अभाव का एक अविशिष्ट दर्शन कराता है; यह आश्रय की परावृत्ति करता है। यह परावृत्ति प्रत्यगात्मा से परमात्मा को आकृष्ट करती है। उस समय सबका परिनिर्वाण में मिलन होता है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २५–२६)।

मनस्कार और उसके विविध आकारों की पर्येष्टि से इस क्रम का आरंभ होता है। चर्या के बहुत सूक्ष्म नियम हैं। इस साधना में इन्द्रियार्थ का अनुपलंभ, उपलंभ का अनुपलंभ, धर्मधातुवशित्व, पुद्गलनैरात्म्य और विविध आशयों का प्रतिवेध होता है; जो चित्त की अवस्थाओं को निश्चित करता है।

तत्त्व का लक्षण—इस साधना से धर्मतत्त्व का लाभ होता है। यह धर्मों का स्वभाव है। यहाँ स्वभाव किसी आत्मा को प्रज्ञप्त नहीं करता किन्तु यह धर्मों के स्वकीय गुण को सूचित करता है।

असंग 'तत्त्व' का यह लक्षण बताते हैं :—तत्त्व वह है जो सतत द्वय से रहित है, जो अनभिलाप्य है, जो निष्प्रपञ्चात्मक है, और जो विशुद्ध है (११।१३)। पुनः असंग कहते हैं कि ग्राह्यग्राहक लक्षणवश यह तत्त्व जो सतत द्वय से रहित है, परिकल्पित और असत् होगा। किन्तु भ्रान्ति का संनिश्रय परतन्त्र है, क्योंकि उससे उसका परिकल्प होता है। अनभिलाप्य तत्त्व का परिनिष्पन्न-स्वभाव है। यह सब धर्मों की तथता है।

परिनिष्पन्न तत्त्व—यह परिनिष्पन्न स्वभाव, यह तथता, यह तत्त्व अन्तिम वस्तुतत्त्व है। इसकी प्रशंसा में असंग कहते हैं :—जगत् में इससे अन्य कुछ भी नहीं है, और सकल जगत् इस विषय में मोह को प्राप्त है। यह कैसा मोह है जिसके वश हो लोक जो असत् है उसमें अभिनिविष्ट है, और जो सत् है उसका त्याग करता है। वस्तुतः इस धर्मधातु से अन्य लोक में कुछ भी नहीं है, क्योंकि धर्मता धर्म से अभिन्न है (११।१४)।

आत्मा और लोक की मायोपमता—इस दृष्टि में आत्मा और लोक क्या हैं ? असंग का उत्तर है कि यह मायोपम है। अभूतपरिकल्प मायासदृश है। यह मन्त्रपरिगृहीत भ्रान्तिनिमित्त काष्ठलोष्टादि के सदृश है। मायाकृत हस्ति-अश्ववत् द्वयभ्रान्ति ग्राह्यग्राहक के रूप में प्रतिभासित होती है (११।१५)। असंग आगे कहते हैं :—यथा मायाकृत हस्ति-अश्व-सुवर्णादि आकृतियों में हस्त्यादि का अभाव है, तथैव परमार्थ के लिए है, और जिस प्रकार उस मायाकृत हस्त्यादि की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार अभूतपरिकल्प की संवृतिसत्यता है (११।१६)।

जिस प्रकार मायाकृत के अभाव में उसके निमित्त (काष्ठादिक) की व्यक्ति होती है, और भूतार्थ की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार आश्रय की परावृत्ति और द्वयभ्रान्ति का अभाव होता है, और अभूतपरिकल्प का भूतार्थ उपलब्ध होता है (११।१७)।

आश्रयपरावृत्ति से भ्रान्ति दूर होती है, और यति स्वतन्त्र हो विचरता है। वह कामचारी होता है (११।१८)। एक ओर वहाँ आकृति है, दूसरी ओर भाव नहीं है। इसीलिए मायादि में अस्तित्व-नास्तित्व का विधान है (११।१९)। यहाँ भाव अभाव नहीं है, और

न अभाव भाव ही है। मायादि में भावाभाव के अविशेष का विधान है। आकृति-भाव है, वह हस्तित्वादि का अभाव है। जो हस्तित्वादि का अभाव है, वही आकृति-भाव है। (११।२०)

अतः द्वयाभासता है, द्वयभाव नहीं है। इसीलिए रूपादि में जो अभूत-परिकल्प-स्वभाव है, अस्तित्व-नास्तित्व का विधान है (११।२१)। रूपादि में भाव अभाव नहीं है। यह भावाभाव का अविशेष है (११।२२)। भाव अभाव नहीं है, क्योंकि द्वयाभासता है। अभाव भाव नहीं है, क्योंकि द्वयता की नास्तिता है। जो द्वयाभासता का भाव है, वही द्वय का अभाव है।

यहाँ असंग फिर नागार्जुन के साथ हो जाते हैं। नागार्जुन के सदृश वह भाव और अभाव इन दोनों अन्तों का प्रतिषेध करते हैं। एक समारोप का अन्त है; दूसरा अपवाद का अन्त है। अथवा यों कहिए कि असंग दिखाते हैं कि भाव और अभाव का ऐकान्तिकत्व और अविशेष है (११।२३)। किन्तु असंग साथ ही साथ अपने को अद्वयवादी और विज्ञानवादी बताते हैं। यहाँ वह नागार्जुन से पृथक् हो जाते हैं। वह कहते हैं :—द्वय नहीं है; द्वय की उपलब्धिमात्र होती है। मायाहस्ति की आकृति के ग्राह में जो भ्रान्ति होती है, उसके कारण द्वय की प्रतीति होती है। वस्तुतः न ग्राहक है, न ग्राह्य। केवल द्वय की उपलब्धि है (११।२६)। सब धर्म, भाव और अभाव मायोपम हैं। वे सत् हैं, क्योंकि अभूतपरिकल्पत्वेन उनका तथाभाव है। वे असत् हैं, क्योंकि ग्राह्यग्राहकत्वेन उनका अभाव है। पुनः क्योंकि भाव-अभाव का अविशेष है, और वह सत् भी है, असत् भी है, इसलिए वह मायोपम हैं (११।२७)।

स्मृत्युपस्थानादि जिन प्रातिपक्षिक धर्मों का बुद्ध ने उपदेश दिया है, वह भी अलक्षण और माया है। जब बोधि की विजय संसार पर होती है, तो यह एक मायाराज की दूसरे मायाराज से पराजय है (११।२९)। सांक्लेशिक धर्मों की व्यावदानिक धर्मों से पराजय एक मायाराज की दूसरे मायाराज पर विजय है।

सब धर्म वस्तुतः मायोपम हैं। माया, स्वप्न, मरीचिका, बिम्ब, प्रतिभास, प्रतिश्रुति, उदकचन्द्रबिम्ब और निर्माण के तुल्य सब धर्म और संस्कार हैं। आत्मा-जीवादि असत् हैं। तथापि आध्यात्मिक धर्मों का तथाप्रख्यान होता है। बाह्य धर्म भी असत् हैं। बाह्य आयतन स्वप्नोपम हैं, क्योंकि उनका उपभोग अवस्तुक है। चित्त-चैतसिक भी मरीचिका के तुल्य हैं क्योंकि वह भ्रान्तिकर हैं (११।३०)।

इस अद्वयवाद के तल में हम सदा प्रतीत्यसमुत्पाद की अनादि तन्त्री पायेंगे, और अनित्यता और शून्यता इसके पृष्ठ में हैं। आध्यात्मिक आयतन प्रतिबिम्बोपम हैं, क्योंकि यह पूर्व कर्म के प्रतिबिम्ब हैं। पुद्गल केवल कर्मकृत है। इसी प्रकार बाह्य आयतन प्रतिभासोपम हैं। यह आध्यात्मिक आयतनों की छाया है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति आध्यात्मिक आयतनों के आधिपत्य से होती है। इसी प्रकार समाधि-संनिश्रित धर्म उदकचन्द्रबिम्बवत् हैं। बोधिसत्व के विविध जन्म (जातक) निर्माणोपम हैं। देशना धर्म प्रतिश्रुति के सदृश है (११।३०)।

अभूतपरिकल्प, न भूत न अभूत, अकल्प, न कल्प-न अकल्प, यह सब ज्ञेय कहलाते हैं। यहाँ अकल्प तथता लोकोत्तर ज्ञान है (११।३१)।

धर्मों की तथता—अविद्या और क्लेश से विकल्पों का प्रवर्तन होता है। इनका द्वयाभास, अर्थात् ग्राह्यग्राहकाभास होता है (११।३२)। इन विकल्पों के अपगम से आलंबन-विशेष की प्राप्ति होती है, जहां द्वयाभास नहीं है। यही धर्मों की तथता है। इसे हमने पूर्व धर्मालंबन कहा। नाम पर चित्त का अवस्थान होने से स्वधातु पर (तथता पर) अवस्थान होता है। स्वधातु विकल्पों की तथता है। यह कार्य भावनामार्ग से होता है। उस क्षण में इन्हीं विकल्पों का अद्वयाभास होता है। जिस प्रकार खरत्व के अपगम से चर्म मृदु होता है, अग्नि से तपाये जाने पर काण्ड ऋजु होता है, उसी प्रकार भावना से आश्रयपरावृत्ति होती है, और उन्हीं विकल्पों का पुनः द्वयाभास नहीं होता (११।३३)। यहां विज्ञप्तिमात्रता प्रतिपादित हो रही है। चित्तमात्र है। इसी का द्वयप्रतिभास, ग्राह्यप्रतिभास, ग्राहकप्रतिभास इष्ट है। इसी का रागादिक्लेशाभास, श्रद्धादिकुशलधर्माभास भी इष्ट है। चित्त से अन्य कोई धर्म नहीं है। तदाभास से अन्य न कोई क्लिष्ट धर्म है, न कोई कुशल धर्म है (११।३४)। अतः यह चित्त ही है, जिसका विविध आकार में आभास होता है। यह आभास भावाभाव है, किन्तु यह धर्मों का नहीं है। चित्त का ही चित्राभास होता है। इसका विविध आकार में प्रवर्तन होता है। पर्याय से रागाभास, द्वेषाभास अथवा अन्य धर्म का आभास होता है। इस प्रतिभास के व्यतिरिक्त धर्मों का यह लक्षण नहीं है (११।३५)।

असंग विज्ञानवाद की दृष्टि से ज्ञान के प्रश्न का विवेचन करते हैं। चित्त विज्ञान और रूप है (११।३७)। परतन्त्र का लक्षण अभूतपरिकल्प है। इसके विविध आभास हैं :— देहाभास; मन (=क्लिष्टमन)—उद्ग्रह (= पंचविज्ञानकाय)—विकल्प (= मनोविज्ञान)—आभास (११।४०)। अन्त में असंग धर्मों की तथता का निर्देश करते हैं। यह धर्मों का परिनिष्पन्न लक्षण है। यह सब परिकल्पित धर्मों की अभावता है, और तदभाववश यह भाव है। यह भावाभाव-समानता है, क्योंकि यह भाव और यह अभाव अभिन्न हैं। यह आगन्तुक उपक्लेशों के कारण अशान्त है, और प्रकृति-परिशुद्ध होने के कारण शान्त है। पुनः यह अविकल्प है, क्योंकि निष्प्रपञ्च है, और विकल्पों के अगोचर है (११।४१)। तथता का ध्यान करने से योगी आदर्शज्ञान और आलोक का लाभ करता है। आदर्श चित्त का धातु में अवस्थान है। यह समाधि है। आलोक सत्-असत् के आकार में अर्थदर्शन है। यह लोकोत्तर प्रज्ञा है। सत् को सत् और असत् को असत् यथाभूत देखना लोकोत्तर प्रज्ञा है (११।४२)। यह प्रज्ञा सब आर्यगोत्रों को सामान्य है।

भवत्रयगत द्विविध नैरात्म्य को जानकर, और यह जानकर कि यह द्विविध नैरात्म्य सम है, क्योंकि परिकल्पित पुद्गल का अभाव है, और परिकल्पित धर्मों का अभाव है; किन्तु इसलिए नहीं कि सर्वथा अभाव है, बोधिसत्व तत्त्व में, अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता में प्रवेश करता है। जब तत्त्व-विज्ञप्तिमात्र में मन का अवस्थान होता है, तब तत्त्व का ख्यान नहीं होता। यह

अवस्थान ही विमुक्ति है। यह उपलम्भ का परम विगम है, क्योंकि इसमें पुद्गल और धर्मों का उपलम्भ नहीं होता (११।४७)।

योगी नाममात्र अर्थात् अर्थरहित अभिलापमात्र पर मन का आधान करता है। नाम चार अरूपी स्कन्ध कहे गए हैं। इस प्रकार वह विज्ञप्तिमात्र का दर्शन करता है। इसको भी वह पुनः नहीं देखता, क्योंकि अर्थाभाव से उसकी विज्ञप्ति का अदर्शन होता है। यह अनुपलम्भ विमुक्ति है (११।४८)।

यह जानकर आश्चर्य होता है कि यह साधना पातञ्जल योग के समीप है।

क्या असंग का निम्न वाक्य योगसूत्र में दिए लक्षण का स्मरण नहीं दिलाता? चित्त की अध्यात्मस्थिति से, अर्थात् चित्त का चित्त में ही अवस्थान होने से चित्त की निवृत्ति होती है, क्योंकि इस अवस्था में आलंबन का अनुपलम्भ होता है (११।४६)।

चित्तमेतत् सदौष्ठुल्यमात्मदर्शनपाशितम्।
प्रवर्तते निवृत्तिस्तु तदध्यात्मस्थितेर्मता ॥ [११।४६]

किन्तु एक प्रधान भेद योगाचार को योग से पृथक् करता है। पातञ्जल योग में धर्मों का स्वभाव है, और योगाचार में इसका अभाव है। असंग कहते हैं कि धर्मों की निःस्वभावता है, स्वात्म से उनका अभाव है। वे प्रत्ययाधीन हैं, और क्षणिक हैं। केवल मूढ़ पुरुषों का स्वभावग्राह होता है। वह स्वभाव को नित्यतः, सुखतः, शुचितः और आत्मतः देखते हैं (११।५०)।

धर्मों की निःस्वभावता से यह सिद्ध होता है कि न उत्पाद है, न निरोध। जब धर्मों का स्वभाव नहीं है, तो उनका उत्पाद नहीं है, और जो अनुत्पन्न है, उसका निरोध नहीं है। अतः वह आदिशान्त है, और जो आदिशान्त है, वह प्रकृति-परिनिर्वृत है (११।५१)।

निःस्वभावतया सिद्धा उत्तरोत्तरनिश्रयाः।
अनुत्पादोऽनिरोधश्चादिशान्तिः परिनिर्वृतिः ॥ [११।५१]

बारहवें अधिकार में असंग बताते हैं कि दोषविवर्जित धर्मदेशना क्या है, उसका कार्य क्या है, उसकी सम्पत्ति क्या है, और उसका विषय क्या है। ग्रन्थ के तेरहवें अधिकार में वह दिखाते हैं कि उक्त सिद्धान्तों के प्रयोग से किस प्रकार बोधिसत्व क्रमपूर्वक अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त होता है। यह प्रतिपत्ति-अधिकार है।

लौकिक-अलौकिक समाधि—शून्यता-समाधि, अप्रणिहित-समाधि, अनिमित्त-समाधि, चर्या का आरंभमात्र हैं। ये तीन लौकिक समाधि हैं। किन्तु यह लोकोत्तर ज्ञान का आवाहन करती हैं, और इसलिए यह मिथ्या नहीं हैं। आदिभूमि में (प्रमुदिता भूमि में) ही वह लोकोत्तर ज्ञान का लाभ करता है। वहाँ उस भूमि के सब बोधिसत्वों से उसका तादात्म्य हो जाता

है और इस प्रकार वह बोधिसत्वों की सामीची[1] में प्रतिपन्न हो जाता है। उसको ज्ञेयावरण और क्लेशावरण को अपगत करना है। ज्ञेयावरण का ज्ञान भावना से होता है, और क्लेश-निःसरण क्लेश से होता है। भगवान् कहते हैं कि मैं राग का निःसरण राग से अन्यत्र नहीं बताता, इसी प्रकार द्वेष का और मोह का निःसरण द्वेष और मोह से अन्यत्र नहीं बताता। धर्मधातु से विनिर्मुक्त कोई धर्म नहीं है, क्योंकि धर्मता से व्यतिरिक्त धर्म का अभाव है। अतः रागादिधर्मता रागादि आख्या का लाभ करती है, और वही रागादि का निःसरण है (१३।११)। धर्मधातु में क्लेश रागस्वभाव का परित्याग कर धर्मता हो जाता है, और उसका आख्यान नहीं होता। रागादि के परिज्ञात होने पर वही उनके निःसरण हैं।

इसी अर्थ में अविद्या और बोधि भी एक हैं। उपचार से अविद्या बोधि की धर्मता है (१३।१२)।

धर्म का अभाव और उपलब्धि, निःसंक्लेश और विशुद्धि भी मायासदृश हैं। वस्तुतः चित्त तथता ही है। जैसे विधिवत् विचित्रित चित्र में नत-उन्नत नहीं है, किन्तु द्वय दिखलाई पड़ता है; उसी तरह अभूतकल्प में भी द्वय नहीं है, किन्तु द्वय दिखलाई पड़ता है। जैसे जल क्षुब्ध होकर प्रसादित हो जाता है, उसकी अच्छता अन्यत्र से नहीं आती, उसी प्रकार यह मल का अपकर्षमात्र है। चित्त की विशुद्धि इसी प्रकार होती है। चित्त प्रकृतिप्रभास्वर है, किन्तु आगन्तुक दोष से दूषित होता है। धर्मता-चित्त से अन्यत्र दूसरा चित्त नहीं है, जो प्रकृति-प्रभास्वर हो (१३।१६-१६)। इस प्रकार बुद्धत्व या निर्माण चित्त में है। अतः असंग का वाद विज्ञानवादी अद्वयवाद है। धर्मधातु की प्रकृति-परिशुद्धि से मूढ़ों को त्रास होता है। असंग आकाश और जल का दृष्टान्त देकर इस त्रास का प्रतिषेध करते हैं। वह कहते हैं कि चित्त आकाशतोयवत् प्रकृत्या विशुद्ध है। यह तथता से अन्य नहीं है।

इस उपोद्घात के साथ असंग बोधिसत्व की सत्वों के प्रति मैत्री और करुणा का वर्णन करते हैं। बोधिसत्व का सत्वों के प्रति प्रेम मज्जागत होता है। वह सत्वों से वैसे ही प्रेम करते हैं, जैसे कोई अपने एकमात्र पुत्र से करता है। वह सदा सत्वों का हित साधित करते हैं। जैसे कपोती अपने बच्चों को प्यार करती है, और उनका उपगूहन करती है; उसी प्रकार यह कारुणिक सत्वों को पुत्रवत् देखता है (१३।२०–२२)।

बोधिचर्या का क्रम व स्वरूप

चौदहवें अधिकार में अववाद-अनुशासनी[2] विभाग है। इसमें असंग बताते हैं कि प्रतिपत्ति के पश्चात् बोधिसत्व की चर्या क्या है? सिलवाँ लेवी भूमिका में इस अधिकार का संक्षेप

१. 'सामीचि' 'अनुच्छविक धम्म' है, यथा पादप्रक्षालन, चीवरदान, चैत्यवंदना इत्यादि। प्रातिमोक्ष ७३ के अनुसार 'सामीचि' 'अनुधम्मता' है। लोकोत्तर धर्म के अनुरूप अववाद और अनुशासनी सामीचिधर्मता है।

२. अववाद=विधि-निषेध; अनुशासनी = देशना।

यों करते हैं :—बोधिसत्व पहले सूत्रादिक धर्म के नाम में (यथा दशभूमिक) चित्त को बाँधता है, वह इसके अर्थ और व्यञ्जन का विचार करता है, विचारित अर्थ को मूलचित्त में संक्षिप्त करता है, और ज्ञान के लिए उसका चित्त छन्द-सहगत होता है। वह समाधि में चित्त का दमन करता है। इससे उसके चित्त की स्वरसवाहिता होती है।

पहले यह साभिसंस्कार होती है, पुनः अभ्यासवश अभिसंस्कारों के बिना होती है। तदनन्तर उसको कायप्रश्रब्धि और चित्तप्रश्रब्धि का लाभ होता है। इसकी वृद्धि कर वह मौली स्थिति का लाभ करता है, और इसका शोधकर वह ध्यानों में कर्मण्यता को प्राप्त होता है। ध्यानों में उसको अभिज्ञाबल की प्राप्ति होती है, जिससे वह अप्रमेय बुद्धों की पूजा करने और उनसे धर्म-श्रवण करने के लिए बुद्धों के लोकधातुओं को जाता है। भगवदुपासना से वह चित्त की कर्मण्यता और काय-चित्त की प्रश्रब्धि का लाभ करता है, और कृत्स्न दौष्ठुल्य प्रतिक्षण द्रवित होता है। वह विशुद्धि का भाजन हो जाता है। तब वह निर्वेधभागीय अवस्थाओं में से होकर क्रमशः गमन करता है। इससे उसको द्वयग्राहविसंयुक्त लोकोत्तर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञान का लाभ होता है। यह दर्शन मार्ग की अवस्था है। उसका चित्त सदा सम होता है, वह शून्यज्ञ होता है, अर्थात् वह त्रिविधशून्यता का ज्ञान रखता है:–अभावशून्यता, तथाभाव की शून्यता, प्रकृति-शून्यता। यह अनिमित्त पद है, यह अप्रणिहित पद है। वह बोधिपक्षीय धर्मों का लाभ करता है, और 'महात्मदृष्टि' का लाभ करता है। वहाँ सब सत्वों में आत्मसम चित्त का लाभ होता है। तब ज्ञान की भावना के लिए परिशिष्ट भूमियों में प्रयोग और विकल्पाभेद्य वज्रोपम समाधि का लाभ शेष रह जाता है, और वह सर्वज्ञता लाभ करके अनुत्तर पद में स्थित हो सत्वों के हित के लिए अभिसंबोधि और निर्वाण का संदर्शन करता है (सिलवाँ लेवी की भूमिका पृ० २६-२७)।

इस अधिकार में असंग बोधिसत्व-चर्या की विविध भूमियों का अनुसरण करते हैं। वह बोधिसत्व को विज्ञप्तिमात्रता में प्रतिष्ठित देखते हैं। तथाभूत बोधिसत्व सब अर्थों को प्रतिभासवत् देखता है। उस समय से उसका ग्राह्यविक्षेप प्रहीण होता है। केवल ग्राहकविक्षेप अवशिष्ट रहता है। यह उसकी क्षान्ति-अवस्था है। तब यह शीघ्र ही आनन्तर्य-समाधि का स्पर्श करता है। यह उसकी लौकिकाग्रधर्मावस्था है। यह समाधि 'आनन्तर्य' कहलाती है, क्योंकि तदनन्तर ही ग्राहकविक्षेप प्रहीण होता है। यह निर्वेधभागीय है। यहां मनोजल्पमात्र रह जाता है (१४।२३–२६)। यह अवस्था द्वयग्राह से विसंयुक्त, निर्विकल्प, विरज और अनुत्तर है (१४।२८)।

इस प्रकार नैरात्म्य का लाभकर वह सब सत्वों में आत्मसमचित्तता का प्रतिलाभ करता है। धर्मनैरात्म्य से धर्मसमता का प्रतिवेध कर वह विचार करता है कि मेरे दुःख और पराये के दुःख में कोई विशेष नहीं है। अतः वह परदुःखप्रहाण की उसी प्रकार कामना करता है, जिस प्रकार अपने दुःख के प्रहाण की और इसके लिए दूसरों से कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता (१४।३१)। उसके आर्यत्व में क्या अन्तराय हो सकता है? अपने अद्वयार्थ से वह संस्कारों को अभूतपरिकल्पतः देखता है। जब वह ग्राह्यग्राहकाभाव के भाव को (धर्मधातु को) दर्शन-

प्रहातव्य क्लेशों से विमुक्त देखता है, तब यह दर्शनमार्ग कहलाता है (१४।३२–३३)। यहाँ एक विचित्र वाक्य है :—जब वह अभावशून्यता, तथाभाव की शून्यता और प्रकृति-शून्यता, इस त्रिविधशून्यता का ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह शून्यज्ञ कहलाता है (१४।३४)।

त्रिविध शून्यता—इस श्लोक की टीका में कहा है:—बोधिसत्व को त्रिविध शून्यता का ज्ञान होता है। अभावशून्यता परिकल्पित स्वभाव है, क्योंकि स्वलक्षण का अभाव है। तथा-भाव की शून्यता परतन्त्रस्वभाव है, क्योंकि इसका भाव वैसा नहीं है, जैसा कल्पित होता है। प्रकृतिशून्यता परिनिष्पन्न-स्वभाव है, क्योंकि इसका स्वभाव-शून्यता का है। हम देखते हैं कि नागार्जुन की शून्यता का विज्ञानवादी अद्वयवाद से क्या सूक्ष्म संबन्ध है, और हम यह भी देखते हैं कि किस कुशलता के साथ विज्ञानवादी नागार्जुन से व्यावृत्त होते हैं। क्योंकि माध्यमिकों की शून्यता से ऐकमत्य प्रकट कर असंग कहते हैं कि यह जानकर कि जगत् संस्कारमात्र और निरात्मक है, और निरर्थिका आत्मदृष्टि का त्याग कर बोधिसत्व महात्मदृष्टि का लाभ करते हैं, जिसका महान् अर्थ है, इस महात्मदृष्टि में सब सत्वों के साथ आत्मसमचित्त का लाभ होता है। इस अद्वयवाद से करुणा प्रवृत्त होती है। बोधिसत्वों का सत्वों के प्रति जो प्रेम होता है, उनकी जो वत्सलता होती है, वह परम आश्चर्य है। अथवा आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि उसके लिए सत्व आत्मसमान हैं (१४।४१)।

> संस्कारमात्रं जगदेत्य बुद्ध्या निरात्मकं दुःखविरूढिमात्रम्।
> विहाय यानर्थमयात्मदृष्टिः महात्मदृष्टिं श्रयते महार्थाम्॥ [१४।३७]

[टीका—महात्मदृष्टिरिति महार्था या सर्वसत्वेष्वात्मसमचित्तलाभात्मदृष्टिः। सा हि सर्व-सत्वार्थक्रियाहेतुत्वान्महार्था। 'विनात्मदृष्ट्या' अनर्थमयी आत्मदृष्टिर्महार्था या विनापि दुःखेन स्वसन्तानजेन सुदुःखिता सर्वसत्वसन्तानजेन।]

यह महात्मदृष्टि उपनिषदों की परमात्मदृष्टि के कितने समीप है:—तुम्हारी आत्मा जो सब आत्माओं में गूढ़ है।

असंग कहते हैं कि महात्मदृष्टि आत्मदृष्टि है, क्योंकि इसमें सब सत्वों में आत्मसमचित्त का लाभ होता है। वह स्वसन्तानज दुःखों के बिना भी सब सत्वों के दुःख से दुःखित होता है। आज से बोधिसत्व का धातु आकाशवत् अनन्त है। सब सत्व आत्मतुल्य हो जाते हैं। यह सत्वों के दुःख का अन्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वह उनके हित-सुख की कामना करता है, और उसके लिए प्रयोग करता है। यह वज्रोपम-समाधि है। विकल्प इसका भेद नहीं कर सकते। यह सर्वाकारज्ञता और अनुत्तर-पद भी है। वह जगत् में सूर्य के सदृश भासित होता है, और अन्धकार का नाश करता है।

पारमिताओं की सिद्धि-प्रतिष्ठा कायवाक्चित्तमय कर्म हैं। बोधिसत्व कर्म को विशुद्ध करता है। उसके कर्म में कर्ता, कर्म या क्रिया का विकल्प नहीं है। इस प्रकार कर्म को शोध कर वह कर्म को अक्षय कर देता है, और पारमिताओं की सिद्धि करता है।

ग्रन्थ के सोलहवें अधिकार में असंग षट्पारमिता की चर्या का वर्णन करते हैं। सत्रहवें में वह बुद्ध-पूजा, कल्याणमित्रसेवा और चार अप्रमाण (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) का उल्लेख करते हैं। अन्त में वह करुणा के अनुशंस में कहते हैं कि जो मन कृपा से आविष्ट है, वह शम में अवस्थान नहीं करता। श्रावक-प्रत्येकबुद्धों का मन निर्वाण में प्रतिष्ठित होता है। वे निःस्नेह होते हैं, किन्तु बोधिसत्वों का मन निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं होता। तब स्वजीवित या लौकिक सुख में उनको कैसे प्रीति हो सकती है ?

आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम्।
कुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः ॥ [१७।४२]

बोधिसत्वों का करुणा स्नेह विशिष्ट है। माता-पिता के लिए जो स्नेह होता है, वह तृष्णामय है, अतः सावद्य है। जो लौकिककरुणाविहारी हैं, उनका स्नेह निरवद्य होते हुए भी लौकिक है, किन्तु बोधिसत्वों का स्नेह करुणामय है। यह निरवद्य है, और लौकिक का अतिक्रमण भी करता है। लोक दुःख और अज्ञान में निश्रित है। लोक के उद्धरण का उपाय निरवद्य क्यों न होगा ? सत्वों के प्रति करुणा करने से बोधिसत्वों को जो दुःख होता है, वह आदिभूमि में त्रास का कारण होता है, क्योंकि अभी तक उन्होंने आत्म-पर-समता से दुःख का यथाभूत स्पर्श नहीं किया है। किन्तु एक बार स्पर्श होने से वह दुःख का अभिनन्दन करता है। इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा कि बोधिसत्वों का करुणादुःख सब लौकिकसुख को भी अभिभूत करता है। असंग कहते हैं कि भोगी की भी उपभोग से वैसी तुष्टि नहीं होती, जैसी कृपालु बोधिसत्व की तुष्टि परित्याग से होती है। उसका चित्त सुखत्रय (दानप्रीति, परानुग्रह-प्रीति, बोधिसंभारसंभरणप्रीति) से आप्यायित होता है (१७।६१)।

न तथोपभोगतुष्टिं लभते भोगी यथा परित्यागात्।
तुष्टिमुपैति कृपालुः सुखत्रयाप्यायितमनस्कः ॥ [१७।६१]

बोधिपाक्षिक-धर्म

ग्रन्थ में अब बोधिपक्षाधिकार प्रारम्भ होता है (१८)। इस अधिकार में उन गुणों का वर्णन है, जिनसे बोधि की प्राप्ति होती है। बोधिसत्व में दोषों का अभाव होता है, और वह गुणों से युक्त है। उसका आश्रय निर्मल, अच्छ, अलिप्त, निर्विकल्प और शून्य होता है। उसकी तुलना आकाश से ही हो सकती है। वह आकाश के तुल्य लोकधर्मों से लिप्त नहीं होता (१८।१२०)।

यहाँ बोधिपक्षीय धर्मों का उल्लेख नहीं करना है, क्योंकि इनका दर्शन से प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है [१८।८०], और उसके आगे के श्लोकों में असंग सब संस्कारों की अनित्यता, दुःखता, सब धर्मों की अनात्मता के लिए पुराने वाक्य का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं कि बोधिसत्वों के लिए अनित्य का अर्थ असत् है। उनके लिए अनित्य परिकल्पित-लक्षण है, दुःख का अर्थ अभूत-विकल्प है, और अनात्म का अर्थ परिकल्पमात्र है। परिकल्पित आत्मा नहीं, है किन्तु परिकल्पमात्र है। इस प्रकार अनात्म का अर्थ परिकल्पितलक्षण का अभाव है (१८।८१)।

पुनः असंग इस प्रकरण में क्षणिकवाद की परीक्षा करते हैं। हम सौत्रांतिकवाद के अध्याय में इसका वर्णन कर चुके हैं।

पुद्गल-नैरात्म्य

अन्ततः पुद्गल का भी नैरात्म्य है। यह द्रव्यतः नहीं है, केवल प्रज्ञप्तितः है। इसकी रूपादिवत् द्रव्यतः उपलब्धि नहीं होती। किन्तु भगवान् ने कहा है कि इस लोक में आत्मा की उपलब्धि होती है, आत्मा की प्रज्ञप्ति होती है। फिर कैसे कहते हैं कि इसकी उपलब्धि नहीं होती? किन्तु इस प्रकार उपलभ्यमान होने पर वह द्रव्यतः उपलब्ध नहीं होता। किस कारण से? क्योंकि यह विपर्यास है। भगवान् ने कहा है कि अनात्म में आत्म का विपर्यास होता है। इसलिए पुद्गल-ग्राह विपर्यास है। इसकी सिद्धि कैसे होती है? संक्लेश से। इस संक्लेश का लक्षण सत्कायदृष्टि है, जिसमें अहंकार-ममकार होता है। किन्तु विपर्यास संक्लेश है। कैसे मालूम हो कि यह संक्लेश है? क्योंकि हेतु क्लिष्ट है। वस्तुतः तद्धेतुक रागादि क्लिष्ट उत्पन्न होते हैं।

किन्तु जिस रूपादिसंज्ञक वस्तु में पुद्गल प्रज्ञप्त होता है, वह उस पुद्गल का एकत्व है या अन्यत्व? वह उत्तर देता है कि एकत्व या अन्यत्व दोनों अवक्तव्य हैं, क्योंकि दो दोष हैं। एकत्व में स्कन्धों के आत्मत्व का प्रसंग होता है। अन्यत्व में पुद्गल के द्रव्यत्व का प्रसंग होता है। यदि इसका एकत्व है, तो इससे यह परिणाम निकलता है कि स्कन्धों का आत्मत्व है, और पुद्गल द्रव्यसत् है। यदि अन्यत्व है तो पुद्गल द्रव्यसत् है। इस प्रकार यह युक्त है कि पुद्गल अवक्तव्य है, क्योंकि यह प्रज्ञप्तिसत् है। अतः यह अव्याकृत वस्तुओं में से है। पुनः जो शास्ता के शासन का अतिक्रम कर पुद्गल का द्रव्यतः अस्तित्व चाहते हैं, उनसे कहना चाहिये कि यदि यह द्रव्यसत् है, और अवाच्य भी है, तो प्रयोजन कहना चाहिये किस कारण से? यदि यह नहीं कहा जा सकता कि इसका एकत्व है या अन्यत्व तो यह निष्प्रयोजन है। किन्तु कदाचित् कोई केवल दृष्टान्त द्वारा पुद्गल के अवक्तव्यत्व को सिद्ध करना चाहे तो वह कहेंगे कि पुद्गल अग्नितुल्य है, और जिस प्रकार अग्नि इन्धन से न अन्य है, न अनन्य; उसी प्रकार पुद्गल अवक्तव्य है। उनसे कहना चाहिये कि लक्षण से, लोकदृष्टि से तथा शास्त्र से इन्धन और अग्नि का अवक्तव्यत्व युक्त नहीं है, क्योंकि द्वयरूप में उपलब्धि होती है। पुनः अग्नि तेजोधातु है, और इन्धन शेषभूत है। उनके लक्षण भिन्न हैं। अतएव अग्नि इन्धन से अन्य है। लोक में भी अग्नि के बिना काष्ठादि इन्धन देखा जाता है, और इन्धन के बिना अग्नि देखी जाती है। इसलिए इनका अन्यत्व सिद्ध है, और शास्त्र में भगवान् ने कभी अग्नि-इन्धन का अवक्तव्यत्व नहीं बताया है। किन्तु यह कहा जायगा कि आप कैसे जानते हैं कि इन्धन के बिना अग्नि होती है? उपलब्धि से, क्योंकि इस प्रकार वायु से विक्षिप्त ज्वलन दूर भी जाता है। किन्तु यह आपत्ति होगी कि यहाँ वायु इन्धन है। अतएव अग्नि-इन्धन का अन्यत्व सिद्ध होता है। कैसे? क्योंकि द्वयरूप में उपलब्धि है। यहाँ दो उपलब्धियाँ हैं : अर्चि और वायु इन्धन के रूप में। किन्तु पुद्गल है, क्योंकि यही द्रष्टा, विज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता, मन्ता है। नहीं; क्योंकि इस अवस्था में वह दर्शनादि-

संबंध विज्ञानों का प्रत्ययभाव से या स्वामिभाव से कर्ता होगा। किन्तु यदि दो के प्रत्ययवश विज्ञान संभव है, तो यह प्रत्यय नहीं है। क्यों? यह निरर्थक होगा, क्योंकि उसका कुछ भी सामर्थ्य नहीं देखा जाता। यदि विज्ञान की प्रवृत्ति में यह स्वामी होता तो अनित्य का प्रवर्तन न होता; क्योंकि अनित्य उसको अनिष्ट है। अतः यह युक्त नहीं है कि यह द्रष्टा, विज्ञान, कर्ता, भोक्ता, है।

पुद्गल-नैरात्म्य के अभाव में दोष—पुनः यदि पुद्गल द्रव्यतः है, तो उसके कर्म की उपलब्धि होनी चाहिये; जैसे चक्षुरादि के दर्शनादि कर्म की उपलब्धि होती है। किन्तु पुद्गल के संबन्ध में ऐसा नहीं है, अतः वह द्रव्यतः नहीं है। यदि उसका द्रव्यत्व इष्ट है, तो भगवान् बुद्ध के संबोध को तीन प्रकार से बाधा पहुँचती है। अभिसंबोध गंभीर, असाधारण और लोकोत्तर है। किन्तु पुद्गल के अभिसंबोध में कुछ गंभीर नहीं है, कुछ असाधारण नहीं है। यह पुद्गल-ग्राह सर्वलोकगम्य है; तीर्थिक इसमें अभिनिविष्ट हैं; यह लोकोचित है। पुनः यदि पुद्गल द्रष्टा आदि होता तो दर्शनादि कृत्य में वह सप्रयत्न होता या निष्प्रयत्न होता। यदि वह सप्रयत्न होता तो उसका प्रयत्न स्वयंभू होता या आकस्मिक होता या तत्प्रत्ययत्व होता। यह यत्न स्वयंभू नहीं है, क्योंकि इसमें तीन दोष हैं। इनका उल्लेख आगे करेंगे। यत्नप्रत्ययत्व भी नहीं है। अथवा यदि वह निष्प्रयत्न होता तो दर्शनादिक स्वतः सिद्ध होते। और जब पुद्गल का व्यापार नहीं है, तो पुद्गल द्रष्टादि कैसे होता है?

तीन दोष यह हैं:—अकर्तृत्व, अनित्यत्व, युगपत् और नित्य प्रवृत्ति। यदि दर्शनादिक में प्रयत्न आकस्मिक है, तो दर्शनादिक का पुद्गल कर्ता नहीं है। वह द्रष्टा आदि कैसे होगा? अथवा यदि प्रयत्न को आकस्मिक मानें तो निरपेक्ष होने से ऐसा कभी न होगा कि प्रयत्न न हो और यह अनित्य न होगा। यदि प्रयत्न नित्य होता तो दर्शनादिक की प्रवृत्ति नित्य और युगपत् होती। इन तीन दोषों के कारण प्रयत्न स्वयंभू नहीं है।

प्रत्ययत्व भी युक्त नहीं है। यदि पुद्गल तथा स्थित है, तो उसका प्रत्ययत्व युक्त नहीं है, क्योंकि प्राक् अभाव है। यदि तत्प्रत्यय है तो ऐसा कभी न होगा कि पुद्गल न हो। क्यों? क्योंकि जब उत्पन्न नहीं है, तो प्राक् प्रयत्न न होगा। और यदि पुद्गल विनष्ट होता है, तब भी उसका प्रत्ययत्व युक्त नहीं है, क्योंकि पुद्गल के अनित्यत्व का प्रसंग होगा। कोई तीसरा पक्ष नहीं है। अतएव तत्प्रत्यय प्रयत्न भी युक्त नहीं है। इस युक्ति का आश्रय लेकर पुद्गल की उपलब्धि द्रव्यतः नहीं होती।

पुद्गल की प्रज्ञप्तिसत्ता—यद्यपि पुद्गल द्रव्यतः नहीं है, तथापि यह प्रज्ञप्तिसत् है। भगवान् ने भी कहीं कहीं कहा है कि पुद्गल है, जैसे भारहारसूत्र में। श्रद्धानुसारी आदि पुद्गल की व्यवस्था भी है। इनमें दोष नहीं है। पुद्गल-प्रज्ञप्ति के बिना वृत्तिभेद और सन्तानभेद की देशना शक्य नहीं है। उदाहरण के लिए भारहारसूत्र में भार और भारादान को संक्लेश कहा है और भारनिक्षेपण को व्यवदान। यह बताने के लिए कि इनकी वृत्ति और सन्तान में भेद है, भारहार पुद्गल को प्रज्ञप्त करना पड़ता है। इसके बिना देशना संभव

नहीं है। पुनः बोधिपक्षीय धर्मों की अवस्थाएँ विविध हैं। इनकी वृत्ति का भेद और सन्तान का भेद श्रद्धानुसारी आदि पुद्गलों की प्रज्ञप्ति के बिना देशित नहीं हो सकता। इसीलिए भगवान् की पुद्गल-देशना है, किन्तु पुद्गल का द्रव्यतः अस्तित्व नहीं है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मदृष्टि के उत्पादन के लिए यह देशना है। आत्मदृष्टि पहले से है; अतः वह अनुत्पाद्य है। उसके अभ्यास के लिए भी नहीं है, क्योंकि इसका अभ्यास अनादि-कालिक है, और यदि इसकी देशना इसलिए होती कि आत्मदर्शन से मोक्ष होता है, तो सबको मोक्ष का लाभ बिना यत्न के ही होता; क्योंकि जो दृष्ट-सत्य नहीं हैं,उनको भी आत्मदर्शन होता है। अथवा मोक्ष नहीं है और पुद्गल नहीं है। पहले आत्मा का अनात्मतः ग्रहण कर सत्याभिसमय के काल में कोई उसको आत्मतः गृहीत नहीं करता। आत्मा के होने पर अहंकार ममकार,आत्मतृष्णा तथा अन्य क्लेश, जो तन्निदान हैं, अवश्य होंगे। इससे भी मोक्ष न होगा। अथवा कहना चाहिए कि पुद्गल नहीं है। उसके होने पर यह दोष नियत रूप से होते हैं (१८।९२-१०३)।

तथता का प्रत्यक्ष—योगी पुद्गल निमित का विनाश करता है, और आलयविज्ञान का क्षय कर शुद्ध तथता का लाभ करता है। तथता-ज्ञान यथाभूत का परिज्ञान है। असंग कहते हैं कि तथतालम्बन ज्ञान द्वयग्राह से विवर्जित है। इसकी भावना अनानाकार होती है, क्योंकि यह निमित्त और तथता को पृथक् पृथक् नहीं देखता। बोधिसत्व तथता को छोड़कर निमित्त नहीं देखते और निमित्त को ही अनिमित्त देखते हैं। अतः उनके ज्ञान की भावना पृथक् पृथक् नहीं होती। सत्तार्थ-असत्तार्थ में (तथतानिमित्त) ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। यह निमित्त और तथता दोनों को बिना नानात्व के संगृहीत करता है (१६।५२)।

इस तत्त्व का संछादन कर मूढ़ पुरुषों को सर्वतः अतत्त्व का ख्यान होता है। किन्तु बोधिसत्वों को तत्त्व का ही ख्यान होता है, अतत्त्व का नहीं (१६।५३)। जब असदर्थ (निमित्त) की अख्यानता और सदर्थ (तथता) की ख्यानता होती है, तब यही आश्रय-परावृत्ति है, यही मोक्ष है। तब वह स्वतन्त्र होता है, अपने चित्त का वशवर्ती होता है, क्योंकि प्रकृति से ही निमित्त का समुदाचार नहीं होता (१६।५४)।

बोधिसत्व की दशभूमियां

इसके बाद (२०-२१) असंग चर्या की दश भूमियों का उल्लेख करते हैं, और एक बुद्ध-स्तोत्र के साथ ग्रन्थ को समाप्त करते हैं।

प्रथम भूमि को अधिमुक्तिचर्या भूमि कहते हैं। इस भूमि में पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का अभिसमय होता है; अर्थात् योगी धर्मता का प्रतिवेध करता है। इससे दृष्टि विशुद्ध होती है।

दूसरी भूमि मुदिता है। इसमें अधिशील शिक्षा होती है। पुद्गल जानता है कि कर्मों का अविप्रणाश है, और कुशल-अकुशल कर्मपथ का फलवैचित्र्य होता है। वह अपने शील को विशुद्ध करता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म आपत्ति (अपराध) भी नहीं करता। इस भूमि

को मुदिता कहते हैं, क्योंकि आसन्न बोधि और सत्वों के अर्थसाधन को देखकर योगी में तीव्र मोद उत्पन्न होता है।

तृतीय भूमि विमला है। इस भूमि में योगी समाहित होता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। उसको अच्युत ध्यानसमाधि का लाभ होता है। इसे विमला कहते हैं, क्योंकि योगी दौःशील्य, मल और आभोगमल (=अन्ययानमनसिकारमल) का अतिक्रम करता है।

चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ भूमियों में अधिप्रज्ञ शिक्षा होती है।

चतुर्थ भूमि प्रभाकरी है। इसमें बोधिपक्ष संगृहीत प्रज्ञा की भावना होती है। योगी बोधिपक्ष में विहार करता हुआ भी बोधिपक्षों की परिणामना संसार में करता है। इस भूमि में समाधि-बल से अप्रमाण धर्मों का पर्येषण होने से महान् धर्मावभास होता है। इसीलिए इसे प्रभाकरी कहते हैं।

पाँचवीं भूमि अर्चिष्मती है। इसमें बोधिपक्षात्मिका प्रज्ञा का बाहुल्य होता है। इस प्रज्ञा की पाँचवीं और छठी भूमियों में दो गोचर होते हैं: धर्मतत्त्व और दुःखादिसत्यचतुष्टय। पाँचवीं भूमि में योगी चार आर्यसत्यों में विहार करता है, और सत्वों के परिपाक के लिए नाना शास्त्र और शिल्प का प्रणयन करता है। पाँचवीं भूमि में प्रज्ञाद्वय अर्थात् क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दहन करने के लिए प्रत्युपस्थित होती है। अतः इस भूमि में प्रज्ञा अर्चि का काम देती है। इसीलिए यह भूमि अर्चिष्मती है।

छठी भूमि दुर्जया है। इसमें योगी प्रतीत्यसमुत्पाद का चिन्तन करता है, और अपने चित्त की रक्षा करता है। सत्वों के परिपाक में अभियुक्त होते हुए भी वह संक्लिष्ट नहीं होता। यह कार्य अतिदुष्कर है। इसलिए इस भूमि को दुर्जया कहते हैं।

इसके अनन्तर भावना के चार फल चार भूमियों में समाश्रित हैं। प्रथम फल अनिमित्त ससंस्कारविहार है। यह सातवीं भूमि है। इसे अभिमुखी कहते हैं, क्योंकि प्रज्ञापारमिता के आश्रय से यह निर्वाण और संसार की अप्रतिष्ठा के कारण संसार और निर्वाण के अभिमुख है।

आठवीं भूमि दूरंगमा है। द्वितीय फल इस पर आश्रित है। अनिमित्त अनभिसंस्कार विहार द्वितीय फल है। यह भूमि प्रयोग पर्यन्त जाति है। अतः दूरंगमा है।

नवीं भूमि अचला है। इस पर तृतीय फल आश्रित है। इसमें प्रतिसंविद्विशिल्प का लाभ होता है। इसमें सत्वों के परिपाचन का सामर्थ्य होता है। निमित्तसंज्ञा और अनिमित्ता-भोगसंज्ञा से अविचलित होने के कारण यह अचला है।

दशवीं भूमि साधुमती है। इस पर चतुर्थ फल आश्रित है। इसमें समाधि और धारणी की विशुद्धता होती है। प्रतिसंविन्मति की प्रधानता (साधुता) से यह साधुमती है।

अन्तिम बुद्धभूमि है, जहाँ बोधि की विशुद्धता होती है। यह धर्ममेघा है। यह समाधि और धारणी से व्याप्त है। जैसे आकाश मेघ से व्याप्त होता है, और मेघ का आश्रय होता

है। वैसे ही श्रुतधर्म वह आश्रय होता है। जो समाधि और धारणी से व्याप्त है। अतः यह धर्ममेघा कहलाती है (अधिकार २०–२१[1])।

इन विविध भूमियों को विहार भी कहते हैं, क्योंकि बोधिसत्वों की इनमें सदा सर्वत्र रति होती है। इसका कारण यह है कि वह विविध कुशल का अभिनिर्हार चाहते हैं। इन्हें भूमि कहते हैं, क्योंकि अप्रमेय सत्वों को अभय देने के लिए ऊर्ध्वगमन का योग होता है।

अन्त में बुद्ध-स्तोत्र है।

अष्टादश अध्याय

वसुबन्धु का विज्ञानवाद (१)

[*विंशतिका के आधार पर*]

विंशतिका के रचयिता वसुबन्धु हैं। हमने पहले कहा है कि यह आरंभ में सौत्रान्तिक थे। पीछे से अपने ज्येष्ठ भ्राता आर्य असंग के प्रभाव से विज्ञानवादी हो गये। परमार्थ के अनुसार अयोध्या के किसी संघाराम में उन्होंने महायान धर्म स्वीकार किया था। वसुबन्धु का प्रसिद्ध ग्रन्थ वैभाषिक-नय पर है, किन्तु महायान धर्म स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने विज्ञान-वाद पर कई ग्रन्थ लिखे। हम इस अध्याय में विस्तार से वसुबन्धु के विज्ञानवाद का परिचय कराएँगे। वसुबन्धु के ग्रन्थों में से एक छोटा ग्रन्थ 'विंशतिका' है। इसपर वसुबन्धु ने स्वयं ही भाष्य भी लिखा है। यह ग्रन्थ विज्ञानवाद को संक्षेप में जानने के लिए बड़ा ही उपयुक्त है। इसलिए पहले इसका संक्षेप देते हैं। बाद में त्रिंशिका तथा उसकी टीका 'सिद्धि' के आधार पर वसुबन्धु के विज्ञानवाद का विस्तार देंगे। 'विंशतिका' को सिल्वाँ लेवी ने मूल रूप में १९२५ में वसुबन्धु की वृत्ति साथ के प्रकाशित किया और पुसें ने मुइज़ेओं में सन् १९१२ में (पृ० ५३–९०) इसके तिब्बती अनुवाद का फ्रेंच भाषान्तर दिया था। लेवी ने १९३२ में इसका फ्रेंच अनुवाद स्वयं प्रकाशित किया।

बाह्यार्थ का प्रतिषेध

विंशतिका के आरंभ में ही कहा है कि महायान में त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र व्यवस्था-पित किया है। यह इस सूत्र के अनुसार है—"चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम्।" चित्त, मन, विज्ञान और विज्ञप्ति पर्याय हैं। यहाँ 'चित्त' से संप्रयुक्त चैत्त सहित चित्त अभिप्रेत है।

इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध होता है। रूपादि अर्थ के बिना ही रूपादि-विज्ञप्ति उत्पन्न होती है। यह विज्ञान ही है, जो अर्थ के रूप में अवभासित होता है। वस्तुतः अर्थ असत् है। यह वैसे ही है, जैसे तिमिर का रोगी असत्-कल्प केश-चन्द्रादि का दर्शन करता है। अर्थ की सत्ता नहीं है।

प्रश्न है कि यदि अर्थ असत् है तो उसकी विज्ञप्ति का उत्पाद कैसे होता है। यदि रूपादि अर्थ से रूपादि विज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होती और रूपादि अर्थ के बिना ही होती है, तो देश-काल का नियम और सन्तान का अनियम युक्त न होगा। उदाहरण के लिए यदि रूप-

विज्ञप्ति रूपार्थ के बिना उत्पन्न होती है, तो ऐसा क्यों है कि यह विज्ञप्ति किसी एक ही देश में उत्पन्न होती है, सर्वत्र नहीं; और उस देश में भी कदाचित् उत्पन्न होती है, सर्वदा नहीं। ऐसा भी क्यों है कि उस देश और काल में प्रतिष्ठित सर्व की सन्तान में यह विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, केवल एक सन्तान में नहीं। यदि आप तैमिरिक द्वारा देखे हुए केशादि का दृष्टान्त देते हैं, तो हम पूछते हैं कि यह केशादि आभास तैमिरिक की ही सन्तान में क्यों होता है; दूसरों की सन्तान में क्यों नहीं होता? यदि आप स्वप्न में देखे हुए अर्थों का दृष्टान्त दें तो हमारा प्रश्न होगा कि इनसे इन अर्थों की क्रिया क्यों नहीं होती? हम स्वप्न में जो अन्न या विष का ग्रहण करते हैं, उसकी अन्नादि क्रिया क्यों नहीं होती? गन्धर्वनगर नगर की क्रिया को संपन्न नहीं करता, क्योंकि वहाँ सत्व निवास नहीं करते। समासतः यदि अर्थ का अभाव है, यदि विज्ञप्तिमात्र ही है, तो देश-काल का नियम, सन्तान का अनियम और कृत्य-क्रिया युक्त नहीं है।

विज्ञानवाद में देशादि का नियम और सन्तान का अनियम—वसुबन्धु इस शंका का निराकरण इस प्रकार करते हैं :—बाह्य अर्थ के बिना भी देशादि नियम सिद्ध है। स्वप्न में अर्थ के बिना ही किसी देश-विशेष में, सर्वत्र नहीं, भ्रमर, आराम, स्त्री-पुरुषादिक देखे जाते हैं, और उस देश-विशेष में भी कदाचित् देखे जाते हैं, सर्वदा नहीं। अतः यह सिद्ध हुआ कि अर्थ के अभाव में भी देश-काल का नियम होता है। पुनः प्रेतवत् सन्तान का अनियम सिद्ध है। सब प्रेतों को पूयपूर्ण अथवा मूत्र-पुरीष-पूर्ण नदी का दर्शन होता है। केवल एक को ही नहीं; यद्यपि उस देश में ऐसा कोई अर्थ नहीं है। पुनः वह दण्ड और खड्ग को धारण करने वाले पुरुषों से घिरे होते हैं, यद्यपि यह पुरुष विकल्पमात्र है। पुनः यह अयथार्थ है कि स्वप्न में जो दर्शन होता है, उसकी कृत्य-क्रिया नहीं होती। हम जानते हैं कि स्वप्न में द्वय-समापत्ति के बिना भी शुक्र का विसर्ग होता है।

पुनः नरक में सब नारकों को, केवल एक को नहीं, देश-काल नियम से नरकपालादि का दर्शन होता है, और यह उनको पीड़ा पहुंचाते हैं, यद्यपि यह असत्-कल्प हैं। नरक-पाल सत्व नहीं है, क्योंकि ऐसा अयुक्त होगा। यह नारक भी नहीं है, क्योंकि यह नारक दुःख का प्रतिसंवेदन नहीं करता। प्रदीप्त अयोमयी भूमि के दाह-दुःख को स्वयं सहन न कर सकते हुए यह कैसे दूसरों को यातना पहुंचा सकते हैं? और नरक में अनारकों की उत्पत्ति भी कैसे युक्त है? यदि स्वर्ग में तिर्यक् की उत्पत्ति होती है, तो वह वहाँ के सुख का भी अनुभव करते हैं, किन्तु नरकपालादि नारक दुःख का संवेदन नहीं करते। अतः नरक में तिर्यक् अथवा प्रेतों की उत्पत्ति युक्त नहीं है। वस्तुतः नरकपालादि की संज्ञा का प्रतिलाभ करने वाले भूतविशेष नारकों के कर्म से संभूत होते हैं, और इस प्रकार इनका परिणाम होता है कि नारकों में भय पैदा करने के लिए यह विविध हस्तविक्षेपादि क्रिया करते देखे जाते हैं। नरकपालादि की उत्पत्ति में यह हेतु सर्वास्तिवाद के आगम में दिया गया है [अभिधर्मकोश, ३।५९]। इसी प्रकार भूतों की कल्पना क्यों की जाती है, और यह क्यों नहीं इष्ट है कि जीवों के कर्मवश

विज्ञान का ही ऐसा परिणाम होता है ? यह कल्पना क्यों है कि कर्म की वासना अन्यत्र है, और कर्मफल अन्यत्र है ?

विज्ञप्ति-मात्रता

विज्ञानवाद के पक्ष में आगम—बहुधर्मवादी आगम के आधार पर एक दूसरी आपत्ति उपस्थित करते हैं। भगवद्वचन है कि रूपादि आयतन का अस्तित्व है, यदि विज्ञान ही रूपादि-प्रतिभास होता और रूपादिक अर्थ का अभाव होता, तो भगवान् रूपादि आयतन के अस्तित्व की बात कैसे करते ?

वसुबन्धु इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् की यह उक्ति विनेय जनों के के प्रति अभिप्रायवश है, यथा—भगवत् ने अभिप्रायवश कहा है कि उपपादुक-सत्व होता है, "उपपादुक सत्व है" इस उक्ति में अभिप्राय यह है कि आयतन में चित्त-सन्तति का उच्छेद नहीं होता। वस्तुतः भगवद्वचन है कि यहां सत्व अथवा आत्मा का अस्तित्व नहीं है, केवल यह सहेतुक धर्म है। इसी प्रकार "रूपादि आयतन का अस्तित्व है" यह वचन भी आभिप्रायिक है। इस वचन का अभिप्राय यह है कि भगवान् चक्षुरायतन से बीज (परिणाम-विशेष-प्राप्त) को प्रज्ञप्त करते हैं, जिससे रूप-प्रतिभास-विज्ञप्ति का उत्पाद होता है, और 'रूपायतन' से विज्ञप्ति के इसी रूप-प्रतिभास को प्रज्ञप्त करते हैं। इसी प्रकार स्प्रष्टव्यायतन आदि को जानना चाहिये।

पुद्गल-नैरात्म्य, धर्म-नैरात्म्य—इस देशना का गुण यह है कि इससे पुद्गल-नैरात्म्य में प्रवेश होता है। इस देशना में भगवान् का अभिप्राय यह है कि श्रावक पुद्गल-नैरात्म्य में प्रतिपन्न हों, इसीलिए वह कहते हैं कि विज्ञान-षट्क का प्रवर्तन दो से होता है; यथा—चक्षुरायतन और रूपायतन से। यह जानकर कि कोई एक द्रष्टा······मन्ता नहीं है, वे लोग जिनका विनयन पुद्गल-नैरात्म्य की देशना से करना है, पुद्गल-नैरात्म्य में प्रवेश करते हैं।

वसुबन्धु एक आपत्ति बताते हैं, और कहते हैं कि वस्तुतः विज्ञप्तिमात्र रूपादि धर्म के आकार में प्रतिभासित होता है। अतः यह जानकर कि रूपादि लक्षण का कोई धर्म नहीं है, धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश होगा किन्तु इससे अनिष्ट भी होगा, क्योंकि इससे विज्ञप्तिमात्र भी न रहेगा। यदि धर्म का सर्वथा अभाव है, तो विज्ञप्तिमात्र की व्यवस्था कैसे होगी ? यह भी न रहेगा कि वह इस आपत्ति का निराकरण करते हैं। वह कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि धर्मों का सर्वथा अभाव है। परमार्थ-दृष्टि में धर्म-नैरात्म्य का विपर्यास है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म निरात्म हैं, क्योंकि मूर्खों ने धर्मों का जो स्वभाव (ग्राह्य-ग्राहकादि) परिकल्पित किया है, उससे धर्म रहित है, अर्थात् उस कल्पित आत्मा से उनका नैरात्म्य है। किन्तु अनभिलाप्य आत्मा से जो बुद्धों का ही विषय है, उनका नैरात्म्य नहीं है। इस प्रकार वसुबन्धु नागार्जुन के धर्म-नैरात्म्य से विज्ञानवाद की रक्षा करते हैं। महायान स्वीकार करने के पूर्व वह सौत्रान्तिक थे। कदाचित् महायान धर्म स्वीकार करने पर भी वह अपनी वृत्ति को कुछ अंश में सुरक्षित रखते हैं।

पुनः वह कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्र का व्यवस्थान उसी विज्ञप्त्यन्तर से होता है, जिस विज्ञप्त्यन्तर द्वारा परिकल्पित आत्मा से उस विज्ञप्तिमात्र के भी नैरात्म्य में प्रवेश होता है। विज्ञप्तिमात्र के व्यवस्थापन से सब धर्मों के नैरात्म्य में प्रवेश होता है; किन्तु उनके अस्तित्व के अपवाद से नहीं होता। यदि अन्यथा होता तो विज्ञप्ति का विज्ञप्त्यन्तर अर्थ होता, और इस प्रकार विज्ञप्तियों के अर्थवती होने से विज्ञप्तिमात्रत्व की सिद्धि न होती। इस प्रकार वसुबन्धु का विज्ञानवाद माध्यमिकों के शून्यतावाद और हीनयान के बहुधर्मवाद के बीच प्रवर्तित होता है।

परमाणुवाद का खण्डन

विज्ञप्तिमात्रता की व्यवस्था करके वसुबन्धु अर्थप्रतीति का विवेचन करते हैं। वह कहते हैं कि यह कैसे विश्वास किया जाय कि भगवान् का यह वचन कि रूपादि आयतन का अस्तित्व है, अभिप्रायवश उक्त है; और उनका अस्तित्व नहीं है, जो रूपादि विज्ञप्तियों के विषय हैं। वह कहते हैं कि रूपादिक आयतन या तो एक है, और अवयविरूप है, जैसा कि वैशेषिकों की कल्पना है, अथवा परमाणुशः अनेक हैं, अथवा यह परमाणुसंहत हैं। किन्तु एक विज्ञप्ति का विषय नहीं होता, क्योंकि अवयवों से अन्य अवयवी के रूप का कभी ग्रहण नहीं होता। अनेक भी विषय नहीं होता, क्योंकि परमाणुओं में से प्रत्येक का ग्रहण नहीं होता। पुनः संहत परमाणु भी विज्ञप्ति के विषय नहीं होते, क्योंकि यह सिद्ध नहीं है कि परमाणु एक द्रव्य है।

प्रश्न है कि यह कैसे सिद्ध नहीं है कि परमाणु एक द्रव्य है। इस स्थल पर आचार्य परमाणु का विवेचन करते हैं। क्या परमाणु का दिग्-भाग-भेद है? उस अवस्था में यह विभजनीय है, इसलिए परमाणु नहीं है। यदि छः दिशाओं में इसका अन्य छः परमाणुओं से युगपत् योग होता है, तो परमाणु की षडंशता प्राप्त होती है। यदि परमाणु का दिग्-भाग-भेद नहीं है, यदि जो देश एक परमाणु का है वही छः का है, तो सबका समान देश होने से सर्व पिंड परमाणुमात्र होगा। यह अयुक्त है। पुनः इस अवस्था में किसी प्रकार पिंड संभव नहीं है।

काश्मीर वैभाषिक कहते हैं कि निरवयव होने से परमाणुओं का संयोग नहीं होता, किन्तु संहत होने पर उनका परस्पर संयोग होता है। वसुबन्धु कहते हैं कि इनसे पूछना चाहिये कि क्या परमाणुओं का संघात उन परमाणुओं से अर्थान्तर है। यदि इन परमाणुओं का संयोग नहीं होता, तो संघात में किसका संयोग होता है? पुनः संघातों का भी अन्योन्य संयोग नहीं होता। यह न कहना चाहिये कि परमाणुओं के निरवयवत्व के कारण संयोग सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सावयव संघात का भी संयोग नहीं होता। अतः परमाणु एक द्रव्य नहीं है, चाहे परमाणु का संयोग इष्ट हो या न हो, जिसका दिग्भागभेद है उसका एकत्व अयुक्त है। परमाणु का अन्य पूर्व दिग्भाग है, अन्य अधो दिग्भाग है, इत्यादि। इस प्रकार जब दिग्भागभेद है, तो तदात्मक परमाणु का एकत्व कैसे युक्त होगा? और यदि एक एक परमाणु को यह दिग्भागभेद न स्वीकार किया जाय तो प्रतिघात कैसे होगा? संघात

कैसे होगा ? सूर्योदय पर कैसे अन्यत्र छाया होती है, और अन्यत्र आतप ? उसका अन्य प्रदेश नहीं होता जहाँ आतप नहीं होता। यदि दिग्भागभेद इष्ट नहीं है, तो दूसरे परमाणु से एक परमाणु का आवरण कैसे होता है ? परमाणु का कोई पर भाग नहीं है, जहाँ आगमन से दूसरे का दूसरे से प्रतिघात हो, और यदि प्रतिघात नहीं है, तो सब परमाणुओं का समान-देशत्व होगा और सर्वसंघात परमाणुमात्र हो जायगा।

यही पिण्डों के लिए है। पिण्ड या तो परमाणुओं से अन्य नहीं हैं, अथवा अन्य हैं। यदि पिण्ड परमाणुओं से अन्य इष्ट नहीं है, तो यह सिद्ध होता है कि वह पिण्ड के नहीं हैं। यह संनिवेश परिकल्प है। यदि परमाणु संघात है, तो इस चिन्ता से क्या, यदि रूपादि लक्षण का प्रतिषेध नहीं होता।

अतः रूपादि लक्षण अनेक (बहु) नहीं हो सकता। जब परमाणु असिद्ध हुआ तब उसके साथ साथ द्रव्यों का अनेकत्व भी दूषित हो गया। किन्तु रूप को हम एक द्रव्य भी संप्रधारित नहीं कर सकते। क्योंकि यदि चक्षु का विषय एक द्रव्य कल्पित हो तो उसकी अविच्छिन्न उपलब्धि प्रत्यक्ष होगी, किन्तु अनुभव ऐसा नहीं बताता। पुनः यह विकल्प केवल युक्ति की परिसमाप्ति के लिए था। जब पृथग्भूत परमाणु असिद्ध है, तब संघात परमाणु भी असिद्ध हो जाता है, और सकृत् रूपादि का चक्षुरादि विषयत्व भी असिद्ध हो जाता है। केवल विज्ञप्तिमात्र सिद्ध होता है।

वैभाषिक आक्षेपों का निराकरण—प्रतिपक्षी एक दूसरा आक्षेप करते हैं। वह कहते हैं कि प्रमाण द्वारा अस्तित्व-नास्तित्व निर्धारित होता है, और प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण गरिष्ठ है। वह पूछते हैं कि यदि अर्थ असत् है, तो प्रत्यक्ष बुद्धि क्यों होती है ? यह प्रतिपक्षी वैभाषिक हैं। वसुबन्धु पूछते हैं कि आप क्षणिकवादियों को कैसे विषय का प्रत्यक्षत्व इष्ट है, क्योंकि जब क्षणिक-विज्ञान उसको विषय बताता है, उसी क्षण में रूपरसादिक निरुद्ध हो गये होते हैं। "यह विषय मुझको प्रत्यक्ष है" ऐसी प्रत्यक्षबुद्धि जिस क्षण होती है, उसी क्षण में वह अर्थ नहीं देखा जाता, क्योंकि उस समय मनोविज्ञान द्वारा परिच्छेद और चक्षुर्विज्ञान निरुद्ध हो चुके होते हैं।

किन्तु यह कहा जायगा कि क्योंकि अननुभूत का स्मरण मनोविज्ञान द्वारा नहीं होता, इस लिए अर्थ का अनुभव अवश्य होना चाहिये। वसुबन्धु उत्तर देते हैं कि अनुभूत अर्थ का स्मरण असिद्ध है। हम कह चुके हैं कि किस प्रकार अर्थ के बिना ही अर्थाभास विज्ञप्ति का उत्पाद होता है, चक्षुर्विज्ञानादिक विज्ञप्ति ही अर्थ के रूप में आभासित होती है। इसी विज्ञप्ति से स्मृतिसंप्रयुक्त रूपादि वैकल्पिक मनोविज्ञप्ति उत्पन्न होती है। अतः स्मृति के उत्पाद से अर्थानुभव नहीं सिद्ध होता।

बहुधर्मवादी कहेंगे कि यदि जैसे स्वप्न में विज्ञप्ति का विषय अभूतार्थ होता है, जाग्रत अवस्था में भी वैसा ही हो तो उसका अभाव लोगों को स्वयं ही अवगत होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए स्वप्न के तुल्य अर्थोपलब्धि निरर्थक नहीं है।

वसुबन्धु कहते हैं कि यह ज्ञापक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में दृग-विषय का जो अभाव होता है, उसको अप्रबुद्ध नहीं जानता। सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अभूत अर्थ को देखता है, किन्तु जबतक जागता नहीं तबतक उसको यह अवगत नहीं होता कि अर्थ का अभाव था। इसी प्रकार वितथ-विकल्प के अभ्यासवश वासना-निद्रा में सोया हुआ पुद्गल अभूत अर्थ को देखता हुआ यह नहीं जानता कि अर्थ का अभाव है। किन्तु जैसे स्वप्न से जागकर मनुष्य को अवगत होता है कि स्वप्न में मैंने जो कुछ देखा था वह अभूत, वितथ था; उसी प्रकार लोकोत्तर निर्विकल्प ज्ञान के लाभ से जब पुद्गल प्रबुद्ध होता है, तब वह विषय के अभाव को यथावत् अवगत करता है।

यहाँ एक दूसरी शंका उपस्थित की जाती है—यदि स्वसन्तान के परिणामविशेष से ही सत्वों में अर्थ-प्रतिभास-विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, अर्थविशेष से नहीं, तो यह कथन कि पाप-कल्याणमित्र के संपर्क से तथा सत्-असत् धर्म के श्रवण से विज्ञप्ति का नियम है, उस संपर्क तथा देशना के अभाव में कैसे सिद्ध होता है? अर्थ के अभाव में विज्ञप्ति-नियम क्या है?

वसुबन्धु उत्तर में कहते हैं कि सब सत्वों की अन्योन्य विज्ञप्तियों के आधिपत्य के कारण विज्ञप्ति-नियम परस्परतः होता है। यहाँ 'सत्व' से 'चित्त-सन्तान' अभिप्रेत है। एक सन्तान के विज्ञप्ति-विशेष से सन्तानान्तर में विज्ञप्ति-विशेष का उत्पाद होता है, न कि अर्थ-विशेष से।

एक दूसरा प्रश्न यह है कि यदि जैसे स्वप्न में निरर्थिका विज्ञप्ति होती है, वैसे ही जाग्रत अवस्था में भी हो तो कुशल-अकुशल का समुदाचार होने पर आयति में तुल्यफल क्यों नहीं होता?

वसुबन्धु का उत्तर है कि इस असमानफल का कारण अर्थ-सद्भाव नहीं है, किन्तु इसका कारण यह है कि स्वप्न में चित्त मिद्ध से उपहत होता है। वसुबन्धु इसका पुनः व्याख्यान करते हैं—पूर्वपक्ष का कहना है कि यदि यह सब विज्ञप्तिमात्र नहीं है, और किसी का काय-वाक् नहीं है, तो वधिक द्वारा वध होने पर उभ्रादि का मरण कैसे होता है, और यदि उभ्रादि का मरण तत्कृत नहीं है, तो वधिक का प्राणातिपात के अवद्य से योग कैसे होता है? वसुबन्धु इसका उत्तर यों देते हैं—मरण पर-विज्ञप्ति-विशेष-वश होता है। जैसे पिशाचादि के मन के वश में होने से स्मृति का लोप होता है, तथा अन्य विकार उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार पर-विज्ञप्ति-विशेष के आधिपत्य से जीवितेन्द्रिय का निरोध करने वाली कोई विक्रिया उत्पन्न होती है, जिससे सभागसन्तान का विच्छेद होता है, और जिसे ही मरण की आख्या प्राप्त होती है। अन्यथा ऋषियों के कोप से दण्डकारण्य सत्वशून्य कैसे हुआ? यदि यह कल्पना करो कि दण्डकारण्य के निवासी अमानुषों द्वारा उत्पादित हुए, न कि ऋषियों के मनःप्रदोष से, तो इस कर्म से भगवान् की यह उक्ति कि मनोदण्ड काय-वाग्दण्ड से महावद्यतम है, कैसे सिद्ध होती है?

अन्तिम प्रश्न—यदि यह सब विज्ञप्तिमात्र ही है, यदि विज्ञप्ति का विषय अर्थान्तर नहीं है, तो क्या वस्तुतः इसको स्वचित्तज्ञान होता है ? वसुबन्धु कहते हैं कि स्वचित्तज्ञान धर्मों के निरभिलाप्य आत्मा को नहीं जानता, जो केवल बुद्ध का गोचर है। इस अज्ञान के कारण स्वचित्तज्ञान और परचित्तज्ञान दोनों यथार्थ नहीं है, क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक-विकल्प अप्रहीण है, और इसलिए प्रतिभास वितथ है। अन्त में वह कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्रता के सर्व प्रकार अचिन्त्य हैं, क्योंकि वह तर्क के विषय नहीं हैं। केवल बुद्धों के ही यह सर्वथा गोचर हैं। उनका सर्व ज्ञेय का सर्वाकार ज्ञान अव्याहत होता है।

वसुबन्धु का विज्ञान-वाद (२)

[शुआन-च्वांग की 'सिद्धि' के आधार पर]

चीनी यात्री शुआन-च्वांग ने भारत में ई० सन् ६३० से ६४४ तक यात्रा की थी। वह नालंदा के संघाराम में कई बार रहे थे। वह शीलभद्र तथा विज्ञानवाद के अन्य आचार्यों के शिष्य थे। ईसवी सन् ६४५ में वह चीन लौटे और विज्ञानवाद पर उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की। इनमें से सबसे मुख्य ग्रन्थ 'सिद्धि' है। इसका फ्रेंच अनुवाद पूर्से ने किया है। इसी ग्रन्थ के आधार पर यहाँ विज्ञानवाद लिखा जाता है।

सिद्धि का प्रतिपाद्य

इस ग्रन्थ का महत्व इस दृष्टि से भी है कि यह नालंदा संघाराम के आचार्यों के विचारों से परिचय कराता है। असंग के महायानसूत्रालंकार के विज्ञानवाद का आधार माध्यमिक विचार था, और उस ग्रंथ में इस सिद्धांत का विरोध नहीं किया गया। इसके विपरीत सिद्धि के विज्ञानवाद का स्वतंत्र आधार है। यह माध्यमिक सिद्धान्त से सर्वथा व्यावृत्त हो गया है, और यह अपने को ही महायान का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधि मानता है।

जैसा कि ग्रंथ का नाम सूचित करता है, 'सिद्धि' विज्ञप्ति-मात्रता के सिद्धांत का निरूपण है। जो लोग पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य में अप्रतिपन्न या विप्रतिपन्न हैं, उनको इनका अविपरीत ज्ञान कराना इस ग्रंथ का उद्देश्य है। इन दो नैरात्म्यों के साक्षात्कार से आत्मग्राह और धर्मग्राह का नाश होता है, और इसके फलस्वरूप क्लेशावरण और ज्ञेयावरण (अक्लिष्ट अज्ञान जो ज्ञेय अर्थात् भूततथता के दर्शन में प्रतिबन्ध है) का प्रहाण होता है। रागादि क्लेश आत्मदृष्टि से प्रसूत होते हैं। पुद्गल-नैरात्म्य का अवबोध सत्काय-दृष्टि का प्रतिपक्ष है। इस अवबोध से सर्व क्लेश का प्रहाण होता है। क्लेश-प्रहाण से प्रतिसंधि नहीं होती, और मोक्ष का लाभ होता है। धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण प्रहीण होता है, इससे महाबोधि (सर्वज्ञता) का अधिगम होता है और सर्वाकार ज्ञेय में ज्ञान असक्त और अप्रतिहत प्रवर्तित होता है।

विज्ञप्तिमात्रता दो प्रकार के एकांतवाद का प्रतिषेध करती है। सर्वास्तिवादी मानते हैं कि विज्ञान के तुल्य विज्ञेय (बाह्यार्थ) भी द्रव्यसत् हैं, और दूसरे (भावविवेक) जो शून्यवादी हैं, मानते हैं कि विज्ञेय (बाह्यार्थ) के सदृश विज्ञान का भी परमार्थतः अस्तित्व नहीं है, केवल संवृतितः है। यह दोनों मत अयथार्थ हैं। शुआन-च्वांग इन दोनों अयथार्थ मतवादों से व्यावृत्त होते हैं, और अपने विज्ञानवाद को सिद्ध करते हैं। वह वसुबन्धु के इस वचन को उद्धृत करते हैं :—जो विविध आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रचलित हैं, वह मुख्य धर्मों से संबन्ध नहीं रखते। वह मिथ्योपचार हैं। विज्ञान का जो परिणाम होता है उसके लिए इन प्रज्ञप्तियों का व्यवहार होता है। दूसरे शब्दों में आत्मा और धर्म द्रव्यसत् स्वभाव नहीं

है। वह केवल विकल्प मात्र है। परिकल्पित आत्मा और धर्म विज्ञान (विज्ञप्ति, ज्ञान) के परिणाममात्र है। चित्त-चैत्त एकमात्र वस्तुसत् है।

विज्ञान-परिणाम के विविध मतवाद

धर्मपाल, स्थिरमति, नन्द और बन्धुश्री के मत—शुआन-च्वांग इस विज्ञान-परिणाम का विवेचन विज्ञानवाद के अन्तर्गत विविध मतवादों के अनुसार करते हैं। धर्मपाल और स्थिरमति के अनुसार मूल-विज्ञान (विज्ञान-स्वभाव, संवित्ति, संवित्तिभाग) दो भागों में सदृश-परिणत होता है। यह आत्मा और धर्म है। इन्हें दर्शनभाग और निमित्तभाग कहते हैं। यही ग्राहक और ग्राह्य के आयतन है। यह दो भाग संवित्तिभाग का आश्रय लेकर वृषभ के दो शृंगों के तुल्य संभूत होते हैं। नन्द और बंधुश्री के अनुसार आध्यात्मिक विज्ञान बाह्यार्थ के सदृश परिणत होता है। धर्मपाल के मत से यह दो भाग संवित्तिभाग के सदृश प्रतीत्यज, परतंत्र हैं, किन्तु मूढ़ पुरुष इनमें आत्मा और धर्म का, ग्राहक-ग्राह्य का, उपचार करते हैं। यह दो विकल्प (कल्पना) परिकल्पित हैं। किन्तु स्थिरमति के अनुसार यह दो भाग परतंत्र नहीं हैं, क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिषेध किये बिना इनकी वस्तुतः विद्यमानता नहीं होती। अतः यह परिकल्पित है। नन्द और बंधुश्री केवल दो ही भाग (दर्शन, निमित्त) स्वीकार करते, हैं और यह दोनों परतंत्र हैं। निमित्तभाग परतंत्र है, किन्तु यह दर्शनभाग का परिणाम है। इस नय में विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त आहत है। निमित्तभाग विज्ञान से पृथक् नहीं है, किन्तु मिथ्या रुचि उसे बहिर्वत् गृहीत करती है। यद्यपि यह परतंत्र है, तथापि परिकल्पित के सदृश है। लोक और शास्त्र बाह्यार्थ सदृश इस निमित्तभाग को आत्मा और धर्म प्रज्ञप्त करते हैं। दर्शनभाग ग्राहक के रूप में निमित्तभाग में संगृहीत है।

इस प्रकार स्थिरमति एक ही भाग को परतंत्र मानते हैं। उनके दर्शनभाग और निमित्तभाग परिकल्पित हैं। धर्मपाल, जैसा हम आगे देखेंगे, चार भाग मानते हैं। वह एक स्वसंवित्ति-संवित्तिभाग भी मानते हैं। उनके चारों भाग परतंत्र हैं, नन्द और बंधुश्री के अनुसार दो भाग हैं और दोनों परतंत्र हैं।

शुआन-च्वांग का समन्वय—इन विविध मतों के बीच जो भेद है वह अति स्वल्प है। शुआन च्वांग इन मतों का उल्लेख करके उनमें सामंजस्य स्थापित करते हैं। उनका वाक्य यह है—आत्म-धर्म के विकल्पों से चित्त में जिस वासना का परिपोष होता है, उसके बल से विज्ञान उत्पन्न होते ही आत्मधर्माकार में परिणत होता है। आत्मधर्म के यह निर्भास यद्यपि विज्ञान से अभिन्न हैं, तथापि मिथ्या-विकल्प के बल से यह बाह्यार्थवत् अवभासित होते हैं। यही कारण है कि अनादिकाल से आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रवर्तित हैं। सत्व सदा से आत्मनिर्भास और धर्मनिर्भास को वस्तुसत् आत्मधर्म अवधारित करते हैं। किन्तु यह आत्मा और धर्म, जिनमें मूढ़ पुरुष प्रतिपन्न हैं, परमार्थतः नहीं हैं। यह प्रज्ञप्तिमात्र हैं। मिथ्या-रुचि (मत) से यह प्रवृत्त होते हैं, अतः यह आत्मधर्म संवृतितः ही हैं। पश्चिम की भाषा में यदि कहें तो कहना

होगा कि एक पूर्ववर्ती अभ्यासवश, सहज-स्वभाव के फलस्वरूप विज्ञान अवधारित करता है कि उसका एक भाग ग्राहक है और दूसरा ग्राह्य (बाह्यजगत्)।

विज्ञान की सत्यता—किन्तु यदि आत्मा और धर्म (ग्राहक और ग्राह्य) केवल संवृति-सत्य हैं, तो इनका उत्पादक विज्ञान कौन सा सत्य है ? शुआन च्वांग कहते हैं कि विज्ञान आत्मा और धर्म से अन्यथा है, क्योंकि इसका परिणाम आत्मधर्माकार होता है। विज्ञान का अस्तित्व है, क्योंकि यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है। यह परतंत्र है, किन्तु यह वस्तुतः सर्वदा आत्म-धर्म-स्वभाव नहीं होता। किन्तु इसका निर्भास आत्मधर्म के आकार में होता है। अतः इसको भी संवृति-सत्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में बाह्यार्थ केवल प्रज्ञप्ति हैं, और इनका प्रवर्तन मिथ्या-रुचि से होता है। अतः उनका अस्तित्व विज्ञान-सदृश नहीं है। जैसे बाह्यार्थ का अभाव है, वैसे विज्ञान का अभाव नहीं है। विज्ञान ही इन प्रज्ञप्तियों का, इन उपचारों का, उपादान है; क्योंकि उपचार निराधार नहीं होता। विज्ञान परतंत्र है, किन्तु द्रव्यतः है।

हम देखते हैं कि प्राचीन माध्यमिक मतवाद में और शुआन-च्वांग के काल के विज्ञान-वाद में कितना अन्तर है। माध्यमिकों के मत में वस्तुतः विज्ञान और विज्ञेय दोनों का समान रूप से अभाव है। यह केवल लोकसंवृतिसत् हैं। विज्ञानवाद के मत में यदि विज्ञेय मृग-मरीचिका हैं, तो विज्ञान अपने स्वरूप में पूर्णतः द्रव्यसत् है। यह ऐसी प्रतिज्ञा है जिसके करने का साहस असंग ने भी स्पष्ट रीति से नहीं किया। कम से कम उन्होंने ऐसा संकोच के साथ किया। किन्तु शुआन-च्वांग स्पष्ट हैं। बाह्यार्थ केवल विज्ञान की प्रज्ञप्ति है। यह केवल लोक-संवृतिसत् है। इसके विपरीत विज्ञान, जो इन प्रज्ञप्तियों उपादान है, परमार्थसत् है। (पृ० ११)

आत्म-ग्राह की परीक्षा

यह कैसे ज्ञात होता है कि बाह्यार्थ के बिना विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है ? क्योंकि आत्मा और धर्म परिकल्पित हैं। इसके लिए शुआन-च्वांग क्रम से आत्मग्राह और धर्मग्राह की परीक्षा करते हैं।

सांख्य वैशेषिक मत की परीक्षा—पहले वह आत्मग्राह को लेते हैं। सांख्य और वैशे-षिक के मत में आत्मा नित्य, व्यापक (या सर्वगत) और आकाशवत् अनंत है। शुआन-च्वांग कहते हैं कि नित्य, व्यापक और अनंत आत्मा सेन्द्रियक काय में, जो वेदना से प्रभावित है, परि-च्छिन्न नहीं हो सकता। क्या आत्मा, जैसा कि उपनिषद् कहते हैं, सब जीवों में एक है ? अथवा जैसा सांख्य-वैशेषिक कहते हैं, अनेक हैं ? पहले विकल्प में जब एक जीव कर्म करता है, कर्म-फल भोगता है, मोक्ष का लाभ करता है, तब सब जीव कर्म करते हैं, कर्म-फल का भोग करते हैं, मोक्ष का लाभ करते हैं, इत्यादि। दूसरे विकल्प में (सांख्य) सब सत्वों की व्यापक आत्माएं अन्योन्य-प्रतिवेध करती हैं, अतः आत्मा का स्वभाव मिश्र होगा। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक कर्म अमुक आत्मा का है, अन्य का नहीं है। जब एक मोक्ष का लाभ करता है, तब सब उसका लाभ करेंगे; क्योंकि जिन धर्मों की भावना और जिनका साक्षात्कार एक करता है, वह सब आत्माओं से संबद्ध होंगे।

निर्ग्रन्थ मत की परीक्षा—इसके पश्चात् हमारे ग्रन्थकार निर्ग्रन्थों के मत का खंडन करते हैं। निर्ग्रन्थ आत्मा को नित्यस्थ (कूटस्थ) मानते हैं, किंतु कहते हैं कि इसका परिमाण शरीर के अनुसार दीर्घ या ह्रस्व होता है। यह युक्तिक्षम नहीं है, क्योंकि इस कूटस्थ आत्मा का स्व-शरीर के अनुसार विकास-संकोच नहीं हो सकता। यदि वंशी की वायु के समान इसका विकास-संकोच हो तो यह कूटस्थ नहीं है। पुनः शरीरों के बहुत्व से छिन्न होने के कारण इसकी एकता कहाँ है ? (पृ० १३)

हीनयानी मतों की परीक्षा—अब हीनयान के अंतर्गत कतिपय मतवाद रह जाते हैं, जिनके अनुसार आत्मा पंचस्कंधात्मक है, या स्कंधों से व्यतिरिक्त है (व्यतिरेकी), या न स्कंधों से अन्य है और न अनन्य।

पहले पक्ष में एकता और नित्यता के बिना यह आत्मा क्या है ? पुनः आध्यात्मिक रूप अर्थात् पंचेन्द्रिय आत्मा नहीं है, क्योंकि यह बाह्यरूप के सदृश परिमाण वाला और सावरण है। चित्त-चैत्त भी आत्मा नहीं है। चित्त-चैत्त जो अविच्छिन्न संतान में भी अवस्थित नहीं होते और जो हेतु-प्रत्ययाधीन हैं, कैसे आत्मा अवधारित हो सकते हैं ? अन्य संस्कृत अर्थात् विप्रयुक्त-संस्कार और अविज्ञप्ति-रूप भी आत्मा नहीं हैं, क्योंकि यह बोधस्वरूप नहीं है।

पुनः आत्मा स्कन्ध-व्यतिरेकी भी नहीं है, क्योंकि स्कन्धों से व्यतिरिक्त आत्मा, आकाश के तुल्य, कारक-वेदक नहीं हो सकता।

पुनः वात्सीपुत्रीयों का मत कि—पुद्गल न स्कंधों से अन्य है और न अनन्य; युक्तियुक्त नहीं है। इस कल्पित द्रव्य में—जो स्कंधों का उपादान लेकर (उपादाय) न पंचस्कंध से व्यतिरिक्त है और न पंचस्कंध है, जिस प्रकार—घट मृत्तिका से न भिन्न है, न अभिन्न; हम आत्मा को नहीं पाते। आत्मा प्रज्ञप्तिसत् है (पृ० १४)।

अब केवल विज्ञान का प्रश्न रह जाता है। शुआन-च्वांग वात्सीपुत्रीयों से पूछते हैं कि क्या यह आत्मा है, जो आत्म-प्रत्यय का विषय है, आत्मदृष्टि का आलंबन है ? यदि आत्मा आत्मदृष्टि का विषय नहीं है तो आप कैसे जानते हैं कि आत्मा है ? यदि यह इसका विषय है तो आत्मदृष्टि को विपर्यास न होना चाहिये, जैसे चित्त जो रूपादि वस्तुसत् को आलंबन बनाता है, विपर्यास में संगृहीत नहीं है। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है ? आप्तागम आत्मदृष्टि का प्रतिषेध करता है, नैरात्म्य का आशंस करता है, और कहता है कि आत्माभिनिवेश संसार का पोषण करता है। क्या यह माना जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि निर्वाण का आवाहक हो सकती है ? अथवा सम्यग्दृष्टि संसार में हेतु है ?

आत्मदृष्टि का आलंबन निश्चय ही द्रव्यसत् आत्मा नहीं है किन्तु स्कंधमात्र है, जो आध्यात्मिक विज्ञान का परिणाम है।

पुनः शुआन-च्वांग तीर्थिकों से पूछते हैं कि आत्मा सक्रिय है अथवा निष्क्रिय। यदि सक्रिय है तो यह आत्मा नहीं है, धर्म (फेनामेनल) है। यदि निष्क्रिय है, तो यह स्पष्ट ही असत् है। पुनः सांख्यवादी कहते हैं कि आत्मा स्वयं चैतन्यात्मक है, और वैशेषिक कहते हैं कि

यह अचेतन है, चेतनायोग से चेतन होता है [बोधिचर्यावतार, ६।६०]। पहले विकल्प में आकाशवत् यह कर्ता, भोक्ता नहीं है।

आत्मग्राह की उत्पत्ति

इस आत्म-ग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है? आत्म-ग्राह सहज या विकल्पित है।

सहज आत्म-ग्राह—प्रथम आत्म-ग्राह आभ्यन्तर हेतुवश अनादिकालिक वितथ वासना है, जो काय (या आश्रय) के साथ (सह) सदा होती है। यह सहज आत्मग्राह (सत्कायदृष्टि) मिथ्या देशना या मिथ्या विकल्प पर आश्रित नहीं है। मन स्वरसेन आलय-विज्ञान (अष्टम विज्ञान) अर्थात् मूल-विज्ञान को आलंबन के रूप में ग्रहण करता है (प्रत्येति, आलंबते)। यह स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, और इस निमित्त को द्रव्यतः आत्मा अवधारित करता है। यह निमित्त मन का साक्षात् आलंबन है। इसका मूलप्रतिभू (बिम्ब, आर्किटाइप) स्वयं आलय है। मन प्रतिबिम्ब का उत्पाद करता है। आलय के इस निमित्त का उपगम कर मन को प्रतीति होती है कि वह अपनी आत्मा को उपगत होता है। अथवा मनोविज्ञान पंच उपादानस्कंधों को (विज्ञान-परिणाम) आलंबन के रूप में गृहीत करता है,और स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, जिसको वह आत्मा अवधारित करता है।

दोनों अवस्थाओं में यह चित्त का निमित्तभाग है, जिसे चित्त आत्मा के रूप में गृहीत करता है। यह बिम्ब मायावत् है। किन्तु यह अनादिकालिक माया है, क्योंकि अनादिकाल से इसकी प्रवृत्ति है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह सूक्ष्म हैं, और इसलिए उनका उपच्छेद दुष्कर है। भावना-मार्ग में ही पुद्गल-शून्यता की अभीक्ष्ण परम भावना कर बोधिसत्व इनका विष्कंभन, प्रहाण करता है।

विकल्पित आत्मग्राह—दूसरा आत्मग्राह विकल्पित है। यह केवल आभ्यंतर हेतुवश प्रवृत्त नहीं होता। यह बाह्य प्रत्ययों पर भी निर्भर है। यह मिथ्या देशना और मिथ्या विकल्प से ही उत्पन्न होता है। इसलिए यह विकल्पित है। यह केवल मनोविज्ञान से ही संबद्ध है। यह आत्मग्राह भी दो प्रकार का है। एक वह आत्मग्राह है, जिसमें आत्मा को स्कंधों के रूप में अवधारित करते हैं। यह सत्कायदृष्टि है। मिथ्यादेशनावश स्कंधों को आलंबन बना मनोविज्ञान स्वचित-निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है, और उसे द्रव्यतः आत्मा अवधारित करता है। दूसरा वह आत्मग्राह है, जिसमें आत्मा को स्कंधव्यतिरेकी अवधारित करते हैं। तीर्थिकों से उपदिष्ट विविध लक्षण के आत्मा को आलंबन बना मनोविज्ञान स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है; इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है, और उसे द्रव्यतः आत्मा अवधारित करता है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह स्थूल हैं। अतएव इनका उपच्छेद सुगम है। दर्शनमार्ग में बोधिसत्व सर्व धर्म की पुद्गलशून्यता, भूततथता की भावना करता है, और आत्मग्राह का विष्कंभन और प्रहाण करता है।

आत्मवाद का निराकरण और मूल-विज्ञान

पुनः शुआन-च्वांग आत्मवादी के इस आक्षेप का विचार करते हैं कि यदि आत्मा द्रव्यतः नहीं है, तो स्मृति और पुद्गल-प्रबन्ध के अनुपच्छेद का आप क्या विवेचन करते हैं ? (पृ० २०) शुआन-च्वांग उत्तर में कहते हैं कि यदि आत्मा नित्यस्थ है, तो चित्त की विविधावस्था कैसे होगी ? वह यह स्वीकार करते कि आत्मा का कारित्र विविध है; किन्तु उसका स्वभाव नित्यस्थ है। कारित्र स्वभाव से पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः यह नित्यस्थ है। स्वभाव कारित्र से पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः यह विविध है।

अनुभवसिद्ध आध्यात्मिक नित्यत्व (स्पिरिचुअल कान्स्टेण्ट) का विवेचन करने के लिए शुआन-च्वांग आत्मा के स्थान में मूल-विज्ञान का प्रस्ताव करते हैं, जो सब सत्वों में होता है, और जो एक अव्याकृत सभाग-संतान है। इसमें सब सास्रव और अनास्रव समुदाचरित धर्मों के के बीज होते हैं। इस मूल-विज्ञान की क्रिया के कारण और बिना किसी आत्मा के संप्रधारण के सब धर्मों की उत्पत्ति पूर्व बीज अर्थात् वासना के बल से होती है। यह धर्म-पर्याय से अन्य बीजों को उत्पादित करते हैं, और इस प्रकार आध्यात्मिक संतान अनंत काल तक प्रवाहित होता है।

किन्तु यह आक्षेप होगा कि आपका लोकधातु केवल सदाकालीन मनस्-कर्म है, कारक कहाँ है ? एक द्रव्यसत् आत्मा के अभाव में कर्म कौन करता है ? कर्म का फल कौन भोगता है ? शुआन-च्वांग उत्तर देते हैं कि जिसे कारक करते हैं वह कर्म है, परिवर्तन है। किन्तु तीर्थिकों का आत्मा आकाश के तुल्य नित्यस्थ है, अतः यह कारक नहीं हो सकता। चित्त-चैत्त के हेतुप्रत्ययवश प्रबंध का अनुपच्छेद, कर्म-क्रिया और फलभोग होते हैं।

आत्मवादी पुनः कहते हैं कि आत्मा के बिना, एक अध्यात्मिक नित्य वस्तु के अभाव में आप बौद्ध जो हमारे सदृश संसार मानते हैं, संसार का निरूपण किस प्रकार करते हैं। यदि आत्मा द्रव्यतः नहीं है, तो एक गति से दूसरी गति संसरण कौन करता है, कौन दुःख का भोग करता है, कौन निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होता है, और किसका निर्वाण होता है।

शुआन-च्वांग का उत्तर है कि आप किस प्रकार आत्मा को मानते हुए संसार का निरूपण करते हैं। जब आत्मा का लक्षण यह है कि यह नित्य और जन्म-मरण से विनिर्मुक्त है, तब इसका संसरण कैसे हो सकता है ? संसार का निरूपण एकमात्र बौद्धों के संतान के सिद्धांत से हो सका है। सत्व चित्त-संतान हैं, और यह क्लेश तथा सास्रव कर्मों के बल से गतियों में संसरण करते हैं। अतः आत्मा द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है। केवल विज्ञान का अस्तित्व है। पर विज्ञान पूर्व विज्ञान के तिरोहित होने पर उत्पन्न होता है, और अनादिकाल से इनकी हेतु-फलपरंपरा, इनका संतान होता है।

धर्मग्राह की परीक्षा

ब्राह्मणों के आत्मवाद का निराकरण करके शुआन-च्वांग बहु-पदार्थवादी सांख्य-वैशेषिक तथा हीनयान का खंडन करते हैं। यह मतवाद धर्मों की सत्ता मानते हैं (धर्मग्राह) शुआन-च्वांग कहते हैं कि युक्तितः धर्मों का अस्तित्व नहीं है। चित्त-व्यतिरेकी धर्मों की द्रव्यतः उपलब्धि नहीं होती।

सांख्य परीक्षा—पहले वह सांख्य मतवाद का विचार करते हैं। सांख्य के अनुसार पुरुष से पृथक् २३ तत्त्व (या पदार्थ)—महत्-अहंकारादि हैं। पुरुष चैतन्यस्वरूप है। वह इनका उपभोग करता है। यह धर्म त्रिगुणात्मक हैं, तथापि यह तत्त्व हैं, व्यावहारिक (कल्पित) नहीं हैं। अतः इनका प्रत्यक्ष होता है।

शुआन-च्वांग उत्तर देते हैं कि जब धर्म अनेकात्मक (गुणत्रय के समुदाय) हैं, तब वह द्रव्यसत् नहीं हैं, किन्तु सेना और वन के तुल्य प्रज्ञप्ति मात्र है। ये तत्त्व विकृति हैं; अतः नित्य नहीं हैं। पुनः इन तीन वस्तुओं के (तीन गुणों के) अनेक कारित्र हैं। अतः इनके स्वभाव और लक्षण भिन्न हैं। तब यह समुदाय के रूप में एक तत्त्व कैसे हैं ?

वैशेषिक परीक्षा—वैशेषिक परीक्षा का विचार करते हुए शुआन-च्वांग कहते हैं कि इसके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्मादि पदार्थ द्रव्यसत्-स्वभाव हैं, और प्रत्यक्षगम्य हैं। इस वाद में पदार्थ या तो नित्य और अविपरिणामी हैं, अथवा अनित्य हैं। परमाणु-द्रव्य नित्य हैं, और परमाणु-संघात अनित्य हैं।

शुआन-च्वांग कहते कि यह विचित्र है कि एक ओर परमाणु नित्य हैं, और दूसरी ओर उनमें परमाणु-संघात के उत्पादन का सामर्थ्य भी है। यदि परमाणु त्रसरेणु आदि फल का उत्पादन करते हैं, तो फल के सदृश वह नित्य नहीं हैं क्योंकि वह कारित्र से समन्वागत हैं; और यदि वह फलोत्पादन नहीं करते, तो विज्ञान से व्यतिरिक्त शशशृंगवत् उनका कोई द्रव्यसत्-स्वभाव नहीं है।

यदि अनित्य पदार्थ (परमाणु-संघात) सावरण हैं, तो वह परिमाण वाले हैं; अतः वह सेना और वन से समान विभजनीय हैं, अतः वह द्रव्यसत्-स्वभाव नहीं हैं। यदि वह सावरण नहीं हैं, तो चित्त-चैत्त से व्यतिरिक्त उनका कोई द्रव्यसत्-स्वभाव नहीं है। जो परमाणु के लिए सत्य है, वह समुदाय-संघात के लिए भी सत्य है। अतः वैशेषिकों के विविध द्रव्य प्रज्ञप्तिमात्र हैं। गुणों का विज्ञान से पृथक् स्वभाव नहीं है। पृथ्वी-जल-तेज-वायु सावरण पदार्थों में संगृहीत नहीं हैं, क्योंकि वह इनके खक्खटत्व…उदीरणत्व गुण के समान कायेन्द्रिय से स्पृष्ट होते हैं। इसके विपरीत चार पूर्वोक्त गुण अनावरण पदार्थों में संगृहीत नहीं हैं, क्योंकि पृथ्वी-जल-तेज-वायु के समान वह कायेन्द्रिय से स्पृष्ट होते हैं।

अतः यह सिद्ध होता है कि खक्खटत्वादि गुणों से व्यतिरिक्त पृथ्वी-जल-तेज-वायु का द्रव्यसत्-स्वभाव नहीं है।

इसी प्रकार कर्मादि अन्य पदार्थों का भी विज्ञान से पृथक् स्वभाव नहीं है। वैशेषिक कहते हैं कि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जैसा विज्ञान से व्यतिरिक्त द्रव्यसत्-स्वभाव का होना चाहिए, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। यही बात कि द्रव्य ज्ञेय (ज्ञान के विषय) हैं, यह सिद्ध करता है कि यह विज्ञान के अभ्यन्तर में हैं।

अतः सिद्धान्त यह है कि वैशेषिकों के पदार्थ प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

महेश्वर परीक्षा—शुआन-च्वांग महेश्वर के अस्तित्व का भी प्रतिषेध करते हैं। उनकी युक्ति यह है कि जो लोक का उत्पाद करता है, वह नित्य नहीं है; जो नित्य नहीं है, वह विभु नहीं है; जो विभु नहीं है, वह द्रव्यतः नहीं है। पुनः जो सर्वशक्तिमान् है, वह सब धर्मों की सृष्टि सकृत् करेगा, न कि क्रमशः। यदि सृष्टि के कार्य में वह छन्द के अधीन है, तो वह स्वतन्त्र नहीं है, और यदि वह हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करता है, तो वह सृष्टि का एकमात्र कारण नहीं है।

शुआन-च्वांग काल, दिक्, आकाशादि पदार्थों की भी सत्ता नहीं मानते।

लोकायतिक परीक्षा—तदनन्तर वह लोकायतिकों के मत का खंडन करते हैं। इनके अनुसार पृथिवी-सलिल-तेज-वायु इन चार महाभूतों के परमाणु, जो वस्तुओं के सूक्ष्म रूप हैं, कारण रूप हैं, नित्य हैं; और इनकी परमार्थ सत्ता है। इनसे पश्चात् स्थूल रूप (कार्यरूप) का उत्पाद होता है। जनित स्थूलरूप का कारण से व्यतिरेक नहीं होता।

शुआन-च्वांग इस वाद का इस प्रकार खंडन करते हैं। यदि सूक्ष्मरूप (परमाणु) का दिग्विभाग है, जैसा पिपीलिका-पंक्ति का होता है; तो उनका एकत्व केवल प्रज्ञप्ति है, संज्ञामात्र है। यदि उनका चित्त-चैत्त के सदृश दिग्विभाग नहीं होता, तो उनसे स्थूलरूप का उत्पाद नहीं हो सकता। अन्ततः यदि उनसे कार्य जनित होता है, तो वे नित्य और अविपरिणामी नहीं हैं।

अन्य तीर्थिकों की परीक्षा—तीर्थिकों के अनेक प्रकार हैं। किन्तु इन सब का समावेश चार आकारों में हो सकता है। जहाँ तक सद् धर्म का संबन्ध है, पहला आकार सांख्यादिका है। इनके अनुसार सद्धर्मों का तादात्म्य सत्ता या महासत्ता से है। किन्तु इस विकल्प में सत्ता होने के कारण इन सब का परस्पर तादात्म्य होगा, यह एक स्वभाव के होंगे, और निर्विशेष होंगे; जैसे सत्ता निर्विशेष है। सांख्य में आन्तरिक विरोध है, क्योंकि वह प्रकृति के अतिरिक्त तीन गुण और आत्मा को द्रव्यतः मानता है। यदि सर्व रूप रूपता है, अर्थात् यदि सब वर्ण वर्ण हैं, तो नील और पीत का मिश्रण होता है।

दूसरा आकार वैशेषिकादि का है। इनका मत है कि सद्धर्म सत्ता से भिन्न हैं। किन्तु इस विकल्प में सर्व धर्म की उपलब्धि प्रध्वंसाभाव के सदृश नहीं होती। इससे यह गमित होता है कि वैशेषिक द्रव्यादि पदार्थों का प्रतिषेध करता है। यह लोकविरुद्ध है, क्योंकि लोक प्रत्यक्ष देखता है कि वस्तुओं का अस्तित्व है। यदि वर्ण वर्ण नहीं हैं, तो उनका ग्रहण चक्षु से नहीं होगा, जैसे शब्द का ग्रहण चक्षु से नहीं होता।

तीसरा आकार निर्ग्रन्थ आदि का है, जो मानते हैं कि सद्धर्म सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनों है। यह मत युक्त नहीं है। पूर्वोक्त दो आकारों के सब दोष इसमें पाए जाते हैं।

अभेद-भेद सुख-दुःख के समान परस्परविरुद्ध हैं, और एक ही वस्तु में आरोपित नहीं हो सकते। पुनः अभेद और भेद दोनों व्यवस्थापित नहीं हो सकते।

सब धर्म एक ही स्वभाव के होंगे, क्योंकि यह व्यवस्था है कि विरुद्ध धर्म एक स्वभाव के हैं। अथवा आपका धर्म जो सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनों है, प्रज्ञप्ति-सत् होगा; तात्त्विक न होगा।

चतुर्थ आकार आजीविकादि का है, जिनके अनुसार सद्धर्म सत्ता से न अभिन्न हैं, न भिन्न। किन्तु यह वाद पूर्व वर्णित भेदाभेद-वाद से मिला-जुला है। क्या यह वाद प्रतिज्ञात्मक है? क्या इस वाद का निषेधद्वय युक्त नहीं है? क्या यह वाद शुद्ध निषेध है? उस अवस्था में वाणी का अभिप्राय विलुप्त हो जाता है। क्या यह प्रतिज्ञात्मक और निषेधात्मक दोनों है? यह विरुद्ध है। क्या यह इनमें से कोई नहीं है? शब्दाडम्बरमात्र है।

अन्य वादों की कठिनाइयों के परिहार के लिए यह वृथा प्रयास है।

हीनयान के सप्रतिघ रूपों के द्रव्यत्व का निषेध

इसके पश्चात् शुआन-च्वांग हीनयान के धर्मों की परीक्षा करते हैं। हीनयान में चार प्रकार के धर्म हैं, जो द्रव्य-सत् है :—चित्त-चैत्त, रूप, विप्रयुक्त, असंस्कृत शुआन-च्वांग कहते हैं कि अन्त के तीन धर्म विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है।

रूप—हीनयान में दो प्रकार के रूप हैं—सप्रतिघ (पहले १० आयतन) और अप्रतिघ (यह धर्मायतन का एक प्रदेश है। यह परमाणुमय नहीं है)।

सप्रतिघ—रूप परमाणुमय हैं। सौत्रांतिक मत से परमाणु का दिगविभाग है, किन्तु सर्वास्तिवादी और वैभाषिक परमाणु का सूक्ष्म रूप (बिन्दु) मानते हैं। दोनों मानते हैं कि आवरण-प्रतिघातवश परमाणु सप्रतिघ हैं। किन्तु दिग्भागभेद के संबन्ध में इनका मतैक्य न होने से आवरण-प्रतिघात के अर्थ में भी एक मत नहीं है। सौत्रान्तिक मानते हैं कि परमाणु स्पृष्ट होते हैं, और दिग्देश-भेदवश उनका प्रतिघात होता है। सर्वास्तिवादी नहीं स्वीकार कर सकते कि उसके परमाणु स्पृष्ट होते हैं, क्योंकि यह सूक्ष्म (बिन्दु) हैं।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु संवृत हैं, और उनका संघात नहीं हो सकता; तथा जिनका दिग्विभाग है, वह विभजनीय हैं; और इसलिए वह परमाणु नहीं हैं। यदि परमाणु अति सूक्ष्म, अविभजनीय और वस्तुतः रूपी हैं; तो वह परस्पर स्थूल, संहत रूप जनित नहीं करते। दोनों अवस्थाओं में परमाणु की सत्ता नहीं है, और इसलिए परमाणुमय रूप भी विलुप्त हो जाता है। किसी युक्ति से भी परमाणु द्रव्य-सत् नहीं सिद्ध होता। पुनः हीनयानवादी स्वीकार करते हैं कि पंच विज्ञानकाय का आश्रय इन्द्रिय हैं, और उनका आलंबन बाह्यार्थ हैं, तथा इन्द्रिय और अर्थ रूप हैं। शुआन-च्वांग का मत है कि इन्द्रिय और अर्थ विज्ञान के परिणाममात्र हैं। इन्द्रिय शक्ति हैं। यह 'उपादाय-रूप' नहीं है। एक सप्रतिघ रूप जो विज्ञान से बहिरवस्थित है, युक्तियुक्त नहीं है। इन्द्रिय विज्ञान का परिणाम-निर्भास है। इसी प्रकार आलंबन प्रत्यय भी विज्ञान से बहिर्भूत नहीं है। यह विज्ञान का परिणाम (निमित्तभाग) है।

शुआन-च्वांग सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवादी-वैभाषिक मत का प्रतिषेध करते हैं, जिनके अनुसार विज्ञान का आलंबन-प्रत्यय वह है, जो स्वाकार (स्वाभास) विज्ञान का निर्वर्तन करता है। यह कहते हैं कि बाह्य अर्थ स्वाभास विज्ञान का जनक होता है। इसलिए उनको विज्ञान का आलंबन-प्रत्यय इष्ट है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार आलंबन-प्रत्यय संचित (संहृत) परमाणु है। जब चक्षुर्विज्ञान रूप की उपलब्धि करता है, तब यह परमाणुओं को प्राप्त नहीं होता; किन्तु केवल संचित को ही प्राप्त होता है, क्योंकि यह विज्ञान संचिताकार होता है (तदाकारत्वात्: हम संचित नील देखते हैं, नील के परमाणु नहीं देखते), अतः पंच विज्ञानकाय का आलंबन संचित है।

शुआन-च्वांग के लिए संघात द्रव्य-सत् नहीं है। वह सांवृत है। इस कारण वह विज्ञप्ति का अर्थ नहीं हो सकता, और इसलिए वह आलंबन-प्रत्यय नहीं है। बाह्यार्थ के बिना ही संचिताकार विज्ञान उत्पन्न होता है। वैभाषिक मत के अनुसार विज्ञान का आलंबन-प्रत्यय एक एक परमाणु है। प्रत्येक परमाणु अन्य निरपेक्ष्य और अतीन्द्रिय होता है, किन्तु बहुत से परस्परापेक्ष्य और इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं। जब बहु परमाणु एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं, तब स्थूल लक्षण की उत्पत्ति होती है; जो पंच विज्ञानकाय का विषय है। यह द्रव्य-सत् है, अतः यह आलंबन-प्रत्यय है।

इसका खंडन करते हुए स्थिरमति कहते हैं कि सापेक्ष और निरपेक्ष अवस्था में परमाणु के आत्मातिशय का अभाव है। इसलिए या तो परमाणु अतीन्द्रिय हैं, या इन्द्रियग्राह्य हैं। यदि परमाणु परस्पर अपेक्षा कर विज्ञान के विषय होते हैं, तो यह जो घटकुड्यादि आकार-भेद होता है, वह विज्ञान में न होगा, क्योंकि परमाणु तदाकार नहीं हैं। पुनः यह भी युक्त नहीं है कि विज्ञान का अन्य निर्भास हो, और विषय का अन्य आकार हो; क्योंकि इसमें अतिप्रसंग दोष होगा।

पुनः परमाणु स्तंभादिवत् परमार्थतः नहीं हैं। उनका अर्वाक्-मध्य-पर भाग होता है। अथवा उसके अनभ्युपगम में पूर्वदक्षिणादि दिग्भेद परमाणु का न होगा, अतः विज्ञानवत् परमाणु का अमूर्तत्व और अदेशस्थत्व होगा। इस प्रकार बाह्यार्थ के अभाव में विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है [त्रिंशिका, पृ० १६]।

सर्वास्तिवादी के अनुसार एक-एक परमाणु समस्तावस्था में विज्ञान का आलंबन-प्रत्यय है। परमाणु अतीन्द्रिय है, किन्तु समस्त का प्रत्यक्षत्व है [अभिधर्मकोश, ३। पृ० २१३]।

इसके उत्तर में विज्ञानवादी कहते हैं कि परमाणु का लक्षण या आकार विज्ञान में प्रतिबिम्बित नहीं होता। संहत का लक्षण परमाणुओं में नहीं होता, क्योंकि असंहतावस्था में यह लक्षण उनमें नहीं पाया जाता। असंहतावस्था से संहतावस्था में परमाणुओं का कोई आत्मातिशय नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में परमाणु पंच विज्ञान के आलंबन नहीं होते (दिग्नाग)।

इस प्रकार विविध वादों का निराकरण करके शुआन च्वांग परमाणु पर विज्ञानवाद का सिद्धान्त वर्णित करते हैं :

परमाणु पर विज्ञानवादी सिद्धान्त—योगाचार शस्त्र से नहीं, किन्तु चित्त से स्थूलरूप का विभाग पुनः पुनः करते हैं; यहाँ तक कि वह अविभजनीय हो जाता है। रूप के इस पर्यन्त को जो सांवृत है, वह परमाणु की संज्ञा देते हैं। किन्तु यदि हम रूप का विभजन करते रहें, तो परमाणु आकाशवत् प्रतीत होगा, और रूप न रहेगा; अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि रूप विज्ञान का परिणाम है, और परमाणुमय नहीं है।

अप्रतिघ रूपों के द्रव्यत्व का निषेध

पूर्वोक्त विवेचन सप्रतिघरूप के संबन्ध में है। जब सप्रतिघ रूप का द्रव्यत्व नहीं है, और यह विज्ञान का परिणाम है, तो अप्रतिघ रूप तो और भी अधिक सद्धर्म नहीं है।

सर्वास्तिवादी के अप्रतिघ रूप काय-विज्ञप्ति-रूप, वाग्-विज्ञप्ति-रूप, और अविज्ञप्ति-रूप हैं। उनका काय-विज्ञप्ति-रूप संस्थान है। किन्तु संस्थान विभजनीय है, और दीर्घादि के परमाणु नहीं होते [कोश, ४ । पृ० ४,६]; अतः संस्थान रूप द्रव्यतः नहीं है। वाग्विज्ञप्ति शब्दस्वभाव नहीं है। एक शब्द-क्षण विज्ञापित नहीं करता, और शब्द-क्षणों की संतान द्रव्य-सत् नहीं है। वस्तुतः विज्ञान शब्द-संतान में परिणत होता है। उपचार से इस संतान को वाग्विज्ञप्ति कहते हैं।

अविज्ञप्ति जब विज्ञप्ति द्रव्य-सत् नहीं है, तो अविज्ञप्ति कैसे द्रव्य-सत् होगी ?

चेतना (ध्यानभूमि की) या प्रणिधि (प्रातिमोक्षसंवर या असंवर) को उपचार से अविज्ञप्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह या तो एक चेतना है, जो अकुशल काय-वाग्विज्ञप्ति कर्म का निरोध करती है, या यह उत्कर्षावस्था में एक प्रधान चेतना के बीज हैं, जो काय-वाक् कर्म के जनक हैं। अतः अविज्ञप्ति प्रज्ञप्ति-सत् है।

विप्रयुक्तों के द्रव्यत्व का निषेध—विप्रयुक्त भी द्रव्य-सत् नहीं हैं।

प्राप्ति, अप्राप्ति तथा अन्य विप्रयुक्तों की स्वरूपतः उपलब्धि नहीं होती। पुनः रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् इनका कोई कारित्र नहीं दीख पड़ता। अतः यह रूप चित्त-चैत्त के अवस्था-विशेष के प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

सभागता भी द्रव्य-सत् नहीं है। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि सत्वों में सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति का कारण सभागता नामक द्रव्य है। यह विप्रयुक्त है। यथा कहते हैं :—अमुक मनुष्यों की सभागता का प्रतिलाभ करता है; अमुक देवों को सभागता का प्रतिलाभ करता है। युआन-च्वांग कहते हैं कि यदि सत्वों को सभागता है, तो वृक्षादि की भी सभागता माननी चाहिये। पुनः सभागताओं की भी एक सभागता होनी चाहिये। हम यह भी कह सकते हैं कि समान कर्मान्त के मनुष्य और समान छन्द के देव सभागता-वश हैं। वस्तुतः सभागता नामक किसी द्रव्य विशेष के कारण सत्वों के विविध प्रकारों में सादृश्य नहीं होता। अमुक अमुक प्रकार के

सत्वों को जो कायिक और चैतसिक धर्म सामान्य हैं, उनको आगम सभागता संज्ञा से प्रज्ञप्त करता है।

जीवितेन्द्रिय—के संबन्ध में शुआन-च्वांग कहते हैं कि यह कर्मजनित शक्ति-विशेष है, और यह उन बीजोंपर आश्रित है, जो आलय-विज्ञान के हेतु-प्रत्यय हैं। इस सामर्थ्य-विशेष के कारण भवविशेष के रूप-चित्त-चैत्त एक काल तक अवस्थान करते हैं। आलय-विज्ञान एक अविच्छिन्न स्रोत है। एक भव से दूसरे भव में इसका निरन्तर प्रवर्तन होता है। हेतु-प्रत्यय-वश इसका परिपोष होता है। उदाहरण के लिए हम नील (प्रत्युत्पन्न धर्म) का चिन्तन करते हैं, नील के संबन्ध में हमारी वाग्विज्ञप्ति होती है। यह वाक्, यह चित्त, अर्थात् यह व्यवहार बीजों को उत्पन्न करता है, जो नील के अपूर्व चित्तों का उत्पाद करेंगे। उक्त हेतु-प्रत्यय के अतिरिक्त एक अधिपति-प्रत्यय भी है। यह कर्म है। यह कर्म जो शुभ या अशुभ है, अव्याकृत फल का जनक होता है; अर्थात् दुःख आलय-विज्ञान का जनक होता है। इसलिए कर्म विपाक-हेतु है। यह विपाक-बीज का उत्पाद करता है। जीवितेन्द्रिय से प्रथम प्रकार के बीज, न कि विपाक-बीज, इष्ट हैं। यह बीज (नाम-वाक्) जो हेतु-प्रत्यय हैं, आलय का पोषण करते हैं; जब कि दूसरे प्रकार के बीज अर्थात् विपाक-बीज आलय की गति, अवस्था आदि को निर्धारित करते हैं।

असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति; अचित्तक और आसंज्ञिक—को शुआन-च्वांग द्रव्य-सत् नहीं मानते। वह कहते हैं कि यदि असंज्ञि अवस्था का व्याख्यान करने के लिए इन धर्मों की व्यवस्था आवश्यक है, जिनके विषय में कहा जाता है कि यह चित्त का प्रतिबन्ध करते हैं,तो एक आरूप्य-समापत्ति नामक धर्म भी मानना पड़ेगा,जो रूप का प्रतिबन्धक हो। चित्त का प्रतिबन्ध करने के लिए किसी सद्धर्म की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। जब योगी इन समापत्तियों की भावना करता है,तब वह औदारिक और चल चित्त-चैत्त की विदूषणा से प्रयोग का आरंभ करता है। इस विदूषणा के योग से वह एक प्रणीत अवधि-प्रणिधान का उत्पाद करता है; वह अपने चित्त-चैत्तों को उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अणु बनाता है। यह प्रयोगावस्था है। जब चित्त सूक्ष्म-सूक्ष्म हो जाता है,तब वह आलय-विज्ञान को भावित करता है, और इस विज्ञान में विदूषणा चित्त के अधिमात्रतम बीज का उत्पाद करता है। इस बीज के योग से जो चित्त-चैत्त का विष्कंभन करता है, सब औदारिक और चंचल चित्त-चैत्त का काल-विशेष के लिए समुदाचार नहीं होता। इस अवस्था को उपचार से समापत्ति कहते हैं। असंज्ञि-समापत्ति में यह बीज सास्रव होता है, और निरोध-समापत्ति में अनास्रव होता है। आसंज्ञिक के संबन्ध में इनका यह मत है कि असंज्ञिदेवों के प्रवृत्ति-विज्ञानों के असमुदाचार को उपचार से आसंज्ञिक कहते हैं।

जाति, स्थिति, जरा, निरोध—इन संस्कृत धर्मों को भी हीनयानवादी द्रव्य-सत् मानते हैं। यह संस्कृत के संस्कृत लक्षण हैं। शुआन-च्वांग इसके विरोध में नागार्जुन की दी हुई आलोचना देते हैं। अतीत और अनागत अध्व द्रव्य-सत् नहीं हैं। वह अभाव हैं। अतः यह चार लक्षण प्रज्ञप्ति-सत् हैं। पूर्वनय के अनुसार अन्य विप्रयुक्तों का भी प्रतिषेध होता है।

असंस्कृतों के द्रव्य-सत्त्व का निषेध

संस्कृत धर्मों के अभाव को सिद्धकर शुआन-च्वांग हीनयान के असंस्कृतों का विचार करते हैं :—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध। असंस्कृत प्रत्यक्षज्ञेय नहीं हैं, और न उनके कारित्र तथा व्यापार से उनका अनुमान होता है। पुनः यदि वह व्यापारशील हैं, तो वह नित्य नहीं हैं; अतः विज्ञान से व्यतिरिक्त असंस्कृत कोई द्रव्य-सत् नहीं है।

आकाश एक है या अनेक? यदि स्वभाव में यह एक है, और सब स्थानों में प्रतिवेध करता है, तो रूपादि धर्मों को अवकाश प्रदान करने के कारण यह अनेक हो जाता है; क्योंकि एक वस्तु से आवृत स्थान वस्तुओं के अन्योन्य प्रतिवेध के बिना दूसरी वस्तु से आवृत नहीं होता।

निरोध यदि एक है तो जब प्रज्ञा से नौ प्रकार में से एक प्रकार का प्रहाण होता है, पाँच संयोजनों में से एक संयोजन का उपच्छेद होता है; तो वह अन्य प्रकार का भी प्रहाण करता है, अन्य संयोजनों का भी उपच्छेद करता है। यदि निरोध अनेक हैं, तो वह रूप के सदृश असंस्कृत नहीं हैं; अतः निरोध भी सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञान के परिणाम-विशेष हैं। हाँ! यदि आप चाहें तो असंस्कृतों को धर्मता, तथता का प्रज्ञप्ति-सत् मान सकते हैं।

तथता, धर्मता, आकाश—शुआन-च्वांग तथता की एक नवीन व्याख्या करते हैं :—यह अवाच्य है, यह शून्यता से, नैरात्म्य से अवभासित होती है। यह चित्त और वाक्पथ के ऊपर है, जिनका संचार भाव, अभाव, भावाभाव और न-भाव तथा न अभाव में होता है। यह न धर्मों से अनन्य है, न अन्य, न दोनों है, और न अनन्य है तथा न अन्य। क्योंकि यह धर्मों का तत्त्व है, इसलिए इसे धर्मता कहते हैं। इस धर्मता (वस्तुओं का विशुद्ध स्वभाव) के एक आकार को आकाश कहते हैं, और निर्वाण के आकार में योगी इसी का साक्षात्कार, इसी का प्रतिवेध करता है। किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि तथता स्वतः या अपने इन दो आकारों में वस्तु-सत् नहीं है। शुआन-च्वांग निःसंकोच हो प्रतिज्ञा करते हैं कि यह प्रज्ञप्तिमात्र है। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह असत्व है, कहते हैं कि यह है (इस प्रकार शून्यता के विपर्यास और मिथ्यादृष्टि का प्रतिषेध करते हैं)। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह है, महीशासक कहते हैं कि यह शून्य है। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह मायावत् है, कहते हैं कि यह वस्तुसत् है। किन्तु यह न वस्तुसत् है, न अवस्तु। क्योंकि यह न अभूत है (यथा परिकल्पित), न वितथ (यथा परतन्त्र)। इसलिए इसे भूततथता कहते हैं। (पृ० ७७)

ग्राह्य-ग्राहक विचार

इस प्रसंग में शुआन-च्वांग ग्राह्य-ग्राहक का विचार करते हैं।

जिन धर्मों को तीर्थिक और हीनयानवादी चित्त-चैत्त से भिन्न मानते हैं, वह द्रव्यसत् स्वभाव नहीं हैं; क्योंकि वह ग्राह्य हैं, जैसे चित्त-चैत्त हैं; जिनका ग्रहण पर-चित्त-ज्ञान से होता

है। बुद्धि जो रूपादि का ग्रहण करती है, उनको आलंबन नहीं बनाती; क्योंकि यह ग्राहक है। जैसे परचित्त-ज्ञान है, जो परचित्त का ग्रहण करता है, और उसको आलंबन नहीं बनाता; क्योंकि वह इस चित्त के केवल ग्राहक-अनुकृति (सब्जेक्टिव इमीटेशन) को आलंबन बनाता है। चित्त-चैत्त भूत-द्रव्य-सत् नहीं हैं, क्योंकि इनका उद्भव मायावत् परतन्त्र है (प्रतीत्य-समुत्पन्न)।

शुआन-च्वांग अपने विज्ञानवाद की आत्मवाद-द्रव्यवाद से रक्षा करने में सतर्क हैं। इस मिथ्यावाद का प्रतिषेध करने के लिए कि चित्त-चैत्त-व्यतिरेकी बाह्य विषय द्रव्य-सत् है, यह कहा जाता है कि विज्ञप्तिमात्र है। किन्तु इस विज्ञान को और विज्ञान-व्यतिरेकी बाह्य विषयों को परमार्थतः द्रव्य-सत् स्वभाव मानना धर्मग्राह है।

सहज धर्मग्राह—धर्मग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है, इसकी परीक्षा शुआन-च्वांग करते हैं। वह कहते हैं कि धर्मग्राह (धर्माभिनिवेश) दो प्रकार का है :—सहज और विकल्पित। अभूत (=वितथ) वासना से प्रवृत्त होता है। अनादि काल से धर्माभिनिवेश का जो अभ्यास होता है, और इस अभ्यासवश जो बीज विज्ञान में संचित होते हैं, उसे वासना कहते हैं। यह धर्मग्राह सदा आश्रय-सहगत होता है। इसकी उत्पत्ति या परिणाम स्वरसेन होता है। मिथ्या देशना या मिथ्या उपनिध्यान से यह स्वतन्त्र है। इसलिए इसे सहज कहते हैं।

विकल्पित धर्मग्राह—बाह्य प्रत्ययवश उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिए मिथ्या देशना और मिथ्या उपनिध्यान का होना आवश्यक है। अतः यह विकल्पित कहलाता है। यह मनोविज्ञान में अवस्थित है।

सर्व धर्मग्राह का विषय धर्माभास हैं, जो स्वचित्तनिर्भास हैं। ये धर्माभास हेतुजनित हैं। अतः इनका अस्तित्व है, किन्तु ये मायावत् परतन्त्र हैं। इसलिए इन्हें हम धर्माभास कहते हैं।

भगवान् ने कहा है:—हे मैत्रेय ! विज्ञान का विषय विज्ञाननिर्भासमात्र है। यह मायादिवत् परतन्त्रस्वभाव है। [सन्धिनिर्मोचनसूत्र]।

सिद्धान्त यह है कि आत्म-धर्म द्रव्य-सत् नहीं है। अतः चित्त-चैत्त का रूपादि बाह्यधर्म आलंबन-प्रत्यय नहीं है। कोई बाह्यार्थ नहीं है। यह मूढ़ों की कल्पना है। वासनाओं से क्षुभित चित्त का अर्थाभास में प्रवर्तन होता है। इनमें द्रव्यत्व का उपचार है।

आत्म-धर्मोपचार पर आक्षेप

वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि यदि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म नहीं हैं, तो विज्ञान-परिणामवाद में आत्मधर्मोपचार युक्त नहीं है। तीन के होनेपर उपचार होता है। इनमें से किसी एक के अभाव में नहीं होता। यह तीन इस प्रकार हैं—१. मुख्य पदार्थ, २. तत्सदृश अन्य विषय, ३. इन दोनों का सादृश्य। यथा मुख्य अग्नि, तत्सदृश माणवक और इन दोनों के साधारण धर्म कपिलत्व या तीक्ष्णत्व के होने पर यह उपचार होता है कि अग्नि माणवक

है। किन्तु यदि आत्मा और धर्म नहीं हैं, तो कौन द्रव्य-सत् सादृश्य का आश्रय होगा? जब उसका अभाव है, तो उसके नाम का उपचार कैसे हो सकता है? यह कैसे कह सकते हैं कि चित्त बाह्यार्थ के रूप में अवभासित होता है?

उपचार का समाधान

यह आक्षेप दुर्बल है, क्योंकि हमने यह सिद्ध किया है कि चित्त से व्यतिरिक्त आत्म-धर्म नहीं हैं। आइए हम उपचार की परीक्षा करें। 'अग्नि माणवक है' इसमें जाति या द्रव्य का उपचार होना बताते हैं। माणवक का जाति-अग्नि से सादृश्य दिखाना 'जात्युपचार' है। माणवक का एक द्रव्य से सादृश्य दिखाना 'द्रव्योपचार' है।

दोनों प्रकार से उपचार का अभाव है।

जात्युपचार—कपिलत्व और तीक्ष्णत्व अग्निके साधारण-जाति गुण नहीं हैं। साधारण धर्मों के अभाव में माणवक में जात्युपचार युक्त नहीं है, क्योंकि अतिप्रसंग का दोष होता है। तब तो आप यह भी कह सकेंगे कि उपचार से जल अग्नि है।

किन्तु आप कहेंगे कि यद्यपि जाति का तद्धर्मत्व नहीं है, तथापि तीक्ष्णत्व और कपिलत्व का अग्नित्व से अविनाभाव है; और इसलिए माणवक में जात्युपचार होगा। इसके उत्तर में हमारा यह कथन है कि जाति के अभाव में भी तीक्ष्णत्व और कपिलत्व माणवक में देखा जाता है, और इसलिए अविनाभावित्व अयुक्त है; और अविनाभावित्व में उपचार का अभाव है, क्योंकि अग्नि के सदृश माणवक में भी जाति का सद्भाव है। अतः माणवक में जात्युपचार संभव नहीं है।

द्रव्योपचार—द्रव्योपचार भी संभव नहीं है, क्योंकि सामान्य धर्म का अभाव है। अग्नि का जो तीक्ष्ण या कपिल गुण है, वही गुण माणवक में नहीं है। विशेष स्वाश्रय में प्रतिबद्ध होता है। अतः अग्नि-गुण के बिना अग्नि का माणवक में उपचार युक्त नहीं है। यदि यह कहो कि अग्नि-गुण के सादृश्य से युक्त है, तो इस अवस्था में भी अग्नि-गुण का ही माणवक-गुण में उपचार सादृश्य के कारण युक्त है, किन्तु माणवक में अग्नि का नहीं। इसलिए द्रव्योपचार भी युक्त नहीं है।

यह यथार्थ नहीं है कि तीन भूतवस्तु पर उपचार आश्रित है। भूतवस्तु (स्वलक्षण) सांवृत ज्ञान और अभिधान का विषय नहीं है। यह ज्ञान और अभिधान सामान्य-लक्षण को आलंबन बनाते हैं।

मुख्य आत्मा, धर्म का अभाव—ज्ञान और अभिधान की प्रधान में प्रवृत्ति गुणरूप में ही होती है, क्योंकि वह प्रधान अर्थात् मुख्य पदार्थ के स्वरूप का संस्पर्श नहीं करते। अन्यथा गुण की व्यर्थता का प्रसंग होगा। किन्तु ज्ञान और अभिधान के व्यतिरिक्त पदार्थ-स्वरूप को परिच्छिन्न करने का अन्य उपाय नहीं है। अतः यह मानना होगा कि मुख्य पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार संबन्ध के अभाव से शब्द में ज्ञान और अभिधान का अभाव है। इसी प्रकार अभिधान और अभिधेय के अभाव से मुख्य पदार्थ नहीं है। अतः सब गौण ही है, मुख्य नहीं है।

गौण उसे कहते हैं, जो वहाँ अविद्यमान रूप से प्रवृत्त होता है। सब शब्द प्रधान में अविद्यमान गुण-रूप में प्रवृत्त होते हैं। अतः मुख्य नहीं है। अतः यह अयुक्त है कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म के न होनेपर उपचार युक्त नहीं है।

भगवान् उपचारवश आत्मा और धर्म, इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म है। वह आत्मधर्म में प्रतिपन्न पुद्गलों को विनीत करना चाहते हैं। अतः वह उन मिथ्या संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं, जिनसे लोग विज्ञान-परिणाम को प्रज्ञप्त करते हैं।

विज्ञान के त्रिविध परिणाम

विज्ञान-परिणाम तीन प्रकार का है :—विपाकाख्य, मननाख्य, विषय-विज्ञप्त्याख्य।

'विपाक' अष्टम विज्ञान कहलाता है। शुभाशुभ कर्म की वासना के परिपाक से जो फल की अभिनिर्वृति होती है, वह विपाक है।

मन (सप्तम विज्ञान) **'मनना'** (यह स्थिरमति का पाठ है, किन्तु पूर्से का पाठ 'मन्यना' है) कहलाता है, क्योंकि क्लिष्ट मन नित्य मनन (कोगिटेशन) करता है (पालि, मञ्जना; व्युत्पत्ति, २४५, ६७७ में मन्यना है)।

'विषय-विज्ञप्ति' छः प्रकार का चक्षुरादिविज्ञान कहलाती है, क्योंकि इनसे विषय का प्रत्यवभास होता है। यह तीन परिणामि-विज्ञान कहलाते हैं।

विज्ञान-परिणाम का हेतु-फलभाव—यह विज्ञान-परिणाम हेतुभाव और फलभाव से होता है। हेतु परिणाम अष्टम विज्ञान की निष्यन्दवासना और विपाकवासना है। कुशल, अकुशल, अव्याकृत सात विज्ञानों से बीजों की जो उत्पत्ति और वृद्धि होती है, वह निष्यन्द-वासना है। सास्रव कुशल और अकुशल छः विज्ञानों से बीजों की जो उत्पत्ति और वृद्धि होती है, वह विपाक-वासना है।

जो इन दो वासनाओं के बल से विज्ञानों की उत्पत्ति होती है, और उनके त्रिविध लक्षण प्रकट होते हैं। यह फलपरिणाम है।

जब निष्यन्दवासना हेतु-प्रत्यय होती है, तब आठ विज्ञान अपने विविध स्वभाव और लक्षणों में उत्पन्न होते हैं। यह निष्यन्द-फल है, क्योंकि फल-हेतु के सदृश है। जब विपाक-वासना अधिपति-प्रत्यय होती है, तब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसे विपाक कहते हैं, क्योंकि वह आक्षेपक कर्म के अनुसार है, और इसका निरन्तर संतान है। प्रथम छः विज्ञान, जो परिपूरक कर्म के अनुरूप हैं, विपाक से उत्पन्न होते हैं। इन्हें विपाकज कहते हैं (विपाक नहीं), क्योंकि इनका उपच्छेद होता है। विपाकज और विपाक विपाकफल कहलाते हैं, क्योंकि यह स्वहेतु से विसदृश हैं। 'विपाक' 'फल-परिणाम-विज्ञान' इष्ट है। यह प्रत्युत्पन्न अष्टम विज्ञान है। यह आत्म-प्रेम का आस्पद है। यह संक्लेश के बीजों का धारक है। किन्तु शुआन-च्वांग यह कहना नहीं चाहते कि केवल अष्टम विज्ञान विपाक-फल है।

केवल अष्टम विज्ञान 'हेतुपरिणाम' है। यही बीजों का (शक्तियों का) संग्रह करता है। इसलिए इसे 'बीज-विज्ञान', 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। यही बीज-वासना कहलाते हैं,

क्योंकि बीजों की उत्पत्ति 'भावना', 'वासना' से होती है। अन्य सात प्रवृत्ति-विज्ञान अष्टम विज्ञान को वासित करते हैं। यह बीजों को उत्पन्न करते हैं। यह नवीन बीजों का आधान करते हैं, या वर्तमान बीजों की वृद्धि करते हैं। बीज दो प्रकार के हैं:—१. सात प्रवृत्ति-विज्ञान (कुशल, अकुशल, अव्याकृत, सास्रव, अनास्रव) निष्यन्द-बीजों को उत्पन्न करते हैं, और उनकी वृद्धि करते हैं। २. सप्तम विज्ञान 'मन' को वर्जित कर शेष छः प्रवृत्ति-विज्ञान (अकुशल, सास्रव, कुशल) बीजों का उत्पाद करते हैं, और उनकी वृद्धि करते हैं। इन बीजों को कर्मबीज, विपाकबीज कहते हैं। कर्म-हेतु बीज द्वारा फल की अभिनिर्वृति करता है। यह फल स्वहेतु से विसदृश होता है। इसलिए इसे विपाक (विसदृश पाक) कहते हैं। हेतु, यथा प्राणातिपात की चेतना, स्वर्ग-प्राप्ति के लिए दान, व्याकृत है; फल (नरकोपपत्ति या स्वर्गोपपत्ति) अव्याकृत है। फलपरिणाम प्रवृत्ति-विज्ञान और संवित्तिभाग है, जो बीजद्वय का फल है, अर्थात् बीज-विज्ञान का फल है। इसका परिणाम दर्शन और निमित्त में होता है। प्रथम प्रकार के बीज इस फल के हेतु-प्रत्यय हैं। यह अनेक और विविध हैं। यह आठ विज्ञान, इन आठ के भागसमुदय और उनके संप्रयुक्त चैत्त को उत्पन्न करते हैं। द्वितीय प्रकार के बीज 'अधिपति-प्रत्यय' हैं। यह मुख्य विपाक, अर्थात् अष्टम विज्ञान का निर्वर्तन करते हैं। अष्टम विज्ञान आक्षेपक कर्म से उत्पादित होता है। इसका अविच्छिन्न स्रोत है। यह सदा अव्याकृत होता है। परिपूरक कर्म के प्रथम षड्विज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यहाँ विपाक नहीं है, किन्तु विपाकज है; क्योंकि इनका उपच्छेद होता है, और इनकी उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है।

स्थिरमति का मत इस संबन्ध में भिन्न है। उसके अनुसार हेतु-परिणाम आलय के परिपुष्ट विपाक-बीज और निष्पन्द-बीज हैं, तथा फल-परिणाम विपाक-बीजों के वृत्तिलाभ से आक्षेपक कर्म की परिसमाप्ति पर अन्य निकायसभाग में आलय-विज्ञान की अभिनिर्वृत्ति है; निष्यन्द-बीजों के वृत्तिलाभ से प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मन की आलय से अभिनिर्वृत्ति है।

यहाँ प्रवृत्ति-विज्ञान (कुशल-अकुशल) आलय-विज्ञान में दोनों प्रकार के बीजों का आधान करता है। अव्याकृत प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मन निष्यन्द-बीजों का आधान करता है।

हमने ऊपर त्रिविध परिणाम का उल्लेख किया है। किन्तु अभी उनका स्वरूप निर्देश नहीं किया है। स्वरूप-निर्देश के बिना प्रतीति नहीं होती। अतः जिसका जो स्वरूप है, उसको यथाक्रम दिखाते हैं। पहले आलय-विज्ञान का जो विपाक है, उसका स्वरूप निर्दिष्ट करते हैं। यह अष्टम विज्ञान है।

आलय-विज्ञान

आलय का स्वरूप—आलय-विज्ञान विज्ञानों का आलय, संग्रह-स्थान है। अथवा यह वह विज्ञान है, जो आलय है। आलय का अर्थ 'स्थान' है। यह सर्व सांक्लेशिक बीजों का

संग्रह-स्थान है। अथवा सर्व धर्म इसमें कार्यभाव से आलीन होते हैं (आलीयन्ते), अथवा उपनिबद्ध होते हैं। अथवा वह सब धर्मों में कारणभाव से आलीन होता है, अतः इसे आलय कहते हैं (स्थिरमति)।

इसे मूलविज्ञान भी कहते हैं। शुआन-च्वांग कहते हैं : धर्म आलय में बीजों का उत्पाद करते हैं। यह आलय-विज्ञान को संग्रह-स्थान बनाते हैं, और उसमें संगृहीत होते हैं। पुनः मन का आलय में अभिनिवेश आत्मतुल्य होता है। सत्वों की कल्पना होती है कि आलय-विज्ञान उनकी आत्मा है। इसका अर्थ यह है कि विज्ञानवाद में आलय-विज्ञान का वही स्थान है, जो आत्मा और जीवितेन्द्रिय दोनों का मिलकर अन्य वादों में है।

पुनः आलय-विज्ञान कर्मस्वभाव भी है, अतः इसे विपाक-विज्ञान भी कहते हैं। जिन कुशल-अकुशल कर्मों को एक भव धातु-गति-योनि-विशेष में आक्षिप्त करता है, उनका यह आलय 'विपाकफल' है। इसके बाहर कोई जीवितेन्द्रिय, कोई सभागता नहीं है; और न कोई ऐसा धर्म है, जो सर्वदा अनुप्रबद्ध हो, और वस्तुतः विपाक-फल हो।

आलय-विज्ञान कारणस्वभाव भी है। इस दृष्टि से यह सर्वबीजक है। यह बीजों का आदान करता है, और उनका परिपाक करता है। यह उनका प्रणाश नहीं होने देता।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि इस मूल-विज्ञान में शक्तियाँ (सामर्थ्य) होती हैं, जो फल का प्रत्यक्ष उत्पाद करती हैं; अर्थात् प्रवृत्ति-धर्म का उत्पाद करती हैं। दूसरे शब्दों में बीज, जो शक्ति की अवस्था में आलय में संगृहीत धर्म है, पश्चात् फलवत् साक्षात्कृत धर्मों का उत्पाद करते हैं।

आलय की सर्वबीजकता—शुआन-च्वांग बीज के संबन्ध में विविध आचार्यों के मत का उल्लेख कर अन्त में अपना सिद्धान्त व्यवस्थापित करते हैं। चन्द्रपाल सब बीजों को प्रकृतिस्थ मानते हैं, और नन्द सबको भावनामय मानते हैं। धर्मपाल का मत है कि सास्रव और अनास्रव बीज अंशतः प्रकृतिस्थ होते हैं, और अंशतः कर्मों की वासना से भावित विज्ञान के फल हैं। पहले बीज प्रकृतिस्थ और दूसरे भावनामय कहलाते हैं। प्रकृतिस्थ बीज विपाक-विज्ञान में धर्मतावश अनादिकाल से पाए जाते हैं। भावनामय बीज अभ्याससिद्ध हैं। भग-भगद्वचन है कि सत्वों का विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव धर्मों से वासित होता है। यह असंख्य बीजों का संचय भी है। इस नय में आलय-विज्ञान और धर्म अन्योन्य का उत्पाद करते हैं, और इनका सदा कार्य-कारणभाव है। हम कह सकते हैं कि आलय-विज्ञान में धर्मों का निरन्तर स्वरूप-विशेष (स्ट्रैटीफिकेशन) होता है, और आलय-विज्ञान नवीन धर्म आक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है। बीज अनादिकाल से प्रकृतिस्थ हैं, किन्तु क्लिष्ट और अक्लिष्ट कर्मों से पुनः पुनः भावित हो उनसे वासित होते हैं, और मानों उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में द्रव्य-सत् एक शक्ति है, जो निरन्तर जीवन की सृष्टि करती है, और इस सृष्टि से अपना पोषण करती है।

शुआन-च्वांग धर्मपाल के मत को स्वीकार करते हैं।

बीज और गोत्र—बीजों के इस सिद्धान्त के अनुसार शुआन-च्वांग विविध गोत्रों को व्यवस्थापित करते हैं। प्रत्येक के शुभ-अशुभ बीजों की मात्रा और गुण के अनुसार यह गोत्र व्यवस्थापित होते हैं। जिनमें अनास्रव बीजों का सर्वथा अभाव होता है, वह अपरिनिर्वाणधर्मक या अगोत्रक कहलाते हैं। इसके विपरीत जो बोधि के बीज से समन्वागत हैं, वह तथागत-गोत्रक हैं। इस प्रकार यह बीज-शक्ति पूर्व से विनियत होती है।

बीज का स्वरूप—बीज क्षणिक हैं और समुदाचार करनेवाले धर्म या अन्य शक्ति का उत्पाद कर विनष्ट होते हैं। यह सदा अनुप्रबद्ध हैं। बीज प्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा करते हैं। बीज और धर्म की अन्योन्य-हेतु-प्रत्ययता है, बीजों का उत्तरोत्तर उत्पाद होता है। बीज आलय-विज्ञान के तल पर धर्मों का उत्पाद करते हैं, और धर्म आलय-विज्ञान के गर्भ में बीज का संग्रह करते हैं।

अथवा हम प्रबन्ध का संप्रधारण कर सकते हैं। तीन धर्म हैं:—

१. जनक बीज।

२. विज्ञान, जो समुदाचार करता है, और बीज से जनित है।

३. पूर्वोक्त विज्ञान की भावना से संभूत नवीन बीज। यह तीन क्रम से हेतु और फल हैं, किन्तु यह सहभू हैं। यह नडकपाल के समान अन्योन्याश्रित हैं।

आलय का आकार और आलंबन—शुआन-च्वांग आलय के आकार और आलंबन का विचार करते हैं। यदि प्रवृत्ति-विज्ञान से व्यतिरिक्त आलय-विज्ञान है, तो उसका आलंबन और आकार बताना चाहिये। निरालंबन या निराकार विज्ञान युक्त नहीं है। इसलिए आलय-विज्ञान भी निरालंबन या निराकार नहीं हो सकता।

आकार—आलय का आकार, यथा सर्व विज्ञान का आकार, विज्ञप्ति (विज्ञप्ति-क्रिया) है। विज्ञप्ति को दर्शनभाग कहते हैं।

आलंबन—आलय का आलंबन द्विविध है:—स्थान और उपादि।

स्थान—भाजनलोक है, क्योंकि यह सत्वों का सन्निश्रय है।

उपादि—(इन्टिरियर आब्जेक्ट) बीज और सेन्द्रियक काय है। इन्हें 'उपादि' कहते हैं, क्योंकि यह आलय से उपात्त हैं, आलय में परिगृहीत हैं और इनका एक योगक्षेम है।

बीज से वासनात्रय इष्ट है:—निमित्त, नाम और विकल्प। सेंद्रियक काय, रूपींद्रिय और उनका अधिष्ठान है।

आलय से लोक की उत्पत्ति

इस सिद्धान्त के अनुसार लोक की उत्पत्ति इस प्रकार है:—आलयविज्ञान या मूलविज्ञान का अध्यात्म-परिणाम बीज और सेन्द्रिय काय के रूप में (उपादि) होता है, और बाह्यर्थ-परिणाम भाजनलोक के रूप में (स्थान) होता है। यह विविध धर्म उसके 'निमित्त भाग' हैं। यह निमित्त भाग उसका आलंबन हैं। आलंबनवश उसकी विज्ञप्ति क्रिया है। यह उसका आकार है। यह विज्ञप्ति-क्रिया आलय-विज्ञान का दर्शनभाग है। इस प्रकार ज्यों ही

सर्व सास्रव विज्ञान (जो प्रसाद से निर्मल नहीं हुआ है) उत्पन्न होता है, त्यों ही वह आलंबक और आलंबन इन दो लक्षणों से उपेत होता है। एक दर्शनभाग है, दूसरा निमित्त-भाग है। शुआन-च्वांग कहते हैं कि दर्शन-भाग के बिना निमित्तभाग असंभव था।

यदि चित्त-चैत्त में आलंबन का लक्षण न होता तो वह स्वविषय को आलंबन नहीं बनाते अथवा वह सर्वविषय को—स्वविषय तथा अन्य विषय को—अस्पष्टतया आलंबन बनाते। और यदि उनमें सालंबन (आलंबक) का लक्षण न होता तो वह किसी को आलंबन न बनाते, किसी विषय का ग्रहण न करते। अतः चित्त-चैत्त के दो भाग (मुख) हैं—दर्शन और निमित्त। किंतु वस्तुतः "सब वेदक बोधकमात्र है; वेद्य का अस्तित्व नहीं है। अथवा यों कहिए कि वेदकभाग और वेद्यभाग का प्रवर्तन पृथक् स्वयं होता है। यह स्वयंभू हैं क्योंकि यह स्वहेतु-प्रत्यय-सामग्रीवश उत्पन्न होते हैं, और चित्त से बहिर्भूत किसी वस्तु पर आश्रित नहीं हैं।" (रेने ग्रूसे, पृ० १०० का पाठ इस प्रकार है—अथवा यों कहिए कि वेदकभाग और वेद्यभाग का अस्तित्व स्वतः नहीं है।)

अतः शुआन-च्वांग हीनयान के इस वाद का विरोध करते हैं कि विज्ञान के लिए १. बाह्यार्थ (आलंबन) २. अध्यात्मनिमित्त (जो हमारा निमित्तभाग है), जो विज्ञान का आकार है, ३. दर्शन, द्रष्टा (हमारा दर्शनभाग), जो स्वयं विज्ञान है, चाहिये। शुआन-च्वांग के मत में इसके विपरीत चित्त-व्यतिरेकी अर्थों का अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार विज्ञान का आलंबन निमित्तभाग है और विज्ञान का आकार दर्शनभाग है। वह हीनयान के लक्षणों को नहीं स्वीकार करते। इन दो भागों का एक आश्रय चाहिये और यह आश्रय विज्ञान का एक आकार है जिसे स्वसंवित्ति-भाग कहते हैं। तीन भाग इस प्रकार हैं:—१. प्रमेय अर्थात् निमित्तभाग; २. प्रमाण अर्थात् विज्ञप्तिक्रियाः यह दर्शनभाग है; ३. प्रमाणफलः यह संवित्ति-भाग अथवा स्वाभाविक भाग है।

इनको प्रमाणसमुच्चय में ग्राह्यभाग, ग्राहकभाग, स्वसंवित्तिभाग कहा है। ये तीन विज्ञान से पृथक् नहीं हैं।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि यदि चित्त-चैत धर्मों का सूक्ष्म विभाजन किया जाय तो चार भाग होते हैं। पूर्वोक्त तीन भागों के अतिरिक्त एक चौथा भाग है। इसे स्वसंवित्ति-संवित्तिभाग कहते हैं।

नील-प्रतिबिंब (निमित्तभाग) दर्शन का (दर्शनभाग का) प्रमेय है। दर्शनभाग प्रमाण है। यह विज्ञप्ति-क्रिया है : "यह नील देखता है।" इस दर्शन का फल 'स्वसंवित्ति' कहलाता है। यह जानना कि मैं नील देखता हूं 'स्वसंवित्ति' है। स्वसंवित्ति दर्शन का फल है। यह दर्शन को आलंबन के रूप में गृहीत करता है, क्योंकि यह आलंबन को गृहीत करता है। इसका एक फल होना चाहिये जिसे 'स्वसंवित्ति-संवित्ति' कहते हैं—"यह जानना कि मैं जानता हूं कि मैं नील देखता हूं।" यह स्वसंवित्ति को जानता है, जैसे स्वसंवित्ति दर्शन को

जानता है। किन्तु यह चार चित्तमात्र है। यथा लंकावतार (१०।१०१) में कहा है—"क्योंकि चित्त अपने में अभिनिविष्ट है, अतः बाह्यार्थ के सदृश चित्त का प्रवर्तन होता है। दृश्य नहीं है, चित्तमात्र है।"

आलम्बनवाद

शुआन-च्वाँग आलंबनवाद का वर्णन करते हैं। आलंबन द्विविध है—स्थान और उपादि।

१. स्थान—साधारण बीजों के परिपाक के बल से विपाक-विज्ञान भाजन-लोक के आभास में अर्थात् महाभूत और भौतिक के आभास में परिणत होता है। शुआन-च्वाँग स्वयं एक आक्षेप के परिहार की चेष्टा करते हैं। वह कहते हैं कि "प्रत्येक सत्व के विज्ञान का परिणाम उसके लिए इस प्रकार होता है, किन्तु इस परिणाम का फल सर्वसाधारण है। इस कारण भाजनलोक सब सत्वों को एक-सा दीखता है। यथा दीपसमूह में प्रत्येक दीप का प्रकाश पृथक् होता है, किन्तु दीपसमूह का प्रकाश एक ही प्रकाश प्रतीत होता है।" अतः भिन्न सत्वों के विज्ञान के बीज साधारण बीज कहलाते हैं, क्योंकि भिन्न सत्व उन वस्तुओं के उत्पादन में सहयोग करते हैं जिनका आभास सब सत्वों को होता है। लोकधातु की सृष्टि का हेतु बहुत कुछ वैशेषिक और जैनदर्शन से मिलता है।

दूसरी ओर शुआन-च्वाँग कहते हैं कि यदि साधारण विज्ञान भाजनलोक में परिणत होता है, तो इसका कारण यह है कि भाजनलोक उस सेन्द्रियक-काय का आश्रय या भोग होगा जिसमें यह विज्ञान परिणत होता है। अतः विज्ञान का परिणाम उस भाजनलोक में होता है जो उस काय के अनुरूप है, जिसमें यह परिणत होता है। यहाँ हमको एक सर्वसाधारण या सार्वभौमिक विज्ञान की झलक मिलती है। यह एक लोकधातु की सृष्टि इसलिए करता है जिसमें प्रत्येक चित्त-संतान काय-विशेष का उत्पाद कर सके।

एक आक्षेप यह है कि जो लोकधातु सत्वों का अभी आवास नहीं है या जो निर्जन हो गया है, उसमें विज्ञानवाद कैसे युक्तियुक्त है? किस विज्ञान का यह लोकधातु परिणाम है? शुआन-च्वाँग इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि यह अन्य लोकधातुओं में निवास करनेवाले सत्वों का परिणाम है। हमसे कहा गया है कि लोकधातु सत्वों का साधारण भोग है। किन्तु प्रेत, मनुष्य, देव (विंशतिका ३) एक ही वस्तु का दर्शन नहीं करते, अर्थात् वस्तुओं को एक ही आकार में नहीं देखते। शुआन-च्वाँग कहते हैं कि इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रश्न का भी विवेचन होना चाहिये।

२. उपादि—बीज और सेन्द्रियक काय।

बीज—यह सास्रव धर्मों के सर्व बीज हैं, जिनका धारक विपाक-विज्ञान है, जो इस विज्ञान के स्वभाव में ही संगृहीत हैं और जो इसलिए उसके आलंबन हैं।

अनास्रव धर्मों के बीज विज्ञान पर संकुचित रूप में आश्रित हैं, क्योंकि वह उसके स्वभाव में संगृहीत नहीं हैं, इसलिए वह उसके आलंबन नहीं हैं। यह नहीं है कि वह विज्ञान

से विप्रयुक्त हैं, क्योंकि भूततथता के तुल्य वह विज्ञान से पृथक् नहीं हैं। अतः उनके अस्तित्व की प्रतिज्ञा कर हम विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त का विरोध नहीं करते।

सेंद्रियकाय—मेरा विपाक-विज्ञान अपने बीज-विशेष के बल से (१) रूपीन्द्रिय में परिणत होता है जो, हम जानते हैं, सूक्ष्म और अतीन्द्रिय रूप है; (२) काय में परिणत होता है जो इन्द्रियों का आश्रयायतन है। किन्तु अन्य सत्वों के बीज—वह सत्व जो मेरे काय को देखते हैं—मेरे काय में उसी समय परिणत होते हैं, जब मेरे अपने बीज परिणत होते हैं। यह साधारण बीज (शक्ति) हैं।

साधारण बीज के परिपाक के बल से मेरा विपाक-विज्ञान दूसरों के इन्द्रियाश्रयायतन में परिणत होता है। यदि ऐसा न होता तो मुझे दूसरों का दर्शन, दूसरों का भोग न होता। स्थिरमति और दूर जाते हैं। उनका मत है कि किसी सत्व विशेष का विपाक-विज्ञान दूसरों के इन्द्रियों में परिणत होता है। उनका कहना है कि यह मत युक्त है, क्योंकि मध्यान्तविभाग में कहा है कि विज्ञान स्व-पर-आश्रय के पंचेन्द्रियों के सदृश अवभासित होता है।

एक आश्रय का विज्ञान दूसरे के इन्द्रियाश्रयायतन में इसलिए परिणत होता है कि निर्वाण-प्रविष्ट सत्व का शव अथवा अन्य भूमि में संचार करनेवाले सत्व का शव दृश्यमान रहता है। निर्वृत के विज्ञान के तिरोहित होनेपर उसके शव में परिणाम नहीं होगा, अतः यह कुछ काल तक अन्य सत्वों के विज्ञान-परिणाम के रूप में अवस्थान करता है।

हमने देखा है कि विज्ञान का परिणाम सेन्द्रियक काय और भाजनलोक (असत्व रूप) में होता है। इनका साधारणतः सर्वदा संतान होता है।

प्रश्न है कि अष्टम विज्ञान का परिणाम चित्त-चैत्त में, विप्रयुक्त में, असंस्कृत में, अभाव धर्मों में क्यों नहीं होता और इन विविध प्रकारों को वह आलंबन क्यों नहीं बनाता।

विज्ञानों का परिणाम दो प्रकार का है।

सास्रव विज्ञान का सामान्यतः द्विविध परिणाम होता है—(१) हेतु-प्रत्यय-वश परिणाम, (२) विकल्प या मनस्कार के बल से परिणाम। पहले परिणाम के धर्मों में क्रिया और वास्तविकता होती है। दूसरे परिणाम के धर्म केवल ज्ञान के विषय हैं।

किन्तु अष्टम-विज्ञान का पहला परिणाम ही हो सकता है, दूसरा नहीं। अतः रूपादि धर्मों में, जो अष्टम विज्ञान से प्रवृत्त होते हैं, क्रिया होनी चाहिये और उनमें क्रिया होती है।

यह नहीं माना जा सकता कि चित्त-चैत्त इसके परिणाम हैं। इसका कारण यह है कि चित्त-चैत्त, जो अष्टम विज्ञान के केवल निमित्तभाग हैं, आलंबन का ग्रहण न करेंगे और इसलिए उनमें वास्तविक क्रिया न होगी।

आक्षेप

आप कहते हैं कि चित्त-चैत्त की उत्पत्ति अष्टम-विज्ञान से होती है, अतः इसका चित्त-चैत्त में परिणत होना आवश्यक है।

उत्तर

विज्ञान-सप्तक और उनके संप्रयुक्त की वास्तविक क्रिया की उत्पत्ति अष्टम-विज्ञान से होती है, क्योंकि वह उसके निमित्तभाग का उपभोग करते हैं अर्थात् उन अर्थों का उपभोग करते हैं जिनमें इसका परिणाम होता है।

अष्टम का परिणाम असंस्कृतादि में भी नहीं होता, क्योंकि उनका कोई कारित्र नहीं है।

हमने जो कुछ पूर्व कहा है वह सास्रव-विज्ञान के लिए है।

जब अष्टम-विज्ञान की अनास्रव अवस्था (बुद्धावस्था) होती है, तब यह प्रधान प्रज्ञा से संप्रयुक्त होता है। यह अविकल्पक किन्तु प्रसन्न होता है, अतः यह असंस्कृत तथा चित्तादि के इन सब निमित्तों को अवभासित करता है, चाहे वह धर्म क्रिया-वियुक्त हों। विपक्ष में बुद्ध सर्वज्ञ न होंगे।

किन्तु जबतक अष्टम-विज्ञान सास्रव है, तबतक यह कामधातु और रूपधातु में केवल भाजनलोक, सेन्द्रियककाय और सास्रव बीजों का आलंबन के रूप में ग्रहण करता है। आरूप्यस्थ विज्ञान केवल सास्रव बीजों का ग्रहण करता है। इस धातु के देव रूप से विरक्त हैं। किन्तु समाधिज रूप के आलंबन बनाने में विरोध नहीं है। अष्टम-विज्ञान का आकार (दर्शनभाग, विज्ञप्ति) अतिसूक्ष्म, अणु होता है। अतः वह असंविदित है। अथवा अष्टम-विज्ञान इसलिए असंविदित है, क्योंकि उसका अध्यात्म-आलंबन अतिसूक्ष्म है, और उसका बाह्य-आलंबन (भाजनलोक) अपने संनिवेश में अपरिच्छिन्न है।

किन्तु सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवादी प्रश्न करते हैं कि यदि अष्टम-विज्ञान का आकार असंविदित है, अर्थात् उसका प्रतिसंवेदन करना अशक्य है तो अष्टम 'विज्ञान' कैसे है? हमारा सौत्रान्तिकों को, जो स्थविरवादियों के समान एक सूक्ष्म विज्ञान में प्रतिपन्न हैं, यह उत्तर है कि आप मानते हैं कि निरोध-समापत्ति आदि की अवस्था में एक विज्ञान-विशेष होता है, जिसका आकार असंविदित है। अतः आप मानते हैं कि अष्टम-विज्ञान सदा असंविदित होता है। सर्वास्तिवादियों से जो निरोध-समापत्ति आदि की अवस्था में विज्ञान के अस्तित्व का प्रतिषेध करते हैं, हमारा यह कहना है कि उक्त समापत्तियों की अवस्था में विज्ञान अवश्य होता है, क्योंकि जो योगी उसमें समापन्न होता है उसे सत्व मानते हैं। आपके मत में भी सत्व सूचित होता है।

आलय का चैत्तों से सम्प्रयोग

यह आलय-विज्ञान सदा से आश्रय-परावृत्ति पर्यन्त अपनी सब अवस्थाओं में पाँच सर्वग (सर्वत्रग) चैत्तों से संप्रयुक्त होता है। ये पाँच चैत्त इस प्रकार हैं :—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना।

ये पाँच आकार में आलय-विज्ञान से भिन्न हैं किन्तु यह आलय के सहभू हैं। इनका वही आश्रय है जो आलय का है, और इनका आलंबन (= निमित्तभाग) तथा द्रव्य (संवित्ति-भाग) आलय के आलंबन और द्रव्य के सदृश है। अतः यह आलय से संप्रयुक्त हैं।

१. स्पर्श—स्पर्श का लक्षण इस प्रकार है:—स्पर्श त्रिकसंनिपात है जो विकार-परिच्छेद है और जिसके कारण चित्त-चैत्त विषय का स्पर्श करते हैं।

इन्द्रिय, विषय और विज्ञान यह तीन 'त्रिक' हैं। इनका समवस्थान 'त्रिक-संनिपात' है। यथा चक्षु, नील, चक्षुर्विज्ञान, यह तीन बीजावस्था में पहले से रहते हैं। स्पर्श भी बीजावस्था में पहले से रहता है। अपनी उत्पत्ति के लिए स्पर्श इन तीन पर आश्रित है। इसकी उत्पत्ति होने पर इन तीन का संनिपात होता है। अतः स्पर्श को त्रिक-संनिपात कहते हैं।

संनिपात के पूर्व त्रिक में चित्त-चैत्त के उत्पाद का सामर्थ्य नहीं होता। किन्तु संनिपात के क्षण में वह इस सामर्थ्य से समन्वागत होते हैं। इस परिवर्तन, इस प्राप्त सामर्थ्य को विकार कहते हैं।

स्पर्श इस विकार के सदृश होता है। अर्थात् चित्त-चैत्तों के उत्पाद के लिए इसमें उस सामर्थ्य के सदृश सामर्थ्य होता है, जिससे त्रिक विकारावस्था में समन्वागत होता है। अतः स्पर्श को विकार-परिच्छेद कहते हैं, क्योंकि यह विकार का परिच्छेद[1] (सदृश, पौधा-कलम) है। स्पर्श-क्षण में त्रिक में विकार होता है। किन्तु स्पर्श के उत्पाद में इन्द्रिय-विकार की प्रधानता है। इसीलिए स्थिरमति स्पर्श को 'इन्द्रियविकार-परिच्छेद' कहते हैं (पृ० २०)।

स्पर्श का स्वभाव है कि यह चित्त-चैत्त का संनिपात इस तरह करता है जिसमें बिना बिखरण के वह विषय का स्पर्श करते हैं।

स्थिरमति का व्याख्यान भिन्न है। "त्रिक का कार्यकारणभाव से समवस्थान त्रिक-संनिपात है। जब त्रिक-संनिपात होता है तब उसी समय इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होता है। यह विकार सुख-दुःखादि वेदना के अनुकूल होता है। इस विकार के सदृश विषय का सुखादि वेदनीयाकार परिच्छेद (ज्ञान) होता है। इस परिच्छेद को स्पर्श कहते हैं। यह 'स्पर्श' इन्द्रिय का स्पर्श करता है, क्योंकि यह इन्द्रिय विकार के सदृश है। अथवा यों कहिए कि यह इन्द्रिय से स्पृष्ट होता है। इसीलिए इसे स्पर्श कहते हैं।

'स्पर्श' का कर्म मनस्कारादि अन्य चार चैत्तों का संनिश्रयत्व है। सूत्र में कहा है कि वेदना, संज्ञा, संस्कार का प्रत्यय स्पर्श है। इसीलिए सूत्र में उक्त है कि इन्द्रिय-विषय इन दो के संनिपात से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, स्पर्श की उत्पत्ति त्रिक-संनिपात से होती है और अन्य चैत्तों की उत्पत्ति इन्द्रिय-विषय-विज्ञान-स्पर्श-चतुष्क से होती है।

अभिधर्मसमुच्चय (स्थिरमति इसका अनुसरण करते हैं) की शिक्षा है कि स्पर्श वेदना का संनिश्रय है। सुखवेदनीय स्पर्श के प्रत्ययवश सुखावेदना उत्पन्न होती है।

२. मनस्कार—मनस्कार चित्त का आभोग (आभुंजन) है। इसका कर्म आलंबन में चित्त का आवर्जन है। संघभद्र के अनुसार मनस्कार चित्त को आलंबन के अभिमुख करता है।

---

१. यथा पुत्र पिता का परिच्छेद है।

अभिधर्म-समुच्चय के अनुसार (संघभद्र के भी) मनस्कार आलंबन में चित्त का धारण करता है। शुआन-च्वाँग इन व्याख्यानों को नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि पहले को स्वीकार करने से मनस्कार सर्वग नहीं होगा और दूसरा व्याख्यान मनस्कार और समाधि को मिला देता है।

३. **वेदना**—वेदना का स्वभाव विषय के आह्लादक, परितापक और इन दोनों आकारों से विविध स्वरूप का अनुभव करना है। वेदना का कर्म तृष्णा का उत्पाद करना है, क्योंकि यह संयोग, वियोग, तथा न संयोग न वियोग की इच्छा उत्पन्न करती है। संघभद्र के अनुसार वेदना दो प्रकार की है, विषय-वेदना, स्वभाव-वेदना। पहली वेदना स्वालंबन-विषय का अनुभव है, दूसरी वेदना तत्सहगत स्पर्श का अनुभव है। इसीलिए भगवान् सुखवेदनीय स्पर्श आदि का उल्लेख करते हैं। केवल द्वितीय वेदना 'वेदना-स्वलक्षण' है, क्योंकि प्रथम सामान्य चैत्तों से विशिष्ट नहीं है। सभी चैत्त विषय निमित्त के अनुभव हैं यह मत अयथार्थ है। १.वेदना सहज स्पर्श को आलंबन नहीं बनाती। २.इस आधार पर कि यह स्पर्श सदृश उत्पन्न होता है, हम नहीं कह सकते कि वेदना स्पर्श का अनुभव करती है, क्योंकि उस अवस्था में सर्व निष्यन्द-फल वेदनास्वभाव होगा। ३. यदि वेदना स्वहेतु अर्थात् स्पर्श का अनुभव करती है, तो इसे 'हेतुवेदना' कहना चाहिये, 'स्वभाववेदना' नहीं। ४. आप नहीं कह सकते कि जिस प्रकार राजा अपने राज्य का उपभोग करता है, उसी प्रकार वेदना स्पर्शज वेदना के स्वभाव का अनुभव करती है और इसलिए इसे (वेदना) स्वभाववेदना कहते हैं। ऐसा करने से आपको अपने इस सिद्धांत का परित्याग करना पड़ेगा कि स्वसंवेदन नहीं होता। ५. यदि आप उसे इसलिए स्वभाववेदना की संज्ञा देते हैं, क्योंकि यह कभी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करती तो सर्व धर्म को स्वभाववेदना कह सकते हैं।

वस्तुतः विषय-वेदना अन्य चैत्तों से पृथक् है, क्योंकि यदि अन्य चैत्त विषय का अनुभव करते हैं तो केवल वेदना विषय का अनुभव आह्लादक, परितापक आकार में करती है।

४. **संज्ञा**—संज्ञा का स्वभाव विषयनिमित्त का उद्ग्रहण है। विषय आलंबन का विशेष है, यथा नील-पीतादि। इससे आलंबन की व्यवस्था होती है। उद्ग्रहण का अर्थ निरूपण है, यथा जब हम यह निरूपित करते हैं कि यह नीला है, पीत नहीं है। संज्ञा का कर्म (जब यह मानसी है) नाना अभिधान और प्रज्ञप्ति का उत्पाद है। जब विषय के निमित्त व्यवस्थित होते हैं—यथा यह नील है, नील से अन्य नहीं है—तभी इन निमित्तों के अनुरूप अभिधान का उत्पाद हो सकता है।

५. **चेतना**—चेतना का स्वभाव चित्त का अभिसंस्कार करना है। इसका कर्म चित्त का कुशलादि में नियोजन है। अर्थात् चेतना कुशलादि संबन्ध में विषय का ग्रहण करती है, विषय के इस निमित्त का ग्रहण कर वह कर्म करती है। वह चित्त का इस प्रकार नियोजन करती है कि चित्त कुशल, अकुशल, अव्याकृत का उत्पाद करता है।

आलय-विज्ञान की वेदना

यह आलय-विज्ञान स्पष्ट वेदनाओं का न प्रभव है, न आलंबन। वसुबन्धु कहते हैं—"उपेक्षा वेदना तत्र" यहाँ की वेदना उपेक्षा है। आलय उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है। आलय-विज्ञान और अन्य दो वेदनाओं में अनुकूलता नहीं है। यह विज्ञान का आकार (=दर्शनभाग) अपटुतम है, और इसलिए उपेक्षा-वेदना से इसकी अनुकूलता है। यह विज्ञान विषय के अनुकूल-प्रतिकूल निमित्तों का परिच्छेद नहीं करता। यह सूक्ष्म है और अन्य वेदनाएं औदारिक हैं। यह एकजातीय, अविकारी है और अन्य वेदनाएं विकारशील हैं। यह अविच्छिन्न संतान है और अन्य वेदनाओं का विच्छेद होता है।

आलय विज्ञान से संप्रयुक्त वेदना विपाक है, क्योंकि यह प्रत्यय का आश्रय न लेकर केवल आक्षेपक कर्म से अभिनिर्वृत्त होती है। यह वेदना कुशलाकुशल कर्म के बल से स्वरस-वाहिनी है। अतः यह केवल उपेक्षा हो सकती है। अन्य वेदनाएं विपाक नहीं हैं, किन्तु विपाकज हैं, क्योंकि वह प्रत्यय पर, अनुकूल-प्रतिकूल विषय पर, आश्रित हैं।

आलय की यह वेदना आत्म-प्रत्यय का प्रभव है। यदि सत्व अपने आलय को स्वकीय अभ्यन्तर आत्मा अवधारित करते हैं, तो इसका कारण यह है कि आलय-विज्ञान सदाकालीन और सभाग है। यदि यह सुखा और दुःखावेदनाओं से संप्रयुक्त होता तो यह असभाग होता, और इसमें आत्मसंज्ञा का उदय न होता।

यदि आलय उपेक्षा से संप्रयुक्त है तो यह अकुशल कर्म का विपाक कैसे हो सकता है? आप स्वीकार करते हैं कि शुभ कर्म उपेक्षा-वेदना का उत्पाद करते हैं (कोश, ४। पृ० १०६)। इसी प्रकार अकुशल कर्म को समझना चाहिये। वस्तुतः यथा अव्याकृत कुशल-अकुशल के विरुद्ध नहीं है (कुशल-अकुशल कर्म अव्याकृत धर्म का उत्पाद करते हैं), उसी प्रकार उपेक्षा-वेदना सुख-दुःख के विरुद्ध नहीं है।

आलय-विज्ञान विनियत चैत्तों से संप्रयुक्त नहीं है। वस्तुतः 'छन्द' अभिप्रेत वस्तु की अभिलाषा है। आलय कर्मबल से स्वरसेन प्रवर्तित होता है और अभिलाष से अपरिचित है। 'अधिमोक्ष' निश्चित वस्तु का अवधारण है। आलय-विज्ञान अपटु है, और अवधारण से वियुक्त है। 'स्मृति' संस्कृत वस्तु का अभिस्मरण है। आलय दुर्बल है और अभिस्मरण से रहित है। 'समाधि' चित्त का एक अर्थ में आसंग है। आलय का स्वरसेन प्रवर्तन होता है, और यह प्रतिक्षण नवीन विषय का ग्रहण करता है। 'प्रज्ञा' वस्तु के गुण आदि का प्रविचय है। आलय सूक्ष्म, अस्पष्ट और प्रविचय में असमर्थ है। विपाक होने से आलय कुशल या क्लिष्ट चैत्तों से संप्रयुक्त नहीं होता। कौकृत्यादि चार अनियत (या अव्याकृत) धर्म विच्छिन्न हैं। यह विपाक नहीं हैं।

आलय और उसके चैत्तों का प्रकार

वसुबन्धु कहते हैं कि आलय-विज्ञान अनिवृत-अव्याकृत है।

धर्म तीन प्रकार के हैं–कुशल, अकुशल,अव्याकृत। अव्याकृत दो प्रकार का है–निवृत, अनिवृत। जो मनोभूमिक आगन्तुक उपक्लेशों से आवृत है, वह निवृत है। इसका विपर्यय अनिवृत है। अनिवृत के चार प्रकार हैं, जिनमें एक विपाक है। (कोश २। पृ० ३१५)

आलय-विज्ञान एकान्तेन अनिवृताव्याकृत है, और इसका प्रकार विपाक है। यदि यह कुशल होता तो प्रवृत्ति (समुदय-दुःख) असंभव होती। यदि यह क्लिष्ट अर्थात् अकुशल या निवृताव्याकृत होता तो निवृत्ति (निरोध-मार्ग) असंभव होती। कुशल या क्लिष्ट होने से यह वासित न हो सकता। अतः आलय अनिवृताव्याकृत है। इसी प्रकार आलय से संप्रयुक्त स्पर्शादि अनिवृताव्याकृत हैं। विपाक से संप्रयुक्त स्पर्शादि भी विपाक हैं। उनके आकार और आलंबन भी आलय के समान अपरिच्छिन्न हैं। अन्य चार और आलयविज्ञान से यह नित्य अनुगत हैं।

प्रतीत्य-समुत्पाद

क्या यह आलय-विज्ञान एक और अभिन्न आसंसार रहता है? अथवा संतान में इसका प्रवर्तन होता है? क्षणिक होने से यह एक और अभिन्न नहीं है। यह आलय-विज्ञान प्रवाहवत् स्रोत में वर्तमान होता है। वसुबन्धु कहते हैं–"तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्"। अतः यह न शाश्वत है, न उच्छिन्न। अनादिकाल से यह संतान बिना उच्छेद के अव्युपरत प्रवाहित होता है। यह संतान बीजों को धारण करता है, और उनको सुरक्षित रखता है। यह प्रतिक्षण उत्पन्न और निरुद्ध होता है। यह पूर्व से अपर में प्रवर्तित होता है। इसका हेतु-फलभाव है। यह उत्पाद और निरोध है। अतः यह आत्मवत् एक नहीं है, प्रधानवत् (सांख्य) शाश्वत नहीं है। 'तच्च वर्तते' इससे शाश्वत संज्ञा व्यावृत्त होती है। 'स्रोत' शब्द से उच्छेद संज्ञा व्यावृत्त होती है।

आलय-विज्ञान के संबन्ध में शुआन-च्वाँग जो कुछ यहाँ कहते हैं, वह प्रतीत्य-समुत्पाद पर भी लागू होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद हेतु-फल-भाव की धर्मता है। यह स्रोत के ओघ के तुल्य शाश्वतत्व और उच्छेद से अपरिचित है। आलय-विज्ञान के लिए भी यही दृष्टान्त है। यथा स्रोत का प्रवाह बिना शाश्वतत्व या उच्छेद के संतान रूप में सदा प्रवाहित होता है, और अपने साथ तृणकाष्ठ-गोमयादि को ले जाता है, उसी प्रकार आलय-विज्ञान भी सदा उत्पन्न और निरुद्ध संतान के रूप में न शाश्वत, न उच्छिन्न हो, क्लेश-कर्म का आवाहन कर सत्व को सुगति या दुर्गति में ले जाता है, और उसका संसार से निःसरण नहीं होने देता। जिस प्रकार एक नदी वायु से विताड़ित हो तरंगों को उत्पन्न करती है किन्तु उसका प्रवाह उच्छिन्न नहीं होता; उसी प्रकार आलय-विज्ञान हेतु-प्रत्ययवश प्रत्युत्पन्न विज्ञान का उत्पाद करता है, किन्तु उसके प्रवाह का विच्छेद नहीं होता। जिस प्रकार जल के तल पर पत्ते और भीतर मछलियाँ होती हैं, और नदी का प्रवाह प्रवर्तित रहता है; उसी प्रकार आलय-विज्ञान आभ्यन्तर बीज और बाह्य चैत्तों के सहित सदा प्रवाहित होता है। यह दृष्टान्त प्रदर्शित करता है कि आलय-विज्ञान हेतु-फल-भाव है, जो अनादि, अशाश्वत, अनुच्छिन्न है। स्रोत का यहाँ अर्थ हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलो-

त्पत्ति होती है, और हेतु का विनाश होता है। कोई विच्छेद नहीं है, क्योंकि फल की उत्पत्ति होती है। कोई शाश्वतत्व नहीं है, क्योंकि हेतु का विनाश होता है। अशाश्वतत्व, अनुच्छेद प्रतीत्य-समुत्पाद का नय है। इसीलिए वसुबन्धु कहते हैं कि आलय-विज्ञान स्रोत के रूप में अव्युपरत प्रवर्तित होता है।

माध्यमिक आदि से तुलना—मध्यमक (१,१) में प्रतीत्य-समुत्पाद का यह लक्षण दिया है :—"अनिरोधं अनुत्पादं अनुच्छेदं अशाश्वतम्।" नागार्जुन ने प्रतीत्य-समुत्पाद को शून्यता का समानार्थक माना है, और उनके अनुसार यह प्रकारान्तर से निर्वाण का दूसरा मुख (आवर्स) है। शुआन-च्वांग का लक्षण इस प्रकार होगा :—सोत्पादं सनिरोधम् अनुच्छेदम्···। वह प्रतीत्य-समुत्पाद को सस्वभाव मानता है, क्योंकि वह आलय-विज्ञान का स्वभाव बताया गया है। आलय समुत्पाद स्वभाव है जो अनादिकालिक प्रतीत्य-समुत्पाद अर्थात् हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है।

जो दृष्टान्त हम नीचे देते हैं उससे बढ़कर कौन दृष्टान्त होगा जो आलय के विविध आकारों को प्रदर्शित करे? यह दृष्टान्त लंकावतार से उद्धृत किया गया है। शुआन-च्वांग (पृ० १७५) इसका उल्लेख करते हैं–क्या समुद्र पवन-प्रत्यय से अभ्याहत हो तरंग उत्पादित करता है? किन्तु शक्तियों का (जो तरंग को उत्पन्न करती हैं) प्रवर्तन होता रहता है, और विच्छेद नहीं होता; उसी प्रकार विषय-पवन से ईरित हो आलयौघ नित्य विचित्र तरंग-विज्ञान (प्रवृत्ति-विज्ञान) उत्पन्न करता है, और शक्ति (जो विज्ञान का उत्पाद करती है) प्रवर्तित रहती है। इस दृष्टान्त में प्रवृत्ति-विज्ञानों की तुलना तरंगों से दी गयी है, जो सार्वलौकिक विज्ञानरूपी नित्य स्रोत के तल पर उदित होते हैं।

यह विचार करने की बात है कि यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो विज्ञानवाद विज्ञानवाद न ठहरेगा किन्तु अद्वयवाद हो जायगा। अन्यत्र (पृ० १६७–१६८) शुआन-च्वांग कहते हैं कि उनका आलय-विज्ञान एकजातीय और सर्वगत सदाकालीन संतान है। संक्षेप में यह एक प्रकार का ब्रह्म है।

आलय की व्यावृत्ति

एक कठिन प्रश्न यह है कि आलय की व्यावृत्ति होती है या नहीं? निर्वाण के लाभ के लिए, सर्व धर्म का मूलनिरोध करने के लिए, इस अव्युच्छिन्न प्रवाह को व्यावृत्त करना होता है। प्रश्न यह है कि आलय-विज्ञान की व्यावृत्ति अर्हत्त्व में होती है या केवल महाबोधिसत्व में होती है।

वसुबन्धु 'अर्हत्त्व' शब्द का प्रयोग करते हैं (त्रिंशिका, ५)। स्थिरमति के अनुसार क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान के लाभ से अर्हत्त्व होता है और उस अवस्था में आलयाश्रित दौष्ठुल्य का निरवशेष प्रहाण होता है। इससे आलय-विज्ञान व्यावृत्त होता है। यही अर्हत् की अवस्था है। प्रथम अचार्यों के अनुसार 'अर्हत्' से तीन यानों के उन आर्यों से आशय है जिन्होंने अशैक्ष फल का लाभ किया है। यह आचार्य प्रमाण में योगशास्त्र के इस वाक्य को उद्धृत करते हैं :—"अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध और तथागत आलय-विज्ञान से समन्वागत नहीं

होते।" यहाँ शुआन-च्वांग कहते हैं कि योगशास्त्र में इसी स्थल में यह भी कहा है कि अवैवर्तिक बोधिसत्व में भी आलय नहीं होता।

धर्मपाल के अनुसार अचला भूमि से बोधिसत्व की 'अवैवर्तिक' संज्ञा हो जाती है। इस भूमि से उनमें आलय-विज्ञान नहीं होता और वह भी वसुबन्धु के 'अर्हत्' में परिगणित होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन बोधिसत्वों ने विपाक-विज्ञान के क्लेश-बीजों का अभी सर्वथा प्रहाण नहीं किया है। किन्तु इनका समुदाचरित चित्त-सन्तान सर्व विशुद्ध है, और इसलिए आत्म-दृष्टि आदि मनस् के क्लेश इस विपाक-विज्ञान में आत्मवत् आलीन नहीं होते। अतः इन बोधिसत्वों की गणना अर्हत् में की गयी है।

नन्द के अनुसार प्रथम भूमि से ही बोधिसत्व अवैवर्तिक होता है। प्रथम आचार्य और धर्मपाल इससे सहमत नहीं हैं।

जो कुछ हो, बोधिसत्व की ऊर्ध्व भूमियों में सर्व क्लेश-बीज का प्रहाण होता है। विज्ञान-सन्तान के अनास्रव होने से मनस् का इस विज्ञान में आत्मवत् अधिक अभिनिवेश नहीं होता, अतः बोधिसत्व का विज्ञान आलय-मूल की संज्ञा को खो देता है।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि हम नहीं मानते कि आलय-विज्ञान की व्यावृत्ति से सर्वप्रकार के अष्टम विज्ञान का प्रहाण होता है।

अष्टम विज्ञान पर शुआन च्वाँग का मत

वस्तुतः सब सत्वों में अष्टम विज्ञान होता है। किन्तु भिन्न दृष्टियों के कारण इस अष्टम विज्ञान के भिन्न नाम होते हैं।

इसे चित्त ('चि' धातु से) कहते हैं, क्योंकि यह विविध धर्मों से भावित, बीजों से आचित होता है।

यह आदान-विज्ञान है, क्योंकि यह बीज तथा रूपीन्द्रियों का आदान करता है और उनका नाश नहीं होने देता।

यह ज्ञेयाश्रय है, क्योंकि अष्टम विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव, सब धर्मों को जो ज्ञेय के विषय हैं, आश्रय देता है।

यह बीज-विज्ञान है, क्योंकि यह सब लौकिक और लोकोत्तर बीजों का वहन करता है।

यह नाम तथा अन्य नाम (मूल, भवांग, संसारकोटिनिष्ठस्कन्ध) अष्टम विज्ञान की सब अवस्थाओं के अनुकूल हैं। किन्तु इसे आलय, विपाक-विज्ञान, विमल-विज्ञान भी कहते हैं। इसे आलय इसलिए कहते हैं कि इसमें सर्व सांक्लेशिक धर्म संगृहीत हैं, और उनको यह निरुद्ध होने से रोकता है, क्योंकि आत्मदृष्टि आदि आत्मवत् इसमें आलीन हैं। केवल पृथग्जन और शैक्षों के अष्टम विज्ञान के लिए आलय-संज्ञा उपयुक्त है, क्योंकि अर्हत् और अवैवर्तिक बोधिसत्व में सांक्लेशिक धर्म नहीं होते।

अष्टम विज्ञान विपाक-विज्ञान है, क्योंकि संसार के आक्षेपक शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक का यह फल है।

यह संज्ञा पृथग्जन, यानद्वय के आर्य तथा सब बोधिसत्वों के लिए उपयुक्त है, क्योंकि इन सब सत्वों में विपाकभूत अव्याकृत धर्म होते हैं। किन्तु तथागतभूमि में इस संज्ञा का प्रयोग नहीं होता।

अष्टम विज्ञान विमल-विज्ञान है, क्योंकि यह अति विशुद्ध और अनास्रव धर्मों का आश्रय है। यह नाम केवल तथागत-भूमि के लिए उपयुक्त है।

वसुबन्धु केवल आलय की व्यावृत्ति का उल्लेख करते हैं, क्योंकि संक्लेशालय के दोष गुरु होते हैं, क्योंकि दो सास्रव अवस्थाओं में से यह पहली अवस्था है जिनका आर्य प्रहाण करता है। अष्टम विज्ञान की दो अवस्थाओं में विशेष करना चाहिये। एक सास्रव अवस्था है, दूसरी अनास्रव। सास्रव को आलय या विपाक कहते हैं। इसका व्याख्यान ऊपर हो चुका है। अनास्रव एकान्तेन कुशल है। वह ५ सर्वग, ५ प्रतिनियत विषय और ११ कुशल चैत्त से संप्रयुक्त होता है। यह अकुशल और अनियत चैत्तों से संप्रयुक्त नहीं होता। यह सदा उपेक्षा वेदना से सहगत होता है। सर्व धर्म इसका विषय है, क्योंकि आदर्श ज्ञान सर्व धर्म को आलंबन बनाता है।

आलय-विज्ञान के प्रवर्तन को व्यावृत्त कर अर्थात् हेतु-फल-भाव और धर्मों के नित्य-प्रवाह को व्यावृत्त कर बोधिसत्व हेतु-प्रत्यय और धर्मों की क्रूरता से अपने को स्वतन्त्र करते हैं और यह केवल विमल-विज्ञान से होता है।

अष्टम विज्ञान के पक्ष में आगम के प्रमाण और युक्तियाँ

हीनयान में केवल सात विज्ञान माने गए हैं। किन्तु शुआन-च्वाँग दोनों यानों के आगम से तथा युक्ति से अष्टम-विज्ञान को सिद्ध करते हैं।

महायान—महायान के शास्त्रों में आलय की बड़ी महिमा है। महायानाभिधर्मसूत्र में कहा है कि आलय-विज्ञान सूक्ष्म-स्वभाव है और इसकी क्रिया से ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अनादिकालिक है और सब धर्मों का समाश्रय है। बीज-विज्ञान होने से यह हेतु (धातु) है। शक्तियों का अविच्छिन्न सन्तान होने से वह धर्मों का उत्पादन करता है। समाश्रय होने से यह आदान-विज्ञान है, क्योंकि यह बीजों का आदान करता है, और प्रत्युत्पन्न धर्मों का आश्रय है। इस विज्ञान के होने पर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होती हैं। इस विज्ञान के कारण ही प्रवृत्तिमार्गीय धर्मों का आदान होता है, और इसी के कारण निर्वाण का अधिगम भी होता है। वस्तुतः यही विज्ञान निवृत्ति के अनुकूल धर्मों का, निर्वाण के बीजों का, आदान करता है।

सन्धिनिर्मोचन में कहा है कि आदान-विज्ञान गंभीर और सूक्ष्म है। वह सब बीजों को धारण करता है और ओघ के समान प्रवर्तित होता है। इस भय से कि कहीं मूढ़ पुरुष इसमें आत्मा की कल्पना न करें, मैंने मूढ़ पुरुषों के प्रति इसे प्रकाशित नहीं किया है। लंकावतार में भी आलय को 'ओघ' कहा है, जिसका व्युच्छेद नहीं है और जो सदा प्रवर्तित होता है।

अन्य निकायों के सूत्रों में भी छिपे तौर से आलय-विज्ञान को स्वीकार किया है। महासांघिक-निकाय के आगम में इसे मूल-विज्ञान कहते हैं। चक्षुर्विज्ञानादि को मूल की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आलय-विज्ञान ही इन अन्य विज्ञानों का मूल है।

स्थविर और विभज्यवादी इसे 'भवांग-विज्ञान' कहते हैं। 'भव' 'धातुत्रय' हैं; 'अंग' का अर्थ 'हेतु' है। अतः यह विज्ञान धातुत्रय का हेतु है। एक आलय-विज्ञान ही जो सर्वगत और अव्युच्छिन्न है, यह विज्ञान हो सकता है।

'बुद्धघोस' के अनुसार यह भवांग ही अंगुत्तर १, १० का 'प्रभास्वर-चित्त' है (अत्थसालिनी, १४०)।

महीशासक आलय को 'संसारकोटिनिष्ठस्कन्ध' (कोश, ६।१२) कहते हैं। यह वह स्कन्ध-धर्म है, जो संसार के अपरान्त तक अवस्थान करता है (व्युत्पत्ति में अपरान्तकोटिनिष्ठ है)। वस्तुतः आलय-विज्ञान का अवस्थान वज्रोपम पर्यन्त है। रूप का उपरम आरूप्य में होता है। आलय-विज्ञान के व्यतिरिक्त अन्य सर्व विज्ञान का उपरम असंज्ञिदेवों में तथा अन्यत्र होता है। विप्रयुक्त संस्कार रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् नहीं है। अतः जिस स्कन्ध का उल्लेख महीशासक करते हैं, वह आलय-विज्ञान के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता।

सर्वास्तिवादियों के एकोत्तरागम में भी 'आलय' का उल्लेख है। इस सूत्र में कहा है कि सत्व आलय में रत होते हैं, उसमें उनको संमोद होता है (अंगुत्तर, २।१३१ आलयारामा भिक्खवे पजा आलयरता आलयस[म्]मुदिता)। इस वचन से स्पष्ट है कि आलय राग का आलंबन है। इसमें सत्वों का तबतक आसंग होता है जबतक वज्रोपम समाधि द्वारा आलय का विच्छेद नहीं होता। इसे वह अपनी आध्यात्मिक आत्मा अवधारित करते हैं। कामवीतराग योगी और आर्य में भी आत्मस्नेह होता है, यद्यपि वह पंच-कामगुणों से विरक्त होते हैं। पृथग्जन और शैक्ष दोनों का अभिष्वंग आलय-विज्ञान में होता है, चाहे अन्य उपादान-स्कन्धों में उनकी रति हो या न हो। इसलिए एकोत्तरागम को आलय शब्द से 'आलय-विज्ञान' इष्ट है।

१. बीजधारक चित्त

आलय को सिद्ध करने में युक्ति यह है कि वह चित्त बीजों का धारक है। यदि यह न हो तो कोई अन्य चित्त नहीं है जो सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के बीजों को धारण करे।

सौत्रान्तिक (मूल)—कहते हैं कि स्कन्ध वासित होते हैं और बीजों को धारण करते हैं। दार्ष्टान्तिकों के अनुसार पूर्व क्षण अपर क्षण को वासित करता है। अन्य सौत्रान्तिक कहते हैं कि विज्ञान-जाति वासित होती है। हुआन-च्वांग कहते हैं कि यह तीनों मत अयुक्त हैं। पंच-स्कन्ध बीजों को धारण नहीं करते। प्रवृत्ति-विज्ञानों का विच्छेद निरोध-समापत्ति में तथा अन्य चार आसंज्ञिक अवस्थाओं (निद्रा, मूर्छा, असंज्ञि-समापत्ति, असंज्ञिदेव) में होता है। अतः वह निरन्तर बीजों को धारण नहीं कर सकते। विज्ञानों की उत्पत्ति इन्द्रिय-अर्थ-मनस्कार से होती है और यह कुशल-अकुशल-अव्याकृत इन विजातीय स्वभावों के होते हैं। अतः वह एक दूसरे को वासित नहीं कर सकते।

अतः यह स्पष्ट है कि सूत्र का इन प्रवृत्ति-विज्ञानों से आशय नहीं है, क्योंकि यह बीजों का आदान नहीं करते। यह इस अर्थ में चित्त नहीं है कि यह धर्मों के बीजों का संचय

करते हैं। इसके अतिरिक्त आलय-विज्ञान, जो सदा अव्युच्छिन्न रहता है, एकजातीय है, और तिलपुष्पवत् है, वासित होता है। एक सर्वबीजक चित्त के अभाव में क्लिष्ट और अनास्रव चित्त, जो प्रवृत्तिधर्म है, बीजों का उत्पादन नहीं करेंगे, और पूर्व बीजों की वृद्धि न करेंगे। अत: उनका कोई सामर्थ्य न होगा। पुन: यदि प्रवृत्तिधर्मों की उत्पत्ति बीजों से नहीं होती, तो फिर उनकी उत्पत्ति कैसे होगी? क्या आप उनको स्वयंभू मानते हैं? रूप और विप्रयुक्त भी सर्वबीजक नहीं हैं। यह चित्तस्वभाव नहीं है। यह बीजों का आदान कैसे करेंगे? चैत्त उच्छिन्न होते हैं। इनकी विकल्पोत्पत्ति है। यह स्वतन्त्र नहीं हैं। यह चित्तस्वभाव नहीं हैं। अतः यह बीजों को धारण नहीं करते। इसलिए हमको प्रवृत्ति-विज्ञान से भिन्न एक चित्त मानना होगा, जो सर्वबीजक है।

एक सौत्रान्तिक मानते हैं कि छ: प्रवृत्ति-विज्ञानों का सदा उत्तरोत्तर उदय-व्यय होता है, और यह इन्द्रिय-अर्थादि का सन्निश्रय लेते हैं। प्रवृत्ति-विज्ञान के क्षणों का द्रव्यत्व में अन्यथात्व होता है, किन्तु यह सब क्षण समान रूप से विज्ञप्ति हैं। विज्ञान-जाति का अन्यथात्व नहीं होता। यह अवस्थान करती है। यह वासित होती है। यह जाति सर्वबीजक है। अत: इनके मत में सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के हेतु-फल-भाव का निरूपण करने के लिए अष्टम विज्ञान की कल्पना अनावश्यक है।

इस मत का खण्डन करने के लिए शुआन-च्वांग चार युक्तियां देते हैं:—

१. यदि आपकी विज्ञान-जाति एक द्रव्य है, तो आप वैशेषिकों के समान 'सामान्य-विशेष' को द्रव्य मानते हैं। यदि यह प्रज्ञप्तिसत् है, तो जाति-बीजों की धारक नहीं हो सकती, क्योंकि प्रज्ञप्तिसत् होने से यह सामर्थ्य-विशेष से रहित है।

२. आपकी विज्ञान-जाति कुशल है या अकुशल? क्योंकि यह अव्याकृत नहीं है, इसलिए यह वासित नहीं हो सकती। क्या यह अव्याकृत है? किन्तु यदि चित्त कुशल या अकुशल है तो कोई अव्याकृत चित्त नहीं है। आपकी विज्ञान-जाति यदि अव्याकृत और स्थिर है तो यह व्युच्छिन्न होगी। वस्तुतः यदि द्रव्य कुशल-अकुशल है, तो जाति अव्याकृत नहीं हो सकती। महासत्ता के विपक्ष में विशेष सत्ता का वही स्वभाव होगा जो द्रव्यों का है।

३. आपकी विज्ञान-जाति संज्ञाहीन अवस्थाओं में तिरोहित होती है। यह स्थिर नहीं है। इसका नैरन्तर्य नहीं है। अत: यह वासित नहीं हो सकती और सबीजक नहीं है।

४. अन्ततः जब अर्हत् और पृथग्जन के चित्त की एक ही विज्ञान-जाति है, तो क्लिष्ट और अनास्रव धर्म एक दूसरे को वासित करेंगे। क्या आप इस निरर्थक वाद को स्वीकार करते हैं? इसी प्रकार विविध इन्द्रियों की एक ही जाति होने से वह एक दूसरे को वासित करेंगी। किन्तु इसका आप प्रतिषेध करते हैं। अत: आप यह नहीं कह सकते कि विज्ञान-जाति वासित होती है। दार्ष्टान्तिक कहता है कि चाहे हम द्रव्य का विचार करें या जाति का, प्रवृत्ति-विज्ञानों के दो समनन्तर क्षण सहभू नहीं हैं। अत: यह वासित नहीं हो सकते, क्योंकि वासित करने वाले और वासित होनेवाले को सहभू होना होगा।

सौत्रान्तिक मतों की परीक्षा समाप्त होती है। अब हम अन्य निकायों की परीक्षा करेंगे।

महासांघिक—महासांघिक विज्ञान-जाति को विचार-कोटि में नहीं लेते। यह मानते हैं कि प्रवृत्ति-विज्ञान सहभू हो सकते हैं। किन्तु यह वासना के वाद को नहीं मानते। अतः प्रवृत्ति-विज्ञान सबीजक नहीं हैं।

स्थविर—यह बीज-द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार रूप या चित्त का पूर्व क्षण स्वजाति के अनुसार उत्तर क्षण का बीज होता है। इस प्रकार हेतु-फल परम्परा व्यवस्थापित होती है। यह वाद अयुक्त है, क्योंकि—

१. यहाँ वासना का कोई कृत्य नहीं है। पूर्व क्षण वासित नहीं करता अर्थात् बीज की उत्पत्ति नहीं करता। यह उत्तर क्षण का बीज कैसे होगा, क्योंकि यह उसका सहभू नहीं है?

२. एक बार व्युच्छिन्न होने पर रूप या चित्त की पुनरुत्पत्ति न हो सकेगी। (जब ऊर्ध्व धातु में उत्पत्ति होती है तब रूप-सन्तान व्युच्छिन्न होता है।)

३. दो यानों के अशैक्षों का कोई अन्त्य स्कन्ध न होगा। उनके स्कन्धों का सन्तान निर्वाण में निरुद्ध न होगा, क्योंकि मरणासन्न अशैक्ष के रूप और चित्त अनागत रूप और चित्त के बीज हैं।

४. यदि दूसरे आक्षेप के उत्तर में स्थविर कहते हैं कि रूप और चित्त एक दूसरे के बीज हैं, (जिससे ऊर्ध्व धातु के भव के पश्चात् रूप की पुनरुत्पत्ति होती है) तो हम कहेंगे कि न रूप और न प्रवृत्ति-विज्ञान वासित हो सकते हैं।

सर्वास्तिवादिन्—त्रैयध्विक धर्मों का अस्तित्व है। हेतु से फल की उत्पत्ति है, जो पर्याय से हेतु है। फिर क्यों सबीजक विज्ञान की कल्पना की जाय? वस्तुतः सूत्र का वचन है कि चित्त बीज है, चित्त क्लिष्ट-शुद्ध धर्मों का उत्पाद करता है। सूत्र ऐसा इसलिए करता है क्योंकि रूप की अपेक्षा चित्त का सामर्थ्य कहीं अधिक है, किन्तु इसको यह विवक्षित नहीं है कि चित्त सबीजक है।

यह वाद अयुक्त है, क्योंकि अतीत-अनागत धर्म न नित्य हैं और न प्रत्युत्पन्न। आकाश-पुष्प की तरह यह अवस्तु हैं। पुनः इनकी कोई क्रिया नहीं है। अतः यह हेतु नहीं हो सकते।

अतः अष्टम-विज्ञान के अभाव में हेतु-फल-भाव नहीं होता।

भावविवेक—यह त्रिलक्षणवाद को नहीं मानता। यह लक्षणों का प्रतिषेध करता है। इसलिए इसे अलक्षण महायान कहते हैं। अनुमानाभास से यह आलय-विज्ञान और अन्य धर्मों का प्रतिषेध करता है। यह नय सूत्र का विरोध करता है। चार आर्य सत्यों की सत्ता का प्रतिषेध करना, हेतु-फल का प्रतिषेध करना मिथ्यादृष्टि है।

किन्तु भावविवेक कहता है कि हम संवृति-सत्य की दृष्टि से इन सब धर्मों का प्रतिषेध नहीं करते। हम इनके तत्त्व, सत्य होने का ही प्रतिषेध करते हैं।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के तीर्थिक भी ऐसा ही कहते हैं। यदि धर्म वस्तुसत् नहीं है तो बोधिसत्व संसार का त्याग करने के लिए, बोधिसंभार के लिए क्यों प्रयत्न-शील होंगे? कौन बुद्धिमान् पुरुष कल्पित शत्रुओं का (क्लेशों का) उन्मूलन करने के के लिए शिलापुत्रक (= कुशल धर्म) को लेने जायगा और उनका उपयोग सेना की भाँति करेगा?

अतः एक सबीजक चित्त है जो सांक्लेशिक-व्यावदानिक धर्मों का और हेतु-फल का समाश्रय है। यह चित्त आलय है।

२. विपाक चित्त

आलय-विज्ञान के सिद्ध करने के लिए हम एक युक्ति दे चुके हैं कि यह बीजों का धारक है। दूसरी युक्ति यह है कि सूत्र के अनुसार एक विपाक-चित्त है जो कुशल-अकुशल कर्म से अभिनिर्वृत्त होता है। यदि आलय नहीं है तो इस विपाक-चित्त का अभाव होता है।

१. छः विज्ञान व्युच्छिन्न होते हैं। यह सदा कर्म-फल नहीं होते। यह विपाक-चित्त नहीं है। हम जानते हैं कि जो धर्म विपाक हैं उनका पुनः प्रतिसन्धान एक बार व्युच्छिन्न होने पर नहीं होता (यथा जीवितेन्द्रिय)। जब विज्ञानषट्क कर्म से अभिनिर्वृत्त होता है, यथा शब्द, तब उनका निरन्तर सन्तान नहीं होता। अतः वह विपाकज है, विपाक नहीं है।

२. एक विपाक-चित्त मानना होगा जो आक्षेपक कर्म के समकक्ष है, जो धातुत्रय में पाया जाता है, जो सदाकालीन है, जो भाजन-लोक और सेन्द्रियक-काय में परिणत होता है, जो सत्व का समाश्रय है।

वस्तुतः १. चित्त से पृथक् भाजन-लोक और सेन्द्रियक-काय नहीं हैं। २. विप्रयुक्त (विशेष कर जीवितेन्द्रिय) द्रव्यसत् नहीं है। ३. प्रवृत्ति-विज्ञान सदा नहीं होते। आलय के अभाव में कौन भाजन-लोक और काय में परिणत होगा? अन्ततः जहाँ चित्त है वहाँ सत्व है; जहाँ चित्त नहीं है वहाँ सत्व नहीं है। यदि आप आलय को नहीं स्वीकार करते तो कौन-सा धर्म—पाँच असंज्ञि-अवस्थाओं में—सत्व का आश्रय होगा?

३. समापत्ति की अवस्था में, यथा असमाहित अवस्था में, चाहे समापत्ति में उपनिध्यान हो या न हो, (निरोध-समापत्ति में) सदा कायिकी वेदना होती है। इसी कारण समाधि से व्युत्थान कर योगी सुख या शारीरिक थकावट का अनुभव करता है। अतः समापत्ति की सब अवस्थाओं में एक विपाक-चित्त निरन्तर रहता है।

४. हम उन सत्वों का विचार करें जो बुद्ध नहीं हैं। आप यह स्वीकार करते हैं कि क्षण-विशेष में उनके छः विज्ञान अव्याकृत और विपाक होते हैं। जिस काल में इन सत्वों के किसी अन्य जाति के विज्ञान (कुशल-अकुशल) होते हैं या जब इस जाति के विज्ञान

होते हैं तब उनके एक विपाक-चित्त भी होता है, क्योंकि जबतक वह बुद्ध नहीं हैं तबतक वह सत्व हैं।

३. गति और योनि

सूत्र में उपदिष्ट है कि सत्व पाँच गतियों और चार योनियों में संसरण करतेहैं। अष्टम-विज्ञान के अभाव में हम नहीं देखते कि गति और योनि क्या हैं।

१. गति को निरन्तर रखनेवाला, सर्वगत, असंकीर्ण द्रव्यसत् होना चाहिये। यदि वह धर्म, जो विपाक नहीं है, यथा प्रायोगिक कुशल, गति में पर्यापन्न होते, तो गति संकीर्ण होती। क्योंकि जब एक सत्व (कामधातु का सत्व) रूपधातु के एक कुशल-चित्त का उत्पाद करता, तब वह एक ही समय में मनुष्य और देवगति का होता (कोश ३, पृष्ठ १२)। विपाक-रूप (औपचयिक से अन्यत्र, कोश १, पृष्ठ ६६) और कर्महेतुक पाँच विज्ञान गति में पर्यापन्न नहीं हैं, क्योंकि आरूप्य में रूप और पंच विज्ञान का अभाव है। सब भवों में उपपत्ति-लाभिक धर्म और कर्म-हेतुक मनोविज्ञान होते हैं। इन धर्मों में नैरन्तर्य नहीं होता।

विप्रयुक्त द्रव्यसत् नहीं है। अतः उनका क्या विचार करना?

२. केवल विपाक-चित्त और संप्रयुक्त-चैत्तों में चारों लक्षण होते हैं, और यह गति तथा योनि हैं। तथागत के कोई अव्याकृत, कोई विपाक धर्म नहीं है। अतः वह गति-योनि म संगृहीत नहीं हैं। उनमें कोई सास्रव धर्म नहीं हैं। अतः वह धातुओं में संगृहीत नहीं हैं। भगवान् के प्रपंच-बीज निरुद्ध हो चुके हैं।

गति-योनि, विपाक-चित्त और तत् संप्रयुक्त चैत्त के ही स्वभाव के हैं। यह वस्तुतः विपाक हैं। यह विपाकज नहीं हैं। अतः यह अष्टम विज्ञान है।

४. उपादान

सूत्र के अनुसार रूपीन्द्रिय काय उपात्त है। अष्टम विज्ञान के अभाव में इस काय का उपादाता कौन होगा?

यदि पाँच रूपीन्द्रिय अपने अधिष्ठान के सहित ('शब्द' को वर्जित कर नौ रूपी आयतन) उपात्त होते हैं, तो यह अवश्य एक चित्त के कारण है जो उनको स्वीकृत करता है। छः प्रवृत्ति-विज्ञानों के अतिरिक्त यह चित्त केवल विपाक-चित्त हो सकता है। यह पूर्वकृत कर्म से आक्षिप्त होता है। यह कुशल-क्लिष्टादि नहीं है। यह केवल अव्याकृत है। यह तीनों धातुओं में पाया जाता है, इसका निरन्तर सन्तान है।

सूत्र का यह कहने का आशय है कि प्रवृत्ति-विज्ञान में उपादान की योग्यता नहीं है, क्योंकि वह सभाग नहीं हैं, धातुत्रय में पाए नहीं जाते और इनका निरन्तर सन्तान नहीं होता। सूत्र का यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि केवल विपाक-चित्त में यह सामर्थ्य है, क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि बुद्ध का रूपकाय जो कुशल अनास्रव है, बुद्ध के चित्त से उपात्त नहीं है, क्योंकि बुद्ध में कोई विपाक-धर्म नहीं है। यहाँ केवल सास्रव-काय की बात है और केवल विपाक-चित्त इस काय को उपात्त करता है।

२. जीवित, उष्म और विज्ञान

सूत्र के अनुसार जीवित, उष्म और विज्ञान अन्योन्य को आश्रय देकर सन्तान में अव-स्थान करते हैं। हमारा कहना है कि अष्टम विज्ञान ही एक विज्ञान है जो जीवित और उष्म का समाश्रय हो सकता है।

१. शब्द, वायु आदि के समान प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरन्तर्य नहीं है, और यह विकारी है। यह समाश्रय की निरन्तर क्रिया में समर्थ नहीं है। अतः यह वह विज्ञान नहीं है, जिसका सूत्र में उल्लेख है। किन्तु विपाक-विज्ञान जीवित और उष्म के तुल्य व्युच्छिन्न नहीं होता, और विकारी नहीं है। अत: उसकी यह क्रिया हो सकती है। अत: यही विज्ञान है, जो जीवित और उष्म का समाश्रय है।

२. सूत्र में उपदिष्ट है कि यह तीन धर्म एक दूसरे को आश्रय देते हैं, और आप मानते हैं कि जीवित और उष्म एकजातीय और अव्युच्छिन्न है। तो क्या यह मानना युक्त है कि यह विज्ञान प्रवृत्ति-विज्ञान है, जो एकजातीय और अव्युच्छिन्न नहीं है?

३. जीवित और उष्म सास्रव धर्म है। अत: जो विज्ञान इनका समाश्रय है, वह अना-स्रव नहीं है। यदि आप अष्टम विज्ञान नहीं मानते तो बताइये कि कौन-सा विज्ञान आरूप्य-धातु के सत्व के जीवित का आश्रय होगा (आरूप्य में अनास्रव प्रवृत्ति-विज्ञान होता है)।

अत: एक विपाक-विज्ञान है। यह अष्टम विज्ञान है।

३. प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त

१. सूत्रवचन है कि प्रतिसन्धि और मरण के सभी सत्व अचित्तक नहीं होते। समाहित-चित्त नहीं होते, विक्षिप्त-चित्त होते हैं। प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त केवल अष्टम विज्ञान हैं। इन दो क्षणों में चित्त तथा काय अस्वप्निका निद्रा या अतिमूर्च्छा की तरह मन्द होते हैं। षड् प्रवृत्ति-विज्ञान उत्थित नहीं हो पाते।

इन दो क्षणों में छः प्रवृत्ति-विज्ञानों की न संविदित विज्ञप्ति-क्रिया होती है, न इसका संविदित आलंबन होता है। अर्थात् उस समय इन विज्ञानों का समुदाचार नहीं होता जैसे अचित्तक अवस्था में उनका समुदाचार नहीं होता। क्योंकि यदि प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त, जैसा कि आपका कहना है, प्रवृत्ति-विज्ञान हैं, तो उनकी विज्ञप्ति-क्रिया और उनका आलंबन संविदित होना चाहिये।

इसके विरुद्ध अष्टम विज्ञान अति सूक्ष्म और असंविदित होता है। यह आक्षेपक कर्म का फल है। अतः यह वस्तुतः विपाक है। एक नियतकाल के लिए यह एक अव्युच्छिन्न और एकजातीय सन्तान है। इसी को प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त कहते हैं। इसीके कारण इन दो क्षणों में सत्व अचित्तक नहीं होता और विक्षिप्त चित्त होता है।

२. **स्थविरों** के अनुसार इन दो क्षणों में एक सूक्ष्म मनोविज्ञान होता है जिसकी विज्ञप्ति-क्रिया और आलंबन असंविदित है।

यह सूक्ष्म विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है, क्योंकि कोई परिचित मनोविज्ञान असंविदित नहीं है।

३. मरण के समीप 'शीत' स्प्रष्टव्य-काय में ईषत् ईषत् उत्पन्न होता है। यदि कोई अष्टम विज्ञान न हो जो काय को स्वीकृत करता है, तो शनैः शनैः शीत का उत्पाद न हो। यह अष्टम विज्ञान काय के सब भागों को उपात्त करता है। जहाँ से यह अपना उपग्रहण छोड़ता है वहाँ शीत उत्पन्न होता है। क्योंकि जीवित, उष्म और विज्ञान असंप्रयुक्त नहीं हैं। जिस भाग में शीतोत्पाद होता है वह सत्वाख्य नहीं रहता।

पहले पाँच विज्ञानों के विशेष आश्रय हैं। यह समस्त काय को उपगृहीत नहीं करते। शेष रहा छठा विज्ञान—मनोविज्ञान। यह काय में सदा नहीं पाया जाता। यह प्रायः व्युच्छिन्न होता है, और हम नहीं देखते कि तब शीतोत्पाद होता है। इसका आलंबन स्थिर नहीं है।

अतः अष्टम विज्ञान सिद्ध है।

७. विज्ञान और नामरूप

सूत्र के अनुसार नामरूप-प्रत्ययवश विज्ञान होता है, और विज्ञान-प्रत्ययवश नामरूप होता है। यह दो धर्म नड़कलाप के सदृश अन्योन्याश्रित हैं और एक साथ प्रवर्तित होते हैं।

प्रश्न यह है कि यह कौन-सा विज्ञान है?

इसी सूत्र में नामरूप का व्याख्यान है : नामन् से चार अरूपी स्कन्ध और रूप से कललादि समझना चाहिये। यह द्विक नामरूप (पंचस्कन्ध) और विज्ञान नड़कलाप के समान अन्योन्याश्रय से अवस्थित है। यह एक दूसरे के प्रत्यय हैं; यह सहभू हैं और एक दूसरे से पृथक् नहीं होते।

क्या आपका यह कहना है कि इस नामन् से पंच विज्ञान-काय इष्ट है, और जो विज्ञान इस नामन् (और रूप) का आश्रय है वह मनोविज्ञान है? किन्तु आप भूल जाते हैं कि कललादि अवस्था में यह पाँच विज्ञान नहीं होते, और इसलिए उन्हें नामन् की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

पुनः छः प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरन्तर्य नहीं है। वह नामरूप के उपादान का सामर्थ्य नहीं रखते। यह नहीं कहा जा सकता कि वह नामरूप के प्रत्यय हैं।

अतः 'विज्ञान' से सूत्र को अष्टम विज्ञान इष्ट है।

८. आहार

सूत्रवचन है कि सब सत्व आहार-स्थितिक हैं। सूत्रवचन है कि आहार चार हैं:—कवडीकार, स्पर्श, मनःसंचेतन और विज्ञान। मनःसंचेतन छन्दःसहवर्तिनी सास्रव चेतना है, जो मनोज्ञ वस्तु की अभिलाषा करती है। यह चेतना विज्ञान-संप्रयुक्त है, किन्तु इसे आहार की संज्ञा तभी मिलती है जब यह मनोविज्ञान से संप्रयुक्त होती है।

विज्ञानाहार का लक्षण आदान है। यह सास्रव विज्ञान है। पहले तीन आहारों से उपचित होकर यह इन्द्रियों के महाभूतों का पोषण करता है।

इसमें आठों विज्ञान संगृहीत हैं, किन्तु यह अष्टम है जो आहार की संज्ञा प्राप्त करता है। यह एकजातीय है, यह सदा सन्तानात्मक है।

इन चारों को 'आहार' इसलिए कहते हैं कि यह सत्वों के काय और जीवित के आधार हैं। कवडीकार केवल कामधातु में होता है, अन्य दो तीन धातुओं में होते हैं। यह तीन चौथे पर आश्रित हैं। चौथे के रहने पर ही इनका अस्तित्व है।

प्रवृत्ति-विज्ञानों के अतिरिक्त एक और विपाक-विज्ञान है। यह एकजातीय (सदा अव्याकृत), निरन्तर, त्रैधातुक है और काय-जीवित का धारक है। भगवान् जब कहते हैं कि सब सत्व आहार-स्थितिक हैं तब उनका अभिप्राय इस मूल-विज्ञान से है।

४ निरोध-समापत्ति

सूत्र के अनुसार "जो संज्ञावेदित-निरोध-समापत्ति में विहार करता है, उसके काय-वाक्-चित्त-संस्कार का निरोध होता है किन्तु उसका आयु परिक्षीण नहीं होता, उष्म व्युपशान्त नहीं होता, इन्द्रियाँ परिभिन्न नहीं होतीं और विज्ञान काय का परित्याग नहीं करता।" यह विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है। अन्य विज्ञान के आकार औदारिक और चंचल हैं। सूत्र को एक सूक्ष्म, अचल, एकजातीय, सर्वगत विज्ञान इष्ट है जो जीवितादि का आदान करता है।

सर्वास्तिवादी के अनुसार यदि सूत्रवचन है कि विज्ञान काय का परित्याग नहीं करता तो इसका यह कारण है कि समापत्ति से व्युत्थान होने पर विज्ञान की पुनरुत्पत्ति होती है। वह नहीं कहते कि चित्त-संस्कारों का इस समापत्ति में निरोध होता है, क्योंकि चित्त या विज्ञान का उत्पाद और निरोध उसके संस्कारों के साथ होता है। या तो संस्कार काय का त्याग नहीं करते या विज्ञान काय का त्याग करता है।

जीवित, उष्म, इन्द्रिय का वही हाल होगा जो विज्ञान का। अतः जीवितादि के समान विज्ञान काय का त्याग नहीं करता।

यदि वह काय का त्याग करता है तो यह सत्वाख्य नहीं है। कोई कैसे कहेगा कि निरोध-समापत्ति में पुद्गल निवास करता है?

यदि यह काय का त्याग करता है तो कौन इन्द्रिय, जीवित, उष्म का आदान करता है? आदान के अभाव में यह धर्म निरुद्ध होंगे।

यदि यह काय का त्याग करता है तो प्रतिसंधान कैसे होगा? व्युत्थान-चित्त कहाँ से आएगा?

वस्तुतः जब विपाक-विज्ञान काय का परित्याग करता है तो इसकी पुनरुत्पत्ति पुनर्भव के लिए ही होती है।

सौत्रान्तिक (दार्ष्टान्तिक) मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चित्त नहीं होता। यह कहते हैं कि दो धर्म अन्योन्यबीजक हैं—चित्त और सेन्द्रियक काय। चित्त उस काय का बीज है जो आरूप्य-भव के पश्चात् प्रतिसन्धि ग्रहण करता है, और काय (रूप) उस चित्त का बीज है जो अचित्तक समापत्ति के पश्चात् होता है।

यदि समापत्ति की अवस्था में बीजधारक विज्ञान नहीं है तो अबीजक व्युत्थान-चित्त की कैसे उत्पत्ति होगी? हमने यह सिद्ध किया है कि अतीत, अनागत, विप्रयुक्त वस्तुसत् नहीं हैं और रूप वासित नहीं होता तथा बीज का धारक नहीं होता। पुनः विज्ञान अचित्तक अवस्थाओं में रहता है, क्योंकि इन अवस्थाओं में इन्द्रिय-जीवित-उष्म होते हैं, क्योंकि यह अवस्थाएँ सत्वाख्य की अवस्थाएँ हैं। अतः एक विज्ञान है जो काय का त्याग करता है।

अन्य सौत्रान्तिकों का मत है कि निरोध-समापत्ति में मनोविज्ञान होता है। किन्तु इस समापत्ति को अचित्तक कहते हैं। सौत्रान्तिक उत्तर देते हैं कि यह इसलिए है कि पंच-विज्ञान का वहाँ अभाव होता है। हमारा कथन है कि इस दृष्टि से सभी समापत्तियों को 'अचित्तक' कहना चाहिये। पुनः मनोविज्ञान एक प्रवृत्ति-विज्ञान है। इसलिए इस समापत्ति में इसका अभाव होता है जैसे अन्य पाँच का होता है।

यदि इनमें मनोविज्ञान है तो तत्संप्रयुक्त चैत्त भी होना चाहिये। यदि वह है तो सूत्रवचन क्यों है कि वहाँ चित्त-संस्कार (वेदना और संज्ञा) का निरोध होता है? इसे संज्ञा-वेदित निरोध-समापत्ति क्यों कहते हैं?

जब सौत्रान्तिक यह मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चेतना और अन्य चैत्त होते हैं, तो उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि इसमें वेदना और संज्ञा भी होती है। किंतु यह सूत्रवचन के विरुद्ध है। अतः इस समापत्ति में चैत्त नहीं होते।

एक सौत्रान्तिक (भदन्त वसुमित्र) कहते हैं कि समापत्ति में एक सूक्ष्म चित्त होता है किन्तु चैत्त नहीं होते।

यदि चैत्त नहीं है तो चित्त भी नहीं है। यह नियम है कि धर्म नहीं होता जब उसके संस्कारों का अभाव होता है।

यह सौत्रान्तिक मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैत्तों से असहगत मनोविज्ञान होता है। इसके विरोध में हम यह सूत्र उद्धृत करते हैं :—"मनस् और धर्मों के प्रत्ययवश मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिक का संनिपात स्पर्श है। स्पर्श के साथ ही वेदना, संज्ञा और चेतना होती है।" यदि मनोविज्ञान है तो त्रिक-संनिपातवश स्पर्श भी होगा और वेदनादि जो स्पर्श के साथ उत्पन्न होते हैं, वह भी होगी। हम कैसे कह सकते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैत्तों से असहगत मनोविज्ञान होता है? पुनः यदि निरोध-समापत्ति चैत्तों से वियुक्त है तो उसे चैत्त-निरोध-समापत्ति कहना चाहिये।

हमारा सिद्धान्त यह है कि निरोध-समापत्ति में प्रवृत्ति-विज्ञान काय का परित्याग करते हैं, और जब सूत्र कहता है कि विज्ञान काय का त्याग नहीं करता तो उसका अभिप्राय अष्टम

विज्ञान से है। जब योगी निरोध-समापत्ति में समापन्न होता है तब उसका आशय शान्त-शिव आदान-विज्ञान को निरुद्ध करने का नहीं होता।

यही युक्तियाँ असंज्ञि-समापत्ति और असंज्ञिदेवों के लिए हैं।

१०. संक्लेश-व्यवदान

सूत्र में उक्त है कि "चित्त के संक्लेश से सत्व संक्लिष्ट होता है; चित्त के व्यवदान से सत्व विशुद्ध होता है।"

इस लक्षण का चित्त अष्टम विज्ञान ही हो सकता है।

संक्लेश—सांक्लेशिक धर्म तीन प्रकार के हैं :—१. त्रैधातुक क्लेश जो दर्शन-हेय और भावना-हेय हैं; २. अकुशल, कुशल सास्रव कर्म; ३. आक्षेपक कर्म का फल, परिपूरक कर्म का फल।

(१) क्लेश-बीजों के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में क्लेशोत्पत्ति असंभव हो जाती है। जब (क) धातु का भूमि-संचार होता है, जब (ख) अक्लिष्ट चित्त की उत्पत्ति होती है।

(२) कर्म और फल के बीजों के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी, चाहे वह धातु-भूमि-संचार के पश्चात् हो या निरुद्ध स्वभाव के धर्म की उत्पत्ति के पश्चात् हो।

हम जानते हैं कि रूप और अन्य धर्म बीज-धारक नहीं हैं। हम जानते हैं कि अतीत धर्म हेतु नहीं हैं।

किन्तु यदि कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक है, तो त्रैधातुक कर्म और फल उस योगी के लिए क्यों न होंगे, जो निरुपधिशेष-निर्वाण में प्रवेश कर गया है। और क्लेश भी हेतु के बिना उत्पन्न होंगे।

प्रवृत्ति (प्रतीत्य-समुत्पाद, संस्कार) तभी संभव है जब संस्कार-प्रत्ययवश विज्ञान हो। यदि अष्टम विज्ञान न हो तो यह हेतु-प्रत्ययता संभव नहीं है। यदि संस्कार से उत्पन्न विज्ञान 'नामरूप' में संगृहीत विज्ञान होता तो सूत्र में यह उक्त होता कि संस्कार-प्रत्ययवश नामरूप होता है।

स्थिरमति (पृ० ३७–३८) कहते हैं कि आलय-विज्ञान के बिना संसार-प्रवृत्ति युक्त नहीं है। आलय-विज्ञान से अन्य संस्कार-प्रत्यय-विज्ञान युक्त नहीं है। संस्कार-प्रत्यय-विज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति का भी अभाव है। यदि आलय-विज्ञान नहीं है तो संस्कार प्रत्यय-प्रतिसंधि-विज्ञान की कल्पना या संस्कारभावित षड्विज्ञान-काय की कल्पना हो सकती है। किन्तु पहले विकल्प में जो संस्कार प्रातिसन्धिक-विज्ञान के प्रत्यय इष्ट हैं, वह चिरकाल हुआ निरुद्ध हो चुके। जो निरुद्ध है वह असत् है, और जो असत् है उसका प्रत्ययत्व नहीं है। अतः यह युक्त नहीं है कि संस्कार-प्रत्यय प्रतिसन्धि-विज्ञान है। पुनः प्रतिसन्धि के समय नामरूप भी होता है, केवल विज्ञान नहीं होता। किन्तु सूत्र में है कि संस्कार-प्रत्यय विज्ञान

होता है। सूत्रवचन में 'नामरूप' शब्द नहीं है। इसलिए कहना चाहिये कि संस्कार-प्रत्यय नामरूप है, विज्ञान नहीं। और विज्ञान-प्रत्यय नामरूप कहाँ मिलेगा? क्या आप कहेंगे कि उत्तरकाल का नामरूप इष्ट है? तो प्रातिसन्धिक नामरूप से इसमें क्या आत्मातिशय है जो वही विज्ञान-प्रत्यय हो, पूर्व विज्ञान-प्रत्यय न हो, पूर्व संस्कार-प्रत्यय हो, उत्तर न हो? अतः संस्कार-प्रत्यय नामरूप ही हो। प्रतिसन्धि-विज्ञान की कल्पना से क्या लाभ? अतः संस्कार-प्रत्यय प्रतिसन्धि-विज्ञान युक्त नहीं है। संस्कार-परिभावित षड्विज्ञान भी संस्कार-प्रत्यय विज्ञान नहीं है। इसका कारण यह है कि यह विज्ञान विपाक-वासना या निष्यन्द-वासना का अपने में आधान नहीं कर सकते, क्योंकि इनमें कारित्र का निरोध है। यह अनागत में भी नहीं कर सकते, क्योंकि उस समय अनागत उत्पन्न नहीं है, और जो अनुत्पन्न है वह असत् है। उत्पन्न पूर्व भी असत् है, क्योंकि उस समय वह निरुद्ध हो चुका है। पुनः निरोध-समापत्ति आदि अचित्तक अवस्थाओं में संस्कार-परिभावित चित्त की उत्पत्ति संभव नहीं है। विज्ञान-प्रत्यय नामरूप न हो, षडायतन न हो, एवं यावत् जातिप्रत्यय जरा-मरण न हो। इससे संसार-प्रवृत्ति ही न हो। इसलिए अविद्या-प्रत्यय संस्कार, संस्कार-प्रत्यय आलय-विज्ञान और विज्ञान-प्रत्यय प्रतिसन्धि में नामरूप होता है। यह नीति निर्दोष है।

तीन व्यवदान—व्यावदानिक धर्म तीन प्रकार के हैं—लौकिक मार्ग, लोकोत्तर मार्ग क्लेशच्छेद का फल।

इन दो मार्गों के बीजों का धारण करनेवाले अष्टम विज्ञान के अभाव में इन दो मार्गों का पश्चात् उत्पाद असंभव है। क्या आप कहेंगे कि इनकी उत्पत्ति अहेतुक है? तो आपको मानना होगा कि निर्वाण में वही आश्रय पुनरुत्पन्न हो सकता है। यदि अष्टम विज्ञान न हो, जो सर्वदा लोकोत्तर मार्ग के धर्मता-बीज का धारण करता है, तो हम नहीं समझ सकते कि कैसे दर्शन-मार्ग के प्रथम क्षण की उत्पत्ति संभव है। वस्तुतः सास्रव धर्म (लौकिकाग्र धर्म) भिन्न स्वभाव के हैं और इस मार्ग के हेतु नहीं हो सकते। यह मानना कि प्रथम लोकोत्तर-मार्ग अहेतुक है, बौद्ध-धर्म का प्रत्याख्यान करना है। यदि प्रथम की उत्पत्ति नहीं होती तो अन्य भी उत्पन्न नहीं होंगे। अतः तीन यानों के मार्ग और फल का अभाव होगा।

अष्टम के अभाव में क्लेश-प्रहाण फल असंभव होगा।

स्थिरमति कहते हैं कि आलय-विज्ञान के न होनेपर निवृत्ति भी न होगी। कर्म और क्लेश संसार के कारण हैं। इनमें क्लेश प्रधान हैं। क्लेशों के आधिपत्य से कर्म पुनर्भव के आक्षेप में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार क्लेश ही प्रवृत्ति के प्रधानतः मूल हैं। अतः इनके प्रहीण होने पर संसार का विनिवर्तन होता है, अन्यथा नहीं। किन्तु आलय के बिना यह प्रहाण युक्त नहीं है। क्यों युक्त नहीं है? संमुख होनेपर क्लेश का प्रहाण हो सकता है या जब उसकी बीजावस्था होती है। यह इष्ट नहीं है कि संमुख होने पर क्लेश का प्रहाण हो। प्रहाणमार्ग में स्थित सत्वों का क्लेश, जो बीजावस्था ही में है, नहीं प्रहीण होता। क्लेश-बीज अपने प्रतिपक्ष से ही प्रहीण होता है। और प्रतिपक्ष-चित्त भी क्लेश-

बीज से अनुरक्त हुआ है। किन्तु क्लेशबीजानुरक्त चित्त क्लेश का प्रतिपक्ष नहीं हो सकता और क्लेश-बीज के प्रहाण के बिना संसार-निवृत्ति संभव नहीं है। अतः यह मानना होगा कि आलय-विज्ञान अवश्य है जो अन्य विज्ञानों के सहभू क्लेश तथा उपक्लेश से भावित होता है, क्योंकि वह अपने बीज से पुष्टि का आदान करता है। जब वासना वृत्ति का लाभ करती है तब सन्तति के परिणामविशेष से चित्त से ही क्लेश-उपक्लेश प्रवर्तित होते हैं। इनका बीज आलय में व्यवस्थित है। यह तत्सहभू क्लेश-प्रतिपक्ष-मार्ग से अपनीत होता है। इसके अपनीत होने पर इसके आश्रय से क्लेशों की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार सोपधिशेष निर्वाण का लाभ होता है तथा पूर्व कर्म से आक्षिप्त जन्म के निरुद्ध होने पर जब अन्य जन्म का प्रतिसंधान नहीं होता तब निरुपधिशेष निर्वाण होता है। इस प्रकार आलय-विज्ञान के होने पर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

तुलना—इन विविध युक्तियों और आगम के वचनों के आधार पर शुआन-च्वांग सिद्ध करते हैं कि आलय-विज्ञान वस्तुसत् है। बौद्धों के धर्मता-वाद (फेनामनलिज्म) को आत्मा के सदृश किसी वस्तु के आधार की आवश्यकता थी। हम यह भी देखते हैं कि क्षणिक हेतु-फल-भाव का यह अव्युच्छिन्न ओघ प्राचीन प्रतीत्य-समुत्पाद का समुचित रूप था।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि आलय-विज्ञान के अभाव में जो धर्मों के बीजों का धारण करता है, हेतु-फल-भाव असिद्ध हो जायगा। जैसा हमने ऊपर देखा है, क्षणिक होने के कारण विज्ञान निरन्तर व्युच्छिन्न होते हैं और इसलिए वह स्वतः मिलने का सामर्थ्य नहीं रखते, जिसमें वह सूत्र बन सके जो धर्मों के बीजों का धारण करे और इस प्रकार नैरन्तर्य व्यवस्थापित करे। धर्मों को जोड़नेवाली यह कड़ी और यह नैरन्तर्य आलय-विज्ञान से ही हो सकता है।

आलय-विज्ञान के बिना कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी। वस्तुतः आलय के बिना धर्म स्वतः बीज के वहन में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि अतीत धर्म का अस्तित्व नहीं है और वह हेतु नहीं हो सकते। आलय के बिना हेतुप्रत्ययता असंभव है।

यह कहा जायगा कि आलय-विज्ञान का सिद्धान्त बौद्धों के मूल धर्मवाद का प्रत्याख्यान है। नागार्जुन ने सर्वप्रथम इसका प्रत्याख्यान किया था। उन्होंने धर्म-नैरात्म्य, धर्मों की निःस्वभावता का वाद प्रतिष्ठापित किया था। उन्होंने धर्मसंज्ञा का विवेचन किया और कालवाद का निराकरण किया। उन्होंने सिद्ध किया कि धर्म शून्य हैं। शुआन-च्वांग एक दूसरे विचार से आरंभ करते हैं, किन्तु वह भी धर्मवाद के कुछ कम विरुद्ध नहीं हैं। क्षणिक धर्मों और चैत्तों का निरन्तर उत्पाद एक नित्य अधिष्ठान चाहता है। किन्तु बौद्ध-धर्म के मूल विचार इस कल्पना के विरुद्ध हैं।

शुआन-च्वांग आलय-विज्ञान की नितान्त आवश्यकता मानते हैं, क्योंकि इसके बिना सत्व गतियोनि में संसरण नहीं कर सकते। विज्ञानवाद तथा उपनिषद्-वेदान्त-सांख्य-वैशेषिक के विचारों में भेद इतना ही है कि यह मानते हैं कि अधिष्ठान (जिसे यह आत्मा या पुरुष कहते हैं) नित्य और स्थिर द्रव्य है, जब कि विज्ञानवादी मानते हैं कि यह आश्रय उन्हीं धर्मों का समुदाय है जो

अनादि है और जो अनन्तकाल तक उत्पन्न होते रहेंगे। एक उसको अचल पर्वत की तरह देखता है, दूसरा जलौघ की तरह। विज्ञानवादी ने द्रव्य को अपना पुराना स्थान देना चाहा, किन्तु यह सत्य है कि इस द्रव्य को उन्होंने एक जलौघ के सदृश माना। पुनः इनके अनुसार यह आश्रय स्वयं धर्म है और पूर्व धर्मों की वासनाओं से बना है।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि यह आलय-विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है और विज्ञप्ति-क्रिया तथा आलंबन में यह असंविदित है। यह मरण के उत्तर तथा प्रतिसन्धि के पूर्व रहता है। पुनः यह प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त है। यह विज्ञान का आलय जो अनियत और असंविदित है, जो प्रतिसन्धि-काल से विद्यमान है, जो अस्वप्निका निद्रा में ही प्रकट होता है। यह आत्मा का रूपान्तर नहीं है तो क्या है?

यहाँ आलय-विज्ञान के वही लक्षण हैं जो आत्मा के हैं, और इसके सिद्ध करने के लिए शुआन-च्वांग ने जो प्रमाण दिए हैं वही प्रमाण कुछ वेदान्ती ब्रह्मन्-आत्मन् को सिद्ध करने के लिए देंगे। कलल में, सुषुप्ति में, मरणासन्न पुरुष में, नामरूप के अभाव में, जब विज्ञान-विशेष नहीं होते, केवल यह अस्पष्ट, सर्वगत विज्ञान शेष रह जाता है। इसके बिना इन क्षणों में स्थिति नहीं होती। आलय-विज्ञान की सिद्धि इससे भी होती है कि काय-जीवित को धारण करने के लिए विज्ञानाहार की आवश्यकता है। यह आलय एकजातीय, सन्तानात्मक और निरन्तर है। यह काय-जीवित का धारक है। काय के लिए यह जीवितेन्द्रिय के समान है। चित्त का यह आवश्यक धारक है। यह सर्व चित्त और जीवन का आधार है। आलय-विज्ञान और धर्म अन्योन्य हेतु-प्रत्यय हैं और सहभू हैं।

विपाक-विज्ञान का सविभंग विवेचन समाप्त हुआ। अब हम मननाख्य द्वितीय परिणाम का विचार करेंगे।

विज्ञान का द्वितीय परिणाम 'मन'

यह द्वितीय परिणाम है। वसुबन्धु त्रिंशिका में कहते हैं:—"आलय-विज्ञान का आश्रय लेकर और उसको आलंबन बनाकर मनस् का प्रवर्तन होता है। यह मन्यनात्मक है।" यह मनोविज्ञान से भिन्न है। यह मनोविज्ञान का आश्रय है। पुसें कहते हैं कि प्राचीन बौद्ध धर्म में छः विज्ञान माने गए थे :—चक्षुर्विज्ञानादि पंच विज्ञानकाय और मनोविज्ञान जो इन्द्रियार्थ और अतीतादि धर्म का ग्रहण करता है। यह विज्ञान निरन्तर व्युच्छिन्न होते हैं। विज्ञानवाद में एक सातवाँ विज्ञान मनस् और एक आठवाँ आलय अधिक है। मनस् मनोविज्ञान से भिन्न है। मनस् अन्तरिन्द्रिय,अन्तःकरण है, क्योंकि यह केवल आलय को ही आलंबन बनाता है। यह मनस् आलय के समान सन्तान में उत्पन्न होता है। निद्रादि अचित्तकावस्था में इनका अवस्थान होता है। विज्ञानवादी कहता है कि यह सूक्ष्म है। यह मनस् आर्य में अनास्रव तथा अन्य सत्वों में सदा क्लिष्ट होता है। मनस् को प्रायः 'क्लिष्ट मनस्' कहते हैं। इसीके कारण पृथग्जन आर्य नहीं होता यद्यपि उसका मनोविज्ञान आर्य का क्यों न हो।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि मनस् का आश्रय आलय-विज्ञान है। सब चित्त-चैत्तों के तीन आश्रय हैं। १. हेतु-प्रत्यय आश्रय —यह प्रत्यय बीज है जिसे पूर्व धर्म छोड़ते हैं। २. अधिपति-प्रत्यय आश्रय (इसे सहभू-आश्रय भी कहते हैं)। ३. समनन्तर-प्रत्यय आश्रय—यह पूर्व निरुद्ध मनस् है। मनस् में आठ विज्ञान संगृहीत हैं। इसे क्रान्त-प्रत्यय या इन्द्रिय कहते हैं।

हीनयान के लिए यह हेतु-प्रत्ययता पर्याप्त है। प्रत्येक पूर्व धर्म अपर धर्म को उत्पन्न कर निरुद्ध होता है। इसके विपरीत शुआन-च्वांग का मत है कि ऐसी हेतु-प्रत्ययता धर्मों की गति का निरूपण करने के लिए अपर्याप्त है। शुआन-च्वांग यहाँ धर्मपाल को उद्धृत करते हैं, जो कहते हैं कि बीजाश्रय में पूर्व-चरिम नहीं है। यह सिद्ध नहीं है कि बीज के विनाश के पश्चात् अंकुर की उत्पत्ति होती है। और यह ज्ञात है कि अर्चि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू-हेतु हैं। हेतु-फल का सहभाव है। इसलिए एक अधिपति-प्रत्यय आश्रय की आवश्यकता है। सब चित्त-चैत्त इस आश्रय के कारण होते हैं और इसके बिना इनका प्रवर्तन नहीं होता। इसे सहभू-आश्रय या सहभू-इन्द्रिय भी कहते हैं। इसीलिए मनस् का आश्रय केवल बीज नहीं हैं, किन्तु आलय-विज्ञान स्वयं है।

आलय-विज्ञान के लिए प्रश्न है कि क्या इसको सहभू-आश्रय की आवश्यकता नहीं है, और क्या यह स्वयं अवस्थान करता है? अथवा क्या यह कहना चाहिये कि यह अन्य सबका आश्रय है, और पर्याय से अन्य सब इसके आश्रय हैं, और यह आश्रय उन बीजों के रूप में है जिन्हें दूसरे उसमें संगृहीत करते हैं? शुआन-च्वांग कहते हैं कि आलय-विज्ञान, जो सबका मूल आश्रय है, स्वयं अपने आश्रित मनस् और तदाश्रित चित्त-चैत्त (प्रवृत्ति-विज्ञान) का आश्रय लेता है। दूसरे शब्दों में जहाँ एक ओर आलय-विज्ञान निरन्तर विज्ञप्तियों का प्रवर्तन करता है वहाँ यह सदा विज्ञानों के उन्क्षेप (बीज) से जो उसमें संगृहीत होते हैं, पुनः निर्मित होता है। यह कहना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना शुआन-च्वांग का आलय-विज्ञान केवल ब्रह्मन्-आत्मन् होता।

समनन्तर प्रत्यय-आश्रय के अभाव में चित्त-चैत्त उत्पन्न नहीं होते। चैत्त प्रत्यय हैं, क्रान्त (=क्रम) आश्रय नहीं है। किन्तु चित्त आश्रय है। अतः चित्त दोनों है।

मनस् के आश्रय

मनस् के आश्रय के संबन्ध में हम यहाँ विविध मतों का उल्लेख करेंगे।

नन्द के अनुसार मनस् का आश्रय संभूत अष्टम विज्ञान नहीं है, किन्तु अष्टम विज्ञान के बीज हैं। यह मनस् के ही बीज हैं जो अष्टम में पाए जाते हैं, क्योंकि मनस् अव्युच्छिन्न है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि इसकी उत्पत्ति एक संभूत विज्ञान के सहभू-आश्रय से होती है।

धर्मपाल के अनुसार मनस् का आश्रय संभूत अष्टम विज्ञान और अष्टम के बीज दोनों हैं। यद्यपि यह अव्युच्छिन्न है तथापि यह विकारी है, और इसलिए इसे प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं। अतः हमको कहना चाहिये कि संभूत अष्टम इसका सहभू-आश्रय है।

हेतु प्रत्यय-आश्रय—नन्द और जिनपुत्र के अनुसार फलोत्पाद के लिए बीज का अवश्य नाश होता है। किन्तु धर्मपाल कहते हैं कि यह सिद्ध नहीं है कि बीज के विनाश के

पश्चात् अंकुर की उत्पत्ति होती है, और हम जानते हैं कि अग्नि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू-हेतु हैं। वह कहते हैं कि बीज और संभूय धर्म अन्योन्योत्पाद करते हैं और सहभू हैं। इसीलिए योगशास्त्र (५, १२) में हेतु-प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार दिया है—अनित्य धर्म (बीज और संभूय धर्म) अन्योन्य-हेतु हैं, और पूर्व बीज अपर बीज का हेतु है।

इसी प्रकार महायान-संग्रह में कहा है कि 'आलय-विज्ञान और (संभूय) क्लिष्ट धर्म एक दूसरे के हेतु-प्रत्यय हैं। यथा नड़कलाप होते हैं, और एक साथ अवस्थान करते हैं। इसी ग्रन्थ में (१८६, ३) अन्यत्र कहा है कि बीज और फल सहभू हैं।

अतः बीजाश्रय में पूर्व-चरिम नहीं है। अष्टम विज्ञान और उसके चैत्तों का आश्रय उनके बीज हैं।

सहभू-आश्रय या अधिपति-आश्रय—नन्द के मत में पाँच विज्ञान (चक्षुर्विज्ञानादि) का एकमात्र सहभू-आश्रय मनोविज्ञान है, क्योंकि जब पंच-विज्ञान काय का समुदाचार होता है, तब मनोविज्ञान भी अवश्य होता है। जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वह पंच-विज्ञानों के सहभू-आश्रय नहीं हैं, क्योंकि पंचेन्द्रिय बीजमात्र हैं, जैसा कि विंशतिका कारिका (६) में कहा है। इस कारिका का यह अभिप्राय है कि द्वादशायतन की व्यवस्था के लिए और आत्मा में प्रतिपन्न तीर्थिकों का खंडन करने के लिए बुद्ध पाँच विज्ञान के बीजों को इन्द्रिय संज्ञा देते हैं।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का कोई सहभू-आश्रय नहीं है, क्योंकि इनका बड़ा सामर्थ्य है और इस कारण यह संतान में उत्पन्न होते हैं।

मनोविज्ञान की उत्पत्ति उसके सहभू-आश्रय मनस् से है।

स्थिरमति के मत में पाँच विज्ञानों के सदा दो सहभू-आश्रय होते हैं:—पाँच रूपीन्द्रिय और मनोविज्ञान। मनोविज्ञान का सदा एक सहभू-आश्रय होता है और यह मनस् है। जब यह पाँच विज्ञानों का सहभू होता है, तब इसका रूपीन्द्रिय भी आश्रय होता है। मनस् का एक ही सहभू-आश्रय है और यह अष्टम विज्ञान है। अष्टम विज्ञान विकारी नहीं है। यह स्वतः धृत होता है, अतः इसका सहभू-आश्रय नहीं है।

स्थिरमति नन्द के इस मत को नहीं मानते कि रूपीन्द्रिय पाँच विज्ञानों के बीजमात्र हैं। वह कहते हैं कि यदि यह बीज हैं तो यह हेतु-प्रत्यय होंगे, अधिपति-प्रत्यय नहीं। पाँच विज्ञान के बीज कुशल-अकुशल होंगे। अतः पाँच इन्द्रिय एकान्तेन अव्याकृत न होंगी, जैसा शास्त्र कहते हैं। पाँच विज्ञान के बीज 'उपात्त' नहीं हैं। यदि पंचेन्द्रिय बीज हैं तो वह उपात्त न होंगी। यदि पाँच इन्द्रिय पाँच विज्ञानों के बीज हैं तो मनस् को मनोविज्ञान का बीज मानना पड़ेगा। पुनः योगशास्त्र में चक्षुर्विज्ञानादि के तीन आश्रय बताये हैं। यदि चक्षु चक्षुर्विज्ञान का बीज है तो इसके केवल दो आश्रय होंगे।

धर्मपाल इन आक्षेपों को दूर करते हैं। वह कहते हैं कि इन्द्रिय बीज हैं। किन्तु यह वह बीज नहीं हैं जो हेतु-प्रत्यय हैं, जो प्रत्यक्ष पाँच विज्ञानों को जन्म देते हैं, किन्तु यह कर्म-बीज

हैं जो अधिपति-प्रत्यय है, जो पंचविज्ञान काय को अभिनिर्वृत्त करते हैं। किन्तु स्थिरमति इस निरूपण से संतुष्ट नहीं हैं। वह इसका उत्तर देते हैं।

शुभचन्द्र प्रायः स्थिरमति से सहमत हैं। किन्तु वह कहते हैं कि अष्टम विज्ञान का एक सहभू-आश्रय होना चाहिये। वह कहते हैं कि अष्टम विज्ञान भी अन्य विज्ञानों के सदृश एक विज्ञान है। अतः दूसरों की तरह इसका भी एक सहभू-आश्रय होना चाहिये। सप्तम और अष्टम विज्ञान की सदा सहप्रवृत्ति होती है। इसके मानने में क्या आपत्ति है कि यह एक दूसरे के आश्रय हैं?

शुभचन्द्र का मत है कि अष्टम विज्ञान (संभूय-विज्ञान) का सहभू-आश्रय मनस् है। जब कामधातु और रूपधातु में इसकी उत्पत्ति होती है, तो चक्षु आदि रूपीन्द्रिय इसके द्वितीय आश्रय होते हैं। बीज का आश्रय संभूय अष्टम या विपाक-विज्ञान है। जिस क्षण में वह इसमें वासित होते हैं, तब उनका आश्रय वह विज्ञान भी होता है जो वासित करता है।

धर्मपाल के मत में पाँच विज्ञानों के चार सहभू आश्रय हैं:—पंचेन्द्रिय, मनोविज्ञान, सप्तम, अष्टम विज्ञान। इन्द्रिय पंच-विज्ञान के समविषय-आश्रय हैं, क्योंकि यह उन्हीं विषयों का ग्रहण करती हैं। मनोविज्ञान विकल्पाश्रय है। मनोविज्ञान सविकल्पक है, किन्तु अविकल्पक विज्ञानों का आश्रय है। मनस् संक्लेश-व्यवदान-आश्रय है, क्योंकि इसपर इनका संक्लेश अथवा व्यवदान आश्रित है। अष्टम विज्ञान मूलाश्रय है। मनोविज्ञान के दो सहभू-आश्रय हैं—सप्तम और अष्टम विज्ञान। जब पंच-विज्ञान इसके आश्रय होते हैं, तब यह अधिक पटु होता है, किन्तु मनोविज्ञान के अस्तित्व के लिए पंच-विज्ञान आवश्यक नहीं हैं; अतः वह उसके आश्रय नहीं माने जाते। मनस् का केवल एक सहभू-आश्रय है। यह अष्टम विज्ञान है। यथा लंकावतार (१०,२६६) में कहा है—आलय का आश्रय लेकर मन का प्रवर्तन होता है। अन्य प्रवृत्ति-विज्ञानों का प्रवर्तन चित्त (आलय) और मनस् का आश्रय लेकर होता है।

अष्टम विज्ञान का सहभू-आश्रय सप्तम विज्ञान है। योगशास्त्र में (६३, ११) कहा है कि सदा आलय और मनस् एक साथ प्रवर्तित होते हैं। अन्यत्र कहा है कि आलय सदा क्लिष्ट पर आश्रित होता है। 'क्लिष्ट' से 'मनस्' इष्ट है।

यह सत्य है कि शास्त्र में उपदिष्ट है कि तीन अवस्थाओं में (अर्हत् में, निरोध-समापत्ति-काल में, लोकोत्तर-मार्ग में) मनस् का अभाव होता है। किन्तु इसका यह अर्थ है कि इन तीन अवस्थाओं में निर्वृत्त मनस् का अभाव होता है, सप्तम विज्ञान का नहीं। इसी प्रकार चार अवस्थाओं में (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, अवैवर्तिक बोधिसत्व, तथागत) आलय की व्यावृत्ति होती है, किन्तु अष्टम विज्ञान की नहीं होती।

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति काम-रूप धातु में होती है तब पाँच रूपीन्द्रिय भी आश्रय रूप में गृहीत होती हैं। किन्तु अष्टम विज्ञान के लिए आश्रय का यह प्रकार आवश्यक नहीं है।

आलय-विज्ञान के बीज (बीज-विज्ञान) विषय का ग्रहण नहीं करते। अतः बीज आश्रय नहीं हैं।

संप्रयुक्त-धर्म (चैत्त) का वह विज्ञान आश्रय है, जिससे वह सम्प्रयुक्त है। इस विज्ञान के आश्रय भी चैत्त के आश्रय हैं।

समनन्तर-प्रत्यय-आश्रय और क्रान्त-आश्रय—नन्द के मत में पंच-विज्ञान का उत्तरोत्तर क्षण-संतान नहीं होता, क्योंकि इसका आवाहन मनोविज्ञान से होता है। अतः मनोविज्ञान उनका एकमात्र क्रान्त-आश्रय है। क्रान्त-आश्रय मार्ग का उद्घाटन करता है और पथ-प्रदर्शक होता है। (पंच-विज्ञान के समनन्तर मनोविज्ञान होता है। चक्षुर्विज्ञान के क्षण के उत्तर चक्षुर्विज्ञान या श्रोत्र-विज्ञान का क्षण नहीं होता, किन्तु मनोविज्ञान का क्षण होता है।)

मनोविज्ञान का सन्तान होता है। पुनः पंच-विज्ञान इसका आवाहन कर सकते हैं। अतः छः प्रवृत्ति-विज्ञान इसके क्रान्त-आश्रय हैं।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का अपना अपना सन्तान होता है। अन्य विज्ञान इसका आवाहन नहीं करते। अतः सप्तम और अष्टम क्रम से इनके क्रान्त-आश्रय हैं।

स्थिरमति के मत में नन्द का मत यथार्थ है, यदि हम अवशित्व की अवस्था में, विषय से विज्ञान का सहसा संनिपात होने की अवस्था में, एक हीन विषय से संनिपात की अवस्था में, पंच-विज्ञान का विचार करें। किन्तु वशित्व की अवस्था का, निष्यन्द विज्ञान का, उद्भूत-वृत्ति के विषय का हमको विचार करना है।

बुद्ध तथा अन्तिम तीन भूमियों के बोधिसत्व विषय-वशित्व से समन्वागत होते हैं। इनकी इन्द्रियों की क्रिया स्वरसेन होती है। यह पर्येषणा से वियुक्त होता है। एक इन्द्रिय की क्रिया दूसरी इन्द्रिय से संपन्न हो सकती है। क्या आप कहेंगे कि इन अवस्थाओं में पंच-विज्ञान का सन्तान नहीं होता?

विषय के सन्निपात से पंच-विज्ञान की उत्पत्ति होती है। किन्तु निष्यन्द-विज्ञान का आवाहन व्यवसाय मनस्कार के बल से, क्लिष्ट अथवा अनास्रव मनस्कार के बल से होता है। इन पाँच का (मनोविज्ञान के साथ) विषय में समवधान होता है। आप यह कैसे नहीं स्वीकार करते कि एक विज्ञान (पंच-विज्ञान) सन्तान है?

उद्भूत-वृत्ति के विषय में संमुखीभाव से काय और चित्त ध्वस्त हो जाते हैं। उस समय पंच विज्ञानकाय अवश्यमेव सन्तान में उत्पन्न होते हैं।

उष्ण नरक में (अग्नि के उद्भूत-वृत्तित्व से) तथा क्रीड़ा प्रदूषिक देवों में ऐसा होता है। अतः पंच-विज्ञान का क्रान्त-आश्रय छः विज्ञानों में से कोई भी एक विज्ञान हो सकता है। वस्तुतः या तो वह अपनी ही सन्तान बनाते हैं, या अन्य प्रकार के विज्ञान से उनका आवाहन होता है।

मनोविज्ञान—जब पंच-विज्ञान की उत्पत्ति होती है तब मनोविज्ञान का एक क्षण अवश्य वर्तमान होता है। यह क्षण मनोविज्ञान के उत्तर क्षण को आकृष्ट करता है, और उसका उत्पाद करता है। इस द्वितीय क्षण के यह पाँच क्रान्त-आश्रय नहीं हैं। अतः पूर्ववर्ती

मनोविज्ञान इसका क्रान्त-आश्रय है। अचित्तकावस्था आदि में मनोविज्ञान व्युच्छिन्न होता है। जब पश्चात् इसकी पुनः उत्पत्ति होती है, तो सप्तम और अष्टम विज्ञान इसके क्रान्त-आश्रय होते हैं।

नन्द का विचार है कि अचित्तकावस्था के पश्चात् मनोविज्ञान का क्रान्त-आश्रय सभाग अतीत क्षण (=इस अवस्था से पूर्व का मनोविज्ञान) होता है। इस बात को नन्द उन पाँच विज्ञानों के लिए क्यों नहीं स्वीकार करते जिनकी पुनरुत्पत्ति उपच्छेद के पश्चात् होती है? यदि पंच-विज्ञान के लिए यह वाद युक्त नहीं है तो मनोविज्ञान के लिए भी नहीं है।

सप्तम और अष्टम विज्ञान—जब प्रथम बार समता-ज्ञान से संप्रयुक्त मनस् की उत्पत्ति होती है, तब यह प्रत्यक्ष ही मनोविज्ञान के कारण होती है। अतः मनोविज्ञान इसका क्रान्त-आश्रय है। मनस् का क्रान्त-आश्रय मनस् भी है।

इसी प्रकार आदर्श-ज्ञान से संप्रयुक्त अष्टम विमल-विज्ञान की उत्पत्ति सप्तम और षष्ठ विज्ञान के क्रान्त-आश्रय से होती है। अष्टम विज्ञान का क्रान्त-आश्रय अष्टम भी है।

धर्मपाल का मत—स्थिरमति का सिद्धान्त शुद्ध नहीं है।

कौन से धर्म क्रान्त-आश्रय हो सकते हैं? जो धर्म सालंबन हैं, जो अधिपति हैं, जो समनन्तर-प्रत्यय हैं। जिन धर्मों में यह लक्षण होते हैं—अधिपति-चित्त के पूर्व क्षण—वह उत्तर चित्त-चैत्त के प्रति क्रान्त-आश्रय होते हैं, क्योंकि वह मार्ग का उद्घाटन करते हैं; और उनको इस प्रकार आकृष्ट करते हैं कि उनकी उत्पत्ति होती है। यह केवल चित्त हैं, चैत्त या रूपादि नहीं हैं।

एक ही आश्रय में आठ विज्ञान एक साथ प्रवर्तित हो सकते हैं। एक विसभाग विज्ञान दूसरे विसभाग विज्ञान का क्रान्त-आश्रय कैसे हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि यह क्रान्त-आश्रय हो सकता है तो यह परिणाम निकलता है कि विसभाग विज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते। किन्तु यह सर्वास्तिवादिन् का मत है।

एक ही आश्रय में भिन्न विज्ञान—चाहे अल्पसंख्या में या बहुसंख्या में—एक साथ उत्पन्न होते हैं। यदि कोई यह मानता है कि यह एक दूसरे के समनन्तर-प्रत्यय हैं, तो रूप भी रूप का समनन्तर-प्रत्यय होगा। किन्तु शास्त्र कहता है कि केवल चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं।

हमारा सिद्धान्त है कि आठ विज्ञानों में से प्रत्येक स्वजाति के धर्मों का क्रान्त-आश्रय है। चैत्तों के लिए भी यही नियम है।

मनस् का आलंबन

अब हम मनस् के आलंबन का विचार करते हैं। मनस् का आलंबन वही विज्ञान है जो उसका आश्रय है, अर्थात् आलय-विज्ञान है। हम यह भी विचार करेंगे कि आलंबन आलय-विज्ञान का स्वभाव है या यह केवल उसका आकार है, जिन्हें आलय-विज्ञान स्वरसेन धारण करता है (बीज, चैत्त, धर्म)।

नन्द का मत—मनस् का आलंबन आलय-विज्ञान का स्वभाव और तत्संप्रयुक्त चैत्त हैं। निमित्तभाग और आलय-विज्ञान के बीज मनस् के आलंबन नहीं हैं। वस्तुतः योगशास्त्र

के अनुसार मनस् आत्मग्राह और आत्मीयग्राह से सदा सहगत होता है, यह आलय को आत्मवत् और तत्संप्रयुक्त धर्मों को आत्मीय अवधारित करता है। यह धर्म आलय के चैत्त हैं। अतः यह उससे व्यतिरिक्त नहीं हैं। अतः यह व्याख्यान उन वचनों के विरुद्ध नहीं है, जिनके अनुसार मनस् का आलंबन केवल आलय-विज्ञान है।

चित्रभानु का मत—नन्द का मत अयुक्त है। उनके मत के समर्थन में कोई शास्त्रवचन नहीं है। मनस् का आलंबन दर्शनभाग और निमित्तभाग है। मनस् इनको क्रम से आत्म, आत्मीय अवधारित करता है। किन्तु इन दो भागों के स्वभाव आलय में (स्वसंवित्तिभाग में) ही हैं।

स्थिरमति का मत—चित्रभानु का मत भी अयुक्त है। मनस् स्वयं आलय-विज्ञान और उसके बीजों को आलंबन बनाता है। यह आलय को आत्मन् और बीजों को आमीय अवधारित करता है। बीज भूतसद्‌द्रव्य नहीं हैं किन्तु प्रवृत्ति-विज्ञान के सामर्थ्यमात्र हैं।

धर्मपाल का मत—स्थिरमति का व्याख्यान अयुक्त है। एक ओर रूप-बीजादि विज्ञान-स्कंध नहीं हैं। बीज भूतसत् हैं। यदि यह सांवृत असत् हों तो यह हेतु-प्रत्यय न हों। दूसरी ओर मनस् सदा सहज सत्कायदृष्टि से सहगत होता है। यह एकजातीय निरन्तर सन्तान में स्वरसेन प्रवर्तित होता है। क्या मनस् का आत्मा और आत्मीय को अलग अलग अवधारित करना संभव है? हम नहीं देखते कि कैसे एक चित्त के शाश्वत-उच्छेद आदि दो आलंबन और दो ग्राह हो सकते हैं; और मनस् के, जो सदा से एकरस प्रवर्तित होता है, दो उत्तरोत्तर ग्राह नहीं हो सकते। धर्मपाल का निश्चय है कि मनस् का आलंबन केवल दर्शनभाग है, न कि अन्य भाग; क्योंकि यह भाग सदा एकजातीय निरन्तर सन्तान होता है, और नित्य तथा एक प्रतीत होता है, और क्योंकि यह सब धर्मों का (चैत्तों को वर्जित कर) निरन्तर आश्रय है। इसी भाग को मनस् अध्यात्म आत्मा अवधारित करता है। किन्तु शास्त्रवचन है कि मनस् में आत्मीयग्राह होता है। यह एक कठिनाई है। हमारा कहना है कि यह भाष्याक्षेप है।

धर्मपाल के मत का यह परिणाम है कि विज्ञानवाद, जो मूल में अद्वयवाद था, आत्मवाद की ओर झुकता है। आलय-विज्ञान में एक दर्शनभाग को मुख्यतः विशिष्ट करना और यह कहना कि केवल यही आकार, यही भाग, मनस् का आलंबन है; कदाचित् यह कहने के बराबर हो जाता कि आलय-विज्ञान अव्यक्त ब्रह्म भी नहीं, आत्मा के समान है।

जबतक मनस् अपरावृत्त है, तबतक मनस् का आलय-विज्ञान ही एकमात्र आलंबन होता है। जब आश्रय-परावृत्ति होती है, तब अष्टम विज्ञान के अतिरिक्त भूततथता और अन्य धर्म भी इसके आलंबन होते हैं।

मनस् के संप्रयोग

कितने चैत्तों से मनस् संप्रयुक्त होता है? मनस् सदा चार क्लेशों से संप्रयुक्त होता है। यह चार मूल क्लेश इस प्रकार हैं —१. आत्ममोह—यह अविद्या का दूसरा नाम है। यह आत्मा के विषय में मोह और अनात्मा में विप्रतिपत्ति उत्पन्न करता है। २. आत्मदृष्टि—यह आत्मग्राह है, जिससे पुद्गल अनात्म धर्मों को आत्मवत् ग्रहण करता है। ३. आत्ममान—यह गर्व है

जो कल्पित आत्मा का आश्रय लेकर चित्त की उन्नति करता है। ४. आत्मस्नेह—यह आत्मप्रेम है जो आत्मा में अभिष्वंग उत्पन्न करता है।

इन चार क्लेशों के अतिरिक्त अन्य चैत्तों से क्या मनस् का संप्रयोग नहीं होता ?

एक मत के अनुसार मनस् का संप्रयोग केवल नौ चैत्तों से होता है :—चार मूल क्लेश और स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग।

कारिका में उक्त है कि आलय-विज्ञान सर्वत्रग से सहगत है। यह दिखाने के लिए कि मनस् के सर्वत्रग आलय के सर्वत्रगों के सदृश अनिवृताव्याकृत नहीं हैं, कारिका कहती है कि यह उनसे अन्य हैं। चार क्लेश और पाँच सर्वत्रग मनस् से सदा संप्रयुक्त होते हैं। मनस् पाँच विनियत, ग्यारह कुशल, उपक्लेश और चार अनियत से संप्रयुक्त नहीं होता।

दूसरे मत के अनुसार कारिका का यह अर्थ है कि मनस् से सहगत चार क्लेश, अन्य (अर्थात् उपक्लेश) और स्पर्शादि पंच होते हैं।

तीसरे मत के अनुसार यह दस उपक्लेशों से संप्रयुक्त होता है।

धर्मपाल के अनुसार सर्वक्लिष्ट चित्त आठ उपक्लेशों से संप्रयुक्त होता है। अतः मनस स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग, चार मूल क्लेश, आठ उपक्लेश और एक प्रज्ञा से युक्त होता है।

किन वेदनाओं से क्लिष्ट मनस् संप्रयुक्त होता है ? एक मत के अनुसार यह केवल सौमनस्य से संप्रयुक्त होता है, क्योंकि यह आलय को आत्मवत् अवधारित करता है और उसके लिए सौमनस्य और प्रेम का उत्पाद करता है।

दूसरे मत के अनुसार मनस् चार वेदनाओं से यथायोग संप्रयुक्त होता है। दुर्गति में दौर्मनस्य से, मनुष्यगति, कामधातु के देवों की गति में, प्रथम-द्वितीय ध्यानभूमि के देवों में सौमनस्य से, तृतीय ध्यान-भूमि के देवों में सुखावेदना से, इससे ऊर्ध्व उपेक्षा-वेदना से मनस् संप्रयुक्त होता है।

तीसरा मत है जिसके अनुसार मनस् सदा से स्वरसेन एकजातीय प्रवर्तित होता है। यह अविकारी है। अतः यह उन वेदनाओं से संप्रयुक्त नहीं है जो विकारशील हैं। अतः यह केवल उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है। यदि इस विषय में आलय से भेद निर्दिष्ट करना होता तो कारिका में ऐसा उक्त होता।

मनस् के चैत्त निवृताव्याकृत हैं। मनस् से संप्रयुक्त चार क्लेश क्लिष्ट धर्म हैं। यह मार्ग में अन्तराय हैं, अतः यह निवृत हैं। यह न कुशल हैं, न अकुशल, अतः अव्याकृत हैं। मनस् से संप्रयुक्त क्लेशों का आश्रय सूक्ष्म है, उनका प्रवर्तन स्वरसेन होता है। अतः यह अव्याकृत हैं।

मनस् के चैत्तों की कौन-सी भूमि है ?

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति कामधातु में होती है तो मनस् से संप्रयुक्त चैत्त (यथा आत्मदृष्टि) कामाप्त होते हैं, और इसी प्रकार यावत् भवाग्र समझना चाहिये। यह स्वरसेन प्रवर्तित होते हैं, और सदा स्वभूमि के आलय-विज्ञान को आलंबन बनाते हैं। यह अन्य भूमि के धर्मों को कभी आलंबन नहीं बनाते। आलय-विज्ञान में प्रत्येक भूमि के बीज हैं, किन्तु जब

यह किसी भूमि के कर्मों का विपाक होता है तो कहा जाता है कि यह भूमिविशेष में उत्पन्न हुआ है। मनस् आलय में प्रतिबद्ध होता है। अतः इसे आलय-विज्ञानमय कहते हैं। अथवा मनस् उस भूमि के क्लेशों से बद्ध होता है जहाँ आलय की उत्पत्ति होती है। आश्रय-परावृत्ति होने पर मनस् भूमियों से वियुक्त होता है।

यदि यह क्लिष्ट मनस् कुशल-क्लिष्ट-अव्याकृत अवस्थाओं में अविशेष रूप से प्रवर्तित होता है तो उसकी निवृत्ति नहीं होती। यदि मनस् की निवृत्ति नहीं होती तो मोक्ष कहाँ से होगा? मोक्ष का अभाव नहीं है, क्योंकि अर्हत् के क्लिष्ट मनस् नहीं होता। उसने अशेष क्लेश का प्रहाण किया है।

मनस् से संप्रयुक्त क्लेश सहज होते हैं। अतः दर्शन-मार्ग से उनका (बीज रूप में) प्रहाण या उपच्छेद नहीं होता, क्योंकि इनका स्वरसेन उत्पाद होता है। क्लिष्ट होने के कारण यह अहेय भी नहीं हैं।

इन क्लेशों के बीज जो सूक्ष्म हैं तभी प्रहीण होते हैं, जब भावाग्रिक क्लेश-बीज सकृत् प्रहीण होते हैं, तब योगी अर्हत् होता है और क्लिष्ट मनस् का प्रहाण होता है। अर्हत् में वह बोधिसत्व भी संगृहीत हैं, जो दो यानों के अशैक्ष होने के पश्चात् बोधिसत्व के गोत्र में प्रवेश करते हैं।

निरोध-समापत्ति की अवस्था में भी क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। यह अवस्था शान्त और निर्वाण सदृश होती है। अतः क्लिष्ट मनस् उस समय निरुद्ध होता है, किन्तु मनस् के बीजों का विच्छेदक नहीं होता। जब योगी समापत्ति से व्युत्थित होता है तब मनस् का पुनः प्रवर्तन होता है।

लोकोत्तर-मार्ग में भी क्लिष्ट मनस् नहीं होता। लौकिक मार्ग से क्लिष्ट मनस् का प्रवर्तन होता है। किन्तु लोकोत्तर-मार्ग में नैरात्म्य दर्शन होता है जो आत्मग्राह का प्रतिपक्षी है। उस अवस्था में क्लिष्ट मनस् का प्रवर्तन नहीं हो सकता। अतः क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। उससे व्युत्थित होनेपर क्लिष्ट मनस् का पुनः उत्पाद होता है।

अक्लिष्ट मनस्

स्थिरमति के अनुसार मनस् अथवा सप्तम विज्ञान सदा क्लिष्ट होता है। जब क्लेशावरण का अभाव होता है तब मनस् नहीं होता। वह अपने समर्थन में इन वचनों को उद्धृत करते हैं :—१. मनस् सदा चार क्लेशों से संप्रयुक्त होता है (विख्यापन, १), २. मनस् विज्ञान-संक्लेश का आश्रय है (संग्रह, १), ३. मनस् का तीन अवस्थाओं में अभाव होता है।

धर्मपाल कहते हैं कि जब मनस् क्लिष्ट नहीं रहता तब वह अपने स्वभाव में (सप्तम विज्ञान) अवस्थान करता है। वह कहते हैं कि स्थिरमति का मत आगम और युक्ति के विरुद्ध है।

१.सूत्रवचन है कि एक लोकोत्तर मनस् है।

२. अक्लिष्ट और क्लिष्ट मनोविज्ञान का एक सहभू और विशेष आश्रय होना चाहिये।

३. योगशास्त्र में कहा है कि आलय-विज्ञान का सदा एक विज्ञान के साथ प्रवर्तन होता है। यह विज्ञान मनस् है। यदि निरोध-समापत्ति में मनस् या सप्तम विज्ञान निरुद्ध होता है (स्थिरमति) तो योगशास्त्र का यह वचन अयथार्थ होगा, क्योंकि उस अवस्था में आलय-विज्ञान होगा और उसके साथ दूसरा विज्ञान (मनस्) न होगा।

४. योगशास्त्र में कहा है कि क्लिष्ट मनस् अर्हत् की अवस्था में नहीं होता। किन्तु इससे यह परिणाम न निकालिये कि इस अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव होता है। शास्त्र यह भी कहता है कि अर्हत् की अवस्था में आलय-विज्ञान का त्याग होता है, किन्तु आप मानते हैं कि अर्हत् में अष्टम विज्ञान होता है।

५. अलंकार और संग्रह में उक्त है कि सप्तम विज्ञान की परावृत्ति से समता-ज्ञान की प्राप्ति होती है। अन्य ज्ञानों के समान इस ज्ञान का भी एक तत्संप्रयुक्त अनास्रव विज्ञान आश्रय होना चाहिये। आश्रय के बिना आश्रित चैत्त नहीं होता। अतः अनास्रव सप्तम विज्ञान के अभाव में समता-ज्ञान का अभाव होगा। वस्तुतः यह नहीं माना जा सकता कि यह ज्ञान प्रथम छः विज्ञानों पर आश्रित है, क्योंकि यह आदर्श ज्ञान की तरह निरन्तर रहता है।

६.यदि अशैक्ष की अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव है तो अष्टम विज्ञान का कोई सहभू आश्रय नहीं होगा। किन्तु विज्ञान होने से इसका ऐसा आश्रय होना चाहिये।

७. आप यह मानते हैं कि जिस सत्व ने पुद्गल-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है, उसमें आत्मग्राह सदा रहता है। किन्तु जबतक धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं होता, तबतक धर्मग्राह भी रहता है। यदि सप्तम विज्ञान निरुद्ध होता है तो इस धर्मग्राह का कौन-सा विज्ञान आश्रय होगा? क्या अष्टम विज्ञान होगा? यह असंभव है क्योंकि अष्टम विज्ञान प्रज्ञा से रहित है। हमारा निश्चय है कि यानद्वय के आर्यों में मनस् का सदा प्रवर्तन होता है, क्योंकि उन्होंने धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है।

८. योगशास्त्र (५१, संग्रह) एक सप्तम विज्ञान के अस्तित्व की आवश्यकता को व्यवस्थित करता है, जो कि षष्ठ का आश्रय है। यदि लोकोत्तर-मार्ग के उत्पाद के समय या अशैक्ष की अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव है, तो योगशास्त्र की युक्ति में द्विविध दोष होगा।

अतः पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं में एक अक्लिष्ट मनस् रहता है। जिन वचनों में यह कहा गया है कि वहाँ मनस् का अभाव है, वह क्लिष्ट मनस् का ही विचार करते हैं। यथा आलय-विज्ञान का चार अवस्थाओं में अभाव होता है, किन्तु अष्टम विज्ञान का वहां अभाव नहीं होता।

मनस् और सप्तम विज्ञान के तीन विशेष हैं। यह पुद्गल-दृष्टि से या धर्मदृष्टि से या समता-ज्ञान से संप्रयुक्त होता है।

जब पुद्गल-दृष्टि होती है तब धर्म-दृष्टि होती है, क्योंकि आत्मग्राह धर्मग्राह पर आश्रित है।

यानद्वय के आर्य आत्मग्राह का विच्छेद करते हैं, किन्तु यह धर्मनैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं करते। तथागत का मनस् सदा समता-ज्ञान से संप्रयुक्त होता है। बोधिसत्व का मनस् भी तब समता-ज्ञान से संप्रयुक्त होता है, जब वह दर्शन-मार्ग का अभ्यास करते हैं या जब वह भावना-मार्ग में धर्म-शून्यता-ज्ञान या उसके फल का अभ्यास करते हैं।

मनस् की संज्ञा

मनस् मन्यनात्मक है। लंकावतार में कहा है—"मनसा मन्यते पुनः" [१०।४००]। सर्वास्तिवादिन् कहते हैं कि अतीत मनोविज्ञान की संज्ञा मनस् है। षष्ठ आश्रय की प्रसिद्धि के लिए ऐसा है। उनके अनुसार जब वह प्रवृत्त होता है तब उसे मनोविज्ञान कहते हैं। किन्तु यह कैसे माना जा सकता है कि अतीत और क्रियाहीन होनेपर इसे मनस् की संज्ञा दी जा सकती है?

अतः छः विज्ञानों से अन्य एक सप्तम विज्ञान है जिसकी सदा मन्यना क्रिया होती है, और जिसे 'मनस्' कहते हैं।

मनस् के दो कार्य हैं। यह मन्यना करता है, और आश्रय का काम देता है।

विज्ञान का तृतीय परिणाम—षड् विज्ञान

अब हम विज्ञान के तृतीय परिणाम का वर्णन करेंगे। यह षड्विध है। यह विषय की उपलब्धि है। विषय छः प्रकार के हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, धर्म। इनकी उपलब्धि विज्ञान कहलाती है। यह छः हैं—चक्षुर्विज्ञानादि। यह षड्विज्ञान (विज्ञानकाय) मनस् पर आश्रित हैं। यह उनका समनन्तर प्रत्यय है। किन्तु केवल षष्ठ विज्ञान को ही मनोविज्ञान कहते हैं, क्योंकि मनस् इसका विशेष आश्रय है। इसी प्रकार अन्य विज्ञानों को उनके विशेष आश्रय के अनुसार चक्षुर्विज्ञानादि कहते हैं।

यह विज्ञान कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं। अलोभ-अद्वेष-अमोह से संप्रयुक्त कुशल विज्ञान हैं। लोभ-द्वेष-मोह से संप्रयुक्त अकुशल हैं। जो न कुशल हैं, न अकुशल, वह अव्याकृत हैं। इन्हें 'अद्वया', 'अनुभया' भी कहते हैं।

षड्विज्ञान का चैतसिकों से संप्रयोग होता है। षड्विज्ञान सर्वत्रग, विनियत, कुशल चैत्तों से, क्लेश और उपक्लेश से, अनियतों से, तीन वेदनाओं से संप्रयुक्त होते हैं।

एक प्रश्न भूततथता का है। यह दिखाता है कि विज्ञानवाद माध्यमिक से कितनी दूर चला गया है। इसका समानार्थक दूसरा शब्द धर्मता (धर्मों का स्वभाव) है। किन्तु क्योंकि वस्तुतः धर्मों का स्वभाव शून्य (वस्तु शून्य) है, इसलिए तथता का समानवाची दूसरा शब्द शून्यता है। यह असंस्कृत और नित्सत्त्व है। नागार्जुन ने इसका व्याख्यान किया है।

किन्तु स्थिरमति इसके कहने में संकोच नहीं करते कि यह खपुष्प के तुल्य प्रज्ञप्तिसत् है। शुआन-च्वांग इसका विरोध करते हैं। वह कहते हैं कि इस विकल्प में कोई भी परमार्थ परमार्थ-सत्य न होगा। तब किसके विपक्ष में कहेंगे कि संवृति-सत्य है? तब किसी का निर्वाण कैसे होगा?

इस प्रकार निभृत-भाव से विज्ञानवाद परमार्थ-सत्य हो गया।

विज्ञप्तिमात्रता

मूल, मनस् और षड्विज्ञान इन तीन विज्ञान-परिणामों की परीक्षा कर शुआन-च्वांग विज्ञप्ति-मात्रता का निरूपण करते हैं। हम पूर्व कह चुके हैं कि आत्मा (पुद्गल) और धर्म विज्ञान-परिणाम के प्रज्ञप्तिमात्र हैं। यह परिणाम दर्शनभाग और निमित्तभाग के आकार में होता है। हमारी प्रतिज्ञा है कि चित्त एक है, किन्तु यह ग्राह्य-ग्राहक के रूप में आभासित होता है। अथवा दर्शन और निमित्त के रूप में आभासित होता है। दूसरे शब्दों में "विज्ञान का परिणाम, मन्यना करनेवाला और जिसकी मन्यना होती है, जो विचारता है और जो विचारा जाता है, है। इससे यह अनुगत होता है कि आत्मा और धर्म नहीं हैं। अतः जो कुछ है, वह विज्ञप्तिमात्रता है" (शुआन-च्वांग)।

वसुबन्धु त्रिंशिका में कहते हैं—

> विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।
> तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्॥ (कारिका १७)

विज्ञप्तिमात्रता की विभिन्न व्याख्यायें

स्थिरमति (पृ० ५३५–३६) इस कारिका का भिन्न अर्थ करते हैं—"विज्ञान का परिणाम विकल्प है। इस विकल्प से जो विकल्पित होता है वह नहीं है। अतः यह सब विज्ञप्तिमात्र है।" स्थिरमति इस कारिका के भाष्य में कहते हैं कि त्रिविध विज्ञान-परिणाम विकल्प है: त्रैधातुक चित्त-चैत्त (अनास्रव चित्त-चैत्त के विपक्ष में) जो अध्यारोपित का आकार ग्रहण करते हैं, 'विकल्प' कहलाते हैं। यथा (मध्यान्तविभाग, १, १०) कहा है—अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः। यह विकल्प त्रिविध है:—ससंप्रयोग आलय-विज्ञान क्लिष्ट मनस्, प्रवृत्ति-विज्ञान। इस त्रिविध विकल्प से जो विकल्पित होता है (यद् विकल्प्यते) वह नहीं है। भाजनलोक, आत्मा, स्कन्ध-धातु-आयतन, रूप शब्दादिक विकल्प से विकल्पित होते हैं। यह वस्तु नहीं हैं। अतः यह विज्ञान-परिणाम विकल्प कहलाता है, क्योंकि इसका आलंबन असत् है। हम कैसे जानते हैं कि इसका आलंबन असत् है? जो जिसका कारण है वह उसके समग्र और अविरुद्ध होनेपर उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं। किन्तु माया, गन्धर्व-नगर, स्वप्न, तिमिरादि में विज्ञान बिना आलंबन के ही उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान का उत्पाद आलंबन से प्रतिबद्ध होता, तो अर्थाभाव से मायादि में विज्ञान न उत्पन्न होता। इसलिए पूर्वनिरुद्ध तज्जातीय विज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है, बाह्य अर्थ से नहीं। बाह्यार्थ के न होने पर भी यह होता है। पुनः एक ही अर्थ में परस्परविरुद्ध प्रतिपत्ति भी देखी गई है।

और एक का परस्पर विरुद्ध अनेकात्मकत्व युक्त नहीं है। अतः यह मानना चाहिये कि विकल्प का आलंबन असत् है। यह समारोपान्त का परिहार है। अब हम अपवादान्त का परिहार करते हैं। कारिका कहती है—'तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्।' अर्थात् क्योंकि विषय के अभाव में परिणामात्मक विकल्प से विकल्पित (विकल्प्यते) नहीं है इसलिए सब विज्ञप्तिमात्र है। 'सर्व' से आशय त्रैधातुक और असंस्कृत से है (पृ० ३६)। विज्ञप्ति से अन्य कर्ता या करण नहीं है।

स्थिरमति का यह अर्थ इस आधार पर है कि विकल्प के गोचर का अस्तित्व नहीं है। विकल्प का विषय असत् है। इस प्रकार विज्ञान की लीला स्वप्न-मायावत् है। हम देखते हैं कि विज्ञानवाद का यह विवेचन अब भी नागार्जुन की शून्यता के लगभग अनुकूल है।

धर्मपाल का विज्ञानवाद इसके विपरीत स्वतन्त्र होने लगता है। अब वाक्य यह हो जाता है कि विज्ञान या विज्ञप्ति में सब कुछ है। धर्मपाल कहते हैं कि दर्शनभाग और निमित्तभाग के आभास में विज्ञान का परिणाम होता है। विज्ञान से तात्पर्य तीन विज्ञानों के अतिरिक्त (आलय-क्लिष्ट-मनस्, षड्विज्ञान) उनके चैत्त से भी है। पहले भाग को 'विकल्प' कहते हैं, और दूसरे भाग को 'यद् विकल्प्यते'। यह दोनों भाग परतन्त्र हैं। अतः विज्ञान से परिणत इन दो भागों के बाहर आत्मा और धर्म नहीं हैं। वस्तुतः ग्राहक-ग्राह्य, विकल्प-विकल्पित के बाहर कुछ नहीं है। इन दो भागों के बाहर कुछ नहीं है जो भूतद्रव्य हो। अतः सब धर्म संस्कृत—असंस्कृत, रूपादि वस्तुसत् और प्रज्ञप्तिसत्—विज्ञान के बाहर नहीं हैं। सामासिक रूप से 'विज्ञप्तिमात्रता' का अर्थ यह है कि हम उस सब का प्रतिषेध करते हैं, जो विज्ञान के बाहर है (परिकल्पित—आत्मा और धर्म)। किन्तु हम चैत्त, भागद्वय, रूप और तथता का प्रतिषेध नहीं करते, जहाँ तक वह विज्ञान के बाहर नहीं हैं।

नन्द के मत में केवल दो भाग हैं। दर्शनभाग निमित्तभाग में परिणत होता है। यह निमित्तभाग परतन्त्र है, और बहिःस्थित विषय के रूप में अवभासित होता है। नन्द संवित्तिभाग नहीं मानते। उनके लिए परिकल्प (विकल्प) और परिकल्पित अर्थात् ग्राहक और ग्राह्य निमित्तभाग के संबन्ध में दो मिथ्याग्राह हैं। वस्तुतः जब कोई दर्शनभाग को आत्मवत् धर्मवत् अवधारित करता है, तब यह भी निमित्तभाग के संबन्ध में एक ग्राह ही है। यह ग्राह बिना आलंबन के नहीं है।

क्योंकि विकल्प निमित्तभाग का ग्रहण बहिःस्थित आत्मधर्म के आकार में करता है, इसलिए गृहीत एवं विकल्पित आत्मधर्म का स्वभाव नहीं है।

अतः सब विज्ञप्तिमात्र हैं। अभूत-परिकल्प का अस्तित्व सब मानते हैं।

पुनः मात्र शब्द से विज्ञान के अव्यतिरिक्त धर्मों का प्रतिषेध नहीं होता। अतः तथता, चैत्तादि वस्तुसत् हैं।

शुआन-च्वांग का इस कारिका का अर्थ ऊपर दिया गया है। वह नागार्जुन के शून्यतावाद के समीपवर्ती एक पुराने वाद का उपयोग स्वतन्त्र विज्ञानवाद के लिए करते हैं। यामागुँची का भी यही मत है।

शुआन-च्वांग अपने वाद की पुष्टि में आगम से वचन उद्धृत करते हैं, और युक्तियाँ देते हैं। यहाँ हम आगम के कुछ वाक्य देते हैं। दशभूमक सूत्र में उक्त है:—चित्तमात्रमिदं यदिदं त्रैधातुकम्। पुनः सन्धिनिर्मोचनसूत्र में भगवान् कहते हैं :—विज्ञान का आलंबन विज्ञान-प्रतिभास मात्र है। इस सूत्र में मैत्रेय भगवान् से पूछते हैं कि समाधिगोचर बिम्ब चित्त से भिन्न या अभिन्न है।। भगवान् प्रश्न का विसर्जन करते हैं कि वह भिन्न नहीं है, क्योंकि यह बिम्ब विज्ञानमात्र है। भगवान् आगे कहते हैं कि विज्ञान का आलंबन विज्ञान का प्रतिभासमात्र है। मैत्रेय पूछते हैं कि यदि समाधिगोचर बिम्ब चित्त से भिन्न नहीं है, तो चित्त कैसे उसी चित्त का ग्रहण करने के लिए लौटेगा। भगवान् उत्तर देते है कि कोई धर्म अन्य धर्म का ग्रहण नहीं करता, किन्तु जब विज्ञान उत्पन्न होता है तब वह उस धर्म के आकार का उत्पन्न होता है और लोग कहते हैं कि यह उस धर्म को ग्रहण करता है।

लंकावतार में है कि धर्म चित्त-व्यतिरिक्त नहीं हैं। घनव्यूह में है-चित्त, मनस्, विज्ञान (षड्विज्ञान) का आलंबन भिन्न-स्वभाव नहीं है। इसीलिए मैं कहता हूं कि सब (संस्कृत और और असंस्कृत) विज्ञानमात्र हैं; विज्ञान व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है।

आगम और युक्ति सिद्ध करते हैं कि आत्मा और धर्म असत् हैं। तथता या धर्मों का परिनिष्पन्न स्वभाव (शून्यता) और विज्ञान (परतन्त्रस्वभाव) असत् नहीं है। आत्म-धर्म सत्व से बाह्य हैं। शून्यता और विज्ञान असत्व से बाह्य हैं। यह मध्यमा प्रतिपत् है। इसीलिए मैत्रेय मध्यान्तविभाग में कहते हैं:—अभूत-परिकल्प है। इसमें परमार्थतः द्वय (ग्राह्य-ग्राहक) नहीं है। इस अभूत-परिकल्प में शून्यता है। यह अभूत-परिकल्प शून्यता में है। अतः मैं कहता हूं कि धर्म न शून्य है, न अशून्य। वस्तुतः असत्व है, सत्व है। यह मध्यमा-प्रतिपत् है।

इसमें एकान्तेन शून्यता या अशून्यता में निष्ठा नहीं है। अभूतपरिकल्पात्मक संस्कृत शून्य नहीं है। पुनः वह ग्राह्यग्राहकभाव की रहितता होने से शून्य है। सर्वास्तित्व और सर्व-नास्तित्व इन दोनों अन्तों का यह मध्य है।

पूसें किसी टीका से देते हैं—सास्रव-चित्त या त्रैधातुक-चित्त (अनास्रव-ज्ञान का प्रतिपक्ष) जो अभूत-परिकल्प है, है। किन्तु द्वय—ग्राह्य-ग्राहक है आत्म-धर्म—जो समारोपित हैं, नहीं है। सास्रव चित्त में शून्यता है अर्थात् इस चित्त में द्वयाभाव है। शून्यता में सास्रव चित्त है। इस प्रकार जो द्वय-विनिर्मुक्त है उसमें द्वय का समारोप होता है। अतः धर्म शून्य नहीं हैं क्योंकि यह शून्य और अभूतपरिकल्प है। वह अशून्य नहीं है, क्योंकि वहाँ द्वय (ग्राह्य और ग्राहक, आत्मन् और धर्म) का अभाव है। जब अभूत-परिकल्प है, द्वय नहीं है। अभूत-परिकल्प में शून्यता है, और शून्यता में अभूत-परिकल्प है; तब यही भावविवेक की परमार्थतः शून्यता और हीनयान के परमार्थतः सत्व के बीच मध्यमा प्रतिपत् है। भावविवेक के विरुद्ध हम संवृति और परमार्थ इन दो सत्यों को मानते हैं, और हीनयान के विरुद्ध हम ग्राह्य-ग्राहक का प्रतिषेध करते हैं। हम देखते हैं कि किस प्रकार सूक्ष्म रूप से हल्के हल्के

अद्वय विज्ञानवाद नागार्जुन के शून्यतावाद से पृथक् होता है, किन्तु प्रकाश्य रूप से स्वीकार नहीं करता।

विज्ञप्तिमात्रता पर कुछ आक्षेप और उसके उत्तर

यदि बाह्यार्थ केवल आध्यात्मिक विज्ञान है जो बाह्यार्थ के रूप में प्रतिभासित होता है, तो आप १. अर्थ के काल-देश-नियम का क्या व्याख्यान करते हैं (देश-विशेष में ही पर्वत दिखाई पड़ता है); २. सन्तान के अनियम और क्रिया के अनियम का क्या व्याख्यान करते हैं (सब लोग एक ही वस्तु देखते हैं, सब लोग जल पीते हैं)? शुआन-च्वांग एक शब्द में उत्तर देते हैं कि स्वप्न में जो दृश्य हम देखते हैं, उनका भी यही है।

विज्ञानवाद और शून्यता के संबन्ध के विषय में एक दूसरा प्रश्न है। क्या विज्ञप्तिमात्रता स्वयं शून्य नहीं है? शुआन-च्वांग कहते हैं—नहीं, क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता (अग्राह्यत्वात्)। इसीलिए धर्मों का ग्रहण वस्तुसत् के रूप में होता है (धर्मग्राह का विपर्यास), यद्यपि परमार्थतः वह केवल धर्मशून्यता है। हम आरोपित धर्मों के असत्व से धर्मशून्यता मानते हैं न कि अवाच्य और परिकल्पित रहित विज्ञप्तिमात्रता के असत्व के कारण। विज्ञप्तिमात्रता को धर्मशून्यता कहते हैं, क्योंकि यह परिकल्पित नहीं है।

विंशतिका (कारिका, १७) की वृत्ति से तुलना कीजिये:—कोई धर्मनैरात्म्य में प्रवेश करता है, जब उसको यह उपलब्धि होती है कि यह विज्ञप्ति ही है जो रूपादि धर्मों के आकार में प्रतिभासित होती है। किन्तु आक्षेप करनेवाला कहता है कि यदि सर्वथा धर्म नहीं है तो क्या विज्ञप्तिमात्र भी नहीं है? विज्ञानवादी उत्तर देता है कि हम यह नहीं कहते कि धर्मों के परमार्थतः असत्व की प्रतिज्ञा करने से धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश होता है, किन्तु उनके परिकल्पित स्वभाव का प्रतिषेध करने से होता है। उनका नैरात्म्य है, क्योंकि उनका ग्राह्यग्राहकभाव नहीं है। इस आत्मा से उनका नैरात्म्य है (तेन आत्मना तेषां नैरात्म्यम्)। केवल मूढ़ पुरुष उनका ग्राह्य-ग्राहक भाव मानते हैं। किन्तु जो अनभिलाप्य आत्मा बुद्धों का विषय है, उसका नैरात्म्य नहीं है (वृत्ति, पृ० ६)।

संवृति-सत्य के विषय में भी माध्यमिक और विज्ञानवाद में अन्तर होने लगता है। माध्यमिकों के अनुसार संवृति-सत्य अर्थात् धर्मों का आभास जैसा कि इन्द्रियों को उपलब्ध होता है, अनधिष्ठान है। शून्य धर्मों से शून्य धर्म प्रभूत होते हैं। इसके विपरीत विज्ञानवादी के लिए संवृति धर्मों का अस्तित्व धर्मता-तथता-विशेष के कारण है, यद्यपि साथ ही साथ वह शून्यता-विशेष-वश शून्य हैं।

एक दूसरा आक्षेप है। यदि रूपायतन विज्ञान-स्वभाव है तो विज्ञान रूप के लक्षणों के साथ क्यों प्रतिभासित होता है, और क्यों पर्वतादि कठिन और सभाग-सन्तान का रूप-धारण करते हैं। इसका उत्तर यह है कि रूप विपर्यस्त संज्ञा का भी स्वभाव है। तथाकथित रूप को द्रव्यसत् के रूप में गृहीत करने से विज्ञान विपर्यास का उत्पाद करता है, और स्वरसेन भ्रान्ति उत्पन्न करता है और यही उसकी मुख्य वृत्ति है।

चोदक पुनः कहता है कि क्या आप प्रत्यक्ष विषय का प्रतिषेध करते हैं? उत्तर है कि जिस क्षण में रूप-शब्दार्थ की उपलब्धि होती है उस क्षण में यह बाह्यवत् गृहीत नहीं होता। पश्चात् मनोविज्ञान (मनोविकल्प) बाह्य-संज्ञा को विपर्यासितः उत्पन्न करता है। अतः जो प्रत्यक्ष का विषय होता है वह विज्ञान का निमित्तभाग है। यह निमित्त-भाग विज्ञान का परिणाममात्र है। अतः कहा जाता है कि यह है और विज्ञान (दर्शनभाग) भी है, जो निमित्तभाग की उपलब्धि करता है। किन्तु यह सब केवल विकल्पधर्म हैं। संक्षेप में अर्थ रूप नहीं है, किन्तु रूपाभास है। यह बहिःस्थित नहीं है, किन्तु बाह्याभास है।

एक और आक्षेप है:—"आप कहते हैं कि जो रूप हम जाग्रत अवस्था में देखते हैं वह विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है, यथा जो रूप स्वप्न में देखा जाता है। किन्तु स्वप्न से जागकर हम जानते हैं कि स्वप्न में देखा रूप केवल विज्ञान है, फिर जागते हुए हम क्यों नहीं जानते कि जाग्रत अवस्था में देखा हुआ रूप विज्ञानमात्र है? (शंकर, २।२।२९)

इसका उत्तर यह है कि जब हम स्वप्न देखते हैं हमको ज्ञात नहीं हो सकता। जागने पर हमको स्मृति होती है कि हमने स्वप्न देखा है और हमको उसका स्वभाव ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो रूप जाग्रत अवस्था में देखते हैं उसका भी यही हाल है। अभीतक हमारी सच्ची जागृति नहीं हुई है। जब बोधि का अधिगम होगा तब संसार-विषयात्मक स्वप्न की स्मृति होगी और उनका यथार्थ स्वभाव ज्ञात होगा। इसके पूर्व हमारी स्वप्नावस्था है। इसीलिए भगवान् संसार की दीर्घरात्रि का उल्लेख करते हैं (विंशतिका, कारिका १७ ख-ग)। यह विचार बर्कले के अति समीप है।

इस मत में (अब्सोलुट एकास्मिज्म) वस्तु-ग्रहण के सदृश विज्ञप्ति का क्रियात्मक आकार नहीं है। विज्ञप्ति मायावत् है। जब एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब यह विज्ञान वस्तुतः सक्रिय नहीं होता। यह बाह्य धर्मों का प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं करता, जिस प्रकार हाथ या चिमटी से कोई वस्तु पकड़ी जाती है। इसकी अभिव्यक्ति उस प्रकार नहीं होती, जैसे सूर्य अपने प्रकाश को फैलाता है। किन्तु यह आदर्श के तुल्य है, और यह बाह्यार्थ के सदृश अवभासित होता है। संक्षेप में कोई धर्म नहीं है जो दूसरे धर्म का (चित्त से बहिःस्थित धर्म का) ग्रहण करता है। किन्तु जब विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब यह तत्सदृश आभासित होता है (सन्धिनिर्मोचन)।

किन्तु एक आक्षेप यह है कि विज्ञप्तिमात्रता का पर-चित्त-ज्ञान से कैसे सामंजस्य होता है। अथवा इसी को दूसरे प्रकार से यों कह सकते हैं कि विज्ञप्तिमात्रता में मेरा चित्त या तथा-कथित मेरी आत्मा का चित्त तथाकथित पर-चित्त को कैसे नहीं जानता? इसका जो उत्तर दिया जाता है, वह कठिनाइयों से खाली नहीं है। किन्तु इसकी युक्ति कुछ कम अपूर्व नहीं है।

हम अपने चित्त को पर-चित्त की अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं जानते। क्यों? क्योंकि यह दो ज्ञान अज्ञान से आच्छादित होने के कारण स्वविषय की अनिर्वचनीयता को

नहीं जान सकते, यथा बुद्ध उसे जान सकते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यों में इस विषय की वितथ-प्रतिभासिता होती है, क्योंकि उनमें अभी ग्राह्य-ग्राहक भाव का उपच्छेद नहीं हुआ है।

पुनः शुआन-च्वांग इस स्थान पर इसका प्रयत्न करते हैं कि उनका विज्ञानवाद शुद्ध आत्मवाद में पतित न हो। वह कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्रतावाद की यह शिक्षा नहीं है कि केवल एक विज्ञान है, केवल मेरा विज्ञान है। यदि केवल मेरा विज्ञान है तो दस दिशाओं के विविध पृथग्जन-आर्य, कुशल-अकुशल, हेतु-फल सब तिरोहित हो जाते हैं। कौन बुद्ध मुझे उपदेश देता है और किसको बुद्ध उपदेश देते हैं? किस धर्म का वह उपदेश करते हैं और किस फल के अधिगम के लिए?

किन्तु विज्ञानवाद की यह शिक्षा कभी नहीं रही है। विज्ञप्ति से प्रत्येक सत्व के आठ विज्ञान समझना चाहिये। यह विज्ञानस्वभाव हैं। इनके अतिरिक्त विज्ञप्ति से विज्ञान-संप्रयुक्त छः प्रकार के चैत्त, दो भाग—दर्शन और निमित्त—जो विज्ञान और चैत्त के परिणाम हैं, विप्रयुक्त विज्ञान जो चैत्त और रूप के आकार विशेष हैं, और तथता जो शून्यता को प्रकट करती है, और जो पूर्व चार प्रकार का यथार्थ स्वभाव है, समझना चाहिये। इसी अर्थ में सर्व धर्म विज्ञान से भिन्न नहीं हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि सर्व धर्म विज्ञप्ति हैं और मात्र शब्द इसलिए अधिक है, जिसमें विज्ञान से भिन्न रूपादि द्रव्यसत् के अस्तित्व का प्रतिषेध किया जाय।

जो विज्ञप्तिमात्रता की शिक्षा को यथार्थ जानता है, वह विपर्यास से रहित हो पुण्यसंभार और ज्ञानसंभार के लिए यत्नशील होता है। धर्मशून्यता में उसका आशु प्रतिवेध होता है, और वह महाबोधि का साक्षात्कार कर संसार से अर्दित जीवों का परित्राण करता है। किन्तु सर्वथा अपवादक, जो शून्यता को विपर्यास संज्ञा रखता है (भावविवेक) आगम और युक्ति का व्यपकर्ष करता है, और इन लाभों का प्रतिलाभ नहीं कर सकता। यह अपवादक माध्यमिक हैं, जो सर्वदा शून्यता का दावा करते हैं और अद्वय विज्ञानवाद की ओर जो शून्यवाद का झुकाव है, उसका विरोध करते हैं।

एक मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार परमार्थ विज्ञानवाद का सामंजस्य बाह्यलोक के व्यावहारिक अस्तित्व से हो सकता है। माना कि विज्ञान के बाहर कुछ नहीं है। तब बाह्य प्रत्यय के अभाव में हम विकल्प की विविधता का निरूपण कैसे करते हैं?

शुआन च्वाँग वसुबन्धु का उत्तर उद्धृत करते हैं (त्रिंशिका, कारिका १८)—'सर्व बीज विज्ञान का अन्योन्यवश उस उस प्रकार से परिणाम होता है। इस विज्ञान से वह वह विकल्प उत्पन्न होते हैं।' अर्थात् बिना किसी बाह्य प्रत्यय के आलय-बीज के विविध परिणाम होने के कारण, और संभूत अष्ट विज्ञानों की अन्योन्य सहायता से, अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

सर्व बीज विज्ञान से विविध शक्ति और बीज अभिप्रेत हैं जो अपने फल अर्थात् सर्व संस्कृत-धर्मों का उत्पाद करते हैं। यह फल मूल विज्ञान में विद्यमान हैं। इन शक्तियों या बीजों

को 'सर्व बीज' कहते हैं—क्योंकि वह चार प्रकार के फल का उत्पादन करते हैं (निष्यन्द, विपाक, पुरुषकार, अधिपति-फल)। केवल विसंयोग-फल वर्जित है। यह बीजों से उत्पन्न नहीं होता। यह असंस्कृत है। यह फल बीज-फल नहीं है। मार्ग की भावना से इस फल की प्राप्ति होती है। बीज ज्ञान का उत्पाद करते हैं; ज्ञान संयोजन का उपच्छेद करते हैं, और इसीसे विसंयोग का संमुखीभाव होता है। किन्तु बीज से सर्व विकल्प का अनन्तर उत्पाद होता है।

हम बीजों को 'विज्ञान' से प्रज्ञप्त कर सकते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव विज्ञान में है। यह मूलविज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं हैं। कारिका 'बीज' और 'विज्ञान' दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग इस कारण करती है कि कुछ बीज विज्ञान नहीं हैं यथा—सांख्यों का प्रधान और कुछ विज्ञान बीज नहीं हैं यथा—प्रवृत्ति-विज्ञान।

अष्टम विज्ञान के बीज (जो विकल्पों के हेतु-प्रत्यय हैं) अन्य तीन प्रत्ययों की सहायता से उस उस परिणाम (अन्यथाभाव) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् जन्मावस्था से पाककाल को प्राप्त होते हैं। यह तीन प्रत्यय प्रवृत्ति-विज्ञान हैं। सब धर्म एक दूसरे के निमित्त होते हैं।

इस प्रकार आलय-विज्ञान से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

आगे चलकर शुआन-च्वांग विज्ञानवाद की पुष्टि आलंबन-प्रत्ययवाद से करते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है:—वह सद्धर्म जिसपर चित्त-चैत्त आश्रित हैं, और जो उन चित्त-चैत्तों से ज्ञात है, जो तत्सदृश उत्पन्न होते हैं।

वस्तुतः सर्व विज्ञान का इस प्रकार का आलंबन होता है, क्योंकि किसी चित्त का उत्पाद बिना आश्रय के नहीं हो सकता, बिना उस अर्थ की उपलब्धि के नहीं हो सकता जो उसके अभ्यन्तर हैं।

इसीसे मिलता-जुलता एक दूसरा प्रश्न यह है कि यद्यपि आभ्यन्तर विज्ञान है, तथापि बाह्य प्रत्ययों के अभाव में भावों की अव्युच्छिन्न परंपरा का क्या विवेचन है? शुआन-च्वांग उत्तर में वसुबन्धु की कारिका १६ उद्धृत करते हैं:—

कर्मणो वासनाग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्॥

"पूर्व विपाक के क्षीण होनेपर कर्म की वासना ग्राहद्वय की वासना के साथ अन्य विपाक को उत्पन्न करती है।"

अर्थात् पूर्वजन्मोपचित कर्म के विपाक के क्षीण होनेपर कर्मवासना (कर्मबीज) और आत्मग्राह-धर्मग्राह की वासना (बीज) उपभुक्त विपाक से अन्य विपाक का उत्पाद करती है। यह विपाक आलय-विज्ञान है। (स्थिरमति का भाष्य, पृ० ३७)।

शुआन-च्वांग की व्याख्या इस प्रकार है:—निश्चय ही सर्व कर्म चेतना कर्म है। और कर्म उत्पन्न होने के अनन्तर ही विनष्ट होता है। अतः हम नहीं मान सकते कि यह स्वतः फलोत्पादन का सामर्थ्य रखता है। किन्तु यह मूल विज्ञान में फलोत्पादक बीज या शक्ति का

आधान करता है। इन शक्तियों की संज्ञा वासना है। वस्तुतः यह शक्तियाँ कर्मजनित वासना से उत्पन्न होती हैं।

इन शक्तियों का एक अव्युच्छिन्न संतान इनके परिपाक-काल पर्यन्त रहता है। तब अन्तिम शक्ति फल अभिनिर्वृत्त करती है।

साथ साथ शुआन-च्वाँग यह दिखाते हैं कि किस प्रकार बीजों की वासना का कार्य ग्राहक और ग्राह्य इन दो दिशाओं में होता है। मिथ्या आत्मग्राह इन वासनाओं और विपर्यास के बीजों के लिए सब से अधिक उत्तरदायी है। इससे जो बीज उत्पन्न होते हैं उनके कारण सत्वों में अपने-पराये का मिथ्या भेद होता है। चित्त की इस सहज विरूपता के कारण संसार-चक्र अनन्तकाल तक प्रवर्तित रहता है। इसके लिए बाह्य प्रत्ययों की कल्पना करने का कोई कारण नहीं है। अथवा आध्यात्मिक हेतु-प्रत्यय जन्म-मरण-प्रबन्ध (या धर्म-प्रबन्ध) का पर्याप्त विवेचन है। यह बाह्य प्रत्यय पर आश्रित नहीं है। अतः यह विज्ञप्तिमात्र है। एक बार धर्मों की अनादिकालिक प्रवृत्ति से विज्ञप्तिमात्रता का सामंजस्य स्थापित कर शुआन-च्वाँग त्रिस्वभाव के वाद से इसका सामंजस्य दिखाते हैं। बौद्धागमों में स्थान स्थान पर स्वभावत्रय की देशना है।

त्रिस्वभाव-वाद

चीनी ग्रंथों में विज्ञानवाद के निकाय का एक नाम 'धर्मलक्षण-समय' है। तीन स्वभाव, तीन लक्षण कहलाते हैं (व्युत्पत्ति, पृ०५८७)। बोधिसत्व भूमि में 'धर्मलक्षण' शब्द मिलता है। वहाँ भाव-अभाव से विमुक्त वस्तु को 'धर्मलक्षण' कहा है। दूसरे शब्दों में यह वस्तु 'तथता', धर्मता है।

वसुबन्धु ने त्रिस्वभाव-निर्देश नामक एक ग्रंथ लिखा है। जी० तुची को नेपाल में मूल संस्कृत ग्रंथ मिला था। इसका प्रकाशन विश्वभारती से हुआ है। यहाँ हम धर्मपाल आदि आचार्यों का मत दे रहे हैं।

स्वभाव तीन हैं:—परिकल्पित, परतन्त्र, परिनिष्पन्न।

१. परिकल्पित स्वभाव

स्थिरमति के अनुसार जिस जिस विकल्प से हम जिस जिस वस्तु का परिकल्प करते हैं वह वह वस्तु परिकल्पित स्वभाव है। विकल्प्य वस्तु अनन्त है। यह आध्यात्मिक और बाह्य हैं। यहाँतक कि बुद्धधर्म भी विकल्प वस्तु है। जो वस्तु विकल्प का विषय है, उसकी सत्ता का अभाव है; अतः वह विद्यमान नहीं है। अतः वह परिकल्पित स्वभाव है।

नन्द के अनुसार अनन्त अभूत परिकल्प या अभूत विकल्प हैं, जो परिकल्पना करते हैं। उस उस विकल्प से विविध विकल्प्य वस्तु परिकल्पित होते हैं। अर्थात् स्कन्ध-आयतन-धातु आदि आत्म-धर्म के रूप में मिथ्या गृहीत होते हैं। इन्हें परिकल्पित स्वभाव कहते हैं। यह स्वभाव परमार्थतः नहीं है।

धर्मपाल के अनुसार 'विकल्प' वह विज्ञान है, जो परिकल्पना करता है। यह षष्ठ और सप्तम विज्ञान है, जो आत्मन् और धर्म में अभिनिविष्ट है। स्थिरमति के अनुसार यह आठों सास्रव

विज्ञान और उनके चैत हैं। स्थिरमति कहते हैं कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं, क्योंकि उनका अभूत, परिकल्प-स्वभाव है। इसके विपक्ष में धर्मपाल कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं। यह सत्य है कि त्रैधातुक सर्व विज्ञान 'अभूत परिकल्प' कहलाते हैं। इनकी यह संज्ञा इसलिए है, क्योंकि सास्रव विज्ञान तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करता। सास्रव चित्त ग्राह्य-ग्राहक के रूप में अवभासित होता है। इससे यह परिणाम सदा नहीं निकलता कि कुशल अथवा अव्याकृत चित्त में ग्राह होता है, और यह आत्मधर्म की परिकल्पना में समर्थ है। वस्तुतः इस पक्ष में बोधिसत्व तथा यानद्वय के आर्यों को पृष्ठलब्ध ज्ञान (यह एक अनास्रव ज्ञान है) में ग्राह होगा, क्योंकि यह ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक के रूप में अवभासित होता है। तथागत के उत्तर ज्ञान में भी ग्राह होगा, क्योंकि बुद्धभूमिसूत्र में कहा है कि बुद्ध-ज्ञान (आदर्श ज्ञान) काय, भूमि आदि विविध प्रतिबिम्बों को अवभासित करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह कहा गया है कि आलय-विज्ञान का आलंबन परिकल्प के बीज हैं। किन्तु यह नहीं कहा गया है कि यह विज्ञान केवल इनका ग्रहण करता है।

सिद्धान्त यह है कि केवल दो विज्ञान—षष्ठ और सप्तम—परिकल्पना करते हैं। कारिका में जो 'येन येन विकल्पेन' उक्त है, उसका कारण यह है कि विकल्प विविध हैं। यह कौन वस्तु है जिनपर विकल्प का कारित्र होता है? संग्रह के अनुसार यह वस्तु परतन्त्र है। यह निमित्तभाग है, क्योंकि यह भाग विकल्पक का आलंबन-प्रत्यय है। किन्तु प्रश्न है कि क्या परिनिष्पन्न भी इस चित्त का विषय नहीं है? हमारा उत्तर है कि तत्त्व अथवा परिनिष्पन्न मिथ्याग्राह का आलंबन विषय नहीं है। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि तत्त्व विकल्प्य वस्तु है, किन्तु तत्त्व पर विकल्प का कारित्र प्रत्यक्ष नहीं होता।

परिकल्पित स्वभाव विकल्प का, मिथ्याग्राह का, विषय है; किन्तु यह आलंबन-प्रत्यय नहीं है। इसका कारण यह है कि यह 'वस्तु' सद्धर्म नहीं है।

परिकल्पित स्वभाव क्या है? इसमें और परतन्त्र में क्या भेद है?

१. स्थिरमति के अनुसार अनादिकालिक अभूत वासनावश सास्रव चित्त-चैत्त द्वयाकार में उत्पन्न होता है, ग्राहक-ग्राह्य रूप में उत्पन्न होता है। यह दर्शनभाग और निमित्तभाग हैं। मध्यान्त का कहना है कि यह दो 'लक्षण' परिकल्पित हैं। यह कूर्म-रोम के समान असद्धर्म हैं। किन्तु इनका आश्रय अर्थात् स्वसंवित्तिभाग प्रत्ययजनित है। यह स्वभाव असद्धर्म नहीं है। इसे परतन्त्र कहते हैं, क्योंकि यह अभूत-परिकल्प प्रत्यय-जनित है।

यह कैसे प्रतीत हो कि यह दो भाग असद्धर्म हैं? आगम की शिक्षा है कि अभूत-परिकल्प परतन्त्र है, और दो ग्राह परिकल्पित हैं।

२. धर्मपाल के अनुसार वासना-बल से चित्त-चैत्त दो भागों में परिणत होते हैं। यह परिणत भाग हेतु-प्रत्ययवश उत्पन्न होते हैं, और स्वसंवित्तिभाग के सदृश परतन्त्र हैं। किन्तु विकल्प सद्धर्म, अभाव, तादात्म्य, भेद, भाव-अभाव, भेदाभेद, न भाव न अभाव, न अभेद न

भेद इन मिथ्या संज्ञाओं का ग्रहण करता है। इन विविध आकारों में दो भाग परिकल्पित कहलाते हैं।

वस्तुतः आगम कहता है कि प्रमाणमात्र, द्वयमात्र (दो भाग) और इन दो भागों की विविधता परतन्त्र है। आगम यह भी कहता है कि तथता को छोड़कर शेष चार धर्म परतन्त्र में संगृहीत हैं।

यदि निमित्तभाग परतन्त्र नहीं है, तो वे दो भाग जो बुद्ध के अनास्रव पृष्ठलब्ध-ज्ञान हैं, परिकल्पित होंगे। यदि आप यह मानते हैं कि यह दो भाग परिकल्पित हैं, तो उत्तर अनास्रव ज्ञान की उत्पत्ति, बिना एक निमित्तभाग को आलंबन बनाये होती है; क्योंकि यदि एक निमित्त-भाग इसका आलंबन होता तो यह आर्य-मार्ग में पर्यापन्न न होता।

यदि दो भाग परिकल्पित हैं, तो यह आलंबन प्रत्यय नहीं हैं; क्योंकि परिकल्पित असद्-धर्म हैं। दो भाग वासित नहीं कर सकते, बीजों का उत्पाद नहीं कर सकते। अतः उत्तर बीजों के दो भाग न होंगे।

बीज निमित्तभाग में संगृहीत हैं, अतः यह असद्धर्म है। अतः बीज कैसे हेतु-प्रत्यय होंगे?

यदि दो भाग, जो चित्त के अभ्यन्तर हैं, और बीजों से उत्पन्न होते हैं, परतन्त्र नहीं हैं तो चित्त स्वभाव को आप परतन्त्र मानते हैं, अर्थात् संवित्तिभाग जो इन दो भागों का आश्रय है, परतन्त्र न होगा; क्योंकि कोई कारण नहीं है कि यह परतन्त्र हो जब दो भाग परतन्त्र नहीं हैं।

अतः जो प्रत्ययजनित है वह परतन्त्र है।

२. परतन्त्र स्वभाव

'परतन्त्र' प्रत्यय से उद्भूत विकल्प है। यह आख्या 'प्रतीत्य-समुत्पन्न' से मिलती-जुलती है। जो हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है, वह परतन्त्र है। एकमत से यह लक्षण केवल क्लिष्ट परतन्त्र का है। वास्तव में अनास्रव परतन्त्र को 'विकल्प' नहीं कहते। एक दूसरा मत यह है कि सब चित्त-चैत्त, चाहे सास्रव हों या अनास्रव, 'विकल्प' कहे गए हैं।

३. परिनिष्पन्न स्वभाव

परिनिष्पन्न स्वभाव परतन्त्र की परिकल्पित से सदा रहितता है। यह अविकारस्वभाव है। यह ग्राह्य-ग्राहक इन दो विकल्पों से विनिर्मुक्त होता है। इस स्वभाव की सदा ग्राह्य-ग्राहक-भाव से अत्यन्त रहितता होती है। यह कल्पित स्वभाव की अत्यन्त शून्यता है। अतएव यह परतन्त्र से न अन्य है, और न अनन्य, यथा अनित्यता अनित्य धर्मों से न अन्य है, और न अनन्य।

पुनः शुआन-च्वांग कहते हैं कि परिनिष्पन्न धर्मों का वस्तुसत्, अविपरीत, निष्प्रपंच और परिपूर्ण स्वभाव है। यह तथता से, अर्थात् सत्व-असत्व से पृथक् शून्यता की अवस्था में वस्तुओं के स्वभाव से मिश्रित है। अतः परिनिष्पन्न (=तथता) परतन्त्र से न अन्य है, न अनन्य। यदि यह इससे अभिन्न होता, तो तथता धर्मधातु (परतन्त्र) का वस्तुस्वभाव न

होती। यदि यह इससे अभिन्न होता तो तथता न नित्य होती, और न पूर्ण विशुद्ध। पुनः यह कैसे माना जाय कि परिनिष्पन्न स्वभाव और परतन्त्र स्वभाव का न नानात्व है, और न एकत्व? इसी प्रकार अनित्य, शून्य, अनात्म धर्म तथा अनित्यता, शून्यता, नैरात्म्य न अन्य हैं, न अनन्य। यदि अनित्यता संस्कारों से अन्य होती, तो संस्कार अनित्य होते; यदि अनन्य होती, तो अनित्यता उनका सामान्य लक्षण न होती। वस्तुतः धर्मता या तथता का धर्मों से ऐसा संबन्ध है, क्योंकि परमार्थ और संवृति अन्योन्याश्रित हैं।

जबतक परिनिष्पन्न का प्रतिवेध, साक्षात्कार नहीं होता, तबतक यथाभूत परतंत्र भाव को हम नहीं जान सकते। अन्य ज्ञान से परतन्त्र का ग्रहण नहीं होता।

स्वभावत्रय का चित्त से अभेद

इन विचारों के अनुसार शुआन-च्वांग चित्त का इतिहास बताते हैं। निःसन्देह सदा से चित्त-चैत्त अपने विविध आकारों में (भागों में) अपने को स्वतः जानते हैं, अर्थात् परतन्त्र जो अपने को जानता है, सदा से स्वविज्ञान का विषय है। किन्तु चित्त-चैत्त सदा पुद्गल-धर्मग्राह से सहगत होते हैं, अतः वह प्रत्यय-जनित चित्त-चैत्तों के मिथ्या स्वभाव को यथार्थ में नहीं जानते। माया-मरीचि-स्वप्नविषय-प्रतिबिम्ब-प्रतिभास-प्रतिश्रुत्क-उदकचन्द्र-निर्मितवत् उनका अस्तित्व नहीं है, और एक प्रकार से है भी। घनव्यूह में कहा है—"जब तक कोई तथता का दर्शन नहीं करता, वह नहीं जानता कि धर्म और संस्कार मायादिवत् वस्तुसत् नहीं हैं; यद्यपि वह हैं।"

अतः यह सिद्ध होता है कि स्वभावत्रय (लक्षणत्रय) का चित्त-चैत्त से व्यतिरेक नहीं है। चित्त-चैत्त और उनके परिणाम (दर्शन और निमित्तभाग) का प्रत्ययों से उद्भव होता है, और इसलिए मायाप्रतिबिम्बवत् वह नहीं हैं, और एक प्रकार से मानो वह हैं। इस प्रकार वह मूढ़ पुरुषों की प्रवंचना करते हैं। यह सब परतन्त्र कहलाता है।

मूढ़ परतन्त्रों को मिथ्या ही आत्म-धर्म अवधारित करते हैं। खपुष्प के समान इस 'स्वभाव' का परमार्थतः अस्तित्व नहीं है। यह परिकल्पित है। किन्तु वस्तुतः यह आत्म-धर्म जिन्हें एक मिथ्या संज्ञा परतन्त्र पर 'आरोपित' करती है, शून्य हैं। चित्त के परमार्थ स्वभाव को (विज्ञान और दो भाग) जो आत्म-धर्म की शून्यता से प्रकाशित होता है, परिनिष्पन्न की संज्ञा दी जाती है। हम कहेंगे कि धर्मों का सत्-स्वभाव उनका विशुद्ध लक्षण या विज्ञान-शक्ति है, जो प्रत्येक प्रकार के साक्षात्कार से शून्य है। इस स्वभाव का विपरीत भाव सर्वगत धर्म (फेनोमनिज्म) हैं, और धर्मों का स्थूल और मिथ्या आकार आत्म-धर्म का प्रतिभास है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन सब की समष्टि विशुद्ध विज्ञानायतन रहता है।

असंस्कृत धर्मों की त्रिस्वभावता

इसके अनन्तर शुआन-च्वांग इस त्रिस्वभाववाद का प्रयोग आकाशादि असंस्कृत धर्म के संबन्ध में करते हैं। वह कहते हैं कि विज्ञान आकाशादि प्रभाव के आकार में परिणत

होता है। क्योंकि आकाश चित्त-निमित्त है, इसलिए यह परतन्त्र में संगृहीत होता है। किन्तु मूढ़ इस निमित्त को द्रव्यसत् कल्पित करते हैं। इस कल्पना में आकाश परिकल्पित है। अन्ततः द्रव्य आकाश को तथता का एक अपर नाम अवधारित करने से आकाश परिनिष्पन्न है। इसी प्रकार शुआन-च्वांग सिद्ध करते हैं कि अन्य असंस्कृत तथा रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान यह पाँच संस्कृत धर्म-दृष्टि के अनुसार परिकल्पित, परतन्त्र और तथता में संगृहीत हो सकते हैं।

त्रिःस्वभाव की सत्ता

एक अन्तिम प्रश्न है कि वस्तु द्रव्यसत् है या असत्। परिकल्पित स्वभाव केवल प्रज्ञप्तिसत् है, क्योंकि यह मिथ्या रुचि से व्यवस्थित होता है। परतन्त्र प्रज्ञप्ति और वस्तुसत् दोनों है। पिण्ड, समुदाय, (संचय, सामग्री) यथा घटादि, प्रज्ञप्ति हैं। चित्त-चैत्त-रूप प्रत्ययजनित हैं। अतः वह वस्तुसत् हैं। परिनिष्पन्न केवल द्रव्यसत् है, क्योंकि यह प्रत्ययाधीन नहीं है।

किन्तु यह तीन स्वभाव भिन्न नहीं हैं, क्योंकि परिनिष्पन्न परतन्त्र का द्रव्यसत् स्वभाव है, और परिकल्पित का परतन्त्र से व्यतिरेक नहीं है। किन्तु यद्यपि यह एक दृष्टि से भिन्न नहीं है, तथापि दूसरी दृष्टि से वह अभिन्न नहीं है; क्योंकि मिथ्याग्रह, प्रत्ययोद्भव और द्रव्यसत्-स्वभाव भिन्न हैं।

निःस्वभाव-वाद

यह विचार शंकर के वेदान्तमत के अत्यन्त समीप है। शुआन-च्वांग इस खतरे को समझते हैं। माध्यमिकों के प्रतिवाद करने पर वह इस प्रश्न का विचार करते हैं कि यदि तीन स्वभाव हैं तो भगवान् की यह शिक्षा क्यों है कि सब धर्म निःस्वभाव हैं। दूसरे शब्दों में यदि धर्म के तीन आकार हैं तो भगवान् का यह उपदेश क्यों है कि वह शून्य और निःस्वभाव हैं। यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। यह देखना है कि शुआन-च्वांग कैसे नागार्जुन की शून्यता का त्याग कर वस्तुओं की विज्ञान-सत्ता को व्यवस्थित करते हैं।

उनका उत्तर यह है कि इन तीन स्वभावों में से प्रत्येक अपने आकार में निःस्वभाव है। त्रिविध स्वभाव की त्रिविध निःस्वभावता है। इस अभिसन्धि से भगवान् ने सब धर्मों की निःस्वभावता की देशना की है।

परिकल्पित निःस्वभाव है, क्योंकि इसका यही लक्षण है (लक्षणेन)। परतन्त्र की निःस्वभावता इसलिए है, क्योंकि इसका स्वयंभाव नहीं है। परिनिष्पन्न की निःस्वभावता इसलिए है, क्योंकि यह परिकल्पित आत्म-धर्म से शून्य है। परिनिष्पन्न धर्म परमार्थ है। यह भूततथता है। यह विज्ञप्तिमात्रता है।

यह तीन निःस्वभावता क्रमशः लक्षण-निःस्वभावता, उत्पत्ति-निःस्वभावता, परमार्थ-निःस्वभावता हैं।

शून्यता की गंभीरता से संसार विज्ञानोदधि के तल पर उठता है। यदि बुद्ध ने कहा है कि सर्व धर्म निःस्वभाव हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें स्वभाव का परमार्थतः अभाव है। यह बुद्धवचन नीतार्थ नहीं है। परतन्त्र और परिनिष्पन्न असत् नहीं हैं। किन्तु मूढ़ पुरुष विपर्यासवश उनमें आत्म-धर्म का अध्यारोप कहते हैं। वह विपरीत भाव से उनका द्रव्यसत् आत्म-धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। यह परिकल्पित स्वभाव है। इन ग्राहों की व्यावृत्ति के लिए भगवान् सामान्यतः कहते हैं कि जो सत् है (दूसरा-तीसरा स्वभाव) और जो असत् है, (प्रथम स्वभाव) दोनों निःस्वभाव हैं। यदि परिकल्पित लक्षणतः निःस्वभाव हैं, तो परतन्त्र ऐसा नहीं है। परतन्त्र उत्पत्ति-निःस्वभाव है। इसका अर्थ यह है कि मायावत् यह हेतु-प्रत्यय-वश उत्पन्न होता है, और यह परतन्त्र है। यह स्वयंस्वभाव नहीं है, जैसा विपर्यास-वश ग्राह होता है। अतः हम एक प्रकार से कह सकते हैं कि यह निःस्वभाव है, किन्तु वस्तुतः यह सस्वभाव है।

परिनिष्पन्न का विशेष रूप से विचार करना है। इसे भी हम उपचार से इस अर्थ में निःस्वभाव कह सकते हैं कि इसका स्वभाव परिकल्पित आत्म-धर्म से परमार्थतः शून्य है। वस्तुतः स्वभाव का इसमें अभाव नहीं है। यथा यद्यपि महाकाश सब रूपों को आवृत करता है, और उसका प्रतिषेध करता है, तथापि रूपों की निःस्वभावता को प्रकट करता है; उसी प्रकार परमार्थ शून्यता से, आत्म-धर्म की निःस्वभावता से, प्रकट होता है; और निःस्वभाव कहला सकता है। किन्तु यह कम परमार्थ नहीं है, अतः धर्मों की शून्यता का वचन नीतार्थ नहीं है। विज्ञप्तिमात्रता परमार्थ है।

———

ऊनविंश अध्याय

माध्यमिक-नय

[*आचार्य नागार्जुन तथा चन्द्रकीर्ति के आधार पर*]

माध्यमिक दर्शन का महत्त्व

आचार्य नागार्जुन मध्यमक शास्त्र के आदि आचार्य हैं। बौद्ध विद्वान् उनको अपर बुद्ध के समान मानते हैं। नागार्जुन की मध्यमककारिका पर प्रसन्नपदा नाम की वृत्ति है। उसके रचयिता आचार्य चन्द्रकीर्ति हैं। उन्होंने वृत्ति में कहा है कि नागार्जुन के दर्शन-तेज में परवादियों के मत और लोकमानस तथा उनके अन्धकार इन्धन के समान भस्म हो जाते हैं। उनके तीक्ष्ण तर्कशरों से संसारोत्पादक निःशेष अरिसेनायें नष्ट हो जाती हैं। चन्द्रकीर्ति ऐसे आचार्य के चरणों में प्रणिपात करके उनकी कारिका की विवृति करते हैं, जो तर्कज्वाला[1] से आकुलित है। प्रसन्नपदा नाम की वृत्ति के द्वारा वह आचार्य का अभिप्राय विवृत करते हैं। चन्द्रकीर्ति के अनुसार आचार्य के शास्त्र-प्रणयन का यह प्रयास दूसरों को प्रथम चित्तोत्पाद से लेकर प्रज्ञापारमिता-नय के अविपरीत ज्ञान कराने तक के लिए है। आचार्य का यह प्रयास केवल करुणावश है।

माध्यमिक-दर्शन का प्रतिपाद्य

जो सकल मध्यमक शास्त्र का अभिधेयार्थ है उससे अभिन्न स्वभाव परमगुरु तथागत का है, और वही प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसलिए आचार्य नागार्जुन शास्त्र के आरंभ में अनिरोधादि अष्ट 'विशेषणों से विशिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रकाशित करते हैं, और उसके उपदेष्टा तथागत की वन्दना करते हैं[2]। आचार्य चन्द्रकीर्ति नागार्जुन के एक-एक विशेषणों का अभिप्राय बताते हैं।

निरोध क्षण-भंगता है, किन्तु तत्व में क्षण-भंगता नहीं है, अतः वह 'अनिरोध' है।

उत्पाद आत्मभावोन्मज्जन है, तत्व में आत्मभावोन्मेष नहीं है, अतः वह 'अनुत्पाद' है।

---

१. 'तर्कज्वाला' आर्य भव्य की माध्यमिककारिका पर एक वृत्ति है उसका पूरा नाम 'मध्यमहृदयवृत्ति-तर्कज्वाला' है। चन्द्रकीर्ति के अनुसार 'तर्कज्वाला' से आचार्य का मन्तव्य विकृत हुआ है।

२. अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्, अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवं देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥

उच्छेद सन्तान-प्रबन्ध का विच्छेद है, परन्तु तत्व में विच्छेद नहीं है, अतः वह 'अनुच्छेद' है।

सार्वकालिक स्थाणुता शाश्वतिकता है, परन्तु तत्व में वह नहीं है, अतः वह 'अशाश्वत' है।

तत्व में न भिन्नार्थता है न अभिन्नार्थता, अतः वह 'अनेकार्थ' और 'अनानार्थ' है।

तत्व में आगम और निर्गम नहीं है, अतः वह 'अनागम' और 'अनिर्गम' रूप है।

इन विशेषणों से निर्वाण की सर्व प्रपंचोपशमता एवं उसका शिवत्व बोधित होता है। यह मध्यमक-शास्त्र का प्रतिपाद्य एवं प्रयोजन है।

हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा करके ही सकल भावों (पदार्थ) की उत्पत्ति होती है। आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि इस नियम को प्रकाशित कर भगवान् ने भावों की उत्पत्ति के संबन्ध में वादियों के विभिन्न सिद्धांतों का—अहेतुवाद, एकहेतुवाद, विषमहेतुवाद आदि का निराकरण किया है। इसीलिए विभिन्न वादियों का स्वकृतत्व, परकृतत्व, स्वपरोभयकृतत्व का सिद्धांत निषिद्ध हो जाता है। इन वादों के निषेध से वस्तुतः पदार्थों का सांवृत-(अयथार्थ) रूप उद्भावित होता है, और यह सिद्ध होता है कि आर्य-ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावतः अनुत्पन्न हैं। अतः प्रतीत्य-समुत्पन्न पदार्थों में निरोधादि नहीं हैं।

आर्य जब प्रतीत्य-समुत्पाद का उक्त विशेषणों से ज्ञान कर लेता है, तब स्वभावतः उसके प्रपंचों का उपशम होता है। इसलिए आचार्य प्रतीत्य-समुत्पाद का विशेषण 'प्रपंचोपशम' देते हैं। वह 'शिव' है, इसलिए कि वहां चित्त-चैत्त अप्रवृत्त हैं। ज्ञान-ज्ञेय-व्यवहार निवृत्त है, इसलिए तत्र जाति-जरा-मरणादि उपद्रवों से रहित है। पूर्व अभिहित विशेषणों से विशिष्ट प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना ही मध्यमक-शास्त्र का अभीष्टार्थ है। भगवान् बुद्ध ने ही इसे अवगत कराया है, अतः उनके 'अविपरीतार्थवादित्व' (सत्यवक्ता होने से) आचार्य प्रसादानुगत होकर उन्हें 'वदतां वर' आदि अनेक विशेषणों से विशेषित करते हैं और प्रणाम करते हैं।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि प्रतीत्य-समुत्पाद के इन विशेषणों में यद्यपि सर्वप्रथम निरोध के निषेध का उल्लेख है, जब कि उत्पाद का प्रतिषेध पहले होना चाहिये। किन्तु उत्पाद और निरोध में पौर्वापर्य नहीं है, संसार का अनादित्व है; इसे स्पष्ट करने के लिए अनिरोध का प्रथम उल्लेख आवश्यक हुआ।

स्वतः उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन

अन्यवादी पदार्थों की उत्पत्ति स्वतः, परतः या उभयतः स्वीकार करते हैं। परन्तु आचार्य नागार्जुन पदार्थों की उत्पत्ति किसी तरह नहीं मानते। उनके मत में किसी भी देशिक या कालिक आधार में कोई भी आधेय वस्तु किसी भी संबन्ध से न स्वतः उत्पन्न होती है, न परतः और न उभयतः।

वस्तु का स्वतः उत्पाद मानें तो उत्पन्न की ही पुनः उत्पत्ति माननी पड़ेगी। स्वतः-उत्पाद पक्ष के खंडन से परतः-उत्पाद का सिद्धांत भी सिद्ध नहीं होता। आगे चलकर हम परतः उत्पाद का खंडन करेंगे।

माध्यमिक की पक्षहीनता

माध्यमिक का अपना कोई पक्ष नहीं है, और न कोई प्रतिज्ञा ही है, जिसकी सिद्धि के लिए वह स्वतंत्र अनुमान का प्रयोग करे। माध्यमिक स्वतःउत्पादवादी सांख्य के प्रतिज्ञार्थ का केवल परीक्षण करता है। सांख्य अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए सचेष्ट है, इसलिए उनके वादों का खंडन आचार्य चन्द्रकीर्ति विस्तार से करते हैं। वह कहते हैं कि किसी भी उपपत्ति से सांख्य का स्वतःउत्पादवाद संभव नहीं है। जो वस्तु स्वरूप से विद्यमान है, उसकी पुनः उत्पत्ति निष्प्रयोजन है। यदि जात स्वरूप का ही जन्म मानें तो कभी वस्तुओं का अजातत्व (विनाश) सिद्ध नहीं होगा।

माध्यमिक पर वादियों का एक विशेष आक्षेप है कि माध्यमिक का जब स्वपक्ष नहीं है, तब परपक्ष के खंडन के लिए वह अनुमानादि का प्रयोग कैसे करता है। चन्द्रकीर्ति इसके समाधान में कहते हैं कि उन्मत्त के साथ तो हमारा विवाद नहीं है, प्रत्युत हेतु-दृष्टान्तवादियों के साथ है। ऐसे लोगों से विचार के लिए आचार्य को भी अपनी अनुमानप्रियता प्रकट करनी पड़ती है। वस्तुतः माध्यमिक का कोई पक्षान्तर नहीं है, इसलिए उसे अनुमान का स्वतन्त्र प्रयोग करना युक्त नहीं है। विग्रहव्यावर्तनी में आचार्य कहते हैं कि यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा होती तब मुझ पर अनुमान संबन्धी दोष लगते, किन्तु मेरा कोई पक्ष नहीं है। मेरे पक्ष में कोई प्रतिज्ञा इसलिए भी नहीं बनती कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से किसी वस्तु की उपलब्धि प्रमाणित नहीं होती। उपलब्धि हो, तब उसके लिए प्रवर्त्तन, निवर्त्तन या उसके साधन का प्रश्न उठे। अतः हम पर अन्य वादियों का किसी प्रकार भी उपालंभ नहीं है। आर्यदेव भी कहते हैं कि सत्, असत्, सदसत् इनमें से जिसका कोई भी पक्ष ही नहीं है, उस पर चिरकाल में भी कोई दोष आरोपित नहीं किये जा सकते।

माध्यमिक को वादियों के आक्षेपों का परिहार स्वपक्ष में दोषों के अप्रसंगापादन (दोष न लगने की प्रणाली) से करना चाहिये। यथा:—स्वतःउत्पादवादी सांख्य से पूछना चाहिये कि आप कार्यात्मक रूप से स्वतः उत्पाद मानते हैं या कारणात्मक ? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधनता (सिद्ध बात को ही सिद्ध करना) होगी, क्योंकि कार्यात्मक का कार्यत्व स्वयं सिद्ध है, विद्यमान है। द्वितीय पक्ष में विरुद्धार्थता है, क्योंकि कारणात्मना विद्यमान की अवस्था में ही उसका विरोधी कार्यात्मकत्व भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस तर्क में विद्यमानत्व हेतु माध्यमिक का नहीं है, इसलिए सिद्धसाधनता या विरुद्धार्थता का परिहार उसे नहीं करना है।

अन्यवादी कहते हैं कि जब माध्यमिक को स्वतन्त्र अनुमान का अभिधान नहीं करना है, और उसके पक्ष में पक्ष-हेतु-दृष्टान्त भी असिद्ध हैं, तो वह सांख्य के स्वतःउत्पाद के प्रतिषेध

की अपनी प्रतिज्ञा का साधन कैसे करेगा, और पर की प्रतिज्ञा का निराकरण भी कैसे करेगा; क्योंकि वादी-प्रतिवादी उभय-सिद्ध अनुमान से ही निराकरण संभव होता है। एक ओर पूर्वपक्षी अपने अनुमान को निर्दुष्ट रखने के लिए दोषरहित पक्ष-हेतु-दृष्टान्तों का प्रयोग करेगा। किन्तु दूसरी ओर माध्यमिक उनमें दोषों का अभिधान करेगा नहीं, इस प्रकार वादी के दोषों का परिहार नहीं होगा; फलतः माध्यमिक परपक्ष का निराकरण नहीं कर सकेगा।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि जो व्यक्ति जिस अर्थ को जिन उपपत्तियों से निश्चयपूर्वक स्वयं जानता है, वह अपना निश्चय दूसरों में भी उत्पन्न करने की इच्छा से उन उपपत्तियों का उपदेश करता है। इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि पर को ही स्वाभ्युपगत प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु आदि का उपादान करना चाहिये, माध्यमिकों को नहीं। वस्तुतः दूसरे के प्रति हेतु आदि का प्रयोग नहीं होता, बल्कि अपने पक्ष के निश्चय के लिए होता है। अन्यथा उसका पक्ष स्वयं विसंवादित हो जायगा, फिर वह दूसरे को स्वप्रतिज्ञा का निश्चय क्या करा सकेगा? इसलिए युक्तिहीन पक्ष का स्पष्ट दोष यही है कि वह स्वप्रतिज्ञार्थ के साधन में ही अपने को असमर्थ बना लेता है। ऐसी अवस्था में माध्यमिक को परपक्षीय अनुमान के बाधोद्भावन से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता।

माध्यमिक की दोषोद्भावन की प्रणाली

चन्द्रकीर्ति एक विशेष बात की ओर ध्यान दिलाते हैं। यद्यपि माध्यमिक की अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं है, इसलिए उसे अनुमान के स्वतन्त्र प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती, फिर भी उसे परपक्ष के अनुमान विरोधी दोषों का उद्भावन करना चाहिये। इसके समर्थन में वह आचार्य बुद्धपालित की प्रणाली का उल्लेख करते हैं—पदार्थ स्वतः ही उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि स्वात्मना विद्यमान की उत्पत्ति मानने में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जैसे किसी को स्वात्मना विद्यमान घटादि के उत्पाद की अपेक्षा नहीं होती, इसी प्रकार स्वात्मना विद्यमान समस्त भावों का पुनःउत्पाद मानना व्यर्थ है। इस प्रकार सांख्यों के अनुमान में माध्यमिक आचार्य बुद्धपालित ने साधर्म्य दृष्टान्त और हेतु के उपादान के द्वारा विरोध का उद्भावन किया है।

माध्यमिक के अनुमान में हेतु और दृष्टान्त के अनभिधान का दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि स्वतःउत्पादवादी सांख्य के पक्ष में अभिव्यक्त घट की पुनः अभिव्यक्ति अभीष्ट नहीं है। इस सिद्ध रूप को ही माध्यमिक दृष्टान्त के रूप में ग्रहण करेगा। इसी प्रकार सांख्य-संमत अनभिव्यक्त शक्ति रूप को ही उत्पाद-प्रतिषेध से विशेषित करके माध्यमिक अपने अनुमान में साध्य स्वीकार करेगा। इस प्रकार माध्यमिक पक्ष में सिद्धसाधनता और विरुद्धार्थता आदि दोष नहीं लगेंगे।

अथवा स्वतः उत्पादवाद के निरास के लिए माध्यमिक सांख्य के उस अनुमान में दोषोद्भावन करेगा, जिससे सांख्यवादी पुरुष से अतिरिक्त समस्त पदार्थों का स्वतःउत्पाद सिद्ध

करता है, क्योंकि माध्यमिक सांख्य-संमत पुरुष के दृष्टान्त में ही 'स्वात्मना विद्यमानत्व' हेतु के बल से स्वत:उत्पाद का निषेध सिद्ध कर देगा। सांख्यवादी यदि कहे कि उत्पाद के निषेध से मुझ अभिव्यक्तिवादी का अनुमान बाधित नहीं होगा, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि अनुपलब्ध की उपलब्धि—अभिव्यक्ति और उत्पाद दोनों में समान है। इसलिए उत्पाद शब्द से अभिव्यक्ति का ही अभिधान है। उत्पाद शब्द से अभिव्यक्ति स्वीकार करना अनुपात्त नहीं है, क्योंकि अर्थवाक्य विपुल अर्थों के द्योतक होते हैं। इसीलिए वे अपेक्षित समस्त अर्थ का संग्रह करके विशेष अर्थ के बोधन में प्रवृत्त होते हैं।

यदि अनुमान के पक्ष, हेतु आदि प्रसंग से विपरीत अर्थों का बोधन करें भी, तो उससे माध्यमिक का क्या संबन्ध ? क्योंकि उसकी कोई स्वप्रतिज्ञा है नहीं है, जिससे उसके सिद्धान्त का विरोध होता हो। और फिर यदि प्रसंगविपरीतता की आपत्ति से परवादी के पक्ष में दोष आते हैं, तो वह माध्यमिक को अभीष्ट ही होगा। निःस्वभाववादी अपने अनुमान प्रयोग से सस्वभाववादी के अनुमान को जब दोषपूर्ण सिद्ध करता है, तब भी प्रयोग मात्र से प्रसंग विपरीतार्थता (अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाना) का दोष माध्यमिक पर नहीं लगेगा, क्योंकि शब्द दाण्डपाशिक के समान वक्ता को अस्वतन्त्र नहीं बनाते, प्रत्युत वह वक्ता की विवक्षा का अनुविधान मात्र करते हैं। वस्तुतः माध्यमिक पर-प्रतिज्ञा के प्रतिषेध मात्र से ही सफल है।

आचार्य प्रसंगापत्ति के द्वारा भी परपक्ष का निराकरण करते हैं। आचार्यगण मध्यमकदर्शन को अंगीकार करके भी तर्कशास्त्र में अपनी अतिकुशलता आविष्कृत करने के लिए स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करते हैं। इनके ऐसे अनुमान प्रयोगों से तार्किक पक्ष की ही दोषराशि उपलक्षित होती है, जैसे—माध्यमिक का वह अनुमान-प्रयोग लीजिए, जिसमें वह सांख्य-संमत पुरुष के दृष्टान्त में अनुत्पाद के साथ विद्यमानत्व हेतु की व्याप्ति देखकर सर्वत्र आध्यात्मिक आयतनों का पारमार्थिक दृष्टि से अनुत्पाद सिद्ध करता है (आध्यात्मिकानि आयतनानि न परमार्थतः स्वत उत्पन्नानि, विद्यमानत्वात्, चैतन्यवत्)।

यहाँ प्रश्न उठता है कि माध्यमिक के इस अनुमान-प्रयोग में किस अर्थ की सिद्धि के लिए 'परमार्थत:' विशेषण है, क्योंकि लोक-संवृति (लोक बुद्धि) से स्वीकृत उत्पाद अप्रतिषेध्य होता है। किन्तु माध्यमिकों के मत में लोक-संवृति से भी भावों का स्वतःउत्पाद सिद्ध नहीं होता। माध्यमिक से इतर मतावलम्बियों की अपेक्षा से भी यह विशेषण सार्थक नहीं है, क्योंकि माध्यमिक परमत की उत्पाद आदि व्यवस्था को संवृत्या भी कहाँ स्वीकार करता है ? यह भी नहीं है कि सामान्य जन स्वत: उत्पाद से प्रतिपन्न हों, जिनकी अपेक्षा से यह विशेषण सार्थक बने। वस्तुत: सामान्य जन स्वतः, परत: आदि के विचार में उतरता ही नहीं। हाँ, वह कारण से कार्य की उत्पत्ति की व्यवस्था अवश्य मानता है।

यह हो सकता था कि जो लोग सांवृतिक दृष्टि से भावों की उत्पत्ति मानते हैं, उनके निराकरण के लिए परमार्थ विशेषण सार्थक हो। किन्तु इस दृष्टि से जो अनुमान का प्रयोग होगा, वह अवश्य ही पक्ष-दोष, हेतु-दोष से ग्रस्त होगा। पक्ष-दोष तो इसलिए होगा कि पारमार्थिक

रूप से चक्षुरादि आयतनों का स्वतः उत्पाद माना नहीं जाता। ऐसी अवस्था में अनुमान का आधार ही असिद्ध है। यदि उत्पत्ति-प्रतिषेध के साथ 'परमार्थ' का योग करें और अर्थ करें कि सांवृत चक्षुरादि की परमार्थतः उत्पत्ति नहीं है, तो यह युक्त न होगा; क्योंकि परपक्ष चक्षुरादि को वस्तुसत् मानता है। उसे माध्यमिक की प्रज्ञप्ति-सत्ता इष्ट नहीं है। इस प्रकार आधार असिद्ध होगा और अनुमान पक्ष-दोष से ग्रस्त होगा।

चन्द्रकीर्ति यहाँ यह उद्भावन करते हैं कि 'शब्द अनित्य है' इत्यादि पक्ष को सिद्ध करने के लिए धर्म-सामान्य (अनित्यता-साधारण) और धर्मी-सामान्य (शब्द-साधारण) का ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा विशेष ग्रहण करने से अनुमान-अनुमेय व्यवहार सदा के लिए समाप्त हो जायगा। शब्द और अनित्यता इस पक्ष और साध्य में वादियों में यह विप्रतिपत्ति होगी कि यहाँ किस शब्द का ग्रहण करें। बौद्ध-संमत चातुर्महाभौतिक शब्द लें तो वह अन्य मत में असिद्ध होगा। यदि आकाश-गुणक शब्द लें तो वह बौद्ध-मत में असिद्ध होगा। इसी प्रकार 'अनित्यता' से वैशेषिकादि संमत 'सहेतुक विनाश' अर्थ लें, तो वह बौद्ध-मत में असिद्ध है। बौद्ध-संमत 'निर्हेतुक विनाश' अर्थ करें तो पर को असिद्ध होगा। ऐसी अवस्था में अनुमान के लिए धर्म-धर्मी सामान्यमात्र का ग्रहण करना चाहिये, जिससे वादियों में तत्त्वकथा चल सके। अतः प्रकृत स्थल में भी परमार्थ विशेषण का उत्सर्ग करके धर्मीमात्र का ग्रहण करना चाहिये।

किन्तु विशेष ध्यान देने पर यह तर्कसंमत मध्य-मार्ग भी दोषपूर्ण ठहरता है, क्योंकि जब उत्पाद-प्रतिषेध को साध्य बताते हैं, तब उस साध्य-धर्म का धर्मी (आध्यात्मिक आयतन) अपने मिथ्या रूप को प्रकट कर देता है; क्योंकि वह सत्व के विपर्यास मात्र से आसादित है। इस प्रकार उसका धर्मत्व ही च्युत हो जाता है। इस प्रकार इस अनुमान में धर्मी की उपलब्धि संभव नहीं होगी, क्योंकि अविपरीत ज्ञानवाले विद्वान् को विपर्यस्त बोध नहीं होगा, और इसके बिना चक्षुरादि का सांवृतधर्मित्व सिद्ध नहीं होगा।

शून्यता-अशून्यतावादियों में दृष्टान्त-साम्य भी नहीं होगा, क्योंकि उनके मत में पूर्वोक्त रीति से चक्षुरादि सामान्य न सांवृत सिद्ध होगा और न पारमार्थिक।

इसी प्रकार माध्यमिक प्रतिवादी के या अपने अनुमान के समस्त पक्ष, हेतु आदि की असिद्धि निश्चित करता है। माध्यमिक अनेक प्रकार से यह सिद्ध कर देता है कि सभी अनुमान पक्ष-दोष, हेतु-दोष, असिद्धार्थ, विरुद्धार्थ आदि दोषों से ग्रस्त हो जाते हैं। जैसे—हीनयानी कहें कि आध्यात्मिक आयतनों के उत्पादक हेतु हैं, क्योंकि तथागत ने उनका निर्देश किया है; जैसे तथागत निर्दिष्ट शान्त निर्वाण स्वीकृत है। इस अनुमान में माध्यमिक पूछेगा—'तथागत का निर्देश' इस हेतु में तथागत का निर्देश सांवृत है या परमार्थ। प्रथम पक्ष के सांवृत होने के हेतु की असिद्धार्थता स्पष्ट है। द्वितीय पक्ष इसलिए असिद्ध है कि परमार्थ में निर्वर्त्य-निर्वर्तक-भाव (कार्यकारणभाव) असिद्ध है।

माध्यमिक स्वतन्त्र अनुमानवादी नहीं

वादी माध्यमिक पक्ष पर आक्षेप करते हैं कि आपने जैसे परकीय अनुमानों को दोष-ग्रस्त सिद्ध किया है, उसी रीति से आपका अनुमान-प्रयोग भी दोष-दुष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में परपक्षी ही क्यों उन दोषों का उद्धार करे। उभय पक्ष के दोषों के उद्धार का दायित्व उभय पर है। अतः इन दोषों से आप कैसे बचते हैं।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि स्वतन्त्र अनुमानवादी पर ही ये दोष लगते हैं। हम स्वतन्त्र अनुमानवादी नहीं हैं। हमारे अनुमानों की सफलता तो केवल पर प्रतिज्ञा के निषेध मात्र में है। जैसे स्वतन्त्र अनुमानवादी चक्षु के द्वारा देखना स्वीकार करता है (चक्षुः पश्यति)। माध्यमिक पूछता है कि आप चक्षु का आत्म-दर्शन (अपने को देखना) तो स्वीकार नहीं करते और उसमें पर-दर्शन की अविनाभूतता (चक्षु का दूसरे को अनिवार्यतः देखना) स्वीकार करते हैं। हम इसके विपरीत घटादि में स्वात्म-अदर्शन के साथ पर-दर्शन के अभाव का नियम पाते हैं। अतः जब चक्षु में स्वात्म-दर्शन नहीं है तो परदर्शन भी सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि चक्षुरादि का नीलादि दर्शनवादियों के स्वप्रसिद्ध अनुमान के ही विरुद्ध है। माध्यमिक कहता है कि पूर्वोक्त प्रकार से हमें पर पक्ष में दोषों का उद्भावन मात्र कर देना है। ऐसी स्थिति में मेरे पक्ष में उक्त दोष नहीं लग पाते, जिससे समानदोषता का प्रसंग उठाया जा सके।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि वादी-प्रतिवादियों में किसी एक पक्ष की प्रसिद्ध मान्यता से भी अनुमान बाधित हो जाता है। जो लोग प्रमाण या दोषों का उभयवादियों से निश्चित होना आवश्यक मानते हैं, उन्हें भी लौकिक व्यवस्था के अनुसार स्ववचन से भी स्वानुमान खंडित होता है, यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार केवल उभय प्रसिद्ध आगम से ही आगम-बाधा नहीं दी जाती, प्रत्युत स्वप्रसिद्ध आगम से भी आगम बाधित होता है। विशेषतः स्वार्थानुमान में सर्वत्र स्वप्रसिद्धि का ही महत्व है,उभय-प्रसिद्धि आवश्यक नहीं है।

परतःउत्पादवाद का खंडन

आचार्य स्वतःउत्पादवाद का खंडन करके परतःउत्पाद का खंडन करते हैं।

भावों की परतः उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पर का अभाव है। पदार्थों का स्वभाव प्रत्ययादि में (जो पर हैं) नहीं है। मध्यमकावतार में परतः उत्पत्तिवाद के खण्डन में चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि अन्य की अपेक्षा से यदि अन्य उत्पन्न हो तो ज्वाला से भी अन्धकार होना चाहिये, और सब से सब वस्तुओं का जन्म होना चाहिये; क्योंकि कार्य के प्रति उससे अतिरिक्त अखिल वस्तुओं में परत्व अक्षुण्ण है।

स्वतः परतः इन दोनों से भी भावों की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त रीति से जब तक एक-एक में उत्पाद का सामर्थ्य नहीं है, तो मिलित में भी कहाँ से आएगा।

भावों का अहेतुतः उत्पाद भी नहीं होगा। अहेतुक उत्पाद मानें तो सर्वदर्शन-संमत कार्यकारणभाव के सिद्धान्त का विरोध होगा और अहेतुक गगन-कमल के वर्ण और गन्ध के समान हेतु-शून्य जगत् भी गृहीत न होगा।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि पूर्वोक्त स्व, पर और उभय पक्षों में ईश्वरादि का कर्तृवाद अन्तर्भूत है, अतः इन पक्षों के खंडन से ईश्वरोत्पादवाद आदि समस्त पक्ष भी निरस्त हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य नागार्जुन सब प्रकार से भावों के उत्पाद-सिद्धान्त का खंडन करके पूर्वोक्त अनुत्पाद आदि से विशिष्ट प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त सुदृढ़ करते हैं। आगे प्रतीत्य-समुत्पाद की सिद्धान्त संमत व्याख्या दी जाती है।

प्रतीत्य-समुत्पाद

आचार्य चन्द्रकीर्ति 'प्रतीत्य समुत्पाद' से सापेक्ष-कारणता की सिद्धि के लिए उससे संबन्धित पूर्ववर्ती आचार्यों की विरुद्ध व्याख्याओं का निषेध करते हैं और उसका सिद्धान्त-संमत अर्थ करते हैं।

चन्द्रकीर्ति के अनुसार 'प्रतीत्य' पद में प्रति, ई, का अर्थ प्राप्ति अर्थात् 'अपेक्षा' है और उसका 'ल्यप्' प्रत्यय के साथ योग होने पर 'प्राप्त कर' 'अपेक्षा कर' 'होने पर' यह अर्थ होता है। 'समुत्पाद' शब्द सम्-उत् पूर्वक पद् धातु से निष्पन्न है, इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है। इस प्रकार प्रतीत्य-समुत्पाद शब्द का मिलितार्थ है—"हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करके भावों का उत्पाद या प्रादुर्भाव।"

वीप्सार्थक व्युत्पत्ति का खंडन—कुछ आचार्य 'ई' (इण्) को गत्यर्थक या विनाशार्थक मानते हैं और उसका तद्धितीय 'यत्' प्रत्यय से 'इत्य' को व्युत्पन्न करते हैं और उसका अर्थ 'विनाशी' या 'विनाशशील' करते हैं। पुनः वीप्सार्थक 'प्रति' से युक्त 'इत्य' का समुत्पाद के साथ समास करते हैं (प्रति प्रति इत्यानां समुत्पादः)। इस पक्ष में प्रतीत्य-समुत्पाद का समुदित अर्थ "पुनः पुनः विनाशशील भावों का उत्पाद" होता है। चन्द्रकीर्ति इस अर्थ का खंडन करते हैं।

चन्द्रकीर्ति वादी-संम्मत व्याख्या की आलोचना में कहते हैं कि प्रतीत्य-समुत्पाद की वीप्सार्थक व्युत्पत्ति भगवान् के कुछ वचनों में अवश्य संगत होगी। जैसे—"हे भिक्षुओ[1]। तुम्हें प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना दूँगा, जो प्रतीत्य-समुत्पाद को जानता है वह धर्म को जानता है" इत्यादि। किन्तु जहाँ देशना में साक्षात् रूप से अर्थ-विशेष (कोई एक अर्थ) अंगीकृत है और उस अर्थ का विज्ञान एक इन्द्रिय से होना बताना है, वहाँ प्रतीत्य समुत्पाद की वीप्सार्थता असंगत होगी। जैसे भगवान् की यह देशना लीजिये—"चक्षु और रूप को प्राप्त कर चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है" (चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्)। यहाँ चक्षुरिन्द्रियहेतुक ज्ञान है, और वह एकार्थक है। ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति में वीप्सार्थ की पौन-

---

१—प्रतीत्यसमुत्पादं वो भिक्षवो देशयिष्यामि। यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति स धर्मं पश्यति।

पुन्यता कैसे संभव होगी ? (पौनःपुन्य के लिए अर्थों की अनेकता आवश्यक है)। इसके विपरीत प्रतीत्य-समुत्पाद को यदि प्राप्त्यर्थक मानते हैं तो यह दोष न होगा। क्योंकि अर्थविशेष अंगीकृत हो या न हो दोनों अवस्थाओं में प्रतीत्य की प्राप्त्यर्थता संभव है। जहाँ कोई अर्थ-विशेष (कोई एक अर्थ) अंगीकृत न हो उस सामान्य स्थल में प्रतीत्य का अर्थ प्राप्त कर होगा। जहाँ अर्थविशेष अंगीकृत है, वहाँ भी चक्षुःप्रतीत्य 'चक्षु प्राप्त कर' 'देख कर' अर्थ होगा।

यदि कोई कहे कि विज्ञान अरूपी है, उसकी चक्षु से प्राप्ति नहीं होगी। यह ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार "यह भिक्षु फल (निर्वाण) प्राप्त है" (प्राप्तफलोऽयं भिक्षुः) इस वाक्य में प्राप्ति अभ्युपगत है उसी प्रकार यहाँ भी प्राप्ति अभीष्ट है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि माध्यमिक 'प्राप्य' शब्द का पर्याय 'प्रेक्ष्य' मानते हैं। इसे आचार्य अपने सूत्र में भी स्वीकार करते हैं (तत्तत् प्राप्य समुत्पन्नं नोत्पन्नं तत्स्वभावतः)।

इदंप्रत्ययता का खंडन—कुछ लोग प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ इदंप्रत्ययता मात्र करते हैं और इसमें "अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादाद् इदम् उत्पद्यते (इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है) इस वचन का प्रमाण उपस्थित करते हैं। यह अयुक्त है। क्योंकि इसमें 'प्रतीत्य' और 'समुत्पाद' दोनों शब्दों के अर्थविशेष का अभिधान नहीं है, जब कि उक्त वचन में वह स्पष्ट विवक्षित है।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि प्रतीत्य-समुत्पाद को एक रूढ़ि शब्द भी नहीं मान सकते, क्योंकि आचार्य ने पूर्वोक्त वचन में स्पष्ट ही अवयवार्थों को लेकर व्याख्या की है। 'इसके होने पर यह होता है' इस वाक्य में भी सति-सप्तमी का अर्थ 'प्राप्ति' या 'अपेक्षा' ही है। 'ह्रस्वे सति दीर्घं भवति' में 'ह्रस्वे सति' का अर्थ 'ह्रस्वता की अपेक्षा' या 'ह्रस्वता प्राप्तकर' यह अर्थ है।

बुद्ध-देशना की नेयार्थता और नीतार्थता

आरम्भ में प्रतीत्य-समुत्पाद को अनुत्पादादि से विशिष्ट कहा गया है। वादी का प्रश्न है कि माध्यमिक प्रतीत्य-समुत्पाद को अनुत्पादादि विशिष्ट कैसे मानेगा, जब कि 'अविद्या[1] प्रत्यय से संस्कार ··· ··· ··· अविद्या निरोध से संस्कार का निरोध' 'तथागत[2] का उत्पाद मानें या अनुत्पाद मानें इन धर्मों की धर्मता स्थित है'। 'सत्व[3] स्थिति के लिए एक धर्म है, जो कि चार आहार हैं' इत्यादि वचनों से भगवान् ने अनेकानेक धर्मों की सत्ता स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त परलोक से इहागमन, इहलोक से परलोकगमन आदि भी संमत है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि प्रतीत्य-समुत्पाद की निरोधादि विशिष्टता आपाततः प्रतीत होती है। इसीलिए मध्यमक-शास्त्र के द्वारा आचार्य ने सूत्रान्तों के दो विभाग उपदर्शित

---

१. अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः अविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः।

२. उत्पादाद् वा तथागतानामनुत्पादाद् वा तथागतानां स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता।

३. एको धर्मः सत्त्वस्थितये, यदुत चत्वार आहाराः।

किया भगवान् के वचनों की नेयार्थता और नीतार्थता से अपरिचित लोग उनकी देशना का अभिप्राय न जानकर पूर्वोक्त प्रकार के सन्देह करते हैं। वे नहीं जानते कि कौन-सी देशना तत्वार्थ है और कौन-सी आभिप्रायिकी है। ऊपर के भगवत् वचनों में प्रतीत्य-समुत्पाद उत्पाद निरोध आदि से अवश्य निर्दिष्ट है, किन्तु वह अविद्या-तिमिर से उपहत दृष्टिवालों की अपेक्षा से है न कि अनास्रव स्वभाव से युक्त अविद्या-तिमिर से अनुपहत ज्ञानवालों की अपेक्षा से। तत्वदर्शन की अपेक्षा से (तत्वार्थाः) भी भगवान् के वचन हैं; जैसे–"हे भिक्षुओ[1] ! अमोषधर्मी निर्वाण परम सत्य है, सर्व संस्कार मोषधर्मा एवं मृषा हैं। इत्यादि।"

आर्य अक्षयमति सूत्र के अनुसार जो सूत्रान्त मार्ग (मोक्ष साधन) के अवतार के लिए निर्दिष्ट हैं, वे नेयार्थ हैं; और जो फल (मोक्ष) के अवतार के लिए निर्दिष्ट हैं, वे नीतार्थ हैं। इसलिए आचार्य ने भी तत्वदर्शन की अपेक्षा से ही "न स्वतः नापि परतः" इत्यादि युक्तियों से जगत् की निःस्वभावता सिद्ध की है। वस्तुतः आचार्य ने भगवान् की उत्पादादि देशना को मृषाभिप्रायिक सिद्ध करने के लिए ही समस्त मध्यमक-शास्त्र में प्रतीत्य-समुत्पाद का विश्लेषण किया है।

एक प्रश्न है कि यदि धर्मों का मृषात्व प्रतिपादन ही इस समारंभ का उद्देश्य है, तो जो मृषा होता है वह सर्वथा असत् होता है। ऐसी अवस्था में सत्व के अकुशल-कर्म नहीं है और उसके अभाव में दुर्गतियाँ नहीं होगी। जब कुशल कर्म नहीं है और उसके अभाव से सुगतियाँ नहीं है, तो सुगति-दुर्गति के अभाव से संसार का भी अभाव होगा। ऐसी अवस्था में निर्वाण के लिए माध्यमिक का यह समस्त आरंभ भी व्यर्थ होगा।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि माध्यमिक सत्याभिनिवेशी लोक की प्रतिपक्ष भावना के लिए संवृति-सत्य की अपेक्षा से भावों का मृषात्व प्रतिपादन करता है। किन्तु कृतकार्य आर्य मृषा, अमृषा कुछ भी उपलब्ध नहीं करता; क्योंकि जिसे सर्वधर्मों का मृषात्व परिज्ञात है उसके लिए न कर्म है और न संसार। वह किसी भी धर्म के अस्तित्व नास्तित्व की उपलब्धि नहीं करता। जिसे विपर्यस्त धर्मों का मृषात्व अवगत नहीं है, वह प्रतीत्य-समुत्पन्न भावों में स्वभावाभिनिवेश करता है। धर्मों में सत्याभिनिविष्ट व्यक्ति ही कर्म करता है, और संसरण करता है। विपर्यासावस्थित होने के कारण उसे निर्वाण का अधिगम नहीं होता।

रत्नकूट-सूत्र में उक्त है कि हे काश्यप ! गवेषणा करने पर चित्त नहीं मिलता, जो मिलता नहीं वह उपलब्ध नहीं है, जो उपलब्ध न होगा वह अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न

१. एतद्धि भिक्षवः परमं सत्यं यदुत अमोषधर्मनिर्वाणम्। सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माणः।

"फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा।
मरीचिसदृशी संज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः।
मायोपमं च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना।।"

में भी न होगा, जो अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्न में नहीं है उसका कोई स्वभाव नहीं है, जिसका कोई स्वभाव नहीं है उसका उत्पाद नहीं, जिसका उत्पाद नहीं उसका निरोध नहीं।

यहाँ आचार्य चन्द्रकीर्ति विभिन्न प्राचीन सूत्रों के प्रमाणों को उद्धृत कर सिद्ध करते हैं कि पदार्थ यद्यपि मृषा-स्वभाव हैं, किन्तु वे संक्लेश (क्लेश) और व्यवदान (मोक्ष) के निमित्त होते हैं।

पहले अविद्या-संस्कार-नामरूपादि देशना की सांवृतिकता दिखाई गई है। अब चन्द्रकीर्ति संवृति का स्वरूप व्यवस्थान करते हैं।

संवृति की व्यवस्था

संवृति की सिद्धि इदंप्रत्यता-मात्र ('यह' बुद्धि जैसे—यह घट है, यह पट है; इत्यादि) से होती है। इसलिए माध्यमिक पूर्वोक्त स्वतः,परतः, उभयतः,अहेतुतः,इन पक्षों का अभ्युपगम नहीं करते। अन्यथा वह सस्वभाववाद में आपन्न होंगे। 'इदं प्रत्ययता' के अभ्युपगम से हेतु-फल की अन्योन्यापेक्षता सिद्ध होती है। इससे सांवृतिक अवस्था में भी स्वभाववाद निरस्त होता है। वस्तुतः पदार्थों के संबन्ध में भगवान् का यह संकेत कि—"इसके होनेपर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है" सांवृतिक निःस्वभावता को प्रकट करता है।

वादी प्रश्न करता है कि 'भाव अनुत्पन्न हैं' आपका यह निश्चय प्रमाणों से जन्य है या अप्रमाणज है? यदि प्रमाणज है, तो प्रमाणों की संख्या और लक्षण बतायें; और यह बताइये कि उनके विषय क्या क्या हैं? पुनः वे स्वतः उत्पन्न होते हैं, या परतः; उभयतः अथवा अहेतुतः।

अप्रमाणज पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमेय का अधिगम प्रमाणाधीन होता है। यदि प्रमाण नहीं है, तो अधिगम नहीं होगा; और अधिगम नहीं होगा, तो 'भाव अनुत्पन्न हैं' यह निश्चय नहीं होगा। पुनः आपके समान हम भी सर्व भावों की सस्वभावता के निश्चय पर दृढ़ क्यों न होंगे? और जैसे आप सर्व भावों की अनुत्पन्नता पर दृढ़ हैं, वैसे हम सर्व भावों की उत्पत्ति के वाद को सुस्थिर क्यों न करेंगे? आपको एक यह भी कठिनाई होगी कि आपका स्वयं अनिश्चित पक्ष परपक्ष का प्रत्यायन नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में मध्यमक-शास्त्र का आरंभ करना व्यर्थ होगा, और हमारा पक्ष (सर्व भावों की सत्ता) अप्रतिषिद्ध होगी।

चन्द्रकीर्ति समाधान करते हैं कि हमारा कोई निश्चय नहीं है,जिसके प्रमाणज अप्रमाणज होने का आप प्रश्न उठावें। हमारे पक्ष में कोई अनिश्चय भी नहीं है, जिसकी अपेक्षा से प्रतिपक्ष में निश्चय खड़ा हो। संबन्धी से निरपेक्ष होकर निश्चय या अनिश्चय खड़े नहीं हो सकते। माध्यमिक पक्ष में निश्चय का अभाव है,अतः उसकी प्रसिद्धि के लिए प्रमाण की संख्या, लक्षण, विषय आदि किसी के भी संबन्ध में विप्रतिपत्तियों के निरास का भार माध्यमिक पर नहीं है। हम पक्ष-चतुष्टय-(स्वतः, परतः, उभयतः, अहेतुतः उत्पाद) वाद का जो निश्चय पूर्वक खंडन करते हैं, वह भी लोक-प्रसिद्ध उपपत्तियों से ही; आर्य की परमार्थ-दृष्टि से नहीं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आर्यों के पास उपपत्तियाँ नहीं हैं, बल्कि यह कि आर्य तूष्णींभाव को

परमार्थ समझते हैं। आर्य लोक को अपने परमार्थ का बोध लोक की ही प्रसिद्ध उपपत्तियों से कराते हैं।

यदि वादी कहे कि हमें पदार्थ की सत्ता का अनुभव होता है। यह माध्यमिक मत में भी ठीक है, किन्तु वह अनुभव तैमिरिक के द्विचन्द्रादि अनुभव के समान अवश्य ही मृषा है।

प्रमाण-द्वयता का खण्डन

वादी स्वलक्षण (पदार्थ का असाधारण रूप) तथा सामान्य-लक्षण (पदार्थ का साधारण रूप) इन दो प्रमेयों के अनुरोध से दो प्रमाण मानते हैं। किन्तु विचार करना है कि जिनके ये दो लक्षण हैं, उनसे पृथक् लक्ष्य है या नहीं? है; तो तृतीय प्रमेय सिद्ध होगा, फिर प्रमाण-द्वय कैसे? नहीं है; तो ये दोनों लक्षण निराश्रय होंगे, फिर भी प्रमाण-द्वयता कैसे? वादी कहे कि हमारे मत में 'जिसके द्वारा लक्ष्य लक्षित है' (लक्ष्यतेऽनेन) वह लक्षण नहीं है, प्रत्युत 'जो लक्षित हो' (लक्ष्यते तदिति लक्षणम्) वह लक्षण है। इस व्युत्पत्ति में भी जिस करण से यह लक्षित होगा, उससे अर्थान्तरभूत कर्म मानना पड़ेगा। फिर पूर्वोक्त दोष आपतित होंगे। यदि कहें कि ज्ञान अवश्य करण-साधन (ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानम्) है, किन्तु वह स्वलक्षण के अन्तर्भूत है। यह ठीक नहीं है। अन्य पदार्थों से असाधारण (अत्यन्त भिन्न) एवं भावों का आत्मीय स्वरूप स्वलक्षण कहलाता है; जैसे—पृथिवी का काठिन्य,वेदना का विषयानुभव, विज्ञान की विषय-प्रतिविज्ञप्ति। वादी के अनुसार ज्ञान की करणता अभ्युपगत है ही,अब 'लक्ष्यते तत्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर कर्मता भी अभ्युपगत होगी, जो अवश्य ही विज्ञान-स्वलक्षण से अतिरिक्त होगी। ऐसी अवस्था में पूर्वोक्त दोषों की पुनः प्रसक्ति हो जायगी।

यदि वादी कहे कि पृथिव्यादि का काठिन्यादि विज्ञानगम्य है, अतः वह उसका कर्म है; इस प्रकार स्वलक्षण से कर्म अतिरिक्त नहीं होगा। वादी का यह कहना अयुक्त है। क्योंकि इस प्रकार विज्ञान-स्वलक्षण कर्म नहीं होगा, और कर्म के बिना स्वलक्षण प्रमेय सिद्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त वादी को प्रमेय में यह विशेष भेद करना होगा कि एक स्वलक्षण ऐसा है, जो लक्षित होता है; वह प्रमेयभूत है। दूसरा ऐसा है, जिससे लक्षित किया जाता है; वह अप्रमेयभूत है। यदि दूसरे को भी पहले के समान कर्म-साधन ही मानें, तो उस कर्मभूत से अन्य कोई करण-भूत मानना ही पड़ेगा। इस दोष के परिहार के लिए यदि ज्ञानान्तर की करणता स्वीकार करें तो अनवस्था-दोष होगा।

स्वसंवित्ति का खंडन

एक पक्ष है कि स्वलक्षण की कर्मता माननी चाहिये, और उसका ग्रहण स्वसंवित्ति से करना चाहिये। ऐसी अवस्था में कर्मता रहने पर भी एक प्रमेय में उसका अन्तर्भाव होगा। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि स्वसंवित्ति असिद्ध है। यह सर्वथा अयुक्त है कि स्वलक्षण स्वलक्षणान्तर से लक्षित हो, और वह भी स्वसंवित्ति से; क्योंकि स्वसंवित्ति भी ज्ञान है। यदि वह स्वलक्षण से अभिन्न होगी तो अतिरिक्त लक्ष्य का अभाव होगा। ऐसी अवस्था में पूर्व रीति से लक्षण-प्रवृत्ति निराश्रय होगी।

लक्ष्य-लक्षण का खंडन

सिद्धान्ती कहता है कि हमें यह विचार करना होगा कि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है या अभिन्न। यदि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है तो लक्ष्य से भिन्न अलक्षण भी है। उसके समान लक्षण भी अलक्षण क्यों नहीं होगा। इसी प्रकार लक्षण से भिन्न होने के कारण अलक्ष्यवत् लक्ष्य भी लक्ष्य नहीं रहेगा। एक दोष यह भी होगा कि लक्षण जब लक्ष्य से भिन्न है, तो अवश्य ही लक्षण निरपेक्ष है; किन्तु यदि लक्षण-निरपेक्ष लक्ष्य है, तो खपुष्प के समान वह लक्ष्य न होगा। इन दोषों से बचने के लिए वादी यदि लक्ष्य-लक्षण की अभिन्नता माने; फिर भी दोष-मुक्त न होगा। लक्षण जैसे लक्षण से अभिन्न होने के कारण अपना लक्षणत्व छोड़ देता है, उसी प्रकार लक्ष्य भी अपनी लक्ष्यता छोड़ देगा। लक्ष्य लक्ष्य से अव्यतिरिक्त होने के कारण जैसे लक्ष्य-स्वभाव नहीं रहता, उसी प्रकार लक्षण भी अपनी लक्षण-स्वभावता छोड़ता है।

आचार्य कहते हैं कि जब लक्ष्य-लक्षण एकीभाव और नानाभाव दोनों प्रकार से असिद्ध हैं, तो उनकी सिद्धि किसी तीसरे प्रकार से नहीं की जा सकती।

जो लोग लक्ष्य-लक्षण की अवाच्यता के आधार पर उसकी सिद्धि चाहते हैं, वे भ्रान्त हैं। क्योंकि अवाच्यता के लिए परस्पर विभागों का परिज्ञान न रहना आवश्यक है। किन्तु यहाँ 'यह लक्षण है' 'यह लक्ष्य है' इसका परिज्ञान संभव नहीं है। ऐसी अवस्था में उसके अभाव-ज्ञान की कथा सुतरां असिद्ध है, क्योंकि अभाव-ज्ञान की सिद्धि के लिए जिसका अभाव विवक्षित हो, उसका ज्ञान आवश्यक होता है।

ज्ञान के द्वारा लक्ष्य-लक्षण का परिच्छेद मानें तो प्रश्न होगा कि परिच्छेद का कर्ता कौन है? कर्ता के अभाव में ज्ञान का करणत्व भी कैसा? चित्त कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थमात्र के दर्शन में चित्त का व्यापार है और अर्थविशेष का दर्शन चैतसों का व्यापार है। करणत्व की सिद्धि एक प्रधान क्रिया में दूसरी अप्रधान क्रिया के अंगभाव की निवृ`त्ति कराने से होती है, किन्तु यहाँ ज्ञान और विज्ञान की मिश्रित कोई एक प्रधान क्रिया नहीं है। विज्ञान की प्रधान क्रिया अर्थ-मात्र की परिच्छित्ति है, और ज्ञान अर्थविशेष का परिच्छेद करता है। इस प्रकार ज्ञान का करणत्व और चित्त का कर्तृत्व असंभव है। वादी कहते हैं कि आगमानुसार सर्व धर्म अनात्मा हैं, अतः यद्यपि कोई कर्ता नहीं है, किन्तु क्रियादि व्यवहार होता है। आप आगम के सम्यक् अर्थ से अवगत नहीं हैं। यदि कहें कि 'राहोः शिरः' (राहु का शिर) इस प्रयोग में भी शिर अतिरिक्त विशेषण नहीं है, फिर भी विशेषण-विशेष्य व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'पृथिव्याः स्वलक्षणम्' (पृथिवी का स्वलक्षण) में लक्ष्य-लक्षण का व्यवहार होगा, यद्यपि स्वलक्षण से अतिरिक्त पृथिवी नहीं है।

सिद्धान्ती कहता है कि 'राहोः शिरः' प्रयोग में पाणि आदि अंगों के समान अन्य अंगों की अपेक्षा से (पदार्थान्तर साकांक्ष) शिरादि बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, और अन्य संबन्ध के निराकरण के लिए राहु विशेषण भी युक्त हो सकता है, किन्तु काठिन्यादि से अतिरिक्त पृथिवी नहीं है, अतः यहां विशेष्य-विशेषण भाव नहीं होगा। यदि कहें कि अन्य वादियों को पृथिवी का लक्ष्य-

त्व अभिमत है, उनके अनुरोध से ही माध्यमिक लक्षणाख्यान क्यों न करें ? यह ठीक नहीं है। तीर्थिकों के युक्ति से रहित पदार्थों का माध्यमिक अभ्युपगम नहीं करेंगे, अन्यथा उन्हें उनके प्रमाणान्तरों को भी मानना पड़ेगा। वादी कहें कि 'राहोः शिरः' दृष्टान्त में शिर से अतिरिक्त राहु अर्थान्तर नहीं है, किन्तु अर्थान्तर प्रयोग होता है; इसलिए आप भी इस दृष्टान्त का अनुसरण कीजिए तो ठीक नहीं; क्योंकि लौकिक व्यवहार में इस प्रकार विचार नहीं चल सकता। लौकिक पदार्थों का अस्तित्व ही अविचारमूलक है।

जिस प्रकार विचार करने पर रूपादि से अतिरिक्त आत्मा सिद्ध नहीं होता, किन्तु स्कन्धों के उपादान से लोकसंवृत्या (लोक-बुद्धि से) आत्मा का अस्तित्व है; उस प्रकार भी 'राहोः शिरः' सिद्ध नहीं होता। अतः वादी का यह निदर्शन अयुक्त है। यद्यपि माध्यमिक काठिन्यादि से अतिरिक्त पृथिवीरूप लक्ष्य नहीं मानते, इसलिए लक्ष्यातिरिक्त निराश्रय लक्षण भी सिद्ध नहीं होता; तथापि वह लक्ष्य-लक्षण की परस्परापेक्षया सांवृतिक सत्ता मानते हैं। इस बात को सभी अवश्य मानें, अन्यथा संवृति-सत्य उपपत्तियों से वियुक्त न होगा, और संवृति भी तत्व हो जायगी। उपपत्तियों से विचार करने पर न केवल 'राहोः शिरः' का अस्तित्व असंभव है प्रत्युत उक्त युक्तियों से रूप-वेदनादि की सत्ता भी सिद्ध नहीं होगी। अतः 'राहोः शिरः' के समान वे असत् हो जायँगे। किन्तु इस प्रकार की असत्ता अयुक्त है।

वादी कहता है कि माध्यमिक की यह सूक्ष्मेक्षिका (सूक्ष्म निरीक्षण) व्यर्थ है, क्योंकि हम लोग समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को सत्य कहाँ कहते हैं। पूर्वोक्त प्रणाली से केवल लोकप्रसिद्धि का ही व्यवस्थापन करते हैं।

माध्यमिक कहता है कि आपकी यह सूक्ष्मेक्षिका व्यर्थ है, जिससे आप लौकिक-व्यवहार का अवतारण करना चाहते हैं। क्योंकि हमारे पक्ष में जब तक तत्वाधिगम नहीं होता तब तक मुमुक्षु भी मोक्ष के आवाहक कुशल मूलों के उपचय-मात्र के लिए विपर्यास-मात्र से आसादित इस संवृति-सत्य को मानता है। आपकी बुद्धि संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य का भेद करने में विदग्ध नहीं है, इसलिए आप लौकिक-न्याय का अनुरोध न करके उपपत्तियाँ देकर वस्तुतः 'संवृति' का नाश करते हैं।

माध्यमिक में संवृति-सत्य के व्यवस्थापन की विचक्षणता है, इसलिए लौकिक-पक्ष का ही अनुरोध कर वह वादी के उस पक्ष का निवर्तन (उसी की मान्यताओं से) करता है, जो संवृति के एक देश के निराकरण के लिए वह अन्य-अन्य उपपत्तियाँ देता है। इस प्रकार लोकाचार से भ्रष्ट लोगों को वृद्धजन जैसे उससे निवर्तन करते हैं, उसी प्रकार हम माध्यमिक लोकाचार परिभ्रष्ट वादियों का निवर्तन करते हैं; संवृति का निवर्तन नहीं करते। इस प्रकार यदि लौकिक-व्यवहार है, तो अवश्य ही उसमें लक्ष्य-लक्षणभाव भी होगा। किन्तु यह ध्यान रहे कि वह पूर्वोक्त दोषों से मुक्त नहीं होगा। परमार्थ-सत्य की दृष्टि में लक्ष्य-लक्षण दोनों की सत्ता सिद्ध नहीं होगी, फलतः प्रमाण-द्वय की सत्ता भी सिद्ध नहीं होगी।

वादी आक्षेप करता है कि माध्यमिक के मत में एक बड़ा दोष यह है कि वह शब्दों की क्रिया-कारक संबन्ध से युक्त व्युत्पत्ति नहीं मानता। किन्तु क्रिया-कारक संबन्ध से प्रवृत्त शब्दों से व्यवहार करता है। किन्तु शब्दार्थ तथा क्रिया-करणादि स्वीकार नहीं करता। माध्यमिक का उत्तर है कि आगम की प्रमाणान्तरता सिद्ध न होगी; क्योंकि हमने दोनों प्रमेयों (स्वलक्षण, सामान्य-लक्षण) को भी असिद्ध कर दिया है।

प्रमाणों की अपरमार्थता

लोकसंमत घट का प्रत्यक्ष होना असंभव है, क्योंकि नीलादि से पृथक् घट की सत्ता नहीं है और पृथिव्यादि से पृथक् नीलादि की सत्ता नहीं है। आचार्य चन्द्रकीर्ति यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की विशेष परीक्षा करते हैं। कहते हैं कि 'घट प्रत्यक्ष है' इस लौकिक व्यवहार का प्रत्यक्ष के लक्षण में संग्रह नहीं होता। वस्तुतः यह अनार्य-व्यवहार है। यदि कहें कि घट के उपादान (कारण) नीलादि का प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण होता है, अतः कारण के प्रत्यक्ष से उपचारवश कार्य को भी प्रत्यक्ष कहा जायगा; तो इसके लिए घट में औपचारिक प्रत्यक्षता की सिद्धि आवश्यक होगी, और उपचार के लिए नीलादि से पृथक् घट अप्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होना चाहिये; क्योंकि यदि उपचर्यमाण (आश्रय) ही न होगा तो उपचार किसमें होगा।

अपरोक्षार्थवाची प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है:–विषय की साक्षात् अभिमुखता। घट-नीलादि को अक्ष (इन्द्रिय) प्रतिगत (प्राप्त) करते हैं, अतः वे प्रत्यक्ष हैं। इसलिए उसके परिच्छेदक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा जाता है; जैसे तृणाग्नि, तुषाग्नि। यदि प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति 'जिस ज्ञान का व्यापार प्रत्येक इन्द्रिय (अक्षं अक्षं प्रति) के प्रति हो' करें, तो ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान का विषय इन्द्रिय नहीं होता प्रत्युत अर्थ होता है। ज्ञान का व्यापार यदि उभय (इन्द्रिय और विषय दोनों) के अधीन मानें, और इन्द्रिय की पटुता और मन्दता के भेद से ज्ञानभेद स्वीकार कर ज्ञान का व्यपदेश इन्द्रिय के आधार पर ही करें; जैसे–चक्षुर्विज्ञानादि, तथा प्रत्येक विषय के प्रति होनेवाला ज्ञान (अर्थम्-अर्थं प्रति वर्तते) यह व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ मानें; फिर भी प्रत्येक इन्द्रिय का आश्रय लेकर होनेवाला अर्थ-विषयक विज्ञान प्रत्यक्ष है, यही अर्थ होगा। क्योंकि अर्थ और इन्द्रिय में इन्द्रिय असाधारण है, इसलिए उसी से ज्ञान व्यपदिष्ट होता है। ज्ञान का व्यपदेश विषय से मानने पर षड्विज्ञानों में परस्पर भेद नहीं होगा। जैसे— मनोविज्ञान चक्षुरादिविज्ञान के साथ किसी एक विषय में प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि विषय से ज्ञान का व्यपदेश करें, तो नीलादि विज्ञान मानस है या इन्द्रियज है, इसका भेद न होगा। किन्तु आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि इस तर्क से भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय-व्यपदेश नहीं बनता। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण 'कल्पनापोढता' (निर्विकल्प ज्ञान) है, वह विकल्प से नितरां भिन्न है। इसीलिए स्वलक्षण, सामान्य-लक्षण दो भिन्न प्रमेय हैं। उन प्रमेयों के आधीन दो भिन्न प्रमाणों की व्यवस्था है। ऐसी अवस्था में ज्ञान का इन्द्रिय-व्यपदेश अकिंचित्कर है। इसलिए ज्ञान की विषय से ही व्यवस्था करनी चाहिये।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु उससे लोक-

व्यवहार नहीं चलता; जब कि शास्त्रको लौकिक प्रमाण-प्रमेय की ही व्याख्या करनी है। इसलिए लक्ष्य स्वलक्षण हो या सामान्य-लक्षण, साक्षात् उपलब्ध होने के कारण अपरोक्ष ही है। द्विचन्द्रादि का ज्ञान भी केवल अतैमिरिक ज्ञान की अपेक्षा से भ्रान्त कहा जाता है। तैमिरिक की अपेक्षा से तो वह भी प्रत्यक्ष है। इसलिए ज्ञान का विषय से ही व्यपदेश करना चाहिये।

अनुमान परोक्ष-विषयक होता है, और वह अव्यभिचारी साध्य और लिङ्ग से उत्पन्न होता है। अतीन्द्रियार्थदर्शी आप्त का वचन आगम प्रमाण है। अनुभूत अर्थ का सादृश्य से अधिगम उपमान है। इस प्रकार लोक इन चार प्रमाणों से अर्थ के अधिगम की व्यवस्था करता है।

किन्तु ये समस्त प्रमाण-प्रमेय परस्पर की अपेक्षा से ही सिद्ध होते हैं। इनकी स्वाभाविक सिद्धि कथमपि नहीं होती, इसलिए इनकी केवल लौकिक स्थिति ही सिद्ध होती है, परमार्थ स्थिति नहीं है।

हेतुवाद का खंडन

सर्वास्तिवादी बौद्ध हेतुवादी हैं। वे भावों के 'परतः उत्पाद' में प्रतिपन्न हैं। वे कहते हैं कि भगवान् ने हेतु-प्रत्यय, आलंबन-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय तथा अधिपति-प्रत्यय की देशना की है। इसलिए इन पृथक्-भूत चार हेतुओं से भावों की उत्पत्ति होती है। ईश्वरादि जगत् के हेतु नहीं है। अतः कोई पाँचवाँ हेतु नहीं है। जो निर्वर्तक (सम्पन्न करने वाला) है, वह हेतु है। जो बीजभाव से अवस्थित होता है, उसे हेतु-प्रत्यय कहते हैं। जिस आलंबन में धर्म (पदार्थ) उत्पन्न होता है, वह आलंबन-प्रत्यय है। कारण का अनन्तर-निरोध (अव्यवहित निरोध) कार्य का समनन्तर-प्रत्यय है। जिसकी सत्ता से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसे अधिपति-प्रत्यय कहते हैं। इन चार प्रत्ययों से भावों की उत्पत्ति होती है।

आचार्य भावों की 'परतः उत्पत्ति' भी नहीं मानते। वे चारो हेतुओं का खंडन करते हैं। कहते हैं कि भावों (कार्य) की उत्पत्ति के पहले व्यस्त या समस्त रूप में यदि हेतुओं की सत्ता हो, तो उनसे भावों का उत्पाद संभव हो; किन्तु ऐसा नहीं है। यदि उत्पाद से पूर्व हेतु होंगे, तो उनकी उपलब्धि होनी चाहिये। यदि उपलब्ध हैं, तो फिर उत्पाद व्यर्थ है। इसलिए यह सिद्ध है कि हेतुओं में कार्यों का स्वभाव (स्वसत्ता) नहीं है। जिनमें स्वभाव नहीं है उनसे दूसरों का उत्पाद कैसे होगा।

अथवा अविकृत बीजादि कारणों में कार्य का स्वभाव नहीं होता। ऐसी अवस्था में कार्य से कारण की परवर्तिता सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि दो विद्यमान वस्तुओं में ही परस्परापेक्ष परत्व होता है, किन्तु बीज और अंकुर एककालिक नहीं हो सकते। इसलिए बीजादि 'पर' नहीं होंगे। फिर 'परतः उत्पाद' नहीं होगा। इस प्रकार आचार्य हेतुओं से उत्पाद के सिद्धान्त का खंडन करते हैं। सहेतुक क्रिया से उत्पाद मानने वाले सिद्धान्त का भी खंडन करते हैं।

'क्रिया से उत्पाद' का खंडन

'क्रिया से उत्पाद' का सिद्धान्त माननेवाला वादी कहता है कि चक्षु-रूप आदि प्रत्यय (हेतु) विज्ञान को साक्षात् उत्पन्न नहीं करते, किन्तु विज्ञान की जनक क्रिया को निष्पन्न करते हैं। इसीलिए वे 'प्रत्यय' ('कार्यं प्रति अयन्ते गच्छन्ति' कार्योत्पाद के लिए व्यापृत) कहलाते हैं। इस प्रकार प्रत्यय से युक्त विज्ञान की जनिका क्रिया ही विज्ञान को उत्पन्न करती है, प्रत्यय नहीं।

आचार्य कहते हैं कि पहले क्रिया सिद्ध हो तब उसके प्रत्यय से युक्त होने का तथा उससे विज्ञान के उत्पन्न होने का प्रश्न उपस्थित हो; किन्तु किसी प्रकार क्रिया सिद्ध नहीं होती। पूर्वपक्षी को यह बताना होगा कि क्रिया 'उत्पन्न हुए विज्ञान' (अतीत) में मानी जाय या 'उत्पन्न होने वाले' (अनागत) में, या उत्पन्न हो रहे (वर्तमान) विज्ञान में। जात का जन्म व्यर्थ है, और अजात में कर्ता के बिना जनन-क्रिया नहीं होगी; जात और अजात से अतिरिक्त जायमान की सत्ता नहीं है। इस प्रकार तीनों कालों में जनन-क्रिया असंभव है। अतः क्रिया-मात्र असिद्ध है। यदि क्रिया प्रत्यय से युक्त न हो तो निर्हेतुक होगी। अतः क्रिया पदार्थ-जनक नहीं होगी। यदि क्रिया नहीं है, तो क्रिया से रहित प्रत्यय भी जनक न होंगे।

एक प्रश्न है कि चक्षुरादि प्रत्ययों की अपेक्षा करके विज्ञानादि भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए चक्षुरादि की प्रत्ययता स्पष्ट है। उनसे विज्ञानादि प्रत्यय उत्पन्न होंगे। आचार्य कहते हैं कि बात तो यह है कि चक्षुरादि विज्ञान नामक कार्य उत्पन्न करने के पूर्व अप्रत्यय हैं, अतः अप्रत्ययों से विज्ञान (प्रत्यय) की उत्पत्ति नहीं होगी।

यहाँ वादी को यह भी बताना होगा कि उसके अनुसार चक्षुरादि विज्ञान के प्रत्यय हैं तो वह सत् विज्ञान के हैं या असत् के। दोनों प्रकार अयुक्त हैं। क्योंकि अविद्यमान अर्थ की प्रत्ययता नहीं होती और सत् को प्रत्ययता से कोई प्रयोजन नहीं है। वादी कहता है कि आप हेतु का लक्षण निर्वर्तकत्व (उत्पादकत्व) करते हैं। किन्तु आप के मत में जब हेतुओं का अभाव है तो उसका लक्षण कैसे होगा। आचार्य कहते हैं कि उत्पाद्य धर्म यदि उत्पन्न हों, तो उत्पादक हेतु उन्हें उत्पन्न करें। किन्तु धर्म सत् या असत् है, अतः उत्पाद्य नहीं हैं।

आलम्बनादि प्रत्ययों का खंडन—अन्त में आचार्य आलंबनादि प्रत्ययों का खण्डन करते हैं। चित्त-चैत्त जिस रूपादि आलंबन में उत्पन्न होते हैं, वह आलंबन-प्रत्यय है। प्रश्न है कि आलंबन-प्रत्यय विद्यमान चित्त-चैत्तों का होता है, या अविद्यमान का ? विद्यमान का आलंबन-प्रत्यय से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि आलंबन के पूर्व भी वह विद्यमान है। अविद्यमान का आलंबन से योग नहीं होगा।

इसी प्रकार कारण के अनन्तरहित निरोध से जो कार्योत्पाद-प्रत्यय है, वह समनन्तर-प्रत्यय है। किन्तु अंकुरादि-कार्य यदि अनुत्पन्न हैं, तो कारण बीजादि का निरोध भी अनुपपन्न है। ऐसी अवस्था में जब कारण-निरोध नहीं है, तो अंकुर का समनन्तर-प्रत्यय कौन होगा ? कार्य अनुत्पन्न हो फिर भी यदि बीजनिरोध मानें तो अभावीभूत बीज अंकुर का हेतु कैसे होगा और बीज-निरोध का कारण क्या होगा ?

जिस (कारण) के होने पर जो (कार्य) होता है, वह उसका अधिपति-प्रत्यय है। किन्तु समस्त भाव प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं, अतः स्वभाव से रहित हैं। ऐसी अवस्था में 'यस्मिन् सति' (जिसके होने पर) से बोधित कारणता कहाँ मिलेगी और 'यदिदं' (जो होता है) से बोधित कार्यता कहाँ से आयेगी।

फल की दृष्टि से भी हेतु नहीं है, क्योंकि व्यस्त तन्तु-तुरी-वेमादि में पट उपलब्ध नहीं होता। यदि उपलब्ध होगा तो तन्त-तुरी-वेमादि कारणों की बहुलता से कार्य की बहुलता होगी। समुदित तंत्वादि में भी पट नहीं है, क्योंकि प्रत्येक अवयवों में पट नहीं है। इस प्रकार फल उपलब्ध नहीं है, अतः प्रत्यय भी स्वभावतः नहीं हैं। इस प्रकार हेतुवाद अयुक्त है।

गति, गन्ता और गन्तव्य का निषेध

मध्यमक-शास्त्र का अभिधेयार्थ अनिरोधादि आठ विशेषणों से युक्त प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना है। उसकी सिद्धि भावों के उत्पाद-प्रतिषेध से की जा चुकी है, किन्तु भावों का अध्वगत (कालिक) आगम-निर्गम लोक में सिद्ध है, जिससे भावों की निःस्वभावता पुनः संदिग्ध हो जाती है। इस संदेह की निवृत्ति करना और उसके द्वारा आगम-निर्गम से रहित प्रतीत्य-समुत्पाद की सिद्धि करना अपेक्षित है। इसके लिए नागार्जुन एक स्वतन्त्र अध्याय में अनेक उपपत्तियों से गमनागमन क्रिया का प्रतिषेध करते हैं।

गत, अगत और गम्यमान अध्व में गति का निषेध

गमन क्रिया की सिद्धि 'गत' 'अगत' या 'गम्यमान' अध्व में ही संभव है, जो परीक्षा से सर्वथा अयुक्त है। 'गत' अध्व का गमन इसलिए असिद्ध है कि वह गमन क्रिया से उपरत अध्व है। अतः वर्तमान कालिक गमन क्रिया से उसका संबन्ध कैसे हो सकता है? इसलिए गत का गमन ठीक नहीं है (गतं न गम्यते)।

'अगत' अध्व का भी गमन उपपन्न नहीं है, क्योंकि जिसमें गमन-क्रिया (गमन) अनुत्पन्न है, वह 'अगत' अध्व है। 'अगत' अनागत-स्वरूप है, अनागत के साथ वर्तमान गमन-क्रिया का अत्यन्त भेद है। अतः अगत का गमन भी युक्त नहीं है (अगतं नैव गम्यते)। यदि अगत का गमन मानें तो वह अवश्य ही अगत नहीं रहेगा।

इसी प्रकार गम्यमान का भी गमन नहीं बनेगा। गन्ता ने जिस देश को अतिक्रान्त किया है, वह 'गत' देश है; और जिसे अतिक्रान्त नहीं किया वह 'अगत' देश है। इन दो से अतिरिक्त कौन-सा तीसरा देश है, जिसे गम्यमान देश कहा जाय और उसका गमन क्रिया से संबन्ध जोड़ा जाय?

गमन क्रिया से युक्त (गच्छत्) चैत्रादि के चरण से आक्रान्त देश की संज्ञा भी 'गम्यमान' नहीं हो सकती। चरण परमाणु से व्यतिरिक्त नहीं है। अंगुलि के अग्रभाग का परमाणु पूर्व देश है, जो 'गत' अध्व के अन्तर्गत है। पार्ष्णि-प्रदेश स्थित चरम परमाणु का जो उत्तर देश

है, वह अगत-अध्व के अन्तर्गत है। चरण के पूर्व देश और उत्तर देश की तरह प्रत्येक सूक्ष्म परमाणु का भी पूर्व-अवर दिग्-भाग है, जिसका गत-अगत अध्व में अन्तर्भाव होगा। इस प्रकार गतागत विनिर्मुक्त गम्यमान अध्व का गमन सर्वथा असिद्ध है।

'गम्यमान' के गमन के खंडन के लिए नागार्जुन अनेक पूर्वपक्ष उद्धृत कर खंडन करते हैं—

गम्यमान में ही चेष्टा हो सकती है, और जहाँ चेष्टा संभव होगी वहीं गति होगी। चरण का उत्क्षेप-परिक्षेप चेष्टा है। वह गत, अगत अध्व में संभव नहीं है, अतः गम्यमान में ही गति हो सकती है, क्योंकि जिसकी गति उपलब्ध है, वह गम्यमान है।

नागार्जुन कहते हैं कि वादी गमन-क्रिया के योग से ही गम्यमान का व्यपदेश करते हैं, किन्तु गमि-क्रिया एक है। ऐसी अवस्था में 'गम्यमान के गमन' की सिद्धि के लिए गमि-क्रिया का 'गम्यमान' के साथ पुनः संबन्ध कैसे होगा? (गम्यमानस्य गमनं कथं नामोपयुज्यते); क्योंकि गम्यमान में एक गमि-क्रिया का समावेश ठीक है, द्वितीय के लिए अवकाश नहीं है। अन्यथा 'गम्यमान' में गमन-द्वय की आपत्ति होगी।

यदि गम्यमान व्यपदेश में गमि-क्रिया का संबन्ध न मानें और 'गम्यते' के द्वारा गम्यमान अध्व की क्रिया का संबन्ध मानें तो इस पक्ष में गति के बिना ही गम्यमान की सत्ता माननी पड़ेगी। तब गमन गति रहित सिद्ध होगा।

यदि गम्यमान अध्व और 'गम्यते' क्रिया दोनो में क्रिया का संबन्ध मानें फिर भी अधिकरणभूत और आधेयभूत गमनद्वय की आपत्ति होगी। नागार्जुन कहते हैं कि गमन-द्वय को स्वीकार करने के लिए दो गन्ताओं को भी स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि गन्ता का तिरस्कार कर गमन उपपन्न नहीं हो सकते, और जिस गमन का देवदत्त कर्ता है, उसमें द्वितीय कर्ता का अवकाश नहीं है। इस प्रकार कर्तृ-द्वय का अभाव गमन-द्वय का अभाव सिद्ध करता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे एक देवदत्त कर्ता में बोलना और देखना आदि अनेक क्रियाएँ देखी जाती हैं, उसी तरह एक गन्ता में क्रिया-द्वय क्यों न होंगे? नहीं होगा; क्योंकि कारक शक्ति है,द्रव्य नहीं। यद्यपि द्रव्य के एक होने पर भी क्रिया-भेद से शक्ति का भेद होता, किन्तु एक समान दो क्रियाओं का कारक एक देशिक नहीं देखा जाता। अतः गन्ता का गमन-द्वय नहीं होता।

गमनाश्रय गन्ता का निषेध

आचार्य नागार्जुन गमनाश्रय गन्ता का भी निषेध करते हैं। तर्क यह है कि जब गन्ता के बिना निराश्रय गमन असत् है, तब गमन के असत् होने पर गन्ता की सिद्धि कैसे होगी? गन्ता की स्वरूप-निष्पत्ति ही गमन-क्रिया के करने से है। इसलिए 'गन्ता का गमन' यह ठीक नहीं होगा; क्योंकि 'गन्ता गच्छति' इस वाक्य में एक ही गमन-क्रिया है, जिसमें 'गच्छति' व्यपदेश होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई गमि-क्रिया नहीं है। द्वितीय गमि-क्रिया के बिना 'गन्ता' गन्ता नहीं होगा। तब 'गन्ता गच्छति' यह व्यपदेश कैसे बनेगा? उक्त व्यपदेश की

सिद्धि के लिए यदि उभयत्र 'गति' का योग स्वीकार करें, तो पुनः गमन-द्वय और गन्तृ-द्वय की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार 'गन्ता गच्छति' यह व्यपदेश नहीं बनेगा।

'अगन्ता गच्छति' भी नहीं बनेगा, क्योंकि अगन्ता गमि-क्रिया से रहित है, और 'गच्छति' की प्रवृत्ति गमि-क्रिया के योग से है। गन्ता, अगन्ता से विनिर्मुक्त कोई तृतीय नहीं है, जो गमन-क्रिया से युक्त हो। इसलिए गमन असिद्ध है।

गमनारंभ का निरास

नागार्जुन गमनारंभ का भी निरास करते हैं। वह प्रतिपक्षी से पूछते हैं कि आप गमनारंभ गत, अगत या गम्यमान किस अध्व में मानते हैं? गत अध्व में गमन का आरंभ मानना ठीक नहीं है। 'गत' गमन-क्रिया की उपरति है। उसमें गमनारंभ (जो वर्तमान है) मानने से अतीत वर्तमान का विरोध होगा। अगत में गमनारंभ मानने से अनागत वर्तमान का विरोध होगा। गम्यमान अध्व में गमनारंभ मानने से पूर्ववत् क्रिया-द्वय तथा कर्तृ-द्वय की आपत्ति होगी। जब तक स्थिति है, तब तक गमन का आरंभ नहीं हुआ। गमन आरंभ करने के पूर्व गत या गम्यमान अध्व नहीं हैं, जिस पर गमन हो। गमनारंभ के पूर्व अगत अध्व अवश्य है, किन्तु उस पर गमन नहीं होगा; क्योंकि जिस पर गमि-क्रिया का आरंभ नहीं हुआ, वह अगत है।

अध्वत्रय का निषेध

नागार्जुन गमनारंभ का खंडन करके उसी से गत-अगत-गम्यमान अध्व-त्रय की सत्ता का भी खंडन करते हैं। जब गमि-क्रिया का प्रारंभ उपलब्ध नहीं है, तो उसकी उपरति को 'गत' वर्तमानता को 'गम्यमान' और अनुत्पत्ति को 'अगत' कैसे कहेंगे? इस प्रकार अध्व-त्रय के मिथ्यात्व से गमन व्यपदेश की कारणता असिद्ध होती है। आलोकान्धकार के समान प्रतिपक्ष-भूत स्थिति की सिद्धि से भी गमन की सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि स्थिति की सिद्धि गमनापेक्ष है। गन्ता की स्थिति नहीं होगी। स्थिति मानने पर उसका गन्तृत्व व्यपदेश न होगा।

गमन की सत्ता गमन की निवृत्ति से भी निश्चित नहीं होगी, क्योंकि गमन की निवृत्ति नहीं है। गन्ता गत अध्व से निवृत्त नहीं होगा, क्योंकि गति ही नहीं है। इसीलिए अगत से भी नहीं होगा। गम्यमान अध्व से निवृत्त इसलिए नहीं होगा कि वह अनुपलब्ध है। उसमें गमन-क्रिया का अभाव है।

स्थिति और गति अन्योन्य-प्रतिद्वन्द्वी हैं। जब स्थिति है, तो गति का सद्भाव सिद्ध होगा। किन्तु माध्यमिक गति के समान स्थिति का भी प्रतिषेध करते हैं—गति के ही समान स्थिति का आरंभ या स्थिति की निवृत्ति स्थित, अस्थित और स्थीयमान में संभव नहीं है।

आचार्य गमन के प्रतिषेध के लिए एक विचित्र तर्क उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि गन्ता से गमन भिन्न है या अभिन्न? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि यदि गन्ता से गमन-क्रिया अभिन्न है, तो कर्ता और क्रिया का एकत्व मानना पड़ेगा, क्रिया और कर्ता का भेदेन

अभिधान भी नहीं बनेगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि गन्ता से गमन के पृथक् मानने पर घट-पट के समान गन्ता गमन-निरपेक्ष होगा तथा गमन गन्तृ-निरपेक्ष होगा। एकीभाव या नानाभाव के अतिरिक्त अन्य कोई प्रकार नहीं है, जिससे गन्तृत्व और गमनत्वकी सिद्धि हो। देवदत्त का ग्रामगमनादि सर्व प्रसिद्ध है, किन्तु माध्यमिक तर्क से इसे असिद्ध करता है। तर्क यह है कि गति से गन्तृत्व अभिव्यक्त होता है, किन्तु देवदत्त गन्ता होकर गमन-क्रिया नहीं कर सकता। इसके लिए गति से पूर्व उसका गन्तृत्व सिद्ध होना चाहिये, किन्तु जिस गति से देवदत्त को गन्ता कहते हैं, उसके पूर्व गति-निरपेक्ष उसका गन्ता नाम निष्पन्न नहीं होगा। यदि कहें कि वह गति जिससे देवदत्त गन्ता है, अन्य है; और वह गति अन्य है, जिससे उसका जाना (गच्छति) व्यवहित होता है, तो यह अयुक्त है। क्योंकि जिस गति से वह गन्ता है, उससे अतिरिक्त का गमन माने तो गति-द्वय की प्रसक्ति होगी; एक गति वह जिससे वह गन्ता है, दूसरी गति वह जिससे 'गच्छति' व्यपदेश है।

इस प्रकार सद्भूत गन्ता जो गमन-क्रिया से युक्त है, असद्भूत गन्ता जो गमन-क्रिया से रहित है, सदसद्भूत गन्ता जिसका उभय पक्षीय रूप है; तीनों में गन्तृत्व नहीं बनेगा। इसी प्रकार गमन का भी त्रिप्रकार नहीं बनेगा। इसलिए आचार्य नागार्जुन उपसंहार करते हैं कि गति, गन्ता और गन्तव्य कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

द्रष्टा, द्रष्टव्य और दर्शन का निषेध

गति, गन्ता और गन्तव्य का खण्डन करने के पश्चात् आचार्य द्रष्टा, द्रष्टव्य और दर्शन का खण्डन करते हैं, जिससे भगवान् के प्रवचन[1] को आधार बनाकर भी भावों का अस्तित्व सिद्ध न किया जा सके। सर्वास्तिवादी छः इन्द्रियों (द्रष्टा) और उनके विषयों (द्रष्टव्य) का अस्तित्व मानते हैं, जिससे दर्शनादि (चक्षुर्विज्ञानादि) का व्यपदेश होता है।

दर्शन की असिद्धि

आचार्य कहते हैं कि दर्शन (चक्षु) रूप को नहीं देखता। तर्क है कि दर्शन (चक्षु) जब आत्मरूप को अपने नहीं देख पाता, तो श्रोत्रादि के समान नीलादि को भी नहीं देखेगा। अग्नि 'पर' को दग्ध करता है, 'स्व' को नहीं; इस दृष्टान्त के आधार पर 'दर्शन' 'पर' को ही देखेगा 'स्व' को नहीं, यदि यह कहें, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि दर्शन के समान ही अग्नि के दग्धत्व का भी हम खण्डन करते हैं। क्योंकि अग्नि के द्वारा दग्ध का दहन, अदग्ध का दहन आदि पक्ष अयुक्त है। इसी प्रकार आचार्य यह भी कहते हैं कि दृष्ट का दर्शन नहीं किया जा सकता, अदृष्ट का दर्शन नहीं किया जा सकता, दृष्टादृष्ट से विनिर्मुक्त दृश्यमान का दर्शन नहीं किया जा सकता।

---

1. अभिधर्म में उक्त है—

दर्शनं श्रवणं घ्राणं रसनं स्पर्शनं मनः।
इन्द्रियाणि षडेतेषां द्रष्टव्यादीनि गोचरः॥

आचार्य कहते हैं कि दर्शन वह है जो देखता है (पश्यतीति)। इस स्थिति में प्रश्न है कि दर्शन-क्रिया से दर्शन-स्वभाव चक्षु का संबन्ध है, या अदर्शन-स्वभाव चक्षु का ? दर्शन-स्वभाव (दर्शन क्रिया से युक्त) चक्षु का 'पश्यति' के साथ संबन्ध उपपन्न नहीं है, अन्यथा दो दर्शन क्रियाएँ तथा दो दर्शन मानने पड़ेंगे। दर्शन क्रिया-रहित रहने के कारण अदर्शन स्वभाव भी दर्शन नहीं करता।

द्रष्टा की असिद्धि

वादी कहता है कि हम 'जो देखता है' उसे दर्शन नहीं कहेंगे, बल्कि उसे कहेंगे 'जिससे देखा जाता है।' ऐसी अवस्था में करणभूत दर्शन से द्रष्टा का देखना सिद्ध होगा, और पूर्वोक्त दोष नहीं लगेंगे। आचार्य कहते हैं कि इस पक्ष में भी दर्शन की असिद्धि के समान ही द्रष्टा की असिद्धि है; क्योंकि द्रष्टा जब अपने स्वयं का द्रष्टा नहीं है, तो तत्संबन्धित अन्य का द्रष्टा क्या होगा ? द्रष्टव्य (विषय) और दर्शन (करण) भी नहीं है, क्योंकि वे द्रष्टृ-सापेक्ष हैं, किन्तु द्रष्टा नहीं है। यदि द्रष्टा है, तो प्रश्न है कि वह दर्शन-सापेक्ष है या दर्शन-निरपेक्ष ? दर्शन-सापेक्ष है, तो वह अवश्य ही दर्शन का तिरस्कार करके संपन्न नहीं होगा। ऐसी अवस्था में यह विचार करना होगा कि सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की अपेक्षा है या असिद्ध द्रष्टा को। सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की पुनः अपेक्षा व्यर्थ है। असिद्ध द्रष्टा वन्ध्यापुत्र के समान स्वयं असिद्ध है, वह दर्शन की अपेक्षा ही क्या करेगा ? दर्शन-निरपेक्ष द्रष्टा तो सर्वथा असिद्ध है, अतः अविचारणीय है। इस प्रकार द्रष्टा का अभाव है, और उस के अभाव में द्रष्टव्य और दर्शन का अभाव है। द्रष्टव्य और दर्शन के अभाव से उनकी अपेक्षा से जायमान विज्ञान तथा इन तीनों से जायमान सन्निपातज स्पर्श,स्पर्शज वेदना तथा तृष्णा नहीं है। इसलिए द्रष्टव्य-दर्शन-हेतुक चार भवांग भी नहीं है। द्रष्टा के अभाव से जब द्रष्टव्य और दर्शन नहीं हैं, तो विज्ञानादि चतुष्टय कैसे होंगे ? इसी प्रकार विज्ञानादि चतुष्टय के अभाव से उनके कार्यभूत उपादानादि (उपादान, भव, जाति, जरा आदि) का भी अभाव है।

आचार्य दर्शन के समान ही श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्शन, मन तथा श्रोत्र-श्रोतव्यादि का निरास करते हैं।

रूपादि स्कन्धों का निषेध

पहले चक्षुरादि इन्द्रियों का प्रतिषेध किया गया है। अब स्कन्धों की परीक्षा करते हैं। रूप भौतिक होते हैं। चार महाभूत उनके कारण हैं। घट से पट जैसे भिन्न हैं, वैसे भूतों से पृथक् भौतिक रूप नहीं है। इसी प्रकार भूत भौतिकों से पृथक् नहीं है। आचार्य कहते हैं कि महाभूतों से अतिरिक्त भौतिक (रूप) हैं, तो अवश्य ही उन भौतिकों के कारण भूत नहीं हैं। किन्तु कोई वस्तु अकारण नहीं होती, इसलिए भूतों से वियुक्त भौतिक मानना पड़ेगा। इसी प्रकार भौतिक से पृथक् भूत नहीं है, यदि कार्य से वियुक्त कारण है, तो जैसे घट से भिन्न पट घट का हेतु नहीं होता, वैसे ही कार्य से पृथक् कारण मानने पर कारण अकार्यक होगा। अकार्यक कारण कारण नहीं है।

पुनः रूप का कारण मानें तो प्रश्न होगा कि सत् का या असत् का । उभयथा अनुपपन्न है। रूप की विद्यमानता में उसके कारण का कोई प्रयोजन नहीं है, और अविद्यमानता में कारण सुतरां व्यर्थ है। पूर्वोक्त विश्लेषण से जैसे कारण का रूप व्यावृत्त हुआ, उसी प्रकार तदपेक्ष कार्यरूप भी व्यावृत्त होगा। उभयरूप की व्यावृत्ति से रूपगत सप्रतिघ-अप्रतिघ, सनिदर्शन-अनिदर्शन, अतीत, अनागत, नीलपीतादि समस्त विकल्प निरस्त होंगे।

एक प्रश्न यह भी होगा कि रूप कारण के सदृश-कार्य को उत्पन्न करता है या असदृश-कार्य को? उभयथा अनुपपन्न है। भूत कठिन, द्रव, उष्ण, तरल स्वभाव हैं, और बाह्य तथा आध्यात्मिक भौतिक आयतनों का स्वरूप उससे भिन्न स्वभाव का है। जैसे सदृश शालिबीजों में परस्पर कार्यकारणभाव नहीं होता, वैसे ही असदृशों में भी कार्यकारणभाव नहीं होता, जैसे निर्वाण के साथ भूतों का कार्यकारणभाव नहीं है।

रूप-स्कन्ध के ही समान वेदना, चित्त, संज्ञा, संस्कारों का भी अभाव है। आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि माध्यमिक जिस प्रणाली से एक धर्म की शून्यता का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार सर्व धर्मों की शून्यता को प्रतिष्ठित करता है। माध्यमिक सस्वभाववादी परपक्षी के साथ विग्रह में सस्वभावता के सिद्धांत का जब खंडन करता है, तब किसी की भी अन्यस्वभावता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वे सब साध्यसम (साध्य के समान असिद्ध अवस्था युक्त) रहते हैं। इसलिए प्रतिवादी वेदनादि के सद्भाव के दृष्टांत से रूप का सद्भाव सिद्ध नहीं कर सकता। माध्यमिक इसी प्रणाली से सर्वत्र प्रतिवादी के दृष्टान्तों को साध्यसम सिद्ध करके उसके परिहार के प्रयत्नों को व्यर्थ कर देता है।

षड् धातुओं का निषेध

अब धातुओं की परीक्षा करते हैं, और प्रसंगवश लक्ष्य-लक्षण की परीक्षा करेंगे। आचार्य के अनुसार धातुओं का कोई लक्षण नहीं बनता।

आकाश धातु—आकाश अनावरण-लक्षण माना जाता है, किन्तु यह तब हो जब अनावरण लक्षण के पूर्व लक्ष्य हो। किन्तु आकाश-लक्षण के पूर्व आकाश क्या होगा? यदि आकाश आकाश-लक्षण से पूर्व हो, तो वह अवश्य अलक्षण होगा। किन्तु कोई भी भाव अलक्षण नहीं होता। पुनः जब अलक्षण भाव की सत्ता नहीं है, तो लक्षण की प्रवृत्ति कहाँ होगी। लक्षण स्वीकार करें, तो यह प्रश्न होगा कि लक्षण सलक्षणमें प्रवर्तमान होगा या अलक्षण में? अलक्षण 'गधे के सींग' के समान है, इसलिए उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। सलक्षण में लक्षण की प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा। सलक्षण और अलक्षण से अन्यत्र लक्षण की प्रवृत्ति असंभव है।

लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की सत्ता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की संभावना सुतरां निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार लक्ष्य की अनुपपत्ति से लक्षण असंभव है। लक्षण की असंप्रवृत्ति से लक्ष्य अनुपपन्न होता है। इसलिए लक्ष्य-लक्षण दोनों का सर्वथा अभाव है।

वादी कहता है कि लक्ष्य-लक्षण नहीं है, परन्तु आकाश है। यह अयुक्त है, क्योंकि लक्ष्य-लक्षण विनिर्मुक्त कोई भाव नहीं होगा। जब लक्ष्य-लक्षण निर्मुक्त भाव नहीं होता, तो भाव की अविद्यमानता के आधार पर आकाश अभाव पदार्थ भी कैसे होगा। भावाभाव से अतिरिक्त कोई तृतीय पदार्थ नहीं है, जो आकाश हो। जब लक्ष्य-लक्षण का अभाव है, तभी लक्ष्य-लक्षण रहित आकाश की सत्ता आकाश-कुसुम के समान असिद्ध होती है। इसी प्रकार पृथिव्यादि पांच धातुओं का भी अभाव है।

रागादि क्लेशों का निषेध

वादी कहता है कि माध्यमिक को स्कन्ध, आयतन और धातु की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी, अन्यथा उसके आश्रित क्लेशों की उपलब्धि नहीं होगी। रागादि क्लेश संक्लेश-निबन्धन हैं। भगवान् ने कहा है—हे भिक्षुओ! बाल अश्रुतवान् पृथग्जन प्रज्ञप्ति में अनुपतित हो, चक्षु से रूप को देख कर उसमें सौमनस्य का अभिनिवेश करता है, अभिनिविष्ट होकर राग उत्पन्न करता है, राग से रक्त होकर रागज, द्वेषज, मोहज कर्मों का काय, वाक् और मन से अभिसंस्कार करता है।

माध्यमिक कहते हैं कि हमारे मत में रागादि क्लेश नहीं हैं। इसलिए स्कन्ध, आयतन और धातु भी नहीं हैं। मैं पूछता हूँ कि पृथग्जनों के द्वारा जिस राग की कल्पना होती है, वह रक्त-नर में या अरक्त नर में? उभय युक्त नहीं है।

रक्त रागाश्रय है। राग के पूर्व भी यदि रक्त है, तो वह अवश्य राग-रहित होगा। जब राग-रहितता है, तभी उसका प्रतिपक्ष राग सिद्ध होता है, किन्तु राग-रहित का होना संभव नहीं है, अन्यथा अरक्त अर्हत् को राग होगा। रक्त की अवस्था में राग नहीं होगा, अन्यथा राग निराश्रय होगा।

यदि वादी को रक्त की सत्ता-अभीष्ट है, तो उसे बताना होगा कि रक्त की कल्पना राग में है या अराग में? उभय अनुपपन्न है।

राग में रक्त की कल्पना तो इसलिए नहीं बनेगी कि एक में रागानुत्पत्ति होगी, क्योंकि पूर्व के समान कहेंगे कि रक्त से पूर्व यदि राग है, तो वह अवश्य रक्त-तिरस्कृत है।

वादी कहता है कि ये दोष राग-रक्त का पौर्वापर्य मानने से हैं। इसलिए मैं इनका सहोद्भव मानता हूं। चित्त सहभूत राग से चित्त रंजित होता है, वही उसकी रक्तता है। माध्यमिक कहते हैं कि इस स्थिति में राग-रक्त परस्पर निरपेक्ष होंगे। पुनश्च, राग और रक्त का सहभाव इनके एकत्व में है या पृथक्त्व में? एकत्व में सहभाव नहीं होगा, क्योंकि राग से अव्यतिरिक्त का उसीसे सहभाव का क्या अर्थ होगा? पृथक् पदार्थों का भी सहभाव सर्वथा असिद्ध है। पुनः एकत्व में सहभाव हो तो बिना सहत्वके ही सहभाव होगा। इसी प्रकार पृथक्त्व में सहभाव मानने पर भी बिना सहत्व के सर्वथा पृथक् गो-अश्वादि का सहभाव मानना पड़ेगा। पृथक्त्व मूलक सहभाव की सिद्धि के लिए राग-रक्त का पृथक्त्व सिद्ध होना चाहिये, जो असिद्ध है। फिर यदि

उनका पृथक्त्व ही सिद्ध करना है, तो फिर उनके सहभाव की कल्पना क्यों करते हैं? पृथक्-पृथक् होने के कारण राग और रक्त की स्वरूप सिद्धि होगी, इसलिए यदि आप सहभाव चाहते हैं, तो पुनः सहभाव के लिए उनका पृथक्त्व मानना पड़ेगा और इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष होगा।

आचार्य कहते हैं कि राग-रक्त की सिद्धि न पौर्वापर्येण होगी और न सहभावेन। इसी प्रकार द्वेष-द्विष्ट, मोह-मूढ़ादि की भी सिद्धि नहीं है।

संस्कृत धर्मों का निषेध

हीनयानी कहते हैं कि संस्कृत-स्वभाव पदार्थों (स्कन्ध, आयतन, धातु) का सद्भाव मानना पड़ेगा; क्योंकि भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ! संस्कृत के ये तीन संस्कृत-लक्षण हैं। भिक्षुओ! संस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात है, व्यय और स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञात है। अविद्यमान का जात्यादि-लक्षण संभव नहीं है, अतः संस्कृत धर्मों की सत्ता है।

संस्कृत पदार्थों के लक्षण का निषेध

माध्यमिक कहते हैं कि स्कन्ध, आयतन, धातु अवश्य संस्कृत-स्वभाव के होंगे, यदि उनका संस्कृत-लक्षण (जाति, व्यय, स्थित्यन्यथात्व) हो। प्रश्न है कि संस्कृत-लक्षण का उत्पाद स्वयं संस्कृत है या असंस्कृत? यदि संस्कृत है, तो उसे त्रिलक्षणी होना चाहिये। त्रिलक्षणी—उत्पाद, स्थिति, और भंग का समाहार है; उससे सर्व संस्कृत धर्मों का अव्यभिचार (निश्चित साहचर्य) है। यदि उत्पाद संस्कृत है, तो उसे भी त्रिलक्षणी होना चाहिये। किन्तु ऐसी स्थिति में वह संस्कृत-लक्षण नहीं रहेगा, अपि तु रूपादि के समान लक्ष्य होगा। इस दोष से बचने के लिए यदि उत्पाद को त्रिलक्षणी नहीं मानें, तो वह आकाशवत् असंस्कृत होगा। फिर असंस्कृत संस्कृत-लक्षण कैसे होगा?

अपि च, उत्पादादि व्यस्त-(पृथक् पृथक्) संस्कृत-लक्षण हैं या सहभूत-समस्त? उभय पक्ष उपपन्न नहीं है।

व्यस्त लक्षण—वादी व्यस्तों से संस्कृत पदार्थों का लक्षण नहीं बना सकते, क्योंकि यदि उत्पाद काल में स्थिति और भंग न होंगे तो स्थिति और भंग से रहित आकाश के समान उत्पाद भी संस्कृत-लक्षणों से युक्त न होगा। इसी प्रकार स्थिति-काल में उत्पाद और भंग न होंगे तो उनसे रहित पदार्थ की स्थिति भी नहीं होगी। क्योंकि उत्पाद और भंग से रहित कोई पदार्थ नहीं होता, अतः अविद्यमान वस्तु की किसी प्रकार स्थिति नहीं होगी। ऐसे पदार्थ की स्थिति मानें भी तो अनित्यता से उसका योग नहीं होगा, क्योंकि वह अनित्यता विरोधी धर्म (स्थिति) से स्वयं आक्रान्त है। यदि पदार्थ को पहले शाश्वत मानें, बाद में उसका अनित्यता से योग मानें, तो एक पदार्थ को ही शाश्वत, अशाश्वत, दोनों मानना पड़ेगा। पूर्वोक्त प्रणाली से भंग काल में स्थिति और उत्पाद न होंगे, तो वह अनुत्पन्न एवं स्थिति रहित होगा। वह खपुष्प के समान होगा, और उसका विनाश होगा।

समस्त लक्षण—उत्पादादि समस्त होकर भी पदार्थ के लक्षण न होंगे, क्योंकि एक क्षण में ही पदार्थ का जन्म, स्थिति और विनाश असंभव है।

संस्कृत-लक्षण के लक्षण का निषेध

उत्पाद, स्थिति और भंग की अन्य उत्पादादि से संस्कृत-लक्षणता सिद्ध करें तो अपर्यवसान दोष होगा। कौन पूर्व हो और कौन पश्चात्, इसकी व्यवस्था न होगी। इस प्रकार उत्पादादि सर्वथा असंभव हैं।

हीनयानी कहते हैं कि अपर्यवासन दोष न लगेगा, क्योंकि मेरे मत में उत्पाद द्विविध हैं। एक 'मूल उत्पाद', दूसरा 'उत्पादोत्पाद' (उत्पाद का उत्पाद)। उत्पादोत्पाद-संज्ञक उत्पाद केवल मूल उत्पाद का उत्पादक होता है। मौल उत्पाद उत्पादोत्पादक उत्पाद को उत्पन्न करता है। इस प्रकार परस्पर के संपादन से उत्पादादि की त्रिलक्षणी बनेगी और अनवस्था न होगी।

आचार्य कहते हैं कि आपके मत में जब उत्पादोत्पाद मूलोत्पाद का जनक है, तो मौलोत्पाद से अनुत्पादित उत्पादोत्पाद मौल उत्पाद को कैसे उत्पन्न करेगा? यदि मौल उत्पाद से उत्पादित उत्पादोत्पाद को मौल का उत्पादक मानें तो यह संभव नहीं है, क्योंकि स्वयं अविद्यमान अन्य का उत्पाद कैसे करेगा?

उत्पाद की उत्पाद-स्वभावता का खंडन

वादी कहे कि आप उत्पाद का अपर उत्पाद न मानिये, किन्तु जैसे प्रदीप प्रकाश-स्वभाव होने के कारण अपने को और घटादि को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार उत्पाद उत्पाद-स्वभाव होने के कारण अपने को और पर को उत्पन्न करेगा।

सिद्धान्ती कहता है कि आपका यह कहना तब ठीक हो जब कि प्रदीप स्व और पर का प्रकाश करता हो, किन्तु ऐसा नहीं होता। तम का नाश, प्रकाश है; अतः विरोधी होने के कारण तम प्रदीपात्मा में नहीं है, जिसे नष्ट करके प्रदीप अपनी प्रकाशरूपता संपन्न करे। प्रदीप के देश में भी तम नहीं रहता, जिसे नष्ट कर प्रदीप में पर-प्रकाशता सिद्ध हो। उत्पद्यमान प्रदीप से भी तम हत नहीं होगा। उत्पद्यमान प्रदीप तम को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि आलोक और अन्धकार एककालिक नहीं है। यदि प्रदीप तम को बिना प्राप्त किये उसे नष्ट करने लगे तो एकस्थ प्रदीप सर्वलोकस्थ तम को नष्ट क्यों न करेगा? और यदि प्रदीप को स्व और पर का प्रकाशक मानेंगे तो दूसरा तम को स्व और पर का आच्छादक क्यों न मानेगा? इस प्रकार प्रदीप के दृष्टान्त से उत्पाद की स्व-परोत्पादकता सिद्ध नहीं होगी।

प्रश्न है कि उत्पाद स्वयं उत्पन्न होकर अपना उत्पाद करता है या अनुत्पन्न रह कर?

उत्पन्न के उत्पादन का क्या प्रयोजन? इसलिए सिद्ध है कि उत्पाद अपना उत्पाद नहीं करता। यदि स्वयं अनुत्पन्न भी उत्पाद अपना उत्पाद करे तो समस्त अनुत्पन्न वस्तुएं अपना-अपना उत्पाद करने लगें।

माध्यमिक के अनुसार काल-त्रय में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। सामान्यतः उत्पद्यमान (उत्पन्न होती हुई वस्तु) की उत्पत्ति की प्रतीतिगोचर होती है, किन्तु विचार करने पर वह असिद्ध है। उत्पत्ति की अपेक्षा से उत्पद्यमान होता है, इसलिए यह विशेष बताना पड़ेगा कि किस उत्पत्ति की अपेक्षा से वह उत्पद्यमान है। इसे वादी नहीं बता सकता, क्योंकि वह अनुत्पन्न है, और उत्पन्न होने का कोई निमित्त नहीं दिखाई पड़ता।

अनुत्पाद से प्रतीत्यसमुत्पाद का अविरोध

सर्वास्तिवादी माध्यमिक पर एक गंभीर आरोप करता है। कहता है कि आपका यह सर्व-नास्तित्व-वाद अत्यन्त भयंकर है। आप तथागत के वचनों की व्याख्या के व्याज से केवल दोष निकालने का अपना कौशल दिखाते हैं, किन्तु इससे तथागत के परमार्थ सत्य प्रतीत्यसमुत्पाद का वध होता है। भगवत् ने 'अस्मिन्सति इदं भवति अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते' इस न्याय से प्रकृति-ईश्वर-स्वभाव-काल-अणु-नारायणादि के जगत्-कर्तृत्व का निरास किया, किन्तु आपने उत्पद्यमान-उत्पन्न-अनुत्पन्न आदि विकल्प करके उत्पाद का ही बाध कर दिया। आपने यह नहीं देखा कि आपके द्वारा तथागत-ज्ञान की जननी प्रतीत्य-समुत्पत्ति का ही वध हो रहा है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि मैं दशबल-जननी माता प्रतीत्य-समुत्पत्ति का वध नहीं करता हूँ। प्रत्युत यह पाप आपके ही सिर है। भगवान् ने प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना से सर्व धर्मों की निःसारता बताई है। विद्यमान पदार्थ सस्वभाव होते हैं, क्योंकि स्व की अनपायिता (अविनाश) ही स्व-भाव है। स्व की विद्यमानता के कारण ही स्वभाव किसी की अपेक्षा नहीं करता, और न उत्पन्न ही होता है। इस प्रकार सस्वभाववादी के ही मत में भावों का प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व बाधित होता है, और उससे धर्म और बुद्ध का दर्शन भी बाधित होता है। माध्यमिक कार्य और कारण दोनों को प्रतीत्य-समुत्पन्न मानता है, इसलिए उसके मत में पदार्थ शान्त[1] और स्वभाव-रहित हैं। इस व्याख्या से माध्यमिक तथागतों की माता प्रतीत्य-समुत्पत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

उत्पद्यमान के उत्पाद का निषेध

वादी कहता है कि जो कुछ हो, उत्पाद उत्पद्यमान की उत्पत्ति करता है; क्योंकि घटोत्पत्ति क्रिया की अपेक्षा से घट की उत्पद्यमानता प्रतीत होती है। किन्तु उत्पाद के पूर्व जब कोई अनुत्पन्न घट नहीं है, तो उसकी उत्पत्ति क्रिया की अपेक्षा करके उत्पाद कहना ठीक नहीं। वादी कहे कि यद्यपि उत्पाद के पूर्व यह नहीं है, तथापि उत्पन्न होकर तो घट संज्ञा का लाभ करेगा? यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब उत्पत्ति-क्रिया प्रवृत्त होती है, तो उस समय का वर्तमान पदार्थ घट संज्ञा प्राप्त करता है, किन्तु जब भाव अनागत है, तो उससे संबन्ध न होने के कारण क्रिया की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, फिर घट की वर्तमानता कैसे? क्रिया

1. प्रतीत्य यद्यद्भवति तत्तच्छान्तं स्वभावतः।

को अघट के आश्रित होने के लिए निश्चित करना होगा कि क्या असत् घट हो सकता है? क्या वह पट हो सकता है या कुछ नहीं होता? यदि पट उत्पद्यमान है तो उत्पन्न होकर वह घट नहीं हो जायगा। यदि कुछ नहीं होगा तो क्रिया निराश्रय होगी, फिर तो घट होने की कल्पना दूर रहे; किसी की भी उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए वादी का यह कहना कि उत्पाद उत्पद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति करता है, व्यर्थ है।

आचार्य कहते हैं कि आपके मत से उत्पाद उत्पद्यमान पदार्थ का उत्पाद करता है। यह बताइये कि उत्पाद किस दूसरे उत्पाद को उत्पन्न करता है? यदि अपर उत्पाद पूर्व उत्पाद का उत्पादक है, तो अनवस्था होगी। यदि उत्पाद स्व और पर का उत्पादन करेगा, तो इस पक्ष का पहले ही निरास किया जा चुका है।

स्थिति का निषेध

वादी पदार्थों का उत्पाद प्रकारान्तर से सिद्ध करना चाहता है। वह कहता है कि जब पदार्थों की स्थिति है, तो उनका उत्पाद भी मानना होगा; क्योंकि अनुत्पन्न पदार्थों की स्थिति नहीं होती। आचार्य कहते हैं कि पदार्थों की स्थिति भी नहीं है। स्थित पदार्थ की स्थिति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ स्थिति-क्रिया निरुद्ध है। अस्थित की स्थिति नहीं होगी, क्योंकि वह स्थिति क्रिया-रहित है। तिष्ठमान की स्थिति मानने से गम्यमान की गति के समान स्थिति-द्वय की प्रसक्ति होगी।

आचार्य कहते हैं कि जब जरा-मरण क्षण-मात्र के लिए भी पदार्थों को नहीं छोड़ते, तब स्थिति के लिए यहाँ अवकाश ही कहाँ है? इसके अतिरिक्त जैसे उत्पाद अपना उत्पाद नहीं करता है, वैसे स्थिति भी अपनी स्थिति नहीं करेगी।

प्रश्न है कि स्थिति निरुद्ध्यमान पदार्थ की होती है, या अनिरुध्यमान। निरुध्यमान की स्थिति नहीं होती, क्योंकि विरोधाभिमुख पदार्थ की विरोधी स्थिति है। अनिरुध्यमान कोई पदार्थ नहीं होता, अतः उसका कोई प्रश्न नहीं है।

निरोध का निषेध

वादी कहता है कि यदि संस्कृत धर्मों की अनित्यता है, तो उसके दो सहचारी स्थिति और उत्पाद भी मानने होंगे। आचार्य अनित्यता नहीं मानते। कहते हैं कि अनित्यता निरुद्ध की, अनिरुद्ध की या निरुद्ध्यमान की? अतीत निरुद्ध का वर्तमान निरोध से विरोध है। अनिरुद्ध का निरोध उसके निरोध-विरह के कारण संभव नहीं है। निरुद्ध्यमान के निरोध से निरोध-द्वय की प्रसक्ति होगी। आचार्य कहते हैं कि जिन कारणों से धर्मों का उत्पाद सिद्ध नहीं होता, उन्हीं से निरोध भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए जैसे उत्पाद का स्वात्मना परात्मना उत्पाद सिद्ध नहीं होता, वैसे ही निरोध का निरोध भी स्वात्मना या परात्मना सिद्ध नहीं होता।

वादी कहता है कि निरोध का निरोध नहीं होता तो उस की संस्कृत-लक्षणता कैसे सिद्ध होगी? इसके अतिरिक्त पर संमत विनाश को तो आप भी मानते ही हैं। इस स्थिति में उभयसंमत दोष का मैं ही परिहार क्यों करूँ?

सिद्धान्ती कहता है कि पदार्थ अवश्य निःस्वभाव हैं, किन्तु बाल पृथग्जन उसमें सत्या-भिनिवेश करते हैं, और उससे व्यवहार चलाते हैं। हम लोग भी इस अविचारतः प्रसिद्ध व्यवहार को मान लेते हैं। वस्तुतः गन्धर्व नगरादि के समान लौकिक पदार्थ निरुपत्तिक हैं,क्योंकि अविद्यान्धकार से उपहत दृष्टि के लोग समस्त पदार्थों की आपेक्षिक सत्ता खड़ी किए हैं। उत्पाद की अपेक्षा उत्पाद्य और उत्पाद्य की अपेक्षा उत्पाद, निरोध की अपेक्षा निरोध्य और निरोध्य की अपेक्षा निरोध इस प्रकार लौकिक व्यवहार अभ्युपगत होते हैं। ऐसी अवस्था में दोषों का सम-प्रसंग उचित नहीं है।

निरोध की निर्हेतुकता का निषेध

संस्कारों की क्षणिकता के लिए सर्वास्तिवादियों ने विनाश को अहेतुक माना है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि निर्हेतुकता को स्वीकार करने से विनाश नहीं बनेगा, जैसे निर्हेतुक खपुष्प का विनाश कहना व्यर्थ है। इसीलिए पदार्थों की क्षणिकता भी सिद्ध नहीं होती। फिर जब विनाश निर्हेतुक है, तो नहीं है; तब पदार्थों का संस्कृतत्व भी कहाँ सिद्ध होगा? भगवान् ने संस्कृत लक्षणों को संस्कार-स्कन्ध में अन्तर्भूत करने के अभिप्राय से ही पदार्थों की जाति, जरा-मरणादि का वर्णन किया है। इससे विनाश का सहेतुकत्व स्पष्ट सिद्ध होता है। सिद्धान्त-संमत पदार्थों की क्षण-भंगता तो जातिमात्र की अपेक्षा से भी सिद्ध हो सकती है।

वादी कहता है कि विनाश निर्हेतुक है, क्योंकि विनाश अभाव है। अभाव को हेतुता से क्या लेना है? सिद्धान्ती उत्तर देता है कि इस न्याय से भाव भी निर्हेतुक होंगे, क्योंकि भाव विद्यमान हैं। विद्यमान को हेतु से क्या प्रयोजन? यदि उत्पाद पूर्व में नहीं था और पश्चात् हुआ, इसलिए वह सहेतुक है, तो विनाश भी पहले नहीं होता, पश्चात् होता है। आपका यह कहना है कि अभाव के लिए हेतु निष्प्रयोजन है, ठीक नहीं है; क्योंकि हेतु से विनाश का कुछ और नहीं होता, विनाश ही होता है। यदि कहो कि विनाश को क्रियमाण मानने पर वह भाव हो जायगा, तो यह युक्त ही है। विनाश अवश्य ही स्वरूप की अपेक्षा से भाव है। रूपादि निवृत्ति की अपेक्षा अभाव है।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि वास्तविक बात तो यह है कि सर्वास्तिवादी जब शून्यता को भाव-अभाव लक्षण मानते हैं, तो उसकी भावरूपता भी मान ही लेते हैं; क्योंकि ऐसी मान्यता में अभाव भी स्पष्ट ही भावरूप है। इस भावरूपता से सर्वास्तिवाद में शून्यता असंस्कृत नहीं रह जाती।

वादी कहता है कि पृथिव्यादि का काठिन्यादि-लक्षण जब उपदिष्ट हैं, तो संस्कृत हैं; और उनके सद्भाव से संस्कृत-लक्षण भी हैं। सिद्धान्ती का उत्तर है कि उत्पाद-स्थिति-भंग लक्षण ही जब असिद्ध हैं, तो संस्कृतों की सिद्धि कैसे होगी? और संस्कृतों की असिद्धि से तदपेक्ष असंस्कृत भी असिद्ध होंगे।

भगवत् ने संस्कृत धर्मों के उत्पाद, व्यय और स्थित्यन्यथात्व के प्रज्ञात होने की जो बात

कही है, वह तथाविध विनेय जन पर अनुग्रह करने के लिए है। वस्तुतः पदार्थ स्वभावतः अनुत्पन्न एवं अविद्यमान हैं; जैसे—माया, स्वप्न, गन्धर्वनगर आदि।

कर्म-कारक आदि का निषेध

वादी विज्ञानादि संस्कृत धर्मों की सत्ता पर जोर देते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् ने अविद्यानुगत पुद्गल के द्वारा पुण्य, अपुण्य, आनिञ्ज्य संस्कारों का अभिसंस्कार बताया है, और कर्मों का कारक, उन कर्मों का फल, तद्विज्ञान उपदिष्ट किये हैं। अवश्य ही ये कारकादि व्यवस्थाएँ सत् पदार्थों की ही माननी होंगी। कूर्म-रोमादि के समान असत् की कर्म-कारकादि व्यवस्था नहीं होती।

सिद्धान्ती कर्म-कारकादि का निषेध करता है। क्रिया व्यापार में संलग्न ही कारक रूप से व्यपदिष्ट होता है। इसलिए वादी को यह बताना होगा कि इस व्यापार का कर्ता सद्भूत है या असद्भूत या सदसद्भूत? जो किया जाता है वह कर्म है। वह कर्ता का ईप्सिततम (तीव्र इच्छा का विषय) होता है, इसलिए आपको बताना होगा कि वह कर्म भी सत्, असत् या सदसत् में क्या है? क्रियायुक्त (सद्भूत) कारक में क्रियायुक्त सद्भूत कर्म का कर्तृत्व नहीं बन सकता, और क्रिया से रहित असद्भूत कारक क्रिया-रहित कर्म का कर्ता नहीं होता, जब कि कारक-व्यपदेश के लिए उसका क्रिया से युक्त होना आवश्यक है। किन्तु जिस क्रिया से उसका कारकत्व व्यपदिष्ट है, उससे अतिरिक्त दूसरी क्रिया नहीं है, जिससे वह कर्म करे। इस प्रकार क्रिया के अभाव में जब कारक कर्म न करेगा, तब कर्म कारक-निरपेक्ष होगा, जो असंभव है। अतः सिद्ध हुआ कि सद्भूत कारक कर्म नहीं करता। सद्भूत कर्म को भी कारक नहीं करेगा, क्योंकि कर्म क्रिया से युक्त है और जिस क्रिया से उसका कर्मत्व व्यपदिष्ट है उससे अतिरिक्त कोई द्वितीय क्रिया नहीं है, जिससे वह कर्म हो। दूसरी क्रिया के अभाव में कारक अकर्मक होगा, जो असंभव है।

इसी प्रकार असद्भूत कर्म को असद्भूत कारक नहीं कर सकता, क्योंकि क्रिया से रहित कारक (असद्भूत) और कर्म (असद्भूत) निर्हेतुक होंगे। यदि अहेतुकवाद का अभ्युपगम करेंगे तो समस्त कार्यकारणभाव अपोहित हो जायगा। साथ ही क्रिया, कर्ता और करण समस्त अपोहित होंगे। क्रियादि के अभाव में धर्मअधर्मादि का अभाव होगा और धर्माधर्मादि के अभाव से इष्ट, अनिष्ट, सुगति,दुर्गति फलों का अभाव होगा। इन फलों के अभाव में स्वर्ग या मोक्ष के लिए मार्ग-भावना विफल होगी और उसके लिए कोई प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार लौकिक-अलौकिक समस्त क्रियाएं निरर्थक हो जायगी। अतः असद्भूत कारक असद्भूत कर्म को करता है, यह पक्ष त्याज्य है।

उभय रूप कारक उभय रूप कर्म को कथमपि नहीं कर सकता है,क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। एक पदार्थ एक ही काल में क्रिया और अक्रिया से युक्त नहीं होते। इसी प्रकार विषम पक्ष (सद्भूत कर्ता से असत् कर्म, असत् कर्ता से सत् कर्म का होना आदि) भी निषिद्ध होते हैं।

वादी माध्यमिक से पूछता है कि भगवान् ने यह कहाँ अवधारित किया है कि 'भाव (पदार्थ) नहीं हैं'। सिद्धान्ती कहता है कि आप सस्वभाववादी हैं। इसलिए आप के पक्ष में सर्व भावों का अपवाद संभावित है, किन्तु हम लोग समस्त भावों को प्रतीत्य-समुत्पन्न मानने के कारण उनका स्वभाव ही नहीं मानते, फिर अपवाद किसका करें। जब सर्व भाव निःस्वभाव हैं, तो पूर्वोक्त प्रकार से उनकी सिद्धि कथमपि नहीं हो सकती।

सिद्धान्त में समस्त पदार्थ मरुमरीचिका के तुल्य हैं। लौकिक विपर्यास का अभ्युपगम करके ही इन सांवृत पदार्थों की 'इदं प्रत्ययता' (यह घट है, यह पट है, इत्यादि) प्रसिद्ध होती है। हमने अभी देखा है कि कर्म-निरपेक्ष कारक नहीं हो सकता और कारक-निरपेक्ष कर्म नहीं हो सकता। इसलिए ये परस्परापेक्ष हैं। जैसे कर्म और कारक की परस्परापेक्ष सिद्धि है, वैसे ही क्रियादि अन्य भावों की भी है।

भावों की निःस्वभावता की सिद्धि में वे ही हेतु होते हैं, जो उनकी सस्वभावता को सिद्ध करते हैं। भावों की सत्ता आपेक्षिक है, अतः निरपेक्ष उनकी सत्ता नहीं है। माध्यमिक भावों की इस सापेक्ष सिद्धि से ही समस्त पदार्थों के स्वभाव का निषेध करते हैं।

पुद्गल के अस्तित्व का खंडन

सांमितीय कहते हैं कि दर्शन, श्रवण, घ्राणादि वेदनाओं के उपादाताका अस्तित्व उपादानों के पूर्व अवश्य है, क्योंकि अविद्यमान कारक की दर्शनादि क्रिया कदापि संभव नहीं हो सकती।

सांमितीय बौद्धैकदेशी हैं, वह पुद्गलास्तित्ववाद में प्रतिपन्न है। सिद्धान्ती उसका खंडन करता है। कहता है कि दर्शनादि से पूर्व यदि पुद्गल की सत्ता है तो वह किससे ज्ञापित होगी। पुद्गल की प्रज्ञप्ति दर्शनादि से ही होती है। यदि दर्शनादि से पूर्व भी पुद्गल की सत्ता मानी जाय, तो वह दर्शनादि से निरपेक्ष होगी। इस प्रकार यदि दर्शनादि के बिना पुद्गल की सत्ता मानेंगे, तो बिना पुद्गल के भी दर्शनादि की सत्ता माननी पड़ेगी। अतः उपादान और उपादाता की सिद्धि परस्परापेक्ष है। उपादाता के बिना दर्शनादिक उपादान पृथक् सिद्ध हों तो वे निराश्रय और असत् होंगे। इसलिए उपादाता से उपादान की पृथक् अवस्थिति नहीं है। सिद्धान्ती दर्शनादि एक एक के पूर्व या सकल के पूर्व आत्मा की सत्ता का खण्डन करता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि आप आत्मा का प्रतिषेध करें, परन्तु दर्शनादि का प्रतिषेध तो नहीं कर सकते; और दर्शनादि का अनात्म-स्वभाव घटादि से संबन्ध भी नहीं कर सकते। अतः

---

1. प्रतीत्य कारकः कर्म तं प्रतीत्य च कारकम्।
कर्म प्रवर्तते नान्यत्पश्यामः सिद्धिकारणम् ॥ (८।१२)

दर्शनादि का संबन्धी आत्मा आपको भी स्वीकार करना पड़ेगा। सिद्धान्ती कहता है कि जिस आत्मा के लिए दर्शनादि की कल्पना है, जब वही नहीं है तो दर्शनादि कैसे होंगे।

चन्द्रकीर्ति चोदक के द्वारा आशंका उठाते हैं, और उसका उत्तर देते हैं।

क्या आपने यह निश्चित कर लिया है कि आत्मा नहीं है?

यह किसने कहा।

अभी आपने कहा है कि दर्शनादि का अभाव है, इसलिए आत्मा नहीं है।

हाँ, मैंने यह कहा है। किन्तु आपने उसका ठीक अभिप्राय नहीं समझा। मैंने कहा है कि भावरूप आत्मा की सत्ता सस्वभाव नहीं है। आत्मा में स्वभावाभिनिवेश की निवृत्ति के लिए मैंने ऐसा कहा है,किन्तु इससे उसका अभाव कल्पित नहीं किया। वस्तुतः भाव और अभाव दोनों के अभिनिवेश का परित्याग करना चाहिये।

दर्शनादि से पूर्व आत्मा नहीं है। आत्मा दर्शनादि से सहभूत भी नहीं है, क्योंकि शशशृंग के समान पृथक् पृथक् असिद्ध वस्तुओं का सहभाव नहीं देखा जाता। आत्मा और उपादान निरपेक्ष हैं, और पृथक् पृथक् असिद्ध हैं। इसलिए आत्मा वर्तमान भी नहीं है। ऊर्ध्व भी नहीं है, क्योंकि जब पूर्वकाल में दर्शनादि हों तो उत्तर काल में आत्मा हो। इस प्रकार आत्मा की परीक्षा करने पर जब वह दर्शनादि से प्राक् पश्चात् और युगपत् सिद्ध नहीं होता, तो उसके अस्तित्व या नास्तित्व की कल्पना कौन बुद्धिमान् करेगा?

उपादाता और उपादान के अभाव से पुद्गल का अभाव

पूर्वपक्षी कहता है कि आप का यह कथन कि कर्म और कारक के समान उपादान और उपादाता की स्वाभाविक सिद्धि नहीं हो सकती, ठीक नहीं है। क्योंकि सापेक्ष पदार्थों की भी सस्वभावता सिद्ध होती है। जैसे अग्नि इन्धन की अपेक्षा करता है, किन्तु वह निःस्वभाव नहीं है। प्रत्युत उसके उष्णत्व, दाहकत्व आदि स्वाभाविक कार्यों की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार इन्धन भी अग्नि की अपेक्षा करता है, किन्तु वह निःस्वभाव नहीं है;क्योंकि उसकी महाभूतचतुष्टय-स्वभावता उपलब्ध होती है। इस दृष्टान्त से उपादान-सापेक्ष उपादाता तथा उपादातृ-सापेक्ष उपादान की सत्ता सिद्ध होगी, और आपको उपादान और उपादाता की स्वभाव-सत्ता माननी पड़ेगी।

अग्नि-इन्धन दृष्टान्त की परीक्षा

सिद्धान्ती कहता है कि आपका कथन तब ठीक हो जब अग्नि-इन्धन का दृष्टान्त सिद्ध हो। दृष्टान्त की सिद्धि के लिए आपको यह बताना पड़ेगा कि अग्नि और इन्धन की सत्ता उनके परस्पर अभिन्न होने से है या भिन्न होने से? दोनों पक्ष नहीं बनेंगे।

जो जलाया जाता है (इध्यते यत् तद् इन्धनम्) वह दाह्य काष्ठादि है, उसका दग्धा अग्नि है। यदि आप दोनों की अभिन्नता स्वीकार करते हैं, तो कर्ता और कर्म की एकता स्वीकार करनी पड़ेगी। यह अनुचित होगा; क्योंकि घट और कुंभकार छेत्ता और छेत्तव्य का एकत्व नहीं है। इस दोष से बचने के लिए यदि अग्नि को इन्धन से भिन्न मानें, तब इन्धन-निरपेक्ष अग्नि की उपलब्धि माननी पड़ेगी; क्योंकि घट से पट अन्य है, अतः उनकी निरपेक्षता है, किन्तु अग्नि इन्धन से निरपेक्ष नहीं है, इसलिए आपका यह कथन युक्त नहीं है। यदि इन्धन से अग्नि को भिन्न मानें तो उसे नित्य प्रदीप्त मानना पड़ेगा और इन्धन के बिना भी अग्नि की प्रदीप्ति माननी पड़ेगी। फिर आपके पक्ष में अग्नि की प्रदीप्ति के लिए समस्त व्यापार व्यर्थ होंगे और अग्नि में कर्तृत्व कर्म-निरपेक्ष स्वीकार करना होगा।

माध्यमिक अपनी उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं का समर्थन प्रबल युक्तियों से करता है। सिद्धान्ती कहता है कि अग्नि यदि प्रदीपन (इन्धन) से अन्य है, तो अवश्य वह उससे निरपेक्ष होगा; क्योंकि जो वस्तु जिससे अन्य होती है, वह उससे निरपेक्ष होती है। जैसे घट से निरपेक्ष पट। यदि अग्नि (इन्धन) प्रदीपन-निरपेक्ष है, तो वह प्रदीपन हेतु से जायमान भी नहीं है। दूसरी आपत्ति यह होगी कि प्रदीपन सापेक्ष अग्नि का प्रदीपन के अभाव में निर्वाण माना जाता है। अब जब कि वह प्रदीपन-निरपेक्ष है,तो उसका निर्वाण-प्रत्यय भी संभव न होगा। ऐसी अवस्था में अग्नि नित्य प्रदीप्त होगा। इतना ही नहीं, अग्नि को नित्य प्रदीप्त स्वीकार करने पर उसके लिए उपादान, सन्धुक्षणादि कार्य भी व्यर्थ होंगे। इस प्रकार आपके मत में अग्नि एक ऐसा कर्ता होगा, जो अकर्मक होगा। फिर जिसका कर्म विद्यमान न होगा उसमें कर्तृत्व भी वन्ध्यापुत्र के समान होगा। इसलिए इन्धन से अग्नि के अन्यत्व का पक्ष युक्त नहीं है।

पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि आपका यह कथन कि अग्नि इन्धन से अन्य है, तो इन्धन के बिना भी उसका अस्तित्व स्वीकार करना होगा। यह युक्त नहीं है। अग्नि का अस्तित्व इन्धन से भिन्न होने पर भी इन्धन के बिना सिद्ध नहीं किया जा सकता। ज्वाला से परिगत अर्थ इन्धन है, वह दाह्य-लक्षण है। इन्धन के आश्रय से ही अग्नि की उपलब्धि होती है। अग्नि के संबन्ध से ही इन्धन का इन्धनत्व व्यपदेश माना जाता है। इसलिए अग्नि की उपलब्धि इन्धन के आश्रित है, पृथक् नहीं। ऐसी अवस्था में माध्यमिक को अन्य पक्ष में दोष देने का अवसर नहीं है।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की नई युक्ति का परीक्षण करता है। कहता है कि आप दाह्य-लक्षण से युक्त ज्वाला से परिगत अर्थ को इन्धन मानते हैं, और उसके आश्रित अग्नि मानते हैं। आपकी इस कल्पना से भी 'अग्नि इन्धन को जलाता है' यह प्रतीति उपपन्न नहीं होगी। क्योंकि जब ज्वाला से परिगत दाह्य इन्धन है, और उससे अतिरिक्त अग्नि नहीं देखी जाती, जिससे इन्धन दग्ध हो, तो बताइए इन्धन किससे दग्ध होगा? इसलिए अग्नि इन्धन का दाह करता है, यह सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि आप इन्धन से अतिरिक्त अग्नि सिद्ध नहीं कर सकते।

ऐसी अवस्था में ज्वाला-परिणति किसी की नहीं बन सकती। फिर वादी पर पूर्वोक्त समस्त दोष अनिवारित ही रहते हैं।

पूर्वपक्षी अग्नि और इन्धन का भेद स्वीकार करते हुए भी दोनों की प्राप्ति सिद्ध करता है। उसका कहना है कि स्त्री-पुरुष परस्पर अन्य हैं, और उनकी प्राप्ति होती है। सिद्धान्ती इसका उत्तर देता है कि प्रकृत में स्त्री-पुरुष का दृष्टान्त तब लागू हो, जब स्त्री-पुरुष के समान अग्नि-इन्धन की परस्परानपेक्ष सिद्धि आप बता सकें, किन्तु यह असंभव है। यदि आप अन्योन्यापेक्ष जन्मवाली वस्तुओं में अन्यत्व सिद्ध करें, और फिर उनकी प्राप्ति सिद्ध करें, तब आपका दृष्टान्त न्याय्य होगा।

पूर्वपक्षी कहता है कि यद्यपि अग्नि-इन्धन की परस्पर निरपेक्ष सिद्धि नहीं है, तथापि परस्पर अपेक्षावश उनकी स्वरूप-सिद्धि तो है! क्योंकि अविद्यमान वन्ध्यापुत्र और वन्ध्यादुहिता की परस्पर अपेक्षा नहीं होती। सिद्धान्ती पूछता है कि आप अग्नि को दहन का कर्ता और इन्धन को दहन का कर्म मानकर उनका कर्म-कर्तृभाव स्वीकार करते हैं। मैं पूछता हूं कि इन्धन और अग्नि में कौन पूर्व निष्पन्न है? यदि इन्धन पूर्व निष्पन्न हो तो अग्नि-निरपेक्ष होने के कारण उसमें इध्यमानता न होगी। फलतः उसमें इन्धनत्व न होगा। अन्यथा समस्त तृणादि इन्धन होंगे। यदि अग्नि को पूर्व मानें और इन्धन को पश्चात् तो यह असंभव होगा कि इन्धन से पूर्व ही अग्नि सिद्ध हो जाय। और अग्नि निर्हेतुक भी होगा। इसलिए पूर्व सिद्ध की अपेक्षा से इतर की सिद्धि होती है, आपका यह पक्ष असंभव है। यदि हम इन्धन को पूर्व और अग्नि को पश्चात् मान भी लें और कहें कि इन्धन की अपेक्षा करके अग्नि होता है, तो सिद्ध-साधनता दोष आपतित होगा; क्योंकि सिद्ध रूप (विद्यमान पदार्थ) की अन्य की अपेक्षावश पुनः सिद्धि माननी पड़ेगी। स्पष्ट है कि सिद्ध अग्नि को इन्धन से यदि कुछ लेना होता, तभी उसकी इन्धनापेक्षता सफल होती। इसलिए इन्धन की अपेक्षा कर अग्नि संपन्न होता है, यह बात ठीक नहीं है।

पूर्वपक्षी इन्धन और अग्नि का यौगपद्य मानता है। वह यौगपद्यवश इन्धन की सिद्धि से अग्नि की सिद्धि और अग्नि की सिद्धि से इन्धन की सिद्धि मानकर कहता है कि ऐसी अवस्था में आपकी यह शङ्का व्यर्थ है कि कौन पूर्व निष्पन्न है?

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि ऐसी अवस्था में अग्नि और इन्धन दोनों की ही सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि यदि अग्नि पदार्थ इन्धन पदार्थ की अपेक्षा से सिद्ध होता है, और इन्धन पदार्थ को आत्मसिद्धि के लिए अग्नि की अपेक्षा है, तो आप ही बताइए कि कौन किसकी अपेक्षा करके सिद्ध हो?

इस प्रकार अग्नि और इन्धन की परस्परापेक्षा मानने पर उनकी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि सिद्ध और असिद्ध में अपेक्षा नहीं होती।

पूर्वपक्षी कहता है कि हमें आपके तर्कों की इस सूक्ष्मेक्षिका से क्या प्रयोजन? हम लोग स्पष्ट ही अग्नि से जलता हुआ इन्धन देखते हैं। यह प्रतीति अग्नि इन्धन की सिद्धि के लिए पर्याप्त है।

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि अग्नि इन्धन को नहीं जलाता है। इन्धन में यदि अग्नि हो तो वह इन्धन को जलावे, किन्तु यह अत्यन्त असंभव है। इन्धन से अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से अग्नि का आगमन नहीं देखा जाता; क्योंकि निरिन्धन अग्नि अहेतुक होगा। इसलिए उसका आगमन क्या होगा? और सेन्धन अग्नि के आगमन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार अग्नि इन्धन का अभेद, भेद तथा भेदाभेद पक्ष सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार आधार आधेय आदि पक्ष भी सिद्ध नहीं होते।

पूर्वोक्त अग्नि-इन्धन न्याय के आधार पर उपादाता आत्मा और उपादान से पंचस्कन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि आत्मा और उपादान का क्रम सिद्ध नहीं हो सकता। अग्नि-इन्धन के समान ही हम देखते हैं कि उपादान आत्मा नहीं हो सकता, अन्यथा कर्त्ता-कर्म का एकत्व प्रसङ्ग होगा। उपादाता और उपादान भिन्न भिन्न हैं, यह पक्ष भी अयुक्त है; क्योंकि स्कन्ध से अतिरिक्त आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। एकत्व और अन्यत्व पक्ष के प्रतिषेध से ही आत्मा स्कन्धवान् है, यह पक्ष भी अयुक्त होता है। पूर्वोक्त प्रकार से विचार करने पर आत्मा की निरपेक्ष सिद्धि नहीं होती। इसलिए कर्म-कारक के तुल्य आत्मा और उपादान की परस्परापेक्ष सिद्धि माननी चाहिये।

यहाँ आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि कर्म कारक की तरह आत्मा और उपादान का तथा घटादि की परस्परापेक्ष सिद्धि होती है। किन्तु कुछ सतीर्थ्य तथागत के शासन का अन्यार्थ करते हैं, और आत्मा की स्कन्ध से अभिन्नता प्रतिपादित करते हैं। उसे शासन के विशेषज्ञ नहीं मानते। नागार्जुन के अनुसार ये लोग परम गंभीर प्रतीत्य-समुत्पाद से अनभिज्ञ हैं। ये उसके शाश्वत और उच्छेद-राहित्य के रहस्य को नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि शासन में उपादाय-प्रज्ञप्ति क्या है।

पदार्थों की पूर्वापर-कोटिशून्यता

वादी संसार की सत्ता से आत्मा की सत्ता सिद्ध करता है। यदि आत्मा नहीं है तो जन्म-मरण-परम्परा से संसरण किसका होगा? भगवान् ने अनवराग्र[1] (आदि-अन्त कोटि शून्य) जाति-जरा-मरण की सत्ता स्वीकार की है। संसार की सत्ता से संसरण-कर्त्ता आत्मा की सिद्धि होती है।

माध्यमिक कहता है कि भगवान् ने संसार की अनवराग्रता कहकर उसकी असत्ता का उपदेश किया है; क्योंकि अलात-चक्र के समान पूर्वापर कोटि-शून्य होने से संसार नहीं है। अवनराग्र संसार की प्रतिपत्ति अविद्या निवरण युक्त सत्वों की दृष्टि से है, जिससे वे उसके क्षय में प्रवृत्त हों। उसके लिए यह शिक्षा नहीं है, जिसने लोकोत्तर ज्ञान से अपने अशेष क्लेश-वासनाओं को निःशेष कर दिया है।

---

१. अनवराग्रोहि भिक्षवो जातिजरामरणसंसार इति।

प्रश्न उठता है कि आदिरहित संसार का अन्त कैसे माना जाय ? चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि लोक में आदिरहित ब्रीह्यादि का दहनादि से अन्त देखा जाता है। भगवान् ने अवबद्ध सत्वों के उत्साह प्रदान के लिए लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही संसार का अन्तोपदेश किया। वस्तुतः संसार नहीं है, और न उसके क्षय होने का ही कोई प्रश्न उठता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवान् ने लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही सही संसार का आदित्व भी क्यों नहीं कहा ? चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि संसार का आदिभाव लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से भी सिद्ध नहीं होता। आदि मानने पर संसार अहेतुक होगा।

पूर्वपक्षी कहता है कि संसार की आदि और अन्त कोटि न भी हो, फिर भी मध्य के सद्भाव से संसार की सत्ता सिद्ध होगी। आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जिसका आदि और अन्त न होगा उसका मध्य क्या होगा ? विपर्यस्त सत्वों की दृष्टि में ही संसार है। वस्तुत: वह संज्ञामात्र है, संसार नहीं है। और संसर्ता आत्मा भी नहीं है।

आचार्य संसार का अभाव सिद्ध कर जाति-जरा-मरण आदि के पूर्वापर क्रम या सह क्रम का निषेध करते हैं। जाति-जरा-मरण में यदि जाति पूर्व है, तो वह असंस्कृत धर्मों के समान जरामरण से रहित होगी।

इस प्रकार जरामरण से रहित पदार्थ की जाति स्वीकार करने पर अमरणधर्मा देवदत्त की जाति माननी होगी। ऐसी अवस्था में संसार आदिमान् होगा और अहेतुक होगा। यदि जाति से पूर्व जरामरण मानें, तो अजात का जरामरण मानना पड़ेगा। यदि जाति और जरामरण का सहभाव मानें तो जायमान का मरण माना पड़ेगा, जो कथमपि युक्त न होगा; क्योंकि जाति और मरण आलोकान्धकार के समान परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। उनकी एक कालिकता नहीं बनेगी।

आचार्य कहते हैं कि जैसे संसार की पूर्व कोटि नहीं है, उसी प्रकार किसी भाव की पूर्व कोटि नहीं होती; क्योंकि यदि कार्य को पूर्व और कारण को पश्चात् मानें तो कार्य निर्हेतुक होगा। यदि कारण को पूर्व और कार्य को पश्चात् मानें तो कारण अकार्य होगा। कार्य-कारण के इस प्रत्याख्यान से ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाण-प्रमेय, साधन-साध्य, अवयवा-अवयवी, गुण-गुणी आदि सभी पदार्थों की पूर्व कोटि सिद्ध नहीं होती।

दुःख की असत्ता

पूर्वपक्षी आत्मा की सिद्धि के लिए एक अन्य पक्ष उठाता है। पांच उपादान-स्कन्ध दुःख हैं। उस दुःख का आश्रय होना चाहिये। वह आत्मा है। माध्यमिक कहता है कि दुःखाश्रय आत्मा अवश्य सिद्ध होता, यदि दुःख होता। किन्तु दुःख की सत्ता के लिए उसका स्वयंकृतत्व, परकृतत्व, उभयकृतत्व या अहेतुकत्व बताना होगा। इन पक्षों में किसी के स्वीकार से उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि मरणान्तिक स्कन्धों की अपेक्षा करके औपपत्तिक स्कन्धों का उत्पाद मानें तो दुःख स्वयंकृत सिद्ध नहीं होगा। मरणान्तिक स्कन्धों से औपपत्तिक स्कन्धों को अतिरिक्त मानने पर उसका परकृतत्व सिद्ध होता, किन्तु यह असंभव है; क्योंकि दुःख के लिए हेतु-फल-संबन्ध की व्यवस्था आवश्यक है।

वादी यदि यह कहे कि दुःख के स्वयंकृतत्व से मेरा अभिप्राय दुःख से ही दुःख के उत्पन्न होने का नहीं है, अपि तु यह है कि पुद्गल के द्वारा वह स्वयमेव कृत है; दूसरे ने करके उसे नहीं दे दिया है। इस पर सिद्धान्ती कहता है मनुष्यों का दुःख पञ्चोपादान लक्षण है। उसे यदि पुद्गल ने स्वयं किया है,तो उस पुद्गल को बताइये; जिससे उस दुःख का स्वयंकृतत्व सिद्ध हो। यदि जिस दुःख से पुद्गल स्वयं प्रज्ञप्त होता है, वह दुःख उस पुद्गल के द्वारा कृत है, तो भेदेन यह बताइए कि 'यह वह दुःख है' और 'उसका यह कर्ता है'। अपि च, यह मानें कि मनुष्य के दुःख का उपादान पुद्गल है, और उसने उस दुःख को उत्पन्न किया है; तो यह निश्चित नहीं होगा कि जो स्वपुद्गल-कृत है, वह परपुद्गल कृत भी अवश्य होता है। उपादान का भेद रहने पर भी पुद्गल का अभेद नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि उपादान से अतिरिक्त पुद्गल को दिखा सकना अत्यन्त अशक्य है।

दूसरी बात है कि यह दुःख स्वकृत है, तो वृत्ति-विरोध होगा; क्योंकि स्वात्मा में ही करणत्व तथा कर्तृत्व मानना पड़ेगा। परकृत दुःख भी नहीं मान सकते; क्योंकि पर स्व से निष्पन्न नहीं है। जो स्व से निष्पन्न नहीं है, वह अविद्यमान स्वभाव है। स्वयं अविद्यमान-स्वभाव दूसरे को क्या संपन्न करेगा? दुःख जब एक का कृत नहीं है, तो उभय-कृत भी सिद्ध नहीं होगा। उक्त न्याय से यदि दुःख का स्वयंकृतत्व, परकृतत्व सिद्ध नहीं हुआ तो दुःख की निर्हेतुकता का प्रश्न भी नहीं उठेगा; जैसे आकाश-कुसुम की सुगन्धि के लिए निर्हेतुकता का प्रश्न नहीं उठा सकते। आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि उपर्युक्त न्याय से जब दुःख सिद्ध नहीं होता, तो उसके आश्रयभूत आत्मा की सिद्धि का प्रश्न ही क्या है?

संस्कारों की निःस्वभावता

अब आचार्य पदार्थों की निःस्वभावता प्रकट करने के लिए संस्कारों की परीक्षा करते हैं। कहते हैं कि भगवान् ने सर्व संस्कारों को मृषा और मोषधर्मा[1] कहा है। आलातचक्रवत् समस्त संस्कारों का आख्यान वितथ है। केवल निर्वाण मोषधर्मा नहीं है, सत्य है। इसके अतिरिक्त सब धर्म निःस्वभाव होने से शून्य हैं।

यहाँ वादी शंका करता है कि मोषधर्मा होने से यदि सब संस्कार मृषा हैं, तो आपका यह कहना भी कि 'कोई पदार्थ नहीं है' मृषा-दृष्टि होगी। आचार्य कहते हैं कि सर्व संस्कारों की मोषधर्मता अवश्य है, किन्तु हमारा यह वचन कि 'मोषधर्मा सभी मृषा हैं' क्या मोषण (वंचना) किया? अवश्य ही यदि कोई सत्-पदार्थ होता और उसका हम अपवाद करते तो हमारी दृष्टि अभाव-दृष्टि होती, और उसे आप मिथ्या-दृष्टि कह सकते।

---

१. एतद्धि खलु खलु भिक्षवः परमं सत्यं यदिदममोषधर्म निर्वाणम्, सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माण इति [मा० का० वृ० पृ० २३७]।

माध्यमिक अभाववादी नहीं

वादी कहता है कि उपर्युक्त आगम ने यदि अभाव-दृष्टि का भी प्रतिपादन नहीं किया तो क्या करता है ? आचार्य कहते हैं कि भगवान् के ये वचन शून्यता (स्वभाव का अनुत्पाद) के प्रकाशक हैं। चन्द्रकीर्ति यहाँ अनवतप्तह्रदापसंक्रमण सूत्र का एक सूत्र[1] उद्धृत कर कहते हैं—जो प्रत्ययों से उत्पन्न होता है, वह वस्तुतः अनुत्पन्न ही है; क्योंकि उसकी स्वाभाविक उत्पत्ति नहीं है। प्रत्ययाधीन उत्पत्ति से ही शून्यता उक्त हो जाती है। ऐसी शून्यता को जानने वाला प्रमाद नहीं करता।

वादी कहता है कि यह आगम भावों का अनवस्थायित्वमात्र बतलाता है, भावों के स्वभाव का अनुत्पाद नहीं। भावों का स्वभाव है, क्योंकि उनका परिणाम देखा जाता है। इसके अतिरिक्त एक ओर तो माध्यमिक भावों को अस्वभाव मानते हैं, दूसरी ओर उसमें शून्यता-धर्म भी मानते हैं। किन्तु यदि धर्मी नहीं है, तो तदाश्रित धर्म कैसे उपपन्न होंगे ? अतः विपरिणामादि की सिद्धि के लिए उन्हें भाव-स्वभावता माननी होगी।

आचार्य कहते हैं कि यदि भावों के स्वभाव स्थित हैं, तो अन्यथाभाव किसका होगा ? जो धर्म जिस पदार्थ को किसी प्रकार नहीं छोड़ता वह उसका स्वभाव कहा जाता है; जैसे अग्नि की उष्णता। यदि भावों का स्व-भाव मानें तो उनका अन्यथात्व (रूपान्तरता) नहीं बनेगा। यदि भाव अपनी प्राकृत अवस्था में ही वर्तमान रहेंगे, तो उनका अन्यथात्व कैसे उपपन्न होगा। युवक जब युवावस्था में ही वर्तमान है, तब उसका अन्यथात्व नहीं होगा। वादी के सिद्धान्त में अवस्थान्तर प्राप्ति से भी अन्यथात्व नहीं होगा; क्योंकि युवक का अन्यथात्व उसकी जीर्णता है। यदि युवक पूर्ववत् है तो उससे अन्य की ही जीर्णता माननी होगी। अन्य युवा की जीर्णता से भी उसकी जीर्णता है, तो उसका जरा से संबन्ध निष्प्रयोजन होगा। यदि कहें कि युवा का ही अन्यथाभाव होगा, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जो जरावस्था-प्राप्त नहीं है, वह युवा है। उसे कोई जीर्ण भी मानें तो एक में परस्पर दो विरुद्ध अवस्थाएँ माननी पड़ेंगी।

यदि आप कहें कि क्षीरावस्था के परित्याग से दधि-अवस्था आती है, अतः क्षीर दधि नहीं होता, तो हम कहते हैं कि क्या उदक का दधिभाव होगा ? इस प्रकार तो सस्वभाववाद में आप किसी तरह परिणमन नहीं सिद्ध कर सकते।

आपका यह आक्षेप कि शून्यता के आश्रय के लिए माध्यमिक को भावों को सस्वभाव मानना पड़ेगा, ठीक नहीं है। अवश्य ही शून्यता का कोई धर्म होता तो उसके आश्रय

---

१. यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः ॥ (पृ० २३९)

के लिए भावों की सस्वभावता भी होती। किन्तु ऐसा नहीं है। हमारे मत में शून्यता सब धर्मों का सामान्य-लक्षण है। इसलिए कोई अशून्य धर्म नहीं है। जब अशून्य पदार्थ नहीं है, और अशून्यता नहीं है, तब प्रतिपक्ष (अशून्यता) से निरपेक्ष होने के कारण शून्यता भी नहीं होगी। जब शून्यता नहीं है, तो उसके आश्रित पदार्थ की भी सत्ता नहीं है। हमारा यह पक्ष सुसंगत है।

पूर्वपक्षी कहता है कि भगवान् ने विमोक्ष के लिए शून्यता, अनिमित्तता, अप्रणिहितता का निर्देश किया है। यह सौगत वचन की अन्य सबसे असाधारणता है। अन्य तीर्थंकों के वाद-मोह से अभिभूत इस जगत् को शिक्षा को देने के लिए भगवान् बुद्ध ने जगत् में नैरात्म्योपदेश के प्रदीप को जलाया था। किन्तु आपने तथागत के प्रवचन का व्याख्यान करने के व्याज से शून्यता का ही प्रतिक्षेप कर दिया।

सिद्धान्ती कहता है कि आप अत्यन्त विपर्यास के कारण निर्वाणपुर-गामी शिव एवं सरल मार्ग को छोड़कर संसार-कान्तार-गामी मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। आपको जानना चाहिये कि निरवशेष क्लेश-व्याधि के चिकित्सक महावैद्यराज बुद्ध ने कहा[1] है कि "मिथ्या दृष्टियों से अभिनिविष्ट लोगों का निस्सरण (अप्रवृत्ति) ही शून्यता है। किन्तु जो शून्यता में भी भावाभिनिवेश (शून्यता एक तत्त्व है, ऐसा अभिनिवेश) करेंगे, वे असाध्य हैं" क्योंकि हमारे उपदेश से उन्हें (अभिनिवेशी को) सकल कल्पना से व्यावृत्त मोक्ष कैसे होगा? जैसे कोई किसी से कहे कि मैं तुम्हें पैसा दूँगा, तो दूसरा कहे कि 'आप मुझे वही दें, कि "पण्य नहीं दूँगा"। ऐसे व्यक्ति को पण्याभाव का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। इसी प्रकार जिन्हें शून्यता में भी भावाभिनिवेश हो जाय, उसे अभिनिवेश से कौन निषेध कर सकता है? ऐसे दोष-संज्ञी का परम चिकित्सक तथागत ने प्रत्याख्यान किया है।

संसर्गवाद का खंडन

आचार्य भावों की निःस्वभावता सिद्ध करने के लिए पदार्थों के संसर्गवाद का खण्डन करते हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि भावों की सस्वभावता है, क्योंकि उनका संसर्ग होता है। संस्कारों का भी परस्पर संसर्ग होता है। जब यह कहा जाता है कि चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप की अपेक्षा करके (प्रतीत्य) उत्पन्न होता है, तो उससे तीनों का संनिपात या स्पर्श अभिप्रेत है। स्पर्श से वेदना आदि होते हैं। इसी प्रकार संज्ञा और वेदना संसृष्ट हैं। इन्हें असंसृष्ट धर्म नहीं कहते। अतः संसर्ग भावों की सस्वभावता को सिद्ध करते हैं।

आचार्य समाधान करते हैं कि इनका संसर्ग सिद्ध नहीं होता; क्योंकि द्रष्टव्य (रूप), दर्शन (चक्षु) और द्रष्टा (विज्ञान) में किन्हीं दो या तीन में (सर्वशः) संसर्ग नहीं

---

१. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥ (१३।८)

होता। इसी प्रकार राग-रक्त-रञ्जनीय, द्वेष-द्विष्ट-द्वेषणीय तथा श्रोत्र-श्रोता-श्रोतव्य का भी संसर्ग नहीं होता। संसर्ग के लिए द्रष्टव्यादि में परस्पर अन्यता होनी चाहिये। तभी क्षीरोदक के समान वे अन्योन्य संसृष्ट होंगे। किन्तु इनमें अन्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए इनमें संसर्ग भी नहीं होगा। इतना ही नहीं कि कार्यकारण रूप में अवस्थित द्रष्टव्यता आदि में परस्पर अन्यता असंभव है, प्रत्युत अत्यन्त भिन्न घटपटादि में भी परस्पर अन्यता सिद्ध नहीं होती।

वस्तु-भेद की अपारमार्थिकता

अन्य पट की अपेक्षा से ही घट को पट से अन्य कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि पट में घट की अपेक्षा से अन्यता है, यही यह सिद्ध करता है कि पट से घट अन्य नहीं है; क्योंकि नियम है कि जिसकी अपेक्षा से जो वस्तु होती है, वह उससे अन्य नहीं होती। जैसे—बीजांकुर। यदि घट पट की अन्यता की अपेक्षा अन्य है, तो वह पटातिरिक्त अन्य वस्तुओं से भी अन्य है। ऐसी दशा में पट-निरपेक्ष एक-एक घट अन्य होंगे; क्योंकि जो जिससे अन्य है, वह उसके बिना भी सिद्ध होगा—जैसे कोई भी घट अपने स्वरूप की निष्पत्ति में पट की अपेक्षा नहीं करता। इसी प्रकार जब पट के बिना भी घट का अन्यत्व सिद्ध होता है, तब उस पट-निरपेक्ष घट का परत्व भी सिद्ध होगा। किन्तु पट-निरपेक्ष एक-एक घट का अन्यत्व दृष्ट नहीं है। इसलिए घट की अन्यता स्वीकार करनेवाले पक्ष में जिसकी अपेक्षा से अन्यता अभीष्ट है, उसी से यह भी स्पष्ट होता है कि उसकी अपेक्षा से अन्यता नहीं है।

पूर्वपक्षी एक तर्क करता है कि आपके मत में किसी की अपेक्षा से किसी में अन्यता नहीं है, तो आपका यह कहना भी संभव न होगा कि "अन्य की प्रतीति से ही किसी में अन्यता आती है, इसीलिए वह उससे अन्य नहीं है।" सिद्धान्ती कहता है कि पदार्थों की अन्यता-सिद्धि परस्परापेक्ष है। इसलिए हम लोक-व्यवहार में किसी की अन्यता कहते हैं। वस्तुतः परीक्षा करने पर किसी की अन्यता सिद्ध नहीं होती।

पूर्वपक्षी कहता है लोक-संवृति से आप घट पट की भाँति बीजाङ्कुर में भी अन्यता व्यपदेश क्यों नहीं करते? चन्द्रकीर्ति इसका उत्तर देते हैं कि लोक घट पट के समान बीजाङ्कुर की अन्यता में प्रतिपन्न नहीं है। ऐसा मानने पर घट पट के समान बीजाङ्कुर में भी जन्य-जनकभाव नहीं होगा, और बीजाङ्कुर में यौगपद्य (एककालिकता) भी मानना पड़ेगा।

सामान्य-विशेष की अन्यता नहीं

यहाँ वैशेषिक अपना पक्ष उठाता है कि हम किसी पदार्थ में पदार्थान्तर की अपेक्षा करके परबुद्धि नहीं मानते। सामान्य विशेष ही अन्यत्व है, वह जिससे समवेत (संबद्ध) होता है, वह वस्तु पदार्थान्तर निरपेक्ष होकर भी पर होती है। इसलिए आपके उक्त समस्त दोष मेरे पक्ष में नहीं लगते।

सिद्धान्ती समाधान करता है कि आपका पक्ष तब ठीक हो जब अन्यता सिद्ध हो, किन्तु यह सर्वथा असिद्ध है। यह बताइये कि अन्यत्व अन्य में कल्पित है या अनन्य में? प्रथम पक्ष में अन्यत्व-परिकल्पना व्यर्थ है, क्योंकि अनायास ही अन्यत्वेन व्यपदिष्ट पदार्थ में आप अन्यत्व की कल्पना करते हैं। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्य एक होता है, जो अन्य का विरोधी है। अतः अनन्य में विरोधी अन्यत्व कैसे रहेगा।

पूर्वपक्षी संसर्गवाद को प्रकारान्तर से पुष्ट करता है। कहता है कि दर्शनादि का त्रिक-संनिपात (तीन का स्पर्श) है; क्योंकि दर्शनादि स्पष्टतः उपलब्ध हैं। सिद्धान्ती कहता है कि आपके मत में दर्शनादि का संसर्ग एकत्वेन परिकल्पित है, या अन्यत्वेन। एकत्व पक्ष में संसर्ग नहीं बनेगा; क्योंकि उदक-निरपेक्ष क्षीर का उदक से संसर्ग नहीं होता। अन्यत्व पक्ष भी असिद्ध है; क्योंकि उदक से पृथक् रहकर क्षीर उदक से संसृष्ट नहीं होता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि संसर्ग न हो किन्तु संसृज्यमान-संसृष्ट-संस्रष्टा तो हैं, जो संसर्ग के बिना असंभव होंगे? आचार्य कहते हैं कि जब संसर्ग ही नहीं है तो संसृज्यमानादि की सत्ता कहाँ से सिद्ध होगी।

चन्द्रकीर्ति इस संसर्गवाद का निषेध केवल तर्कों के आधार पर नहीं करते, भगवद्वचन भी उद्धृत करते हैं कि चक्षु वस्तुतः नहीं देखता है। यह संयोग-वियोग विकल्पमात्र है[1]।

निःस्वभावता की सिद्धि

माध्यमिककारिका के पंचदश प्रकरण में आचार्य निःस्वभावता के सिद्धान्त का समारंभ के साथ समर्थन करते हैं, और आचार्य चन्द्रकीर्ति उसकी पुष्टि के लिए सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद आदि का खण्डन करते हुए सस्वभाववाद की विकट परीक्षा करके उसे ध्वस्त करते हैं।

बौद्धों में एकदेशी कहता है कि भावों का स्वभाव है; क्योंकि उसकी निष्पत्ति के लिए हेतु-प्रत्ययों का उपादान होता है। उपादान खपुष्प के लिए नहीं होता, अंकुर की निष्पत्ति के लिए बीज का तथा संस्कार के लिए अविद्या का उपादान होता है।

सिद्धान्ती कहता है कि यदि संस्कार और अंकुरादि सस्वभाव हैं, और वर्तमान हैं; तो इनके लिए हेतु-प्रत्यय व्यर्थ हैं। जिस प्रकार वर्तमान संस्कारादि की भूयो निष्पत्ति के लिए अविद्यादि का उपादान व्यर्थ है, उसी प्रकार समस्त भावों की विद्यमानता हेतु-प्रत्यय के उपादान को व्यर्थ सिद्ध करती है। अतः हेतु-प्रत्ययों के द्वारा भावों का स्वभाव सिद्ध नहीं होता। यदि कहो कि उत्पाद से पूर्व स्वभाव अविद्यमान है, हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा से पश्चात् उसका उत्पाद होता है, तो ऐसी स्थिति में स्वभाव कृतक होगा। किन्तु जो स्वभाव

---

1. सर्वसयोगि तु पश्यति चक्षुस्तत्र न पश्यति प्रत्ययहीनम् ।
नैव च चक्षुः प्रपश्यति रूपं तेन सयोगवियोगविकल्पः ।।
आलोकसमाश्रित पश्यति चक्षु रूपमनोरमचित्रविचित्रम् ।
येन च योगसमाश्रितचक्षुस्तेन च पश्यति चक्षु कदाचि ।। (पृ० २२९)

है, वह कृतक कैसे होगा ? उसका स्वत्व ही जब उसकी सत्ता है (स्वो भावः), तब उसे नियमतः अकृतक होना चाहिये। जैसे—अग्नि की उष्णता या अन्य पद्मरागादि का पद्मरागादि-स्वभाव।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि स्वभाव की अकृतकता लोक-व्यवहार से व्यवस्थित है। उसके आधार पर हमने भी अग्नि की उष्णता को अग्नि का स्वभाव मान लिया है। वस्तुतः औष्ण्य भी अग्नि का स्वभाव नहीं हो सकता; क्योंकि अग्नि की उत्पत्ति मणि-इन्धन-आदित्य के समागम से तथा अरणि के निर्घर्षणादि के कारण हेतु-प्रत्ययापेक्ष है। अग्नि से अतिरिक्त उसकी उष्णता संभव नहीं है, अतः जल की उष्णता के समान अग्नि की उष्णता भी उसका स्वभाव नहीं होगी; प्रत्युत उसका औष्ण्य हेतु-प्रत्यय-जनित होने से कृत्रिम है।

पूर्वपक्षी कहता है कि 'उष्णता अग्नि का स्वभाव है' यह सर्वजन प्रसिद्ध है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि हमने कब कहा कि यह वाद प्रसिद्ध नहीं है। हम लोग तो इतना ही कहते हैं कि उष्णता स्वभाव नहीं है; क्योंकि वह स्वभाव-लक्षण से वियुक्त है। लोक अविद्या-विपर्यास से निःस्वभाव को ही स्वभावत्वेन प्रतिपन्न करता है, और उसके अनुसार आख्यान करता है कि 'उष्णता अग्नि का स्वलक्षण है'। बालजन की प्रसिद्धि के अनुसार ही भगवान् ने अभिधर्म में भावों का सांवृत स्वरूप व्यवस्थापित किया है। किन्तु जिनका अविद्या-तिमिर नष्ट हो चुका है, ऐसे प्रज्ञाचक्षुवाले आर्य लोगों की दृष्टि से विचार करें तब बालजन की कल्पित सस्वभावता उपलब्ध नहीं होगी। फलतः आर्य परहित की दृष्टि से कहता है कि 'भावों का स्वभाव नहीं है'।

स्वभाव का लक्षण

यहाँ आचार्य स्वभाव का अपना लक्षण बताते हैं कि 'स्वभाव पर-निरपेक्ष तथा अकृत्रिम होता है'। चन्द्रकीर्ति उसकी व्याख्या में कहते हैं कि 'स्वो भावः' इस व्युत्पत्ति से पदार्थ का आत्मीय रूप स्वभाव है। आत्मीय रूप वही होगा जो अकृत्रिम होगा। जो जिसका आयत्त है, वह भी उसका आत्मीय है; जैसे—स्वभृत्य, स्वजन। इस प्रकार पर सापेक्ष और कृत्रिम पदार्थ स्वभाव नहीं होंगे। अतएव अग्नि की उष्णता हेतु-प्रत्यय से प्रतिबद्ध होने के कारण, पूर्व में न होकर पश्चात् होने के कारण, कृतक है; और अग्नि का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार अग्नि का निजरूप अकृत्रिम है, जो कालत्रय में अव्यभिचारी है।

अब प्रश्न यह है कि स्वभाव के इस लक्षण के अनुसार अग्नि का स्वभाव क्या है ? इसके उत्तर में माध्यमिक परमार्थ का संकेत करता है कि स्वरूपतः (स्वलक्षणतः) स्वभाव 'नहीं है' किन्तु 'नहीं है' भी नहीं है (न तद् अस्ति न चापि नास्ति स्वरूपतः)। इस रहस्य से श्रोताओं को उत्त्रास न हो, इसलिए सांवृतिक आरोपण से कहा जाता है कि 'स्वभाव है।'

भगवान् का वचन[1] है कि अपरमार्थ धर्मों की देशना और श्रवण होगा। वह केवल समारोपित कर्मों से ही देशित या श्रुत होता है। जो पदार्थ उपलब्ध है, उन्हें अविद्याविरहित आर्य जिस रूप में अपने दर्शन का विषय बनाता है वही उसका स्वभाव है[2]।

प्रश्न उठता है कि अध्यारोप के कारण यदि स्वभावातिरिक्तवाद सिद्ध होता है, तो वस्तु की अस्तिता का स्वरूप क्या है? चन्द्रकीर्ति उत्तर में कहते हैं कि जो धर्मों की धर्मता है, वही उसका स्वरूप है (या सा धर्माणां धर्मता सैव तत्स्वरूपम्)। धर्मों की धर्मता क्या है? धर्मों का स्वभाव। स्वभाव क्या है? प्रकृति। प्रकृति क्या है? शून्यता। शून्यता क्या है? निःस्वभावता। निःस्वभावता क्या है? तथता। तथता क्या है? तथाभाव, अविकारिता, सदैव स्थायिता। पर निरपेक्ष तथा अकृत्रिम होने के कारण अग्न्यादि का अनुत्पाद ही उसका स्वभाव है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य ने अविद्या-तिमिर के प्रभाव से उसी का पर निरपेक्षता अकृत्रिमता आदि लक्षण किया है। भावों की यही अनुत्पादात्मकता स्वभाव है, जो अकिञ्चित् होने से अभावमात्र एवं अस्वभाव है। अतः किसी प्रकार भावों का स्वभाव सिद्ध नहीं होता।

वादी कहता है कि आपके मत में भावों का स्वभाव न हो, परभाव तो है; क्योंकि उसका आप प्रतिषेध नहीं करते। परभाव स्वभाव के बिना असंभव है, अतः स्वभाव भी मानना पड़ेगा। सिद्धान्ती कहता है कि स्वभाव के अभाव में परभाव भी कहाँ होगा? इतना ही नहीं, स्वभाव और परभाव के अभाव में भावमात्र नहीं होगा। इस प्रकार भाव के प्रतिषेध से अभाव भी प्रतिषिद्ध होता है। यदि भाव नाम से कुछ होता तो उसका अन्यथाभाव अभाव होता। जब घटादि भावरूप से असिद्ध हैं तो उस अविद्यमान स्वभाव के अन्यथात्व (अभाव) का प्रश्न ही कहाँ है? आचार्य कहते हैं कि स्वभाव, परभाव, अभाव, भाव ये सर्वथा अनुपपन्न हैं। जो अविद्या-तिमिर से उपहत लोग इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, वे बुद्ध-शासन के तत्व को नहीं जानते।

यहाँ आचार्य चन्द्रकीर्ति सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद का खंडन कर बुद्ध-वचनों का विनियोग माध्यमिक पक्ष में करते हैं।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि कुछ लोग तथागत के प्रवचन का अपने को अविपरीत व्याख्याता समझते हैं, और कहते हैं कि पृथिवी का स्वभाव काठिन्य है, वेदना का स्वभाव विषयानुभव है, आदि। विज्ञान अन्य है, रूप अन्य है, वेदना अन्य है। इस प्रकार इनकी परभावता है। वर्तमानावस्था का विज्ञानादि भाव है, वह अतीतावस्थापन्न होकर अभाव होता है।

---

१. अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः॥ (पृ० २६४)

२. येनात्मनापश्यति शुद्ध दृष्टि-
स्तत्तत्त्वमित्येवमिहाप्यवैहि ॥ (मध्यमकावतार ६।२६)

आचार्य के कथनानुसार इन मान्यताओं को मानने वाले प्रतीत्य-समुत्पाद के परम गंभीर तत्व को नहीं जानते; क्योंकि स्वभाव-परभावादि का अस्तित्व उपपत्ति-विरुद्ध है। किन्तु तथागत उपपत्ति-विरुद्ध पदार्थों के स्वभाव का वर्णन नहीं करते। सोपपत्तिक और अविसंवादक होने से बुद्ध-वचन का प्रामाण्य है। बुद्ध-वचन का आगमत्व सिद्ध है; क्योंकि वह प्रक्षीणदोष आप्त के द्वारा आगत है। तत्वों का आगमन कराता है, अथवा तत्व के प्रति अभिमुख है या उसका प्रतिगमन करता है, और उसका आश्रय लेकर लोक निर्वाणगामी होता है। अन्य मत उपपत्ति-वियुक्त हैं, आगमाभास हैं। उनका प्रामाण्य व्यवस्थित नहीं है। स्वभाव, परभावादि का दर्शन युक्ति-विधुर है, अतः तत्त्व नहीं है। इसलिए आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि मुमुक्षुओं के लिए भगवान् ने आर्यकात्यायनाववाद सूत्र[1] में अस्तिवाद, नास्तिवाद दोनों का प्रतिषेध किया है; क्योंकि भगवान् को भावाभाव के अविपरीत स्वभाव का यथावस्थित ज्ञान है। उन्होंने भावाभाव उभय का प्रतिषेध किया है, अतः पदार्थों का भाव या अभाव-दर्शन तत्व[2] नहीं हो सकता।

आचार्य कहते हैं कि यदि अग्न्यादि का स्वभाव है, तो उस विद्यमान सद्वस्तु का अन्यथाभाव कैसे होगा? क्योंकि जिसका प्रकृतितः अस्तित्व है, उसका नास्तित्व कैसे संभव होगा। प्रकृति का अन्यथाभाव किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु वादी 'प्रबन्धोपरम' (प्रवाह का विच्छेद) विनाश का लक्षण मानता है। उसके मत में सभी वस्तुएँ जल की उष्णता के समान विपरिणामधर्मी हैं, अतः सिद्ध है कि पदार्थों में कहीं स्वभावता नहीं है। आचार्य कहते हैं कि अन्यथात्व उपलभ्यमान नहीं है, क्योंकि खपुष्प के समान जो प्रकृत्या अविद्यमान है, उसका अन्यथात्व कैसा? तथा प्रकृत्या (स्वभावेन) जो विद्यमान है, उसका भी अन्यथात्व कैसा?

शून्यवाद उच्छेद या शाश्वतवाद नहीं

आचार्य कहते हैं कि सिद्धान्त में अन्यथात्व दर्शन से पदार्थों की जो निःस्वभावता सिद्ध की गई है,वह परमत में प्रसिद्ध अन्यथात्व दर्शन की दृष्टि से है; क्योंकि स्वमत में कभी किसी का

---

१. यद्भूयसा कात्यायनायं लोकोऽस्तितां वाभिनिविष्टो नास्तितां च। न तेन परिमुच्यते। जातिजराव्याधिमरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासेभ्यो न परिमुच्यते। पाञ्चगतिकात्संसारचारकागारबन्धनान्न परिमुच्यते। इत्यादि। (पृ० २६९)

२. अस्तीति काश्यप! अयमेकोऽन्तो नास्तीति काश्यप! अयमेकोऽन्तः। यदेनयोरन्तयोर्मध्यं तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमनिकेतमविज्ञप्तिकमियमुच्यते काश्यप। मध्यमा प्रतिपद्धर्माणां भूतप्रत्यवेक्षेति। तथा—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्तविवर्जयित्वा मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः॥ (पृ० २७०)

अन्यथात्व अभिप्रेत नहीं है। आचार्य निष्कृष्टार्थ करते हैं कि प्रकृति तथा धर्म अत्यन्त अविद्यमान एवं अस्वभाव हैं। इनमें जो भावों के अस्तित्व-नास्तित्व की परिकल्पना करते हैं, वे शाश्वतग्राही अस्तिवादी हैं या उच्छेदद्रष्टा नास्तिवादी हैं। इसलिए तत्वग्राही विचक्षण को अस्ति-नास्तिवाद का आश्रयण नहीं करना चाहिये[1]। जिसके मत में भावों का स्वभाव ही अभ्युपगत नहीं है, उसके मत में शाश्वत या उच्छेदवाद कैसे बनेगा?

वादी कहता है कि आप निःस्वभाववादी हैं, भावदर्शन नहीं मानते। अतः भावों का शाश्वत-दर्शन न मानें यह ठीक हो सकता है, किन्तु उच्छेद-दर्शन मानना होगा। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि भाव-स्वभाव का अभ्युपगम कर पश्चात् उसका अपवाद करें तो अभाव-दर्शन प्रसक्त होगा। जैसे तैमिरिक का उपलब्ध केश वितैमिरिक को किञ्चिद् उपलब्ध नहीं होता और वह नास्ति कहता है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वितैमिरिक का प्रतिषेध्य कोई सत् है। इस प्रकार माध्यमिक विपर्यस्त लोगों के मिथ्याभिनिवेश की निवृत्ति के लिए भावों के अस्तित्व का प्रतिषेध करता है। यह कहने मात्र से उस पर उच्छेदद्रष्टा होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता।

विज्ञानवाद में उच्छेद और शाश्वतवाद का परिहार नहीं

चन्द्रकीर्ति विज्ञानवाद पर आक्षेप करते हैं, और सिद्ध करते हैं कि उनके सिद्धान्त से अन्तद्वय का परिहार नहीं होता। विज्ञानवादी चित्त-चैत्त की परतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं, और उनकी परिकल्पित स्वभावता नहीं मानते। इसलिए अस्तित्व-दर्शन का परिहार करते हैं। इस प्रकार वस्तु की परतन्त्र सत्ता को संक्लेश और व्यवदान का निमित्त मानते हैं, और उसके सद्भाव से नास्तित्व दर्शन का खण्डन करते हैं। किन्तु उनके मत में परिकल्पित अविद्यमान है, और परतन्त्र विद्यमान है। इसलिए दर्शन-द्वय का उपनिपात है। अतः विज्ञानवाद में अन्तद्वय का परिहार नहीं सिद्ध होता। वस्तुतः हेतु-प्रत्यय-जनित होने के कारण किसी की सस्वभावता मानना सर्वथा अयुक्त है। इसलिए मध्यमक-दर्शन में ही अस्तित्व-नास्तित्व दर्शन का परिहार होता है, सर्वास्तिवाद या विज्ञानवादी दर्शनों में नहीं। विज्ञानवाद माध्यमिक संमत परमार्थ-दर्शन का उपाय है, अतः सांमितीयों की तरह वह नेयार्थ[2] है। भगवान् ने महाकरुणा के अधीन होकर निम्न भूमि के विनेयों के अनुरोध से विज्ञानवाद की देशना की है।

---

1. अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ॥ (१५।१०)

२. समाधिराजसूत्र में उक्त है—

नीतार्थसूत्रान्तविशेष जानति यथोपदिष्टा सुगतेन शून्यता।
यस्मिन् पुनः पुद्गलसत्वपुरुषो नेयार्थतो जानति सर्वधर्मान् ॥ (मा. का. वृ. २७५)

संसार की सत्ता का निषेध

वादी कहता है कि संसार का सद्भाव है, इसलिए भावों का स्वभाव मानना होगा। संसार या संसृति 'एक गति से गत्यन्तर का गमन है।' भावों का स्वभाव न हो तो किसका गत्यन्तर में गमन होगा ?

सिद्धान्ती कहता है—भावों का स्वभाव तब होगा जब संसार हो, किन्तु वह असिद्ध है। प्रश्न है कि संस्कारों का संसरण होता है या सत्वों का ? और जिन संस्कारों का संसरण होता है, वे नित्य हैं या अनित्य ? नित्य निष्क्रिय होते हैं, अतः नित्य संस्कारों का संसरण असंभव है। अनित्य उत्पाद के समनन्तर विनष्ट होते हैं, और विनष्ट अविद्यमान होने के कारण वन्ध्यासुत के संस्कारों के समान कहीं गमन नहीं कर सकते; अतः उनका भी संसरण असिद्ध है। संस्कार अनित्य है, फिर भी वे हेतु-फल की संबन्ध-परंपरा से अविच्छिन्न रहते हैं, और सन्तान से प्रवर्तित होकर संसरण करते हैं; यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि कार्य-कारण में कार्य कहीं से आगमन नहीं करता, और कहीं गमन नहीं करता; अतः उसका संसरण नहीं होगा। इसी प्रकार नष्ट कारण भी कहीं से आगमन नहीं करता, और कहीं गमन नहीं करता। वस्तुतः संस्कार के अतिरिक्त अतीत और अनागत की कल्पना असिद्ध है; क्योंकि उसके नष्ट और अजात रूप अविद्यमान होते हैं।

यदि कोई कहे कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व का संसरण होता है, तो यह तब संभव है जब पूर्वोत्तर क्षण एक हों। किन्तु उनका एकत्व संभव नहीं है; क्योंकि उनमें कार्य-कारण भाव इष्ट है। एक मानने पर पूर्व-उत्तर क्षण का व्यपदेश भी नहीं होगा, और 'पूर्व क्षण नष्ट हुआ' इसके कहने का कोई अर्थ नहीं होगा; क्योंकि वह उत्तर क्षण से अव्यतिरिक्त होगा। इसी प्रकार पूर्व क्षण के अभिन्न होने के कारण 'उत्तर-क्षण उत्पन्न हुआ' इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं होगा। पूर्व और उत्तर क्षणों की भिन्नता मानें, और उनका संसरण मानें तो अर्हतों का भी संसरण होगा; क्योंकि पृथग्जन की संसार में उत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, बल्कि प्रदीपान्तर के प्रज्वलित होने पर निर्वृत प्रदीप की भी ज्वलन-प्रतीति माननी होगी।

फिर प्रश्न होगा कि क्या नष्ट, अनष्ट अथवा नश्यमान पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का उदय होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, अन्यथा वह्नि-दग्ध बीज से अंकुरोदय होगा। द्वितीय पक्ष में बीज के अविकृत रहने पर भी अंकुरोदय मानना होगा, जो अहेतुक होगा। तृतीय पक्ष असिद्ध है, क्योंकि नष्टानष्ट से अतिरिक्त नश्यमान की सत्ता नहीं है। उक्त प्रकार से पूर्वोत्तर क्षण-व्यवस्था और कार्यकारण-व्यवस्था नहीं होगी, और सन्तान नहीं बनेगा। इन दोनों के अभाव में 'अनित्य संस्कारों का संसार है' यह पक्ष नहीं बनेगा। जैसे संस्कारों के संसार का निषेध है, उसी प्रकार 'सत्वों का संसार है' यह पक्ष भी निषिद्ध होता है।

आचार्य यहाँ उस पक्ष का निराकरण करते हैं, जो आत्मा को संस्कारों के समान नित्य-अनित्य न मानकर उसकी अवक्तव्यता में प्रतिपन्न है, और पुद्गल का संसरण मानता

है। आचार्य कहते हैं कि आत्मा स्कन्धायतन-धातु-स्वभाव नहीं है, और न उससे अतिरिक्त ही है। आत्मा स्कन्धायतन-धातुमान् नहीं है, और स्कन्धायतन धातुओं में भी नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में भी स्कन्धायतन धातु नहीं हैं।

आचार्य संसार का एक विशेष प्रकार से खंडन करते हैं। वे वादी से पूछते हैं कि हम मनुष्योपादान (मानव जीवन के लिए इन्द्रियादि समस्त उपकरण) से देवोपादान में जब जाते हैं, तो मनुष्योपादान का त्याग करके अथवा बिना त्याग किये देवोपादान ग्रहण करते हैं? प्रथम पक्ष में पूर्वोपादान के परित्याग और उत्तर के अनुपादान के अन्तराल को पंच उपादान स्कन्धों से रहित मानना होगा। जो अनुपादान और स्कन्ध-रहित होगा, वह अवश्य ही निर्हेतुक होगा और उसकी सत्ता न होगी। द्वितीय पक्ष भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि पूर्व के परित्याग और उत्तर का ग्रहण स्वीकार करने पर एक आत्मा की द्वयात्मकता (दो आत्मायें) माननी होगी।

यदि वादी कहे कि पूर्व और उत्तर भव के बीच अन्तराभविक स्कन्ध है, उससे सोपादानता संभव होगी, उसके आधार से संसरण होगा, किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि अन्तराभविक स्कन्ध में भी पूर्व भव के परित्याग-अपरित्याग की शंका उठेगी। जिसका समाधान नहीं है। वादी यदि त्याग और उपादान को युगपत् माने, तो हम प्रश्न करेंगे कि क्या पूर्वोपादान का त्याग एकदेशेन होता है? और वह एकदेशेन अन्तराभवोपान में संचरित होता है, अथवा सर्वात्मना? प्रथम पक्ष में पूर्वोक्त द्वयात्मकता दोष का प्रसंग होगा। सर्वात्मना पक्ष भी पूर्वोक्त विभवता (संसाराभाव) के दोष से आपन्न होगा। इस प्रकार संस्कार या आत्मा का संसरण सिद्ध नहीं हुआ। अतः संसार का सर्वथा अभाव है।

यहाँ चन्द्रकीर्ति अपनी वृत्ति में एक नए प्रकार से प्रश्न उठाते हैं और आचार्य के वचनों से उसका समाधान करते हैं। पूर्वपक्ष है कि संसार है; क्योंकि उसका प्रतिद्वन्द्वी निर्वाण है।

समाधान में चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि निर्वाण नहीं है; क्योंकि प्रश्न होगा कि निर्वाण नित्य सत्व के लिए है या अनित्य सत्व के लिए? दोनों पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य अविकारी होता है और अनित्य अविद्यमान होता है, अतः निर्वाण नहीं होगा। यदि कहें कि नित्यत्वेन अनित्यत्वेन अवाच्य का निर्वाण होता है, तो संसार के समान निर्वाण में भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। आचार्य चन्द्रकीर्ति यहाँ निर्वाण के खंडन के लिए अष्टसाहस्रिका तथा समाधिराजसूत्र आदि के उद्धरणों[1] से मायोपमता एवं स्वप्नोपमता सिद्ध करते हैं। निर्वाण के अभाव में संसार का भी अभाव है।

आचार्य निःस्वभावता के खंडन के लिए बन्ध-मोक्ष का पुनः प्रकारान्तर से खंडन करते हैं। कहते हैं कि रागादि क्लेश सत्वों को अस्वतंत्र कहते हैं, इसलिए उन्हें बन्धन कहा

१. निर्वाणमप्यायुष्मन् सुभूते ! मायोपमं स्वप्नोपमम्। बुद्धधर्मा आयुष्मन् सुभूते मायोपमाः स्वप्नोपमा इत्यादि।

जाता है और इनसे बद्ध पृथग्जन त्रैधातुक का अतिक्रमण नहीं कर पाते। किन्तु यह उदय-व्ययशील क्षणिक तथा उत्पाद के परस्पर नष्ट संस्कारों को तो बद्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार उनका रागादि बन्धन से विच्छेद भी क्या होगा, जब कि वह असत् एवं अविद्यमान है। वस्तुतः बन्धनभूत रागादि उपादानों की भी सत्ता नहीं है, क्योंकि जो सोपादान है, वह बद्ध है, उसका फिर बन्धन क्या? अनुपादान बन्धन रहित है, अतः तथागत के समान वह बद्ध न होगा। दूसरी बात यह है कि लोक में निगडादि बन्धन बन्ध्य देवदत्तादि से अतिरिक्त और उससे पूर्व सिद्ध रहते हैं, इस प्रकार बन्ध्य संस्कार हों या पुद्गल हों, उनसे पूर्व रागादि को सिद्ध होना चाहिये, जो सर्वदा असंभव है; क्योंकि रागादि निराश्रय होकर सिद्ध नहीं होंगे।

यहाँ वादी कहता है कि आपने संसार और निर्वाण तथा बन्ध और मोक्ष का प्रतिषेध कर दिया। मुमुक्षुओं की शान्ति के लिए, तृष्णा-नदी से उत्तीर्ण होने के लिए और संसार महाटवी के कान्तार से निस्तीर्ण होने के लिए तथागत का परम आश्वासन देने वाला महाधर्मच्छन्द व्यर्थ होगा, और निर्वाण प्राप्ति के लिए श्रुत-चिन्ता-भावनादि का उपासना-क्रम भी व्यर्थ होगा।

सिद्धान्ती कहता है कि हमारे मत में सर्व भाव निःस्वभाव हैं। प्रतिबिंब, मरीचिका जल, अलातचक्र के समान आत्मा-आत्मीय स्वभावों से रहित हैं। केवल विपर्यास से अहंमात्र का परिग्रह है, इसीलिए सत्व सोचता है कि मैं सर्वोपादान रहित होकर निर्वाण प्राप्त करूँ, और मैं धर्म-प्रतिपन्न होकर निर्वाण अवश्य लाभ करूँगा। सत्व का यह अहंकार ममकार ही सत्काय-दृष्टि का उपादान है, वस्तुतः उसका यह महाग्राह है। इस महाग्रहाभिनिवेशी के लिए शान्ति नहीं है। इसलिए मुमुक्षु के लिए ये सब परित्याज्य हैं।

अन्त में आचार्य कहते हैं कि परमार्थ सत्य में निर्वाण का अध्यारोप अनुपलब्ध होने के कारण निर्वाण असंभव है। इसीलिए संसार परिक्षय भी असंभव है। क्योंकि जब निर्वाण नहीं है, तथा उसकी प्राप्ति नहीं है, तो संसार भी कहाँ विकल्पित होगा, जिसके क्षय के लिए उद्योग हो।

कर्म, फल और उसके संबन्ध का निषेध

आचार्य अब कर्म-फल संबन्ध की परीक्षा करते हैं। कर्मवाद के संबन्ध में तीर्थिकों के विभिन्न सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर कर्म की निःस्वभावता से उसका खण्डन करते हैं।

वादी कहता है कि सन्तान की अविच्छिन्नता के कारण जन्म-मरण-परंपरा तथा उसमें हेतु-फल-भाव की प्रवृत्ति होती है। उसी से संस्कार या आत्मा संसरण करते हैं। इस प्रकार कर्म-फल-संबन्ध सिद्ध होता है। माध्यमिक के मत में संसार नहीं है, और चित्त भी उत्पत्त्यनन्तर विनाशी है। ऐसी अवस्था में कर्माक्षेप-काल में विपाक (फल) का सद्भाव नहीं होगा। अतः इस मत में कर्म-फल का संबन्ध नहीं बनेगा। संसार मानेंगे तभी सत्व जन्मान्तर में अपने

पूर्वकृत कर्म के विपाक-फल से संबद्ध होगा। अतः कर्म-फल-संबन्ध के लिए उसका आश्रय संसार मानना होगा।

कर्मों के भेद

आत्म-संयमक कुशल-चित्त पुद्गल को विषय में अस्वतन्त्र बनाता है, यानी कुशल-चित्त रागादि क्लेशों की प्रवृत्ति का निवारक होता है, और सत्व को दुर्गति-गमन से रोककर धारण करता है। इसके अतिरिक्त यह परानुग्राहक-चित्त और मैत्र-चित्त भी हैं। यह चित्त धर्म इस अर्थ में है कि कुगति-गमन से रोकते हैं, विधारण करते हैं। यह चित्त फल की अभिनिर्वृत्ति में असाधारण कारण हैं। इस जन्म और परजन्म में इनसे फल-निष्पत्ति होती है। इस चित्तात्मक धर्म के अतिरिक्त भगवान् ने दो और धर्मों (कर्मों) की व्यवस्था की है—चेतना-कर्म और चेतयित्वा-कर्म। इन दो कर्मों के अनेक भेद होते हैं। मनोविज्ञान संप्रयुक्त चेतना मानस-कर्म है। चेतना से चिन्तित और काय-वाक् से प्रवर्तित कर्म चेतयित्वा-कर्म है। इन कायिक-वाचिक-मानसिक कर्मों के प्रधानतः सात भेद होते हैं—कुशल-अकुशल वाक्-कर्म, कुशल-अकुशल काय-कर्म, कुशल अविज्ञप्ति-कर्म, अकुशल अविज्ञप्ति-कर्म, परिभोगान्वय पुण्य, परिभोगान्वय अपुण्य, चेतना।

यहाँ प्रश्न उठता कि उक्त कर्म क्या विपाक-काल तक स्थित होते हैं? अथवा नष्ट हो जाते हैं। यदि उत्पन्न कर्म विपाक-काल तक स्वरूपेण अवस्थित होते हैं, तो इतने काल तक अविनष्ट होने के कारण इन्हें नित्य मानना होगा। पश्चात् भी उनका विनाश नहीं होगा; क्योंकि विनाश-रहित आकाशादि का पश्चात् विनाश नहीं होता। कर्म यदि उत्पादान्तर विनाशी हैं, तो वह अपनी अविद्यमान-स्वभावता के कारण ही फलोत्पादन नहीं करेंगे।

क्षणिकवाद में कर्म-फल की व्यवस्था

निकायान्तरीय स्वमत से इसका परिहार करता है कि संस्कार उत्पत्यनन्तर विनाशी हैं, फिर भी हमारे मत में दोष उपपन्न न होंगे। यह कहना कि निरुद्ध कर्म फलोत्पाद नहीं करेंगे, ठीक नहीं है। बीज क्षणिक है, किन्तु उसमें अंकुर-कांड-नाल-पत्र स्वजातीय फल-विशेष की निष्पत्ति का सामर्थ्य है। अतः बीज अंकुरादि का कारण बन स्वयं निरुद्ध हो जाता है। हाँ, बीज यदि अंकुरादि-संतान का प्रसव न करे और अग्नि आदि विरोधी प्रत्ययोंसे पहले ही नष्ट हो जाय, तो उसका उच्छेद माना जायगा। बीज निरुद्ध न हो और अंकुरादि संतान का प्रवर्तन करे, तब उसका शाश्वतत्व माना जायगा। किन्तु बीजाङ्कुर-दृष्टान्त में दोनों का अभाव है, अतः बीज में शाश्वतोच्छेद दोष नहीं लगेंगे। निकायान्तरीय पूर्वोक्त बीजांकुर दृष्टान्त के समान ही कुशल या अकुशल चेतना-विशेष को चित्त सन्तान का हेतु मानता है। कुशल चित्त अर्हत् के चरम चित्त के समान भावि चित्त-सन्तान का हेतु न होकर निरुद्ध हो जाय, तब कर्म को को उच्छिन्न कह सकते हैं, और भावि सन्तान को उत्पन्न करके भी स्वरूप से प्रच्युत न हो तो कर्म को शाश्वत कहेंगे। किन्तु यहाँ दोनों नहीं हैं, अतः कर्म की क्षणिकता के सिद्धान्त में पर उच्छेद या शाश्वतत्व का आरोप नहीं लगेगा।

'अविप्रणाश' से कर्म-फल व्यवस्था

कोई अन्य नैकायिक पूर्वोक्त समाधान में दोषोद्भावन कर स्वमत से पूर्वोक्त आक्षेपों का परिहार करता है। कहता है कि आप यदि बीजांकुर दृष्टान्त से चित्त-संतान के पूर्वोक्त दोषों का परिहार करेंगे, तो अवश्य ही आपके पक्ष में बहुत बड़े-बड़े अपरिहार्य दोष लगेंगे। जैसे आपके मत में शालि-बीज से सजातीय शाल्यंकुर की ही सन्तान प्रवृत्त होगी, विजातीय की नहीं। इसी प्रकार कुशल-चित्त से समानजातीय कुशल चित्त-सन्तान उत्पन्न होगी। काम, रूप या आरूप्य के अनास्रव चित्त से तत्तत् लोकों के अनास्रव चित्त ही उत्पन्न होंगे। मनुष्य चित्त से मनुष्यचित्त, देवचित्त से देवचित्त, नारकचित्त से नारकचित्त उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार देव-मनुष्य अकुशल कर्म भी करें फिर भी गति, योनि, वर्ण, बुद्धि, इन्द्रिय, बल, रूप, भोग आदि की विचित्रता न होगी। अतः यह परिहार पूर्ण नहीं है।

वस्तुतः जब कर्म उत्पन्न होता है, तो उसके साथ संतान में एक 'अविप्रणाश' नामक धर्म भी उत्पन्न होता है। यह विप्रयुक्त धर्म है। जैसे ऋण-पत्र लिख लेने से धनिक के धन का नाश नहीं होता, बल्कि कालान्तर में व्याज के साथ मिलता है; उसी प्रकार कर्ता-कर्म के विनष्ट होने पर भी इस 'अविप्रणाश' धर्म के अवस्थान से फल अभिसंबद्ध होता है। जैसे ऋणपत्र दाता का धन लौटाकर निर्मुक्त है, अतः वह विद्यमान हो या अविद्यमान पुनः धनाभ्यागम नहीं कर सकेगा; उसी प्रकार 'अविप्रणाश' विपाक प्रदान कर निर्मुक्त ऋण-पत्र के समान कर्ता का विपाक से पुनः संबन्ध नहीं करायेगा।

'अविप्रणाश' काम, रूप, आरूप्यावचर, अनास्रव के भेद से चतुर्विध है; तथा प्रकृतितः अव्याकृत है। 'अविप्रणाश' दर्शन-प्रहेय नहीं है, किन्तु भावना-प्रहेय है। यह 'अविप्रणाश' कर्म-विनाश से विनष्ट नहीं होता और कर्म-प्रहाण से प्रहीण नहीं होता। इसलिए अविप्रणाश से कर्म-फल संपन्न होते हैं। इस मत में पृथग्जन के कर्म के समान यदि दर्शन मार्ग से 'अविप्रणाश' का प्रहाण हो तो कर्मों का विनाश मानना पड़ेगा और उससे आर्यों का इष्टानिष्ट कर्म-फल पूर्वकर्मों के फल न होंगे। सभाग और विसभाग समस्त कर्मों के काम, रूप और आरूप्य समस्त धातुओं के प्रतिसंधियों में सर्व कर्मों का अपमर्दन 'अविप्रणाश' धर्म उत्पन्न होता है।

चेतना-स्वभाव या चेतयित्वा-स्वभाव, सास्रव या अनास्रव, सभी कर्मों का एक एक 'अविप्रणाश' उत्पन्न होता है। यहाँ 'अविप्रणाश' विपाकों के विपक्व होने पर भी अवश्य ही निरुद्ध नहीं हो जाता, किन्तु निर्मुक्त ऋणपत्र के समान विद्यमान होते हुए भी पुनः विपाक नहीं करता। फल व्यतिक्रम या मरण से 'अविप्रणाश' निरुद्ध होता है और वह सास्रवों का सास्रव-फल अनास्रवों का अनास्रव-फल देता है। 'अविप्रणाश' का इसलिए भी महत्त्व है कि कृत कर्म निरुद्ध हो जाता है; क्योंकि उसकी स्वभाव-स्थिति नहीं है। कर्म की निःस्वभावता से ही शून्यता उपपन्न होती है, किन्तु कर्म के इस अनवस्थान मात्र से उच्छेद नहीं हो जाता, क्योंकि 'अविप्रणाश' के परिग्रह से ही कर्म विपाक का सद्भाव सिद्ध होगा। शाश्वतवाद का भी प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि कर्म का स्वरूपेण अवस्थान नहीं है। अविप्रणाशवादी कहता है कि

मेरे इस सिद्धान्त में कर्म पाक-काल तक रहता तो नित्यता की आपत्ति होती, निरुद्ध होता तो वह फल उत्पन्न नहीं करता, इत्यादि दोष लगते। अतः पूर्वोक्त आक्षेपों का मेरा ही समाधान उपयुक्त है।

सिद्धान्त में कर्म-फल की निःस्वभावता

सिद्धान्ती वादियों के दोनों समाधानों को नहीं मानता, और सिद्धान्त-संमत समाधान करता है।

सिद्धान्त में कर्म उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह निःस्वभाव है। कर्म स्वभावतः होता तो वह शाश्वत भी होता; क्योंकि स्वभाव का अन्यथाभाव नहीं होता। कर्म स्वभावतः होता तो अकृत होता; क्योंकि शाश्वत किसी से किया नहीं जाता। शाश्वत विद्यमान होता है, अतःउसके लिए किसी की करणता अनुपपन्न है। वह कारण की अपेक्षा नहीं करेगा। इतना ही नहीं, प्रत्युत कर्म अकृत होगा तो अकृताभ्यागम (नहीं किये फल की प्राप्ति) दोष भी होगा। जिसने प्राणातिपातादि कर्म नहीं किया उसका भी अकृत कर्म है ही। उससे उसका संबन्ध मानना पड़ेगा। कृषि-वाणिज्यादि क्रियाओं का आरंभ धन-धान्यार्थ किया जाता है, किन्तु आपके मत में उनके अकृत कर्म विद्यमान हैं, अतः उनका आरंभ क्यों किया जाय? ऐसी अवस्था में पुण्य कर्म और पाप कर्म का भी विभाग नहीं होगा; क्योंकि सबके अकृत पुण्य-पाप विद्यमान रहेंगे। विपक्व विपाक कर्म भी पुनः विपाक-दान करेंगे; क्योंकि अविपक्व विपाकावस्था से विपक्व विपाकावस्था में कोई अन्तर नहीं होगा। सिद्धान्त में कर्म निःस्वभाव है, इसलिए शाश्वत-दर्शन या उच्छेद-दर्शन के दोष नहीं लगते।

कर्म निःस्वभाव इसलिए हैं कि उसका हेतु क्लेश निःस्वभाव है। कुशल-अकुशल के विपर्यास की अपेक्षा से जो होते हैं, वह निःस्वभाव हैं; अतः क्लेश निःस्वभाव हैं। जब क्लेश निःस्वभाव है तो उसका कार्य कर्म सस्वभाव कैसे होगा? पीछे इसकी विस्तृत परीक्षा से हम निश्चित कर चुके हैं कि कर्म नहीं हैं, फिर कर्ता और कर्मज फल सस्वभाव कैसे होंगे।

वादी पुनः एक प्रश्न उठाता है कि आपके मत में भाव निःस्वभाव हैं,तो भगवान् का यह वचन कैसे लागू होगा कि सब को कृत कर्म का विपाक स्वयमेव अनुभव करना पड़ता है। अपनी इस मान्यता से आप प्रधान नास्तिक सिद्ध होंगे। सिद्धान्ती कहता है कि हम लोग नास्तिक नहीं हैं,प्रत्युत अस्तित्ववाद और नास्तित्ववाद का निरास करके निर्वाण के अद्वैत-पथ के प्रकाशक हैं। हम यह नहीं कहते कि कर्म कर्ता और फल नहीं है, किन्तु वह निःस्वभाव है, केवल इसकी व्यवस्था करते हैं। यदि कहो कि निःस्वभाव पदार्थों का व्यापार नहीं बनेगा,तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि सस्वभाव पदार्थों में ही व्यापार नहीं होता, निःस्वभाव में व्यापार होता है। क्या आप निःस्वभाववादी को अपना कार्य करते हुए नहीं देखते। भगवान् ने अपने ऋद्धि के प्रभाव से एक निर्मितक को उत्पन्न किया। उत्पन्न निर्मितक ने पुनः एक दूसरे निर्मितक का निर्माण किया। वह तथागत स्वभाव से रहित है, अतः शून्य एवं निःस्वभाव है। दूसरा निर्मितक जो पहले से

निर्मित है, वह भी निःस्वभाव है। इस दृष्टान्त में निःस्वभाव पदार्थों का निःस्वभाव ही कार्य-कर्तृत्व तथा कर्म कर्तृव्यपदेश सिद्ध होता है, अतः अद्वयवादी माध्यमिक मिथ्यादर्शी नहीं है।

अनात्मवाद

वादी सिद्धान्ती की कठिन परीक्षा करता है। कहता है कि आपके मत में क्लेश, कर्म, कर्ता, फलादि कोई तत्त्व नहीं है। मूढ़ों को गन्धर्व-नगरादि के समान अतत्त्व ही तत्त्वाकारेण प्रतिभासित होते हैं, तो फिर बताइये तत्त्व क्या है? और उसका अवतरण कैसे होता है?

सिद्धान्ती कहता है कि आध्यात्मिक या बाह्य कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं होती, अतः अहंकार-ममकार का सर्वथा परिक्षय करना ही तत्व है। सत्व की सत्कायदृष्टि से ही अशेष क्लेश उत्पन्न होते हैं, अतः उन क्लेश और दोषों को योगी आत्मा और विषयों को अपनी योगज बुद्धि से देखकर निषेध करता है। संसार का मूल सत्काय-दृष्टि है। सत्काय-दृष्टि का आलंबन आत्मा है, अतः आत्मा की अनुपलब्धि से सत्काय-दृष्टि का प्रहाण होगा और उसके प्रहाण से सर्व क्लेश की व्यावृत्ति होगी। इसीलिए माध्यमिक आत्मा की विशद परीक्षा करते हैं कि यह आत्मा क्या है, जो अहंकार का विषय है। अहंकार का विषय आत्मा (जो कल्पित किया गया है) स्कन्धस्वभाव है या स्कन्ध-व्यतिरिक्त है?

आत्मा स्कन्ध से भिन्न या अभिन्न नहीं

यदि स्कन्ध ही आत्मा है, तो उसका उदय-व्यय, उत्पाद और विनाश मानना होगा, और फिर आत्मा की अनेकता भी माननी होगी। यदि आत्मा स्कन्ध-व्यतिरिक्त हो, तो उसका लक्षण स्कन्ध नहीं होगा। यदि आत्मा स्कन्ध-लक्षण नहीं है, तो आपके मत में उसका उत्पाद-स्थिति-भंग लक्षण भी नहीं होगा। ऐसी अवस्था में वह अविद्यमान या असंस्कृत होगा, और खपुष्प या निर्वाण के समान आत्म-व्यपदेश का लाभ नहीं करेगा। वादी आत्मा का स्कन्ध-व्यतिरिक्त लक्षण करते हैं। वे उसका रूप नित्य,कर्ता,भोक्ता,निर्गुण, निष्क्रिय आदि विविध कहते हैं। आत्मा के स्वरूप के विषय में वादियों में परस्पर किंचित् भेद है; किन्तु वे सभी आत्मा की स्वरूपतः उपलब्धि करके उसके लक्षण का आख्यान नहीं करते। वस्तुतः उन्हें आत्मा की उपादाय-प्रज्ञप्ति (जिन स्कन्धादि उपादानों से आत्मा ज्ञापित है) का भी यथावत् बोध नहीं होता। इस प्रकार नामधारी आत्मा के सांवृतिक ज्ञान से भी वादी परिभ्रष्ट हैं। आत्मा के संबन्ध में वादी अपनी मिथ्या कल्पना से और अनुमानाभासों से विप्रलब्ध हैं। वे मोह से ही आत्मा की कल्पना करते हैं, और उसके विभिन्न लक्षण करते हैं। कर्म-कारक परीक्षा में आत्मा और उपादानों की परस्परापेक्षिक सिद्धि दिखाते हुए उनका सांवृतिक प्रतिषेध किया गया है।

मुमुक्षुओं का आत्मा का विचार वह है, जो उपादाय-प्रज्ञप्ति का विषय है; क्योंकि उस में अविद्या-विपर्यास से आत्मा का अभिनिवेश होता है। उस के संबन्ध में यह विकल्प होगा कि स्कन्ध-पंचक जो उपादानत्वेन प्रतिभासित हैं, वह स्कन्ध-लक्षण हैं या नहीं? विचार करने पर उसकी भाव-स्वभावता उपलब्ध नहीं होती। जब आत्मा की उपलब्धि नहीं होती, तो आत्म-प्रज्ञप्ति के उपादान पंच-स्कन्ध सुतरां उपलब्ध नहीं होंगे। दग्ध रथ के

अंग अदग्ध कैसे होंगे? योगी जैसे आत्म-नैरात्म्य में प्रतिपन्न होता है, वैसे ही आत्मीय स्कन्ध-वस्तुओं में भी नैरात्म्य-प्रतिपन्न होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नैरात्म्य-प्रतिपत्ता योगी की सत्ता है, जिससे आत्मवाद सिद्ध हो; क्योंकि आत्मा और स्कन्ध के प्रतिषिद्ध होने पर कौन दूसरा परमार्थतः शेष बचेगा, जो निर्मम और निरहंकार होगा। आत्मा-आत्मीय की अनुपलब्धि से सत्कायदृष्टि प्रहीण होती है, और सत्कायदृष्टि के प्रहाण से—काम, दृष्टि, शीलव्रत, आत्मवाद—चतुष्टय का क्षय होता है। उसके क्षय से पुनर्भव का क्षय होता है। भव के निरुद्ध होने पर जाति-जरामरणादि समस्त निरुद्ध होते हैं। इस प्रकार कर्म और क्लेश के क्षय से मोक्ष होता है। कर्म-क्लेश विकल्प से प्रवर्तित हैं। विकल्प अनादि संसार के अनादि काल से अभ्यस्त ज्ञान-ज्ञेय, वाच्य-वाचक, कर्ता-कर्म, करण-क्रिया आदि विचित्र प्रपंच से उपजात हैं। ये समस्त लौकिक प्रपंच सर्व भाव-स्वभावों के शून्यता दर्शन से निरवशेष निरुद्ध होते हैं।

यहाँ चन्द्रकीर्ति शून्यता के निर्वाण-स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। कहते हैं कि वस्तुओं की उपलब्धि होने पर ही समस्त प्रपंच-जाल खड़ा होता है; क्योंकि रागी पुरुष वन्ध्या-दुहिता के प्रति उसके रूप-लावण्य-यौवन से आकृष्ट होकर कैसे राग-प्रपंच का अवतारण नहीं करता! यदि राग न हो तो तद्विषयक विकल्प न हो, और कल्पना-जाल न बिछे। फिर सत्काय-दृष्टिमूलक क्लेश उत्पन्न न हों, और शुभ-अशुभ-आनिंज्य कर्म न किये जायँ, तो जाति, जरा-मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्यादि का जाल रूप इस संसार कान्तार का अनुभव ही न हो।

योगी शून्यता की दर्शनावस्था में स्कन्ध, धातु और आयतनों को स्वरूपतः उपलब्ध नहीं करता। वस्तु के स्वरूप की अनुपलब्धि से तद्विषयक प्रपंच का और विकल्प का अवतारण नहीं होता। जब विकल्प उत्थित न होंगे तो 'अहं' 'मम' के अभिनिवेश से सत्कायदृष्टिमूलक क्लेशगण भी उत्पन्न नहीं होंगे, और उससे प्रेरित कर्म न होंगे। कर्म के अभाव से जाति-जरा-मरणाख्य संसार का अभाव होगा। इस प्रकार अशेष प्रपञ्चों के उपशम स्वरूप एवं शिवलक्षण शून्यता का बोध प्राप्त करने पर अशेष कल्पना-जाल का विगम होता है, प्रपंच के विगम से विकल्प की निवृत्ति होती है, कर्म-क्लेश की निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति होती है। इस उपर्युक्त क्रम को दिखलाते हुए अन्त में आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि शून्यता का लक्षण सर्व प्रपञ्च-निवृत्ति है। इसलिए वही निर्वाण है।

आचार्य कहते हैं कि भावविवेक के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध को उपर्युक्त शून्यता के बोध की प्रतिपत्ति नहीं होती, किन्तु प्रति क्षण, उत्पन्न-विनश्वर संस्कार-कलाप की अनात्मता तथा अनात्मीयता का बोध होता है। इस प्रकार आर्य श्रावक को आत्मा-आत्मीय के अभाव-बोध के कारण धर्म-मात्र की उत्पत्ति और संहार का दर्शन होता है। इस क्रम से आर्य श्रावक, निर्मम और निरहंकार होता है। श्रावक की यह अवस्था निर्विकल्पक प्रज्ञाचारविहारी महाबोधि सत्व के सर्व संस्कारों की अजातता-दृष्टि से पूर्व की है। आचार्य चन्द्रकीर्ति भावविवेक के इस मत को आचार्यपाद के और आगमों के मत के विरुद्ध बताते हुए उसका खण्डन करते हैं।

अनात्मसिद्धि में आगम बाधक नहीं

आचार्य वादी की इस आशंका का परिहार करते हैं कि यदि अध्यात्म और बाह्य सर्वथा कल्पित हैं, तो भगवान् का यह वचन माध्यमिक मत के विरुद्ध होगा कि—"आत्मा का नाथ आत्मा ही है.........कृत-अपकृत का साक्षी और आत्मा का साक्षी आत्मा नहीं है"।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि क्या भगवान् ने यह नहीं कहा है कि"—सत्व या आत्मा नहीं है, और धर्म सहेतुक है"। वस्तुतः आत्मा रूप या रूपवान् नहीं है, रूप में आत्मा या आत्मा में रूप नहीं है। इस प्रकार विज्ञानादि के साथ आत्मा का व्यतिरेक करना चाहिये। इस प्रकार सर्व धर्म अनात्म हैं। किन्तु अब प्रश्न होता है कि भगवान् के पूर्ववचन से परवचन का विरोध कैसे दूर हो? चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि भगवान् बुद्ध के शासन की नेयार्थता तथा नीतार्थता में सामान्यतः भेद करना चाहिये। आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि—"भगवान् ने आत्मा का प्रज्ञापन किया और अनात्मा की भी देशना की। किन्तु वस्तुतः बुद्ध ने आत्मा-अनात्मा की कुछ भी देशना नहीं की।"

आचार्य के इस उपर्युक्त वचन का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि आत्म-भाव के विपर्यास से घनतिमिर से आच्छादित नयन के समान जिन लोगों की बुद्धि सर्वथा आच्छादित है, वे यद्यपि व्यवहार-सत्य में स्थित हैं और लौकिक विषयों के ग्राही भी हैं, तथापि वे पदार्थ की वास्तविकता का दर्शन नहीं करते। वे बुद्धि को ओदन-उदक-किण्वादि द्रव्य-विशेष के समान कललादि महाभूतों के परिपाक मात्र से संभूत मानते हैं। ये वादी पूर्वान्त और अपरान्त का अपवाद करते हैं और आत्मा तथा परलोक का निषेध करते हैं। इनके मत में इहलोक परलोक नहीं है; सत्व सुकृत-दुष्कृत कर्मों का विपाक नहीं है। इस सिद्धान्त से सत्व स्वर्गादि इष्ट फल-विशेष की प्राप्ति के उद्योग से पराङ्मुख होंगे और अकुशल कर्मों के अभिसंस्कार में प्रवृत्त होकर नरकादि के महाप्रपात में पतित होंगे। इन वादियों को इस असत् दृष्टि से निवृत्त करने के लिए भगवान् ने सत्वों के चौरासी हजार चित्त-चरितों का भेद किया। हीन-मध्य और उत्कृष्ट विनेय जनों पर अनुग्रह करके भिन्न-भिन्न वासनाओं का अनुवर्तन कर सबको भव से उद्धार करने की दृढ़ प्रतिज्ञा में तत्पर होकर तथागत ने कहीं-कहीं अपने प्रवचनों द्वारा लोक में आत्मा की भी व्यवस्था की है।

पूर्वोक्ति से अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो अकुशल कर्म-पथ से व्यावृत्त हैं, किन्तु आत्म-दृष्टि के कारण आत्मा-आत्मीय भाव के स्नेह-सूत्र से इतने आबद्ध हैं कि त्रैधातुक भव को अतिक्रान्त करके शिव,अजर, अमर, निर्वाण पुर का अभिगमन नहीं कर सकते। ये विनेय-जन मध्य प्रकार के हैं। इनके सत्काय-दर्शन संबन्धी अभिनिवेश को शिथिल करने के लिए और निर्वाण की अभिलाषा को उत्पन्न करने के लिए भगवान् ने अनात्मा की देशना की है।

किन्तु जिनका पूर्व पूर्व अभ्यासों से अधिमोक्ष-बीज परिपक्व है, और निर्वाण प्रत्यासन्न है, वे उत्कृष्ट कोटि के विनेय जन हैं। ऐसे आत्मस्नेह रहित विनेय मौनीन्द्र तथागत के परम गंभीर

प्रवचनार्थ के तत्वावगाहन में समर्थ हैं। उनकी विशेष अधिमुक्ति के लिए भगवान् बुद्ध ने न आत्मा का उपदेश किया न अनात्मा का ही[1]; क्योंकि जैसे आत्मदर्शन अतत्व है, वैसे ही उसका प्रतिपक्ष अनात्मदर्शन भी अतत्व है। रत्नकूट सूत्र में उक्त है कि हे[2] काश्यप! आत्मा एक अन्त है, नैरात्म्य दूसरा अन्त है, जो इन दो अन्तों के मध्य में है, वह अरूप्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ,-अनाभास, अविज्ञप्तिक, अनिकेत कहा जाता है। यही मध्यमा-प्रतिपत् है और धर्मों के संबन्ध की यथार्थ दृष्टि है।

तथागत के प्रवचन का प्रकार

एक प्रश्न है कि भगवान् बुद्ध ने जब आत्मा और अनात्मा की देशना नहीं की तो उनकी देशना क्या है?

आचार्य कहते हैं कि चित्त का कोई आलंबन (विषय) नहीं है। चित्त का कोई विषय होता तो किसी निमित्त का आरोपण करके वाणी की प्रवृत्ति होती। जब चित्त का विषय ही अनुपपन्न है तो निमित्त का अध्यारोप और वाणी की प्रवृत्ति का प्रश्न ही कहाँ उठता है। पदार्थ का स्वभाव निर्वाण के समान अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है, अतः चित्त की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए भगवान् बुद्ध ने कोई देशना नहीं दी। तथागतगुह्यसूत्र में उक्त है कि हे शान्तमति! जिस रात्रि में तथागत ने सर्वश्रेष्ठ सम्यक्-संबोधि प्राप्त की और जिस रात्रि में उनका परिनिर्वाण हुआ; इनके मध्य तथागत ने एक अक्षर भी उदाहार-व्याहार नहीं किया। किन्तु प्रश्न है कि भगवान् ने सकल सुरासुर, नर, किन्नर विद्याधरादि विनेय जन को विविध प्रकार की धर्म-देशनायें कैसे दीं? भगवान् ने एक क्षण के लिए वाणी का उदाहार किया था जो विविध जन के मनस्तम का हरण करनेवाली और विविध प्रकार के बुद्धिवालों को विबुद्ध करनेवाली थी। वस्तुतः जैसे यन्त्रीकृत तूरी वायु के झोंकों से बजती है, उसका कोई वादक नहीं होता; किन्तु शब्द निकलते हैं; इसी प्रकार सत्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की विकल्पहीन वाणी निःसृत होती है। जैसे प्रतिध्वनि के शब्द बाह्य और अन्तः स्थित नहीं हैं उसी प्रकार बुद्ध की वाणी बाह्य और अन्तः स्थित नहीं है।

माध्यमिक नास्तिक नहीं है

एक वादी माध्यमिक को नास्तिक कहता है; क्योंकि माध्यमिक कुशल-अकुशल कर्म, कर्ता और फल सबको स्वभाव-शून्य कहता है। नास्तिक भी इन सबको अस्वीकार करते हैं, इसलिए माध्यमिक नास्तिकों से भिन्न नहीं हैं।

---

१. बुद्धैरात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्।

२. आत्मेति काश्यप! अयमेकोऽन्तः। नैरात्म्यमित्ययं द्वितीयोऽन्तः। यदेतयोरन्तयोर्मध्यं तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमविज्ञप्तिकमनिकेतमियमुच्यते काश्यप! मध्यमा प्रतिपद् धर्माणां भूतप्रत्यवेक्षेति। (म० का० पृ० ३५८)

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि माध्यमिक प्रतीत्य-समुत्पादवादी हैं। वह हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करके जगत् का उत्पाद मानते हैं। इसलिए वह इहलोक-परलोक समस्त को निःस्वभाव कहते हैं। केवल वस्तु के रूप की अविद्यमानता मानने के कारण माध्यमिक उसके नास्तित्व में प्रतिपन्न हैं, इतने से नास्तिकों से इनकी समानता नहीं है; क्योंकि माध्यमिक जगत् की सांवृतिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। यद्यपि वस्तु की अस्वीकृति दोनों में तुल्य है, तथापि प्रतिपत्ता का भेद है। जैसे किसी चोर ने चोरी की। उस चोर के किसी शत्रु ने किसी को प्रेरित किया कि इसने चौर्य किया है। प्रेरित पुरुष सत्य नहीं जानता, किन्तु चोर को कहता है कि इसने चोरी की है। एक अतिरिक्त व्यक्ति है, जिसने चोर को चोरी करते देखा था, वह भी कहता है कि इसने चोरी की है। इन दोनों में चोर के चौर्य को लेकर कहने में कोई भेद नहीं है; किन्तु परिज्ञातृत्व (जानकारी) के भेद से भेद है। उनमें पहला मृषावादी है, दूसरा सत्यवादी है। सम्यक् परीक्षा करने पर पहला अयश और अपुण्य का भागी होगा, दूसरा नहीं। इसी प्रकारयहाँ भी माध्यमिक तो वस्तु के स्वरूप से यथावत् विदित है, और उसी के अनुसार वह कहता भी है, दूसरे नहीं। ऐसी अवस्था में वस्तु के बाह्य स्वरूप के अभेदमात्र से अविदित वस्तुवादी नास्तिकों के साथ विदित वस्तुवादी माध्यमिक की ज्ञान तथा अभिधान में समानता कैसे हो सकती है।

तत्त्वामृतावतार देशना

पहले कहा है कि धर्म अनुत्पन्न और अनिरुद्ध हैं। इसलिए उसकी देशना में वाक् और चित्त की प्रवृत्ति नहीं होगी, किन्तु देशना के अभाव में इस तत्त्व का ज्ञान लोगों को नहीं होगा। इस विनेय को उस तत्त्व में अवतरित करने के लिए संवृतिसत्य की अपेक्षा से ही देशना की आनुपूर्वी (क्रम) होनी चाहिये। भगवान् की इस देशना को 'तत्त्वामृतावतार देशना' कहते हैं, जिसकी एक सांवृत अनुपूर्वी भी होती है। किन्तु यह सब कुछ विनेयों के स्वप्रसिद्ध अर्थ का आनुरोध करके ही है। सूत्र में कहा है—जैसे म्लेच्छ को अन्य भाषा का ज्ञान नहीं कराया जा सकता, वैसे ही लोक को भी लौकिक भाषा के बिना ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

भगवान् ने 'सर्वं तथ्यम्' का उपदेश दिया। यह उपदेश उन विनेय जनों की दृष्टि से है, जिन्होंने स्कन्ध-धातु-आयतन आदि की सत्य कल्पना की है, और उसके अनुसार उपलब्धि करते हैं। इससे विनेय का यह निश्चय दृढ़ होता है कि भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं; क्योंकि उन्होंने भवाग्र (भव चक्र का अन्त) पर्यन्त के भाजनलोक और सत्वलोक की स्थिति, उत्पाद, प्रलयादि का ठीक-ठीक उपदेश किया है।

भगवत् के प्रति विनेय जन की सर्वज्ञ-बुद्धि जब निश्चित हो गई,तब ऐसे विनेय की दृष्टि से भगवान् ने 'न तथ्यं' का उपदेश किया। पूर्वोक्त सर्व तथ्य नहीं है; क्योंकि तथ्य वह है जिसका अन्यथाभाव नहीं होता। किन्तु संस्कारों का अन्यथाभाव है; क्योंकि वे प्रतिक्षण विनाशी हैं। इस प्रकार भावों का अन्यथाभाव है, वे तथ्य नहीं हैं।

पुनः भगवान् ने 'तथ्यम् अतथ्यम्' दोनों का उपदेश दिया है। बालजन की अपेक्षा से 'सर्वं तथ्यम्' और आर्यज्ञान की अपेक्षा से 'सर्वम् अतथ्यम्' उपदेश है; क्योंकि आर्यजन की अपेक्षा से उनकी उपलब्धि नहीं होती।

जो तत्वदर्शन का चिरकाल से अभ्यास कर रहे हैं, और जिनका आवरण थोड़े में ही छिन्न होनेवाला है, उन विनेयों की दृष्टि से भगवान् ने 'नैव अतथ्यं नैव तथ्यम्' का उपदेश दिया। भगवान् का यह प्रतिषेध-वचन 'वन्ध्यासुत न गौर है, न कृष्ण है' इस प्रतिषेध-वचन के समान है।

बुद्ध का इस प्रकार का अनुशासन इसलिए यथार्थ अनुशासन है कि वह उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में प्रतिष्ठित करता है। उनका यह विनेय जन के अनुरूप शासन है। भगवान् की यह देशना तत्वामृत के अवतारण का उपाय है। भगवान् ऐसा एक वाक्य भी नहीं कहते, जो तत्वामृत के अवतार का उपाय न हो। आर्यदेव ने चतुःशतक में कहा है कि भगवान् ने सत्, असत्, सदसत्, न सत्, न असत् का जो उपदेश किया है, वह समस्त विविध व्याधियों की अनुरूप औषधि है।

तत्व का लक्षण

यद्यपि माध्यमिक सिद्धान्त में तत्व का परमार्थ लक्षण नहीं हो सकता, तथापि व्यवहार-सत्य के अनुरोध से जैसे वह अनेक लौकिक तथ्यों का अभ्युगम करता है, वैसे ही तत्व का भी आरोपित लक्षण करता है। पहले कृतकार्य आर्य की दृष्टि से तत्व का लक्षण करेंगे, पश्चात् लौकिक कार्य-कारण भाव की दृष्टि से।

अपरप्रत्ययम्—तत्व परोपदेश से गम्य नहीं है, प्रत्युत स्वयं अधिगन्तव्य (स्वसंवेद्य) है; जैसे–तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति असत्य केश-मशक-मक्षिकादि रूपों को देखता है। उस रोग से अनाक्रान्त व्यक्ति उस रोगी को केश का यथावस्थित रूप दिखाना चाहे तो व्यर्थ होगा। हाँ, उसके उपदेश से रोगी को केवल अपने ज्ञान का मिथ्यात्व मात्र ज्ञात होगा। तिमिर-नाश के अनन्तर उसे वस्तु का स्वयं साक्षात्कार होगा। इसी प्रकार जब परमार्थभूत शून्यता-दर्शन के अंजन से बुद्धिरूपी नयन अंजित होगा, तब तत्वज्ञान उत्पन्न होगा, और तत्व स्वयं अधिगत होगा।

शान्तम्—तत्व शान्त स्वभाव है, क्योंकि स्वभाव-रहित है।

प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्—प्रपञ्च वाणी है, क्योंकि वाणी द्वारा अर्थ प्रपञ्चित होता है। तत्व प्रपञ्च से अप्रपञ्चित है, अर्थात् वाणी का विषय नहीं है।

निर्विकल्पम्—विकल्प चित्त का प्रचार है। तत्व उससे रहित है।

अनानार्थम्—तत्व में भिन्नार्थता नहीं है। वह अभिन्नार्थ तत्वशून्यता से एकरस है, इसलिए अनानार्थता उसका लक्षण है।

तत्व का लौकिक-लक्षण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का व्यावर्तन कर सिद्धान्त-संमत कार्यकारणभाव के द्वारा तत्व का अधिगम कराता है।

जिस कारण की अपेक्षा करके जो कार्य उत्पन्न होता है, वह अपने कारण से अभिन्न नहीं है। बीज और अंकुर एक नहीं हैं। अन्यथा अंकुरावस्था में अंकुर के समान बीज भी

गृहीत होना चाहिये। गृहीत होने पर बीज नित्य होगा; क्योंकि वह अविनष्ट होगा। ऐसी अवस्था में शाश्वतवाद की प्रसक्ति होगी, जिससे कर्म-फल का अभाव सिद्ध होगा। कर्म-फल के अभाव से समस्त दोष-राशि आपन्न होगी। इसलिए जो बीज है, वही अंकुर है; यह युक्त नहीं है। किन्तु इससे बीज से अंकुर की भिन्नता भी सिद्ध नहीं होती, अन्यथा बीज के बिना भी अंकुर का उदय मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में अंकुर के अवस्थान काल में बीज अनुच्छिन्न ही रहेगा। इससे सत्कार्यवाद के समस्त दोष आपतित होंगे।

इस प्रकार कार्य कारणरूप नहीं है, और उससे भिन्न भी नहीं है। इसलिए कारण न उच्छिन्न है और न शाश्वत[1]।

काल का निषेध

कालवादी काल-त्रय की विज्ञप्ति मानता है। उत्पन्न होकर निरुद्ध होने वाले भाव अतीत हैं, उत्पन्न होकर निरुद्ध न होने वाला वर्तमान तथा जिसका स्वरूप लब्ध नहीं हुआ वह अनागत है।

माध्यमिक कालत्रय-वाद का खण्डन करता है, क्योंकि प्रत्युत्पन्न और अनागत की सिद्धि यदि अतीत की अपेक्षा से है तो वे दोनों अवश्य ही अतीत होंगे। जिसकी जहाँ असत्ता होती है, वह उसकी अपेक्षा नहीं करता जैसेः—तैल को सिकता की, पुत्र को वन्ध्या की अपेक्षा नहीं है। अतः वर्तमान और अनागत को यदि अतीत की अपेक्षा है,तो वे अतीत-काल में अतीत के समान ही विद्यमान होंगे, और उनमें वस्तुतः अतीतता होगी। प्रत्युत्पन्न और अनागत यदि अतीत में नहीं हैं तो उनकी अपेक्षा करके उनकी स्थिति नहीं होगी। अतीत से अनपेक्ष प्रत्युत्पन्न की असत्ता स्पष्ट सिद्ध है। जिस प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागत अतीत की अपेक्षा करें या न करें उभयतः उनकी सिद्धि नहीं होती, वैसे ही अतीत और अनागत प्रत्युत्पन्न की अपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होगी; तथा प्रत्युत्पन्न और अतीत अनागत की अपेक्षा करें या न करें, वे सिद्ध न होंगे। इस प्रकार माध्यमिक काल-त्रय का खण्डन करके भावों की सत्ता का खण्डन करते हैं।

कालवादी क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, अहोरात्र आदि से काल का परिमाण मानता है। किन्तु माध्यमिक जब काल का ही खण्डन करता है, तो उसकी परिमाणवत्ता का प्रश्न कहां है? माध्यमिक कहता है कि क्षणादि से अतिरिक्त कूटस्थ काल सिद्ध हो, तो वह क्षणादि से गृहीत हो, किन्तु ऐसा नहीं होता। यदि वादी कहे कि यद्यपि नित्य काल नहीं है, किन्तु रूपादि से अतिरिक्त और रूपादि संस्कारों से प्रज्ञप्त होने वाला काल है, जो क्षण आदि से अभिहित होता है। किन्तु भावों की अपेक्षा से काल नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि किसी भी प्रकार भावों की सिद्धि नहीं होती। इस का उपपादन पहले किया गया है।

---

1. प्रतीत्य यद्यद् भवति नहि तावत्तदेव तत्।
न चान्यदपि तत्तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम्॥ (१८।१०)

हेतु-सामग्रीवाद का निषेध

आचार्य 'हेतु-प्रत्यय सामग्री से कार्य उत्पन्न होता है' इस वाद का भी खण्डन करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि बीजादि हेतु-प्रत्यय-सामग्री (बीज, अवनि, सलिल, ज्वलन, पवन, गगन, ऋतु आदि) से यदि फल (कार्य) उत्पन्न होता है, तो यह बताना होगा कि उस सामग्री से व्यवस्थित फल का उत्पाद होता है या अव्यवस्थित ?

प्रथम पक्ष मानने पर फल का उत्पाद नहीं होगा; क्योंकि जब हेतु-प्रत्यय-सामग्री में फल अवस्थित है ही, तब उससे फल उत्पन्न कैसे होगा। इसलिए यदि कहें कि हेतु-सामग्री में फल व्यवस्थित नहीं है, तब यह बताना होगा कि ऐसी अवस्था में सामग्री से फल कैसे उत्पन्न होता है। हेतु-सामग्री में यदि फल है, तो वह गृहीत होना चाहिये; किन्तु गृहीत नहीं होता। अतः सामग्री से फल उत्पन्न नहीं होता। हेतु-प्रत्यय-सामग्री में यदि फल नहीं है, तो ये हेतु-प्रत्यय नहीं हैं; क्योंकि ज्वाला-अंगार में अंकुर नहीं है, अतः वह अंकुर का हेतु-प्रत्यय नहीं होता।

एक अन्य वाद है कि हेतु-सामग्री में फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है, हेतु में है। सामग्री फलोत्पादन में हेतु का अनुग्रह मात्र करती है। फल की उत्पत्ति में हेतु अपना हेतुत्व विसर्ग करके निरुद्ध हो जाता है (हेतुः फलस्योत्पत्त्यर्थं हेतुं दत्वा निरुध्यते)। फल की उत्पत्ति में हेतु का यही अनुग्रह है।

आचार्य कहते हैं कि यदि फलोत्पत्ति के लिए हेतु अपना हेतुत्व देता है, और निरुद्ध होता है तो उसके द्वारा जो दिया जाता है, और जो निरुद्ध होता है, वे दो होंगे। इस प्रकार हेतु की दो आत्माएँ (स्वरूप) होंगी। यह युक्त नहीं है। इससे अर्ध शाश्वतवाद (हेतु का एक रूप कार्यान्वयी होने के कारण शाश्वत होगा, दूसरा निरुद्ध होने के कारण विनाशी होगा) सिद्ध होगा। एवं च, परस्पर विरुद्ध दो स्वरूपों का एक हेतु में योग भी कैसे होगा। इस विरुद्ध-द्वय की आपत्ति से बचने के लिए यदि यह कल्पना करें कि हेतु फल को कुछ भी अपनी सार-सत्ता न देकर सर्वात्मना निरुद्ध हो जाता है, तब कार्य को अवश्य ही अहेतुक मानना पड़ेगा। इस दोष से बचने के लिए कल्पना करें कि कार्य के साथ ही कारण-सामग्री उत्पन्न होती है, और वह फल की उत्पादक होती है, तो एक काल में ही कार्य और कारण की सत्ता माननी पड़ेगी।

एक अन्य वाद है। उसके अनुसार कार्य हेतु-प्रत्यय-सामग्री के पहले अनागत स्वरूप में और अनागतावस्था में विद्यमान है। हेतु-सामग्री के द्वारा केवल उसकी वर्तमानावस्था उपपन्न की जाती है, वस्तुतः द्रव्य यथावस्थित ही रहता है।

आचार्य का उत्तर है कि यदि कार्य हेतु-सामग्री से पूर्व स्वरूपतः विद्यमान है, तो वह हेतु-प्रत्यय से निरपेक्ष होगा और अहेतुक होगा। किन्तु अहेतुक पदार्थों का अस्तित्व युक्त नहीं है।

एक सिद्धान्ती केवल हेतुवादी हैं। उनके मत में हेतु ही निरुद्ध होकर कार्य रूप में व्यवस्थित हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि फल यदि हेतु-रूप होगा, तो हेतु का संक्रमण मानना पड़ेगा; जैसे—नट एक वेश का त्याग कर वेशान्तर का ग्रहण करता है। इस प्रकार हेतु के संक्रमण मात्र से अपूर्व फल का उत्पाद भी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त हेतु-संक्रमण मानने से हेतु की नित्यता सिद्ध होगी, फलतः उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा; क्योंकि नित्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं होता।

आचार्य कहते हैं कि वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार निरुद्ध या अनिरुद्ध कोई हेतु फल को उत्पन्न नहीं कर सकता, इसी प्रकार उत्पन्न या अनुत्पन्न फल का उत्पाद नहीं बताया जा सकता। हेतु में किसी प्रकार का विकार न आवे और वह फल से संबद्ध हो जाय यह असंभव है; क्योंकि जो विकृत नहीं होता वह हेतु नहीं होता। अथ च, फल से वह संबद्ध भी कैसे होगा; क्योंकि वादियों के अनुसार हेतु में फल विद्यमान है। हेतु फल से असंबद्ध होकर भी फल को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि असंबद्ध हेतु किस फल को उत्पन्न करेगा? यदि करे तो समस्त फलों को उत्पन्न करेगा या किसी को नहीं करेगा।

आचार्य कहते हैं कि हेतु-फल की परस्पर संगति (योग) भी नहीं होगी। अतीत फल का अतीत हेतु के साथ संगति नहीं होगी; क्योंकि दोनों अविद्यमान हैं। अनागत हेतु से अतीत फल की संगति नहीं होगी, क्योंकि एक नष्ट और दूसरा अजात है। इस प्रकार दोनों अविद्यमान हैं, और भिन्नकालिक हैं। जैसे वर्तमान हेतु से अतीत-फल की तथा अतीत-फल की अतीत, अनागत तथा वर्तमान हेतुओं के साथ संगति असंभव है, उसी प्रकार वर्तमान फल की त्रैकालिक हेतुओं से संगति भी असंभव है। पूर्वोक्त रीति से अनागत फल भी अतीत, अनागत तथा प्रत्युत्पन्न हेतुओं से संगत नहीं होगा। आचार्य कहते हैं कि हेतु-फल की संगति नहीं है,इसलिए हेतु फल को उत्पन्न नहीं कर सकता, और संगति कालत्रय में संभव नहीं है, अतः हेतु से फलोत्पाद का सिद्धांत सर्वथा असंगत है।

इस प्रकार हेतु से फल की एकता मानें अथवा अनेकता हेतु में फल का सद्भाव मानें या असद्भाव, किसी प्रकार हेतु से फल की उत्पत्ति नहीं होगी।

उत्पाद-विनाश का निषेध

पहले कालत्रय का खण्डन किया गया है, किन्तु कालत्रय का समूल निषेध तब तक नहीं होगा जब तक वस्तुओं की संभव-विभव प्रतीति अतात्विक सिद्ध न की जाय। अतः आचार्य उसका खण्डन करते हैं।

संभव-विभव एक दूसरे के साथ-साथ होते हैं, या दूसरे से विरहित? संभव (उत्पाद) के बिना विभव (विनाश) नहीं हो सकता। यदि बिना संभव के विभव हो तो जन्म के बिना मरण भी हो। संभव के साथ भी विभव नहीं होगा, अन्यथा जन्म-मरण एक काल में हों। विभव के बिना संभव नहीं होता, अन्यथा कोई पदार्थ कभी अनित्य न हो। विभव के साथ संभव नहीं होगा, अन्यथा जन्म-मरण एक काल में होगा। सहभाव और असहभाव से भिन्न कोई तीसरा प्रकार नहीं है, जिससे संभव-विभव की सिद्धि हो।

पुनः संभव-विभव क्षयधर्मा भावों का होता है या अक्षय-धर्मा ? दोनों ही प्रकार असिद्ध हैं।

क्षयशील पदार्थों का संभव नहीं होगा, क्योंकि क्षय का विरोधी संभव है। अक्षय पदार्थों का भी संभव नहीं होगा, क्योंकि अक्षय धर्म भाव से विलक्षण हैं, उनका संभव नहीं होगा। इसी प्रकार क्षय या अक्षय पदार्थ का विभव भी नहीं हो सकता।

संभव-विभव केवल इसलिए नहीं है कि उनके आश्रयभूत पदार्थ प्रतीत होते हैं। वस्तुतः भाव कहाँ है ? बिना भाव के संभव-विभव नहीं होंगे, और बिना संभव-विभव के भाव नहीं होंगे।

वादी कहता है कि आपकी सूक्ष्मेक्षिका व्यर्थ है; क्योंकि आबाल-गोपाल पदार्थों के संभव-विभव में प्रतिपन्न हैं। आचार्य कहते हैं कि लोक जिस जिसकी उपलब्धि करता है, उन सब का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो जाता; अन्यथा स्वप्नादि-दृष्टि भी सत्य होती। संभव-विभव का कोई स्वरूप नहीं है, किन्तु लोक उसमें मोह से प्रतिपन्न है।

यदि कोई भाव हो तो बताना होगा कि वह भाव से उत्पन्न है या अभाव से ? दोनों पक्षों में भाव की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती[1]। पहले भावों की स्वतः परतः आदि की उत्पत्ति का निषेध किया जा चुका है।

आचार्य भाववादी सर्वास्तिवादियों पर एक गंभीर आरोप लगाते हैं। कहते हैं कि जो सुगतानुगामी भावों का सद्भाव मानते हैं, वे उच्छेदवाद या शाश्वतवाद में आपतित होते हैं; क्योंकि भाववादी का भाव नित्य होगा या अनित्य ? नित्य होगा, तो शाश्वतवाद निश्चित है; अनित्य होगा, तो उच्छेदवाद।

सर्वास्तिवादी इन आरोपों से बचने के लिए कहता है कि हम हेतु-फल के उत्पाद-विनाश के प्रवाह को संसार कहते हैं। यदि हेतु निरुद्ध हो, किन्तु उससे फल न उत्पन्न हो, तो उच्छेदवाद होगा। हेतु निरुद्ध न हो, प्रत्युत स्वरूपेण अवस्थित हो तो शाश्वतवाद होगा। किन्तु हमारे मत में उत्पाद-विनाश का वह प्रवाह संमत है, जिसमें हेतु-फल अविच्छिन्न क्रम से हैं। अतः हम पर ये दोष नहीं लगते।

आचार्य कहते हैं कि वादियों पर ये दोष स्पष्ट ही लगते हैं, क्योंकि वादी के मत में फल की उत्पत्ति हेतु-क्षण हेतु होकर निरुद्ध हो जाता है। किन्तु उसका पुनः उत्पाद नहीं होता, यह उच्छेदवाद है। और हेतु का स्वभावतः सद्भाव है, तो उसका असद्भाव न होगा। अतः शाश्वतवाद होगा।

---

१. न भावाज्जायते भावो भावोऽभावान्न जायते।
नाभावाज्जायतेऽभावोऽभावो भावान्न जायते॥

आचार्य इस संबन्ध में और भी गंभीर विचार करते हैं। कहते हैं कि वादी यदि हेतु-फल के उत्पाद-विनाश-संतान को स्वीकार कर शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के दोषों से अपने को किसी प्रकार बचा ले, फिर भी जहाँ इस सन्तान की प्रवृत्ति सदा के लिए समाप्त हो जाती है उस निर्वाण में उच्छेद-दर्शन निश्चित है।

वादी ने हेतु-फल के उत्पाद-विनाश के सन्तान को भव कहा है। चरम भव निवृत्ति-रूप है, और प्रथम प्रतिसन्धि-(मृत्यु और उत्पत्तिके बीच का क्षण) रूप है। चरम भव निरुद्ध होकर हेतु-रूपेण अवस्थित होता है, प्रथम भव उपपत्ति-रूप होने से फल-रूप में व्यवस्थित होता है। इन्हीं दो के बीच संसार है।

आचार्य कहते हैं कि यदि चरम भव के निरुद्ध हो जाने पर प्रथम भव होता है, तो वह निर्हेतुक होगा। यदि चरम भव निरुद्ध न हो और प्रथम भव हो तो भी वह निर्हेतुक होगा, और एक सत्व दोनों में रहकर द्विरूप होगा। चरम भव के निरुद्ध होते समय भी प्रथम भव उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि 'निरुद्ध्यमान उत्पन्न होता है' यह कहने से एक काल में दो भव होंगे। इस प्रकार तीनों काल में भव की सिद्धि नहीं होगी।

पूर्वोक्त विवेचन से भाववादियों का शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में आपन्न होना निश्चित है।

तथागत के अस्तित्व का निषेध

अब एक बड़े ही गंभीर एवं रोचक विषय पर आचार्य का मत दिया जा रहा है। बहुत पुराने काल से बौद्धों में यह विवाद था कि तथागत हैं या नहीं? रूपान्तर में यह प्रश्न भगवान् बुद्ध (तथागत) के समक्ष भी रखा गया था। उन्होंने इस प्रश्न को अव्याकरणीय कह कर मौन अवलंबन कर लिया। उनकी अव्याकरणीयता का यह उत्तर बुद्ध के बाद रहस्य बन गया, और उनके व्यक्तित्व के संबन्ध में अनेक वाद खड़े हो गये। महायानियों में विशेषतः माध्यमिक उनके व्यक्तित्व की सत्ता को सर्वथा अस्वीकृत करता है।

किन्तु वादी कहता है कि तथागत हैं, और इसलिए भव-सन्तति भी है। उन्होंने महाकरुणा और प्रज्ञा धारण कर त्रैधातुक के सकल सत्वों के दुःख-व्युपशम के निश्चय से असंख्य कल्पों में उद्भूत होकर अपने को क्षिति, सलिल, औषधि और वृक्ष के समान सत्वों का उपभोग्य बनाया, और सर्वज्ञता का लाभ कर पदार्थों का अशेष तत्व परिज्ञात किया। जैसा धर्म है तथैव (तथा) अवगत (गत) करने के कारण वह तथागत हैं। ऐसे तथागतत्व की प्राप्ति किसी एक जन्म में संभव नहीं है। उसके लिए भव-सन्तति आवश्यक है।

आचार्य कहते हैं कि तथागत नाम का कोई भाव स्वभावतः उपलब्ध नहीं होता। तथागत नाम से कोई अमल एवं निष्प्रपञ्च पदार्थ होगा, तो वह पंच-स्कन्ध-स्वभाव (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञानरूप) होगा या उससे भिन्न होगा। तथागत स्कन्धरूप नहीं है, अन्यथा कर्ता कर्म एक होगा। एक मानने पर तथागत का उत्पाद-विनाश भी मानना होगा। तथागत स्कन्ध से अन्य भी नहीं हैं, अन्यथा वह स्कन्ध के बिना भी होंगे। इसलिए तथागत

में स्कन्ध नहीं है, और स्कन्धों में तथागत नहीं है। तथागत स्कन्धवान् भी नहीं है, क्योंकि वह स्कन्ध से भिन्न नहीं है [1]।

एक अन्य मत है कि अनास्रव-स्कन्धों (शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्तिज्ञान दर्शन) से तथागत उपात्त हैं। वह अवाच्य हैं, अतः उन्हें स्कन्धरूप या स्कन्ध से व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता।

आचार्य कहते हैं कि यदि बुद्ध अमल स्कन्धों का उत्पादन करके प्रज्ञप्त होते हैं, और अवाच्य हैं तो स्पष्ट है कि स्वभावत: नहीं हैं, केवल प्रतिबिम्ब के समान प्रज्ञप्त होते हैं। जो स्वभावतः नहीं वह परभावतः भी नहीं होता, इसे अनेकधा स्पष्ट किया गया है।

यदि वादी कहे कि प्रतिबिम्ब स्वभावत: नहीं होता, किन्तु मुख और आदर्श की अपेक्षा करके होता है। इसी प्रकार तथागत भी स्वभावतः अविद्यमान हैं, किन्तु अनास्रव पंचस्कन्धों का उत्पादन कर परभावतः होंगे।

इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि ऐसी स्थिति में प्रतिबिंब के समान तथागत भी अनात्मा होंगे। किन्तु जो प्रतिबिम्ब के तुल्य अनात्मा और निःस्वभाव होगा, वह अविपरीत मार्गगामी भावरूप तथागत कैसे होगा ? स्वभाव-परभाव के अतिरिक्त तथागत की तृतीय कोटि क्या होगी ? यदि तथागत स्कन्धों से अन्य या अनन्य नहीं हैं और केवल स्कन्धों के उपादान से प्रज्ञापित होते हैं, तो स्कन्धों को ग्रहण करने से पूर्व तथागत को होना चाहिये, जिससे पश्चात् स्कन्धों का उपादान करें। किन्तु स्कन्धों का उपादान न करके तथागत की सिद्धि नहीं होगी। तथागत स्कन्धों से अभिन्न, भिन्न तथा भिन्न-अभिन्न नहीं हैं। आधार या आधेय भी नहीं हैं, अतः वह अविद्यमान हैं।

वादी माध्यमिक के इस सिद्धान्त से उत्त्रस्त हैं। वे कहते हैं कि हम लोग कणाद, जैमिनि, गौतम, दिगम्बर आदि के उपदेशों की स्पृहा को छोड़कर सकल जगत् के एकमात्र शरण्य, अज्ञानान्धकार के एकमात्र निवारक तथागत की शरण में आये, किन्तु आपने उनकी सत्ता का निषेध करके हमारी सारी आशा समाप्त कर दी।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि वस्तुत: आप जैसों की तरफ से हम लोगों की आशा मारी गयी। आप मोक्ष के लिए समस्त वादियों के मत को छोड़कर परम शास्ता तथागत की शरण में प्रतिपन्न हुए थे, किन्तु उनके नैरात्म्यवाद के सिंहनाद को सह नहीं सके। पुनः विविध कुदृष्टि-व्यालों से आकुलित मार्ग के अनुगमन के लिए तत्पर हो गये। क्या आपको अब तक नहीं मालूम हुआ कि तथागत अपना या स्कन्धों का अस्तित्व कभी ज्ञापित नहीं करते। हम लोग तथागत का अभाव केवल इस आधार पर नहीं कहते कि वह निष्प्रपञ्च हैं, बल्कि इस आधार

---

१. स्कन्धा न नान्यः स्कन्धेभ्यो नास्मिन् स्कन्धा न तेषु सः।
तथागतः स्कन्धवान्न कतमोऽत्र तथागतः ॥ (२२।१)

पर कि वह वस्तुतः निःस्वभाव हैं। उनकी निःस्वभावता की व्याख्या करके हम अविपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं। आचार्य नागार्जुन के अनुसार तथागत के व्यक्तित्व का यह रहस्य है कि उसे शून्य नहीं कहा जा सकता और अशून्य भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार उभय (शून्य-अशून्य), अनुभय (न शून्य, न अशून्य) भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु व्यवहार-सत्य की दृष्टि से शून्यता आदि का आरोपण कर प्रज्ञापित किया जाता है[1]। आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार तथागत में उपर्युक्त शून्यता आदि का चतुष्टय अप्रसिद्ध है, वैसे ही शाश्वत आदि का चतुष्टय (लोक शाश्वत है या अशाश्वत, उभय है या अनुभय) तथा लोक की अन्तता-अनन्तता आदि (लोक अन्तवान् है या अनन्त, उभय है या अनुभय, तथागत मरण के बाद उत्पन्न होते हैं या नहीं, उनका उभय है, या अनुभय) आदि के प्रश्न सर्वथा अप्रसिद्ध हैं।

आचार्य कहते हैं कि तथागत प्रकृतितः शान्त, निःस्वभाव, एवं प्रपंचातीत हैं, किन्तु लोग अपने बुद्धिमान्द्य के कारण उनके संबन्ध में शाश्वत-अशाश्वत, नित्य-अनित्य, अस्तिता-नास्तिता, शून्यता-अशून्यता, सर्वज्ञता-असर्वज्ञता आदि की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु वे यह नहीं समझते कि ये सभी प्रपंच वस्तुमूलक होते हैं, किन्तु तथागत अवस्तु हैं। अतः प्रपंचातीत एवं अव्यय हैं। ऐसे भगवान् बुद्ध के संबन्ध में जो लोग अपनी उत्प्रेक्षा से मिथ्या कल्पनाएँ रच लेते हैं, वे अपने ही प्रपंचों के कारण तथागत-ज्ञान से वंचित होते हैं, और अपना नाश कर लेते हैं।[2]

तथागत व भाजन-लोक की निःस्वभावता

जैसे सत्व-लोक निःस्वभाव है, वैसे भाजन-लोक (जगत्) भी निःस्वभाव है; क्योंकि जिस स्वभाव का तथागत होता है, उसी स्वभाव का यह जगत् भी होता है। यतः तथागत निःस्वभाव हैं, अतः जगत् भी निःस्वभाव है।[3]

आचार्य चन्द्रकीर्ति तथागत और लोक दोनों की निःस्वभावता को सूत्रों से भी प्रमाणित करते हैं—

> तथागतो हि प्रतिबिम्बभूतः कुशलस्य धर्मस्य अनास्रवस्य।
> नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति बिम्बं च संदृश्यति सर्वलोके॥
>
> (म० का० पृ० ४४९)

---

१. शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥ (२२।११)

२. प्रपञ्चयन्ति ये बुद्धं प्रपञ्चातीतमव्ययम्।
ते प्रपञ्चहताः सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥ (२२।१५)

३. तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्॥ (२२।१६)

विपर्यास का निषेध

आचार्य क्लेशों (राग, द्वेष, मोह) की भी असत्ता सिद्ध करते हैं। कहते हैं कि राग, द्वेष, मोह संकल्प से उत्पन्न होते हैं। शुभ आकार की अपेक्षा से राग, अशुभ की अपेक्षा से द्वेष, विपर्यास की अपेक्षा से मोह उत्पन्न होता है। इन तीनों की उत्पत्ति में साधारण कारण संकल्प है। इन शुभ, अशुभ और विपर्यासों की अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण रागादि अकृत्रिम एवं निरपेक्ष सिद्ध नहीं होंगे।

आत्मा के संबन्ध में जब अस्ति-नास्ति कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, तब उसके बिना उसके आश्रित अन्य धर्मों का अस्तित्व-नास्तित्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है; क्योंकि क्लेश किसी का आश्रय लेकर सिद्ध होते हैं, वह आश्रय आत्मा ही हो सकता था, जिसका पहले ही निषेध कर दिया गया है। ऐसी अवस्था में बिना आश्रय के क्लेश कैसे होंगे? क्लेशों के हेतु शुभ, अशुभ, और विपर्यास भी निरपेक्ष, निःस्वभाव नहीं हैं।

रूप, शब्द, गन्धादि का आलंबन करके क्लेश-त्रय होते हैं, किन्तु रूप, शब्दादि कल्पनामात्र, स्वप्नतुल्य है। मायापुरुष में या प्रतिबिंब में शुभ-अशुभादि क्या होंगे। शुभ-अशुभ आदि सभी क्लेश-हेतु तथा क्लेश अन्योन्य की अपेक्षा से प्रज्ञापित होते हैं, अतः सभी निःस्वभाव हैं। 'अनित्य में नित्य बुद्धि होना' मोह है, किन्तु शून्य में अनित्यता क्या होगी, जिसमें नित्य बुद्धि हो। अनित्य में नित्य बुद्धि यदि विपर्यास है, तो शून्य में अनित्य-बुद्धि भी क्या विपर्यास नहीं है? वस्तुतः ग्रहीता जिन नित्यत्व आदि विशेषों से रूप, शब्द आदि वस्तुओं का ग्रहण करता है, वे समस्त स्वभावतः शान्त हैं; अतः उनका ग्रहण सिद्ध नहीं होता[1]। जब ग्रहण ही सिद्ध नहीं है, तो उसके मिथ्या या सम्यक् होने का प्रश्न ही कहां है? पहले यह दिखाया गया है कि भावों की स्वतः, परतः आदि कारणों से उत्पत्ति नहीं है। ऐसी अवस्था में विपर्यय की सिद्धि कैसे होगी?

इस प्रकार योगी जब विपर्यासों को उपलब्ध नहीं करता, तो उससे उत्पन्न अविद्या भी निरुद्ध हो जाती है। अविद्या के निरोध से अविद्या से उत्पन्न होने वाले संस्कारादि निरुद्ध होते हैं।

चार आर्य-सत्यों का निषेध

वादी का आक्षेप

वादी कहता है कि यदि शून्यवाद में बाह्य-आध्यात्मिक सब शून्य है, और किसी पदार्थ का उदय-व्यय नहीं है, तो शून्यवाद में चार आर्यसत्यों का भी अभाव होगा। दुःख की सत्यता आर्यों को ही ज्ञात होती है। सूत्र में उक्त है कि ऊर्णा को करतल पर रखते हैं, तो वेदना नहीं होती, किन्तु जब उसे अक्षि-गत करते हैं, तो वह द्वेष एवं पीड़ा की जनक होती है।

---

१. येन गृह्णाति यो ग्राहो ग्रहीता यच्च गृह्यते।
उपशान्तानि सर्वाणि तस्माद् ग्राहो न विद्यते॥ (२३।१५)

अनार्य बाल करतल के सदृश है, वह संस्कार-दुःखता का अनुभव नहीं करता; आर्य विद्वान् अक्षि के सदृश है, वह उससे अत्यन्त उद्विग्न हो जाता है। यह दुःख आर्य-सत्य तब युक्त होगा, जब संस्कारों का उदय-व्यय संभव होगा, किन्तु जब शून्यवाद है तो किसी के उदय-व्यय का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः शून्यवाद में दुःख आर्य-सत्य न होगा। जब दुःख ही नहीं होगा, तो उसके समुदय का अवकाश नहीं है, अतः समुदय-सत्य भी न होगा। जो दुःख का हेतु है, वह समुदय है। वह समुदय, तृष्णा, कर्म, क्लेश है। दुःख का पुनः उत्पन्न न होना निरोध-सत्य है, किन्तु जब दुःख और समुदय नहीं है तो निरोध कहाँ है? यदि दुःख-निरोध नहीं है तो मार्ग-सत्य भी नहीं है।

शून्यवाद में जब चतुरार्य-सत्यों का अभाव है, तो उनकी परिज्ञा (अनित्यादि आकारों में दुःख-सत्य का ज्ञान) दुःख-समुदय का प्रहाण, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्तियों की भावना और दुःख-निरोध का साक्षात्कार नहीं होगा। इन चार आर्य-सत्यों के अभाव में तथा उनकी परिज्ञा आदि के अभाव में चार आर्य-फल (स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्) भी नहीं होंगे और फलाभाव से फलस्थ आठ महापुरुष-पुद्गलों का अभाव होगा। अष्ट पुरुष-पुद्गल के अभाव में संघ नहीं होगा। आर्य-सत्यों के अभाव में सद्धर्म (निरोध-सत्य फलधर्म है, मार्ग-सत्य फलावतार धर्म है। वह अधिगम-धर्म भी है, मार्ग की प्रकाशिका देशना आगम-धर्म है) नहीं हैं। धर्म और संघ के अभाव में बुद्ध भी नहीं होंगे। इस प्रकार इन दुर्लभ त्रिरत्नों से भी शून्यवादी वंचित होगा।

सिद्धान्ती का परिहार

आचार्य कहते हैं वादी ने अपनी कपोल-कल्पना से ही शून्यता का अर्थ अभाव कर लिया, और भावों का उत्पाद-विनाश नहीं बनेगा, इसका शून्यवादी पर उपालंभ भी दे लिया, और उनके प्रति खिन्न भी हो लिया। वस्तुतः वादी अपने ही विविध विकल्पों से मारा जा रहा है। माध्यमिक ने शून्यता का वादी-कल्पित अर्थ नहीं किया है, अतः वादी को शून्यता के अभिधान का प्रयोजन भी ज्ञात नहीं हुआ। शून्यता के उपदेश का प्रयोजन अशेष प्रपंच का उपशम है। जो शून्यता का अभाव अर्थ करता है, वह प्रपंच जाल का विस्तार करता जा रहा है।

प्रतीत्य-समुत्पाद शब्द का जो अर्थ है, वही शून्यता शब्द का अर्थ है। अभाव शब्द का जो अर्थ है, वह शून्यता शब्द का अर्थ नहीं है। चन्द्रकीर्ति आचार्य के वचन[1] से इसे पुष्ट करते हैं। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि माध्यमिक सिद्धांत पर पूर्वोक्त आक्षेप वे लोग करते हैं, जो भगवद्वचन के अभिप्रेत सत्य-द्वय का विभाग नहीं जानते। आचार्य नागार्जुन ने परम करुणा से प्रेरित होकर भगवद्वचन के सत्य-द्वय की व्यवस्था की है। मध्यमकावतार में चन्द्र-

---

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥ (विग्रहव्यावर्तनी)

कीर्ति कहते हैं[1] कि जो सत्य-द्वय के विज्ञान से रहित है, उसे कथमपि मोक्ष-सिद्धि नहीं होगी। आचार्यपाद के ज्ञानमार्ग से जो बहिर्गत हैं, उनके कल्याण के लिए कोई उपाय नहीं है।

बुद्ध की धर्म-देशना दो सत्यों का आश्रयण करती है— लोक-संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य[2]।

पदार्थ-तत्त्व का समन्ततः अवच्छादन करने से (समन्ताद् वरणम्), अथवा अन्योन्य का आश्रय लेकर उत्पन्न होने से (परस्परसंभवनम्), संवृति व्युत्पन्न है। संवृति लोक-व्यवहार को भी कहते हैं; क्योंकि लोक-व्यवहार ज्ञान-ज्ञेय का संकेत है।

चन्द्रकीर्ति ने मध्यकावतार में विस्तार से सत्य-द्वय की विवेचना की है। समस्त बाह्य-आध्यात्मिक पदार्थों के दो स्वरूप हैं। वस्तुओं का पारमार्थिक रूप वह है, जो सम्यक् द्रष्टा आर्य के ज्ञान का विषय है, किन्तु उसकी स्वरूप-सत्ता नहीं है (न तु स्वात्मतया सिद्धम्)। वस्तुओं का सांवृतिक रूप वह है, जो पृथग्जन की मिथ्यादृष्टि का विषय है, किन्तु इसका भी स्वरूप असिद्ध है। समस्त पदार्थ इन दो रूपों को धारण करते हैं। इन दो स्वरूपों में सम्यक् द्रष्टा का जो विषय है, वह तत्त्व है। वही पारमार्थिक सत्य है। मिथ्या-दृष्टि का जो विषय है, वह संवृत्ति-सत्य है; वह परमार्थ नहीं है।[3]

मिथ्यादृष्टि भी सम्यक् और मिथ्या भेद से दो है। इसलिए पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि (संवृति-सत्य) के दो ज्ञान और उनके दो विषय हैं। (१) शुद्ध तथा रोगरहित इन्द्रियों वाले व्यक्ति का बाह्यविषयक ज्ञान, (२) दोष-ग्रस्त इन्द्रियों वाले व्यक्ति का ज्ञान। स्वस्थ इन्द्रियों वाले व्यक्ति के ज्ञान की अपेक्षा दुष्टेन्द्रिय व्यक्तियों का ज्ञान मिथ्याज्ञान है।[4] सांवृतिक सत्यता और मिथ्यात्व का निर्णय केवल लोक की अपेक्षा से ही होता है, आर्यज्ञान की अपेक्षा से नहीं।

---

१. आचार्यनागार्जुनपादमार्गाद्बहिर्गतानां न शिवेऽस्त्युपायः।
भ्रष्टा हि ते संवृतितत्त्वसत्यात् तद्भ्रंशतश्चास्ति न मोक्षसिद्धिः।
उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।
तयोर्विभागं न परैति यो वै मिथ्याविकल्पैः स कुमार्गयातः॥
(मध्यमकावतार ६।७९-८०)

२. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥ (म० का० २४।८)

३. सम्यङ्मृषादर्शनलब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः।
सम्यग्दृशां यो विषयः स तत्त्वं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम्॥ (म० का० ६।२३)

४. मृषादृशोऽपि द्विविधास्त इष्टा, दीप्तेन्द्रिया इन्द्रियदोषवन्तः।
दुष्टेन्द्रियाणां किल बोध इष्टः सुस्थेन्द्रियज्ञानमपेक्ष्य मिथ्या॥

लोक-संवृति-सत्य

वस्तुतः मोह संवृति है, क्योंकि वह वस्तु के यथार्थ स्वभाव को आवृत करता है। संवृति एक ओर वस्तु के स्वभाव-दर्शन के लिए आवरण खड़ा करती है, दूसरी ओर पदार्थों में असत्-स्वरूप का आरोपण करती है। संवृति निःस्वभाव एवं सत्याभासित पदार्थों को स्वभावेन तथा सत्यरूपेण प्रतिभासित करती है। किन्तु यह अत्यन्त मिथ्या है। लोकदृष्टि से ही इसकी सत्यता है, अतः इसे लोक-संवृति-सत्य कहते हैं। यह प्रतीत्य-समुत्पन्न है, इसलिए कृत्रिम है।[1] अविद्वान् को कभी अकित्रिम (स्वभवः) नहीं भासता। प्रतिबिंब, प्रतिश्रुत्क आदि मिथ्या हैं, फिर भी उसे भासित होते हैं। नीलादि रूप तथा चित्त-वेदनादि भी सत्य भासित होते हैं। ये दोनों प्रकार के दृष्टान्त प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं, इसलिए संवृति-सत्य की कोटि में आते हैं। किन्तु जो संवृति से भी मृषा है, वह संवृति-सत्य नहीं है (संवृत्यापि यन्मृषा तत्संवृतिसत्यं न भवति)। भवाङ्ग (अविद्या, संस्कार, नामरूप आदि) संवृति-सत्य है, किन्तु संक्लिष्ट अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति के ही लिए। श्रावक, प्रत्येकबुद्ध तथा बोधिसत्व के लिए वह संवृति मात्र है, सत्य नहीं है; क्योंकि वे संक्लिष्ट अविद्या को नष्ट कर चुके हैं, और समस्त संस्कारों को प्रतिबिंब के तुल्य देखते हैं। इनमें वस्तु के प्रति सत्याभिमान नहीं है। जिस वस्तु से बाल-पृथग्जन ठगा जाता है, उसे आर्य संवृतिमात्र मानता है। आर्य को क्लेशावरण नहीं है, केवल ज्ञेयावरण है; अतः उसे विषय साभासगोचर हैं, अनार्य को निराभासगोचरता है। बुद्ध को सर्व धर्म का सर्वाकार ज्ञान है, अतः वह संवृति-सत्य को संवृतिमात्र कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथग्जन के लिए जो परमार्थ है, वही आर्यों के लिए संवृति है। संवृति की जो स्वभाव-शून्यता है, वही परमार्थ है। बुद्धों का स्वभाव परमार्थ है, वह परमार्थ है; क्योंकि उससे किसी का प्रमोष नहीं है,परमार्थ-सत्य है। यह परमार्थ-सत्य प्रत्यात्म-वेद्य है। संवृति-सत्य प्रमोषक है, अतः वह परमार्थ-सत्य नहीं है।

परमार्थ-सत्य

परमार्थ-सत्य अवाच्य है एवं ज्ञान का विषय नहीं है। वह स्व-संवेद्य है, उसका स्वभाव लक्षणादि से व्यक्त नहीं किया जा सकता। परमार्थ-सत्य की विवक्षा से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति अपने हाथ से पकड़े धान्यादि पुंज को केशरूप में देखता है, किन्तु उसे शुद्ध दृष्टिवाला जिस रूप में देखता है वही तत्व होता है; वैसे ही अविद्यातिमिर से उपहत अतत्त्व-द्रष्टा स्कन्ध, धातु, आयतन का जो स्वरूप (सांवृतिक) उपलब्ध करता है, उसे ही अविद्या-वासना रहित बुद्ध जिस दृष्टि से देखते हैं वही परमार्थ-सत्य है।

---

१. मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः सत्यं तयाख्याति यदेव कृत्रिमम्।
जगाद तत्संवृतिसत्यमित्यसौ मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्॥
(मध्यमकावतार ६।२७,२८)

प्रश्न उठता है कि परमार्थ-सत्य अवाच्य अदृश्य है, तो उसे अविद्या-रहित भी कैसे देखेंगे।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि अदर्शन-न्याय (न देखा जा सकना) से ही उसका देखना संभव है। परमार्थ-सत्य की किसी प्रकार देशना नहीं हो सकती; क्योंकि जिसके द्वारा देशित होना है, जिसके लिए देशना करनी है, और जिसकी देशना करनी है; ये सभी परमार्थतः अनुत्पन्न हैं। इसलिए अनुत्पन्न धर्मों से ही अनुत्पन्न धर्मों को बताया जा सकता है। तत्व में भाव-अभाव, स्वभाव-परभाव, सत्य-असत्य, शाश्वत-उच्छेद, नित्य-अनित्य, सुख-दुःख, शुचि-अशुचि, आत्मा-अनात्मा, शून्य-अशून्य, लक्षण-लक्ष्य, एकत्व-अनेकत्व, उत्पाद-निरोधादि नहीं होते। तत्व के ज्ञान में आर्य ही प्रमाण हैं, अनार्य बाल नहीं।

एक प्रश्न है कि माध्यमिक यदि लोक का भी प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, तो लोक अवश्य तत्वदर्शी होगा; क्योंकि वह प्रमाण नहीं होता। चक्षुरादि से ही तत्वनिर्णय होना है, अतः आर्यमार्ग के अवतरण के लिए शील, श्रुति, चिन्ता, भावना आदि का प्रयास अवश्य निष्फल होगा।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि लोक सर्वथा प्रमाण नहीं हो सकता, लोक-प्रमाण से तत्वदशा में बाधा भी नहीं होती। हाँ, लोक-प्रसिद्धि से लौकिक अर्थ अवश्य बाधित होगा।[1]

आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जो लोग इस सत्यद्वय का विभाग नहीं जानते वह गंभीर बुद्धशासन के तत्व को नहीं जानते।

सत्य-द्वय का प्रयोजन

वादी प्रश्न करता है कि माध्यमिक-सिद्धान्त में जब परमार्थ निष्प्रपञ्च स्वभाव है, तो भगवान् ने अपरमार्थभूत स्कन्ध, धातु, आयतन, चार आर्य सत्य, प्रतीत्य-समुत्पाद आदि की देशना क्यों की। अतत्व परित्याज्य होता है, और परित्याज्य का उपदेश करना व्यर्थ है।

आचार्य कहते हैं कि व्यवहार (अभिधान-अभिधेय, ज्ञान-ज्ञेय आदि) के अभ्युपगम के बिना परमार्थ की देशना अत्यन्त अशक्य है। और परमार्थ के अधिगम के बिना निर्वाण का अधिगम अशक्य है[2]। जो लोग सत्य-द्वय की व्यवस्था को नहीं जानते किन्तु, शून्यता का वर्णन करते हैं, उन मन्दप्रज्ञ लोगों को दुर्दृष्ट शून्यता वैसे ही नाश कर देती है, जैसे ठीक से न पकड़ा गया सर्प तथा अविधि से प्रसाधित कोई विद्या किसी साधक का[3]। चन्द्रकीर्ति कहते हैं

---

१. लोकः प्रमाणं नहि सर्वथाऽतो लोकस्य नो तत्वदशासु बाधा।
लोकप्रसिद्ध्या यदि लौकिकोऽर्थो बाध्येत लोकेन भवेद्धि बाधा॥ (६।३१)

२. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥

३. विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्पो वा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥ (म० का० २४।१०।११)

कि जो योगी अज्ञानमात्र से समुत्थापित संवृति-सत्य को निःस्वभाव जानकर शून्यता की परमार्थता को जानता है, वह अन्त-द्वय (उच्छेद, शाश्वत) में पतित नहीं होता। किसी भी पदार्थ का पहले अस्तित्व नहीं था, जिसके नास्तित्व को योगी ने बाद में जाना हो, क्योंकि उसने पहले भी (सदा ही) भाव-स्वभाव की अनुपलब्धि की है, अतः बाद में उसके नास्तित्व-ज्ञान का प्रसंग ही नहीं है। योगी लोकसंवृति को प्रतिबिंब के आकार में ग्रहण करता है, उसे नष्ट नहीं करता। इसलिए वह कर्म, कर्म-फल, धर्म-अधर्म आदि की व्यवस्था को बाधा नहीं पहुंचाता, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह परमार्थ तत्व में सस्वभावता का आरोपण करता है। उसे इसकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि कर्म-फल आदि की व्यवस्था पदार्थों की निःस्वभावता के सिद्धान्त में ही संभव है, सस्वभाववाद में नहीं।

यह निश्चित है कि शून्यता भाव या अभाव दृष्टि नहीं है। इसीलिए आचार्य 'विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता' पर अत्यधिक जोर देते हैं। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि शून्यता एक महती विद्या है, भाव-अभाव दृष्टियों का तिरस्कार कर यदि उसे मध्यमा-प्रतिपत्ति से ग्रहण किया जाय, तो वह अवश्य ही साधक को निरुपधिशेष निर्वाण के सुख से युक्त करती है। अन्यथा-ग्रहण से ग्रहीता का नाश कर देती है। नागार्जुन कहते हैं कि शून्यता की इस दुरवगाहता को देखकर ही भगवान् बुद्ध ने अपने को धर्मोपदेश से निवृत्त करना चाहा था, जो ब्रह्मा सहंपति के अनुरोध से संभव नहीं हुआ।

आचार्य कहते हैं कि शून्यता के सिद्धान्त पर वादियों के जितने आक्षेप हैं, वह सत्य-द्वय की अनभिज्ञता के कारण हैं। शून्यता को अभावार्थक समझकर समस्त दोष दिये जाते हैं, किन्तु वादी शून्यता की अभावात्मक व्याख्या नहीं करता, प्रत्युत शून्यता का अर्थ प्रतीत्य-समुत्पाद करता है, अतः उसकी शून्यता-दृष्टि नहीं है।

शून्यवाद में यथोक्त दोष नहीं होते, इसे सिद्ध कर आचार्य अब इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करते हैं कि सर्व भाव-स्वभाव-शून्यता का अर्थ प्रतीत्य-समुत्पाद करने से शून्यवाद में चार आर्य-सत्य, परिज्ञा, प्रहाण, साक्षात्कार, भावना तथा फलादि की व्यवस्था बनती है, प्रतीत्य-समुत्पाद की अन्य व्याख्याओं में ये संभव नहीं हैं। आचार्य अपने सतीर्थ्यों की उस अश्वारूढ़ व्यक्ति से तुलना करते हैं, जो अश्वारूढ़ रहते हुए भी अत्यन्त विक्षेप के कारण अश्व के भुला देने का उपालंभ दूसरों पर देते हैं।

आचार्य कहते हैं कि यदि भाव स्वभावतः विद्यमान हैं, तो वे हेतु-प्रत्यय निरपेक्ष होंगे। ऐसी स्थिति में कार्य-कारण, करण-कर्ता और क्रिया, उत्पाद-निरोध और फलादि समस्त बाधित होंगे; क्योंकि यदि घट स्वभावतः है, तो उसे मृदादि हेतु-प्रत्ययों से क्या प्रयोजन? फलतः घट का अभाव होगा; क्योंकि निर्हेतुक घट नहीं होता। ऐसी अवस्था में चक्र-चीवरादि करण, कर्ता कुम्भकार तथा घट बनाने की क्रिया का अभाव होगा। फिर घट का क्या उत्पाद और क्या निरोध? उत्पाद-निरोध के अभाव में फलादि अत्यन्त असंभव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सस्वभाववाद मानते ही ये समस्त दोष आपतित होते हैं।

सर्व शून्यतावादी के पक्ष में उपर्युक्त दोष असंभव है; क्योंकि उसके पक्ष में प्रतीत्य-समुत्पाद हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा करके अंकुरादि या विज्ञानादि के प्रादुर्भाव का सिद्धान्त है, जो पदार्थों को स्वभावतः अनुत्पन्न सिद्ध करता है। पदार्थों का स्वभावतः अनुत्पाद ही शून्यता है।

इस शून्यता को ही उपादाय-प्रज्ञप्ति कहते हैं। जैसे—चक्रादि (रथ के अंग) का उपादान कर (उपादाय) रथ की प्रज्ञप्ति होती है। जो अपने अंगों का उपादान करने पर प्रज्ञप्त होता है, वह अवश्य ही स्वभावेन अनुत्पन्न होता है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है, वही शून्यता है।

शून्यता ही मध्यमा-प्रतिपत् है। जिसकी स्वभावेन अनुत्पत्ति है, उसका अस्तित्व नहीं है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है, उसका नाश क्या होगा ? अतः उसका नास्तित्व भी नहीं है। इस प्रकार जो भाव और अभाव इन दो अन्तों से रहित है, और अनुत्पत्ति-लक्षण है, वह मध्यमा-प्रतिपत् (मध्यम मार्ग) है, वह शून्यता है। फलतः प्रतीत्य-समुत्पाद की ही ये विशेष संज्ञाएँ हैं—शून्यता, उपादाय-प्रज्ञप्ति, मध्यमा प्रतिपत्[1]।

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित हुआ कि जो प्रतीत्य-समुत्पन्न है, वह शून्य है। अतः कोई भी पदार्थ अशून्य नहीं है। अशून्यवाद (सस्वभाववाद) में जब सब अशून्य हैं, तो उसका उदय और व्यय नहीं होगा, और आर्य सत्य भी नहीं होंगे; क्योंकि जो प्रतीत्य-समुत्पन्न नहीं होगा, वह अनित्य नहीं होगा। किन्तु दुःख का लक्षण अनित्यता है। सस्वभाव-वाद में भावों की दुःख-स्वभावता नहीं होगी, इसीलिए उसका समुदय भी नहीं होगा; क्योंकि समुदय दुःख का हेतु है (समुदेति अस्माद् दुःखमिति)। दुःख के अभाव में उसकी उत्पत्ति के लिए हेतु की कल्पना व्यर्थ है। इसी प्रकार सस्वभाववाद में निरोध तथा समस्त आर्य-मार्ग बाधित होते हैं; क्योंकि स्वभावतः सत् दुःख का निरोध नहीं होगा, और मार्ग की भावना भी नहीं होगी। यदि वह भावना से भाव्य होगा, तो उसका स्वाभाव्य नष्ट होगा। इस प्रकार सस्वभाववाद में चार आर्य-सत्य नहीं होंगे। इनके अभाव में परिज्ञा, प्रहाण आदि किसके होंगे ? इस प्रकार फल, फलस्थ प्रतिपन्नक तथा त्रिरत्न कुछ नहीं होंगे। स्वभाववाद में धर्म-अधर्म की व्यवस्था भी नहीं होगी; क्योंकि जो अशून्य होगा, वह कर्तव्य-कोटि में नहीं आयेगा, और विद्यमान होने के कारण उसका कोई करण नहीं होगा। इस प्रकार धर्माधर्म-मूलक फल भी नहीं होगा।

यदि पदार्थ सस्वभाव होंगे, तो अकृत्रिम होने से किसी से व्यावृत्त नहीं होंगे; अतः संसार अजात और अनिरुद्ध होगा। जगत् कूटस्थ नित्य होगा। इसलिए जो स्वभाव-शून्यता-रूप प्रतीत्य-समुत्पाद को सम्यक् जानता है, वही आर्य-सत्य आदि को तत्वतः जानता है।

---

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ॥ (म० का० २४।१८)

निर्वाण

अब शून्यवाद की दृष्टि से निर्वाण के स्वरूप का विवेचन किया जाता है। इस संबन्ध में पहले पूर्वपक्षी बौद्धों का मत दिया जाता है, पश्चात् शून्यवाद का।

निर्वाण की स्कन्ध-निवृत्तिता

निर्वाण द्विविध है—सोपधिशेष, निरुपधिशेष।

सोपधिशेष—इस निर्वाण में अविद्या, राग आदि क्लेशों का निरवशेष प्रहाण होता है। आत्म-स्नेह जिसमें आहित होता है, वह उपधि है। उपधि शब्द से पंच उपादान-स्कन्ध अभिप्रेत हैं; क्योंकि वह आत्म-प्रज्ञप्ति का निमित्त है। उपधिशेष एक है। इस उपधिशेष के साथ जो निर्वाण है, वह सोपधिशेष निर्वाण है। यह स्कन्धमात्र है, जो सत्कायदृष्टि आदि क्लेशों से रहित है।

निरुपधिशेष—जिस निर्वाण में स्कन्ध भी न हो, उसे निरुपधिशेष निर्वाण कहते हैं।

वादी कहता है कि उपर्युक्त द्विविध निर्वाण शून्यवाद में संभव नहीं हैं; क्योंकि शून्यवाद में जब किसी का उत्पाद या निरोध नहीं होता तथा क्लेश और स्कन्ध नहीं होते तो, किस का निरोध करने से निर्माण होगा। अतः निर्वाण की सिद्धि के लिए भावों का सस्वभाव होना आवश्यक है।

आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि स्कन्धों को सस्वभाव मानने पर उनका उदय-व्यय नहीं होगा; क्योंकि स्वभाव अविनाशी होता है, अत: स्कन्धों के निवृत्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा, फिर निर्वाण कैसा? वस्तुतः स्कन्धों का निवृत्ति-लक्षण निर्वाण अयुक्त है।

निर्वाण की कल्पना-क्षयता

अप्रहीणम्—जो रागादि के समान प्रहीण नहीं होता।

असंप्राप्तम्—जो श्रामण्य फल के समान प्राप्त नहीं होता।

अनुच्छिन्नम्—जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न नहीं होता।

अशाश्वतम्—जो अशून्य (सस्वभाव) पदार्थों के समान नित्य नहीं होता।

अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम्—जो स्वभावतः अनिरुद्ध और अनुत्पन्न हो।

इन लक्षणों से लक्षित निर्वाण है। ऐसी निष्प्रपञ्चता में क्लेशों की कल्पना करना तथा उनके प्रहाण से निर्वाण कहना—ये सब असिद्ध हैं। निर्वाण के पहले भी क्लेश नहीं हैं, जिनके परिक्षय से निर्वाण सिद्ध होगा; क्योंकि स्वभावतः विद्यमान का परिक्षय नहीं हो सकेगा। अतः निरवशेष कल्पनाओं का क्षय ही निर्वाण है। यही सिद्धान्त-संमत निर्वाण का लक्षण है।

चन्द्रकीर्ति निर्वाण की सर्वकल्पना-क्षयता के पक्ष में भगवान् का एक वचन उद्धृत करते हैं, और उसका अभिप्राय उक्तार्थ में पर्यवसित करते हैं—

निवृत्तिधर्माण न अस्ति धर्मा ये नेह अस्ती न ते जातु अस्ति।
अस्तीति नास्तीति च कल्पनावताम् एवं चरन्तान न दुःख शाम्यति ॥

निरुपधिशेष निर्वाण धातु में क्लेश-कर्मादि का या स्कन्धों का सर्वथा अस्तित्व नहीं है, यह सभी वादियों को अभिमत है। जैसे अन्धकार में रज्जु में सर्प उपलब्ध है, किन्तु प्रकाश के उदय के साथ नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार निर्वाण में समस्त धर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे अन्धकारावस्था में भी रज्जु रज्जु ही था, सर्प नहीं था; उसी प्रकार क्लेश-कर्मादि समस्त पदार्थ संसारावस्था में भी तत्वतः नहीं हैं। जैसे तिमिर रोगाक्रान्त को सर्वथा असत् केश का प्रतिभास होता है, वैसे ही असत् आत्मा और असत् आत्मीयों के ग्रह से ग्रस्त पृथग्जन को असत् भावों का भी सत्यतः प्रतिभास होता है, यही संसार है।

जैमिनि, कणाद, कपिलादि से लेकर वैभाषिक पर्यन्त सभी भावों के संबन्ध में अस्तिवादी (सत्वभाववादी) हैं। नास्तिवादियों में उच्छेदवादी नास्तिक हैं, और उनके अतिरिक्त वे हैं, जो अतीत-अनागत अवस्था की विज्ञप्ति तथा विप्रयुक्त संस्कारों की सत्ता तो नहीं मानते, किन्तु तदतिरिक्त की सत्ता मानते हैं। नास्तिवादी वे भी हैं, जो परिकल्पित-स्वभाव नहीं मानते, किन्तु परतन्त्र तथा परिनिष्पन्न स्वभावों को मानते हैं। अन्तिम दो (सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी) वस्तुतः अस्ति-नास्तिवादी हैं, जो उक्तगाथा में नास्ति-कोटि में संगृहीत हैं। उपर्युक्त उभय कोटि के लोगों का संसार-दुःख शान्त नहीं हो सकता। इस प्रकार निर्वाण में न किसी का प्रहाण ही संभव है और न निरोध ही, अतः वह सर्वकल्पना-क्षय रूप है।

आचार्य नागार्जुन निर्वाण के संबन्ध में अन्य वादियों के मत का खण्डन करते हैं।

भावस्तावन्न निर्वाणम्—निर्वाण भाव नहीं है, अन्यथा उसका जरा-मरण होगा। भाव का लक्षण जरा-मरण है। जरा-मरण रहित खपुष्प होता है।

पुनश्च, यदि निर्वाण भाव है तो वह संस्कृत होगा, असंस्कृत नहीं; क्योंकि असंस्कृत किसी देश काल या सिद्धान्त में भाव नहीं होता।

निर्वाण भाव होगा तो अपने कारण-सामग्रियों से उत्पन्न होगा, किन्तु निर्वाण किसी से उत्पन्न नहीं होता। कोई भाव हेतु-प्रत्यय-सामग्रियों का बिना उपादान किये नहीं होता।

यद्यभावश्च निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्—निर्वाण अभाव भी नहीं होगा, अन्यथा निर्वाण अनित्य होगा; क्योंकि क्लेश-जन्मादि का अभाव निर्वाण है तो वह क्लेश-जन्म की अनित्यता है। किन्तु निर्वाण की अनित्यता इष्ट नहीं है। अन्यथा सबका बिना प्रयत्न मोक्ष होगा।

यदि निर्वाण अभाव होगा तो हेतु-प्रत्यय का बिना उपादान किये न होगा। कोई भी विनाश किसी का उपादान करके ही होता है, जैसे—लक्ष्य का आश्रयण करके लक्षण

और लक्षण का आश्रयण करके लक्ष्य। अनित्यता के लिए भावों की अपेक्षा आवश्यक है। वन्ध्या-पुत्र आदि किसी का उपादान करके नहीं है, इसीलिए वह अभाव भी नहीं है; क्योंकि भाव का अन्यथाभाव अभाव है। वन्ध्या-पुत्रादि तुच्छ हैं।

तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते—निर्वाण भाव और अभाव दोनों नहीं हैं। भगवान् ने भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा दोनों के प्रहाण के लिए कहा है। निर्वाण यदि भाव या अभाव है तो वह भी प्रहातव्य होता।

यदि निर्वाण भाव और अभाव दोनों है, तो संस्कारों का आत्म-लाभ और उनका नाश दोनों ही निर्वाण होते। किन्तु संस्कारों को मोक्ष कोई स्वीकार नहीं करता।

सिद्धान्त-संमत निर्वाण—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जन्म-मरण-परंपरा हेतु-प्रत्यय-सामग्री का आश्रयण करके चलती है। जैसे—प्रदीप-प्रभा या बीजांकुर। अतः निर्वाण एक ऐसी अप्रवृत्ति है, जो जन्म-मरण-परम्परा के प्रबन्ध का उपादान नहीं करती। वह अप्रवृत्तिमात्र है, उसे आप भाव या अभाव नहीं कह सकते। जिसके मत में संस्कारों का संसरण होता है, उसके मत में भी उत्पाद और निरोध अपेक्षावश सिद्ध होते हैं, किन्तु निर्वाण अपेक्षा न करके (अप्रतीत्य) अप्रवर्तमान होता है। जिसके मत में पुद्गल का संसरण अभिप्रेत है, और पुद्गल नित्यत्वेन अनित्यत्वेन अवाच्य है; उसके मत में भी जन्म-मरण-परंपरा उपादानों की अपेक्षा करके होती है, और निर्वाण उपादान न कर अप्रवृत्तिमात्र है। इस प्रकार संस्कारों का संसरण मानें या पुद्गल का, निर्वाण भाव या अभाव या उभय नहीं है।

एक प्रश्न है कि निर्वाण भाव, अभाव या उभय रूप नहीं है, इसका किसने प्रत्यक्ष किया है? क्या निर्वाण में कोई प्रतिपत्ता है? यदि है तो निर्वाण में भी आत्मा होगा, किन्तु निरुपादान आत्मा उस समय रहेगा कैसे? यदि कोई प्रतिपत्ता नहीं है तो उपर्युक्त सिद्धान्त का निश्चय किसने किया? यदि संसारावस्थित ने किया तो उसने विज्ञान से निश्चय किया या ज्ञान से? विज्ञान से संभव नहीं है, क्योंकि विज्ञान निमित्त का आलंबन करता है; किन्तु निर्वाण में कोई निमित्त नहीं है। ज्ञान से भी ज्ञात नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान शून्यता का आलंबी है, और शून्यता अनुत्पाद रूप है। ऐसी अवस्था में ज्ञान अविद्यमान एवं सर्वप्रपंचातीत हुआ, उससे निर्वाण के भावाभाव का निश्चय कैसे होगा? इसलिए माध्यमिक-सिद्धान्त में निर्वाण किसी से प्रकाश्यमान, और ग्रहमाण नहीं है।

निर्वाण से संसार का अभेद

निर्वाण के ही समान निर्वाण के अधिगन्ता तथागत में भी उक्त चार कल्पनाएँ (निरोध के पूर्व तथागत हैं, या नहीं, उभय या नोभय) नहीं की जा सकतीं। तथागत की स्थिति में या निर्वाण में उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतः विचार करने पर संसार और निर्वाण में भेद सिद्ध नहीं होता। संसार निर्वाण के अभेद से ही संसार की अनादि-अनन्तता भी उपपन्न होती है। आचार्य कहते हैं कि निर्वाण की कोटि (सीमा) और संसार की कोटि के मध्य किसी प्रकार का कोई सूक्ष्म भी भेद नहीं है।

संसार तथा निर्वाण प्रकृतितः शान्त, एक रस हैं, इससे उन समस्त दृष्टियों का समाधान होता है, जिन्हें भगवान् ने अव्याकरणीय कहा था।

तथागत के प्रवचन का रहस्य

वादी कहता है कि आपने उपर्युक्त विवेचन से निर्वाण का भी प्रतिषेध कर दिया। ऐसी स्थिति में निर्वाण के अधिगम के लिए सत्वों के अनन्त चरितों का अनुरोध कर भगवान् ने जो धर्म की देशना की है वह सब व्यर्थ होगी।

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि यदि धर्म स्वभावतः हों, और कुछ सत्व उसके श्रोता हों, भगवान् बुद्ध नाम का कोई देशिता हो तो अवश्य आप का कहना ठीक हो; किन्तु रहस्य यह है कि इन समस्त निमित्तों का उपलम्भ नहीं होता, जिससे यह ज्ञात हो सके कि देव-मनुष्यों को किसी भगवान् ने सांक्लेशिक, व्यावदानिक धर्मों का उपदेश किया था। आचार्य कहते हैं कि निर्वाण प्रपंचोपशम तथा शिव है, क्योंकि उसमें—

सर्वप्रपञ्चोपशमः—समस्त निमित्त-प्रपंचों की अप्रवृत्ति है।

शिवः—शिव है, क्योंकि निर्वाण का यह उपशम प्रकृति से ही शान्त है, अथवा वाणी की अप्रवृत्ति से प्रपंचोपशम है, और चित्त की अप्रवृत्ति से शिव है; अथवा क्लेशों की अप्रवृत्ति से प्रपंचोपशम है, तथा जन्म की अप्रवृत्ति से शिव है; अथवा क्लेश के प्रहाण से प्रपंचोपशम है, और निरवशेष वासनाओं के प्रहाण से शिव है; अथवा ज्ञेय की अनुपलब्धि से प्रपंचोपशम है, और ज्ञान की अनुपलब्धि से शिव है।

यतः भगवान् बुद्ध उपर्युक्त सर्व प्रपंचोपशम एवं शान्तरूप निर्वाण में, आकाश में राजहंस के समान स्थित हैं, यतः किसी निमित्त का उपलंभ नहीं है, अतः कहीं किसी के लिए कोई धर्म बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट नहीं हुआ। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि बुद्ध अपने पुण्य और ज्ञान के संभार से निरालंब में स्थित हैं। उन्होंने जिस रात्रि में बोधि प्राप्त की और जिस रात्रि में निर्वाण लाभ किया, इस बीच एक अक्षर का भी व्याहार नहीं किया।

प्रश्न है कि बुद्ध ने जब कुछ देशना नहीं की तो ये विचित्र विविध प्रवचन क्या हैं?

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि ये प्रवचन अविद्या-निद्रा में लीन तथा स्वप्न देखते हुए मनुष्यों के अपने ही विभिन्न विकल्पों के उदय हैं। तथागतपरीक्षा में तथागत की प्रतिबिम्बभूतता दिखायी गयी है, अतः तथागत ने कोई धर्म-देशना नहीं की। धर्म-देशना के अभाव में निर्वाण भी सिद्ध नहीं होता। भगवान् ने गाथा में कहा है कि लोकनाथ ने निर्वाण के रूप में अनिर्वाण की ही देशना दी। वस्तुतः भगवान् का यह कार्य आकाश के द्वारा डाली गयी गाँठ का आकाश के द्वारा मोचन करने के समान है।

अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः ॥ (म. का. वृ. पृ. ५४०)

पंचम खंड

[बौद्ध-न्याय]

विंश अध्याय

विषय-प्रवेश

भारतीय सभ्यता का स्वर्णयुग पांचवीं से सातवीं शताब्दी तक है। इस युग में बौद्धदर्शन में मौलिक परिवर्तन हुआ। न्याय तथा ज्ञान-मीमांसा उसकी गवेषणा के मुख्य विषय हो गये। इस परिवर्तन का बौद्धधर्म पर सामान्यतः बड़ा प्रभाव पड़ा। इस युग के तीन सूर्य जिन्होंने अपनी प्रतिभा और प्रकाण्ड विद्वत्ता से संसार को देदीप्यमान किया—वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति थे। वसुबन्धु ने न्याय पर कुछ अधिक नहीं लिखा। उनके शिष्य दिङ्नाग प्रमाणसमुच्चयवृत्ति में कहते हैं कि इस विषय में वसुबन्धु की अभिरुचि नहीं थी। उन्होंने वादविधान नाम के एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें संक्षेप में न्याय के कुछ प्रश्नों का उल्लेख मिलता है। दिङ्नाग के सिद्धान्त के बीज अभिधर्मकोश में यत्र तत्र पाये जाते हैं, किन्तु दिङ्नाग ने सबसे पहले इनको एकत्र कर एक सिद्धान्त में ग्रथित किया, और धर्मकीर्ति ने उसको एक निश्चित रूप प्रदान किया। दिङ्नाग ने न्याय के विभिन्न प्रश्नों पर छोटे छोटे कई ग्रन्थ लिखे थे, जिनको उन्होंने प्रमाणसमुच्चय में संगृहीत किया। धर्मकीर्ति ने न्याय पर सात ग्रन्थ लिखे—एक मूल और छः पाद। इनके नाम इस प्रकार हैं—प्रमाणवार्तिक, प्रमाण-विनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, संबन्धपरीक्षा, चोदनानामप्रकरण और सन्तानान्तरसिद्धि।

नागार्जुन ने अपने ग्रन्थ विग्रहव्यावर्तनी में प्रमाण-प्रमेय, लक्ष्य-लक्षण आदि का खण्डन किया है, और उन्होंने माध्यमिक-कारिका में जिस प्रौढ़ तर्क-पद्धति से वादियों के पक्ष का खण्डन किया है, उससे भी इसका अनुमान होता है कि उनको तर्क की किसी शास्त्रीय पद्धति से परिचय था। वसुबन्धु का वादविधि या वादविधान नाम का कोई प्रमाण ग्रन्थ अवश्य था, जो अभी अनुपलब्ध है। न्यायवार्तिक और तात्पर्यटीका आदि में पूर्वपक्ष के रूप में वसुबन्धु के प्रमाण लक्षणों को उद्धृत किया गया है। किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही कहा जा सकता है कि न्याय के क्षेत्र में बौद्धों ने कुछ पीछे प्रवेश किया। जब दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय की रचना की तब प्रमुख भारतीय-दर्शन पहले ही न्याय के मौलिक प्रश्नों पर अपना मत प्रतिपादित कर चुके थे।

प्रत्येक दर्शन को अपनी पुष्टि के लिए न्याय तथा ज्ञानमीमांसा (लॉजिक एण्ड एपिस्टेमोलॉजी) की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिए प्रत्येक दर्शन की अपनी ज्ञान-मीमांसा और तदनुकूल अपना न्याय है। चार मौलिक दृष्टियाँ आरंभ से ही भारतीय-दर्शन में विद्यमान रही हैं—आरंभवाद, संघातवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद। इनमें से संघातवाद बौद्धों का पक्ष है। केवल धर्मों (एलीमेंट्स)

का बाह्य अस्तित्व है, संस्कृत या संघात का नहीं। इस पक्ष में प्रतीत्य-समुत्पाद (=हेतु-फल-परम्परा) का सिद्धान्त काम करता है। हेतु-प्रत्यय-वश धर्मों की उत्पत्ति होती है। हेतु-फल की केवल परंपरा है, अर्थात् इसके होने पर यह होता है। जब वर्ण-संज्ञा की उत्पत्ति होती है, तब उस वस्तुमात्र से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु तीन धर्म अर्थात् विज्ञान, वर्ण-धर्म और चक्षु-धर्म एक साथ उत्पन्न होते हैं। यह तीन भिन्न धर्म समान महत्व के हैं।

सर्वास्तिवादी बौद्धों का वाद बहुधर्मवाद है। न्याय-वैशेषिक भी बहुबाह्यवस्तुवादी हैं। ये दोनों बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयव और संघात दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक प्रकरण में धर्मों का हम विशद विवेचन कर चुके हैं, किन्तु यहाँ न्याय के उद्गम को स्पष्ट करने के लिए धर्मों का अति संक्षिप्त परिचय देते हैं।

प्रमाणों के उद्गम की प्रमेय-(धर्म) भूमि बौद्धों का पंचस्कन्ध दो भागों में विभक्त होता है:—(१) चित्त-चैत्त और (२) रूप। रूप-धर्म चार महाभूत या भौतिक रूप के परमाणु हैं। यह चार महाभूत सर्वत्र अर्थात् सब अप्रतिघ भौतिक रूपों में सममात्रा में पाये जाते हैं। ये चार महाभूत इस प्रकार हैं:—

पृथिवी-धातु (धृति-कर्म), अब्धातु (संग्रह-कर्म) तेजोधातु (पक्ति-कर्म), वायु-धातु (व्यूहन-कर्म)। पृथिवी-धातु का खर स्वभाव है, अब्धातु का स्नेह, तेजोधातु का उष्णता और वायु-धातु का ईरण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह चार महाभूत या चार धातु संस्कार (फोर्स) हैं। जल में पृथिवी-धातु भी अपनी वृत्ति को उद्भावित करता है, क्योंकि वह नौका का संधारण करता है। भौतिक धर्म उन पांच विज्ञानों के समकक्ष हैं, जिनका आश्रय पञ्चेन्द्रिय हैं। यह रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श हैं। भौतिक धर्म को अपनी धृति के लिए चार महाभूतों में से प्रत्येक के एक एक धर्म की आवश्यकता है। अतः बौद्ध-दर्शन में किसी द्रव्य के स्थान में महाभूत-चतुष्क और भौतिक द्रव्य हैं। यह सब स्वतन्त्र तथा सम हैं। किन्तु हेतु-प्रत्ययवश अन्योन्य संबद्ध हैं, जिनके कारण सदा एक साथ इनकी उत्पत्ति होती है। महाभूत धर्म स्वयं स्प्रष्टव्य में परिगणित हैं। स्प्रष्टव्य महाभूत तथा भौतिक दोनों को दृढ़ करता है। संघात-परमाणु कम से कम अष्ट-द्रव्यक होता है। इनमें से चार मुख्यवृत्त्या द्रव्य, अर्थात् चार महाभूत हैं, जो भौतिक-रूप (रूप, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य) के आश्रयभूत हैं, और चार आयतन हैं, जो महाभूतों के आश्रयिभूत हैं। यदि द्रव्य में शब्द की अभिनिष्पत्ति होती है, तो शब्द का एक परमाणु अधिक होता है। भाजन और सत्वलोक में संघात रूप अधिक जटिल हो जाता है, क्योंकि रूप-धर्म सूक्ष्म संस्कारमात्र निश्चित किये गये हैं, अतः चित्त-चैत्त को रूप से पृथक् करने वाली रेखा अब अनुल्लंघनीय न रही। बौद्ध-धर्म में प्रारंभ से ही यह दो प्रश्न नहीं पूछे गये हैं—चित्त-चैत्त क्या है, और

रूप क्या है? किन्तु उसकी जिज्ञासा इस बात की रही है कि चाहे नाम हो या रूप, पदार्थों के विवेचन से अन्तिम तत्व कौन से ठहरते हैं?

चित्त-चैत्त को भी उन्होंने कतिपय धर्मों में विभक्त किया है। यह धर्म साथ-साथ रहते हैं; एक दूसरे में मिलते नहीं, किन्तु हेतु-प्रत्ययवश अन्योन्य संबद्ध हैं। इन नियमों के अनुसार इनका कभी सहोत्पाद होता है, कभी इनकी निरन्तर उत्पत्ति होती है। अतः किसी आत्मा की सत्ता यह स्वीकार नहीं करते। जिसे दूसरे आत्मा कहते हैं, वह इनके अनुसार वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान धर्मों का समुदायमात्र है, जिनका कारित्र हेतु-प्रत्यय के नियमों के अधीन है। बौद्ध संघात-द्रव्य को प्रज्ञप्तिमात्र मानते हैं, और केवल धर्मों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इस सिद्धान्त को वह सर्वत्र, अर्थात् चित्त-चैत्त तथा रूप-धर्मों में लागू करते हैं। उनके अनुसार द्रव्य-गुण का संबन्ध नहीं है। वेदना (अनुकूल या प्रतिकूल), संस्कार (चेतना), संज्ञा और स्वयं विज्ञान यह सब पृथक् धर्म हैं। इनकी सहक्रिया हममें आत्मा का भ्रम उत्पन्न करती है, जो वस्तुतः इन धर्मों के बाहर नहीं है। जैसा संघातरूप के लिए है, वैसा ही चित्त-चैत्त के संघात के लिए कम से कम एक नियत संख्या के धर्मों का होना आवश्यक है। चित्त-चैत्त में कुछ मौलिक या सामान्य धर्म होते हैं, जो चित्त के प्रत्येक क्षण में सदा वर्तमान होते हैं, और कुछ ऐसे धर्म हैं जो अनियत हैं, जो कुशल-अकुशल हैं और जो उस क्षण के स्वभाव के कारण हैं।

सामान्य धर्म दश हैं। गौण धर्म की संख्या अनियत है, और यह कभी कुशल कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते हैं। सामान्य धर्म महाभूमिक कहलाते हैं; क्योंकि यह सर्व चित्त में सदा होते हैं। इनका पुनः विभाग व्यवदान और संक्लेश के आधार पर किया जाता है। महाभूमिक धर्म इस प्रकार हैं :—(१) वेदना (सौमनस्य या दौर्मनस्य), (२) चेतना, (३) संज्ञा, (४) छन्द, (५) स्पर्श, (६) मति, (७) स्मृति, (८) मनस्कार (९) अधिमोक्ष और (१०) समाधि। यह दश महाभूमिक धर्म चित्त को आवृत करते हैं। विज्ञान के अभाव में यह दश धर्म विज्ञप्ति न होंगे। इनके अतिरिक्त दो और धर्म हैं, जो सब चित्तों में सामान्य हैं, किन्तु जो कामधातु से ऊर्ध्व के धातुओं में तिरोहित हो जाते हैं, जब कि विज्ञान समाधि की अवस्था में उन धातुओं में प्रविष्ट होता है। वह वितर्क और विचार हैं।

वितर्क आलंबन में चित्त का प्रथम प्रवेश है। आलंबन में चित्त की अविच्छिन्न प्रवृत्ति विचार है। इसीलिए कहते हैं कि वितर्क औदारिक है, और विचार सूक्ष्म है। यह वितर्क और विचार प्रत्येक चित्त के साथ होते हैं, किन्तु जब योगी ध्यानावस्था में समाधि-बल से रूप-धातु और अरूप-धातु में प्रविष्ट होता है, तब इनका तिरोभाव होता है, द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व यह नहीं होते। इन दो को लेकर चित्त-संघात के बारह परमाणु होते हैं।

गौण-धर्म जैसा हमने ऊपर कहा है, कुशल या अकुशल हैं। कुशल-महाभूमिक धर्म दश हैं :—श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अप्रमाद, मूलद्वय, अविहिंसा, प्रश्रब्धि। इस प्रकार कुशल चित्त में २२ धर्म होते हैं। संप्रयोग हेतुवश यह सदा एक साथ उत्पन्न होते हैं।

यह सहभू-हेतु से भिन्न है। अकुशल चित्त में १२ धर्मों के अतिरिक्त कुछ और धर्म होते हैं। प्रत्येक अकुशल कर्म के मूल में अह्री और अनपत्रपा पाये जाते हैं। अह्री अगुरुता है, लज्जा का अभाव है। अवद्य-करण में अह्री का आत्मापेक्षया लज्जा का अभाव है, अनपत्राप्य परापेक्षया लज्जा का अभाव है। यह वह धर्म है, जिसके योग से पुद्गल दूसरे के अवद्य का अनिष्ट फल नहीं देखता। ह्री वह धर्म है, जिसका पालन करना भिक्षु के लिए अति आवश्यक है। अनिष्ट का एक कारण अह्री बताया गया है। बौद्धों का विचार है कि प्रत्येक पाप कर्म के पूर्व-वर्त्ती चित्त में इन दो धर्मों के प्रभाव पाये जाते हैं।

किन्तु इस विवेचन में अनेक कठिनाइयाँ पाई जाती हैं। कुछ धर्म परस्पर विरोधी हैं। वह एक ही चित्त-क्षण में साथ नहीं रह सकते। यथा—एक ही अर्थ के प्रति प्रेम और विद्वेष साथ नहीं रह सकते। अन्य का अवश्य संप्रयोग हो सकता है; यथा वेदना और संज्ञा का। इसके विपरीत न्यायदर्शन में एक चित्त-क्षण में एक ही धर्म का अस्तित्व माना जाता है। बौद्धों के अनुसार यद्यपि चित्त-क्षण में कम से कम २२ धर्म माने गये हैं, तथापि उनकी तीव्रता सदा एक सी नहीं होती। प्रत्येक चित्त-अवस्था में एक धर्म की प्रधानता होती है, और यह धर्म अन्य धर्मों को कम अधिक अभिभूत करता है।

इसी प्रकार का एक वाद रूप-धर्मों की विविधता को समझाता है। यद्यपि महाभूतचतुष्क सर्वत्र सममात्रा में समान रूप से होते हैं, तथापि इनमें से किसी एक महाभूत का प्राधान्य और उत्कर्ष हो सकता है, जिसके कारण भौतिक कभी मूर्त-रूप, कभी तरल द्रव्य, कभी वायु और कभी अग्नि के आकार में प्रादुर्भूत होता है। अतः इन्हीं धर्मों का अस्तित्व है; कोई संघात द्रव्य नहीं है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि पृथिवी गन्धवती है; क्योंकि पृथिवी स्वयं एक गन्ध है। द्रव्य प्रज्ञप्तिमात्र है, यथा आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। यह धर्म संस्कार हैं। इसकी इससे भी पुष्टि होती है कि धर्मों का उदय-व्यय क्षणिक है। जिसका अस्तित्व है, वह क्षणिक है। क्षणों की प्रत्येक सन्तति, स्थिति परिकल्प है। दो क्षण जिनका नैरन्तर्य है, दो भिन्न धर्म हैं।

वस्तुतः गति संभव नहीं है। धर्मों के प्रत्येक क्षण का उदय-व्यय होता है। पाणि-पाद का आदान-विहरण उसका द्वितीय क्षण में अन्यत्र अभिनव संस्थान के साथ उत्पन्न होना है।

इस प्रकार धर्म गणितशास्त्र के बिन्दु के समान हैं। यह भिन्न संस्कारों के केन्द्र हैं, जिनका प्रति क्षण उत्पाद-विनाश होता रहता है। यह चित्र दो भूमियों में प्रकट होता है। अधोभूमि में बिन्दु और क्षण हैं। न कोई द्रव्य है, न वर्ण-संस्थान है, न स्थिति है और न कोई आकार है। ऊर्ध्वभूमि में एक दूसरा लोक है, जो परिकल्प से निर्मित है। अतः दो भिन्न वस्तु, हैं :—१. तत्व, जहाँ इन्द्रिय विज्ञान और गणित के बिन्दु के समान क्षण हैं; २. व्यावहारिक तत्व, जो पर परिकल्प द्वारा पहले पर आरोपित होता है।

दिङ्नाग ने ज्ञान की जो मीमांसा की है, उसका आरंभ इसी विचार से होता है। प्रमाण दो हैं; केवल दो हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान; क्योंकि विशेष और सामान्य यही विषय के दो प्रकार हैं। 'विशेष' का समकक्ष 'क्षण' है, जो सर्व का आधार है। 'सामान्य' हमारी कल्पना के निर्माण के तुल्य हैं। 'विशेष' से वह विशेष समझना चाहिये जो विवेचन से सिद्ध होता है, वह विशेष जो सर्व सामान्य लक्षणों से रहित है। 'विशेष' से अभिप्राय किसी अर्थ विशेष से नहीं है, जिसमें सामान्य गुण पाये जाते हैं। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का विज्ञानवाद इसमें है कि वह तत्व की दो भूमियाँ सिद्ध करते हैं—एक परमार्थ द्रव्य जिसका कोई रूप नहीं है, जो परिकल्प निर्माण का आधारमात्र नहीं है; दूसरी भूमि यह परिकल्प है। यह दूसरे प्रकार का तत्व शुद्ध कल्पना या आभास नहीं है। यह मृगमरीचिका, आकाश-कुसुम, शशशृंग के समान कल्पनामात्र नहीं है।

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का सिद्धान्त उस वाद का प्रत्यक्ष फल है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमानाश्रित ज्ञान में मौलिक भेद करता है।

कालवाद

बौद्धों के ज्ञान-सिद्धान्त का विवेचन करने के पूर्व हम काल और दिक् पर विभिन्न समय में निरूपित वादों पर विचार करेंगे।

शंकर, माधव और अन्य दार्शनिक अपने विवेचन में कालवाद और दिग्वाद को शीर्ष स्थान देते हैं, और बौद्धों के वाद का खण्डन करते हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने इनका सविस्तर वर्णन नहीं दिया है, किन्तु उन्होंने ऐसा इसलिए किया, क्योंकि वह समझते थे कि सब उनसे परिचित हैं; और सब जानते हैं कि उनके शास्त्र की यह पीठभूमि है। दिग्वाद पर सामग्री स्वल्प है, अधूरी और अस्पष्ट है। विज्ञानवादियों के लिए भी इसका महत्व न था।

बाह्य जगत् की अविद्यमानता के प्रमाण से दिक् की अविद्यमानता अनिवार्य रूप से सिद्ध होती है। अन्य दर्शनों में काल को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है, जिसका संबन्ध द्रव्यों से हो सकता है, अथवा उसे द्रव्यों का एक गुण माना है। शाश्वत काल का वाद भी मिलता है, जो सकल भव का प्रथम कारण है। अन्त में बौद्धों का वाद काल की सत्ता का प्रत्याख्यान करता है। दिक् एक और शाश्वत है, यह भी वाद मिलता है। बौद्ध इसका भी प्रत्याख्यान करते हैं। किन्तु दिग्वाद के प्राचीन रूप का समझना पारिभाषिक शब्दों के कारण कठिन हो गया है।

दिक् के अतिरिक्त 'आकाश' शब्द का भी व्यवहार होता है। इन शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से किया जाता है। कभी इसे अनन्त का प्रतीक माना गया है, और इस रूप में यह काल और दिक् दोनों को व्याप्त करता है। कभी इसका अर्थ अन्यथात्व होता है। ये दो शब्द दिक् और आकाश साथ साथ दो भिन्न द्रव्यों का ज्ञापित करते हैं, किन्तु इनका

संबन्ध स्पष्ट नहीं है। कभी आकाश एक द्रव्यविशेष बताया जाता है; जिसका गुण शब्द है। शब्द गुण है, न कि द्रव्य। यह आकाश का लिङ्ग है; क्योंकि शब्द से आकाश का अनुमान होता है।

दिक् और काल के सिद्धान्त एक दूसरे के समकक्ष हैं, षड् दर्शनों में से कोई भी दर्शन इससे आरंभ नहीं होता, यद्यपि सब इन प्रश्नों का उल्लेख करते हैं। वैशेषिक में इन पर विशेष ध्यान दिया गया है। उसमें इन दोनों को नौ द्रव्यों में परिगणित किया है। दिक् के अतिरिक्त आकाश द्रव्य भी नौ में गिनाया गया है। पहले हम कालवाद की समीक्षा करेंगे।

काल का उद्गम

भारतीय-दर्शन के विकास का इतिहास उस कथा से आरंभ होता है, जिसके अनुसार विराट् पुरुष ने संसार की सृष्टि की। इस कथा के अनुसार पुरुष ने जिसको वेद में प्रजापति कहा है, अनेक विकल्पों द्वारा अपने में से दृश्य भाजन-लोक और सत्व-लोक को प्रकट किया। इसी प्रजापति को ब्रह्मन्, आत्मन् कहते हैं। कदाचित् बौद्ध-धर्म में यह महापुरुष तथागत हैं; ब्राह्मण धर्म में यह गुण विष्णु और शिव का बताया गया है।

जिन द्रव्यों को पुरुष ने अपने में से प्रकट किया, उनमें से एक काल है, जिसे प्राचीन संवत्सर कहते थे। उस समय काल शब्द का प्रयोग एक दूसरे ही अर्थ में होता था। ऋग्वेद (१०।१६०।२) के अनुसार 'संवत्सर' की उत्पत्ति अर्णव... ...से सबसे पहले हुई। बृहदारण्यक (१।२।४) के अनुसार पुरुष ने सबसे पहले 'वाच्' को प्रकट किया और पश्चात् स्वयं मनस् द्वारा उसके साथ मृत्यु और बुभुक्षा के रूप में संभोग किया। जो शुक्र स्खलित हुआ, वही संवत्सर था। इसके पूर्व संवत्सर न था। मृत्यु का अपत्य संवत्सर स्वयं मृत्यु है। अतः विश्व का जो भाग इससे व्याप्त है, वह नाश-शील और अनित्य है। काल को संहार और नियति का देवता मानना, काल का यम के साथ तादात्म्य, दैव-विधि में जो विश्वास है, उसके साथ काल का संबन्ध होना, इन सब विचारों का उद्गम स्थान यही कथा है।

शुद्ध काल के परे अमृत पदार्थ है, जिसका अन्त नहीं है, जिसकी इयत्ता नहीं है; और जो अकल, अनवयवी है। विश्व के ऊर्ध्वभाग को यह व्याप्त करता है। किन्तु इसके अतिरिक्त अनन्त और समाग होने के कारण यह भूतकोटि को पार कर परमार्थ के आयतन तक भी पहुँचता है। पुरुष के स्वभाव से इसका तादात्म्य है। उस अवस्था से इसका तादात्म्य है, जो सृष्टि-क्रिया के पूर्व वर्तमान थी। पीछे के कुछ वाक्यों में शाश्वत के इस पदार्थ को काल भी बताया गया है। किन्तु यह विरोध भास-मात्र है। जो काल विभाज्य है, सकल है, परिवर्तन शील है, और प्रवाहित होता रहता है; वह शाश्वत काल का उपाधिमात्र है। अन्यथात्व, अनित्यता और मृत्यु शाश्वत के गर्भ में केवल क्षोभमात्र है। वही देवता जो बुभुक्षा और मृत्यु के रूप में 'वाच्' में शुक्र स्खलन करता है, वही साथ साथ अपने वास्तविक स्वभाववश मृत्यु के परे है। वह शाश्वत है, अमितायु है। उसके लिए मृत्यु नहीं है। एक शब्द में वह शाश्वत काल है।

इस अर्थ में जैसा कि ब्राह्मणों में कहा गया है, प्रजापति संवत्सर है। इसका सादृश्य बौद्धों के अमितायु से है। वैदिक हिन्दुओं का यही काल है,जिसका तादात्म्य शिव (=महाकाल) और विष्णु से किया जाता है। इस कोटि के देवता काल=मृत्यु से उतना ही भिन्न है, जितना कि शाश्वत-काल सृष्ट-काल से भिन्न है। जैसा कि उस पुरुष के लिए उचित है,जो सब द्वन्द्वों का अन्तिम प्रभव है, और जो स्वयं उनसे ऊर्ध्व और बहुत दूर रहता है। यह ईश्वर-काल सर्वथा उदासीन है। वह किसी के साथ पक्षपात नहीं करता।

दोनों कालों–शाश्वत और औपाधिक–के संबन्ध में कल्पना है कि यह एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य है, जो दिक् को व्याप्त करता है। सृष्ट और शाश्वत काल में मुख्य भेद यह है कि पूर्व विभाज्य और मित है, और अपर सभाग (पूर्व सदृश) अनवयवी और अनन्त है। औपाधिक काल विश्व के उस अधरभाग को व्याप्त करता है, जिसका निर्माण भौतिक रूप से हुआ है, और जो सूर्य के अधस्तात् है। शाश्वत-काल दूसरी ओर के अभौतिक आयतनों को व्याप्त करता है। उदाहरण के लिए हम तीन उद्धरण देते हैं:—

१. जैमिनीय ब्राह्मण (१ ब्रा०)—"सूर्य के दूसरी ओर यत्किंचित् है, वह अमृत है; किन्तु जो इस ओर है, वह दिवा-रात्र (औपाधिक काल, मृत्यु) से निरन्तर विनष्ट होता रहता है। सूर्य के दूसरी ओर अनेक लोक हैं।"

२. बृहदारण्यक (४।४।१६)—"जिसके नीचे संवत्सर की गति होती है, उस अमृत (प्रकाशों के प्रकाश) पर देवता उपासना करते हैं।"

३. मैत्रायणी उपनिषद् (६।१५)—"ब्रह्मन् के दो रूप हैं–काल-अकाल। जो सूर्य के प्राक् है, वह अकल-काल है; जो सूर्य से प्रारम्भ होता है, वह सकल-काल है। दूसरे शब्दों में शाश्वत-अभौतिक तथा अनित्य-भौतिक के बीच की सीमा देवताओं की उच्चकोटि है, जिसपर सूर्य चक्कर काटता है।"

काल एक सूक्ष्म द्रव्य है। यह विचार पीछे के अधिकांश दर्शनों में पाया जाता है। वैशेषिक के अनुसार काल नौ द्रव्यों में परिगणित है। मीमांसक भी उसे द्रव्य की सूची में गिनाते हैं। जैनागमन के अनुसार काल अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि इसमें प्रदेश नहीं है। तथापि यह द्रव्य है।

कालवाद का आधार

इन सब कालवादों का आधार लगभग एक ही है। उसके लिए मुख्यतः दो युक्तियाँ हैं:—

१. भाषा में काल संबन्ध को व्यक्त करने के लिए कई शब्द हैं–युगपत्, पूर्व, अपर आदि। पुनः प्रत्ययों की सहायता से भाषा क्रिया के काल-भेद को व्यक्त करती है—क्रियते, कृतम्, करिष्यति ।

हम अपने नित्य के व्यवहार में इन सब शब्दों का प्रयोग करते हैं। अतः इनका व्यवहारत्व सिद्ध होता है, जो संभव न होता, यदि इनका आधार काल्पनिक होता; अर्थात् यदि काल-संबन्ध को व्यक्त करने वाले सब शब्दों के समकक्ष और इनसे संबन्धित सब भावों के समकक्ष कोई एक भिन्न वस्तु, एक विशेष द्रव्य न होता। दूसरे शब्दों में यह आवश्यक है कि हम काल शब्द और काल-संज्ञाओं को किसी वास्तविक काल से संबन्धित करें।

वैशेषिक सूत्र (२।२।६) का यही अर्थ है—"पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र काल के लिङ्ग हैं।" बलदेव विद्याभूषण भी, जो गोविन्द-भाष्य के ग्रन्थकार हैं, यही कहते हैं—कालश्च भूतभविष्यद्वर्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादिव्यवहारहेतुः।

२. दूसरी युक्ति का संबन्ध इहलोक (=दृष्टधर्म) की सकल वस्तुओं की अनित्यता और अन्यथात्व से है। असाधारण कारणों से कार्यों की उत्पत्ति होती है, किन्तु इनके अतिरिक्त एक साधारण कारण भी है, जिस हेतु से कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होता रहता है। दृश्य जगत् के प्रत्येक वस्तु की यह तीन अवस्थाएँ सर्वसाधारण हैं। असाधारण कारण इनके लिए पर्याप्त नहीं है। दूसरी ओर काल इसका साधारण कारण माना जा सकता है। इसीलिए प्रशस्तपाद में काल का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—"सब कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु काल है।

काल-द्रव्य स्वभावतः इन्द्रियगोचर नहीं है। उसकी सत्ता का अनुमान अप्रत्यक्ष रूप से उसके सामर्थ्य से ही हो सकता है; जिस प्रकार मनस्, आत्मा और आकाश के विद्यमान होने का हम अनुमान करते हैं। प्रभाकर का यह मत अवश्य है कि काल षडिन्द्रिय-ग्राह्य है, और उसका अनुमान युगपद् भाव आदि से न करना चाहिये। केवल प्रभाकर ही एक ऐसे हैं, जो अन्य कालवादियों से भिन्न मत रखते हैं।

काल और आकाश की समानता, उसके लक्षण

मीमांसक, वैशेषिक और कुछ अंश में वेदान्ती सर्व संमति से काल-द्रव्य के निम्न चार लक्षण बताते हैं:—

(१) सूक्ष्मत्व, (२) विभुत्व, (३) नित्यत्व और (४) एकत्व (अनवयवत्व)। आकाश के भी यही लक्षण हैं। इस प्रकार भारतीय-दर्शन में काल और आकाश अभौतिक तथा भौतिक द्रव्यों के बीच में हैं। अभौतिक के समान इनमें सूक्ष्मत्व, एकत्व और नित्यत्व है, तथा भौतिक द्रव्यों के समान इनमें अचेतनत्व और जाड्य है। फलस्वरूप भारतीय दृष्टि में काल और आकाश के बीच कुछ साम्य है। यह दो द्रव्य हैं, जिनमें सब संस्कृत धर्म (भाव) डूबे हैं।

पुनः यह दो द्रव्य ऐसे हैं, जो पृथिवी, अप, तेज और वायु से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इनका सूक्ष्मत्व अधिक मात्रा में है। यही कारण है कि यह स्थूल वस्तुओं को बिना प्रतिघात के व्याप्त कर सकते हैं।

सूक्ष्म-नित्य काल का अनवयवत्व, समागत्व और अनन्तत्व बहु संप्रदायों को इष्ट है। इसी को हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि काल एक और असम है। इसकी जाति नहीं है। तथापि हम क्षणादि समय के विभागों का उल्लेख करते हैं।

इन दो को हम कैसे समझें? इस कठिनाई का यह समाधान है—उपाधिवश ऐसा होता है। जैसे एक आकाश घटादिवश अनेक विभागों में विभक्त दीखता है, उसी प्रकार काल एक होते हुए भी क्षण से आरंभ कर परार्ध तक बृहत् और लघु काल-विभागों में. विभक्त हुआ भासमान होता है। अतः काल के यह सब विभाग औपचारिक हैं, क्योंकि वस्तुतः हम काल का मान नहीं लेते; किन्तु केवल उन भौतिक द्रव्यों का मान लेते हैं, जिनका काल में अवस्थान है—कालस्यापि विभुत्वेऽपि उपाधिवशादौपाधिको भेदव्यवहारोऽस्ति (मानमेयोदय, पृ० १६१)।

मीमांसक निम्न दृष्टान्त भी देते हैं। जैसे—नित्य, सर्वगत वर्ण दीर्घादि रूप में ध्वनि की उपाधि के कारण विभक्त भासित होते हैं, उसी प्रकार काल भी स्वयं अभिन्न होते हुए सूर्य की गति-क्रियावश भिन्न भासित होता है। (यथा हि वर्णो नित्यः सर्वगतोऽपि दीर्घादिरूपेण विभक्तो भासते ध्वन्युपाधिवशात्, तथा कालोऽपि स्वयमभिन्नोऽपि आदित्यस्य गतिक्रियोपाधिवशाद् भिन्नो भासते।

अतः विभु-सूक्ष्म काल की विविधता स्थूल द्रव्य, उसकी गति और उसकी उपाधि के कारण हैं।

काल के विभक्त होने के प्रश्न से एक दूसरा जटिल प्रश्न संबन्धित है, जिसका संबन्ध अनित्यता के प्रश्न से है। काल प्रवाह में जो पतित होता है, वह अनित्य है और उसका अन्यथात्व होता है। काल विकल्प-भावों को जन्म देता है, उसका पाक करता है (पचयति) और अन्त में उनका भक्षण करता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि काल भावों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साधारण कारण है, भव के यह तीन आकार हैं। इनके समकक्ष काल तीन विभागों में विभक्त किया जाता है। इन तीन विभागों का तादात्म्य भविष्यत्, वर्तमान और भूत इन तीन कालों से है:—कालस्तूत्पत्ति-स्थिति-विनाशलक्षणस्त्रिविधः (सप्तपदार्थी, १४)।

मितभाषिणी में है:—कालस्योपाधिकं विभागमाह—उत्पत्तीति। पदार्थानामुत्पत्ति-स्थिति-विनाशैर्लक्ष्यत इत्युत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षण उत्पत्त्या भविष्यत्, स्थित्या वर्तमानः, विनाशेन भूतकालो लक्ष्यत इति त्रिविधः।

यह विभाग केवल औपाधिक है। (काल एक, अनवयवी, अकलद्रव्य है) दूसरे शब्दों में काल में स्वयं गति नहीं है, किन्तु व्यवहार में जो भाव इसके प्रवाह में पतित हैं, उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होता है, और इस अन्यथात्व का प्रतिबिंब काल के पटपर पड़ता है, और ऐसा भासित होता है मानों काल के तीन विभाग हो गये हों।

विभाषा में कालवाद

अब हम उन दर्शनों को लेंगे, जो काल को द्रव्य के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं।

सांख्य—पहले हम सांख्य को लेते हैं। वाचस्पतिमिश्र (सांख्यतत्वकौमुदी, ३३) कहते हैं कि जिस काल को वैशेषिक द्रव्य के रूप में ग्रहण करते हैं, वह अकेले भविष्यत् आदि शब्द-भेदों को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। काल केवल उपाधि है, जिसके भेद के कारण भविष्यत् आदि भेद उत्पन्न होते है। अतः सांख्य काल को अनावश्यक समझते हैं और यही कारण है कि वह काल को तत्वान्तर के रूप में ग्रहण नहीं करते (न कालरूपतत्वान्तराभ्युपगम इति)।

इसके होते हुए भी सांख्य वस्तुतः वैशेषिक आदि से आगे न बढ़ सका। शाश्वत और सृष्ट-काल का भेद इस रूप में सुरक्षित है कि शाश्वत प्रकृति का गुणविशेष है, और सृष्ट-काल को आकाश मान लिया है, जो सूर्य और ग्रहों की गतिक्रिया है।

सांख्यवादी भी काल को साधारण कारण मानते हैं :—

ननु आत्मा स्वभावतो न बद्धः, किन्तु कालवशाद्बद्धो भविष्यतीत्याह—"न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसंबन्धात्। भवत्वयम्, यदि तस्य कदापि कालयोगः स्यात्, न स्याद् वा। नित्यस्य व्यापिनः सर्वकालसंबन्धोपाधित्वात्।"

इसका प्रत्याख्यान नहीं है कि काल (यथा आकाश, कर्म आदि) का 'परकारणत्वं सामान्यरूपेण' होता है। केवल इसका प्रत्याख्यान है कि यह एक असाधारण कारण है। वास्तव में सांख्य ने कालवाद पर कोई अन्वेषण करने की उत्सुकता नहीं दिखाई है। उसने केवल काल को एक पृथक् तत्व नहीं माना है, किन्तु इसने कालवाद संबन्धी अन्य विचारों का अनुकरण किया है।

वस्तुतः कालवाद का विवेचनात्मक विश्लेषण करने का श्रेय बौद्धधर्म को है। सामग्री की कमी से विषय का सविस्तार वर्णन संभव नहीं है, किन्तु कुछ तथ्य निश्चित हो सकते हैं। कोई ऐसा कालवाद नहीं है, जो सब निकायों को समान रूप से मान्य हो। इसलिए यदि हम कहें कि बौद्ध कालवाद का खण्डन करते हैं, तो यह वर्णन केवल कुछ मुख्य निकायों में ही लागू होगा।

त्रिपिटक पूर्व—त्रिपिटकों की रचना के पूर्व ही बौद्धधर्म का प्रभव हुआ था, और उसी समय बौद्धधर्म का वह रूप जो हीनयान के विकास के पूर्व का है, प्रचलित था। योगाचार के १०० धर्मों की सूची में दिक् के साथ काल भी विप्रयुक्त संस्कार के अन्तर्गत परिगणित है। इसका उल्लेख अपेक्षया पीछे के ग्रन्थों में मिलता है, इस युक्ति का कोई महत्व नहीं है। हीनयान की अपेक्षा महायान में बौद्धधर्म के प्राचीन अंश कहीं अधिक सुरक्षित पाये जाते हैं। खोज करने पर हीनयान के साहित्य में भी इसके प्रमाण पाये जायेंगे। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक हम केवल इसका अनुमान ही कर सकते हैं कि हीनयान के पूर्वकाल में बौद्धों की काल के संबन्ध में क्या कल्पना थी?

प्राचीन बौद्धधर्म में—कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है—उपनिषदों के समान इसमें केवल रूप को ही अनित्य माना जाता था, और अन्य सूक्ष्म धर्म जैसे चित्त, विज्ञान आदि अनित्यता के परे थे। यह संभव है कि बौद्धधर्म में भी इस कल्पना का संबन्ध काल के दो भेद से भी रहा हो—एक अनवयवी और नित्य तथा अमृत से अभिन्न और दूसरा औपाधिक अवयवी-सकल और अनित्य वस्तुओं की उत्पत्ति को निश्चित करनेवाला। यह भी हो सकता है कि शाश्वत-काल आकाश या विज्ञान के तुल्य एक भिन्न आयतन न रहा हो, किन्तु वह केवल एक प्रवाह था, जो सूक्ष्म और स्थूल रूपी द्रव्यों को व्याप्त करता था। इतना तो कहा ही जा सकता है कि काल से औपाधिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, इस कल्पना का समर्थन बौद्ध साहित्य में भी है।

महाविभाषा (पृ० ३६३ ए) में निम्न मिथ्यादृष्टि का उल्लेख है—काल का स्वभाव नित्य है, किन्तु संस्कृत धर्मों का स्वभाव अनित्य है। संस्कृत धर्म काल के भीतर वैसे ही भ्रमण करते हैं जैसे एक फल एक भाण्ड से दूसरे भाण्ड में अथवा जैसे एक पुरुष एक गृह से दूसरे गृह में। इसी प्रकार संस्कृत धर्म भविष्यत् से निकलकर वर्तमान में आते हैं, और वर्तमान से निकलकर भूत में प्रविष्ट होते हैं। हम यह मान सकते हैं कि जहाँ पूर्व में काल की कल्पना एक ही विभु भाण्ड के रूप में थी, जिसमें भविष्यत्, वर्तमान और भूत ये तीनों एक दूसरे के ऊपर तह में तह लगाए हुए हैं, वहाँ पीछे तीनों भाण्डों की कल्पना हो गई।

इस संबन्ध में एक और बात कही जा सकती है। अभिधर्मकोश (तीन कोशस्थान पृ० ६३) में त्रैकाल्यवाद का एक ऐसा स्वरूप मिलता है, जिसमें भविष्यत् में उत्पन्न होने वाले कार्य का वर्तमानीकरण देशान्तर-कर्षण से होता है। सौत्रान्तिकों का यह आक्षेप यथार्थ है कि इस कल्पना के आधार पर हम अरूपी धर्मों (चित्त-चैत्त) की उत्पत्ति नहीं समझा सकते; क्योंकि वह अदेशस्थ हैं। किन्तु यह आपत्ति पीछे के उन्हीं विद्वानों पर लागू होती है, जो अरूपी धर्मों को भी अनित्य मानते हैं। परन्तु पूर्व हीनयान में केवल रूपी धर्म ही अनित्य हैं, और इसलिए देशान्तर-कर्षण का सिद्धान्त वहाँ पूर्णतः सफल होता है; और इस प्रकार उसकी प्राचीनता की पुष्टि भी होती है।

काल के इस सिद्धान्त के साथ कि वह एक भाण्ड है, जिसमें भविष्यत्, वर्तमान और भूत अवस्थान करते हैं, एक और प्रश्न जुड़ा है। यदि प्रवृत्ति अर्थात् जीवन की प्रक्रिया यही है कि भविष्यत् वर्तमान से होकर भूतकाल में पतित होता है, तो कभी न कभी एक क्षण ऐसा अवश्य आना चाहिये, जब कि सकल भविष्यत् नितान्त रूप से समाप्त हो जायगा; और सकल विश्व केवल भूत हो जायगा। यह विवाद किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता, किन्तु विभाषा (पृ० ३६५ ए) में एक विवाद है, जिससे यह अनुमान होता है कि उसका आधार ऐसा ही कोई विचार है—"सर्व भविष्यत् धर्म बहिर्गमन से संबन्ध रखते हैं (अर्थात् धर्म भविष्यत् से निकल कर भूत में प्रविष्ट होता है)। यह क्यों कहा जाता है कि भविष्यत् में कोई हानि प्रज्ञप्त (प्रज्ञप्यते) नहीं होती।" भदन्त वसुमित्र इसका यह उत्तर देते हैं—"भविष्यत् धर्मों की अभी गणना नहीं हो सकती, और भूतों की गणना अब संभव नहीं है। दोनों अमित और इयत्ता से रहित

हैं। जिस प्रकार महासमुद्र में कोई कमी नहीं होती, चाहे जल के १००,००० घड़े उससे कोई निकाले; और कोई वृद्धि नहीं होती, चाहे १००,००० घड़े उसमें कोई डाले।"

इस दृष्टान्त का क्या अर्थ है? अनन्त में कोई भी मित संख्या का योग हो, या उससे कोई भी मित संख्या निकाली जाय, तो परिणाम सदा अनन्त निकलेगा। किन्तु सत्य तो यह है कि कोई महा-समुद्र अनन्त नहीं है। हम केवल उसके जल-कणों को गिन नहीं सकते। जैसे गंगा की बालुका के कणों का गिनना संभव नहीं है, यद्यपि उनकी संख्या मित है। अतः वस्तुतः वसुमित्र इसका प्रत्याख्यान नहीं करते कि भूत धर्मों की वृद्धि होती है, और भविष्यत् धर्मों का ह्रास होता है। उनका आशय इतना ही है कि भविष्यत् और भूत की विपुलता को देखते हुए यह कहना कि धर्मों की वृद्धि या हानि होती है, व्यवहार में कोई महत्व नहीं रखता।

इस दृष्टि का उद्देश्य अनुमित हो सकता है। कदाचित् इच्छा यह थी कि पुराने बौद्ध विचार को सुरक्षित रखा जाय कि भविष्यत् भूत में प्रविष्ट होता है, और साथ ही साथ वह इस परिणाम से भी बचना चाहते थे कि सकल विश्व स्वतः निरोध के लिए प्रयत्नशील है। यह विचार महायान और कदाचित् पूर्व बौद्ध-धर्म का था। किन्तु हीनयानियों को यह स्वीकार न था, क्योंकि इसके मानने से निर्वाण के लिए व्यक्ति का प्रयत्न निरर्थक हो जाता, कम से कम उसका महत्व घट जाता।

अब हम संघभद्र के न्यायानुसारशास्त्र (पृ० ६३६ ए १४) से एक उद्धरण देते हैं। जिसमें एक विरोधी का विवाद दिया है, जो त्रैकाल्यवाद को नहीं मानता। भूत और भविष्यत् वस्तुतः धर्म नहीं हैं, क्योंकि यदि उनका अस्तित्व होता तो वह परस्पर प्रतिघात करते। वस्तुतः रूपी धर्म को देशस्थ होना चाहिये। यदि वह धर्म जो विनष्ट हो चुके हैं, और जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं; वस्तुतः होते तो वे आघात-प्रतिघात करते। सब रूप धर्मों में जिनका अस्तित्व है, अप्रतिघत्व होता है, और जिसमें यह नहीं है; वह रूप नहीं है। इस युक्ति में यह मान लिया गया है कि भूत और भविष्यत् दो सान्त भाण्ड हैं। इनका परिहार शास्त्र में इस प्रकार किया गया है कि अप्रतिघत्व केवल वर्तमान रूप धर्मों का होता है। महाविभाषा में (पृ०३९५ ए) प्रश्न है:—यदि एक धर्म रूप है,तो क्या वह देशस्थ है? उत्तर:—यदि धर्म देशस्थ है, तो वह अवश्य रूप है। ऐसे भी धर्म हैं, जो रूपी हैं; और देशस्थ नहीं हैं, अर्थात् भूत और भविष्यत् धर्म, वर्तमान परमाणु और अविज्ञप्ति)।

अतः यही वर्तमान रूप धर्म देशस्थ हैं, और भूत तथा भविष्यत् धर्म देशस्थ नहीं हैं। यह उस पुराने सिद्धान्त का परिष्कृत रूप है, जिसके अनुसार भविष्यत् वर्तमान और भूत धर्मों के भेद का कारण त्रिकाल में से एक अवस्था-भेद था।

वैभाषिक-नय में कालवाद

पूर्ववर्ती वैभाषिक मत—अब हम वैभाषिक नय को लेंगे। पहले हम उन परिवर्तनों का उल्लेख करेंगे, जिनका बौद्ध-धर्म में प्रवेश हीनयानवादी अभिधर्म के द्वारा हुआ।

१. बौद्ध-धर्म के पूर्वरूप में अनित्य स्थूलरूप और नित्य सूक्ष्म-चित्त यह दो माने गये थे। हीनयान में हम अनित्यता के उस नये सिद्धान्त का प्राधान्य पाते हैं, जिसके अनुसार रूप और चित्त दोनों अनित्य हैं।

२. संसार में अब कोई गन्धर्व-पुद्गल संसरण नहीं करता, और जिसे व्यक्तित्व कहते हैं वह अब उदय-व्ययशील नाम-रूप धर्मों के प्रवाह में परिवर्तित हो गया है।

३. इन्हें 'धर्म' कहते हैं। इस आख्या का प्रयोग पूर्व बौद्ध-धर्म में नित्य अभौतिक और अतीन्द्रिय वस्तु के अर्थ में होता था। 'धर्म' के इस नये अर्थ को (सदा बहुवचन में) हम एक विभु धर्म के (जो तथागत का स्वभाव है) भेद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं, जैसे विभिन्न रूप-धर्म एक विभु-रूप के विभेद हैं।

हीनयान के अनुसार 'धर्म' की व्याख्या इस प्रकार है—स्वलक्षणधारणात् या स्वभाव धारणात् इति धर्मः। इस प्रकार धर्म का अर्थ भाव (फेनामेना) का धारक हो गया, जो सन्तान में अपने को प्रकट करते हैं।

४. हीनयान के पूर्व निर्वाण आदि शुद्ध, प्रभास्वर चित्त का स्थूल रूप के कारण उत्पन्न क्लेश-आस्रवों से विमुक्त होना था। यह व्यवदान के साथ ही साथ मरणशील भौतिक जगत् से निर्यात कर सूर्य की दूसरी ओर आरूप्य-धातु में (जो अमृत धातु है) जाना भी था। यह आरूप्य-धातु भूतकोटि है। जो भिक्षु वहाँ पहुँच गया वह अच्युत-पद को प्राप्त हो गया, जहाँ से च्युति नहीं है। वह अनागामी हो गया। कदाचित् चर्या का यह चरम उद्देश्य था। किन्तु जब चित्त भी अनित्य हो गया तो इस विचार का कोई दूसरा अर्थ करना पड़ा। यह कहना पड़ा कि विमुक्ति को प्राप्त करने के लिए चित्त-चैत्त धर्म के परे जाना चाहिये। वास्तविक नित्यता और अमृतत्व लोकोत्तर धर्म हो गये, जिसमें व्यवहार सर्वथा विनष्ट हो गया है। अब अनागामी वह आर्य हो गया जो भौतिक लोकों में जन्म नहीं लेता, और उसके ऊपर अर्हत् है जो मन के सब प्रकारों से सर्वथा विमुक्त है।

५. इन नये विचारों के कारण काल संबन्धी पुराना विचार भी बदला होगा। नित्य और सृष्ट-काल के बीच की सीमा इतनी खिसका दी गयी कि उसके अन्तर्गत सकल विश्व आ गया और मृत्यु के अधीन हो गया। सूर्य अब अमृत का द्वार नहीं रहा, और बहुत से लोक जो सूर्य के उस ओर थे, अब मार के वैसे ही अधीन हो गये जैसे कि नीचे के भौतिक लोक।

नए अभिधर्म में पहला प्रश्न यह है कि काल धर्म है या नहीं?

वैभाषिकों के अनुसार केवल ऐसे ही धर्म नहीं हैं, जो सन्तान में पतित हैं; किन्तु ऐसे भी हैं, जो संस्कृत धर्मों के परे हैं, अर्थात् असंस्कृत हैं; जिनका दृष्ट-धर्म में आविर्भाव नहीं होता। अतः उनकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं हो सकती। असंस्कृत तीन हैं—दो निरोध और आकाश। असंस्कृत आकाश का लिङ्ग अनावरणत्व है। इसके अतिरिक्त एक आकाश धातु भी है, जो सान्त और विभाज्य है; किन्तु जो असंस्कृत आकाश की उपाधि

नहीं है, बल्कि भौतिक रूप है। इस उपमान से हम आशा करते थे कि इसी प्रकार नित्य और औपाधिक काल भी दो भिन्न धर्म माने जाएँगे। किन्तु ऐसा नहीं है। वैभाषिकों की ७५ धर्मों की सूची में किसी भी प्रकार के काल की गणना नहीं की गई है। तथापि प्रच्छन्न रूप में हम दोनों भावों को वैभाषिक ग्रन्थों में पाते हैं। नित्य काल का तादात्म्य अमृत धातु से है, जो निर्वाण-धातु का अधिवचन है। औपाधिक काल संस्कृत लक्षणों से छिपा है, अर्थात् जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता में जो मिलकर वैशेषिकों के साधारण कारण के तुल्य है। इनका कारित्र प्रत्येक संस्कृत धर्म को त्रिकाल की अवस्था में आकृष्ट करना है। 'जाति' धर्म को भविष्यत् से बहिःनिःसृत करती है, और उसका प्रवेश वर्तमान में कराती है। 'स्थिति' एक क्षण के लिए धर्म का अवस्थान करती है। 'जरा' और 'अनित्यता' धर्म को वर्तमान से भूत में प्रविष्ट करती है। (महाविभाषा ३६४ ए देखिये—"जब तक तीनों संस्कृत लक्षण क्रियाशील नहीं हैं, तब तक धर्म 'भविष्यत्' कहलाता है। यदि उनमें से एक ने अपना कारित्र समाप्त कर दिया है, और दो अभी क्रियाशील हैं तो धर्म वर्तमान है। यदि उन सबने अपना कारित्र समाप्त कर दिया है, तो धर्म भूत कहलाता है।")

यह सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के दो अभावों के भेद के समान हैः—प्रागभाव (= घटो भविष्यति) और प्रध्वंसाभाव (= घटो नष्टः)। इन दो अभावों के बीच (यह दो अभाव पदार्थ हैं) वर्तमान भाव प्रक्षिप्त कर दिया गया है। जिस प्रकार वैभाषिकों के भविष्यत् और भूत अवस्थाओं के बीच धर्म की उत्पत्ति है। यह भी माना जा सकता है कि आरंभ में केवल अनित्यता औपाधिक काल का स्थान लेती थी, और पीछे से इसका विकास जाति-स्थिति-निरोध इस त्रिक में हुआ।

उत्तरवर्ती वैभाषिक मत

संस्कृत लक्षणों के सिद्धान्त को निरूपित कर जो सर्व धर्मों के साथ सहयोग करते हैं, वैभाषिकों के काल के पुराने वाद को समाप्त कर दिया। अब केवल एक विभु संस्कृत द्रव्य रह गया, जिसमें धर्म डूबे हैं। यह आकाश है। किन्तु काल को इस रूप में नहीं ग्रहण किया। यह ठीक है कि वैभाषिक कहने को कहते हैं कि धर्म कालत्रय में भ्रमण करते हैं; निरोध त्रिकाल के परे हैं, और भविष्यत् और भूत भी हैं; किन्तु यह औपचारिक मात्र हैं। प्रत्येक धर्म त्रिकाल में अवस्थान करता है, और त्रिकाल की व्याख्या इस प्रकार केवल संस्कृत धर्म का अधिवचन है। (अभिधर्मकोश, १।७—त एवाध्वाः)।

हम इस नए विचार के उद्देश्य का अनुमान कर सकते हैं। हो सकता है कि त्रिकाल के देशस्थ होने की कठिनाई इसका कारण हो। आकाश को एक सभाग द्रव्य मान कर जो सकल विश्व को व्याप्त करता है, यह मानना पड़ेगा कि यह आकाश स्वयं एक दूसरे काल नामक द्रव्य से व्याप्त है। ऐसा विचार हमारे देश के लिए कुछ नया न होता। बृहदारण्यक (३।८।७) में उक्त है—

"यदूर्ध्वं दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति।)

किन्तु इससे एक दूसरी कठिनाई दूर न होती। कठिनाई यह थी कि एक विश्व के भीतर भविष्यत्, वर्तमान और भूत इन तीन कालों को कैसे स्थान दें। काल की तहें मानने में यह कठिनाई थी कि इसका विरोध लोकों के एक तुल्य देशान्तर-कर्षण से होता था। इसलिए इसके अतिरिक्त कि वह भविष्यत् और भूत धर्म को अदेशस्थ मानें, वह कुछ और कर नहीं सकते थे। किन्तु कठिनाई का यह हल केवल आंशिक था, और मुख्य प्रश्न अर्थात् भविष्यत्, वर्तमान और भूत धर्मों के भेद के प्रश्न का उत्तर देना अभी बाकी था।

वैभाषिकों की दृष्टि की सीधी-सादी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—प्रत्येक धर्म स्वलक्षण का धारक है, और यही उसकी स्वक्रिया (वृत्ति, कारित्र, स्वभाग) भी है। इस संबन्ध पर अभिधर्म की व्याख्याएँ आश्रित हैं। धर्म के स्वभाव (=लक्षण) की व्याख्या उसके कारित्र (स्वक्रिया, स्वलक्षण) से होती है।

कारित्र का सिद्धान्त

यद्यपि प्रत्येक धर्म का सदा अपना कारित्र होता है, तथापि उसका कारि एक विशेष क्षण में ही प्रकट होता है, और जब वह अपना कारित्र समाप्त कर लेता है, तो सदा के लिए वन्ध्य हो जाता है। यही क्षण वर्तमान कहलाता है, और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भविष्यत् धर्म वह हैं, जिन्होंने अभी अपने कारित्र को व्यक्त नहीं किया है, और भूत धर्म वह हैं जो अपना कारित्र व्यक्त कर चुके हैं। इसी प्रकार का विचार महाविभाषा (पृ० ३९३ सी) में पाया जाता है:—

प्रश्न—कालाध्व का भेद किस पर आश्रित है?

उत्तर— कारित्र पर। जिन संस्कृत धर्मों का कारित्र अभी नहीं है, वह भविष्यत् हैं; जो संस्कृत धर्म इस क्षण में कारित्र से समन्वागत हैं, वह वर्तमान कहलाते हैं; और जिनका कारित्र विनष्ट हो चुका है, वह भूत कहलाते हैं। अथवा जब रूप का प्रतिघत्व नहीं होता, तब वह भविष्यत् है; जब वह इस क्षण में प्रतिघात करता है, वह वर्तमान है; और जब इसका प्रतिघत्व समाप्त हो चुका है तो इसे भूत कहते हैं।

यह सिद्धान्त देखने में तो बड़ा सरल मालूम होता है, किन्तु इससे वास्तव में बड़ी उलझन पड़ गई। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि केवल वही धर्म वर्तमान हैं, जो इस क्षण में स्वक्रिया को व्यक्त कर रहे हैं, तो उस चक्षु के लिए हम क्या कहेंगे जो निद्रा में है; अथवा जिसका प्रतिबन्ध अन्धकार है। यह वर्तमान है, किन्तु यह अपना कारित्र नहीं करते, वह प्रकाश नहीं देते। इसलिए कारित्र की कोई दूसरी व्याख्या चाहिये। वास्तव में हम एक दूसरी दृष्टि ले सकते हैं, जिसके अनुसार किसी धर्मविशेष की स्वक्रिया की अभिव्यक्ति उसी धर्म की क्रिया नहीं है, किन्तु दूसरे पूर्ववर्ती धर्मों की है, जिससे उस धर्म का कारित्र हेतुभाव से निश्चित होता है। अतः किसी धर्म का वास्तविक कारित्र इसमें है कि वह भविष्यत् धर्मों को

अपनी स्वक्रिया अभिव्यक्त करने के लिए विवश करे। हीनयान के अभिधर्म में इसके छः प्रकार वर्णित हैः—१. सहभू-कारण, २. समनन्तर-कारण, ३. सभाग-कारण, ४. सर्वत्रग-कारण, ५. विपाक-कारण, ६. अधिपति-कारण।

यदि जीवन-प्रवाह में चक्षुरिन्द्रिय व्यक्त होता है तो (१) यह संस्कृत लक्षणों का सहभू-कारण है; (२) आगे आनेवाले सब चक्षुधर्मों का (जो एक ही चक्षु की मिथ्या एकता का भान कराता है) सभाग-कारण है; (३) अन्य ऐसे सब धर्मों का अधिपति-कारण है, जिनकी उत्पत्ति में यह बाधक नहीं है; संक्षेप में यदि कहें तो कहना होगा कि इस विचार में धर्म का कारित्र स्वकारित्र नहीं रहता, किन्तु उसका हेतुभावावस्थान, उसका फलोत्पादन-सामर्थ्य हो जाता है।

तीन काल के भेद को स्थिर करने के लिए कारित्र के इस नये अर्थ को कुछ और नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ एक धर्मविशेष बहुकाल के पश्चात् फल देता है, यथा अतीत काल का फलदान कारित्र इष्ट है। (अतीतस्यापि हि फल-दान-कारित्रमिष्यते—यशोमित्रकृतव्याख्या, पृ० १७८)।

फलाक्षेप-शक्ति और कारित्र

उस क्षण में जब कि कर्म-हेतु निवृत्त हो चुका है, और फल की उत्पत्ति अभी आरंभ नहीं हुई है, सामर्थ्य रहता है। क्या हम यह स्वीकार करें कि एक अतीत कर्म तब तक वर्तमान रहता है, जब तक कि वह अपना फल प्रदान नहीं करता? इन कठिनाइयों का परिहार करने के लिए वैभाषिक निम्नलिखित सिद्धान्त का निर्माण करते हैं :—

छः कारणों की क्रिया की प्रणाली इस पर निर्भर करती है कि सन्तान में फल-दान उसी क्षण में होता है, अथवा समनन्तर क्षण में अथवा किसी दूर के क्षण में। सहभू और समनन्तर कारण केवल प्रथम प्रकार से संबद्ध हैं; सभाग और सर्वत्रग कारण द्वितीय या तृतीय प्रकार से संबद्ध हैं, तथा विपाक-कारण केवल तृतीय प्रकार से संबद्ध है। (अभिधर्मकोश, द्वितीय कोश-स्थान, पृ० २९३ आदि)।

अतः इसकी दो अवस्थाएं हैं—(१) आक्षेप, जिसे फलग्रहण भी कहते हैं; (२) फल-दान जिसे वर्तमानीकरण कहते हैं। प्रत्येक धर्म जिस क्षण में वर्तमान होता है, और अपना कारित्र करता है, उस क्षण में मानों वह अपने भविष्यत् फल का ग्रहण और आक्षेप करता है। कभी-कभी आक्षेप और दान दोनों अवस्थाएं एक दूसरे से भिन्न होती हैं, किन्तु जब एक धर्म का फलाक्षेप और फल-दान एक या दो समनन्तर क्षण में होते हैं, तो आक्षेप और दान एक में मिल जाते हैं। तथापि इन दोनों क्षणों का भेद अवश्यमेव होता है; क्योंकि केवल आक्षेप ही यह निर्णय करता है कि एक धर्म भविष्यत् से वर्तमान में प्रवेश करेगा या नहीं।

अभिधर्मकोश (कोशस्थान २, पृ० २९३) उक्त है—"धर्म चाहे भविष्यत्, वर्तमान या भूत हो सदा रहता है। हमारा सिद्धान्त है कि यह उस क्षण में फल-ग्रहण या फलाक्षेप करता है, जिस क्षण में वर्तमान होकर यह एक फल का हेतु या बीज होता है।"

कारित्र की यही व्याख्या संघभद्र देते हैं—कारित्र = फलाक्षेप-शक्ति। अतीत कर्म यद्यपि अभी उनकी फलोत्पत्ति नहीं हुई है, वर्तमान नहीं है; क्योंकि उन्होंने आक्षेप कर्म पहले ही कर लिया है। (न्यायानुसार, ६३१ बी०)

अब एक अन्तिम विवाद-ग्रस्त विषय पर विचार करना है। फलाक्षेप-शक्ति (कारित्र) और धर्म-स्वभाव या स्वरूप में क्या संबन्ध है?

जितने वाद त्रिकाल सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, वह सब एकमत से इसपर जोर देते हैं कि जब एक धर्म कालाध्व से गुजरता है, तो वह अपना स्वभाव नहीं बदलता; उसके केवल भाव (व्यवहार-आकार, धर्मत्रात) या अवस्था (वसुमित्र) का परिवर्तन होता है। इन दो आख्याओं की विस्तार से व्याख्या नहीं मिलती। इसलिए इनके प्रयोगमात्र से इनका आशय समझ में नहीं आता। केवल दृष्टान्तों द्वारा इनका अर्थ समझाया गया है।

वसुमित्र गुटिका का उदाहरण देते हैं, जहाँ एक ही गोली अवस्थाभेद से भिन्न संख्या हो जाती है (१,१०० या १०००)। इस उदाहरण में स्थान की अवस्था का ही भेद है। किन्तु वसुमित्र के लिए धर्म की काल-अवस्था देशस्थ नहीं है, और इसलिए अवस्था शब्द का व्यवहार उपचारेण है।

धर्मत्रात 'भाव' के संबन्ध में कुछ अधिक निश्चित रूप से कहना कठिन है। यह कोई गुण है या सत्ता का आकार है? डाक्टर जान्स्टन का विचार है कि कदाचित् यह सांख्यों के गुण के सदृश है। (अर्ली सांख्य, पृ० ३१)।

वैशेषिक दर्शन ने कदाचित् इन सब कठिनाइयों को अनुभव किया था, और इसी-लिए उन्होंने कारित्र की अनिर्वचनीयता को यथार्थ माना था।

महाविभाषा (पृ० ३९४ सी) में निम्न विवाद मिलता है—

प्रश्न—कारित्र और स्वभाव एक हैं या भिन्न?

उत्तर—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह भिन्न हैं या एक। जिस प्रकार प्रत्येक सास्रव धर्म का स्वभाव अनेक लक्षणों से समन्वागत होता है, यथा अनित्यादि; और यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह लक्षण भिन्न हैं या अभिन्न, वही बात यहाँ भी है। अतः (कारित्र और स्वभाव का संबन्ध) अनिर्वचनीय है।

संघभद्र (न्यायानुसार, ६३३ ए) एक दूसरा उदाहरण देते हैं—कारित्र और स्वभाव का संबन्ध उसी प्रकार निश्चित नहीं हो सकता, जिस प्रकार धर्म और सन्तान का संबन्ध। एक शब्द में कारित्र और स्वभाव अभिन्न भी हैं, और भिन्न भी हैं। वैभाषिकों की यह उक्ति कि जब एक धर्म त्रिकाल में भ्रमण करता है, तो केवल कारित्र, न कि स्वभाव बदलता है, और तिस पर भी यह नहीं कहा जा सकता, कि कारित्र स्वभाव है, और न यही कहा जा सकता है कि कारित्र का अस्तित्व स्वभाव से स्वतन्त्र है; सौत्रान्तिकों द्वारा उपहासास्पद बना दी गयी है।

सौत्रान्तिक 'देवविचेष्टित' कहकर इसका उपहास करते हैं :—

कारित्रं सर्वदा चास्ति, सदा धर्मश्च वर्तते।
धर्मात्तान्यच्च कारित्रं व्यक्तं देव विचेष्टितम् ॥ (अभिधर्मकोश, ५।५७)

किन्तु संघभद्र (न्यायानुसार, ६३३ सी) इसका कड़ा प्रतिवाद करते हैं। 'यह उपहास अनुचित है, क्योंकि बुद्ध भगवान् स्वयं भी शिक्षा देते हैं—तथागत लोकोत्तर हैं, और नहीं हैं; प्रतीत्य-समुत्पाद की धर्मता है, और यह नित्य नहीं है'। क्या इसके लिए बुद्ध भगवान् का भी उपहास किया जायगा ? हम मानते हैं कि धर्मों का सदा अस्तित्व है, और साथ ही साथ हम यह भी मानते हैं कि धर्म नित्य नहीं हैं।

इस सिद्धान्त की आपकी आलोचना निराधार है, क्योंकि 'नित्य' और 'अनित्य' इन दो का व्यवहार दो भिन्न अर्थों में हुआ है। इसलिए बुद्ध का उपहास नहीं करना चाहिये। क्या इसमें भी ऐसा ही नहीं है ? धर्म नित्य वर्तमान है, किन्तु धर्म-भाव बदलता है। जब संस्कृत धर्म त्रिकाल में संक्रमण करते हैं, तो वह अपना स्वभाव नहीं खोते और जो कारित्र होता है, वह प्रत्ययों पर निर्भर करता है। उसकी उत्पत्ति के समनन्तर ही कारित्र अवरुद्ध हो जाता है। अतः हमारा सिद्धान्त है कि धर्म नित्य है, किन्तु धर्मभाव अनित्य है। यह क्यों आपका उपहास है कि यह देवविचेष्टित है ?

संघभद्र न्यायानुसार, (६३३ बी०) में वैभाषिक सिद्धान्त का यह सामासिक वर्णन देते हैं—फलाक्षेप की अवस्था में सब संस्कृत धर्म 'वर्तमान' कहलाते हैं, फलाक्षेप की इस अवस्था का पूर्व और उत्तर दोनों में अभाव है। इस पूर्व और उत्तर अभाव के अनुसार त्रिकाल का भेद व्यवस्थित होता है। भूत और भविष्यत् का अस्तित्व वर्तमान के समान ही है। संक्षेप में यद्यपि सर्व संस्कृत धर्मों का स्वभाव सदा एकसा रहता है, तथापि सामर्थ्य भिन्न है। इस प्रकार यद्यपि त्रिकाल का स्वभाव सदा एक है तथापि उनके कारित्र में भेद होता है।

ऊपर जो प्रमाण एकत्र किये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि वैभाषिक धर्म के दो आकार की शिक्षा देते हैं। यह भेद दो भिन्न आयतन या दो भिन्न धर्मों का सा नहीं है। कारित्र स्वभाव का परिशिष्ट नहीं है, यह द्वितीय धर्म नहीं है, और न धर्म का द्वितीय स्वभाव ही है। यह धर्म अर्थात् स्वलक्षण भी नहीं है। जैसा तत्वसंग्रह से मालूम होता है, इस दृष्टि का स्पष्ट प्रत्याख्यान संघभद्र ने किया था। कारित्र=फलाक्षेप-शक्ति, और स्वकारित्र=स्वलक्षण का भेद मौलिक है—सप्रतिघत्व आदि के रूप में स्वलक्षण धर्म के संपूर्ण स्वभाव को व्यक्त करते हैं, और इसीलिए सप्रतिघत्व से समन्वागत धर्म कभी अप्रतिघ नहीं हो सकता। इसके विपरीत फलाक्षेप-शक्ति कादाचित्क है। दूसरे शब्दों में वैभाषिक सिद्धान्त एक प्रकार के भेदाभेदवाद की शिक्षा देता है, जिसके अनुसार स्वभाव और कारित्र का संबन्ध भेदाभेद का है।

दिग्-आकाशवाद

कालवाद की समीक्षा करते हुए हमने ऊपर कहा है कि कालवाद और दिग्वाद दोनों में समानता पाई जाती है। जो काल को द्रव्य-विशेष मानता है, वह दिक् को भी द्रव्य-विशेष

मानेगा, और जो बाह्य जगत् के काल-प्रवाह का वहन आभ्यन्तरिक जगत् में करेगा वह बाह्य जगत् में अर्थों का देशस्थ होना स्वीकार नहीं करेगा। दिक् से यह दो भाव भारतीय दर्शन के इतिहास में पाये जाते हैं। बहुत प्राचीन काल में दिक् का भाव वस्तुव्यापी और अपेक्षया स्थूल था। पीछे से दिक् को एक द्रव्य-विशेष, जो अतीन्द्रिय और अनन्त है, मानने लगे।

शब्द के स्वभाव को न समझ सकने के कारण भारतीयों ने आकाश द्रव्य की कल्पना की। यह सर्वगत और नित्य है; इसका अन्यथात्व नहीं होता और यह शब्द का आश्रय है। यह कल्पना उपनिषदों में भी पाई जाती है। उस समय भी दो आख्याओं का व्यवहार होता था—दिक् और आकाश। आकाश का लिङ्ग शब्द है। यह शब्द का समवायिकारण है। आकाश वह द्रव्य है, जिससे शब्द की अभिनिष्पत्ति होती है। दिक् वह शब्द-विशेष है; जो प्रदेश का निमित्तकारण है।

दिक् संबन्धी यह दोहरा विचार शब्द पर आश्रित है। मीमांसकों के अनुसार शब्द एक, नित्य द्रव्य-विशेष है, जिसकी अभिव्यक्ति उस वाक् में होती है, जो हम सुनते हैं, किन्तु जिसका सदा और सर्वत्र अस्तित्व है। मीमांसकों का उद्देश्य वेदों का नित्यत्व सिद्ध करना था, जो इनके अनुसार न सृष्ट हुए, न ईश्वर द्वारा अभिव्यक्त हुए; जो अपौरुषेय हैं, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व से जो स्वतःप्रमाण हैं।

कणाद इस मत का खण्डन करते हैं, और सिद्ध करते हैं कि शब्द एक गुण है, आकाश का गुण है।

कुमारिल उत्तर देते हैं कि यदि पूर्वपक्ष की प्रतिज्ञा है कि शब्द आकाश का गुण है, तो इसके न कहने का कोई कारण नहीं है कि यह दिक् का गुण है। कुमारिल कहते हैं कि—"दो नित्य, व्यापी और सर्वगत द्रव्यों का अस्तित्व मानना निष्प्रयोजनीय है, और जो आकाश के लिए कहा जा सकता है, वह दिक् के लिए भी कहा जा सकता है। वह कहते हैं कि दिक् एक और व्यापी है, और आकाश को भी व्याप्त करता है। जो दिग्भाग श्रोत्र-शष्कुली को घेरता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है; यथा वैशेषिकों के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय नभोदेश है। वैशेषिकों के सब प्रमाण हमारे वाद में घटते हैं। हमारे अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय दिग्भाग है। अन्तर इतना ही है कि हमारे वाद का आधार श्रुति है। वह दिग् द्रव्य जो कम या अधिक श्रोत्र-विवर में आबद्ध है, हमको श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में व्यक्त होता है।"

दूसरों के अनुसार दिक् और आकाश दो पृथक् द्रव्य हैं। इनमें अन्तर केवल इतना है कि कई प्रस्थानों के अनुसार शब्द का आश्रय इनमें से एक ही है।

उपनिषदों में भी यह दोनों आख्याएँ पाई जाती हैं। उनके अनुसार आकाश एक अनन्त द्रव्य है। कभी यह द्रव्य पांच महाभूतों में परिगणित होता है, जिनसे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कभी इसे सृष्टि का प्रथम तत्व निर्धारित किया गया है, जिससे शेष तत्वों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी,

पृथिवी से औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से शुक्र, शुक्र से पुरुष उत्पन्न होता है। प्रायः भूताकाश को अनन्त दिक् बताया गया है, जिसमें द्यावापृथिवी, अग्नि-विद्युत्, वायु, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र समाहित हैं। इस अर्थ में यह नभस् अंबर का पर्याय है। नभस् से अनन्त दिव्य लोक समझे जाते हैं।

दिग्वाद और आकाशवाद के साथ ब्रह्मतत्व संबन्धित है, जो शब्द की निष्पत्ति करता है। इस वाद का स्पष्ट उल्लेख उपनिषदों में नहीं है।

शब्द का एक अस्पष्ट संबन्ध दिक् से है। इसका आयतन आकाश है। छान्दोग्य में यह विचार अधिक स्पष्ट है—दिक् के कारण सुनते हैं, बुलाते हैं, उत्तर देते हैं। यहाँ उस अर्थ का प्रभव मिलता है, जिससे आगे चलकर आकाश का अर्थ शब्द का उपादान हो गया। भारतीयों का विचार था कि विज्ञानेन्द्रियों की क्रिया केवल प्राप्यकारि अर्थों के स्पर्श से संपन्न होती है। शब्द-तत्व और श्रोत्रेन्द्रिय के बीच वह स्वभावतः एक आकाश-अवकाश की कल्पना करते थे। अतः यह कल्पना उनके लिए स्वाभाविक थी कि दिक् इन दोनों के बीच एक द्रव्य है। पीछे से यह कल्पना जोड़ी गई कि यह अवकाश एक द्रव्यविशेष से आवृत है, जो शब्द का उपादान है। आकाश अवकाश है, सूर्य और चन्द्र के बीच का अवकाश है। गर्भोपनिषत् (१।१) में कहा है कि इस पंचात्मक शरीर में जो सुषिर है, वह आकाश है। अन्त में आकाश ब्रह्म का प्रतीक है। कुछ स्थलों में आकाश का तादात्म्य ब्रह्म से बताया है।

इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा के अनुसार आकाश सृष्टि का प्रथम तत्व, अवकाश, शब्द का उपादान, विश्वव्यापी दिक्, ब्रह्म है। यह न देखा गया कि यह विविध भाव भिन्न हैं। दर्शनों में हम इन सब भावों को पाते हैं। कोई एक अर्थ चुनता है, कोई दूसरा। न्याय-वैशेषिक आकाश को शब्द का आश्रय मानते हैं। बौद्ध उसे अनावृत कहते हैं, और वेदान्त उसे सृष्टि का प्रथम तत्व मानता है।

उपनिषदों में आकाश के अतिरिक्त दिक् शब्द भी मिलता है, जो मुख्यतः दिशाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किन्तु जिसका अर्थ अनन्त दिग्-द्रव्य भी है। उसका अन्त नहीं मिलता; क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं। यही श्रोत्र है, आयतन है, आकाश है, प्रतिष्ठा है, अनन्त है; यही द्रव्य है (बृहदारण्यक, ६।१।५)।

पीछे के दर्शनों में इसका उपयोग वहाँ किया गया है, जहाँ कुछ कारणों से दो भिन्न द्रव्य स्वीकार करने पड़ते हैं, जो भिन्न प्रकार के दिक् को निरूपित करते हैं। उपनिषदों में दिक् का ऐसा अर्थ नहीं है।

जैन साहित्य में किसी भौतिकवाद का उल्लेख है। (श्रीडर, पृ० ५३) जो नित्य तत्वों में दिक् या आकाश को भी परिगणित करते थे। इस वाद का नाम भूतवाद और पांचभौतिक है। इसके अनुसार भौतिक द्रव्य नित्य हैं, और उनसे सत्वलोक और भाजनलोक

दोनों का समुदाय सृष्ट होता है। इस वाद के नाम से ही स्पष्ट है कि यह पंचभूत की सत्ता मानता था। अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज और वायु के अतिरिक्त यह आकाश या दिक् भी मानते थे। इसी आधार पर यह अन्य वादों से भिन्न था। अतः आकाश को तत्वों में गिनें या न गिनें, यह शास्त्रार्थ का विषय हो गया।

कुछ ऐसे वाद हैं, जो केवल चार भूत मानते हैं।

वेदान्त के अनुसार आकाश की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई। यह ब्रह्म का प्रतीक है, क्योंकि यह अनन्त, नित्य, अपरिवर्तनशील तत्व है। किन्तु इसका ब्रह्म से तादात्म्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति होती है। पुनः आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी की सृष्टि हुई है। इन अतिसूक्ष्म द्रव्यों के स्थूल द्रव्यों में परिवर्तन होने से लोक की सृष्टि होती है। इसके विपरीत स्थूल द्रव्यों के सूक्ष्म द्रव्यों में परिवर्तित होने से प्रलय सिद्ध होता है। यहाँ आकाश एक द्रव्य है, एक अनन्त द्रव्य है; भूतों में से एक है।

मीमांसकों के अनुसार भी दिक् एक द्रव्य है, सर्वगत है, उन अर्थों से स्वतन्त्र है, जो उसमें निवास करते हैं; किन्तु यह सर्व देशों में दिखाई देता है। मीमांसकों के अनुसार दिग्वकाश वस्तुभूत है, जो भौतिक अर्थों के तिरोभाव के पश्चात् भी रहता है।

सांख्य के अनुसार आकाश पाँच महाभूतों में से एक है। शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है, और आकाश का गुण शब्द है। अन्य महाभूतों के साथ यह महाभूत भी सर्ग की प्रवृत्ति में लगता है। यह मुख्यतः इसी भूत के कारण है कि प्रत्येक वस्तु का अवकाश होता है। किन्तु सांख्य-साहित्य में भी दोनों आख्याएँ पाई जाती हैं—(१) आकाश= अनन्त दिक्; (२) दिक्=अर्थों का देशस्थ होना। माधव कहते हैं कि सांख्य उन वादों से सहमत हैं, जो सामान्य दिक् अर्थात् अनन्त दिक् और उस दिक् में विशेष करते हैं, जो उपाधिवश सान्त है। सान्त दिक् काल से आबद्ध है। हमने ऊपर कहा है कि काल और दिक् भूतों के दो नित्य गुण हैं। काल और सान्त दिग्-द्रव्य (आकाश=अवकाश) अनन्त आकाश के उपाधिमात्र हैं।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों में दिक् (आकाश) और काल का साधर्म्य बताया गया है। दोनों सर्व उत्पत्तिमान् के निमित्त हैं। न्यायसूत्रों में आकाश (दिक्) की व्याख्या नहीं पाई जाती, और न कहीं अन्यत्र काल का लक्षण बताया गया है। कणाद के सूत्रों में (२।२।१०) दिक् वह द्रव्य है, जिसके कारण एक मूर्त द्रव्य दूसरे के समीप या दूर है। इस द्रव्य का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसके लिङ्ग से उसका अनुमान हो सकता है। दैशिक अर्थों की सन्तति का कोई कारण होना चाहिये, जो कालवर्ती भावों की परम्परा के सदृश हो। यह कारण एक नित्य द्रव्य है, यह उसी प्रकार सिद्ध होता है; जैसे काल और वायु का द्रव्यत्व और नित्यत्व सिद्ध होता है। दिक् से स्वतन्त्र एक आकाश है, वह भी नित्य और विभु द्रव्य है। आकाश दिक् से भिन्न है, क्योंकि यह शब्द का उपादान है। आकाश सब को व्याप्त करता है, और उसके अस्तित्व का अनुमान केवल अपने गुण से होता है। प्रशस्तपाद वैशेषिक

दर्शन के पीछे के ग्रन्थकार, न्याय तथा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थकार सभी की दृष्टि वही है, जो कणाद के सूत्रों की है।

प्रशस्तपाद ने शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है:—"शब्द द्विविध है—वर्ण-लक्षण और ध्वनि-लक्षण। अकारादि वर्ण-लक्षण हैं; और शंखादि निमित्त ध्वनि-लक्षण हैं। वर्ण-लक्षण शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है—आत्मा और मन के संयोग से, स्मृति की अपेक्षा से, वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है। तदनन्तर प्रयत्न होता है, जिससे आत्मा और वायु का संयोग होता है। इससे वायु में क्रिया उत्पन्न होती हैं; वह उर्ध्वगमन कर कण्ठादि को अभिहत करती है। इससे स्थान और वायु के संयोग से स्थान और आकाश का संयोग होता है। इससे वर्ण की उत्पत्ति होती है। ध्वनि-लक्षण शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार होती है—भेरी-दण्ड के संयोग से भेरी और आकाश का संयोग होता है। इससे ध्वन्यात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है (प्रशस्तपाद, पृ० ६४५)।"

"इस प्रकार द्रव्यविशेष के रूप में आकाश वह द्रव्य है, जिससे शब्द की अभिनिष्पत्ति होती है, अर्थात् यह उसका समवायिकारण है। नैयायिकों के अनुसार कारण तीन हैं—समवायि, असमवायि और निमित्त। शब्द की उत्पत्ति में आकाश समवायिकारण है, स्थान और आकाश का संयोग असमवायिकारण है, और आभ्यन्तर वायु और स्थान का संयोग निमित्त-कारण है। ध्वन्यात्मक शब्द में भेरी पर दण्ड का प्रहार निमित्तकारण है, भेरी और आकाश का संयोग असमवायिकारण है, और आकाश समवायिकारण है।" (प्रशस्तपाद)

इस वाक्य से यह प्रदर्शित होता है कि यद्यपि आकाश एक अदृश्य, अरूपी और अनन्त द्रव्य है, तथापि वह वायु के समान अन्य मूर्त रूपों से संयुक्त हो सकता है। इस द्रव्य का एक देश जो श्रवण-विवर संज्ञक है, श्रोत्रेन्द्रिय कहलाता है। आकाश का शब्दगुणत्व प्राचीन काल से स्वीकार किया गया है। सांख्य न्याय और वैशेषिक इन दो में विशेष करते हैं। एक आकाश है जिसका शब्द गुण है, जिसके कारण शब्द की निष्पत्ति होती है। दूसरा दिक् द्रव्य है जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है। दूसरी ओर कणाद के सूत्रों में (२।२।१३) यद्यपि यह दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तथापि कतिपय लिङ्ग प्रदर्शित करते हैं कि इन दोनों का एक द्रव्य माना जाता था, जो परस्पर भिन्न न थे, किन्तु कार्य-विशेष से जिनका नानात्व था। जिस प्रकार एक ही पुरुष अध्यापक और पुरोहित दोनों हो सकता है, उसी प्रकार कार्यविशेष से द्रव्य को आकाश और दिक् कहते हैं। यदि वह शब्द की निष्पत्ति करता है तो वह आकाश कहलाता है। यदि वह बाह्य जगत् से अर्थों के देशस्थ होने का कारण है, तो इसे दिक् कहते हैं।

इन्हें पीछे के नैयायिक और वैशेषिक दो स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। पूर्व और पीछे के बौद्धों में अन्तर है; इसी प्रकार बहुधर्मवाद और विज्ञानवाद में भी अन्तर है।

पालि-आम्नाय में आकाश-अवकाश (आकासो और ओकासो) की गणना महाभूत या धातु में नहीं की गई है। यहाँ महाभूत चार ही हैं। सूत्रों में ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिनसे

अनुमान हो सकता है कि आकाश पाँचवां महाभूत माना जाता है। किन्तु अभिधम्म में आकाश महाभूत नहीं है, यद्यपि यह धातु है। धम्म-संगणी में आकाश को देवताओं का लोक कहा है। यह अनावृत है, और यह स्पष्ट किया गया है कि इसका कोई संबन्ध महाभूतों से नहीं है। बुद्धघोष 'आकास-धातु' की वही व्याख्या करते हैं, जो वैशेषिक में (२।२।१०) 'दिश्' की की गई है :—'आकास-धातु' का लक्षण रूप-परिच्छेद है। इसके कारण परिच्छिन्न रूपों में यह प्रतीति होती है कि यह इससे ऊर्ध्व है, अधः है या तिर्यक् है (इदमितो उद्धमधो तिरियं च होति)। अत: थेरवाद में हम दिग्-आकाश यह द्विविध भाव नहीं पाते। शब्द को न एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है, और न द्रव्य-विशेष का गुण। शब्द चार महाभूतों का कार्य है। यह अदृश्य है, किन्तु श्रोत्र विज्ञान का विषय है। धम्मसंगणी में यह विचार कहीं नहीं पाया जाता कि आकाश और श्रोत्र के बीच एक विशेष स्थान है, और न यही पाया जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का महाभूतविशेष से विशेष संबन्ध है। उदाहरण के लिए सांख्य और वैशेषिक दर्शन में रूप का तेज से, रस का जल से, गन्ध का पृथिवी से और वायु का स्पर्श से संबन्ध है। कदाचित् इसी आधार पर आकाश का ऐसा ही संबन्ध श्रोत्र से है। श्रोत्रेन्द्रिय को नभोदेश कहा है, जो श्रोत्रविवर-संज्ञक है। धम्मसंगणी में रूप, गन्ध, रस और इनके साथ शब्द चार महाभूतों के कार्य कहलाते हैं। जिस काल में धम्मसंगणी की रचना हुई थी, उस काल में आकाश एक द्रव्यविशेष था, और इसके कारण मूर्त द्रव्य देशस्थ होते थे। दूसरी ओर हमको यह न भूलना चाहिये कि सकल बाह्य जगत् के तुल्य दिक् एक स्कन्ध है, जिसे रूप-स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धवाद की एक बात तो स्पष्ट है कि यह द्रव्य का प्रत्याख्यान है। धर्मों की अनन्त परंपरा है; कोई द्रव्य नहीं है। आकाश-धातु इस धर्म का एक रूप है। इसलिए इसका अभिधम्म की सूची में स्थान है। अतः आकाश-धातु की कल्पना एक धर्म की है, जो विपरिणामी धर्मों के अनन्त प्रवाह में डूबे हैं। विभाषा में आकाश-धातु को अघसामन्तकरूप कहा है, अर्थात् वह जो अत्यन्त अभिघात करने वाले (यथा वृक्षादि) का सामन्त रूप है।

नागार्जुन के समय में बौद्ध षड्धातु मानते थे:—चार महाभूत, आकाश और विज्ञान (मध्यमकवृत्ति, पृ० १२६)। यदि आकाश-धातु के स्थान में वैशेषिकों के तीन द्रव्य—आकाश, दिक् और काल—का आदेश करें, और यदि बौद्धों के विज्ञान के स्थान में आत्मा और मनस् का आदेश करें, तो वैशेषिकों के नौ द्रव्य हो जाते हैं। नागार्जुन के व्याख्यान से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आकाश-धातु का अन्य द्रव्यों में प्राधान्य था; क्योंकि आकाश-धातु विचार करके और यह दिखला करके कि उसका स्वभाव विरुद्ध है, वह कहते हैं कि आकाश धातु के बारे में जो कहा गया है, वह अन्य सब द्रव्यों में लागू होता है। उपनिषदों में भी दिक् का ऐसा ही प्राधान्य है। चन्द्रकीर्ति (मध्यमकवृत्ति, ५।१) कहते हैं कि आकाश अनन्त है, यह अनावरण मात्र स्वभाव है। बहुधर्मवादी बौद्ध आकाश को अभाव मानते हैं (वेदान्तसार, २, २ पर शंकर)।

अभाव दो प्रकार का है— (१) बुद्धिपूर्वक, यथा किसी वस्तु के बुद्धिपूर्वक विनाश से उस वस्तु का अभाव, (२) अबुद्धिपूर्वक किसी वस्तु का निरन्तर विनाश, जो चक्षु से नहीं

देखा जाता। इन दो के अतिरिक्त आकाश तृतीय प्रकार का अभाव है। बौद्ध इसीलिए आकाश को द्रव्यविशेष नहीं, किन्तु अभावमात्र मानते थे। आस्तिक-दर्शन उसे वस्तुभूत मानते थे। आकाश-परीक्षा में नागार्जुन आकाश को भाव मानकर उसको असंभव सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार वह आकाश को अभावमात्र भी असिद्ध करते हैं। नागार्जुन भाव-अभाव दोनों का प्रत्याख्यान करते हैं। केवल आकाश ही नहीं बल्कि अन्य सब द्रव्यों का भी। सामान्यतः वह प्रत्येक ज्ञान की शून्यता सिद्ध करते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों लोकों के सब भावों का विवेचन कर वह अनवस्था दोष दिखा कर उनकी विरुद्धता दिखाते हैं, तथा ज्ञेय-लोक के समुदाय की शून्यता सिद्ध करते हैं।

यद्यपि नागार्जुन आकाश की समस्या हल नहीं करते हैं, तथापि उनका विचार विज्ञानवादी विचार की पूर्वावस्था है। इस प्रश्न को उठाकर कि हमारे भावों का वस्तुतः कोई आलंबन है या नहीं, नागार्जुन कहते हैं कि यह भावधर्म हैं जो अनालंबन हैं।

विज्ञानवादी दृष्टि को आर्यासंग, वसुबन्धु और दिङ्नाग ने विकसित किया। धर्मकीर्ति ने इसमें वृद्धि की। इनका विचार वसुबन्धु के विचार से कुछ भिन्न है। इनके अनुसार भी भाजन-लोक प्रवृत्ति-विज्ञान से बना है। आकाश इन प्रवृत्ति-विज्ञानों का एक आकार-विशेष है।

धर्मकीर्ति प्रत्येक विज्ञान में, तथा प्रत्येक वस्तु में, तीन प्रकार के गुण मानते हैं—देश, काल और स्वभाव। धर्मकीर्ति आकाश और काल दोनों का समानरूप से विवेचन करते हैं। वह देश और आकाश दोनों शब्दों का व्यवहार करते हैं। अर्थ के देशस्थ होने को वह सदा 'देश' कहते हैं, और आकाश को अनादि, अनन्त, अविपरिणामी बताते हैं। अपने ग्रन्थ में उन्होंने कहीं आकाश का विचार नहीं किया है, किन्तु इन दोनों शब्दों का प्रयोग उसी अर्थ में करते हैं, जिस अर्थ में इनका प्रयोग आस्तिक दर्शनों में होता है। दिक् का अर्थ केवल अर्थ का देशस्थ होना है। यह वाद विज्ञानवादी विचार से पूरी तरह मिलता है, किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति अनन्त आकाश का बार बार उल्लेख करते हैं। साथ ही साथ परार्थानुमान का उल्लेख है, जिसके द्वारा वाक् की अनित्यता सिद्ध हो सकती है। जिसका अस्तित्व है, वह अनित्य है। वाक् का अस्तित्व है, अतः वह अनित्य है। बाह्य जगत् अनित्य है। प्रत्येक क्षण का विनाश होता है। आकाश नित्य है। इसीलिए उसका अभाव है।

प्रमाण

बौद्धधर्म में भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। बहुधर्मवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। शून्यवाद ऐसी प्रवृत्ति है जो, बाह्य जगत् की शून्यता और ज्ञान की नितान्त अनिश्चितता मानता है।

इन मौलिक सिद्धान्तों ने बौद्ध-दर्शन के स्वभाव को पूर्व ही विनिश्चित कर दिया। वह सांख्य और वेदान्त के समान विश्व को समझाने के लिए किसी परम तत्व का निर्माण

न कर सका। वह भावों को नित्य और अनित्य द्रव्यों में विभक्त न कर सका, और न न्याय-वैशेषिक के समान संसार की उत्पत्ति का हेतु इन द्रव्यों के अन्योन्य प्रभाव को निर्दिष्ट कर सका। यह किसी ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करता था। इसके लिए ज्ञान स्वयं एकमात्र प्रमाण है। अतः पांचवीं-सातवीं शताब्दी में इसका उद्देश्य प्रमाणों को निश्चित करना तथा ज्ञान की इयत्ता को निर्धारित करना था। इन्होंने इसकी स्वतन्त्र परीक्षा की कि विज्ञान का विषय क्या है, और क्या नहीं है? इन्होंने प्रमाणों की व्यवस्था की।

प्रमाण-शास्त्र का प्रयोजन

सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि सम्यग्-ज्ञान पूर्वक होती है। अतः उसकी प्रतिपत्ति के लिए न्याय-शास्त्र की रचना हुई है। मानवीय प्रयोजन हेय या उपादेय हैं; वांछनीय या अवांछनीय हैं। प्रवृत्ति या अर्थक्रिया अर्थ की प्राप्ति और अनर्थ के परिहार के लिए होती है। सम्यग्-ज्ञान या प्रमाण वह ज्ञान है, जिसके अनन्तर अध्यवसाय (निश्चय) होता है, जिससे पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। जो ज्ञान मिथ्या है, उससे अर्थ-सिद्धि नहीं होती। संशय और विपर्यय सम्यग्-ज्ञान के प्रतिपक्ष हैं। धर्मोत्तर कहते हैं कि सम्यग्-ज्ञान द्विविध है।

(१) प्राग्-भवीय भावनाश्रित ज्ञान, जो आपाततः पुरुषार्थ-सिद्धि कराता है;

(२) प्रमाणभूत, भावना जो केवल ज्ञापक है।

बौद्ध-न्याय में इस दूसरे प्रकार के सम्यग्-ज्ञान की समीक्षा की गई है; क्योंकि जिसकी खोज साधारण जन करते हैं, उसी का विचार शास्त्र में होता है। लोग अर्थ-क्रिया के अर्थी होते हैं, अतः वह अर्थ-प्राप्ति के निमित्त अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु के ज्ञान की खोज करते हैं। इसलिए सम्यग्-ज्ञान अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

अतः बौद्ध-न्याय में प्रमाणभूत भावना का ही विवेचन किया गया है। जहां अर्थक्रिया की सिद्धि आपाततः अविचारतः होती है, वहाँ ज्ञान की समीक्षा नहीं हो सकती। जिस ज्ञान की समीक्षा हो सकती है, उसे तीन विषयों में विभक्त करते हैं:—प्रत्यक्ष, अनुमान और परार्थानुमान (सिलॉजिज्म, शब्दात्मक) बाह्य वस्तु के ज्ञान का मुख्य प्रभव इन्द्रिय-विज्ञान है। इस ज्ञान के आकार को कल्पना निश्चित करती है, और इस प्रक्रिया की पूर्ण शाब्दिक अभिव्यक्ति परार्थानुमान से होती है। अतः इन तीन के अन्तर्गत ज्ञान-मीमांसा और न्याय दोनों हैं।

प्रमाण-फल तथा प्रमाण का लक्षण

प्रमाण या सम्यक्-ज्ञान अविसंवादक ज्ञान है। लोक में उस पुरुष को संवादक कहते हैं जो सत्यभाषी है, और जो पूर्व उपदर्शित अर्थ का प्रापक है। इसी प्रकार वह ज्ञान भी संवादक कहा जाता है, जो प्रदर्शित अर्थ का प्रापक है, अर्थात् जो प्रदर्शित अर्थ में प्रवर्तन करता है। सम्यग्-ज्ञान पुरुषार्थ-सिद्धि का कारण है। सम्यक्-ज्ञान प्रवृत्ति के विषय का प्रदर्शक है; अर्थ में पुरुष का प्रवर्तन करता है। अधिगत अर्थ में पुरुष प्रवर्तित होता है, और अर्थ प्रापित होता है, अतः अर्थाधिगति ही प्रमाण-फल है। इसका अर्थ यह है कि अर्थाधिगम से प्रमाण का व्यापार

समाप्त हो जाता है। यह वह बिन्दु है, जहाँ पुरुष का कारित्र होता है। इसे अर्थ-क्रिया-क्षम वस्तु कहते हैं, और जो क्रिया इस वस्तु का अधिगम करती है, वह सफल पुरुषार्थ है। सम्यक्-ज्ञान प्रापक (एफिकेशियस) ज्ञान है। इस प्रकार हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता और उसकी व्यवहार-क्षमता के बीच एक संबन्ध स्थापित है।

पुरुष को विज्ञान हठात् प्रवर्तित नहीं कर सकता, अतः ज्ञान कारक-कारण नहीं है; केवल ज्ञापक है।

'लोग अर्थ प्राप्ति के निमित्त अर्थ-क्रिया समर्थ वस्तु के प्रदर्शक ज्ञान की खोज करते हैं, इसलिए सम्यक्-ज्ञान अर्थ-क्रिया-समर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

जिस ज्ञान से पहले अर्थ अधिगत होता है, उसी से पुरुष प्रवर्तित होता है, और अर्थ प्रापित होता है। उस अर्थ के विषय में दूसरे ज्ञान का क्या काम है? इसलिए अनधिगत विषय प्रमाण है। जब अर्थ प्रथम अधिगत होता है, तब ज्ञान होता है।

एक ज्ञान की पुनरावृत्ति प्रत्यभिज्ञा है। इसे ज्ञान का स्वतंत्र ज्ञापक नहीं मानेंगे। किसी अधिगत विषय का अनुस्मरण राग या द्वेष का कारण होता है, किन्तु राग-द्वेष या स्मृति को ज्ञान का कारण नहीं मानते। जब हम सर्व प्रथम अर्थ का अधिगम करते हैं तो उसी क्षण में ज्ञान होता है। इसके पश्चात् कल्पना (या विकल्प) के द्वारा वस्तु के आकार का निर्माण होता है। यह ज्ञान का कारण नहीं है। यह प्रत्यभिज्ञा है, यह सविकल्पक अप्रमाण है।

मीमांसकों की भी यही व्याख्या है, अर्थात् प्रमाण अनधिगत अर्थ का अधिगन्ता है। किन्तु उनके मत में अर्थ और प्रमाण दोनों कुछ काल के लिए अवस्थान करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार प्रमाण ज्ञान का साधकतम कारण है। यह कारण इन्द्रिय-विज्ञान अनुमानादि हैं। इनका प्रत्यक्ष सविकल्पक है।

बौद्धों के अनुसार अर्थ क्षणिक हैं, और वह इन्द्रिय तथा कल्पना दोनों में विशेष करते हैं। उनके अनुसार यह दो ज्ञान के उपकरण हैं। इन्द्रिय अधिगत करता है; कल्पना निर्माण करती है। इसलिए ज्ञान का प्रथम क्षण सदाइन्द्रिय-विज्ञान का क्षण है। यह अविकल्प है, किन्तु विकल्पोत्पत्ति की शक्ति रखता है। अर्थ का अधिगम होने पर प्रथम क्षण के पश्चात् अर्थ की आभा स्फुट होती है। यदि लिङ्ग द्वारा वह अनुमित होता है, तो लिङ्ग अधिगम के प्रथम क्षण को उत्पन्न करता है, जिसके पश्चात् लिंग के स्फुटाभ और तत्संप्रयुक्त अर्थ के अस्फुट आकार की उत्पत्ति होती है। किन्तु दोनों अवस्थाओं में अधिगम का केवल प्रथम क्षण सम्यग्-ज्ञान का कारण होता है। अतः प्रमाण एक क्षण है, और यही क्षण सम्यग्-ज्ञान का वस्तुतः कारण है।

प्रमाणों की सत्यता की परीक्षा

जब सत्य की परीक्षा केवल अनुभव से होती है, तब यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि ज्ञान के जो कारण हैं, वह उसके सम्यक् होने के भी कारण हैं, अथवा ज्ञान का कारण एक है; और उसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए चित्त की दूसरी क्रिया करनी होती है?

इस प्रश्न पर भी मीमांसकों ने विचार किया है; क्योंकि उनको वेद-प्रामाण्य प्रतिष्ठित करना था। मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वतः सम्यग्-ज्ञान है, प्रामाण्य-युक्त है; क्योंकि यह ज्ञान है, विसंवादक नहीं है। दो ही अवस्थाओं में ज्ञान अपवाद के रूप में मिथ्या हो सकता है—१. जब उसका बाधक ज्ञान है, या २. जब करण-दोष है। सिद्धान्त स्वतःप्रामाण्य का है; दोष परतः सिद्ध होता है।

बौद्धों के अनुसार स्वतःप्रामाण्य नहीं है; परतःप्रामाण्य है; क्योंकि प्रापक ज्ञान प्रमाण है। बौद्धों के अनुसार व्यभिचार संभव है। कारण-गुण के ज्ञान से, संवाद ज्ञान से, अर्थक्रिया ज्ञान से हम कह सकते हैं कि यह अविसंवादक ज्ञान है।

यद्यपि मीमांसक, वैशेषिक और नैयायिकों की तथा बौद्धों की दृष्टि में साम्य है, तथापि इनमें सूक्ष्म भेद है। पहले दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान-क्रिया कर्ता, अर्थ, उपकरण तथा क्रिया-विशेष से संबन्धित होती है। जब वर्ण-ज्ञान होता है, तब आत्मा कर्ता है, वर्ण अर्थ है, चक्षुरिन्द्रिय उपकरण है और क्रियाविशेष प्रकाश-रश्मि का चक्षु से विनिर्गत हो अर्थ की ओर जाना, उसका ग्रहण कर आत्मा को अंकित करने के लिए लौटना है। इनमें चक्षुरिन्द्रिय साधकतम करण है। यही प्रमाण है।

किन्तु बौद्ध क्रिया और ज्ञान के साम्य के आधार पर रचित इस प्रणाली का प्रत्याख्यान करते हैं; क्योंकि वह प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त मानते हैं। इन्द्रिय है, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष है, इन्द्रिय-विज्ञान है। आत्मा नहीं है, इन्द्रिय का उपकरणत्व नहीं है, अर्थग्रहण नहीं है। विज्ञान और विकल्प में सारूप्य है। वही प्रमाण है; वही प्रमाण-फल है। अर्थ का आकार के साथ सारूप्य और आकार दो भिन्न वस्तु नहीं है।

वस्तु-सत्ता का द्वैविध्य

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सिद्धान्त में ज्ञान की व्याख्या के तुल्य वस्तु, परमार्थ-सत् की व्याख्या भी अपूर्व है। वस्तु,परमार्थ-सत् अर्थ क्रिया-सामर्थ्य है। जिसमें यह सामर्थ्य नहीं है, वह अवस्तु है। जो अग्नि प्रज्वलित और शान्त होती है, वह अग्नि स्वलक्षण है। अग्नि-संनिधान में स्फुट और असंनिधान में अस्फुट प्रतिभासित होती है। यह परमार्थ-सत् है। जब तक वह वर्तमान और चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य है, तब तक अग्नि का प्रकाश-कण भी स्फुट है। जो वह्नि विकल्प का विषय है,जो न प्रज्वलित होती है, और न पाचन-क्रिया करती है,और न प्रकाश देती है, वह अवस्तुक है। यद्यपि विकल्प-विषय दृश्य के तुल्य हो, तथापि वह अर्थक्रियाभाव के कारण दृश्य नहीं है। अतीत, भविष्य अवस्तुक हैं; केवल प्रत्युत्पन्न वस्तु है। विकल्प-विषय, अभाव, बुद्धि-निर्माण, जाति, सामान्य प्रज्ञप्तिमात्र हैं; केवल स्वलक्षण वस्तु-सत् है। अन्य केवल विकल्प हैं, शब्द-मात्र हैं। इनके पीछे किंचिन्मात्र भी वस्तुत्व नहीं है। वस्तु-सत् में विकल्प नहीं होता, अतः यह निर्विकल्पक है। किन्तु इन दो के बीच एक लोक है, जो परिकल्प से बना है; किन्तु जिसका आधार वस्तु-सत् है। इसे संवृति-सत्य कहते हैं। परिकल्प दो प्रकार के हैं—शुद्ध और

वस्तु-मिश्रित। वस्तु के भी दो प्रकार हैं—शुद्ध और परिकल्प-मिश्रित। एक वस्तु-सत् क्षण स्वलक्षण है। यह परमार्थ-सत् है। दूसरा स्वलक्षण के अनन्तर विकल्प-निर्मित आकार है। जब वस्तु-प्रतिबन्ध पारम्पर्येण होता है, तब अर्थ-संवाद होता है, यद्यपि यह अनुभव परमार्थ सत् की दृष्टि से भ्रान्त है। यह पारंपर्येण सत् है, प्रत्यक्षेण नहीं।

प्रमाण का द्वैविध्य

जिस प्रकार वस्तु-सत् द्विविध है, उसी प्रकार प्रमाण भी द्विविध है। प्रमाण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष है। यह परमार्थ-सत् के ज्ञान का कारण है, या संवृति-सत् के ज्ञान का कारण है। प्रत्यक्ष-प्रमाण इन्द्रिय-व्यापार से उत्पन्न होता है; अप्रत्यक्ष विकल्प से। प्रथम प्रतिभास है, दूसरा कल्पना है। प्रथम अर्थ का ग्रहण करता है, दूसरा उसी की कल्पना करता है (विकल्पयति)। वास्तव में 'ग्रहण' नहीं होता, किन्तु इस शब्द का व्यवहार ज्ञान के प्रथम क्षण को गृहीत अर्थ के विकल्प से विशिष्ट करने के लिए होता है। यह क्षण असाधारण तत्व है, अतः यह अनभिलाप्य है। नाम, अभिज्ञा किसी एकत्व की होती है, जिसमें देश, काल और गुण का संयोग होता है। यह एकत्व एक विकल्प है, और बुद्धि की जिस प्रक्रिया से इसका निर्माण होता है, वह प्रतिभास नहीं है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि प्रमाण के द्विविध विषय हैं–ग्राह्य और अध्यवसेय (पृ०१५-१६)। ग्राह्य और अध्यवसेय भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यक्ष का क्षण एक है। यह ग्राह्य है। दूसरा अध्यवसेय प्रत्यक्ष-बल से उत्पन्न निश्चय है। यह क्षण सन्तान है। सन्तान ही प्रत्यक्ष का प्रापणीय है। क्षण की प्राप्ति अशक्य है।

बौद्धों के अनुसार दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। वैशेषिक भी दो ही प्रमाण मानते हैं, यद्यपि उनके लक्षण और उनकी व्याख्या भिन्न है। बौद्ध आप्तवचन को प्रमाण में नहीं गिनते। नैयायिकों का उपमान और अर्थापत्ति बौद्धों के अनुमान के अन्तर्गत हैं। ज्ञान इन्द्रिय-व्यापार से होता है, और विकल्प-बल से आकार का उत्पाद होता है। प्रत्यक्ष में अर्थ का आकार विशदाभ होता है; अनुमान में लिङ्ग द्वारा अर्थ का अस्फुट ज्ञान होता है। अग्नि के संनिधान में अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, और यदि अग्नि दूर है, और धूमलिङ्ग के दर्शन से ज्ञान होता है तो यह अनुमान है। एक में प्रत्यक्ष प्रकृष्ट है, दूसरे में विकल्प का प्रकर्ष है।

बौद्धों का वाद 'प्रमाण-व्यवस्था' कहलाता है, जब कि दूसरों का वाद 'प्रमाण-संप्लव' कहलाता है। प्रमाण-संप्लव के अनुसार प्रत्येक अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से हो सकता है। बौद्ध-वाद में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की इयत्ता की व्यवस्था है। एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन की दृष्टि आलोचनात्मक है। बौद्ध-दर्शन में प्रमाण दो ही हैं। दोनों ही इन्द्रिय-जन्य अनुभव का समतिक्रमण नहीं कर सकते। जो अतीन्द्रिय है, वह ज्ञान का विषय नहीं है। सब अतीन्द्रिय अर्थ, जो देश, काल, स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं, अनिश्चित हैं। अतीन्द्रिय क्षेत्र में विकल्प से विविध निर्मित होगा जो विरुद्ध होगा।

बौद्ध-धर्म में बुद्ध को सर्वज्ञ कहा है, किन्तु अतिन्द्रिय-सर्वज्ञत्व का होना या न होना सन्दिग्ध है। अतः यह अनैकान्तिक है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि जिस अनुमान का लिंग-त्रैरूप्य आगमसिद्ध है, उसका आश्रय आगम है। ये युक्तियाँ अवस्तु-दर्शन के बल से प्रवृत्त होती हैं, अर्थात् विकल्पमात्र के सामर्थ्य से प्रवृत्त होती हैं। आगम के जो अर्थ अतीन्द्रिय हैं, अर्थात् जो प्रत्यक्ष-अनुमान के विषय नहीं हैं, यथा सामान्यादि; उनके विचार में आगमाश्रित अनुमान की संभावना है। विपर्यस्त शास्त्रकार सत्-असत् स्वभाव का आरोप करते हैं। जब शास्त्रकार ही भ्रान्त होते हैं, तो दूसरों का क्या भरोसा; किन्तु यथावस्थित वस्तुस्थिति में इसकी संभावना नहीं है।

प्रत्यक्ष

ज्ञान के स्वरूप को हम कभी नहीं जानेंगे किन्तु हम उसे साक्षात् और परोक्ष में विभक्त कर सकते हैं। इसी विभाग के आधार पर ज्ञानमीमांसा का शास्त्र आश्रित है। साक्षात् को हम इन्द्रिय-व्यापार और परोक्ष को विकल्प कह सकते हैं। अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, सविकल्प नहीं है। यह वस्तु के स्वलक्षण का ग्रहण करता है। यह नामजात्यादि (जाति, द्रव्य, गुण, कर्म, नाम) का ग्रहण नहीं करता। जात्यादि विकल्प हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष जात्यादि से असंयुत है। यह कल्पना से अपोढ़ है। सविकल्प प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह मन-इन्द्रिय द्वारा जात्यादि का विवेचन करके विषय का ग्रहण करता है। यह इन्द्रिय से वस्तु का आलोचन मात्र नहीं है। वस्तुमात्र का जो प्रथम संमुग्ध ग्रहण होता है, वही निर्विल्प प्रत्यक्ष है। यही शुद्ध प्रत्यक्ष है। पश्चात् मन द्वारा (नामस्मृति से) वस्तु के नाम का ज्ञान होता है। इसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। यह इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जन्य नहीं है। यह इन्द्रिय व्यापार से उत्पन्न नहीं होता। अन्य मतों के अनुसार सविकल्प भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि यह इन्द्रिय-व्यापार से जन्य है और इन्द्रिय-व्यापार उस समय भी उपरत नहीं होता जब सविकल्प का उत्पाद होता है, क्योंकि इसका अपरोक्ष-भास होता है। किन्तु बौद्ध कहते हैं कि यह कहना कि सविकल्प प्रत्यक्ष है और साथ ही साथ यह अपरोक्षावभास है, परस्पर विरोधी हैं। वस्तुसंज्ञा का अवभास इन्द्रिय को नहीं होता। संज्ञाकरण और प्रत्यभिज्ञा की क्रिया वर्तमान अनुभव और अतीतानुभव के विषयों के एकीकरण से होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान को अभ्रान्त होना चाहिये। प्रत्यक्ष ज्ञान तभी प्रमाण हो सकता है जब कि वह विपर्यस्त न हो। भ्रान्ति भी दो प्रकार की है—१. मुख्य विभ्रम, जिसके अनुसार सभी व्यावहारिक ज्ञान एक प्रकार का विभ्रम है और २. प्रतिभासिकी भ्रान्ति। प्रत्यक्ष ग्राह्य-रूप (परमार्थसत् में) में अविपर्यस्त होता है।

मानस-प्रत्यक्ष

इन्द्रियाश्रित ज्ञान प्रत्यक्ष का केवल एक प्रकार है। एक दूसरा प्रत्यक्ष है, जिसे मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में इसका एक क्षण होता है; यह इन्द्रिय ज्ञान के विषय

क्षण से उत्तर क्षण है। इन्द्रिय और विकल्प का मौलिक भेद स्थापित कर प्रमाणवाद को इनके सहकारित्व को समझाने की आवश्यकता पड़ी। इन दोनों को पृथक् कर इन्हें पुनः मिलाने के लिए विवश होना पड़ा। पूर्व बौद्धधर्म में एक वर्णधर्म एक चक्षुधर्म और एक मनोधर्म के हेतु-प्रत्ययवश वर्ण का ज्ञान होता है। इन्द्रिय और विकल्प का भेद स्थापित कर दिङ्नाग ने मन का लोप कर चक्षुरिन्द्रिय के स्थान में शुद्ध इन्द्रियविज्ञान को रखा। इस प्रकार वर्ण-ज्ञान को शुद्ध इन्द्रियविज्ञान के क्षण से समझाया, जिसके अनन्तर विकल्प निर्माण होता है। इन्द्रिय विज्ञान के लिए देश का नियत करना विकल्प का काम हो गया। यह क्षण प्रत्यक्ष और अविकल्प हैं। पहला क्षण शुद्ध इन्द्रियविज्ञान है; दूसरा क्षण मानस प्रत्यक्ष है। चक्षु का जब व्यापार होता है तब रूपज्ञान चक्षुराश्रित होता है। जब चक्षु का व्यापार उपरत हो जाता है तब मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

योगि-प्रत्यक्ष

इन्द्रियविज्ञान के प्रथम क्षण में जैसा स्फुटाभ ज्ञान होता है वैसा उत्तर क्षण में विकल्प निर्माण से नहीं होता। सविकल्पक ज्ञान अस्फुटाभ होता है। योगि प्रत्यक्ष से भाव्य-मान अर्थ का दर्शन योगी को होता है। वह अतीत भविष्यत् को उसी प्रकार जान सकता है, जिस प्रकार वर्तमान को। यह प्रत्यक्ष अलौकिक योगज सन्निकर्ष से जन्य है। इतर प्रत्यक्ष के तुल्य यह भी प्रत्यक्ष है। स्फुटाभ होने से निर्विकल्पक है। प्रमाण शुद्ध और अर्थग्राही होने से संवादक है।

स्वसंवेदन

सौत्रान्तिक योगाचार का मत है कि सर्वज्ञान स्वप्रकाश है। जिस प्रकार दीपक समीप की वस्तुओं को प्रकाशित करता है और साथ ही साथ अपने को भी प्रकाशित करता है, प्रदीप स्वप्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाश पर निर्भर नहीं रहता उसी प्रकार ज्ञान स्वप्रकाश है।

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान का स्वतः प्रत्यक्ष होता है। कुमारिल के अनुसार ज्ञान-क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह ज्ञातता या प्राकट्य से अनुमित होती है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु इसका स्वतः प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्तःकरण अर्थात् मनद्वारा अन्य ज्ञान से होता है। ज्ञान का अनुमान ज्ञातता से नहीं होता। एक ज्ञान का प्रत्यक्ष दूसरे ज्ञान से होता है जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। ज्ञान पर-प्रकाशक है, स्वप्रकाशक नहीं है। ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य है।

सांख्य-योग का मत है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष आत्मा द्वारा होता है, अन्य ज्ञान से नहीं होता; क्योंकि ज्ञान अचेतन है। चित्त स्वप्रकाश नहीं है, क्योंकि चित्त आत्मा का दृश्य है। जिस प्रकार इतर इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियार्थ स्वप्रकाश नहीं है,क्योंकि वह दृश्य हैं, उसी प्रकार चित्त (= मन) भी स्वप्रकाश नहीं है। तब यह अर्थ का प्रकाश कैसे करता है? सांख्य-योग पुरुष की सत्ता को स्वीकार करता है। यह इसे ज्ञाता और भोक्ता मानता है। पुरुष प्रकाश-स्वभाव है। प्रकाश पुरुष का गुण नहीं है। स्वाभास पुरुष का प्रतिबिम्ब अचेतन बुद्धि पर पड़ता है

और यह पुरुष बुद्धि की अवस्था को स्वावस्था के रूप में विपर्यासवश ग्रहीत करता है। पुरुष न अत्यन्त बुद्धि सरूप है और न अत्यन्त विरूप है। यह बुद्धि से भिन्न है। किन्तु यदि पुरुष अत्यन्त सरूप नहीं है तो यह अत्यन्त विरूप भी नहीं है, क्योंकि पुरुष यद्यपि शुद्ध है तथापि बुद्धि में पुरुष के प्रतिसंक्रान्त होने से चैतन्यापन्न बुद्धि की वृत्ति को यह जानता है और अतदात्म होते हुए भी उसे तदात्मक के समान ग्रहीत करता है। बुद्धि जड़ स्वभाव है तथापि स्वाभास पुरुष के प्रतिबिंबित होने से यह चैतन्य को प्राप्त करती है।

शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है।

हीनयान में आत्मा और उसके गुणों का प्रत्याख्यान है। किन्तु वहाँ भी विज्ञान, इन्द्रिय और विषय का त्रिक है। मन-इन्द्रिय या आयतन को भी यह मानता है, जिसके चैतसिक-धर्म विषय हैं। मन विज्ञान-संतति है; यह चैतसिक धर्मों की उपलब्धि स्वतः करता है और बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष पंचेन्द्रियों द्वारा करता है।

दिङ्नाग इस वाद का प्रत्याख्यान करते हैं। मन नाम का कोई इन्द्रियान्तर नहीं है और सुखादि प्रमेय नहीं हैं। हीनयान के अन्तर्गत मन के सम्बन्ध में सर्व सम्मत कोई विचार नहीं है। सर्वास्तिवादी मन-इन्द्रिय का बुद्धि से तादात्म्य मानता है। इनके अनुसार चित्त, मन और विज्ञान का एक ही अर्थ है। किन्तु थेरवादी विज्ञान के साथ हृदय धातु भी मानते हैं।

दिङ्नाग नैयायिकों के मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि न्यायसूत्र [१।१।१२] में भी केवल पांच इन्द्रियां गिनाई गई हैं। किन्तु वात्स्यायन कहते हैं कि मन इन्द्रिय है। ज्ञाता इन्द्रिय द्वारा व्यवसाय करता है, क्योंकि यदि इन्द्रिय-विशेष विनष्ट हो जाये तो अनुव्यवसाय (मैं इस घट के ज्ञान से संयुक्त हूँ) की उत्पत्ति नहीं होती।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि आप बताइये कि आत्मा और आत्मीय वेदना और संज्ञा की उपलब्धि कैसे होती है। भाष्यकार उत्तर देते हैं कि यह अन्तःकरण (मन) द्वारा होती है। मन इन्द्रिय है, यद्यपि सूत्र में मन का पृथक् उल्लेख है। इसका कारण यह है कि मन इन्द्रिय पंचेन्द्रिय से कुछ बातों में भिन्न है। इस सूत्र में भी षष्ठेन्द्रिय मन का निषेध नहीं किया गया है। दिङ्नाग उत्तर देते हैं कि यदि अनिषेध से ग्रहण समझा जावे तो अन्य इन्द्रियों का उल्लेख वृथा है, क्योंकि उनका अस्तित्व सभी मानते हैं। दिङ्नाग अन्तरिन्द्रिय का प्रत्याख्यान करते हैं और उसके स्थान में मानस-प्रत्यक्ष मानते हैं।

सर्व ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक में विभक्त है, किन्तु ग्राहक अंश को इसी प्रकार पुनः विभक्त नहीं कर सकते, क्योंकि विज्ञान के दो भाग नहीं होते। अतः स्वसंवेदन को बाह्य प्रत्यक्ष के तुल्य समझना अयुक्त है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में प्रथम क्षण के अनन्तर विकल्प अनुगमन करता है। निःसन्देह आत्मा का ज्ञान स्वसंवेदन होता है, किन्तु इसके अनन्तर विकल्प नहीं

होता। चित्त की कोई अवस्था नहीं है, जिसमें यह संवेदन प्रत्यक्ष न होता हो। यदि हम नीलादि देखते हैं और साथ साथ सुखादि आकार का संवेदन होता है तो यह नहीं कह सकते कि यह सुखादि रूप नीलादि से उत्पन्न इन्द्रिय विज्ञान के तुल्य आकार है। किन्तु जब किसी बाह्य अर्थ यथा नीलादि का दर्शन होता है तो तुल्य काल में सुखादि आकार से किसी अन्य का संवेदन होता है। यह स्वात्मा की अवस्था का संवेदन है। वस्तुतः जिस रूप में आत्मा का वेदन होता है वह रूप प्रत्यक्ष का आत्म-संवेदन है। अतः रूपदर्शन के साथ साथ हम किसी एक अन्य वस्तु का अनुभव करते हैं, जो दृष्ट अर्थ से अन्य है, जो प्रत्येक चित्तावस्था के साथ होता है और जिसके बिना कोई चित्तावस्था नहीं होती। यह वस्तु स्वात्मा है। वह ज्ञान ही है। इसी से ज्ञान का अनुभव होता है। यह ज्ञान रूपवेदन आत्मा का साक्षात्कार है; यह निर्विकल्पक और अभ्रान्त है; अतः प्रत्यक्ष है।

तुलना—इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य दर्शनों का आत्मा उपनिषदों में ब्रह्म का स्थान पाकर सांख्य में एक द्रव्य के रूप में माना जाता है। हीनयान में हम इसे विज्ञान-सन्तान के रूप में पाते हैं, जिसका कारित्र षष्ठेन्द्रिय का है। बौद्ध-न्याय में इसका यह स्थान भी विलुप्त हो जाता है और यह प्रत्येक चित्तावस्था का साहचर्य करता है।

प्रत्यक्ष पर अन्य भारतीय दर्शनों के विचार

सांख्य

प्रत्यक्ष वह विज्ञान है 'जो जिस वस्तु के संबन्ध से सिद्ध होता है उसी वस्तु के आकार को ग्रहण करता है' [सांख्यसूत्र (१।८९) यत् संबन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्]। विज्ञानभिक्षु इस लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष वह बुद्धिवृत्ति है जो वस्तु को प्राप्त होकर उस वस्तु के आकार में परिणत होती है। वस्तु के सान्निध्य से ही बुद्धि-वृत्ति नहीं उत्पन्न होती, किन्तु केवल उसका विशेष आकार उससे उत्पन्न होता है। यह आकार बुद्धिवृत्ति में निहित है। प्रत्यक्ष होने के लिए एक बाह्य वस्तु का सन्निकर्ष बुद्धि को चाहिये। और बाह्य वस्तु के ज्ञान के लिए इन्द्रिय-सन्निकर्ष चाहिये। सांख्यों के अनुसार बुद्धि का तम उसकी वृत्ति में अन्तराय है। जब उपात्त विषय में इन्द्रियों की वृत्ति के होने से यह तम अभिभूत होता है, तब अध्यवसाय (ज्ञान) होता है। ईश्वरकृष्ण प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार देते हैं:—

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" [सांख्यतत्वकौमुदी, ५]

वाचस्पति मिश्र इस लक्षण का भाष्य इस प्रकार करते हैं :—प्रथम प्रत्यक्ष का एक वास्तविक विषय होना चाहिये। यह संशय का व्यवच्छेद करता है। विषय बुद्धिवृत्ति को अपने आकार में परिणत करता है। प्रत्यक्ष के विषय बाह्य और आभ्यन्तर दोनों है, पृथिव्यादि स्थूल पदार्थ और सुखादि सूक्ष्म पदार्थ।

पुनः विषय विशेष के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय विशेष की वृत्ति की आवश्यकता होती है। यह वृत्ति इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के रूप में होती है। इससे अनुमान, स्मृत्यादि पराकृत होते हैं। पुनः इसके अतिरिक्त बुद्धिवृत्ति भी चाहिये। बुद्धि-व्यापार से विषय का निश्चित ज्ञान होता है। परिणाम स्वरूप अध्यवसाय अर्थात् निश्चित ज्ञान उत्पन्न होता है।

वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि बाह्येन्द्रिय वस्तु का आलोचन कर मन को समर्पण करता है, मन संकल्प कर अहंकार को समर्पण करता है, अहंकार अभिमति देकर बुद्धि को समर्पण करता है। बाह्येन्द्रिय मन और अहंकार यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि भोग अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए इनकी एक वाक्यता सिद्ध होती है।

बाह्येन्द्रियों की वृत्ति वस्तु का आलोचन-मात्र है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। सविकल्पक मन की उत्पत्ति है। जब वस्तु का आलोचन इन्द्रिय से होता है तब मन का संकल्प रूप व्यापार होता है। मन विशेषण-विशेष्यभाव से विवेचन करता है। "यह वह है, वह नहीं है" (इदमेवम्, नैवम्)। पहले निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यह बालमूक के ज्ञान के समान होता है। पश्चात् जात्यादि धर्मों से वस्तु का विवेचन होता है, समान असमान-जातीय का व्यवच्छेद होता है। यह मन का व्यापार है। यह सविकल्पक है। जब बाह्येन्द्रिय से वस्तु का आलोचन कर मन द्वारा विशेषण-विशेष्यभाव का विवेचन होता है, तब अहंकार उस ज्ञान को स्वीकृत करता है। यहाँ मैं अधिकृत हूँ, मेरे लिए यह विषय है, मुझसे अन्य कोई यहाँ अधिकृत नहीं है, अतः मैं हूँ। यह जो अभिमान होता है उसे अहंकार कहते हैं। असाधारण व्यापार होने से इसे अहंकार कहते हैं। इस प्रकार जो पहले विषय का अवैयक्तिक ग्रहण था वह अहंकार से वासित होकर व्यक्तिगत अनुभव हो जाता है।

जब मन से विवेचित होकर सविकल्पक ज्ञान अहंकार द्वारा अभिमत होता है, तब बुद्धि की अध्यवसायात्मक वृत्ति होती है। ज्ञात वस्तु के प्रति क्या कर्तव्य है, क्या प्रवृत्ति होनी चाहिये इस प्रकार का विनिश्चय, अध्यवसाय-बुद्धि का असाधारण व्यापार है।

सांख्य के अनुसार बाह्य प्रत्यक्ष के लिए अन्तःकरण और बाह्येन्द्रिय का संयोग चाहिये। अन्तःकरण—बुद्धि, अहंकार और मन—एक स्वभाव के हैं; यह एक दूसरे से पृथक् द्रव्य नहीं हैं। इन तीनों को मिला कर एक अन्तःकरण होता है। वृत्ति के तारतम्य के अनुसार यह तीन हैं।

न्याय

गौतम के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो अव्यभिचारी ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। यह दो प्रकार का है—अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक। वास्तव में इन्द्रिय का अर्थ से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से संयोग होता है। किन्तु अन्तिम दो संयोग प्रत्यक्ष की विशेषता नहीं हैं। वह अनुमानादि प्रमाणों को भी सामान्य है। अतः प्रत्यक्ष के लक्षणों में इन संयोगों का उल्लेख नहीं है।

वात्स्यायन कहते हैं कि मन भी इन्द्रिय है। इसलिए सुख दुःखादि का संवेदन भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है।

विश्वनाथ कहते हैं कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसका अपर ज्ञानकरण नहीं है। यह अनुमान, उपमान, स्मृति, शब्दज्ञान का निरसन करता है; क्योंकि इन ज्ञानों का करण अपर ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान नाम से असंयुत है। सविकल्पक वस्तु के नाम का भी ग्रहण करता है। नैयायिकों का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विशेष्य और विशेषण का ग्रहण करता है किन्तु उनके संबन्ध का ग्रहण नहीं करता।

मीमांसा

जैमिनि लगभग वही लक्षण बताते हैं जो नैयायिक बताते हैं। जैमिनि कहते हैं कि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय धर्म का ग्रहण नहीं होता। वह केवल इतना कहते हैं कि इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह ज्ञान पुरुष में होता है।

प्रभाकर के अनुसार साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में त्रिपुटी संवित् होती है—आत्मा जो ज्ञाता है उसकी संवित्ति, ज्ञेयवस्तु की संवित्ति और ज्ञान की संवित्ति। प्रत्यक्ष क्रिया दो प्रकार की है—निर्विकल्पक, सविकल्पक। प्रत्यक्ष का ज्ञान अन्य प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता। यह स्वसंवेद्य है।

वैशेषिक

प्रशस्तपाद का मत है कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के अनन्तर ही वस्तु के स्वरूपमात्र का प्रत्यक्ष होता है। यह निर्विकल्प है। यह सामान्य विशेष सहित वस्तु का आलोचनमात्र है। किन्तु इस ज्ञान में सामान्य-विशेष ज्ञान अभिव्यक्त होते हैं। यह ज्ञान की पूर्वावस्था है। इसमें पूर्व प्रमाणान्तर नहीं है। इसका फल रूपत्व नहीं है। सविकल्प विशेष वस्तु का ग्रहण है।

अनुमान

स्वार्थानुमान

अनुमान दो प्रकार का है—परार्थानुमान और स्वार्थानुमान। परार्थानुमान शब्दात्मक है (सिलॉजिज्म); स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है। दोनों में अत्यन्त भेद होने से इनका लक्षण एक नहीं है। परार्थानुमान वह है जिससे दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित कराते हैं। स्वार्थानुमान अपनी प्रतिपत्ति के लिए है। पहले हम स्वार्थानुमान का लक्षण वर्णित करेंगे। जो ज्ञान त्रिरूप लिंग से उत्पन्न होता है और जिसका आलंबन अनुमेय है, वह स्वार्थानुमान है। अनुमान में भी प्रत्यक्ष के तुल्य प्रमाणफल की व्यवस्था है। यथा नीलसरूप प्रत्यक्ष का अनुभव होने पर नीलबोधरूप अवस्थापित होता है। यही नीलसरूप जो अवस्थापन का हेतु है, प्रमाण है और नीलबोधरूप प्रमाणफल है। इसी प्रकार अनुमान के नीलाकार उत्पन्न होने पर नीलबोधरूप अवस्थापित होता है। नीलसारूप्य इसका प्रमाण है और नीलविकल्पनरूप इसका प्रमाण-फल है। सारूप्यवश ही नील प्रतीतिरूप सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं।

लिंग की त्रिरूपता

लिंग हेतु को कहते हैं। इसके तीन रूप हैं।

लिंग का अनुमेय में होना (सत्व) प्रथम रूप है। इसका होना निश्चित है, क्योंकि लिंग योग्यता के कारण नहीं किन्तु इसलिए है कि आवश्यक रूप से परोक्ष ज्ञान का निमित्त है। अदृष्ट बीज भी अंकुर के उत्पादन की योग्यता रखता है किन्तु अदृष्ट धूम से अग्नि की प्रतिपत्ति नहीं होती यह प्रतिपत्ति भी नहीं होती कि अमुक स्थान में अग्नि है। लिंग की तुलना उस दीप के प्रकाश से भी नहीं हो सकती जो घटादि को प्रकाशित करता है। यह परोक्षार्थ का प्रकाशन किसी वस्तु के ज्ञान के उत्पादन का हेतु है जो उपस्थित है। दीप और घट में कोई निश्चित हमको संबन्ध नहीं है। यद्यपि धूम का दर्शन है तथापि अग्नि की प्रतिपत्ति नहीं होगी जब तक अग्नि के साथ उसके निश्चित अविनाभाव का ज्ञान न हो। अतः लिंग का व्यापार परोक्षार्थ (यथा अग्नि) और दृष्टलिंग (यथा धूम) की नान्तरीयकता (अविनाभाव) का निश्चयन ही है।

इस सत्ववचन (लिंग के अनुमेय में होने से) से असिद्ध लिंग का निरसन होता है। लिंग को पक्ष के एक देश में प्रसिद्ध न होना चाहिये। यथा—वृक्ष चेतन हैं क्योंकि वह सोते हैं, किन्तु सब वृक्ष नहीं सोते, क्योंकि उनका स्वाप केवल एक देश में सिद्ध है। अतः अनुमान नहीं है।

लिंग का द्वितीय रूप उसका सपक्ष में ही निश्चित सत्व है।

इस सत्व ग्रहण से विरुद्ध का निरसन होता है, क्योंकि वह सपक्ष में नहीं है। साधारण अनैकान्तिक का भी निरसन है। वह सपक्ष में ही नहीं किन्तु उभयत्र वर्तमान है। सपक्ष में ही लिंग का सत्व है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सब सपक्ष में इसे होना चाहिये, किन्तु इसका यह अर्थ है कि असपक्ष में न होना चाहिये।

लिंग का तृतीय रूप लिंग का असपक्ष में निश्चित असत्व है।

असत्व ग्रहण से विरुद्ध का निरास होता है, क्योंकि विरुद्ध विपक्ष में होता है। साधारण का भी निरास है क्योंकि वह सब सपक्षों में होता है और असपक्ष के एक देश में भी होता है। यथा—शब्द बिना प्रयत्न के होते हैं। हेतु—क्योंकि वह अनित्य हैं। इस उदाहरण में अनित्यत्व लिंग है। यह विपक्ष के एक देश में है। यथा—विद्युत् आदि में (जो बिना प्रयत्न के होते हैं और अनित्य हैं) और दूसरे देश में यथा आकाशादि में नहीं हैं, जो बिना प्रयत्न के नहीं होता किन्तु नित्य है। यहाँ अनुमेय जिज्ञासित धर्मी है।

सपक्ष वह है जिसका पक्ष समान है। यह समान अर्थ है; यह अनुमेय के सदृश है। यह सामान्य क्या है जो पक्ष और सपक्ष को मिलाता है। यह साध्य धर्म की समानता के कारण है।

असपक्ष सपक्ष से अन्य या उसके विरुद्ध अथवा सपक्ष का अभाव है। जब तक सपक्ष के स्वभाव का अभाव नहीं जाना जाता, तब-तक सपक्ष से अन्य और उसके विरुद्ध की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः सपक्षाभाव अन्य दो के अन्तर्गत है।

त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार

त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य।

अनुपलब्धि हेतु—अनुपलब्धि का प्रयोग इस प्रकार है:–उस देश-विशेष में घट नहीं है। हेतु—उसका ज्ञान प्रतिपत्ता को नहीं होता यद्यपि ज्ञान का लक्षण अर्थात् हेतु-प्रत्यय-सामग्री प्राप्त है। ज्ञान का जनक घट भी है; और अन्य चक्षुरादि भी जनक हैं। दृश्य घट के अतिरिक्त प्रत्ययान्तर हैं और उनकी सन्निधि है। जिसे हम अनुपलब्धि कहते हैं, वह ज्ञान का अभाव नहीं है किन्तु वस्तु है और उसका ज्ञान है। दर्शननिवृत्तिमात्र स्वयं अनिश्चित होने से गमक नहीं है। किन्तु जब हम अनुपलब्धि की बात करते हैं, जिसका रूप दृश्य का अनुपलम्भ है, तो वचन सामर्थ्य से ही दृश्य-घट रहित प्रदेश और उनके ज्ञान का आशय होता है। अनुपलब्धि का अर्थ विविध प्रदेश और उनके ज्ञान का होना है।

स्वभाव हेतु—जिस साध्य की विद्यमानता हेतु की अपनी सत्ता की ही अपेक्षा करती है, हेतुसत्ता व्यतिरिक्त किसी हेतु की अपेक्षा नहीं करती, उस साध्य में जो हेतु है वह स्वभाव है।

प्रयोग—यह वृक्ष है (साध्य)। हेतु—क्योंकि यह शिंशपा है। इसका अर्थ यह है कि इसके लिए वृक्ष शब्द का व्यवहार हो सकता है, क्योंकि इसके लिए शिंशपा का व्यवहार हो सकता है। अब यदि किसी मूढ़ पुरुष को जो शिंशपा का व्यवहार नहीं जानता और ऐसे देश में रहता है जहाँ प्रचुर शिंशपा है, उसे कोई व्यक्ति एक ऊँचा शिंशपा दिखलाकर बतावे कि यह वृक्ष है, तो वह जड़ पुरुष समझेगा कि शिंशपा का उच्चत्व वृक्ष-व्यवहार में निमित्त है। इसलिए एक छोटा शिंशपा देखकर वह समझेगा कि यह वृक्ष नहीं है। इस मूढ़ को बताना चाहिये कि प्रत्येक शिंशपा के लिए वृक्ष का व्यवहार होता है। उच्चत्वादि वृक्ष-व्यवहार के निमित्त नहीं हैं, किन्तु केवल शिंशपात्वमात्र निमित्त है।

कार्य हेतु—यह हेतु कार्य है।

प्रयोग—यहाँ अग्नि है। हेतु—क्योंकि यहाँ धूम है। 'अग्नि' साध्य है; 'यहाँ' धर्मी है; 'क्योंकि धूम है' हेतु है। कार्यकारणभाव की प्रतीति लोक में है। जहाँ कार्य है वहाँ कारण है और जहाँ कारण की विकलता है वहाँ कार्य के अभाव की प्रतीति होती है। अतः कार्य का लक्षण उक्त नहीं है।

हेतु-भेद का कारण

यह कहा जा सकता है कि जब रूप तीन हैं तो एक लिंग का होना अयुक्त है। यह भी कहा जा सकता है कि यदि यह तीन प्रकार-भेद हैं तो प्रकार अनन्त हैं।

हमारा उत्तर यह है। इन तीन हेतुओं में से दो हेतु वस्तुसाधन हैं। यह विधि के गमक हैं। एक प्रतिषेध का हेतु है। यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रतिषेध से आशय अभाव और अभाव-व्यवहार का है। इसका अर्थ यह है कि हेतु साध्य को सिद्ध करता है, इसलिए वह साध्य का अंग है। साध्य प्रधान है। अतः (साध्य के उपकरण) हेतु के भेद साध्य के भेद से होते हैं, न कि स्वरूप-भेद से। साध्य कभी विधि है, कभी प्रतिषेध; क्योंकि विधि और प्रतिषेध एक दूसरे का परिहार है। इसलिए इनके हेतु एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई विधि हेतु से भिन्न है, कोई अभिन्न है (स एव वृक्षः, सैव शिंशपा)। भेद और अभेद एक दूसरे का त्याग करते हैं। इसलिए उनकी आत्म-स्थिति के हेतु भी भिन्न हैं। अतः साध्य के हेतु भिन्न हैं, क्योंकि साध्य में परस्पर विरोध है। किन्तु हेतु स्वतः एव भिन्न नहीं है।

पुनः ऐसा क्यों है कि इन्हीं तीन का हेतुत्व है। अन्य का हेतुत्व क्यों नहीं है?

क्योंकि एक दूसरे का तभी जनक होता है, जब वह दूसरे से स्वभावेन प्रतिबद्ध हो (यथा धूम का अग्नि से स्वभाव-प्रतिबंध है)। स्वभाव-प्रतिबन्ध होने पर ही साधनार्थ साध्यार्थ का ज्ञान कराता है। इसलिए तीन ही गमक हैं, अन्य नहीं।

इसका क्या कारण है कि स्वभाव-प्रतिबन्ध होने पर ही गम्यगमकभाव होता है, अन्यथा नहीं?

क्योंकि जो स्वभाव से अप्रतिबद्ध हैं, उनके लिए अव्यभिचार नियम का अभाव है।

साध्य और साधन में कौन किसका प्रतिबन्ध है?

साध्य में लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध है। लिंग परायत्त है; इसलिए वह प्रतिबद्ध है। साध्य अर्थ अपरायत्त है; इसलिए वह प्रतिबद्ध नहीं है। जो प्रतिबद्ध है वह गमक है; जो प्रतिबन्ध का विषय है वह गम्य है।

लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध क्यों है?

क्योंकि वस्तुतः साधन साध्यस्वभाव है, अथवा साध्य अर्थ से लिंग की उत्पत्ति होती है। यदि साध्यस्वभाव साधन है, यदि उनका तादात्म्य है, तो साध्य साधन का अभेद होगा। इसीलिए कहा है कि वस्तुतः अर्थात् परमार्थसत् रूप में इनका अभेद है।

इसका क्या कारण है कि इन दो निमित्तों (स्वभाव और कार्य) से ही लिंग का स्वभाव-प्रतिबंध होता है, अन्य से नहीं?

क्योंकि जब तादात्म्य नहीं होता या इसकी उत्पत्ति उससे नहीं होती तब स्वभाव-प्रतिबंध नहीं होता। इसलिए कार्य और स्वभाव से ही वस्तु की विधि की सिद्धि होती है।

प्रतिषेध की सिद्धि

ऐसा क्यों है कि जब प्रतिषेधवश पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, तो हम अदृश्य की अनुपलब्धि को सिद्धि का हेतु नहीं मानते?

प्रतिषेध-व्यवहार की सिद्धि पूर्वोक्त दृश्यानुपलब्धिवश होती है, अन्य से नहीं होती। प्रश्न है कि उसी से क्यों होती है? क्योंकि यदि प्रतिषेध्य वस्तु विद्यमान होती तो दृश्य की अनुपलब्धि संभव न होती। इसके असंभव होने से प्रतिषेध की सिद्धि होती है। अभाव-व्यवहार की सिद्धि तब होती है जब प्रतिपत्ता के अतीत या वर्तमान प्रत्यक्ष की निवृत्ति होती है, यदि इसका स्मृतिसंस्कार भ्रष्ट न हो गया हो। अतीत और वर्तमान काल की अनुपलब्धि ही अभाव का निश्चय करती है। अनागत अनुपलब्धि स्वयं संदिग्ध स्वभाव की है। क्योंकि वह असिद्ध है, इसलिए अभाव का निश्चय नहीं करती।

अनुपलब्धि के प्रकार-भेद

अब अनुपलब्धि के प्रकार-भेद बताते हैं। इसके ११ भेद हैं। यह प्रयोगवश होते हैं। शब्द के अभिधान-व्यापार को प्रयोग कहते हैं। शब्द कभी साक्षात् अर्थान्तर को सूचित कर अनुपलब्धि को सूचित करता है; कभी प्रतिषेधान्तर का अभिधायी होता है। दृश्यानुपलब्धि सर्वत्र जानी जायगी, चाहे वह शब्द से सूचित न भी हो। अतः वाचक के व्यापारभेद से अनुपलब्धि का प्रकार-भेद होता है। स्वरूप-भेद नहीं है।

अब प्रकार-भेद बताते हैं—

१. प्रतिषेध्य के स्वभाव की अनुपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) धुवां नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि उपलब्धि के लक्षण प्राप्त होने पर भी अनुपलब्धि है।

२. प्रतिषेध्य के कार्य की अनुपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) धूमोत्पत्ति का अनुपहत सामर्थ्य रखने वाले कारण नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि धूम का अभाव है।

३. व्याप्य (प्रतिषेध्य) का जो व्यापक धर्म है, उसकी अनुपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) शिंशपा नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि व्यापक अर्थात् वृक्ष का अभाव है। समान विषय में अभावसाधन का यह प्रयोग है।

४. प्रतिषेध्य के स्वभाव के विरुद्ध की उपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) शीतका स्पर्श नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि यहाँ अग्नि है।

५. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है उसके कार्य की उपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) शीत का स्पर्श नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि यहाँ धूम है।

६. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है उससे व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि।

यथा—जात वस्तु का (भूत का) भी विनश्वर स्वभाव (धर्मी) ध्रुवभावी नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि उनका विनाश हेत्वन्तर की अपेक्षा करता है।

७. प्रतिषेध्य का जो कार्य है उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) शीतजनन के अनुपहत सामर्थ्य के कारण नहीं हैं (साध्य)।

हेतु—क्योंकि यहाँ अग्नि है।

जहाँ शीतकारण अदृश्य है और शीतस्पर्श अदृश्य है, वहाँ इस हेतु का प्रयोग होता है। जहाँ शीतस्पर्श होता है, वहाँ द्वितीय हेतु का प्रयोग करते हैं। जहाँ शीत के कारण दृष्ट होते हैं, वहाँ प्रथम हेतु का प्रयोग होता है।

८. प्रतिषेध्य का जो व्यापक है उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) तुषारस्पर्श नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि यहाँ अग्नि है।

यहाँ तुषारस्पर्श व्याप्य है और शीतस्पर्श व्यापक है। शीतस्पर्श दृश्य नहीं है।

९. प्रतिषेध्य का जो कारण है उसकी अनुपलब्धि।

यथा—यहाँ (धर्मी) धुआँ नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि अग्नि नहीं है।

१०. प्रतिषेध का जो कारण है उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि।

यथा—उसके (धर्मी) रोमहर्षादि विशेष नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि दहनविशेष उसके सन्निहित है। कोई कोई दहन शीतनिवर्तन में समर्थ नहीं होता, जैसे प्रदीप। इसलिए 'दहन-विशेष' उक्त है।

११. प्रतिषेध का जो कारण है उसके जो विरुद्ध है उसका जो कार्य है उसकी उपलब्धि।

यथा—इस देश (धर्मी) में रोमहर्षादिविशेषयुक्त पुरुष नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि यहाँ धूम है।

जब रोमहर्षादिविशेष का प्रत्यक्ष होता है, तो प्रथम हेतु का प्रयोग होता है। जब कारण अर्थात् शीतस्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, तब नवें हेतु का प्रयोग होता है। जब अग्नि का प्रत्यक्ष होता है, तब दसवें हेतु का प्रयोग होता है। जब इन तीनों का प्रयोग नहीं होता, तो ग्यारहवें हेतु का प्रयोग होता है।

यदि प्रतिषेध-हेतु एक है, तो अभाव के ग्यारह हेतु क्यों वर्णित हैं? प्रथम को छोड़कर शेष दस प्रयोगों का एक प्रकार से प्रथम में अन्तर्भाव है।

अदृश्यानुपलब्धि

दृश्यानुपलब्धि का हमने विवेचन किया है। यह अभाव और अभाव-व्यवहार में प्रमाण है। अदृश्यानुपलब्धि का क्या स्वभाव है और उसका क्या व्यापार है?

अर्थ, देश, काल और स्वभाव में से किसी से या सबसे विप्रकृष्ट हो सकते हैं। इनका प्रतिषेध संशय हेतु है। इसका स्वभाव क्या है? प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की निवृत्ति इसका लक्षण है। प्रमाण से प्रमेयसत्ता की व्यवस्था होती है। अतः प्रमाण के अभाव में प्रमेय के अभाव की प्रतिपत्ति युक्त है। इसका उत्तर यह है। प्रमाण की निवृत्ति से दृश्यानुपलब्धि की सिद्धि नहीं होती। जब कारण की निवृत्ति होती है तब कार्य निवृत्त होता है। जब व्यापक की निवृत्ति होती है तब व्याप्य निवृत्त होता है। किन्तु प्रमाण प्रमेय का कारण नहीं है और न व्यापक है। अतः जब दोनों प्रमाणों की निवृत्ति होती है तब प्रमेय अर्थ की निवृत्ति सिद्ध नहीं होती और क्योंकि प्रमाण का अभाव कुछ सिद्ध नहीं करता, इसलिए अदृश्य की अनुपलब्धि संशय का हेतु है, निश्चय-हेतु नहीं है।

किन्तु यह भी युक्त है कि प्रमाणसत्ता से प्रमेयसत्ता सिद्ध होती है। प्रमाण प्रमेय का कार्य है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। किन्तु ऐसा नहीं है कि कारण का कार्य अवश्य-मेव हो। अतः प्रमाण से प्रमेयसत्ता की व्यवस्था होती है; प्रमाणाभाव से प्रमेयाभाव की व्यवस्था नहीं होती।

परार्थानुमान

परार्थानुमान वह है जिससे दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित कराते हैं। यह त्रिरूप लिंग का प्रकाशन है। यहाँ भी लिंग या हेतु या साधन के तीन रूप हैं। वह इस प्रकार हैं—

१. अन्वय

यथा—"जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है" अथवा "जो जात है वह अनित्य है"।

२. व्यतिरेक

यथा —"जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है"।

३. पक्षधर्मत्व

यथा—"यहाँ वही धूम है, जिसका वह्नि के साथ अविनाभाव है"।

परार्थानुमान शब्दात्मक है। वचन द्वारा त्रिरूप लिंग का आख्यान होता है। अनुमान को हमने पहले सम्यग् ज्ञानात्मक बताया है। इसका क्या कारण है कि अब हम उसे वचनात्मक कहते हैं।

हमारा उत्तर है कि कारण में कार्य का उपचार है। जब त्रिरूप लिङ्ग का वचनात्मक आख्यान होता है, तब उस पुरुष में त्रिरूप लिङ्ग की स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति से अनुमान होता है। उस अनुमान का त्रिरूप लिंगाभिधान परंपरया कारण है। वचन उपचार वश अनुमान है, मुख्यतः नहीं। लिंग के स्वरूप तथा उसके प्रतिपादक शब्द दोनों का

व्याख्यान होना चाहिये। स्वार्थानुमान में लिंग के स्वरूप का व्याख्यान हो चुका है। अब प्रतिपादक शब्द का व्याख्यान करना है।

अब हम परार्थानुमान के प्रकार-भेद दिखायेंगे। यह दो प्रकार का है। प्रयोग के भेद से यह द्विविध है। प्रयोग-भेद शब्द के अर्थाभिधान-भेद से होता है—साधर्म्यवत्, वैधर्म्यवत्। दृष्टान्तधर्मी के साथ साध्यधर्मी का हेतुकृत सादृश्य साधर्म्य कहलाता है। हेतुकृत असादृश्य वैधर्म्य है।

साधर्म्य यथा जो कृतक (=संस्कृत = संस्कार) है, वह अनित्य है; जैसे घटादि।

पक्षधर्मत्व—शब्द ऐसे ही कृतक हैं।

साध्य—वह अनित्य है।

वैधर्म्य—जो नित्य है वह अकृतक है, यथा आकाश। किन्तु शब्द कृतक है। वह अनित्य है।

यदि इन दोनों प्रयोगों का अर्थ भिन्न है, तो त्रिरूप लिंग अभिन्न क्यों है?

प्रयोजन की दृष्टि से इन दोनों अर्थों में भेद नहीं है। दोनों से त्रिरूप लिंग प्रकाशित होता है। केवल प्रयोग का भेद है। अभिधेय की अपेक्षा कर वचन-भेद है, प्रकाश्य अभिन्न है। यथा, पीन देवदत्त दिन में नहीं खाता। पीन देवदत्त रात्रि में खाता है। इन दो वाक्यों में अभिधेय-भेद होते हुए भी गम्यमान वस्तु एक ही है।

अब हम साधर्म्यवत् अनुमान के उदाहरण देते हैं।

अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जहाँ कहीं उपलब्धिलक्षण प्राप्त दृश्य की उपलब्धि नहीं होती, वहाँ हम उसके लिए असत् का व्यवहार करते हैं।

(दृष्टान्त) यथा जब शशविषाणादि को जिस दृश्य के लिए हम असत् व्यवहार करते हैं, हम चक्षु का विषय नहीं करते।

(पक्षधर्मत्व) एक प्रदेशविशेष में हम दृश्य घट की उपलब्धि नहीं करते।

(साध्य) अतः हम उसे असद् व्यवहार योग्य कहते हैं।

स्वभाव हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जो सत् है वह अनित्य है।

(दृष्टान्त) यथा घटादि।

(पक्षधर्मत्व) शब्द सत् है।

(साध्य) यह क्षणसन्तान है।

यह निर्विशेषण स्वभाव का प्रयोग है।

अब हम सविशेषण स्वभाव का प्रयोग बताते हैं।

(अन्वय) जो उत्पत्तिमत् है वह अनित्य है।

(दृष्टान्त) यथा घटादि।

(पक्षधर्मत्व) शब्द उत्पत्तिमत् है।

(साध्य) शब्द अनित्य है।

अनुत्पन्न से इसकी व्यावृत्ति है। यहाँ वस्तु उत्पत्ति से विशिष्ट है। यह स्वभावभूत धर्म है।

अब कल्पित भेद से विशिष्ट स्वभाव का प्रयोग बताते हैं।

(अन्वय) जो कृतक है वह अनित्य है।

(दृष्टान्त) यथा घटादि।

(पक्षधर्मत्व) शब्द कृतक है।

(साध्य) शब्द अनित्य है।

जो स्वभाव की निष्पत्ति के लिए अन्य कारणों के व्यापार की अपेक्षा करता है वह कृतक कहलाता है। इसलिए कृतक का स्वभाव व्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट है।

कार्य हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

यह वह है जहाँ हेतु कार्य है।

(अन्वय) जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है।

(दृष्टान्त) यथा महानसादि में।

(पक्षधर्मत्व) यहाँ धूम है।

(साध्य) यहाँ अग्नि है।

यह भी साधर्म्यवान् प्रयोग है।

वैधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जो सत् है उसकी अवश्य उपलब्धि होती है, यदि वह उपलब्धि लक्षण-प्राप्त है।

(दृष्टान्त) यथा नीलादि विशेष।

(पक्षधर्मत्व) किन्तु इस प्रदेशविशेष में हम किसी दृश्य-घट को नहीं देखते, यद्यपि उपलब्धि लक्षण प्राप्त है।

(साध्य) अतः यहाँ घट नहीं है।

अब उस वैधर्म्य प्रयोग को कहेंगे जो स्वभाव हेतु है। जो नित्य है वह न सत् है, न उत्पत्तिमान् है और न कृतक है।

(दृष्टान्त) यथा आकाशादि ।
(पक्षधर्मत्व) किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान् है, कृतक है ।
(साध्य) अतः शब्द अनित्य है ।
अब कार्य-हेतु का वैधर्म्य-प्रयोग बताते हैं ।
(व्यतिरेक) जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है ।
(दृष्टान्त) यथा पुष्करिणी में ।
(पक्षधर्मत्व) किन्तु यहाँ धूम है ।
(साध्य) अतः यहाँ अग्नि है ।

यहाँ भी वह्नि का अभाव धूमाभाव से व्याप्त बताया गया है। किन्तु "यहाँ धूम है" इससे व्यापक अर्थात् धूम के अभाव का अभाव उक्त है, अतः व्याप्य (अग्नि का अभाव) का भी अभाव है। और जब वह्नि के अभाव का निषेध है जो साध्यगति होती है।

अनुमान प्रयोग के अंग

नैयायिकों के प्रयोग के पाँच अङ्ग हैं, क्योंकि प्रतिज्ञा=पक्ष और निगमन=साध्य यद्यपि एक ही हैं, तथापि भिन्न वचन दिखाए गए हैं और पक्षधर्मत्व दो बार आता है।

पर्वत पर वह्नि है ।
क्योंकि वहाँ धूम है ।
यथा महानस में ।
यह धूम पर्वत पर है ।
पर्वत पर वह्नि है ।

दिङ्नाग ने प्रतिज्ञा = पक्ष, निगमन = साध्य को निकाल दिया है तथा पक्षधर्मत्व को एक ही बार रखा है। अतः बौद्धन्याय के प्रयोग के दो ही अंग होते हैं, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से एक ही बात उक्त होती है।

बौद्धन्याय का अनुमान प्रयोग

१. जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है, यथा महानस में, जहाँ दोनों हैं; अथवा जल में, जहाँ धूम नहीं है क्योंकि वहाँ अग्नि नहीं है।

२. यहाँ धूम है जो अग्नि का लिंग है। जब हम उक्त दो प्रकार के प्रयोग का उपयोग करते हैं (साधर्म्य और वैधर्म्य) तो पक्ष या साध्य को निर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि साधन (लिंग या हेतु) साध्यधर्म में प्रतिबद्ध है और साधन की प्रतिपत्ति तादात्म्य या तदुत्पत्ति से होती है। हम जिसप्रकार का भी प्रयोग क्यों न करें दोनों अवस्थाओं में साध्य एक ही है। अतएव पक्षनिर्देश अवश्यमेव होना चाहिये, ऐसा नहीं है। यदि यह प्रतीति हो कि साधन साध्यनियत है, तो हमको अन्वयवाक्य मालूम है। यदि हम किसी प्रदेशविशेष में

उस साधन की उपलब्धि करें, तो हमको साध्य प्रतीति आप ही आप हो जाती है। साध्य-निर्देश की पुनः क्या आवश्यकता है?

यही सिद्धान्त अनुपलब्धि प्रयोग को भी लागू होता है। साधर्म्यवान् प्रयोग में भी साध्यवाक्य उसी तरह अनावश्यक है।

यथा—उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी जिसका अनुपलम्भ होता है, वह असद्व्यवहार का विषय है।

इस प्रदेशविशेष में घट की उपलब्धि नहीं होती यद्यपि उपलब्धि लक्षण प्राप्त है।

"यहाँ घट नहीं है" यह सामर्थ्य से ही अवगत होता है। वैधर्म्यवत् प्रयोग में भी ऐसा ही है।

यथा—जो विद्यमान है और उपलब्धिलक्षण-प्राप्त है, उसकी अवश्य उपलब्धि होती है।

किन्तु इस प्रदेशविशेष में घट की उपलब्धि नहीं है। सामर्थ्य से ही सिद्ध होता है कि सद्व्यवहार का विषय घट यहाँ नहीं है। इसी प्रकार स्वभाव-हेतु और कार्य-हेतु दोनों में सामर्थ्य से पक्ष का समकालीन प्रत्यय होता है।

अतः पक्षनिर्देश की आवश्यकता नहीं है।

पक्ष क्या है? पक्ष वह अर्थ है जो वादी को साध्यत्वेन इष्ट है और जो प्रत्यक्षादि से निराकृत नहीं है। साध्य और असाध्य की विप्रतिपत्ति का निराकरण करना पक्ष का लक्षण है। अतः साध्यत्व ही इसका स्वरूप है। इसका अपर रूप नहीं है। जब प्रतिवादी साधन को असिद्ध मानता है, तो उसको साधनत्वेन निर्दिष्ट साध्यत्वेन इष्ट नहीं होता। मान लीजिये कि शब्द का अनित्यत्व साध्य है और हेतु चाक्षुषत्व है। क्योंकि शब्द का चाक्षुषत्व असिद्ध है, इसे हम साध्य मान सकते हैं। किन्तु यह साधन उक्त है। अतः यहाँ उसका साधनत्व इष्ट नहीं है।

वादकाल में वादी जिस धर्म को स्वयं साधना चाहता है, वही साध्य है। दूसरा धर्म साध्य नहीं है।

अर्थ तभी पक्ष है जब वह प्रत्यक्षादि से निराकृत नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि एक अर्थ में पक्ष के लक्षण विद्यमान हों तथापि यदि प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति अथवा स्ववचन से वह निराकृत होता है, अर्थात् विपरीत सिद्ध होता है तो वह पक्ष नहीं है।

यथा—१. शब्द श्रोत्र-ग्राह्य नहीं है। यह प्रत्यक्ष से निराकृत होता है। शब्द का श्रोत्रग्राह्यत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।

२. शब्द नित्य है। यह अनुमान से निराकृत है।

३. 'शशि' चंद्र शब्द वाच्य नहीं है। यह प्रतीति से निराकृत है।

४. अनुमान प्रमाण नहीं है। यह स्ववचन से निराकृत है।

हेत्वाभास

त्रिरूप में से यदि एक भी अनुक्त हो तो साधन का आभास होगा। यह साधन के सदृश है किन्तु साधन नहीं है। त्रिरूप की न्यूनता ही साधन का दोष है। प्रतिवादी या वादी को केवल अनुक्त होने पर ही नहीं किन्तु उक्त के असिद्ध होने पर या सन्देह होने पर भी हेत्वाभास होता है।

साधन की असिद्धि या सन्देह होने पर हेत्वाभास की क्या संज्ञा होती है?

यदि प्रथम रूप, यदि हेतु का धर्मी में सत्व असिद्ध है या संदिग्ध है, तो हेत्वाभास की संज्ञा असिद्ध की होती है।

असिद्ध

यथा—जब साध्य यह है कि शब्द अनित्य है, तो चाक्षुषत्ववादी प्रतिवादी दोनों के लिए असिद्ध है।

वृक्षों का चैतन्य साध्य है, क्योंकि जब सारी त्वचा का अपहरण होता है, तो उनका मरण होता है (दिगम्बर)। प्रतिवादी (बौद्ध) के लिए यह असिद्ध है। वह विज्ञान, इन्द्रिय और आयु के निरोध को मरण मानता है। वृक्षों में यह मरण असम्भव है, उनमें विज्ञान नहीं होता। इसलिए उसके निरोध का प्रश्न ही नहीं है।

साध्य है कि सुखादि अचेतन है (सांख्य)। सांख्यवादी उत्पत्तिमत्व या अनित्यत्व को लिङ्ग उपन्यस्त करते हैं, यथा रूपादि। चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। पुरुष में वेदना नहीं होती। सांख्य के मत में उत्पत्तिमत्व और अनित्यत्व दोनों असिद्ध हैं।

संदिग्धासिद्ध

अब संदिग्धासिद्ध का उदाहरण देते हैं।

यदि हेतु के सम्बन्ध में सन्देह है, अथवा हेतु के आश्रयभूत साध्यधर्मी के विषय में सन्देह है, तो संदिग्धासिद्ध है।

यथा—धूम बाष्पादि से संदिग्ध होता है।

यथा—इस निकुञ्ज (धर्मी) में मयूर है, क्योंकि हम उसकी ध्वनि सुनते हैं।

यह आश्रयासिद्ध है। यह भी सम्भव है वहाँ बहुत से पास-पास निकुञ्ज हों। यह भ्रम हो सकता है कि ध्वनि इस निकुञ्ज से आती है या किसी दूसरे से।

जब धर्मी असिद्ध है तो हेतु असिद्ध है।

यथा—आत्मा का सर्वगतत्व साध्य है।

हेतु—आत्मा के सुखदुःखादि गुण सर्वत्र उपलभ्यमान हैं।

यह हेतु असिद्ध है। बौद्ध आत्मा को नहीं मानते तो सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व कैसे सिद्ध हो।

अनैकान्तिक

जब किसी लिंग का वह रूप जिसमें उसका असपक्ष में निश्चित असत्व असिद्ध है, तो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।

यथा—साध्य है कि शब्द नित्य है।

क्योंकि वह दृश्य है।

जो दृश्य है वह नित्य है।

यथा आकाश (दृश्य और नित्य)।

घटवत् नहीं (अनित्य किन्तु अदृश्य नहीं)।

शब्द का अप्रयत्नानन्तरीयकत्व है।

क्योंकि वह अनित्य है।

जो अनित्य है वह प्रयत्नानन्तरीयक नहीं है।

यथा विद्युत् और आकाश (एक अनित्य दूसरा नित्य, किन्तु दोनों अप्रयत्नानन्तरीयक)।

घटादिवत् नहीं (जो प्रयत्नानन्तरीयक हैं और जिन्हें नित्य होना चाहिये किन्तु अनित्य हैं)।

शब्द प्रयत्नानन्तरीयक है।

क्योंकि वह अनित्य है।

जो अनित्य है वह प्रयत्नानन्तरीयक है।

यथा घट (जो प्रयत्नानन्तरीयक है)।

विद्युत्-आकाशवत् नहीं (जो ऐसे नहीं हैं, किन्तु एक अनित्य है दूसरा नित्य है)।

शब्द नित्य है।

क्योंकि वह अमूर्त है।

जो अमूर्त है वह अनित्य है।

यथा आकाश-परमाणु (जो दोनों नित्य) हैं।

घटवत् नहीं (दोनों अनित्य किन्तु पहला अमूर्त)।

इन चार दृष्टान्तों में पक्षधर्म का असत्व विपक्ष में असिद्ध है। इससे अनैकान्तिकता है।

इसी प्रकार जब यह रूप संदिग्ध है तब भी अनैकान्तिक है। यथा साध्य है कि अमुक असर्वज्ञ है अथवा रागादिमान् है। यदि प्रकृत साध्य में वक्तृत्वादि धर्म को हेतु कहे जायँ तो विपक्ष (सर्वज्ञ) में इसका असत्व संदिग्ध है। सर्वज्ञ में वक्तृत्वादिक धर्म होते हैं, अथवा नहीं। अतः अनैकान्तिक है।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं है, तो उसके वक्तृत्व के विषय में संदेह क्यों ? "सर्वज्ञ वक्ता का अनुपलम्भ है" यह संशय का हेतु है। जब कोई अदृश्य

विषय हो तो अनुपलम्भ निश्चयहेतु नहीं है, किन्तु संशयहेतु है। अतः सर्वज्ञ में वक्तृत्व का असत्व संदिग्ध है। प्रतिवादी कह सकता है कि यह अनुपलब्धि नहीं है, जिसके कारण वह कहता है कि सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव है, किन्तु वह ऐसा इसलिए कहता है, क्योंकि सर्वज्ञता का वक्तृत्व से विरोध है। हमारा उत्तर है कि विरोध नहीं है। इसलिए यह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सन्देह है, विरोध का अभाव है; इसलिए सन्देह है। सन्देह के कारण व्यतिरेक की असिद्धि है। विरोध का अभाव कैसे है? विरोध द्विविध है, अन्य प्रकार का नहीं है।

विरोध

विरोध क्या है? यदि कारण-वैकल्य से किसी का अभाव होता है, तो उसका किसी से विरोध नहीं होता। किन्तु जब तक समग्र कारण अविकल रहते हैं, तब तक उस वस्तु की निवृत्ति कोई नहीं कर सकता। इसलिए उसका कोई विरोध कैसे कर सकता है?

किन्तु निम्न प्रकार से यह संभव है। अविकल कारण के होने पर भी जिसके द्वारा कारण-वैकल्य होकर अभाव होता है, उससे विरोध है। ऐसा होने पर जो जिसके विरुद्ध है, वह उसको क्षति पहुँचाता है। यदि कोई शीतस्पर्श का जनक होकर अन्य शीतस्पर्श की जनन शक्ति में प्रतिबंध होता है, तो वह शीतस्पर्श का निवर्तक होता है, और इस अर्थ में विरुद्ध है। अतः हेतु वैकल्य का करने वाला जो निवर्तक है, वह विरुद्ध है।

एक ही क्षण में दो विरुद्धों का सहावस्थान संभव नहीं है। दूरस्थ होने से विरोध नहीं होता। अतः निकटस्थ का ही निवर्त्य-निवर्तकभाव होता है। इसलिए जो जिसका निवर्तक है, वह उसको तृतीय क्षण से कम में नहीं हटा सकता। प्रथम क्षण में सन्निपात होता है; द्वितीय में वह विरुद्ध को असमर्थ करता है; तृतीय में असमर्थ निवृत्त होता है और वह उस देश को आक्रान्त करता है। उष्णस्पर्श से शीतस्पर्श की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार आलोक जो गतिधर्मा है, क्रमेण जलतरंगवत् देश को आक्रान्त कर अन्धकार में निरन्तर आलोक क्षण उत्पन्न करता है। तब आलोक का समीपवर्ती अंधकार असमर्थ हो जाता है। तदनन्तर उसकी निवृत्ति होती है और अन्धकार क्रमेण आलोक से अपनीत होता है। जब आलोक उस अंधकार देश में उत्पन्न होता है, तब जिस क्षण से आलोक का जनक क्षण उत्पन्न होता है उसी क्षण से अंधकार अंधकारान्तर के जनन में असमर्थ हो जाता है। अतः जिस क्षण में जनक होता है, उससे तीसरे क्षण में अंधकार निवृत्त होता है, यदि शीघ्र निवृत्त हो। यह दो सन्तानों का विरोध है, न कि दो क्षणों का। यद्यपि सन्तान नाम की कोई वस्तु नहीं है, तथापि सन्तानी वस्तुभूत हैं। अतः परमार्थ यह है कि दो क्षणों का विरोध नहीं है, किन्तु बहुक्षणों का। जब तक दहन के क्षण रहते हैं, तब तक शीत क्षण प्रवृत्त होते हुए भी निवृत्त होते हैं।

अब हम दूसरे प्रकार का विरोध दिखलाते हैं। जिन दो का लक्षण परस्पर परिहार का है उनका भी विरोध होता है। नील के परिच्छिद्यमान (नील का ज्ञान) होने पर

तादात्म्य-अभाव (अनील) का अवच्छेद होता है। यदि इसका अवच्छेद न होता तो नील के अपरिच्छेद का (अज्ञान) प्रसंग होता। इसलिए वस्तु का भाव और अभाव परस्पर परिहार के रूप में स्थित हैं। जो नील से अन्य रूप है, वह नीलाभाव में अवश्य अन्तर्भूत है। जब हम पीतादि की उपलब्धि करते हैं, तब नील का अनुपलम्भ होता है और उसके अभाव का निश्चय होता है, क्योंकि जैसे नील अपने अभाव का परिहार करता है, उसी तरह पीतादिक भी अपने अभाव का परिहार करते हैं। अतः भावाभाव का (नील और अनील का) साक्षात् विरोध है और दो वस्तुओं का (नील और पीत का) विरोध है, क्योंकि वे अन्योन्य अभाव को अन्तर्भूत करने में व्यभिचार नहीं करते।

किन्तु वह क्या है जिसे हम अन्यत्र अभाव मानते हैं?

यह उसका नियताकार अर्थ है। यह अनियताकार अर्थ नहीं है, यथा क्षणिकत्व। क्योंकि सभी नीलादि का स्वरूप क्षणिकत्व है, इसलिए नियताकार नहीं है। यदि हम क्षणिकत्व का परिहार करें तो कुछ भी नहीं दिखाई देगा।

यदि ऐसा है तो अभाव भी नियताकार नहीं है। क्यों? यह अनियताकार क्यों हो? क्योंकि इस अभाव का वस्तुरूप कल्पित विविक्ताकार है, इसलिए यह अनियताकार नहीं है। इसलिए जब हम अन्यत्र किसी वस्तु के अभाव को उपलब्ध करते हैं तो हम उसे अनियताकार में नहीं किन्तु नियत रूप में, चाहे वह दृष्ट हो या कल्पित, उपलब्ध करते हैं। इसलिए जब हम नित्यत्व का निषेध करते हैं, अथवा जब हम पिशाचादि की उपलब्धि का प्रत्याख्यान करते हैं, तो हमको जानना चाहिये कि इनको नियताकार होना चाहिये।

यह विरोध एकात्मकत्व का विरोध है। जिन दो का परस्पर परिहार है उनका एकत्व नहीं होता। इस विरोध को इसीलिए 'लाक्षणिक विरोध' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस विरोध से वस्तुतत्व का विभक्तत्व व्यवस्थापित होता है। अतएव यदि किसी दृश्यमान रूप में हम किसी दूसरे का निषेध करते हैं, तो हम उस दृश्य का अभ्युपगम करके ही उसका निषेध करते हैं। जब पीत में हम उसके अभाव का निषेध करते हैं, अथवा यह पिशाच है इसका निषेध करते हैं, तब हम दृश्यात्मतया ही निषेध करते हैं। यदि ऐसा है तब रूप के ज्ञात होने पर उसके अभाव का दृश्यात्मतया व्यवच्छेद होता है। जो उसके अभाव के तुल्य नियताकार रूप है, वह दृश्य भी व्यवच्छिन्न होता है।

जब नील की उपलब्धि के साथ-साथ पीत का निषेध होता है, तो क्या इस अभूत पीत में भी अपीत का निषेध अन्तर्भूत है? हाँ! उसके अभाव के तुल्य जो नियताकार रूप है, वह भी दृश्यात्मतया व्यवच्छिन्न होता है। अतः जो रूप परस्पर परिहारेण स्थित हैं, वह सब अन्तर्भूत सब निषेधों के साथ व्यवच्छिन्न हैं।

इस विरोध में सहावस्थान हो सकता है। अतः इन दो विरोधों के भिन्न व्यापार हैं। एक से शीतोष्ण स्पर्श के एकत्व का निवारण होता है, दूसरे से उनका सहावस्थान होता है।

इनकी प्रवृत्ति के विषय भी भिन्न हैं। वस्तु और अवस्तु में परस्पर परिहार से विरोध होता है, किन्तु सहानवस्थान-विरोध कतिपय वस्तु में ही होता है। इसलिए इनके भिन्न व्यापार और भिन्न विषय हैं। इनका अन्योन्यान्तर भाव नहीं है।

वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व के बीच दो में से कोई विरोध भी संभव नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि वक्तृत्व के होने से सर्वज्ञत्व का अभाव होता है। सर्वज्ञत्व अदृश्य है और अदृष्ट के अभाव का अध्यवसाय नहीं होता। इस कारण से ही इसके साथ विरोध नहीं है। यहाँ दूसरे प्रकार का विरोध भी नहीं है, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वज्ञत्व वक्तृत्व परिहार से होता है। इस अवस्था में काष्ठादि भी सर्वज्ञ होंगे क्योंकि उनमें वक्तृत्व नहीं है। और सर्वज्ञत्व के परिहार से भी वक्तृत्व नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो काष्ठ में भी वक्तृत्व का प्रसंग होगा। अतः किसी विरोध के न होने से वक्तृत्व के विधान में हम सर्वज्ञत्व का निषेध नहीं कर सकते।

ऐसा हो तो हो! किन्तु यदि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में कोई भी विरोध न होता तो घट-पट के समान उनकी सहावस्थिति दिखलाई पड़ती। क्या सहावस्थिति के अदर्शन से विरोध-गति नहीं होती और इस विरोध से अभावगति नहीं होती? इस आशंका का यों निराकरण करते हैं। यद्यपि वक्ता में सर्वज्ञत्व की उपलब्धि न हो तथापि वक्तृत्व के भाव को सर्वज्ञत्व की विरुद्ध-विधि नहीं कह सकते। यद्यपि दोनों के सहावस्थान का अनुपलम्भ है, तथापि इन दोनों का विरोध नहीं है, क्योंकि सहानुपलम्भमात्र से विरोध सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत अध्यवसाय से सिद्ध होता है कि दो उपलभ्यमान में निवर्त्यनिवर्तकभाव होता है। अतः यद्यपि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व के सहावस्थान का अनुपलम्भ है, तथापि वक्तृत्व का सद्भाव यह सिद्ध नहीं करता कि सर्वज्ञत्व विरुद्ध की विधि (=सत्व) है। अतः पूर्व के सद्भाव का अर्थ अपर का अभाव नहीं है।

इसी प्रकार वक्तृत्व रागादिमत्व का गमक नहीं है, क्योंकि यदि वक्तृत्व रागादि का कार्य होता तो वक्तृत्व की रागादि गति होती और रागादि की निवृत्ति होने पर वचनादि की निवृत्ति होती। किन्तु वक्तृत्व कार्य नहीं है, क्योंकि रागादि और वचनादि का कार्यकारणभाव असिद्ध है। अतः वक्तृत्व विधि से रागादि गति नहीं होती। थोड़ी देर के लिए हम मान लें कि वचन रागादि का कार्य नहीं है, तथापि इन दोनों का सहावस्थान तो हो सकता है। तब रागादि की निवृत्ति होने पर वचन भी निवृत्त हो सकता है। इस आशंका का हमारा यह उत्तर है—जो अर्थान्तर वचन का कारण नहीं है, यदि उसकी निवृत्ति होती है, तो सहचारित्व से ही वचनादि की निवृत्ति नहीं होती। अतः वक्तृत्व के साथ रागादि भी हो सकता है। अतः वक्तृत्व संदिग्ध व्यतिरेक है, क्योंकि विपर्यय में उसका अभाव संदिग्ध है। सर्वज्ञत्व असर्वज्ञत्व का विपर्यय है और अरागादिमत्व रागादिमत्व का विपर्यय है।

विरुद्ध

उन हेतु दोषों को समझाकर जो एक रूप (प्रथम या तृतीय) के असिद्ध या संदिग्ध होनेपर होते हैं, अब हम उन हेतु दोषों को कहते हैं, जो दो रूप के असिद्ध या संदिग्ध होने पर होते हैं। जब दो रूप का विपर्यय सिद्ध होता है तो हेतु दोष को 'विरुद्ध' कहते हैं।

यह दो रूप कौन हैं? सपक्ष में सत्व और असपक्ष में असत्व। यथा कृतकत्व विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यदि नित्यत्व साध्य है। यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्व (प्रयत्न के बिना जन्म या ज्ञान) विरुद्ध हेत्वाभास होता है यदि नित्यत्व साध्य है।

यह दो विरुद्ध क्यों हैं? क्योंकि सपक्ष में असत्व और असपक्ष में सत्व है। यह निश्चित है कि न कृतकत्व और न प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्ष में अर्थात् नित्य में होते हैं। दूसरी ओर उनकी विद्यमानता विपक्ष में ही अर्थात् अनित्य में निश्चित है। अतः विपर्यय की सिद्धि होती है। पुनः ऐसा क्यों है कि जब विपर्यय की सिद्धि है तो हेतु विरुद्ध होते हैं?

यह विरुद्ध हैं, क्योंकि उनसे विपर्यय की सिद्धि होती है। वह नित्यत्व (साध्य) के विपर्यय (अनित्यत्व) को सिद्ध करते हैं। क्योंकि वह साध्य के विपर्यय का साधन हैं, इसलिए वह विरुद्ध कहलाते हैं। यदि यह दो हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं, क्योंकि वह विपर्यय को सिद्ध करते हैं, तो परार्थानुमान में साध्य उक्त होना चाहिये। यह अनुक्त नहीं रह सकता, किन्तु अनुक्त भी कभी-कभी इष्ट है। अतः वह हेतु जो इष्ट का विघात करता है, इन दो से अन्य होगा। इसलिए एक तृतीय प्रकार का विरुद्ध है। दो विपर्यय के साधन हैं; तीसरा अनुक्त इष्ट विघात करता है।

उदाहरण—चक्षुरादि (धर्मी)।
परार्थ का उपकार करते हैं (साध्य)।
हेतु—क्योंकि यह संचित रूप हैं।
यथा शयन आसनादि पुरुष के उपभोग्य वस्तु हैं।
यह हेतु इष्ट विघात कैसे करता है?

वह विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि यह वादी के इष्ट का विपर्यय सिद्ध करता है। यह सांख्यवादी है। असंहत के लिए संघात रूप का अस्तित्व इसको इष्ट है। इसका विपर्यय संहत के लिए अस्तित्व है। क्योंकि यह विपर्यय को सिद्ध करता है। इसलिए हेतु साधन से विरुद्ध है। सांख्यमतवादी कहता है कि आत्मा है। बौद्ध पूछता है कि क्यों? वादी प्रमाण देता है। इस प्रकार साध्य है कि असंहत आत्मा के चक्षुरादि उपकारक हैं। किन्तु यह हेतु विपर्यय से व्याप्त है, क्योंकि जो जिसका उपकारक होता है वह उसका जनक होता है और कार्य (जन्यमान) युगपत् या क्रम से संहत होता है। इसलिए "चक्षुरादि परार्थ हैं" का अर्थ है कि वह संहत परार्थ हैं, न कि असंहत परार्थ।

आचार्य दिङ्नाग ने इस प्रकार के विरुद्ध को सिद्ध किया है। किन्तु धर्मकीर्ति ने इसका वर्णन नहीं किया। इसका कारण यह है कि इसका अन्य दो में अन्तर्भाव है। यह उनसे भिन्न नहीं है। उक्त और अनुक्त साध्य में भेद नहीं है। जब एक रूप असिद्ध है, और दूसरा रूप संदिग्ध है तो अनैकान्तिक होता है। जब इन दोनों रूपों का विपर्यय निश्चित होता है, तो हेतु विरुद्ध होता है। इसका क्या आकार है?

यथा—एक वीतराग या सर्वज्ञ है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि उसमें वक्तृत्व है।

जिस पुरुष में वक्तृत्व है, वह वीतराग या सर्वज्ञ है।

यहाँ व्यतिरेक असिद्ध है, और अन्वय संदिग्ध है।

हमारा अनुभव सिद्ध करता है कि एक पुरुष जो रागवान् है और सर्वज्ञ नहीं है, वह वक्तृत्व शक्ति से रहित नहीं होता। अतः यह नहीं जाना जाता कि वक्तृत्व से सर्वज्ञ होता है या नहीं। यह अनैकान्तिक है।

क्योंकि सर्वज्ञत्व और वीतरागत्व अतीन्द्रिय है, अतः यह संदिग्ध है कि वक्तृत्व जो इन्द्रियगम्य है, इनके साथ रहता है या नहीं।

जब दोनों रूप सन्दिग्ध है, तब भी अनैकान्तिक है। अन्वय-व्यतिरेक रूप के संदिग्ध होने पर संशय हेतु होता है।

जीवच्छरीर सात्मक है (साध्य)।

क्योंकि इसके प्राणादि आश्वासादि हैं (हेतु)।

इस वादी को मृत की आत्मा इष्ट नहीं है। यह असाधारण संशयहेतु है। इसमें दो हेतु दिखाते हैं। सात्मक और निरात्मक। इन दो को छोड़कर कोई तीसरी राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वर्तमान हैं। जो आत्मा के साथ वर्तमान है, वह सात्मक है। जिससे आत्मा निष्क्रांत हो गया है, वह निरात्मक है। इन दो से अन्य कोई राशि नहीं है,जहाँ प्राणादि वस्तु धर्म वर्तमान हो। अतः यह संशयहेतु है। अन्य राशि का अभाव क्यों है? क्योंकि इन दो में सबका संग्रह है। यही संशयहेतु का कारण है। दूसरा संशयहेतु यह है कि इन दो राशियों में से किसी एक में भी वृत्ति का सद्भाव निश्चित नहीं है। इन दो राशियों को छोड़कर भी कोई राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वस्तुधर्म पाया जावे। अतः इतना ही ज्ञात है कि इन्हीं दो राशियों में से किसी में वर्तमान है। किन्तु विशेष के संबन्ध में वृत्तिनिश्चय नहीं है। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें सात्मकत्व या अनात्मकत्व निश्चित और प्रसिद्ध हो और जिसमें साथ ही साथ प्राणादि धर्म का अभाव सिद्ध हो। अतः अनैकान्तिक है। हमने असाधारण धर्म के अनैकान्तिकत्व में दो कारण बताये हैं। क्योंकि यह सिद्ध नहीं है कि जीवच्छरीरसंबन्धी प्राणादि सात्मक राशि या अनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए यह निश्चय करना कि किस राशि में

उसका निश्चित अभाव है, संभव नहीं है। प्राणादि का होना कुछ सिद्ध नहीं करता; न यही सिद्ध करता है कि आत्मा है, न यही सिद्ध करता है कि आत्मा का अभाव है। अतः जीवच्छरीर में आत्मा का भाव है या नहीं, प्राणादि लिंग द्वारा निश्चित नहीं हो सकता।

इस प्रकार तीन हेत्वाभास हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। यह तब होते हैं जब तीन रूपों में से किसी एक या दो दो रूप असिद्ध या संदिग्ध हैं। आचार्य दिङ्नाग ने एक और संशयहेतु बताया है। उसे विरुद्धाव्यभिचारि कहते हैं। किन्तु धर्मकीर्ति ने उसका उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि वह अनुमान का विषय नहीं है।

समाप्त

परिशिष्ट १

शब्दानुक्रमणी

—:०:—

परिशिष्ट २

सहायक ग्रन्थ सूची

अंगुत्तरनिकायट्ठकथा—बुद्धघोषकृत।

अभिधम्मत्थसंगहटीका (नवनीत)—धर्मानन्द कौसांबी कृत।

अभिधम्मत्थसंगहो—अनिरुद्धाचार्य कृत।

अभिधर्मकोश—आचार्य वसुबन्धु कृत। पूसें कृत फ्रेंच अनुवाद के साथ।

अभिधर्मकोशकारिका—आचार्य वसुबन्धु कृत, मूलमात्र, वी०वी०गोखले द्वारा संपादित। जे०के०ए०एस्०, बंबई, जिल्द २२, १९२६।

अभिधर्मकोशव्याख्या (स्फुटार्था)—यशोमित्र कृत। वोगिहारा द्वारा तोकियो से प्रकाशित।

अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता—डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा बिब्लिओथिका इंडिका में प्रकाशित।

इंडियन एंटिक्वेरी—म०म०हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित 'शान्तिदेव' नामक लेख, सन् १९१३, पृ० ४५।

ए रिकार्ड ऑफ दी बुद्धिस्ट रिलीजन—चीनी यात्री इत्सिंग का यात्रा विवरण

ओरियन्टेलिया—भाग ३ में 'हिस्ट्री आफ अर्ली बुद्धिस्ट स्कूल्स' नामक रैयूकन कीमुरा का लेख।

कन्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण—शेरबात्स्की कृत।

कारंडव्यूह—सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सन् १८७३ में प्रकाशित।

क्षणभंगसिद्धि—रत्नकीर्ति कृत।

चतुःशतक—आर्यदेव कृत। संस्कृत रूपान्तर श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य कृत। विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, १९३१।

तत्त्वसंग्रह—शान्तिरक्षित कृत, एम्बर कृष्णमाचार्य द्वारा संपादित, दो जिल्दों में सेंट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा से प्रकाशित।

त्रिंशिका—स्थिरमति के भाष्य के साथ सिलवां लेवी द्वारा संपादित और अनूदित।

दी धर्मेटिक ए फिलौसोफी बुद्धिक—पूसें कृत, सन् १९३०।

धम्मपदट्ठकथा—बुद्धघोष कृत

धर्मसंग्रह—नागार्जुन कृत।

निर्वाण—लुइ द वाले पूसें कृत, सन् १९२५।
नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर—डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संपादित।
न्यायबिन्दु—धर्मकीर्ति कृत, धर्मोत्तर कृत टीका के साथ।
परमत्थमंजूसाटीका—धर्मपाल स्थविर कृत।
बुद्धचरित—दो जिल्दों में जानस्टन द्वारा संपादित तथा अनूदित।
बुद्धिज्म—वासिलीफ कृत।
बुद्धिज्म इन ट्रांसलेशन—वारन कृत।
बुद्धिस्ट कास्मोलोजी—मैक गवर्न कृत।
बुद्धिस्ट लॉजिक—दो जिल्दों में, शेरबात्स्की कृत।
बुद्धिस्म स्तदी एन्त मटीरिया—पूसें कृत।
बोधिचर्यावतारपंजिका—बिब्लिओथिका इंडिका में प्रकाशित।
मज्झिमनिकायट्ठकथा—बुद्धघोष कृत।
मध्यकावतार—चन्द्रकीर्ति कृत।
मध्यांतविभाग—दो जिल्दों में जापान से प्रकाशित।
महायानसूत्रालंकार—मूल ग्रन्थ १९०७ में सिलवाँ लेवी द्वारा संपादित। अनुवाद—सिलवाँ लेवी द्वारा, १९११।
माध्यमिककारिका—नागार्जुन कृत, बिब्लिओथिका बुद्धिका में पूसें द्वारा संपादित।
माध्यमिककारिकावृत्ति (प्रसन्नपदा)—चन्द्रकीर्ति कृत, बिब्लिओथिका बुद्धिका में प्रकाशित।
मैन्युअल आफ बुद्धिस्ट फिलासफी—मैक गवर्न कृत।
मोराल बुद्धिक—लुइ द वाले पूसें कृत, सन् १९२७।
योगसूत्र (पातंजल)—व्यासभाष्य के साथ।
लंकावतारसूत्र—प्रो० बुनयिड नंजियो द्वारा सन् १९२६ में क्योटो (जापान) से प्रकाशित।
ल कौंसिल द राजग्रह—जाँ प्रजुलुस्की कृत, १९२६-२८।
ललितविस्तर—डा० एस० लेफमान द्वारा संपादित।
लाइफ ऑफ बुद्ध—ओल्डेनबर्ग कृत।
ला थे ओरी द ला कालेसाँस एला लोजिक शेले बुद्धिस्त तार्दिफ—स्चेरबात्स्की कृत (रूसी से फ्रेंच में अनूदित) पेरिस, १९२६।
ला ले जाद द लॉ परर अशोक—जाँ प्रजुलुस्की कृत, १९२३।
लेफिलौजोफी एँदिऐन—दो जिल्दों में, नें ग्रुसे कृत।

विंशतिका—वसुबन्धु की वृत्ति के साथ सिलवाँ लेवी द्वारा प्रकाशित, १६२५।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि या शुआन-च्वांग की सिद्धि—(चीनी भाषा में)। फ्रेंच अनुवाद पूसें कृत ३ भाग में। १६२८, २६, ४८।

विसुद्धिमग्गो—बुद्धघोष कृत। धर्मानन्द कौसांबी द्वारा संपादित। भाग १, विद्याभवन बंबई से प्रकाशित। भाग २, सारनाथ से प्रकाशित।

शिक्षासमुच्चय—शांतिदेव कृत, बिब्लिओथिका बुद्धिका में बेंडल द्वारा संपादित।

सद्धर्मपुण्डरीक—प्रो०एच०कर्न और प्रो०बुनयिउ नंजियो द्वारा सन् १६१२ में संपादित।

सुखावतीव्यूह—प्रो०मैक्समूलर द्वारा अंग्रेजी अनुवाद तथा जापानी विद्वानों के फ्रेंच अनुवाद के साथ प्रकाशित।

हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म— इलियट कृत।

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर—विंटरनित्ज कृत। कलकत्ता विश्वविद्यालय से दो जिल्दों में प्रकाशित।

—:०:—



शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
को बलांधते	के बांधते	१८	३३
पिटक के इस ग्रन्थ को	इस ग्रन्थ को पिटक के	३३	३३
प्रति लाभ	प्रतिलाभ	४३	२
आनापन	आनापान	५७	१५
कार्य-विवेक	काय-विवेक	६६	१६
विष्कम्मम	विष्कम्मन	६७	१४
चित्र	चित्त	६८	२४
आरवण	आवरण	६८	३४
विदारणाभ्यां	विधारणाभ्यां	८०	३१
आश्वासन-काय	आश्वास-काय	८६	२
निवर्तन	निर्वर्तन	९१	३
करता है।	करता है,	९९	६
अवीची	अवीचि	१३३	१७
त्रिविध	विविध	१३५	२३
सत्तसिद्धि	सत्यसिद्धि	१३९	१८
चतुरादि	चतुरार्य	१४४	३
बुद्धयानि	बुद्धयानिक	१४५	३१
पश्चा···	यश्चा···	१४९	२१
स्वकायदृष्टि	सत्कायदृष्टि	१५९	३२
खाट-मंडू	काठमांडू	१७३	९
पृष्ठ ४५	पृष्ठ ४९-५२	१७३	१६
अर्थाथं	अथार्थं	१७४	८, १३
मैं	(हरप्रसाद शास्त्री)	१७५	१४
चाहता हूँ	चाहते हैं	१७५	१४
मुझको	हरप्रसाद शास्त्री को	१७५	१६
मैंने	हरप्रसाद शास्त्री ने	१७५	१८
बोचित्तं	बोधिचित्तं	१८६	७
आशोचव विप्र···	आशोचत्रविप्र···	१८९	४
सरे	दूसरे	१८९	१५
परोपकार	परापकार	१९५	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
द्वेषोऽस्तु	द्वेषे द्वेषोऽस्तु	१६७	३३
अवीची	अवीचि	२०३	१४
अत्म	आत्म	२११	४
मध्यकमूल	मध्यमकमूल	२१५	२७
समर्थ	असमर्थ	२३१	४
सुखावदेना	सुखावेदना	२३१	२८
अजजर	अजर	२६५	२
अलाय-विज्ञान	आलय-विज्ञान	३०२	१३
अशान्त	शान्त	३०३	३१
अन्योऽन्यथात्व	अन्यथान्यथात्व	३१३	३०
संरण	सरण	३१५	५
औरादिक	औदारिक	३२०	२३
किया	क्रिया	३२७	६
आज्ञात···	अनाज्ञात···	३२८	३०
वैमाक्कि	वैमाषिक	३४१	२४
वैमाषिक	वैशेषिक	३४८	३५
पुरेवात	पुरोवात	३५८	२१
में।	हैं	३७७	३१
उतस्तंभ	उपस्तंभ	३८५	२२
बुद्धकार्य	बुद्धकाय	३६५	२०
आल्टलमरी	आल्टमरी	३६६	१२
दिगविभाग	दिग्विभाग	४३०	१६
अभूत	सहब अभूत	४३५	१३
नडकपाल	नडकलाप	४४०	१६
मनस	मनस्	४७१	१४
अरोपित	आरोपित	४७८	१४
माध्यनिक	माध्यमिक	५११	६
अक्रित्रिम	अकृत्रिम	५५५	८
जैनागमन	जैनागम	५७१	२५
प्रत्यभिज्ञा	प्रत्यभिज्ञा	५६०	१३
प्रतिमासिकी	प्रातिमासिकी	५६३	२६
बौद्धयान्य	बौद्ध-न्याय	६०७	२४

—:०:—